मुनि कान्तिसागर

काशी नागरी प्रचारिणी सभा

द्वारा

समर्पित

सौर १७ वैशाख, २००७

मूल्य पंद्रह रुपये

सौर १७ वैशाख, २००७

प्रकाशक
काशीनाथ उपाध्याय 'भ्रमर'
प्रकाशन मंत्री
नागरी प्रचारिणी सभा, काशी

मुद्रक
पं० पृथ्वीनाथ भार्गव
अध्यक्ष,
भार्गव भूषण प्रेस, बनारस

निवेदन

काशी नागरी प्रचारिणी सभा जन्मकाल से ही यज्ञों की आयोजना करती रही है। और प्रसन्नता की वात है कि इसके यज्ञ सफल हुए। हिंदी भारती को उसके समुचित आसन पर प्रतिष्ठित करना इसका ध्येय रहा है; आज वह पूर्णरूप से नही फिर भी निश्चित रूप से राष्ट्रभाषा के सिहासनपर प्रतिष्ठित है। सरस्वती के जिन कर्मठ सपूतों ने इसकी सफलता में योगदान दिया है उनका समादर, समय-समयपर सभा करती रही है, उनका अलंकरण करती रही है, उनके पावन पद-पद्मोपर श्रद्धा की सुमनांजलि अर्पित करती रही है।

श्री सपूर्णानंद भी सरस्वती के उन प्रतिभासंपन्न पुत्रों मे है जिन्होंने हिंदी को गौरव प्रदान किया है। यह सयोग की वात है कि आज वह राजनीतिक कार्यकर्ता के रूप में लोगों की आँखों में समाए हुए है; प्रांत के मंत्री के रूप में स्मरण किए जाते है। किंतु वास्तविक वात यह है कि वह वीणापाणि सरस्वती के आराधको तथा साधकों में है। आज से नही दशकों पहले से, जव विदेशी भाषा अंग्रेजी में ही लिखना-पढ़ना ज्ञान तथा विद्वत्ता का प्रतीक समझा जाता था और हिंदी असंस्कृत जन-समुदाय की भाषा समझी जाती थी, वह हिंदी में लिखते रहे है और उसका भांडार अपनी रचनाओं से परिपूर्ण करते रहे है।

इतिहास, विज्ञान और दर्शन उनके अध्ययन के तीन केंद्र–विंदु रहे हैं। उन्होंने जो कुछ किया है उसमें अनुसंधान तथा परीक्षण का आलोक है। उनके निर्णयो से मतभेद हो सकता है और विवाद का विषय उनकी कृतिया हो सकती है, किंतु इस वात से सभी सहमत है कि विचारों के पथ में उनसे प्रगति हुई है, विद्वन्मंडली

उनमे प्रभावित हुइ है। दर्शन और विज्ञान की सामजस्य स्थापित करने का प्रयत्न उन्होने किया है और एक दूसरे के सहारे जीवन के तत्वो के आदि का प्रयास किया है। पाश्चात्य भौतिक विज्ञान की सहायता लेकर प्राच्य दर्शन की सूक्ष्म गुत्थियो को सुलझाने का प्रयत्न किया है। उनकी रचनाओ में विचारो को उत्तेजना मिलती है और हम विचार की निश्रयणी पर चढते है।

जहाँ विचारो के ससार मे दार्शनिको को शान्ति से जीवन के तत्वो की खोज करने के लिये मानव-समाज की साधारण वृत्तियो से ऊपर उठ जाना होता है वहाँ राजनीतिक जगत मे राग-द्वेष, आक्षेप-विक्षेप, प्रहार-सहार मे ही अपनी शक्ति का विनाश करना पडता है। किंतु देश की जो अवस्था रही है उसका परिणाम यह हुआ है कि हमारा मस्तिष्क राजनीति की ओर लगा। बौद्धिक पहलवानो को राजनीतिक अखाडो मे उतरना पडा। पराधीन देश मे दासता के बधन से मुक्ति दिलाने की चेष्टा से बढकर और कौन सुकर्म हो सकता है। और ठीक ही, उसी ओर सभी सजीव प्राणी लगे। श्री सपूर्णानद ने भी अपने को उसी ओर लगाया। समय-समयपर जब उन्हे अवकाश मिला भारती की आराधना में ही उन्होने लगाया। और इसके परिणाम-स्वरूप जो कुछ हमें मिला है, वह विचारो के जगत को अनुपम देन है।

किंतु श्री सपूर्णानद शुष्क राजनीतिक कार्यकर्ता ही नही है। साहित्यकार की सहृदयता से उनका हृदय ओत-प्रोत है। रसानुभूति के लिये सहृदय को जिन गुणो की आवश्यकता होती है वह सब उनमें वर्तमान है। यद्यपि वह कहा करते है कि मुझमे काव्य समझने की क्षमता नही है तथापि वह कविता के मर्मज्ञ है और उसकी तहो मे पहुचते है। हिंदी में कविता सुनते है, पढते है और उनकी टीका कभी-कभी विचक्षणता से पूर्ण होती है।

साहित्य के निर्माण के क्षेत्र में सफलता मिलने का कारण साधना तो है ही, और भी बडा कारण उनका चरित्र है। इस निर्णय में लेशमात्र सदेह नही है कि महान् चरित्र ही महान साहित्य का सर्जन कर सकता है। विश्व का इतिहास इसका साक्षी है। हीन तथा चरित्र से स्खलित लोग शब्दाडबरो से परिवेष्टित तथा भाषा का चमत्कार लिए हुए क्षणिक ज्योति दिखाकर विलीन हो जानेवाली रचनाओ का निर्माण कर सकते है। किंतु काल के प्रवाह में उनका लय हो जाता है। चरित्र की उर्वर भूमि में ही साहित्य के पौधे का विकास हो सकता है। श्री सपूर्णानद के कृष्णवर्ण के अदर उज्ज्वल चरित्र तथा व्यक्तित्व निहित है। साधारण परिस्थितियो में अपने

चरित्रवल से उन्होंने अपना विकास किया है। इनका जन्म साधारण परिवार में हुआ था। इनके पूर्वज वख्शी सदानंद चेतसिंह के दीवान थे। कुल प्राचीन तथा गौरवपूर्ण था किंतु इनके पिता के समय आर्थिक परिस्थिति साधारण थी। यदि यह चाहते तो राजकीय विभाग मे कोई कर्मचारी बन जाते। इनके पिता का प्रभाव इस कारण था कि इन्होंने सत्यशीलता का जीवनभर आचरण किया। किंतु उस युग की परिस्थिति में इन्होंने विदेशी शासन मे कोई काम करना अपने सिद्धांतों के अनुकूल नही समझा। शिक्षा–विभाग में भी वड़ी सरलता से वह राजकीय कार्य पा जाते। उस समय के शिक्षा-विभाग के अध्यक्ष, जिनके यह विद्यार्थी भी थे, इन्हें बहुत मानते थे। और शिक्षा-विभाग मे स्थान प्राप्त कर लेना सापेक्षिक सहज था। किंतु इन्होने वहाँ जाना उचित नही समझा। सार्वजनिक क्षेत्र मे, जहाँ अपने कार्यो के प्रसार की सुविधा हो, वही उन्होंने कार्यभार ग्रहण किया और जब-जब देश की पुकार सुनी, निजी कष्ट तथा परिवार की कठिनाइयों की चिंता न करते हुए आगे पाँव रखा।

हिंदी के नाते हम देशवासियों को इनपर मान है। इसी सभा में एकवार जब इन्होने हिंदी के पक्ष मे अपना भाषण दिया था, राजनीतिक मंडली को अप्रिय-सा लगा। वह समय था जब काँग्रेस ने पहली बार शासन का उत्तरदायित्व लिया था। इन्होने महात्मा जी से निवेदन किया था कि हिंदी के पक्ष में मैं मंत्रिपद छोड़ना उचित समझता हूं। महात्मा जी विशाल तथा महती बुद्धिवाले व्यक्ति थे। उन्होंने हिंदी का पक्ष त्यागने का परामर्श नहीं दिया। हिंदी के ऐसे कर्मठ तथा विचारक सेवक के प्रति सभा ने अपनी ओर से अभ्यर्थना प्रदान करना अपना कर्तव्य समझा।

इस वर्ष वह साठ वर्ष की आयु प्राप्त कर चुके है। यह अवसर हमलोगों ने उनके अभिनंदन के लिये उपयुक्त समझा। विद्वान तथा साहित्यिक इससे वढ़कर और किस रूप से अभ्यर्चना प्रकट करते। सभा ने यही निश्चय किया कि उनके अनुरूप यही होगा कि विद्वानों के सहयोग से ऐसी मंजूषा उन्हें अर्पित की जाय जिस में वाणी के अलंकार धरे हों। और आज इसी संकल्प को हमलोग पूरा कर रहे हैं।

योजनाके अनुसार ग्रंथ तीन भागों में विभक्त है। आरंभ मे अमर वाणीसंस्कृत को स्थान दिया गया है जिसके पावन स्रोत से हमारे देश के ज्ञान की जान्हवी प्रवाहित हुई है और जिसके प्रति श्री संपूर्णानंद के हृदय मे अपार भक्ति है। दूसरा तथा अधिक अंश हिंदी को दिया गया जिस भाषा में हम वोल और लिखकर देश-

त्रिदेश मे भी अपना मस्तक ऊचा करेगे। तीसरे खड में मपूर्णानद के मित्रो तथा निकट सपर्क रखनेवालो के सस्मरण है।

लेख उच्चकोटि के ही समाविष्ट है। पुस्तक की सीमा के कारण हमारे ऊपर अनेक प्रतिवध थे। इसलिये बहुत दुख के साथ सस्कृत तथा हिंदी के कुछ लेख प्रकाशित होने से वचित रह गए। हमे इसके लिये खेद है।

हम उन लोगो के अनुगृहीत है जिन्होने समय निकालकर अपने अमूल्य लेख हमें दिए है। हमें अनेक लोगो से लेख के सपादन तथा ग्रथ के निर्माण में सहायता मिली है, जिसके लिये हम उनके आभारी है, विशेषत मथुरा–कला–सग्रहालय के अध्यक्ष के, जिन्होने अनेक चित्रो से हमारी सहायता की है। हम भार्गव भूषण प्रेस के अध्यक्ष तथा सभी कर्मचारियो के भी अनुगृहीत है जिन्होने वडे परिश्रम से समय पर इस ग्रथ का प्रकाशन कर दिया।

दिनाक सौर १७ वैशाख, २००७

—सपादक-मडल

वक्तव्य

काशी-नागरी-प्रचारिणी-सभा की ओर से आज यह ग्रंथ अपने पुराने सभापति तथा हिंदी के अनन्य सेवक श्री संपूर्णानंद को अर्पित हो रहा है, यह सभा के लिये गौरव की वात है। हिंदी के एक विद्वान, कर्मशील, त्यागी की हिंदी सेवा का संमान करके सभा हिंदी माता के चरणो में श्रद्धा के कुछ पुष्प अर्पित कर रही है। इस अवसरपर सभा भगवान् से प्रार्थना करती है कि श्री संपूर्णानंद ऋपियों की आयु पाकर हिंदी की सेवा करते रहें और उसका भंडार रत्नों से भरते रहें तथा युग-युग तक उनके ऐसे कर्मठ, विवेकशील हिदीसेवी उत्पन्न होते रहे जिनके अभिनंदन करने का पुण्य पर्व सदा आता रहे और सभा को इसी प्रकार अभिनंदन करने का अवसर प्राप्त होता रहे।

इस अवसर पर वह सवलोग सभा के धन्यवाद के पात्र हैं जिन्होंने समय देकर, धन देकर, परामर्श देकर इस ग्रंथ के सयोजन मे हमारी सहायता की है। विशेषत: तत्रभवान महाराज विभूति नारायण सिंह काशी नरेश, भार्गव भूषण प्रेस के अध्यक्ष श्री पृथ्वीनाथ भार्गव, रामेश्वर सहाय सिनहा, रमेश चंद्र दे, श्री गोपाल चंद सिनहा, लक्ष्मीचंद चौधरी, लखनऊ विश्वविद्यालय के प्रो० ऐय्यर, राय कृष्णदास, महामहोपाध्याय प० नारायण यास्त्री खिस्ते तथा उनके सहयोगी पं० अनंत शास्त्री फड़के, पं० रामाज्ञा पांडेय, पं० वालकृष्ण पंचोली, पं० रघुनाथ पांडेय, पं० जगन्नाथ उपाध्याय, डा० राजेन्द्रनारायण शर्मा, पं० करुणापति त्रिपाठी, श्री राजाराम शास्त्री, श्री भगवतीशरण सिह, पं० काशीनाथ उपाध्याय 'भ्रमर', श्री दिलीप नारायण सिह, श्री रमाशंकर पाण्डेय, श्री सुधाकर पाण्डेय तथा श्री प्रद्युम्न पांडेय, पं० चंद्रशेखर पांडेय, पं० वाचस्पति उपाध्याय, हार्दिक धन्यवाद के पात्र हैं। हम श्री विश्वनाथ शर्मा तथा श्री जयनाथ शर्मा को वहुत धन्यवाद देते हैं जिन्होंने अनवरत परिश्रम से इस ग्रंथ के प्रकाशन मे सहायता दी है।

हम अपने कार्यालय को भी नही भूल सकते जिसके कर्मचारियो ने कठिनाइयाँ सहनकर, दौड-धूप कर, परिश्रम करके इस कार्य की सफलता मे योग दान दिया है। विशेषत श्री शभुनाथ वाजपेयी को और साथ ही उनके सहयोगियो श्री जगन्नाथ प्रसाद तथा श्री पुरुषोत्तम लाल श्रीवास्तव को।

कृष्णदेव प्रसाद गौड,
प्रधान मत्री
नागरी-प्रचारिणी-सभा, काशी

अनुक्रमणिका

निवेदन ... क

वक्तव्य ... च

संस्कृत

उपोद्घात ... १

मङ्गलम् ... ३

१. कल्याणपरम्परागसनम् — महामहोपाध्याय पडित श्री नारायण शास्त्री खिस्ते, । . ४

२ स्रग्धरास्रगुपहारः — पंडित श्री भूपनारायण झा, व्याकरणाचार्य, अध्यापक, राजकीय संस्कृत महाविद्यालय, काशी । ५

३. समादराञ्जलि — पडित श्री आनद झा न्यायाचार्य, अध्यापक, ब्रह्मविद्यालय, काशी । ६

४. अथर्ववेदसंहितान्तर्गत-पृथ्वी-सूक्तम् — महामहोपाध्याय पडित श्री, नारायण शास्त्री खिस्ते ७

५ अपिनाम भारतीय राजनीति विधान सम्भवति ? — पडितराज श्री राजेश्वर शास्त्री द्राविड, अध्यक्ष साग वेद विद्यालय काशी । .. १६

६. योगतत्वमीमासा — पडित श्री सभापति शर्मोपाध्याय, अध्यक्ष, विरला सस्कृत महाविद्यालय, काशी । २८

७. कर्मानुष्ठाने आत्मतत्वप्रतिभास. — महामहोपाध्याय पडित श्री चिन्नस्वामी शास्त्री, कलकत्ता विश्वविद्यालय । . ४१

८ कवे रसप्रतीतिः — डाक्टर सुब्रह्मण्यम् अय्यर, अध्यक्ष, सस्कृत विभाग, लखनऊ विश्वविद्यालय । . ४८

९. सीता-विवाह-कालनिर्णय. — पडित श्री रामाज्ञा पाण्डेय व्याकरणाचार्य (भूत-पूर्व सस्कृत अध्यापक, पटना महाविद्यालय) सरस्वती-भवन, काशी । .. ५५

१० रुद्रस्यार्यदेवत्वम् — पडित श्री अनंत शास्त्री फडके, व्याकरणाचार्य, मीमासातीर्थ, वेदातकेसरी, अध्यापक, पुराणेतिहास, राजकीय संस्कृत-महाविद्यालय, काशी । ६०

११. भारतीयवेषविमर्श. — पडित श्री रघुनाथ शास्त्री व्याकरणाचार्य, अध्यापक, राजकीय सस्कृत महाविद्यालय, काशी । . ६८

१२. प्रत्यक्षविमर्श. — पडित श्री अनतराम शास्त्री घाणेकर, अध्यापक, राजकीय संस्कृत महाविद्यालय, ग्वालियर । ८३

१३ भगवान् वात्स्यायन — पंडित श्री आनंद झा, न्यायाचार्य, काशी । ८८

१४ स्वतन्त्रभारते प्राचीनार्य्यमर्य्यादा — पडित श्री गोपालशास्त्री, दर्शनकेसरी, काशी । .. ९३

१५ भारतीयसंस्कृते परिरक्षणम् — पडित श्री पट्टाभिराम शास्त्री, मीमासाचार्य, अध्यक्ष, सस्कृत महाविद्यालय, जयपुर । .. ९९

१६. साख्यनये प्रमाणप्रमेयविचार. — महामहोपाध्याय डाक्टर उमेश मिश्र, अध्यक्ष संस्कृत विभाग, प्रयाग विश्वविद्यालय, । १०३

हिंदी

१	जयति जननि भारती	डॉ० राजेंद्र नारायण शर्मा।	१
२	परमाणु शक्ति और परमाणु-बम	महापंडित राहुल सांकृत्यायन।	३
३	अनात्म व शाक्यमुनियों पर नया दृष्टिकोण	डॉक्टर वासुदेव शरण अग्रवाल, एम० ए० पी० एच० डी०, संग्रहाध्यक्ष, केंद्रीय राजकीय संग्रहालय दिल्ली।	१५
४	नटों की प्राचीन शिक्षा पद्धति और पठन	डॉक्टर मोतीचंद संग्रहाध्यक्ष प्रिंस आफ वेल्स संग्रहालय, बंबई।	३०
५	क्या ऋग्वेदकाल में मुद्रा प्रचलित थी ?	डॉक्टर अनंत सदाशिव अल्तेकर, एम० ए०, डी० लिट्, इतिहास विभागाध्यक्ष, पटना विश्वविद्यालय।	६६
६	शिशु की मानसिक और सामाजिक स्थिति	डॉक्टर सोहनलाल, एम० ए०, डी० फिल०।	७१
७	कबीर की रमैनियाँ	डॉक्टर हजारी प्रसाद द्विवेदी, डी० लिट्०, उपाध्यक्ष, विश्वभारती, शान्ति-निकेतन।	७८
८	पंचांग और सुधार	डॉक्टर गोरख प्रसाद, डी०, एस० सी०, रीडर, गणित विभाग, प्रयाग विश्वविद्यालय।	८२
९	ऋग्वेद में नदी-सूक्त की ऐतिहासिक व्याख्या	डॉक्टर राजबली पाण्डेय, एम० ए०, एल० एल० बी०, डी० लिट०, प्राध्यापक इतिहास विभाग, काशी विश्वविद्यालय।	८५
१०	हमारा विश्व कितना पुराना है	प्रोफेसर अमियचरण बनर्जी एम० ए०, एम० एफ० सी० (कैंटब), आइ० ई० एस०, एफ० आर० ए० एस०,एफ०एन०आइ० (रिटा०)	८९
११	दक्षिण में शक संवत का प्रसार	श्री वा वि मिराशी।	९६
१२	वैदिक प्रार्थनाओं का स्वरूप	डॉक्टर धीरेंद्र वर्मा, एम० ए० डी०,लिट०, अध्यक्ष, हिंदी विभाग, प्रयाग विश्वविद्यालय।	१०२
१३	पतझर	श्री शंभूनाथ सिंह, एम० ए०, प्राध्यापक, काशीविद्यापीठ।	१०८
१४	कवि और काव्य	डॉक्टर राजेंद्र नारायण शर्मा।	११०
१५	श्मशान	गोपालचंद्र सिनहा, एम० ए०, एल० एल० बी०, सिविल एंड सेशन्स जज, संप्रति विशेष कार्याधिकारी, सिविल कार्यालय, लखनऊ।	१२८
१६	एक रस	श्री प० बल्देव उपाध्याय, एम० ए०, साहित्याचार्य, प्राध्यापक, हिंदू विश्वविद्यालय, काशी।	१४०
१७	जय हो उन जलनेवालों की	श्री रामऋषि, सहायक संपादक, संसार।	१५२

१८.	मथुरा कला में ब्रह्मा	श्री कृष्णदत्त वाजपेयी, संग्रहाध्यक्ष पुरातत्व संग्रहालय, मथुरा। ..	१५३
१९.	पुराणो का चातुर्द्वीपिक भूगोल और आर्यों की आदि भूमि।	रायकृष्ण दास। ...	१६४
२०.	सूर्य का निर्माण, विकास तथा विनाश	डॉक्टर उदित नारायण सिह, एम०ए०,डी० एम०सी०, प्राध्यापक, प्रयाग विश्वविद्यालय।	१७९
२१	वर्णभेद तथा जातिभेद का परस्पर संवध	डॉक्टर मंगलदेव शास्त्री, एम० ए०, डी० फिल० (ऑक्सन)। ..	१९०
२२.	कोपिया	श्री मदनमोहन नागर, एम० ए०, सग्रहाध्यक्ष, लखनऊ। ..	१८५
२३.	श्री सपूर्णानदजी का चिद्विलास	रामेश्वर महाय सिंह, एम० एल० ए०। ..	२०५
२४.	विश्वात्मा	डॉक्टर राधाकमल मुकर्जी, एम० ए०, डी० लिट्,० पी० एच० डी०। ...	२११
२५.	काल तथा कालमान	डॉक्टर अवधेश नारायण सिह, एम० ए०, । डी० एस० सी०, डीन, विज्ञान-विभाग, लखनऊ विश्व- विद्यालय। ...	२२३
२६	हमारा विस्मृत संगीत	श्री प्रह्लाद शास्त्री जोशी, वेदतीर्थ, उज्जैन। ...	२२९
✓२७.	शुक्ल जी के निवन्ध	डॉक्टर जगन्नाथप्रसाद शर्मा, एम० ए०, डी० लिट० प्राध्यापक, हिंदू विश्वविद्यालय, काशी। ...	२३८
२८	पाणिनि के समय की शिष्टभाषा	प० राधारमण जी, व्याकरणाचार्य, प्राध्यापक, क्वीस इंटरमीडियट कालेज, काशी। ...	२४५
✓२९	साहित्य की सामाजिकता	प० विश्वनाथ प्रसाद मिश्र, एम० ए०, साहित्याचार्य प्राध्यापक, हिंदू विश्वविद्यालय, काशी। ...	२५१
३०.	कवि–कोटियाँ	डॉक्टर भगीरथ प्रसाद मिश्र, एम० ए०, डी० लिट०, प्राध्यापक, लखनऊ विश्वविद्यालय। ...	२५७
३१	आनंदघन की एक हस्तलिखित प्रति	डॉक्टर केशरी नारायण शुक्ल, एम० ए०, डी० लिट० रीडर, हिंदी विभाग, लखनऊ विश्वविद्यालय। ...	२६९.
३२.	संगीत की उत्पत्ति	श्री कृष्ण नारायण रतन जानकर, बी० ए०, । प्रिंसिपल भातखंडे, सगीत महाविद्यालय, लखनऊ। ...	२७९
३३.	कालिदास और उनका काव्य-वैभव	श्री गुर्ती सुब्रह्मण्य, एम० ए०, वी० टी०, सहायक सपादक, भारत। ...	२८३
३४.	धर्म और दर्शन	श्री शुकदेव चौवे, एम० ए०, वी०टी०, प्रिंसिपल, विभूति नारायण सिह कालेज, ज्ञानपुर। ...	२९३
३५.	कौशांवी की मृन्मूर्त्तियाँ	श्री सतीश चंद्र काला, अध्यक्ष प्रयाग-संग्रहालय।	३०१
३६	भक्ति क्या रस है ?	पं० करुणापति त्रिपाठी, एम० ए०, व्याकरणाचार्य, प्राध्यापक, हिंदू विश्वविद्यालय, काशी। ...	३०९
३७.	विनोद-विमर्श	श्री कृष्ण देव प्रसाद गौड़, एम० ए०, एल० टी०। ..	३१४

३८	सपूर्णानद का प्रमाणदर्शन	श्री राजाराम शास्त्री, अध्यापक काशी विद्यापीठ	३१६
३९	विज्ञानवाद	आचार्य नरेन्द्रदेव, एम० ए०, एल० एल० बी०, डी० लिट्०, कुलपति, लखनऊ विश्वविद्यालय।	३२३

सस्मरण

१	उत्कट विद्वान-सफल मत्री	राजेंद्रप्रसाद	१
२	दर्शन ज्ञान के सग्रह	भगवानदास	२
३	नवीन से नवीन प्राचीन से प्राचीन	नरेंद्रदेव	३
४	कठोर आवरण में कोमल हृदय	कैलाशनाथ काटजू	६
५	श्री सपूर्णानदजी-कुछ सस्मरण	श्रीप्रकाश	८
६	कुशल और सफल शिक्षामत्री	अमरनाथ झा	१५
७	प्रान्त उनका सदैव ऋणी रहेगा	गोविंद वल्लभ पत	१६
८	श्रीयुत सपूर्णानद जी	लाल बहादुर शास्त्री	१७
९	भारतीय सस्कृति के भक्त	गोविंद मालवीय	१७
१०	श्री सपूर्णानदजी	बलदेव मिश्र	१८
११	एक घटना	वेंकटेश नारायण तिवारी	२१
१२	मानव श्री सपूर्णानद जी	एक सस्मरण	२४
१३	श्री सपूर्णानद जी	भगवतीशरण सिंह	२९
१४	श्री सपूर्णानद जी	विश्वनाथ शर्मा	३४

श्रीराम

६७ बौद्धिक, मृदु भावुक, सतत सामाजिक स्वच्छन्द
जिओ, चिरायुष्मान हमारे श्री सम्पूर्णानन्द!

[illegible]

उपोद्घातः

श्रीमता महामहिम्नां डा० सम्पूर्णानन्दमहोदयानां षष्ठ्यब्दपूर्तिमधिकृत्य काशीस्थयाऽपि विश्व-विश्रुतया नागरीप्रचारिणीसभया एकोऽभिनन्दनग्रन्थस्तेभ्य समर्पयितुमुपक्रान्तोऽस्ति। तत्र संस्कृतभागसम्पादन-भारश्च तदधिकारिभिर्मयि विन्यस्त.। अहं च त भार वोढुमसमर्थोऽपि वहुतरकार्यभारव्यस्तोऽपि काशी-नागरीप्रचारिणीसभाया गौरवाद् अभिनन्दनीयाना माननीयडा०श्रीसम्पूर्णानन्दमहोदयानामनेन व्याजेन कोऽपि सुसत्कारो भवेदिति भावनया, सस्कृतपण्डितानामभिनन्दनग्रन्थेषु प्राथम्येनावतारणप्रणयेन वा प्रावर्तिषि।

अभिनन्दनग्रन्थास्तु अद्य यावत् प्रायो महता विदुषामेव नाम्ना प्रकटीभूता. सन्ति, वर्तन्ते च तत्र महान्तः श्लाघनीया निवन्धा.। परन्तु आङ्गलसाम्राज्यचाकचक्यचकिताक्षास्तात्कालिका विद्वास संस्कृत-भाषायां हिन्दीभाषायां वा किमपि लेखनमपमानास्पदमिव मन्यन्ते स्म। फलतः संस्कृतपण्डिता ईदृशा-भिनन्दनग्रन्थसाहित्यानभिज्ञास्तेष्वश्रद्दधाना इवासन्। परन्तु इदानीं भारतं स्वतन्त्रं जातम्, जनतन्त्रराज्यं च प्रारब्धम्, अपगता आङ्गला., आङ्गलभाषाया राजभाषात्वं च नष्टप्रायम्, हिन्दी किल अस्माकं राष्ट्र-भाषाऽस्ति सम्प्रति।

सर्वभाषाजनन्या. सुरभारत्या कृते किं वक्तव्यम्, सा किलास्माकं कामधेनु', यदा यदा हि शब्ददारि-द्र्यमवभासेत, तदा सैव शरणम्।

येषां महानुभावानां करकमलयोरभिनन्दनग्रन्थोऽयं समर्पणीय ते माननीयडाक्टरसम्पूर्णानन्द-महाभागाः सर्वशास्त्रावगाहिधिषणा विशेषतो दर्शनशास्त्रपारावारपारङ्गमा. सन्ति। न केवल प्राचीनो-द्भावितदर्शनग्रन्थाध्ययनं तन्मननमात्रं वा डाक्टरसम्पूर्णानन्दमहाभागाना रुचिविषय:। ते हि प्राचीना-चार्या इव मननतरितीर्णविद्यार्णवा. स्वप्रतिभाप्रभावप्रोद्भासितानि नव्यतत्त्वसंवलितान्यभिनवानि दर्शनान्यपि प्रोद्भावयितु प्रभवन्तीति महदिदं विस्मयकर नः।

यथा हिन्द्या, तथैव सस्कृते, आङ्गलभाषाया च लोकोत्तरं प्रावीण्यं डा० सम्पूर्णानन्दमहाभागा-नाम्। संस्कृते च तेषां वाग्धारा श्रौतप्रवाहान्त.पातिनी नूनमावर्जयति विदुषां मनांसि।

अस्मिन् शुभेऽवसरेऽस्माकं संस्कृतपण्डितानामस्मदभिवन्द्याऽभिनन्दनग्रन्थेऽवतरणं नूनं कौतुकास्पदमेव। माननीया डा० सम्पूर्णानन्दमहाभागा अस्माकं संस्कृतविदुषां जीवातवः, ते हि संस्कृतपरिपालिनः संस्कृतपण्डितानुपालिनश्च सन्ति। संस्कृतविदुषां सर्वोऽपि लेखशैली तान् प्रसादयिष्यतीति निश्चित्य मयाऽत्र सञ्चयस्तत्करयोरर्पयितुमुपक्रान्तः।

अत्र कार्ये काशिकराजकीयसंस्कृतमहाविद्यालये पुराणेतिहासाध्यापकैः पण्डितप्रवरश्रीमदनन्तशास्त्रि-फडकेमहोदयैः तथा व्याकरणाध्यापकैः पण्डितवरश्रीमद्बालकृष्णशास्त्रिपञ्चोलिमहोदयैः सरस्वती-भवनस्थव्याकरणाचार्यश्रीरघुनाथपाण्डेयैर्वेदान्ताचार्यश्रीजगन्नाथशर्मोपाध्यायैश्च सर्वाङ्गीणमनल्पं साहाय्यं समर्पितमिति तेभ्यो भूयसा धन्यवादानर्पयामि। अस्माकं ज्येष्ठभ्रातृकल्पाः प्रतिभाशालिसमुज्ज्वलमेधाप्र-कर्षाः प० रामाज्ञापाण्डेयमहोदयास्तु मम कार्यशक्तिसन्धुक्षणसहायायमाना एव सन्तीति तेषां विषये मौनमेवात्मनिवेदनम्। परिशेषेऽस्माकं प्रधानसहायकाः प० करुणापतिशास्त्रित्रिपाठिमहोदया अपि नितरां धन्यवादानर्हन्ति। तेषां वैदुष्यसदाचारविनयार्जवादिभिरलौकिकैर्गुणैर्नितरामावर्जितस्वान्तोऽहं भगवन्तं श्रीविश्वनाथमभ्यर्थये, यत्ते चिरायुषो भूत्वा चिरं सुरभारतीसेवां कुर्वन्त्विति शम्।

अन्यच्च पत्रसङ्ख्याया नियतत्वान्मया पत्रलेखनपूर्वकं सादरमामन्त्रितानां बहूनां विदुषां लेखा अत्र स्थानं नोपलभन्तेति गाढं विषीदामि। येषां विदुषां लेखा न प्रकाशितास्ते विद्वांसो मर्षयन्त्विति प्रार्थये।

यथासम्भवं काशिकराजकीयसंस्कृतमहाविद्यालयीयमुखपत्रिकायां 'सारस्वत्यां सुषमायां' यथाक्रमं ते प्रकाशयिष्यन्ते।

सरस्वतीभवनम्, काशी
वसन्तपञ्चमी, २००६

नारायणशास्त्री खिस्ते
संस्कृतविभागसम्पादकः।

मङ्गलम्
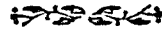
भद्रं कर्णेभिः शृणुयाम देवा भद्रं पश्येमाक्षभिर्यजत्राः ।
स्थिरैरङ्गैस्तुष्टुवांसस्तनूभिर्व्यशेम देवहितं यदायुः ॥

ऋग्वेद १–१९–८ ।

इमां म इन्द्र सुष्टुतिं जुषस्व प्र सु मामव ।
उत प्र वर्धया मतिम् ॥

ऋग्वेद ८–६–३२ ।

पवस्व जनयन्निषोऽभि विश्वानि वार्या ।
सखा सखिभ्य ऊतये ॥

ऋग्वेद ९–६६–४ ।

एतावानस्य महिमाऽतो ज्यायाँश्च पूरुषः ।
पादोऽस्य विश्वा भूतानि त्रिपादस्यामृतं दिवि ॥

ऋग्वेद २०–९०–३ ।

अग्ने नय सुपथा राये अस्मान् विश्वानि देव वयुनानि विद्वान् ।
युयोध्यस्मज्जुहुराणमेनो भूयिष्ठां ते नमउक्तिं विधेम ॥

तैत्तिरीय १–१–१४ ।

पुनर्मनः पुनरायुर्म आऽगन् पुनः प्राणः पुनरात्मा म आऽगन् पुनश्चक्षुः पुनः श्रोत्रं म आऽगन् । वैश्वानरो अदब्धस्तनूपा अग्निर्नः पातु दुरितादवद्यात् ॥

शुक्ल यजुर्वेद,—४–१५ ।

मेधां मे वरुणो ददातु मेधामग्निः प्रजापतिः ।
मेधामिन्द्रश्च वायुश्च मेधां धाता ददातु मे स्वाहा ॥

शुक्लयजु० ३२–१५ ।

कल्याणपरम्पराशंसनम्

नारायणशास्त्री खिस्ते

श्रीमतां महनीयचरितानां विद्या-विनय-राजनय-धैर्यौदार्य-दया-दाक्षिण्यादि-सद्गुण-गण-मणिरत्नाकराणां महानुभावानां श्रीसम्पूर्णानन्दमहोदयानां षष्ट्यब्दपूर्तौ कल्याणपरम्पराशंसनम् ।

निखिलभुवनरक्षादक्षिण श्रेणिबद्धा
अमरनिकरवर्ग्यादारभ्य याचितार्द्धि ।
विततविविधविद्यावाहिनीमन्नाभि-
स्मिन्नु मुदमनल्पां व सदा वितनोतु ॥ १ ॥

येनाग्राहि जनु स्वभूमिजननीदुःखापवारच्छिदे
येनावादि मनोरम मृदुवच सरस्य तापापहम् ।
येनात्याजि समस्तभोगघटना तीव्र विधातु तप-
स्तस्मात् को नु वरो नरो भुवि जनैरभ्यर्चनीयो भवेत् ॥ २ ॥

श्रीमद्वाराणसेयप्रथितकुलसरोजातनव्यांशुमाली
मालीरानिस्पृह सन्नविरतविलसद्वाङ्मयैकानुराग ।
रागासङ्ग न भोगे वहति परमसौ तारकौघे नभोगे
सो ! गेय कीर्तिसारो स्वयमयमवनौ नायक शिक्षकाणाम् ॥ ३ ॥

सम्पूर्णानन्द ! विद्याविमलकुमुदिनीयामिनीकान्त ! शान्ता
ऽशेषध्वान्तप्रसार विरतखलजनोलूककोलाहलञ्च ।
विद्यास्थान समस्त विलसति भवत सानुरागानुपानै-
स्स्यन्दन च विद्वज्जनहृदयमहाचन्द्रकान्ता प्रमादात् ॥ ४ ॥

स्वस्यस्तानेकभाषा गहनगणितवित् तारकाचक्रचारे
बुद्ध्या सञ्चारकारी श्रुतिशनमननाच्चिद्विरामप्रबन्धा ।
प्रतीतिह्यानुराग सुरगरवचसामुन्नतरेकहेतु
सम्पूर्णानन्दनामा सनिमदनुपमो भारते भातु भव्य ॥ ५ ॥

माननीय ! सारस्वतसौरभ ! अद्यावधि भवदीयनिरवधिकायजातजनित कुन्देन्दुसुन्दर यश सुकृतिना कर्णपूरायत एव । स्वदेशसमुद्धरणमहाध्वर निर्वोढु बद्धपरिकराणामन्यतमो भवान् अतिमानव स्ववीयस्वार्थत्याग स्वाध्यायसहिष्णुतादिभिर्गुणैर्महतोऽप्यतिशेते ।

किञ्च जराजीर्णाया सुरभारत्या अपि महात्माहर्षपूपप्रदानात् अनितरसाधारण हस्तावलम्ब ददानो भवान् नवेन्दुरिव विबुधजनस्य लोचनासेचनकजनि समजनि ।

किम्बहुना वाङ्मयैकानुरागिणो भवत करसरोजसम्पुटे वाङ्मयसुमनोऽञ्जलिरयमुपनीयमान दिगन्तर सुरभीकरोतुतमाम् ।

स्रग्धरास्रगुपहारः

भूपनारायण झा

एतद्ग्रन्थाभिनन्द्यः स्फुरति शशिकलाकारसौजन्यजन्यो-
दञ्चत्कीर्तिप्रसारैरनिशमुपचिताखण्डदिङ्मण्डलश्रीः ।।
ऊहापोहातिरेकोन्मथितसमुदिताम्नायसिद्धान्तसिन्धु-
र्वन्द्यो वन्धुर्धुधाना वहति वहु धुरा वन्धुरामुद्धुराम् ।। १ ।।

चाकाशीत्यद्यकाशी परमियममुना नात्मजेनोरुधाम्ना;
किन्तून्मीलद्विशेषा नरवरजननी भारतक्षोणिरेषा ।।
माहात्म्येनैव यस्योन्नमदमरगवीगौरवोद्गारिभेरी-
भाङ्कारा विश्वमेतद्वधिरयितुमतीवादिगन्त प्रथन्ते ।। २ ।।

विभ्राजद्भालचन्द्राकृतिकृततिलकेनेन्दुमौलिस्त्रिनेत्रः,
कृष्णश्चासौ स्वकान्त्या, कमलदलदृशा पुण्डरीकाक्षमूर्तिः ।।
गर्जन्नूर्जस्विनादैरतनुनरतनु केसरी चोग्रमौलि-
श्लिष्यद्भि केसरौघैरजनि जनिमदानन्दकान्तारमध्ये ।। ३ ।।

दग्धं दारिद्र्यदावानलविषमतमज्वालया शुष्कमन्त-
स्तापैः पाश्चात्यवात्याव्यतिकरविगलन्मूलमुद्वेपमानम् ।।
एतद्ग्रन्थाभिनन्द्यः स्फुरदमृतमुचा सिक्तमद्यापि सूते
जीर्णं शीर्णञ्च विद्वज्जनवनमभितः पल्लवौघानमोघान् ।। ४ ।।

उद्वेलन्नव्यनव्यात्मजविविधगवीरुध्यमानप्रसारा
साराशस्यन्दिकापि स्वयमतिजरती हन्त ! हा ! मर्तुकामा ।।
एतद्ग्रन्थाभिनन्द्याभिनवजलवरोद्भासमानाङ्गपूर्णा-
नन्द-श्रीकृष्णकीर्णामृतममरगवी प्राणिति प्राज्य भूयः ।। ५ ।।

एतद्ग्रन्थाभिनन्द्यःस्मितलसितमुखाम्भोजभूयोऽवभासः
किंस्विद्विस्पष्टहासः स्वहृदयविलसत्सिद्धिसीमन्तिनीनाम् ।।
किं वा मैत्र्यादिकान्त करणपरिणमद्वृत्तिविद्युद्विलास-
श्चित्तोल्लासः किमाहो ! विगकलितकियञ्चिद्विलासप्रयासः ।। ६ ।।

द्राघीयोवृत्तसूत्राञ्चितनवरचनासूचिकोद्जृम्भिताभिः,
सम्पृक्ता सूक्तिमुक्ताभिरियमनुपदं सद्गुणग्रन्थियुक्ता ।।
अद्धाश्रद्धासमृद्धा स्वविधसमुपहृता सुन्दरस्रग्धरास्रक्
ग्रन्थेनानेन नन्द्यान्नतपुरुषपुरप्रीतये नित्यमास्ताम् ।। ७ ।।

समादराञ्जलिः

आनन्दझा

१

यदरिकाऽसमनृपदाहृतिजायमान-
दावाग्नि-दग्ध हृदया ननु भारती भूः ।
स्वातन्त्र्य-सम्मदसुधावर्षणेन
सञ्जीविताऽभवदिति भवान्नमस्यः ॥१॥

कारागृहार्गलनिरुद्धविरुद्धचेष्टा
स्वेष्टाऽऽप्तिपुष्टमतयः खलु ये विशिष्टाः ।
स्वातन्त्र्यघोर-रण-वीरतयाऽऽप्तनिष्ठा
एको भवान् विजयते सकलेषु तेषु ॥२॥

सम्पूर्णानन्द ! शिक्षासचिव ! सुललिता शेमुषी तेऽतिधन्या
यस्याः सच्चिद्विलास प्रतिफलनमुपागच्छदन्याऽप्रकाशा ।
येन प्रावट्यमाप्ता त्रिभुवनविषया त्वय्यमोघप्रभावे
विस्पष्टं स्थापयन्ति प्रतिपदमतुलं स्वप्रभागौरवमच्छम् ॥३॥

दुर्गानिर्गलगाविशाभक्तिरचला ते यत्प्रभावादिदम्
तेजो देश विदेशगामि स्मरति प्राद्यत्सुधांशुप्रभम् ।
चञ्चच्चन्दनबिन्दुभिन्दुशकलप्रस्पर्द्धि भालं वहन्
मूर्तिर्भारतसंस्कृतेर्विजयसे किं वा सुभाग्योदयः ॥४॥

श्रीमन्मोहनदेवमालवतिलकाऽङ्काग्रसङ्कारितम्
यद्गाविन्दवृषाजवाहरमहद्राजेन्द्रचन्द्रोज्ज्वलम् ।
विद्वद्वन्द्यपदारविन्दविलसच्छ्रीमत्सर्वान्द्रान्वितं
तत्सम्पूर्णसुशिक्षणैव नितरां सन्निस्तु भारतम् ॥५॥

संस्कृतनिखिलाऽऽगमनिलय-व्याजेन श्रीमता कीर्तिः ।
आकल्पवासवचला प्रभवतु वैश्वेश्वरे नगरे ॥६॥

अजरामरभावमेतु ते वपुरेतत्सततं सुकर्मकृत् ।
भवदुद्यमजाद् भयाद् भवेद् विलयाऽऽरब्धमतिस्त्वधिक्षिति ॥७॥

अथर्ववेदसंहितान्तर्गतं पृथ्वीसूक्तम्

(काण्डम् १२, सूक्तम् १, मन्त्राः १–६३)

सुश्लोकभाष्यसहितम् ।

भाष्यकारः—नारायणशास्त्री खिस्ते ।

मन्त्रः—सत्यं बृहदृतमुग्रं दीक्षा तपो ब्रह्मयज्ञ. पृथिवी धारयन्ति ।
सा नो भूतस्य भव्यस्य पत्न्युरुं लोकं पृथिवी नः कृणोतु ॥ १ ॥

भाष्यम्—आश्रित्य सत्य सुबृहज्जल च दीक्षामथोग्र सुतपश्च यज्ञम् ।
पृथ्वी स्थिता सर्वजनावनीयं ददातु नः स्थानमहो निकामम् ॥ १ ॥

मन्त्र·—असवाध वध्यतो मानवाना यस्या उद्वत. प्रवतः समं वहु ।
नानावीर्या ओषधीर्या बिभर्ति पृथिवी नः प्रथता राध्यता न. ॥ २ ॥

भाष्यम्—यद्वर्तिलोका ननु सन्त्यवाधा. समोच्चनीचाः किल भूमिभागा. ।
विभर्ति या वीर्यवतीर्महौपधी· सा न. सदा रक्षतु भूमिदेवी ॥ २ ॥

मन्त्र.—यस्या समुद्र उत सिन्धुरापो यस्यामन्नं कृष्टयः संवभूवु. ।
यस्यामिदं जिन्वति प्राणदेजत् सा नो भूमिः पूर्वपेये दधातु ॥ ३ ॥

भाष्यम्—यस्या समुद्राः सरितश्च सन्ति यत्कृष्टिभिर्जीवति जीवलोक. ।
सा नो धरित्री फलपूर्णभागे सुस्थान्सुपीतान्वितनोतु सद्यः ॥ ३ ॥

मन्त्र.—यस्याश्चतस्रः प्रदिशः पृथिव्या यस्यामन्नं कृष्टयः संवभूवुः ।
या विभर्ति वहुधा प्राणदेजत् सा नो भूमिर्गोष्वप्यन्ने दधातु॥ ४ ॥

भाष्यम्—दिशश्चतस्र· किल सन्ति यस्या कृष्ट्या प्रभूत भवतीह चान्नम् ।
या प्राणिनो धारयते धरित्री ददातु सा नो वहु गोधनानि ॥ ४ ॥

मन्त्रः—यस्यां पूर्वे पूर्वजना विचक्रिरे यस्यां देवा असुरानभ्यवर्तयन् ।
गवामश्वानां वयसश्च विष्ठा भगं वर्च· पृथिवी नो दधातु ॥ ५ ॥

भाप्यम्—कृतानि कर्माणि च यत्र पूर्वजैर्देवैश्च युद्धेष्वसुरा. पराजिता ।
स्वैरं गवाद्या विहरन्ति यत्र तेजो धन सा वसुधा ददातु ॥ ५ ॥

मन्त्र—विश्वभरा वसुधानी प्रतिष्ठा हिरण्यवक्षा जगतो निवेशनी।
वश्वानर बिभ्रती भूमिरग्निमिन्द्र ऋषभा द्रविणे नो दधातु ॥ ६॥
भाष्यम्—विश्वभरा विश्वजनप्रतिष्ठा निधानरूपेण हिरण्यधारिणी।
अग्नि वहन्ती वृषभारमनेन्द्र सा भूमिरस्मान् द्रविणैर्विनोतु ॥ ६॥
मन्त्र—या रक्षन्त्यस्वप्ना विश्वदानी देवा भूमि पृथिवीमप्रमादम्।
सा नो मधु प्रिय दुहामथो उक्षतु वर्चसा ॥ ७॥
भाष्यम्—रक्षन्ति या भूमिमिमेऽमरोत्तमा सदैव तद्रक्षणजागरूका।
मधुप्रिय न सतत ददाना सा न मुवर्च सहितान्वरातु ॥ ७॥
मन्त्र—यार्णवेऽधि सलिलमग्रा आसीद्या मायाभिरन्वचरन्मनीषिण।
यस्या हृदये परमे व्योमन्त्सत्येनावृतममृत पृथिव्या।
सा नो भूमिस्त्विषि बल राष्ट्रे दधातूत्तमे ॥ ८॥
भाष्यम्—समुद्रमग्नामपि या पुरायुगे मायाभिरेवान्वचरन् मनीषिण।
सुधामय सत्यसमावृत च चित्त स्थित व्योम्नि परे यदीयम।
सा भूमिरस्मान् निदधातु राष्ट्रे समुत्तमे दीप्तिबले ददाना ॥ ८॥
मन्त्र—यस्यामाप परिचरा समानीरहोरात्रे अप्रमाद क्षरन्ति।
सा नो भूमिर्भूरिधारा पयो दुहामथो उक्षतु वर्चसा ॥ ९॥
भाष्यम्—नक्त दिव यत्र समानभाव वहन्ति वारीणि च सावधानम्।
सा भूरिधारा नवदुग्धधारोपमानि भूयच्छतु न फलानि ॥ ९॥
मन्त्र—यामश्विनावमिमाता विष्णुर्यस्या विचक्रमे।
इन्द्रो या चक्र आत्मनेऽनमित्रा शचीपति।
सा नो भूमिर्विसृजता माता पुत्राय मे पय ॥ १०॥
भाष्यम्—यामश्विनौ चक्रतुरुन्मिती च विष्णुश्च यस्या बहुधा विचक्रमे।
हतारिरिन्द्रेण कृता मही सा मातेव पुत्राय पयो ददातु ॥१०॥
मन्त्र—गिरयस्ते पर्वता हिमवन्तोऽरण्य ते पृथिवि स्योनमस्तु।
बभ्रु कृष्णा रोहिणी विश्वरूपा ध्रुवा भूमि पृथिवीमिन्द्रगुप्ताम्॥
अजीतोऽहतो अक्षतोऽध्यष्ठा पृथिवीमहम् ॥ ११॥
भाष्यम्—मातर्भूमि हिमाचलादिगिरयस्ते पर्वतारण्यभू-
भागा, सन्तु सुखाय नस्त्वमसि न शर्मेन्द्रगुप्ताऽऽश्रय।
नानावर्णविराजमानवपुष त्वामाश्रयन्नक्षतो,
भूयास ह्यजितोऽहतस्त्वयि सदा सम्यक् प्रतिष्ठास्पदम् ॥११॥
मन्त्र—यत्ते मध्य पृथिवि यच्च नभ्य यास्त ऊर्जस्तन्व सबभूवु।
तासु नो धेह्यभि न पवस्व माता भूमि पुत्रो अह पृथिव्या।
पर्जन्य पिता स उ न पिपर्तु ॥१२॥
भाष्यम्—धरणि तव तु मध्यानाभिभागाच्छरीरात्प्रसरति परिपुष्टे प्रापके स्थापयेर्माम्।
त्वमसि मम हि माता पावयेर्मा स्वपुत्र स च खलु जनको मा पातु पर्जन्यदेव ॥१२॥

मन्त्र —यस्यां वेदिं परिगृह्णन्ति भूम्यां यस्यां यज्ञं तन्वते विश्वकर्माणः।
यस्यां मीयन्ते स्व पृथिव्यीमूर्ध्वा शुक्रा आहुत्या पुरस्तात्।
सा नो भूमिर्वर्धयद्वर्धमाना ॥१३॥

भाष्यम्—निर्माय वेदिं किल यत्र यज्ञ वितन्वते वेदविद पृथिव्याम्।
यत्राहुते पूर्वमिमे हि यूपखण्डा. प्रदीप्ता· परित स्फुरन्ति।
सा वर्धमाना धरणी किलास्मान् प्रवद्धयत्वेव सदा स्वपुत्रान् ॥१३॥

मन्त्र.—यो नो द्वेषत् पृथिवि य. पृतन्याद्योऽभिदासान्मनसा यो वधेन।
त नो भूमे रन्धय पूर्वकृत्वरि ॥१४॥

भाष्यम्—यो द्वेष्टि न. पृथिवि यश्च वधेच्छया न. सेनावल वितनुते वहुधा विशालम्।
हे श्रेष्ठकर्मकुशले धरणि त्वमद्धा त दुर्मति सपदि पोथय मारयेथा. ॥१४॥

मन्त्र —त्वज्जातास्त्वयि चरन्ति मर्त्यास्त्व विभर्षि द्विपदस्त्व चतुष्पद·।
तवेमे पृथिवि पञ्च मानवा येभ्यो ज्योतिरमृत मर्त्येभ्य उद्यत्सूर्यो रश्मिभिरातनोति ॥१५॥

भाष्यम्—त्वत्सभवास्त्वयि चरन्ति जना विभर्षि त्वं तान्धरे द्विचरणाँश्चचतुष्पदाँश्च।
उद्यन् रविः स्वकिरणैरमृतं यदर्थं वर्षन्त्यमी जननि पञ्चजनास्त्वदीयाः ॥ १५ ॥

मन्त्र.—ता न. प्रजाः सद्दुहतां समग्रा वाचो मधु पृथिवि धेहि मह्यम् ॥१६॥

भाष्यम्—अस्मदर्थं प्रजा. सर्वा वाचोऽमी किरणा रवे।
दुहन्तु हे धरादेवि मधु मे देहि सर्वत ॥१६॥

मन्त्र.—विश्वस्वंमातरमोषधीनां ध्रुवा भूमि पृथिवी धर्मणा धृताम्।
शिवा स्योना मनु चरेम विश्वहा ॥१७॥

भाष्यम्—सर्वस्य विश्वस्य धनात्मिकाया सर्वौषधीनामपि मातृकायाम्।
धर्माश्रिताया ध्रुवतान्विताया वय सुखेनैव चरेम भूमौ ॥१७॥

मन्त्र.—महत्सधस्थ महती बभूविथ महान्वेग एजथुर्वेपथुष्टे।
महाँस्त्विन्द्रो रक्षत्यप्रमादम्।
सा नो भूमे प्ररोचय हिरण्यस्येव सदृशि मा नो द्विक्षत कश्चन ॥१८॥

भाष्यम्—आवासभूमिर्महती धरे त्वं वेगश्च कम्पश्च तवास्ति भूयान्।
इन्द्रो महानेष विना प्रमाद त्वा सर्वदा रक्षति जागरूक।
सुवर्णवत्सर्वजनप्रियान्न कुरुष्व न द्वेष्टु कुतोऽपि कश्चित् ॥१८॥

मन्त्र·—अग्निर्भूम्यामोषधीष्वग्निमापो विभ्रत्यग्निरश्मसु।
अग्निरन्त पुरुषेषु गोष्वश्वेष्वग्नयः ॥ १९ ॥

भाष्यम्—वाष्पात्मनाग्निर्भुवि चाप्सु विद्युद्रूपेण वह्नावपि चोपलेषु।
जनेषु धेनुष्वथ घोटकेषु स जाठराग्निर्विलसत्यजस्रम् ॥१९॥

मन्त्र —अग्निर्दिव आतपत्यग्नेर्देवस्योर्वन्तरिक्षम्।
अग्नि मर्तास इन्धते हव्यवाह घृतप्रियम् ॥२०॥

भाष्यम्—सूर्यात्मनाग्निर्दिवि वर्ततेऽयं यदन्तरिक्षं तदिहाग्निदेवम्।
मर्त्यास्तु सर्वेऽपि घृतप्रियं त वैश्वानर जुह्वति सर्पिरोघैः ॥२०॥

मन्त्र—अग्निवासा पृथिव्यसितज्ञूस्त्विषीमन्त सशित मा कृणोतु ॥२१॥
भाष्यम्—अग्निवासा धारादेवी नीन्धूमविदा वरा।
दीप्तिमन्त च तीक्ष्ण च मा करोतु निज सुतम् ॥२१॥
मन्त्र—भूम्या देवेभ्यो ददति यज्ञ हव्यमर कृतम्।
भूम्या मनुष्या जीवन्ति स्वधयान्नेन मर्त्या।
सा नो भूमि प्राणमायुर्दधातु जरदष्टि मा पृथिवी कृणोतु ॥२२॥
भाष्यम्—भूमा जना जुह्वति देवताभ्या हविस्तु मर्त्या अपि भूप्रतिष्ठा।
अन्नेन जीवन्ति ददातु मा नो भू प्राणमायुश्च करोतु वृद्धान् ॥२२॥
मन्त्र—यस्ते गन्ध पृथिवि सबभूव य बिभ्रत्योषधयो यमाप।
य गन्धर्वा अप्सरसश्च भेजिरे तेन मा सुरभि कृणु मा नो द्विक्षत कश्चन ॥२३॥
भाष्यम्—यस्त्वस्ति गन्ध पृथिविप्रभूत त धारयन्त्योषधयो जलानि ॥
गन्धर्वलोकोऽप्सरसा गणश्च तमेव त जिघ्रति सुष्ठु गन्धम्।
मा तेन सद्य सुरभी कुरुष्व न मा प्रति द्वेष्टु कुतोऽपि कश्चित् ॥२३॥
मन्त्र—यस्ते गन्ध पुष्करमाविवेश य सजभ्रु सूर्याया विवाहे।
अमर्त्या पृथिवि गन्धमग्रे तेन मा सुरभि कृणु मा नो द्विक्षत कश्चन ॥२४॥
भाष्यम्—गन्धस्तु यस्ते कमल प्रविष्ट सूर्याविवाह विधतोऽमरय।
मा तेन सद्य सुरभी कुरुष्व न मा प्रति द्वेष्टु कुतोऽपि कश्चित् ॥२४॥
मन्त्र—यस्ते गन्ध पुरुषेषु स्त्रीषु पुसु भगो रुचि।
यो अश्वेषु वीरेषु यो मृगेषूत हस्तिषु।
कन्यायां वर्चो यद्भूमे तेनास्मा अपि समृज मा नो द्विक्षत कश्चन ॥२५॥
भाष्यम्—यस्ते धरादेवि विभाति गन्धो नरेषु नारीषु भगो रुचिश्च।
अश्वेषु वीरेषु मृगेषु हस्तिषु कन्यासु वर्चश्च यदस्ति भूमे।
मा तेन सयोजय देवि सद्या न मा प्रति द्वेष्टु कुतोऽपि कश्चित् ॥२५॥
मन्त्र—शिला भूमिरश्मा पासु सा भूमि सधृता धृता।
तस्यै हिरण्यवक्षसे पृथिव्या अकर नम ॥२६॥
भाष्यम्—शिलाश्मपासुप्रमृतीनि यस्या रूपाणि लोके विदितानि सन्ति।
अथापि धत्ते हृदि या सुवर्ण ता भूमिदेवी प्रणमामि नित्यम् ॥२६॥
मन्त्र—यस्या वृक्षा वानस्पत्या ध्रुवास्तिष्ठन्ति विश्वहा।
पृथिवी विश्वधायस धृतामच्छावदामसि ॥२७॥
भाष्यम्—यस्या ध्रुवास्तिष्ठति वृक्षवर्गो वनस्पतीनामपि सम्भवो य।
धृता तु धर्मेण समस्तपोषिणी स्तुमो धरित्री वयमादरेण ॥२७॥
मन्त्र—उदीराणा उतासीनास्तिष्ठन्त प्रक्रामन्त।
पद्भ्या दक्षिणसव्याभ्या मा व्यथिष्महि भूम्याम् ॥२८॥
भाष्यम्—वय चरन्तस्त्वयि देवि भूमे सव्यापसव्य च पुरश्च पश्चात्।
स्थितोपविष्टाश्च तव प्रमादान्मा भूद्व्यथा न क्वचिदपि तत्र ॥२८॥

मन्त्रः—विमृग्वरी पृथिवी मा वदामि क्षमां भूमि ब्रह्मणा वावृधानाम्।
ऊर्जं पुष्टं बिभ्रतीमन्नभागं घृतं त्वाभि निषीदेम भूमे ॥२९॥

भाष्यम्—पवित्रमन्त्रप्रभवात्प्रभावाद् वृद्धिं गतां स्तौमि महीं क्षमाख्याम्।
पुष्टिप्रदैरन्नरसैस्तु वल्यैर्घृतैर्भवत्यां जुहुमः प्रसन्ना ॥२९॥

मन्त्रः—शुद्धा न आपस्तन्वे क्षरन्तु यो नः सेदुरप्रिये तं निदध्मः।
पवित्रेण पृथिवि मोत् पुनामि ॥३०॥

भाष्यम्—शुद्धानि वारीणि पतन्तु देहे ततो निवृत्तानि रिपौ पतन्तु।
अहं क्षमे देवि पवित्रकेण मां पावयामि त्वयि बद्धभावः ॥३०॥

मन्त्रः—यास्ते प्राचीः प्रदिशो या उदीचीर्यास्ते भूमे अधराद्याश्च पश्चात्।
स्योनास्ता मह्यं चरते भवन्तु मा निपप्तं भुवने शिश्रियाणः ॥३१॥

भाष्यम्—यास्ते दिशः सन्ति धरे प्रसिद्धाः पूर्वादिकास्ताश्चरते तु मह्यम्।
दिशन्तु सौख्यं न पतेयमद्धा मातर्भवत्या भुवनेषु गच्छन् ॥३१॥

मन्त्रः—मा नः पश्चान्मा पुरस्तान्नुदिष्ठा मोत्तरादधरादुत।
स्वस्ति भूमे नो भव मा विदन् परिपन्थिनो वरीयो यावया वधम् ॥३२॥

भाष्यम्—भूमे मे सर्वतः स्याः सुविहितभवने मां निधेहि त्वमेव
कल्याणं देहि मह्यं स्फुरतु न परितो मा ममामित्रवर्गः।
नो मां जानन्तु वित्तापहृतिकृतधियो दस्यवः सन्तु वश्या
भीतेर्भूमा वधोऽपि प्रसरतु सुतरां दूरतो मत्सकाशात् ॥३२॥

मन्त्रः—यावत् तेभि विपश्यामि भूमे सूर्येण मेदिना।
तावन्मे चक्षुर्मा मेष्टोत्तरामुत्तरां समाम् ॥३३॥

भाष्यम्—पश्यामि मेदिनि दिवाकरदीप्तिदृप्तां त्वां यावदम्ब कनकाम्बुकृताभिषेकाम्।
प्रत्यब्दमस्तु मम चाक्षुषशक्तिवृद्धिर्माभूत्कदापि मम चक्षुषि मन्ददोषः ॥३३॥

मन्त्रः—यच्छयानः पर्यावर्त्ते दक्षिणं सव्यमभि भूमे पार्श्वम्।
उत्तानास्त्वा प्रतीचीं यत्पृष्टीभिरधिशेमहे।
मा हिंसीस्तत्र नो भूमे सर्वस्य प्रतिशीवरि ॥३४॥

भाष्यम्—यत्कुक्षिभागपरिवर्तनमाचरामि, उत्तानतां च यदहं शयने वहामि।
सर्वाविने त्वमवने मम तत्र सर्वभावेन रक्षणविधौ भव जागरूका ॥३४॥

मन्त्रः—यत्ते भूमे विखनामि क्षिप्रं तदपि रोहतु।
मा ते मर्म विमृग्वरि मा ते हृदयमर्पिपम् ॥३५॥

भाष्यम्—यत्खनामि तव देवि विग्रहं रोहतु त्वयि तदप्यनुक्षणम्।
मर्म वा हृदयमेव ते धरे नाशकं तु परिपूरयन्नहम् ॥३५॥

मन्त्रः—ग्रीष्मस्ते भूमे वर्षाणि शरद्धेमन्तः शिशिरो वसन्तः।
ऋतवस्ते विहिता हायनीरहोरात्रे पृथिवि नो दुहाताम् ॥३६॥

भाष्यम्—भूमे त्वदर्थं विहिताः षडेते वसन्तमुख्या ऋतवः क्रमेण।
यच्चाप्यहोरात्रमिदं बिभर्ति सर्वं तदस्मान् सुहितान् करोतु ॥३६॥

मन्त्र—या द्विपाद पक्षिण सपतन्ति हसा सुपर्णा शकुना वयासि।
यस्या वातो मातरिश्वेयते रजासि कृण्वश्च्यावयश्च वृक्षान्।
वातस्य प्रवामुपवामनु वार्यर्चि ॥५१॥

भाष्यम्—वयासि यस्या द्विपदानि हसाश्चरन्त्यथायायपि मातरिश्वा।
पासून् किरन् वाति तरूश्च मूलादुत्पाटयन् यत्र समृद्धवेग।
आगच्छत्यत्र च वायुदेवे देवोऽनलश्चापि चलत्यथोऽथ्याम्॥५१॥

मन्त्र—यस्या कृष्णमरुण च सहिते अहोरात्रे विहिते भूम्यामधि।
वर्षेण भूमि पृथिवीवतावृता सा नो दधातु भद्रया प्रिये धामनिधामनि।

भाष्यम्—कृष्णारुणे यत्र सदा क्रमेणाहोरात्रमहो भुवि सविभात्तम्।
वृतावृताया भवतीह वृष्ट्या सा मा शुभे स्थापयतात् स्वधाम्नि॥५२॥

मन्त्र—द्यौश्च म इद पृथिवी चान्तरिक्ष च मे व्यच।
अग्नि सूर्य आपो मेधा विश्वे देवाश्च म दद्ु॥५३॥

भाष्यम्—दिवा पृथिव्या जलसूर्यमेधान्तरिक्षमुख्यै रथदेवताभि।
भूमौ विहर्तु सुखमस्ति दत्ता शक्तिस्तु मह्य विविधप्रकारै॥५३॥

मन्त्र—अहमस्मि सहमान उत्तरो नाम भूम्याम्।
अभीषाडस्मि विश्वाषाडाशामाशा विषासहि॥५४॥

भाष्यम्—अह भवेय रिपुसघजेता सदाऽभिमुख्येन रिपुप्रणाशी।
चतुर्दिशा वरिगण विजित्य भूयासमुच्चै प्रथित प्रवीर॥५४॥

मन्त्र—अदो यद्देवि प्रथमाना पुरस्ताद्देवैरुक्ता व्यसर्पो महित्वम्।
आ त्वा सुभूतमविशत्तदानीमकल्पयथा प्रदिशश्चतस्र॥५५॥

भाष्यम—त्व प्रार्थिता पृथ्वि पुरासुरघ्ना विशालरूपा भव ह महीति।
तदा त्वयि प्राविशदेष भूतसघ शुभाश्चाथ दिशो बभूवु॥५५॥

मन्त्र—ये ग्रामा यदरण्य या सभा अधिभूम्याम्।
ये सग्रामा समितयस्तेषु चारु वदेम ते॥५६॥

भाष्यम्—हे मातर्महि सन्ति ये पुर-वर-ग्रामा-वनाद्युच्चयै।
सग्रामाश्च सभाश्च या समितयो युद्धप्रसगोद्भवा।
सवत्रैव च तत्र तत्र धरणि त्वत्प्रीतये सादरा,
त्वा देवी वचननवीनरचनै श्लाघामहे सुदरम्॥५६॥

मन्त्र—अश्व इव रजो दुधुवे वि तान् जनान् य आक्षियन्पृथिवी यदजायत।
मन्द्राग्रेत्वरी भुवनस्य गोपा वनस्पतीना गृभिरोषधीनाम॥५७॥

भाष्यम्—ये सन्ति भूमौ विचरन्ति ये च वाजीव ये पासुभिराकिरन्ति।
मन्द्रेत्वरीय धरणी तु सर्वान्स्तानोषधीभिवचनैश्च पाति॥५७॥

मन्त्र—यद् वदामि मधुमत् तद् वदामि यदीक्षे तद् वनन्ति मा।
त्विषीमानस्मि जूतिमानवान्यान् हन्मि दोधत॥५८॥

भाष्यम्——यद्यद् वदेयं महि ! ते प्रसादात्तदस्तु नित्य मधुमत्पवित्रम् ।
वीक्षेय यं सेवक एव सोऽस्तु भवेयमुच्चैरहमिद्धदीप्ति. ।
वेगात्परेषामपि रक्षकोऽहं भवानि मत्कम्पकपोथकोऽहम् ॥५८॥

मन्त्र:——शन्तिवा सुरभि. स्योना कीलालोध्नी पयस्वती ।
भूमिरधि ब्रवीतु मे पृथिवी पयसा सह ॥५९॥

भाष्यम्——एषा शान्तिमयी सदा सुरभिता धान्यैर्धनैः पूरिता,
भूमिर्धेनुरिवासमा सुपयसा मोघं स्तनैर्बिभ्रती ।
मा नित्यं सुधिनोतु सारसहितैर्नव्यैः पदार्थैश्चिरम् ।
वाच काञ्चनपक्षपातसहितां मत्कर्णयोर्भाषिताम् ॥५९॥

मन्त्र:——यामन्वैच्छद्धविषा विश्वकर्मान्तरर्णवे रजसि प्रविष्टाम् ।
भुजिष्यं पात्र निहित गुहा यदाविर्भोगे अभवन्मातृवद्भ्यः ॥६०॥

भाष्यम्——या विश्वकर्मा जलधौ निमग्नां रक्ष समाक्रान्ततनु हविर्भिः ।
ऐच्छद्भुजिष्यं निहितं च पात्रं गुहासु तन्मातृमतां सुखाय ॥६०॥

मन्त्र:——त्वमस्यावपनी जनानामदितिः कामदुघा पप्रथाना ।
यत्त ऊनं तत्त आ पूरयाति प्रजापति. प्रथमजा ऋतस्य ॥६१॥
वसुन्धरे कामदुघाऽसि नित्यमदीनभावा विस्तृता तथापि ।
यशो जले त्वद्वपुपस्तमेप प्रजापतिर्ब्रह्मभवः पिपर्त्ति ॥६१॥

मन्त्र.——उपस्थास्ते अनमीवा अयक्ष्मा अस्मभ्यं सन्तु पृथिवि प्रसूत.ः ।
दीर्घं न आयु. प्रतिबुद्ध्यमाना वयं तुभ्य बलिहृतः स्याम ॥६२॥

भाष्यम्——त्वत्क्रोडरूपद्विपपुज एष सनोऽस्तु यक्ष्मादिगदैर्विहीन ।
दीर्घायुषः स्वान्प्रतिबुद्धय नूनं वयं भवत्यै बलिद। भवेम ॥६२॥

मन्त्र·——भूमे मातर्निधेहि मा भद्रया सुप्रतिष्ठितम् ।
सविदाना दिवा कवे श्रियां मा धेहि भूत्याम् ॥६३॥

भाष्यम्——हे भूमि मातस्तव भद्रलक्ष्म्या प्रतिष्ठितं मां कुरु हे कवे ! च ।
स्वर्गीयभागं सुलभं विधाय मां भूतिमन्तं कुरु धामवन्तम् ॥६३॥

इति पृथिवीसूक्तस्य सुश्लोकभाष्यम् ।

अपि नाम भारतीयं राजनीतिविधानं सम्भवति ?

राजेश्वरशास्त्री

नमः शास्त्राय महते त्रिवर्गस्यैकयोनये ।
नमस्तस्य प्रणेत्रे च कौटिल्याय महर्षये ॥

लोकोत्तरचमत्कारपर्यवसायिन्या राजनीतेः द्वौ भेदौ पाश्चात्यराजनीतिः आचार्यकौटिल्यादिप्रणीता भारतीयराजनीतिश्च । अनयोर्नीत्योः किं स्वरूपं, किं च तारतम्यं, कथं वा अस्मिन् समये प्रयोगावसरलाभः सम्भवति इति विमृश्यते ।

तत्रादौ नीतिलक्षणमुपाध्यायनिरपेक्षाचार्यरीत्या उच्यते —"प्रत्यक्षपरोक्षानुमानलक्षणप्रमाणत्रयनिर्णीतायां फलसिद्धौ दैवकारानुकूल्ये सति यथासाध्यमुपायानुष्ठानलक्षणा क्रिया नीतिनय इति हि तत्प्रतिपादितं नीतिलक्षणम् ।" सामदानभेददण्डाद्युपायचतुष्टयस्य हि अनुष्ठानमुक्तविधं राजनीतिपदवाच्यं व्यवह्रियते राजनीतिरिति लक्ष्ये लक्षणसमन्वयः ।

फलं चोक्तलक्षणघटकं मुख्यतः सुखदुःखाभावात्मकरूपमपि, जीवनसाधने लाङ्गले गौण्या 'लाङ्गलं जीवनम्' इति व्यवहारवद् गौण्यैव फलपदव्यवहाराय धर्मार्थकाममोक्षरूपपुरुषार्थचतुष्टयमेव पर्यवस्यति । आद्यन्तयोर्धर्ममोक्षयोर्नीतिघटकत्वे सत्येव परोक्षप्रमाणस्य निवेशोपपत्तिः ।

यद्यपि प्रत्यक्षप्रमाणमात्रवादिनश्चार्वाकस्य मते भारतीयरीत्यापि,—नीतिकामशास्त्रानुसारेण वर्तनं धर्मः, अङ्गनालिङ्गनादिजन्यसुखं स्वर्गः, लोकसिद्धो राजैव परमेश्वरः, मरणं च मोक्षः, इत्यभ्युपगमस्य दृश्यमानत्वेन पुरुषार्थचतुष्टयस्योक्तस्य नीतिपदार्थस्य च सम्प्रतिपन्नत्वेऽपि प्रत्यक्षातिरिक्तप्रमाणानङ्गीकारात् प्रमाणत्रयघटितमुक्तलक्षणं दुर्घटमिवावभाति तथापि "संवरणमात्रं हि नयो लोकयात्राविद इति लौकायतिकाः" इति कौटिल्यसूत्रदर्शनेन तथा "प्रत्यक्षपरोक्षानुमेया हि राजवृत्तिः" इति तत्सूत्रदर्शनेन च शब्दानुमानप्रमाणयोः संवरणमात्रत्वेन स्वीकारस्तेषामपि मते वर्तत एव । अन्यथा नीतिकामशास्त्रानुसारेण वर्तनं धर्म इति स्ववचोव्याघातो दुष्परिहर एव ।

पाश्चात्यराजनीतावपि, Culture, civilization, प्रभृतिपदवाच्यायाः संस्कृतेः घटकत्वं दृश्यते । अतः प्रमाणत्रयानुप्रवेशः तत्रापि वर्तत एवेति सर्वत्रैव लक्ष्येषु लक्षणसमन्वयः सिद्धः ।

इयांस्तु विशेषः—वैदिकराजनीतौ शब्दप्रमाणस्य परममन्तरङ्गत्वं, इतरयोस्तु दुर्बलत्वं, धर्मार्थकामादिषु तेषां समवाये पूर्वः पूर्वो बलीयानित्यभ्युपगमः। चार्वाकादिराजनीतौ तु विपरीतं बलाबलं; कामस्य सर्वापेक्षया प्राधान्यात् प्रबलतमत्वम्। अर्थस्य ततोऽधस्तनं स्थानम्। धर्मस्य तु ततोऽपि अधमं स्थानम्।

"कामोपभोगपरमा एतावदिति निश्चिताः।
आशापाशशतैर्बद्धाः कामक्रोधपरायणाः॥
ईहन्ते कामभोगार्थमन्यायेनार्थसंचयान्।
इदमद्य मया लब्धमिमं प्राप्स्ये मनोरथम्॥
इदमस्तीदमपि मे भविष्यति पुनर्धनम्।
असौ मया हतः शत्रुर्हनिष्ये चापरानपि॥
ईश्वरोऽहमहं भोगी सिद्धोऽहं बलवान् सुखी।
आढ्योऽभिजनवानस्मि कोऽन्योऽस्ति सदृशो मया॥
यक्ष्ये दास्यामि मोदिष्य इत्यज्ञानविमोहिताः।
प्रसक्ताः कामभोगेषु पतन्ति नरकेऽशुचौ॥
आत्मसम्भाविताः स्तब्धा धनमानमदान्विताः।
यजन्ते नामयज्ञैस्ते दम्भेनाविधिपूर्वकम्॥

इति भगवद्वचनैरपि लोकायतसंस्कृतौ संवरणार्थं धर्मस्य प्रवेशोऽस्त्येवेति निश्चीयते। प्रमाणत्रयपर्यालोचनया क्रियमाणेऽपि नीत्यनुष्ठाने तदीये, गीतोक्तस्य मोहजालसमावृतत्वस्य प्रवेशस्तु 'यागे रागादङ्गे वैधी'ति न्यायेन देहात्मवादिना मते फलांशस्य देहगामित्वाभ्युपगमेन उपायांशानुष्ठानस्य प्रमाणत्रयप्रसूतत्वेऽपि देहात्मवादस्य मोहरूपत्वाभिप्रायेण गीतायामुपपन्नः। चार्वाकमते पाश्चात्यमते च देहात्मवादस्यैव यथार्थत्वं, तेन मोहात्मकत्वे, गीतोक्ते विप्रतिपत्तिरेव तेषाम्, तथा च सर्वास्तिकनास्तिकदर्शनसाधारण्येन उपाध्यायनिरपेक्षाकारोक्तं पूर्वोक्तं लक्षणं यथावदुपपन्नम्।

एवंविधे नीतिलक्षणे परिनिष्ठिते सति तस्या लोकोत्तरचमत्काराविष्कारकत्वं प्रमाणत्रयनिश्चितफलसिद्धिकत्वात् भवति। तथा हि—आनन्दांशे भग्नावरणचिदेव लोकोत्तरचमत्कारपदार्थः प्रतिपादितः साहित्यविद्भिः। स च वैदिकमते 'रसो वै सः। रसं ह्येवायं लब्ध्वाऽऽनन्दी भवति" इति श्रुतिवचनानुसारेण निरतिशयनित्यसुखात्मकं ब्रह्मैव चित्पदार्थः आनन्दांशे भग्नावरणताविशिष्टः। चार्वाकादिमते तु आनन्दांशे भग्नावरणताविशिष्टं जीवच्छरीरमेव लोकोत्तरचमत्कारपदार्थः। तन्निष्ठं लोकोत्तरत्वं च लोकोत्कृष्टत्वमेव। उत्कर्षश्च निर्दोषो गुणवत्त्वम्।

गुणः परोपकारित्वं हितकर्तृत्वमेव वा।

इति परिभाषानुसारेण च परापकारकत्व-पराहितकर्तृत्वान्यतररूपदोषरहितं परोपकारित्वपरहितकर्तृत्वरूपगुणवत्तयावभासमानं आनन्दांशे भग्नावरणं जीवच्छरीरं लोकोत्कृष्टम्। अत एव उपकार्यैः परैः समाद्रियते। नमस्क्रियते च।

ये प्रियाणि प्रभाषन्ते प्रयच्छन्ति च सत्कृतिम्।
श्रीमन्तो वन्द्यचरणा देवास्ते नरविग्रहा ॥

इति हि उक्तयोपपन्नेषु शरीरेषु पाण्णा भवति। अनेनैव हि मार्गेण बुद्धस्य तदनुयायिना च शरीरवयवा Secular शासनव्यवस्थापकैरपि सुसम्मानमाद्रियन्ते प्रणम्यन्ते चेति पश्याम ॥ स्वाव धिरोन्वर्षनतानापन हि स्वस्वाग्पदार। उत्वपद्च तदघटा प्राससीत्या परोपकृत् स्वपरहितकारि-त्वरूपमेवेति तादृशाना शरीरणा वन्द्यचरणत्व को वापह्नुवीत! शरीरातिरिक्तात्मवादिना वैदिकानामपि उक्तरीत्यैव वन्द्यचरणत्व भवति। केवल धर्मस्य प्रणाय तमो, त्रावायनमो तु सर्वथा अप्राधान्य तस्येत्येतावानेव विशेष।

एव व्यवस्थिते प्राच्यपाश्चात्यराजनीत्यो निष्कृष्टे स्वरूप केवल तारतम्य अधुना विमृशामहे।

एके सत्पुरुषा परार्थघटका स्वार्थ परित्यज्य ये
सामान्यास्तु परार्थमुद्यमभृत स्वार्थाविरोधेन ये।

इति वर्णनानुसारेण देहात्मवादप्रधानस्य पाश्चात्यराजनीत्यनुष्ठानस्य सामान्यात्मत्व, भारतीय-वैदिकराजनीत्यनुष्ठानस्य तु देहात्मवादादित्यागपूर्वक प्रवृत्तस्य उत्तमत्व, उभयोरप्यनुष्ठानयो —

तेऽमी मानुषराक्षसा परहित स्वार्थाय निघ्नन्ति ये
ये तु घ्नन्ति निरर्थक परहित ते के न जानीमहे ॥

इति वर्णितस्याधमस्याधमाधमस्य च जनस्य सकाशात् सम्भवत्स्न स्पृहणीयताया सिद्धायामपि सातिशय देहात्मवादरहितवैदिकराजनीत्यनुष्ठानस्यैवोपपद्यते। तथा हि—

कृतिर्या रमयत्येव विश्व सा कीर्तिरुच्यते।

इति परिभाषानुसारेण लोकरञ्जक राजनीत्यनुष्ठानमेव कीर्तिरूपता याति।

कीर्ति श्रीर्वाक् च नारीणा स्मृतिर्मेधा धृति क्षमा।

इति गीताव्याख्यानावसरे "नारीणा मध्ये भवद्विभूतिभूता कीर्तिप्रभृतय सन्त्येव, यासा आभास-मात्रसम्बन्धेनापि लोक कृतार्थमात्मान मन्यते" इति भाष्यकारप्रभृतिभि सर्वैरपि टीकाकारै ऐकमत्येन व्याख्यातेषु भगवद्वाक्येषु कीर्त्यादिषु सत्सु कीर्ति धार्मिकत्वनिमित्ता ख्यातिरिति टीकाकारा अभि-प्रयन्ति। विद्वद्विख्यातवैदुष्यै श्रीमधुसूदनसरस्वतीभिश्च, धार्मिकत्वनिमित्ता उत्कृष्टत्वेन ख्यातिरिति पूर्वोक्तकीर्तिपदार्थ, नानादिग्देशीयलोकज्ञानविषयता ख्याति पदार्थ इत्युपदश्य, धार्मिकत्वप्रयुक्तोत्कर्षत्व प्रकारक-नानादिग्देशीयलोकसमवेतज्ञानविषयता कीर्तिपदार्थ इति परिष्कृतस्वरूपे पर्यवसायित। तथा च एवविधा नानादेशीयलोकसमवेतज्ञानविषयता धार्मिकत्वे सत्येव, सति च तत्प्रयुक्ते परोपकृत् स्व-पराहित-कारित्वरहिते परोपकृत् स्व-परहितकारित्वस्वरूप पूर्वोपवर्णिते उत्कर्षे समुपपद्यते नान्यथेति अविप्रतिपन्न सिद्धान्त पर्यवसित।

अत एव धार्मिकत्वे सति उत्कृष्टत्ववतां ख्रिस्तमोहम्मदप्रभृतीनां यादृशी कीर्तिः सम्मान्यता च न तादृशी तावद्देशकालव्यापिनी अन्यस्य कस्यापि राजनीतिज्ञस्यानुभूयते। तत्र निमित्तं तु साहित्यशास्त्रप्रसिद्धं साधारणीकरणं रसास्वादजीवातुभूतसभ्याभिनेयाभेदाभिव्यक्तिक्षमं सर्वथा धर्मपरतन्त्रमेवास्ते। तथाहि—तैलधारावदविच्छिन्नसमानाकारकधीप्रवाहरूपं ध्यान चित्तगताया एकाग्रभूमिकायाः सम्पादकं भवति। अन्यथा क्षिप्तमूढादिभूमिकासु स्थितस्य चित्तस्य रसास्वादोद्गमः दुष्कर एव। तथा च राजनीतेरेकाग्रभूमिकाया असम्पादकत्वे लोकरञ्जकत्वं शशविषाणायमानमेव भवति। अत. कवीनामिव राजनीतिज्ञानामपि महता प्रयत्नेन सम्पादनीयोऽस्य व्यापारो भवति। स तु धर्ममन्तरा दु.शकः। तथा हि—देहतादात्म्यभूमिकायां स्थितस्य जनस्य परिमितप्रमातृतादशायां अन्यस्य कस्यचित् राजनीत्यनुष्ठानं, राम एवमेवमाचरति, इत्युपदिष्टे, 'आचरतु नाम, मम किं तेन !' इति रीत्या विजातीयप्रत्ययजनकत्वमेव भवति। तत्कारणं तु राम एवमाचरतीति लट्प्रत्ययप्रयोगेण वर्तमानकालनिर्देश एव। एवमेवाचरदाचरिष्यतीत्यादिभूतादिनिर्देशयोरपि एषैव गतिः। रामेणैवमाचरितव्यमिति त्रिकालातीतनिर्देशे तु विधिवाचकतव्यप्रत्ययघटित्ते, मम किं तेनेति औदासीन्योद्गमो न दृश्यते। अतः एकाग्रताजीवातुभूत. विधिप्रत्ययनिर्देशः फलति। स तु विधिप्रत्ययनिर्देशः यावद्देशकालव्यापिसमवेदनाविषयो भवति तावत्पर्यन्तमात्मानं साधरणीकुरुते। अतश्च शरीरात्मवादिनामेव ख्रिस्तप्रभृतीनाम् ईश्वरतत्वं पुरस्कृत्य कृतो विधिनिर्देशः विततकीर्तिजनकः सम्पन्न'। तत्तद्भूखण्डस्थितजनसुखोद्देशेन क्रियमाणो राजशासननिर्देशस्तु विधिप्रत्ययघटितोऽपि तत्तद्भूखण्डस्थितानां समकालीनानामेव जनानां समवेदनाविषयो भवति। नान्यखण्डस्थितानामन्यकालीनाना वा। तथा च सिद्धमेतत्, कीर्तिविस्तारणं यथा धर्मायत्तं न तथा अर्थकामायत्तम्। तथा 'इदमप्यत्रावधेयं यत् न केवलेन पारलौकिकफलेनापि धर्मेण कीर्तिवल्लर्या अङ्कुरोद्भेदप्रत्याशापि, यावद्धर्मप्रयुक्त' निर्दोष जनोपकारकत्व—जनहितकारकत्वरूपगुणः नानादेशीयजनज्ञानविषयता न याति। अत एव क्रैस्तधर्मप्रधानानामपि लोकोपकारकाणा रशियाधिपति 'जार' सम्राट् प्रभृतीनां विनाश. सम्पन्न.। भारतेऽपि जमीदारप्रभृतीनामुन्मूलनमपि अत एव दृश्यते। एवं स्थिते धर्मप्रवृत्तानुष्ठानस्योत्कर्षजनकस्य यशस्करत्वे, यथायथा विधिशासनस्य यावद्यावद्देशकालव्यापित्वं तावद्देशकालव्यापित्व यशस इति नियम पर्यवस्यति। एतादृशनियमानुसारेणैव लोकोन्नतिकारकस्य धर्मस्य यशस्करत्वम् अधिकयशस्करत्वं च सिध्यति; गम्भीरगम्भीरतरनादानामुत्तरोत्तरं सर्वातिशायित्ववत् तन्नादस्य सर्वातिशायित्वात्।

अत एव विधिपूर्वकं अपरिणीताया रागमात्रपरिगृहीताया एकस्मिन्नेव दयिते समासक्तचित्ताया अपि मृच्छकटिकादौ वसन्तसेनायास्तत्तुल्याया वा अन्यस्या इतिहासपुराणप्रसिद्धाया गणिकादुहितुः न तादृशं स्मरणीयत्वं भवति यादृश विधिपूर्वकपरिणयेन पातिव्रत्यसङ्कल्पमुपेताया जगन्मातुः सीतायाः। तत्र हि कारण केवलमादर्शभेद एव। गणिकादुहितुर्हि आदर्शः परिमितप्रमातृतामाविर्भावयति, जगन्मातुस्तु, अपरिमितप्रमातृनाम्। अत एव च कौरवसेनाया, एकादशाक्षौहिणीपरिमिताया बहुजनोपकारित्वेऽपि अपयश', पाण्डवसेनायास्ततोऽल्पत्वेऽपि यशोभावत्वं भगवत्प्रीतिपात्रत्वं चावलोक्यते। तत्सिद्धमेतत् धर्मपक्षपातिन्या लोकोन्नतिव्यवस्थाया अधिकयशस्करत्वमिति। अत एवोच्यते—

परित्यजेदर्थकामौ यौ स्यातां धर्मवर्जितौ।
धर्ममप्यसुखोदर्कं लोकविक्रुष्टमेव च ॥

इति नाम्नवारे । एव च पञ्चवर्षपर्यन्त वा सप्तवर्षपर्यन्त वा कार्यार्थ निर्वाचितानां गोरमतानुवर्तिना जनरञ्जन यश पञ्चसप्तवर्षपरिमितायुष्यमेव। भारतीयराजनीते तु शाश्वतधर्मप्रधानाया विधानानि अनवच्छिन्नायुष्ययशस्कराणि भवन्तीनि वस्तुस्थितिरवेद्यते। तत्रास्यास्या अस्या भारतीयाया राजनीते स्वरूप क्रमबद्धेषु ३६ प्रकरणेषु प्रदर्शित विशुद्धसंस्कृतविश्वविद्यालयीयराजनीतिविभागे मञ्जातव्याख्यानादेवोद्धृत्य प्रदीयते—

कौटिलीयाय शास्त्रसक्षेपरूपे कामन्दकीयनीतिसारे—

> राजास्य जगतो हेतुर्वृद्धेर्वृद्धाभिसम्मत ।
> नयनानन्दजनन शशाङ्क इव तोयधे ॥

इत्यादिना राज्ञ आवश्यकता प्रतिपादिता। वार्ताया अभावे मरण स्यात्। वार्ता च राजकृत रक्षणमपेक्षते। तथा च सर्वेषा जीवनचिन्तास्वनिर्वर्तनपरत्वेन राजनीतिमपेक्षते। तत्र गणराज्यादीना सम्भवेऽपि वर्णाश्रमधर्मानुयायिना कृते अभिषिक्तस्य राज्ञ आश्यकत्वमितोऽप्यत्यादरणीयम्, यत न्यायालयेषु ऋणादानादिव्यवहाराणा स्वसम्बन्धिभिरावेद्यमानानामेव राज्ञा विचारणीयत्वम्, अन्यथा तु न सामान्यनियमे सत्यपि अनिवेदितानादाने अपवादभूता –

> छलानि चापराधाश्च पदानि नृपतेस्तथा।
> स्वयमेतानि गृह्णीयात् नृपस्त्वावेदकैर्विना ॥

इति परिगणिताश्छलापराधपदनिमित्तभूता व्यतिक्रमा श्रीमद्भागवते परीक्षिद्वृषभसवादे प्रदर्शित "यदधर्मकृत स्थान सूचकस्यापि तद्भवे"दिति न्यायमनुसृत्य शमसुखशीलैर्विद्वद्भिर्न्यायालये स्वयमनुपस्थाप्यमाना अपि स्वय नृपतिनैव ग्राह्या भवन्ति। तत्र ५० विधाना छलाना, तथा ३० पदाना परिगणन वर्तते। अपराधास्तु—

> आज्ञालङ्घनकर्तार स्त्रीवधो वर्णसङ्कर ।
> परस्त्रीगमन चौर्य गर्भश्चैव पतिं विना ॥
> वाक्पारुष्यमवाच्याय दण्डपारुष्यमेव च ।
> गर्भस्य पातन चैवेत्यपराधा दशैव तु ॥

इति नारदेन परिगणिता । धर्मनिरपेक्षराज्यसस्थया वर्णसङ्करातिरिक्तापराधानामादानेऽपि वर्णसङ्कररूपापराधस्यादानमसम्भवदुचितकमेव। तथा श्रीरामायणीयेनाराजकीयाध्याये प्रोक्ता अन्येऽपि धर्मविलोपा अपरिहार्या एव राजाभावे। अत एव सुश्रुतादिभि वर्णसङ्करादिभग्ने राजा रक्ष्य इति शास्त्राऽमुच्यते। सङ्करस्य तु हेयता—सङ्करस्य च कर्ता स्यामुपहन्यामिमा प्रजा । इति गीतायाम्,

> स्वर्गानन्त्याय धर्मोऽस्य सर्वेषा वर्णिलिङ्गिनाम्।
> अस्याभावे तु लोकोऽस्य सङ्करान्नाशमाप्नुयात् ॥

इति । नीतिसारे चोच्यते—

शुचीना श्रीमतां गेहे योगभ्रष्टोऽभिजायते ।
अथवा योगिनामेव कुले भवति धीमताम् ।।
तत्र त वुद्धिसयोगं लभते पौर्वदेहिकम् ।

इत्यादिगीतावाक्यै प्राचीनकलाविद्यासवर्धनोपयोगिवुद्धिसयोगार्थं अपेक्षिताया आनुवशिकसस्कारप्रधानाया भारतीयसंस्कृते सरक्षणं साङ्कर्यपरिहारमन्तरा नैव सम्भवति । किञ्च—

विप्रो धर्मद्रुमस्यादि. स्कन्धशाखे महीपतिः ।
सचिवाः पत्रपुष्पाणि फल न्यायेन पालनम् ।
यशो वित्तं फलरस· भोगोपग्रहपूजनम् ।
विदित्वैतान् न्यायरसान् समो भूत्वा विवादने ।
त्यक्तलोभादिक राजा धर्म्य कुर्याद्विनिर्णयम् ।

इतिरीत्या वर्णितस्य 'मन्वाद्युपदिष्ट. परिपालनोपायो न्याय' इति लक्षणलक्षितेन न्यायेन परिपालनरूप-फलस्य विशेषत. क्षत्रियाधिकारिकत्वेन क्षात्रधर्मतया विख्यातस्यापि दयाऽहिसादिरूपत्वेन साधारणधर्म-त्वानपायेन स्थितस्य—

क्षात्रो धर्मो ह्यादिदेवात् प्रवृत्त
पश्चादन्ये शेषभूताश्च धर्मा. ।

इतिमहाभारतीयवचनेन पालनधर्मस्य सम्यक्स्थितावेवान्येषा वर्णधर्माणा परिपूर्णत्वमन्यथा तु अङ्गविकल-त्वमेवेत्यवगते', फलवत्सन्निधावफल तदङ्गमिति न्यायात् निष्फलत्वावगतेः न अभिषिक्त राजशून्यता वर्णाश्रमधर्मानुयायिना साधिका । अत एव चरकेणापि जनपदोध्वंसनीयाध्याये ग्रामनगरजनपदप्रधानानाम् अधर्मप्रवर्तकत्वे अप्रधानाना धर्मनिष्ठत्वेऽपि जनपदो ध्वंसो वर्णित· सविस्तरम् । अत एव महाभारते—

अथ तात यदा सर्वाः शस्त्रमाददते प्रजाः ।
राजा त्राता तु लोकस्य कथं च स्यात् परायणम् ।।
एतन्मे संशयं ब्रूहि विस्तरेण नराधिप् ।

भीष्म उवाच—

दानेन तपसा यज्ञैरद्रोहेण दमेन च ।
ब्राह्मणप्रमुखा वर्णा· क्षेममिच्छेयुरात्मनः ।।
तेषां ये वेदवलिनः तेऽभ्युत्थाय समन्तत. ।
राज्ञो वलं वर्धयेयुर्महेन्द्रस्येव देवताः ।।
राज्ञोऽपि क्षीयमाणस्य ब्रह्मैवाहुः परायणम् ।
तस्माद् ब्रह्मवलेनैव समुत्थेय विजानता ।।।। (अध्या० ७८)

राष्ट्रस्यैतत्कृत्यतम राज्ञो यदभिषेचनम्।
अनिन्द्रमबलं राष्ट्रं दस्यवोऽभिभवन्त्युत ॥

इत्युत्थाप्य मध्ये अराजकनिन्दा विधाय मनुना सह सविप्रगन्द्रमुपक्षिप्य

पशूनामधिपञ्चाशद्धिरण्यस्य तथैव च।
धान्यस्य दशम भाग दास्याम कोशवर्धनम् ॥
कन्या शुल्के चारुरूपा विवाहेषूद्यतासु च।
मुख्येन शस्त्रपत्रेण ये मनुष्या प्रधानत ॥
भवन्त तेऽनुयास्यन्ति महेन्द्रमिव देवता ।
य च धर्म चरिष्यन्ति प्रजा राज्ञा सुरक्षिता ॥
चतुर्थं तस्य धर्मस्य त्वत्सस्थ हि भविष्यति।

इत्यादिना प्रजाकृता सविदमुपन्यस्य—

तस्य दृष्ट्वा महत्त्व ते महेन्द्रस्येव देवता ।
अपतन्नसिरे सर्वे स्वधर्मे च व्यधुर्मन ॥

इत्यादिना परिणाममुपदर्श्य—

एव ये भूतिमिच्छेयु पृथिव्या मानवा क्वचित्।
कुर्यू राजानमेवाग्रे प्रजानुग्रहकारणात् ॥ (अ ६७)

इतिदयाऽहमादिरूपपालनधर्मेतिकर्तव्यतात्मक कर्तव्यजात सर्वेषा धार्मिकाणामुपदिश्यते। अत कुलविशुद्धि

वर्णाश्रमधर्मशुद्धिश्च अभिषिक्तराजानमपेक्षत एवेति तद्विशिष्टराज्यव्यवस्थैव प्रशस्ता भारतीयराजनीत्याम् ।

सा च राजनीति कामन्दकेन ३६ प्रकरणेषु सक्षिप्ता। तानि च प्रकरणानि यथा—१ इन्द्रियजय, २ विद्यावृद्धसयोग ३ विद्याविभाग, ४ वर्णाश्रमव्यवस्था, ५ दण्डमाहात्म्यम्, ६ आचारव्यवस्था, ७ प्रकृतिसम्पत् ८ स्वामुजीविवृत्तम्, ९ कण्टकशोधनम्, १० राजपुत्ररक्षणम्, ११ आत्मरक्षितकम्, १२ मण्डलयोनि, १३ मण्डलचरितम्, १४ सन्धिविकल्प, १५ विग्रहविकल्प, १६ यानासनद्वैधीभावसमाश्रयविकल्प, १७ मन्त्रविकल्प, १८ दूतप्रचार, १९ दूतचरविकल्प, २० उत्साहप्रशसा, २१ प्रकृतिवर्ग, २२ प्रकृतिव्यसनम्, २३ सप्तव्यसनवर्ग, २४ यात्राभियोक्तृप्रदर्शनम्, २५ स्कन्धावारनिवेशनम्, २६ निमित्तज्ञानम्, २७ उपायविकल्प, २८ सैन्यबलाबलम्, २९ सेनापतिप्रचार, ३० प्रयाणव्यसनरक्षणम, ३१ कूटयुद्धविकल्प, ३२ गजाश्वरथपत्तिकर्म, ३३ पत्यश्वरथगजभूमि, ३४ दानकल्पना, ३५ व्यूहविकल्प, ३६ प्रकाशयुद्धमिति । तत्रान्तिमप्रकरण प्रकाशयुद्धम्। तत आरभ्य क्रमविवेचनमारभ्यते। मात्स्यन्यायाभिभूताना प्रजाना रक्षणाय प्रकाशयुद्धमेवान्तिम उपाय । यदि द्वापर एव प्रकाशयुद्धस्यावश्यकता आसीत् किमुत कथा कलियुगेऽस्मिन्।

अभियुक्त अपि स्वे स्वे कृत्ये यत्सन्निधौ प्रजाः।
प्रभुत्वं तदिति प्रोक्तं आज्ञा सैव भयात्मिका॥

इत्यभियुक्तवचनात् भयनिर्माणरूपं प्रभुत्वं सामर्थ्यं विना न सम्भवति; इति तदर्थमेव प्रकाशयुद्धम्। सत्येव भये साधूना संरक्षणं दुष्टेभ्यो भवेत्। अत. प्रकाशयुद्धसामग्री पूर्वेषु प्रकरणेषु चिन्त्यते। तथा हि सैन्यबलं, सुयोग्यसेनापति., प्रयाणकाले वाजिवारणादिरक्षणम्, सेनादीना शिक्षादानं, योग्यभूमिविचार-पूर्वकमेव सेनानिवेशनम्, योधाना प्रोत्साहनार्थं दानसामर्थ्यं, व्यूहनिर्माणकौशलम्, राजाश्वरथपत्तिकर्माणि तदर्थं ज्ञातव्यानि। तथा कूटयुद्धविकल्पः ज्ञातव्यः, एवं प्रयाणकाले व्यसनरक्षणं च। तत्र यदि सामाद्युपायचतुष्टयेषु प्रथमैरेवोपायैः कार्यं भवेत् तर्हि दण्डप्रणयनं न युक्तम्, अतः सामाद्युपायानां ज्ञानमावश्यकम्। एवं यदि सप्तप्रकृतिषु षट्प्रकृतयो व्यसनग्रस्तास्तर्हि तासां व्यसननिराकरणं महीपतेः कार्यम्। किं च तस्मिन् समये कूटयुद्धविकल्पोऽपि। कूटयुद्धार्थं च दैवबलं अपेक्षितम्। तथा स्कन्धावारनिवेशनमावश्यकम्। यदा प्रजासु व्यसनासक्ति. तदा दूतचराभ्या कार्यं भवति, इति रीत्या वर्णितोऽयं सर्वोऽप्युपाय. परराज्यात्मसात्करणाय। परराज्यात्मसात्करणमपि प्रजापालनार्थं कर्तव्यम्। अत एवोक्तम्—

धार्मिकं पालनपरं सम्यक् परपुरञ्जयम्।
राजानमभिमन्यन्ते प्रजापतिमिव प्रजा.॥ इति।

अतो यस्य स्वीयं स्वल्पमपि राज्यमस्ति, तेनैव परराज्यात्मसात्करणं तथा परराज्यबलाबलज्ञानं च कर्तव्यम्। अतस्तदर्थं मण्डलयोनि', मण्डलचरितं, सन्धिविग्रहादिकं च कर्तव्यमित्येवं मन्त्रविकल्पप्रकरणम्। तदङ्गतया दूतचरप्रणिधिः। अस्मद्राजनीतौ—

न तेन सज्यं क्वचिदुद्यतं धनु. कृत न वा कोपविजिह्ममाननम्।
गुणानुरागेण शिरोभिरुह्यते नराधिपैर्माल्यमिवास्य शासनम्॥

इतिवर्णितरीत्या प्रियं सत्यं जगद्धितं च यत् तत्रैव नियोजनं सर्वेषामिति राजनीतेर्लक्ष्यम्। परकीयमतानां सम्यग्ज्ञानाभावे निर्णयं मन्त्रद्वारा न कर्तुमर्हः। अतो दूता मतपरिज्ञानाय प्रेषणीया.। षाड्गुण्येऽपि सन्धिरेव मुख्यो बुधाना राज्ञा वा। सन्धिश्च विश्वासोपगम.। अयं मदिष्टं साधयिष्यत्येव इत्याकारक निश्चयरूपः। भ्रमात्मकतादृशनिश्चयवान् अतिसंहित इत्युच्यते। सन्ध्यर्थमेव विग्रहोऽपि कर्तव्यो भवति। तदङ्गत्वेन यानासनादीना प्रवेश । अनया रीत्या त्रयोदशसु सर्गेषु परराष्ट्रनीतेश्चिन्तनं नीतिसारकृता कृतम्।

एतत् सर्वमपि स्वराज्यसंस्थापन एव सम्भाव्यते। अतस्तदर्थं आदिमा सप्तसर्गा'। 'राजा प्रकृतिरञ्जनात्" इत्युक्तरीत्या रञ्जन कथं भवेदित्येव चिन्ता। तदर्थं रञ्जनं सुखसाधनतासंस्कार इति स्थिते, आयुक्तकेभ्य चौरेभ्यः परेभ्यो राजवल्लभात् राजभ्यश्च भयं प्रजाना भवति इति तन्निराकरणाय कण्टकशोधनप्रकरणम्, तथा च वाह्यप्रजास्थितानां कण्टकाना शोधनं राजपुत्ररक्षणं, आत्मरक्षितकं, चेति रक्षणार्थमुक्तम्। कण्टकशोधने जाते रञ्जन स्वभावसिद्धम्। एतत् सर्वमपि स्वाम्यनुजीविवृत्ते समीचीने सति सम्भवति। तदपि योग्यानामेवाधिकारेषु नियोजने सम्भवेत्। विनियोगश्च सामर्थ्यपर्यालोचनापूर्वकमेव। एतदर्थं प्रकृतिसम्पत्प्रकरणम्। तेन के कीदृशगुणयुक्ता इति ज्ञानं भवति। तथाविधाना गुणवतां समुत्पत्तिः

राष्ट्रादेव। गुणवन्त पुरुषाश्च सदाचारस्थापने सत्येव समुत्पद्यन्त इति। एतावद्दूरपर्यन्त पाश्चात्यराजनीते-र्भारतीयराजनीतेश्च सर्वप्रकरणेषु ऐकमत्यमेव सर्वैर्दृश्यते। इत ऊर्ध्वमेव वैमत्य तद्यथा—यत् राष्ट्रमनृतपूर्ण भवेत् तत्र साधुसरक्षण न कदाचिदपि भवितुमर्हति। तस्मादिम पुन यानि पञ्च प्रकरणानि इति तेषा सङ्गति। सदाचारव्यवस्थापनाय वैदिकधर्मपारम्परिकचित्तशुद्धिजनकस्वल्पदण्डमाहात्म्य, वर्णाश्रमधर्मव्यवस्थाप्रकरण च। वर्णधर्मा, आश्रमधर्मा, सामान्यधर्माश्च, तेषा मध्ये सामान्यधर्मप्रतिष्ठापन सर्वैरेव काम्यते। परन्तु विशेषधर्माभावे न भवेत्। वर्णाश्रमधर्मव्यवस्थापन च विद्याविभागस्थापनाधीनम्। विद्याया वास्तविकार्थस्य स्फूर्ति गुरुभक्तिविशिष्टस्यैव। गुरुभक्तिश्च पूर्वार्जितपुण्याधीना। यत गुर्वाज्ञाव्यतिक्रम कलियुगे सर्वेषा स्वभाव। भक्तिश्च इन्द्रियजये सत्येव सम्भाव्यते। अनया रीत्या इन्द्रियजयप्रकरणमारभ्य प्रवासायुद्धान्तानि ३६ प्रकरणानि भारतीयराजनीत्या दृष्टानि सवस्यामेव राजनीतौ आवश्यकानि।

परन्तु पाश्चात्यराजनीतिरन्तिमेषु ३१ प्रकरणेषु भारतीयराजनीत्या सहाविशिष्टरूपादि तत पूर्ववर्तनेषु पञ्चसु प्रकरणेष्वेव विषमता गताऽवलोक्यते। तद्यथा—ईशवीय १९३५ वर्षे प्रारब्धेन भारत-विधानेन, एका राजसभा, एका कार्यकारिणी परिषद्, न्यायालयाभिधान तथा 'पब्लिकसर्विस कमीशन्' च नियोजनाय व्यवस्थापिता पाश्चात्यराजनीत्या, एतासा स्वरूप सर्वजनविदितमेवेति इह न विव्रियते। तत्रापि सर्वजीवानुभूतशासननिर्माणपरिषद् जननिर्वाचितप्रतिनिधिसमूहस्य भवति। एतेषा प्रतिनिधीना शासननिर्माणसामर्थ्यं निरङ्कुशमास्ते, यत्र कोटिकोटिजनाना भाग्यमायत्तम। एतेषा प्रतिनिधीना शिष्टत्व तु पञ्चसप्तवर्षायुष्कमेव। ततोऽन्ये तत्र निर्वाच्यन्ते। तथा च न कस्यापि तत्त्वस्य अत्रास्ति स्वीकार। तथा च केवल प्रियमेव समाचर्यते न हित पाश्चात्यराजनीत्येति निष्कर्ष पर्यवस्यति।

अनेन हीद स्फुटमेव सिध्यति, यत् एव पूर्वोक्तस्वरूपाया भारतीयराजनीतेराचार्यचाणक्योक्तीत्याया स्थानमुच्चतममस्तीत्यत्र नास्ति सन्देहलेशोऽपि। परन्त्वस्या वर्तमानसमाजे प्रतिष्ठापनावसर सम्भवति न वेति केवल तृतीयोऽशो विमृश्य।

पूर्वोक्तकीर्तिलक्षणे धार्मिकत्वप्रयुक्तोत्कर्षस्य यथा यथा नानादेशीयलोकानविषयता अभिवर्धते तथा तथा तत्प्रतिष्ठापन अभिवर्धते इति सुविशदमेव सर्वेषामभिमतम्। धार्मिकत्वप्रयुक्त उत्कर्षे सम्पाद-नीये सति शरीरात्मवादप्रधाना धर्मा नेत्यन्तवादय महामोहमूलका यावत्पर्यन्त निर्मूलिता न भवन्ति भारतवर्षात तावत्पर्यन्त नैवावसर भारतीयराजनीतिसमुत्कर्षस्य। एवविधाना महामोहाना निर्मूलन च—

देहिनोऽस्मिन् यथा देहे कौमार यौवन जरा।
तथा देहान्तरप्राप्तिर्धीरस्तत्र न मुह्यति॥

इतिभगवद्गीतोक्तनानस्य प्रतिष्ठापनेनैव सम्भाव्यते। तच्च नित्यात्मक ज्ञान, नित्यानित्यवस्तुविवेक, इहामुत्रफलभोगविराग, शमदमोपरतितितिक्षा, श्रद्धासमाधानमुमुक्षुत्वान्ताना साधनाना तीव्रतमाना प्रति-ष्ठापनेनैव सम्भवति। तत्प्रतिष्ठापनमपि वैषयिकाभ्यासिकमनोरथिकाभिमानिकभेदभिन्नानित्यसुखवैराग्यनिर्मा-णपूर्वकविद्याशमसन्तोषधर्मविशेषनिमित्तकलोकोत्तरसुखपरिचयाधीन यत्स्वल्पु "दृष्टादृष्टविषयवितृष्णस्य वशीकारसज्ञा वैराग्यम्, तत्पर पुरुषख्यातेर्गुणवैतृष्ण्यम्" इति सूत्राभ्या भगवान पतञ्जलि सूत्रया ञ्चकार।
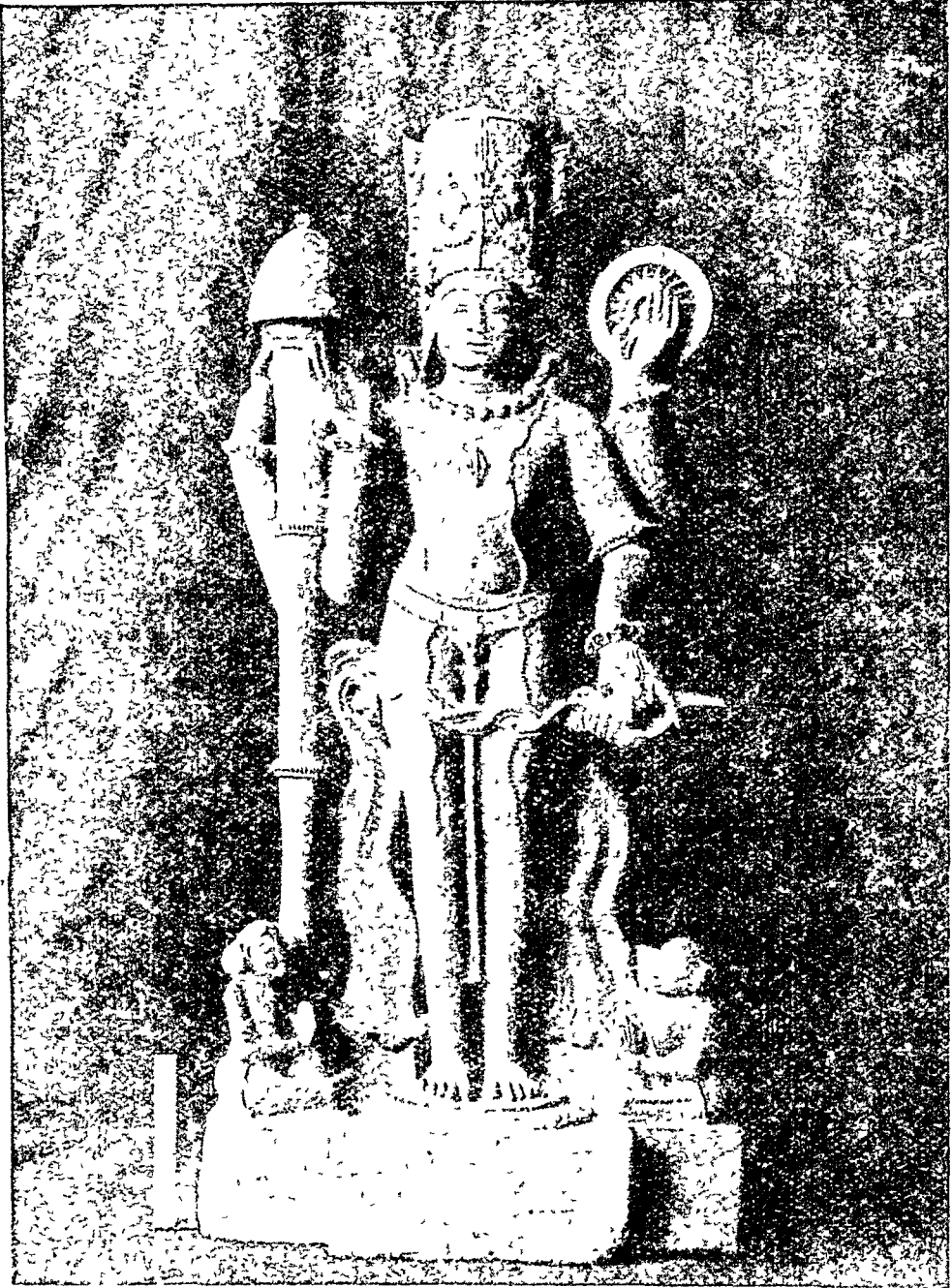
भगवान् विष्णु की चतुर्भुज मूर्ति
पूर्व मध्यकाल (ई० ८वीं शती)
सुलातानपुर (अवध) से प्राप्त

—लखनऊ संग्रहालय

तथा च नियानियवस्तुविवेकोऽनागाधीनमेवेद यत्र भारतीयराजनीतिप्रतिष्ठापनमाय दृश्यते। विवेकान्वेपरश्च लोके प्रचरत्सु नानाविधेषु शास्त्रेषु यन्मुमुक्ष्यस्ति धीरपुरुषमेविनमर्मग्रहृद्भमाप्तजनस्य पूजित त्रिविधशिष्यबुद्धिहितमपगतपुनरुक्तदोषमाप्त गुरुणीतमूत्रभाष्यमद्भहृदयम स्वाधारम् अनपायतिशद-महत्त्वाद पुण्यामिमान प्रमाणतथमयतत्वनिश्चय प्रधान सन्नतायमगद्गुरुप्रकरण आगुप्रबोधक लक्षण-वच्च उदाहरणवच्च यच्छास्त्र अमलमिवादित्यस्तमो विधूय प्रकाशयति सर्व, तस्य यथाविधि अध्ययना-ध्यापनतद्विषसम्भाषाप्रतिष्ठापनाधीनाया विरोधिप्रतिभायभावसहृष्ट्रनाशनमुपप्रतिमाया भारतीयेषु उन्मेषसम्पादनेनैव सम्पादनीय वर्तते। तथा च परिमितप्रमातृभावपरित्यागपूर्वकापरिमितप्रमातृभावावेदनस्य-मतपरावलनेनैव राष्ट्रमनेनेद सम्भवति।

गावो घ्राणेन पश्यन्ति वेद पश्यन्ति ब्राह्मण ।
चारै पश्यन्ति राजान चक्षुर्भ्यामितरे जना ॥

इति महाभारतीयवचनस्यापि वेदशास्त्रस्योक्तस्य इतरगमाध्यसर्वार्थप्रकाशकत्व एव तात्पर्यम्। यथा हि गवा घ्राणेन्द्रिये रसायनिकप्रयोगशालासु विद्यमानेषु अद्य यावदुपलब्धेषु सर्वेष्वपि यन्त्रेषु अनुपलभ्यमाना तदनुपलभ्यमानसूक्ष्मतमगन्धग्रहणान्निरपेक्ष्यत एवेति कृत्वा प्रयोगशालास्थापारणरनुपलभ्यमान वस्तु जगतीतले नास्त्येवेति प्रतिजानाना पाश्चात्यदुक्षिता मृगयाव्यापारेषु तादृशसूक्ष्मतमगन्धाभिव्यक्तिमुपस्मार-मेयघ्राणशक्त्या स्वयमपि लक्ष्यमवेपथन्त स्वीयप्रतिज्ञाहानिनिग्रहस्थानपात्रतामचेतयन्त अभिज्ञजनोपहास्यता यान्ति, तथैवापौरुषेयवेदशास्त्रनिष्ठाया इतरप्रमाणानुपलभ्यमानसूक्ष्मार्थज्ञापनशक्तेरपरिचयेन वैदिक पन्थान विहाय परिश्रिम्यन्ते यद्यपि, तथापि वेदोपदर्शितस्य तत्वस्य, गोभि घ्राणेन्द्रियवत्या अवेदि-तस्य तत्वस्येव चारैरन्वेषण क्रियमाणे सति सत्वान्वेषु सत्यत्व राजनीतिविदामपरोक्ष भवितुमर्हत्येव, यथा प्रागुक्ते नीतिलक्षणे रीतिलक्षणे च परोक्षप्रमाणस्य धर्मस्य च प्रवेश आधुनिकसाम्यवादिभि सप्रतिरोप निरस्यमाणोऽपि वेदमूलकशास्त्रैकवेद्य अन्वयव्यतिरेकाभ्या सिद्ध। अत एव हि उच्यते—

प्रत्यक्षेणानुमित्या वा यस्तूपायो न बुध्यते।
एन विदन्ति वेदेन तस्माद् वदस्य वेदता ॥ इति

मनुनापि—

पितृभूतमनुष्याणा वेदश्चक्षु सनातनम्। इति।
अशक्य चाप्रमेय च वेदशास्त्रमिति स्थिति। इति च।

तथा पाश्चात्या अपि सुप्रसिद्धा "रोमाँ रोलाँ" प्रभृतय —

"But of all the creeds of Europe and Asia that of Brahmanistic India seems to be the one which embraces the most of the Universe I do not speak against the others I see in them moments of exceptional sublimity giddy height of spiritual fire And what makes me love the Brahman concept above all those of Asia is that, it seems to me to contain them all Better than the faiths of Europe, it could Brahmanize itself with vast hypothesis of modern sciences" इति।

अभारतीयानां कृते भारतीयशास्त्राणां पूर्वोक्तशास्त्रलक्षणघटकतदीयाप्तजनपूजितत्वगुणाभावेन कार्याक्षमत्वात् तदीयशासनकाले अवरुद्धकार्यकत्वेऽपि इदानीं तच्छासनापगमेन भारतीयानामस्माकं आप्तजनपूजितत्वेन तानि शास्त्राणि अधुना कार्यक्षमाणि अवसरलाभमर्हन्त्येव। भारतीयशास्त्राणामेवंविधापूर्वार्थप्रकाशनसामर्थ्यं स्वीकुर्वाणैः पाश्चात्यदेशस्थविश्वविद्यालयैः तत्रत्यमाङ्गलिकार्थप्रेप्सया स्वकीयविभागेषु भारतीयदर्शनानां ऋषिप्रणीतानां स्थानानि यद्यपि निर्मितानि सन्ति, तथापि, तदीयाप्तजनपूजितत्वाभावात् तानि स्थानानि न तथा कार्यक्षमाणि सम्पद्यन्ते इति हेतोरिदानीं पूर्णस्वातन्त्र्यप्रदानपुरस्सरं भारतीयजनाना स्वकीयशास्त्रपर्यालोचनायां प्रवृत्तिं, तद्द्वारा माङ्गलिकार्थप्राप्तिं च कार्यतः पूर्वोपदर्शितया स्वकीयप्रेप्सया मूकाभिनयेनाभिनयन्ति; इत्यतः को वा इतोऽधिकोऽवसरलाभः समाशसनीयः. केवलं भारतीयाना स्वकीयविद्यासु कृतघ्नतापरित्यागसङ्कल्पमात्रादृतेऽन्य।

अपि नाम भारतीयं विधानं सम्भवतीति प्रश्नस्योपक्रान्तस्य निर्णय इत्थमिदानीं सम्पन्नः। लिङ्लोट्तव्यप्रत्ययादिप्रतिपाद्या इच्छाविशेषरूपा प्रवर्तनैव विधानपदार्थः। सा च "बहुस्यां प्रजायेय" इत्यादिरूपसृष्टिकालिकेक्षणरूपा सर्वजगद्व्यापकपराशक्तिरूपापि, सर्वप्राणिना मूलाधारेषु स्वयमेवाभिव्यज्यते, या 'वेदैः पश्यन्ति ब्राह्मणा' इति पूर्वमस्माभिः पाश्चात्यदर्शनैकवाक्यतया प्रदर्शिता। परा, पश्यन्ती, मध्यमा वैखरीरूपवाक्चतुष्टयमध्ये मनीषिमात्रगम्या परा वागिति निर्दिश्यते वेदे—

"चत्वारि वाक् परिमिता पदानि तानि विदुर्ब्राह्मणा ये मनीषिणः। गुहा त्रीणि निहिता नेङ्गयति" इति।

तस्या वैखरीरूपं यत्स्वरूपं तदपि विधानमित्युच्यते। तस्या अप्रत्यभिज्ञातस्वरूपाया आविष्करणं वैखरीरूपेण सम्पन्नं विधानसम्मेलनद्वारा पाश्चात्यरीतिकृतमपरिज्ञानमूलकत्वादपूर्णं भारतीयराजनीतिप्रतिपादिताद्यप्रकरणपञ्चकरहितत्वात्। साहित्यशास्त्रोक्तसाधरणीकरणविचारप्रसङ्गेन पूर्वोपवर्णितपरिमितप्रमातृभावस्वरूपायास्तस्याः परिज्ञानपूर्वकं क्रियमाणं तु भारतीयराजनीतिकं विधानं भवति, परिपूर्णं च।

तथा च परिमितप्रमातृभावपरित्यागपूर्वकमपरिमितप्रमातृभावावेदनरूपमतपरावर्तनेनैव राष्ट्रकृतेनेदं सम्भवति। तच्च सति भगवदनुग्रहे सम्भाव्यत इति समाशास्यते शास्त्रैकशरणैर्विद्वद्भिरिति किमधिकं विज्ञेषु विज्ञापितेनेति विस्तरभयादुपरम्यते।

योगतत्त्वमीमांसा

सभापतिशर्मोपाध्याय

यदीययोगेन विलीयते भवो भवोऽपि यो योग्यभवाय प्राणिनाम्।
प्रणम्य तं योगभवं समीक्षते सभापतिस्तत्त्वमिदं सतां मुदे ॥ १ ॥

इदञ्ज जननमरणपरम्परात्मकसंसरणाधिकरणीभूतं समस्तञ्च धर्मार्थकाममोक्षाणां तत्साधनचतुर्दशविद्यानाञ्च निदानतया अनुकूलवेदनीयफलसम्पादकसुकृतकल्पद्रुमलताधिष्ठानतया च रमणीयतां बिभ्रदपि नानावासनाभोगिनीविषमग्रसिततया चतुरशीतिलक्षसंख्याकयोनिषु पौनःपुन्येन जनिमृतिशृङ्खलानिगडितस्वतन्त्रतया मूलप्रकृतिगाम्यापन्नतया दुःसहानन्तत्रिविधदुःखदुःखदयादोषगणैरनारतं पीडाप्रयोजकतया सहजस्याप्यात्मनो नित्यनिरतिशयनिर्विषयानन्दस्वरूपस्य विस्मारकतया च वस्तुयाथात्म्यमविद्यता निखिलविहिताविहितकर्मकलापजन्यसुकृतदुष्कृताभ्यामनिर्वचनीयदुःखमेवानुभवता विद्याविद्यातितप्रेक्षावतामनिशं कालमकरादिजन्तुदूषिताशयाकूपारमिव भयप्रदमवगच्छता संसारसागरमुत्तितीर्षता प्राणिना हेयमेवेति तदुत्तरणोपायजिज्ञासया प्रत्यक्षानुमानोपमानादिप्रमाणगोचरत्वेन तादृशोपायमपश्यतामीश्वरानुग्रहेणैव दुरत्तसंसारसागरमुत्तरामेति जानतामुद्धरणाय ईश्वरो नियतानुपूर्वीकां कालत्रयाबाधितार्थप्रतिपादिकां श्रुतिमुपादिदेश वेधसे। तदुपदेशपरम्परया चाद्यत्वेऽपि तनयं जननीव हितोपदेशं कुर्वती श्रुतिराह—

आत्मा वा अरे द्रष्टव्यः श्रोतव्यो मन्तव्यो निदिध्यासितव्यश्चेति, अत्र चतस्रः इतिकर्तव्यता उपदिष्टा ।

१ तत्राद्या—उपनिषद्वाक्यानि जीवात्मपरमात्मनोस्समन्वेतुं तात्पर्यनिर्णायकश्रुत्यादिषड्विधलिङ्गज्ञानसंशयादिप्रतिबन्धनिवर्तिका तात्पर्यनिर्णयानुसारिन्यायविचारात्मिका अन्तःकरणवृत्तिविशेषरूपा, सा एव श्रवणमित्युच्यते ।

२ द्वितीया—मतान्तरवादिप्रयुक्तविप्रतिपत्त्यादिनिरासफलिका आत्माविरोधितर्कणस्वरूपा अन्तःकरणवृत्यात्मिका, या मननपदेन व्यपदिश्यते ।

३ तृतीया—चित्तचाञ्चल्यात्मकप्रतिबन्धनिवर्तिका विजातीयप्रतीत्यनन्तरितसजातीयप्रत्ययप्रवाहरूपा श्रवणमननजन्यसंस्कारसचिवचेतोजन्यवृत्तिरूपा या निदिध्यासनशब्देन व्यवह्रियते ।

ननु प्रमदध्यानसमाधेर्विज्ञानजननद्वारा मोक्षसाधनत्वमुक्तम्। तच्च विज्ञाने प्रमात्मैव न स्यात्, प्रसङ्ख्यानस्य प्रमाकरणेषु अनुक्ततया प्रमाणाजन्यत्वादिति चेन्न प्रमात्वे प्रमाकरणजन्यत्वस्य प्रात्यक्षिक शुक्तिरजतादा शाब्दे शशशृङ्गादौ च व्यभिचारेणाप्रयोजकतयाऽबाधितत्वस्यैव तत्प्रयोजकत्वेन प्रसङ्ख्यान जन्यविज्ञानेऽबाधितत्वस्याबाधितत्वेन प्रमात्वोपपत्ते।

ननु धारणाध्यानसमाधीना ध्यानरूपत्वे 'यमनियमासनप्राणायामप्रत्याहारधारणाध्यानसमाधयोऽष्टावङ्गानि' इति सूत्रे द्वन्द्वो न स्यात्। सामान्यविशेषयोर्द्वन्द्वस्य त्यदादीनि सर्वै (१-२-७२) सूत्रे भाष्ये सामान्यविशेषवाचिनोश्च द्वन्द्वो न भवतीति वाच्यम् इत्युक्ते प्रकृतेध्यानस्य सामान्यवाचितया धारणा-समाध्योश्च तद्विशेषवाचित्वेन निषेधविषयत्वात्क्षतेरिति चेन्न धारणया सहितं ध्यानमिति कर्मधारयानन्तर *धारणाध्यानञ्च समाधिश्चेत्यर्थे द्वन्द्वे बाधकाभावात्। निदिध्यासितव्य इति श्रौतप्रमाणमङ्गीकृत्यैव गौतमेन* निदिध्यासन ज्ञानमित्यभिप्रेत्य प्रमाणादिनिग्रहस्थानान्ताना षोडशाना पदार्थाना तत्त्वं यद् वास्तविक-रूप तस्य ज्ञानान्निःश्रेयसाधिगम इत्युक्तम्।

एवमेवमभिप्रेत्यैव कणादेनापि धर्मविशेषप्रसूताद् द्रव्यगुणकर्मविशेषसमवायाना पदार्थाना साध-र्म्यवैधर्म्याभ्या तत्त्वज्ञानान्निःश्रेयसम् इत्यभिहितम्—

मीमासकै कुमारिलभट्टादिभिरपि आत्मज्ञानमेव मोक्षसाधनमुक्तम्। सुखदुःखादिसकलवैशेषिकात्म गुणोच्छेदो मोक्ष। सुखाद्युच्छेदश्च धर्माधर्मयोरुच्छेदात्। धर्माधर्मौ द्विविधौ उत्पन्ना भाविनश्च, उत्पन्नाना नित्यनैमित्तिककर्मानुष्ठानेन भोगेन आत्मज्ञानेन चोच्छेद। तदुक्तम्— 'ज्ञानाग्नि सर्वकर्माणि भस्मसात्कु-रुतेऽर्जुन' इति। *भाविनामधर्माणामपि नित्यनैमित्तिककर्मपरित्यागेन निषिद्धाना करणेन चोत्पत्तिर्वाच्या।* नित्यनैमित्तिकस्य करणेन निषिद्धस्याकरणेन च अधर्मानुत्पत्तिरेवाधर्मोच्छेद। धर्मस्याधर्मस्य चोक्तरीत्या-ऽभावे तन्मूलकशरीरान्तरानारम्भे जातशरीरनिपाते च नित्यो विभुरात्मा अशरीरकस्यो मुक्तो भवति। इति मुक्तिरमोऽपि तैरुक्त।

इदञ्च मत भट्टादीनामेव यत उक्तमोक्षप्रतिपादक तत्क्रमप्रतिपादकञ्च किमपि जैमिनिना सूत्र न प्रणीतम्। प्रत्युत 'भाव जैमिनिर्विकल्पामननात्'। (४।४।११) इति सूत्रेण भगवता व्यासेन मुक्तस्य दिव्यशरीरादिमत्त्व प्रतिपादितम्।

तस्माद्वेदान्ताभिप्रेत एव मोक्षवादो जैमिनेरप्यभिप्रेत इति प्रतीयते। वेदान्तिनस्तु जीवब्रह्मणोरभेद-ज्ञानमेव ससारनिवृत्तिरूपमोक्षसाधकमिति वदन्ति। साङ्ख्या योगिनश्च योग एव निदिध्यासनमिति निश्चि-त्य तत एव त्रिविधदुःखात्यन्तनिवृत्तिरूप कैवल्य मन्यन्ते।

तदुक्तम्

> अय दर्शनाभ्युपायो योग श्रद्धाभक्तिध्यानयोगादवहि।
> अध्यात्मयोगाभिगमेन देव मत्वा धीरो हर्षशोकौ जहाति॥
> ध्यानयोगेन सपश्येद् गतिमस्यान्तरात्मन।
> अयन्तु परमो धर्मो यद् योगेनात्मदर्शनम्।
> अग्निष्टोमादिकान् सर्वान् विहाय द्विजसत्तम।

योगाभ्यासरतः शान्तः परं ब्रह्माधिगच्छति ॥
योगात्संजायते ज्ञान योगो मय्येकचित्तता ।
आत्मज्ञानेन मुक्ति. स्यात्तच्च योगादृते न हि ॥
योगाग्निर्दहति क्षिप्रमशेषम्पापपञ्जरम् ।
प्रसन्नञ्जायते ज्ञान ज्ञानान्निर्वाणमृच्छति ॥
दु सहारामससारविषवेगविषूचिका ।
योगगारुडमन्त्रेण पावनेनोपशाम्यति ॥ इति ॥

एतेन योगादात्मज्ञानं आत्मज्ञानाच्च मुक्तिरिति सिद्धम् ।

तत्र योगः क इत्याकाङ्क्षायाम्

यदा पञ्चावतिष्ठन्ते ज्ञानानि मनसा सह ।
बुद्धिश्च न विचेष्टेत तमाहु परमा गतिम् ॥

'तां योगमिति मन्यन्ते स्थिरामिन्द्रियधारणम्' (कठ० ६–११) इति, ज्ञायन्ते एभिरिति ज्ञानानि इन्द्रियाणि संकल्पाद्युपरतेन मनसा समं स्वविषयेभ्यो व्यावृत्य स्वरूप एवावतिष्ठन्ते, अध्यवसायात्मिका-बुद्धिश्च न व्याप्रियेत, ता स्थिरामिन्द्रियधारणा परमा गतिं योगं मन्यन्ते योगतत्त्वविद. ।

यथा निरिन्धनो वह्नि· स्वयोनावुपशाम्यति ।
तथा वृत्तिक्षयाच्चित्तं स्वयोनावुपशाम्यति ॥ (मै० ३प्र० ४)

यस्मिन् स्थितो न दु खेन गुरुणापि विचाल्यते ।
तं विद्याद् दु खसंयोगवियोगं योगसज्ञितम् ॥

ननु दु खसंयोगवियोगो दु·खसम्बन्धप्रतियोगिको ध्वंसस्तस्य योगत्वम्, योक्तव्यत्वञ्चासंभवीति चेन्न, वियुज्यते ध्वस्यतेऽनेनेति वियोगो ध्वंसहेतुर्योग । स ध्यानविशेषरूपो योगो निश्चयेन योक्तव्य इति तदर्थात् ।

यद्वा दु.खसंयोगस्य वियोगो यत्रेति व्यधिकरणबहुव्रीहे स्वीकारेण योगत्वयोक्तव्यत्वयो सम्भव-सम्भवाच्च, अथवा दु खात्यन्तध्वंसरूपफलेऽपि तज्जन्यत्वेन तत्त्वोपचाराद् योगव्यपदेश. ।

योगस्थ. कुरु कर्माणि सङ्ग त्यक्त्वा धनञ्जय ।
सिद्ध्यसिद्ध्यो समो भूत्वा समत्वं योग उच्यते ॥

इति वचनात् सिद्ध्यसिद्ध्यो· समत्वं योग इति ।

लोकेऽस्मिन् द्विविधा निष्ठा पुरा प्रोक्ता मयानघ ।
ज्ञानयोगेन साङ्ख्याना कर्मयोगेण योगिनाम् ॥

अस्मिन् लोके निवसता शास्त्रार्थानुष्ठानाधिकृताना कृते द्विविधा निष्ठा अनुष्ठेयतात्पर्यं पुरा सर्गादौ प्रजा. सृष्ट्वा. तासामभ्युदयनिश्रेयसप्राप्तिसाधनं वेदार्थसम्प्रदायमाविष्कुर्वता मया प्रोक्ता ।

तत्र ज्ञानमेव योगत्वेन साङ्ख्यानामात्मानात्मविषयकविवेकविज्ञानवता ब्रह्मचर्याश्रमादेव कृतसन्यासानाम् वेदान्तविज्ञानसुनिश्चितार्थाना परमहसपरिव्राजकाना ब्रह्मण्येवावस्थिताना निष्ठा प्रोक्ता। कर्मैव योग कर्मयोगस्तेन योगिना कर्मिणा निष्ठा प्रोक्ता। द्विविधा हि जना गृहस्थादिकर्मत्यागेन ज्ञाननिष्ठा सनकादिवत्, कर्मस्था एव ज्ञाननिष्ठा जनकादिवत्। विषयव्याकुलबुद्धीना कर्मयोगेऽधिकार, अव्याकुलबुद्धीना तु ज्ञानयोगे।

अत्र योगपदमुपायपरम्, अत्र कर्माण्यपि शास्त्रविहितानि ग्राह्याणि न तु शास्त्रविरुद्धानि तदुक्तम्।

अशास्त्रविहित घोर तप्यन्ते ये तपो जना।
दम्भाहङ्कारसयुक्ता कामरागबलान्विता॥ इति।

अस्य तान् विद्ध्यासुरनिश्चयान् इत्यनेनान्वय।

य शास्त्रविधिमुत्सृज्य वर्तते कामकारत।
न स सिद्धिमवाप्नोति न सुख न परा गतिम्॥ इति च।

कर्मयोगोऽपि फलानभिसधानपूर्वक एव ज्ञानद्वारा मोक्षसाधक। अन्यथा शास्त्रविहितमपि कर्म ससृतिपरम्पराप्रयोजकमेव, न तु तादृशकर्मवतो मुक्ति। तदुक्तम्,

दूरेण ह्यवर कर्म बुद्धियोगाद्धनञ्जय।
बुद्धौ शरणमन्विच्छ कृपणा फलहेतव॥

अस्यार्थ, योऽय प्रधानफलत्यागविषय अवान्तरफलसिद्ध्यसिद्ध्योस्समत्वविषयश्च बुद्धियोगस्तद्युक्तात्कर्मण इतरत्कर्म जन्ममरणादिहेतुत्वात् दूरेण अवरमधमम्। महदिद द्वयोरपकर्षापकर्षरूप वैरूप्यम्। बुद्धियोगयुक्त कर्म निखिलससारदुख विनिवर्त्य परमपुरुषार्थरूप मोक्ष प्रापयति। बुद्धियोगरहित कर्म तु अपरिमितदुखरूप ससारमिति। अत कर्मणि क्रियमाणे समत्वबुद्धे शरणमाश्रयमन्विच्छ प्रार्थयस्व। यतो बुद्धियोगरहित कर्म कुर्वाणा कृपणा ससारिणो भवेयु। दूरेण इत्यत्र 'प्रकृत्यादिभ्य उपसख्यानम्' इत्यभेदे तृतीया। उक्त बुद्धियोगयुक्त कर्म कुर्वाण सुकृतदुष्कृते पुण्यपापे जहाति। पुण्यत्यागस्तु अनिष्टपुण्यविषयक एव, इष्टपुण्यक्षये प्रयोजनाभावात् इष्टाश्च ज्ञानिनामपि केचिद्विषया। तदुक्तम्-' स यदि पितृलोककामो भवति सकल्पादेवास्य पितर समुत्तिष्ठन्तीति प्रजापते सभावेश्म प्रपद्ये इति श्रुतिभ्य। एवञ्च 'क्षीयन्ते चास्य कर्माणि तस्मिन् दृष्टे परावरे', इत्यादिष्वनिष्टकर्मण एव क्षयो द्रष्टव्य।

अत एव अस्माद्धयात्मनो 'यत्कामयते तत्तत्सृजते' इत्यादिश्रुतय सगच्छन्ते। मुक्तस्य शरीरेन्द्रियराहित्येऽपि विषयानुभवशक्तिरुक्तेश्वरप्रसादात्, उक्तश्रुतिभि सर्वशक्तिमत्त्वकल्पनाच्च। न च मुक्तस्येन्द्रियादेरभावात् 'स यदि पितृलोककामो भवति' इत्यादिश्रुतीना विरुद्धार्थकतयाऽप्रामाण्यापत्तिरिति वाच्यम्, ये सगुणब्रह्मोपासनया सहैव मनसा ईश्वरसायुज्य व्रजन्ति तदभिप्रायेणैवोक्तश्रुतीना सत्त्वेन तत्प्रामाणिकत्वस्यानपहारात्। योगसिद्धान्तमते त्रिविधदुखात्यन्तनिवृत्तेरेव मुक्तित्वेन मुक्तावस्थायामप्यैश्वर्यश्रुतेरबाधितत्वात्। वेदान्तमतेऽपि सगुणब्रह्मोपासकाना मुक्तत्वाभाव एव। तत्र मुक्तिपरकश्रुतयस्तु यथाऽरुणदर्शने सध्याया दिवसो जात इति प्रयोगस्तथा मुक्तेरासन्नतया भविष्यमुक्तत्वाभिप्रायकत्वाच्च।

उक्तरीत्या योगशब्दस्य बहुष्वर्थेषु प्रयुक्तत्वे बहुधा विवृतत्वेऽपि 'यत्पर: शब्द: स शब्दार्थ.'। इति न्यायेन 'योगश्चित्तवृत्तिनिरोध.'। इति योगदर्शनोक्तमेव योगरूप विवेकख्यातिद्वारा आत्मज्ञान-द्वारा वा मोक्षसाधकमित्यत्र नास्ति काचन विप्रतिपत्ति.। कर्मणो योगत्वोपपादिका फलाशक्तिराहित्य-विषयिका चित्तवृत्तिनिरोधरूपा बुद्धिरेव। तादृशबुद्धिमन्तरा केवलस्य कर्मणो बन्धहेतुत्वात्। तदुक्तम्—

'लोकोऽयं कर्मबन्धन.' इति। अत एव बन्धकस्यापि कर्मणस्तादृशबुद्धयायोजनेन मोक्षसाधकत्व-कल्पनया कर्मकर्तु: कौशलमुक्तम् 'योग· कर्मसु कौशलम्' इति, एतेन कर्मसु कौशलमुद्दिश्य योगविधान परास्तम्। कर्मकौशलस्य योगत्वे कस्यापि सम्मतेरभावात्। ससारं प्रति क्लृप्तकारणत्वकेन कर्मणा तद्विरुद्धमोक्षसाधनमेव कर्मकर्तु पाटवम्।

साङ्ख्याभिमता. ये पदार्थास्ते एव योगशास्त्राभिमता, एतावानेव योगस्य विशेषो यत्साङ्ख्य-सूत्रकारे 'ईश्वरासिद्धे' (सा० १–९२) इत्यादिना प्रत्याख्यातस्येश्वरस्य 'ईश्वरप्रणिधानाद्वा' 'क्लेशकर्म-विपाकाशयैरपरामृष्ट. पुरुषविशेष ईश्वर.' 'तत्र निरतिशय सार्वज्ञबीजम्' इत्यादिसूत्रैरीश्वरस्य समर्थनम्, योग·, योगसाधनम्, योगजसिद्धय कैवल्यम्, इत्येतत्प्रतिपादकपादचतुष्टयेन तत्तत्स्वरूपप्रदर्शनम् इति, चित्त-वृत्तिनिरोध' एव योगो भवतीत्यर्थ। 'युज् समाधौ' इत्यतो भावे घञि योग इति समाधिरित्यर्थ·। यद्वा युज्यते एकाग्रीक्रियते चित्त यत्र स चित्तसमाध्यवस्था योग। तदुक्त गीतायाम्––

तं विद्याद् दु:खसयोगवियोग योगसञ्ज्ञितम्।इति।

दु·खस्य य सयोग. सम्बन्धस्तस्य यो वियोगो ध्वस: स योग इत्यर्थ:। ननु योगस्समाधिस्तस्य भावरूप-त्वेन ध्वसस्य चाभावरूपत्वेन द्वयोरैक्यासम्भव इति चेन्न, समाधेर्दु:खध्वसकतया कारणगतधर्मस्य कार्ये आरोपेणादोषात्।

ननु चित्तवृत्तिनिरोधस्य योगत्वे यदा रजस उद्रेकात्सुखदु:खादिविषयेषु प्रेरितमस्थिर चित्त भवति तदा, यदा तमस उद्रेकात् कृत्याकृत्यविचारमन्तरेणैव कामक्रोधादिभिर्विरुद्धकृत्येष्वेव प्रवर्तते च तदा च मूढाया भूमौ, यदा सत्त्वोद्रेकाद् दु.खसाधनं परिहृत्य सुखसाधनेष्वेव प्रवृत्त तदा, विक्षिप्तावस्थायाञ्च वृत्तिनिरोधस्य सत्त्वाद्योगत्वापत्तिरिति चेन्न क्लेशकर्मविघटकत्वविशिष्टचित्तवृत्तिनिरोधत्वस्यैव योगत्वात्। क्षिप्तमूढविक्षिप्तभूम्योश्च वृत्तिनिरोधस्य क्लेशकर्मप्रयोजकत्वात्। अयम्भाव.। पञ्चधा हि चित्तस्य भूमय: अवस्थाविशेषा। रजसा प्रवृत्तिरूपा क्षिप्ता, तमसा परापकारनियता मूढा, सत्त्वेन सुखमयी विक्षि-प्ता। एतास्तिस्रश्चित्तावस्था योगानुपयोगिन्य।

१. एकमेवाग्र––विषयो यस्य तच्चित्तमेकाग्रं तस्य भाव एकाग्रता। यस्यामवस्थायामेकाग्रता सावस्थाऽपि एकाग्रता शब्देनोच्यते।

२. यस्यामवस्थाया निरुद्धनिखिलवृत्तिक सस्कारमात्रशेष चित्त भवति सावस्था निरुद्धेत्युच्यते। इयमेवैकाग्रता, सम्प्रज्ञातसमाधिशब्देन, सबीजसमाधिशब्देन च व्यवह्रियते।

निरुद्धावस्था च असम्प्रज्ञातसमाधिशब्देन निर्बीजसमाधिशब्देन चाख्यायते। असम्प्रज्ञाते न कि-ञ्चिद् वेद्यम्।

चतुर्विधश्चित्तस्य परिणाम १ व्युत्थानम्, २ समाधिप्रारम्भ, ३ एकाग्रता, ४ निरोधश्च—

पूर्वोक्तक्षिप्तमूढे चित्तभूमौ व्युत्थानमित्युच्यते । विक्षिप्ता भूमिश्च सत्त्वोद्रेकात् समाधिप्रारम्भ एकाग्रतानिरुद्धे च पर्यन्तभूमी प्रतिचित्तपरिणामञ्च सस्कारा जायन्ते। तत्र व्युत्थानभूमिजनिता सस्कारा समाधिप्रारम्भजै सस्कारै प्रत्याहन्यन्त । समाधिप्रारम्भजाश्चैकाग्रताजै, निरोधजैरेकाग्रताजा स्वजनिता सस्कारा स्वमपञ्च हयन्ते। यथा सुवर्णसम्वलित ध्मायमान सीसमात्मान सुवर्णमलञ्च दहति। एव निरोधजा सस्कारा एकाग्रताजनितान् सस्कारान् स्वात्मानञ्च निदहन्ति।

किन्तु चित्तकारणीभूत स्मृतिसकल्पाभिमानाध्यवसायवृत्तिक प्रकृतेराद्यपरिणामात्मक बुद्धितत्त्व चित्तपदेनात्र गृह्यते । तच्च महत्तत्त्व चित्तमनोबुद्ध्यहङ्काराणा कारण वाङ्कृत्तवृत्तिचतुष्टयवदित्यभ्युपगमन सर्वासा वृत्तीना सग्रहान्नोक्तदोष । मनस कियद्वृत्तिनिरोधेपि योगित्वापत्तिरूपदोषो नेति भाव ।

इयमेवैकाग्रता सम्प्रज्ञातसमाधिरभिधीयते, सम्यग् विपर्ययादिराहित्येन प्रकर्षेण ज्ञायते भाव्यस्य रूप येन स सम्प्रज्ञात समाधिभावनाविशेष । स चतुर्विध १ सवितर्क, २ सविचार, ३ सानन्द, ४ सस्मितश्च। वितर्क आलम्बन चित्तस्य स्थूल आभोग स्वरूपसाक्षात्कारवती प्रज्ञा इति यावत्, सचाभोगो विषयस्य स्थूलत्वात् स्थूल । तेन सह वर्तते इति सवितर्क । यथाहि—प्राथमिको धानुष्क स्थूलमेव लक्ष्य विध्यति, तत सूक्ष्मम् । एव प्राथमिको योगी स्थूलमेव पाञ्चभौतिक चतुर्भुजादिरूप ध्येय साक्षात्करोति । तदनन्तर सूक्ष्म ध्यायति । तथा च पाञ्चभौतिकचतुर्भुजादिस्थूलविषयकसाक्षात्कार स सवितर्क सम्प्रज्ञात । भोजराजस्तु वितर्काणि इन्द्रियाणि, तेषामात्मबुद्ध्योपासन वितर्कस्तद्विषयिका भावना सवितर्क इत्याह । चित्तस्य सूक्ष्मे—स्थूलकारणभूतन्मात्रादीनि आलम्बने य साक्षात्कार स विचारस्तेन सह वर्तत इति सविचार सम्प्रज्ञात । इमौ द्वावपि समाधी समापत्तिशब्देनोच्येते ।

अहन्त्वापेक्षया स्थूल इन्द्रियरूपे आलम्बने या चित्तस्य भावना सा सत्त्वप्रधानादहङ्कारादिन्द्रियाण्युत्पन्नानि, सत्त्वञ्च सुखमितीन्द्रियाण्यपि सुखानीति तेष्वाभोग आह्लाद इत्युच्यते, तेन सह सानन्द सम्प्रज्ञात । अय ग्रहणसमापत्तिशब्देनाख्यायते। अस्मिन्नेव समाधौ ये बद्धहृदयास्तत्त्वान्तर प्रधानपुरुषरूप न पश्यन्ति त विगतदेहाहङ्कारत्वाद् विदेहशब्दवाच्या । चित्तस्य एकात्मिका सविद् अस्मिता । अस्मिता—अहन्त्वम् । तच्चेन्द्रियाणा कारणमित्यस्मिता, इन्द्रियाणा सूक्ष्म रूपम्, तया सहित सास्मित सम्प्रज्ञात । साचास्मिताऽऽत्मना ग्रहीत्रा सह बुद्धिरेव। तस्याञ्च ग्रहीतुरन्तर्भावात्, ग्रहीतृविषय सम्प्रज्ञात । सम्प्रज्ञातसमाधिरेव क्लेशकर्मादिबीजसहितत्वात् सबीज इत्युच्यते ।

अन्ये तु 'रूपादिज्ञान सकरणकम्' इति वितर्क्यते—अनुमितिविषयीक्रियन्त, इति वितर्काणीन्द्रियाणि, विचरन्ति इन्द्रियाणि येषु तानि विचाराणि भूतानि। विषयाणा सत्त्वेऽपि तत्राभिमानाभावे आनन्दस्यादर्शनादभिमाने आनन्दत्वोपचारेण आनन्दोऽभिमान । पुरुषविविक्ताया बुद्धावप्यस्मीति प्रतीतिविषयत्वसम्भवादस्मिता बुद्धि । विषयव्यपदेश समाधावारोप्य १ इन्द्रियविषयो वितर्क २ भूतविषया विचार, ३ अभिमानविषय आनन्द ४ बुद्धिविषया चास्मिता।

असम्प्रज्ञातश्चरमवृत्ति एव निर्बीजपदेन व्यपदिश्यते । निरस्त क्लेशकर्मादिबीज यस्येति व्युत्पत्ते । न हि

तत्र किञ्चिद् वेद्यं भवति । तथा हि, चित्तं यद्यपि सत्त्वप्रधानत्वात् प्रख्यारूपमेव तथापि यदा रजस्तमोभ्यां संसृष्टं भवति तदाणिमाद्यैश्वर्ये शब्दादिविषये चानुरागि जायते। इयं क्षिप्तावस्था। तमसानुविद्धन्तु अधर्माऽज्ञानाऽवैराग्याऽनैश्वर्यावस्थं भवति। इयञ्च मूढावस्था । यदा तदेवाभिभूतसत्त्वमपगततमःपटलं सरजस्कं भवति, तदा प्रक्षीणतम आवरणं सर्वतः प्रद्योतमानं धर्मज्ञानवैराग्यैश्वर्य्यविशिष्टं सम्पद्यते। एषा विक्षिप्तावस्था। क्षिप्ताया मूढायाश्च न योगत्वम्, क्लेशकर्मादिविघटकत्वाभावात् । तृतीयाया विक्षिप्ताया अपि क्लेशादिविघटकत्वाभावेऽप्युत्तरत्र योगस्य सम्भविततयाऽऽरोपितयोगत्वेन योगत्वम् । यदा तदेव चित्तं रजोलेशान्मलादपेतं शुद्धसत्त्वमालम्बते तदा पुरुषाविविक्तायां बुद्धावप्यस्मीति प्रतीतिरस्मिता । इयमेवैकाग्रता । अत्र सत्त्वपुरुषान्यता- ताख्यातिमात्रं चित्तं सम्पद्यते ।

अयम्भाव, प्रतिपक्षभावनाबलादविद्यायाः प्रलये सति निवृत्तकर्तृत्वभोक्तृत्वाभिमानाया रजस्तमोमलानभिभूताया बुद्धेर्बाह्यपरिणामान्निवृत्यान्तर्मुखायाश्चिच्छायाया या सक्रान्तिः सा विवेकख्यातिरित्युच्यते। सा एकाग्रतायामुपलभ्यते । सा बुद्धिरपि परिणामिनी। पूर्वधर्मापचये धर्मान्तरोपजनः परिणामस्तद्वतीति यावत्। प्रतिसक्रमो विषयेषु सङ्गः, विषयाकारतासम्पत्तिरिति यावत्। तद्विशिष्टा सम्प्रतिसंक्रमा, सुखदुःखमोहात्मकत्वमशुद्धिस्तत्सहिता, सान्ता ध्वंसवती च। ननु सुखमोहावनुकूलतया वेदनीयौ। कथमशुद्धिपक्षे क्षिप्ताविति चेन्न, सुखमोहावपि सान्ताविति स्ववियोगेन पुरुषं दुःखिनं कुरुत इति। तयोरपि प्रतिकूलत्वेन विवेकिना हानविषयत्वाक्षतेः। तथा चोक्तप्रकाराया विवेकख्यातेरपि हानोपायः—परिणामप्रतिसंक्रमाशुद्ध्यादिदोषराहित्येन बुद्धिविपरीतायाश्चितिशक्तेरुपादानकारणं निरोधसमाधिरिति विवेकख्यातौ विरक्तं चित्तं तामपि ख्यातिं निरुणद्धि। निरुद्धे तु चित्ते बुद्धिवृत्ताख्यदृश्याभावाज्जपाकुसुमवियोगे स्फटिकस्य स्वस्वरूपे स्थितिरिव वृत्तिप्रतिबिम्बशून्ये चिन्मात्रे स्वस्वरूपे पुरुषस्यावस्थितिर्भवति । स निर्बीजः समाधिः। संसृतिबीजेभ्यः अयथार्थज्ञानात्मिकाविद्यादृग्दर्शनशक्त्येकताभिमानरूपास्मिता सुखसाधनविषयकतृष्णारूपरागानिष्टविषयकनिन्दात्मकक्रोधरूपद्वेषपूर्वजन्मानुभूतमरणविषयकवासनारूपाभिनिवेशैतत्पञ्चक्लेशरूपेभ्यः शुभाशुभकर्मात्मकेभ्यः जात्यायुर्भोगात्मककर्मफलेभ्यः जात्यादिफलविषयकसंस्कारेभ्यश्च निर्गतः समाधिर्निर्बीजः। तदुक्तम्—'विरामप्रत्ययाभ्यासपूर्वः संस्कारशेषोऽन्यः' इति (यो० सू० १) पूर्वोक्तनिर्बीजसमाधिसिद्धये क्रियायोगः यमादीन्यङ्गानि चापेक्ष्यन्ते। क्रियायोगश्च शास्त्रान्तरोपदिष्टं चान्द्रायणादितपः, प्रणवपूर्वकमन्त्राणां जपः सर्वशुभकर्मणां फलनिरपेक्षतयेश्वरे समर्पणञ्च।

स च क्रियायोगः समाधेः पुनः पुनश्चेतसि निवेशनाय अविद्यादिपञ्चक्लेशानां स्वस्वकार्यकरणशक्तिप्रतिबन्धाय च । तस्मात् प्रथमं क्रियायोगतत्परेण योगिना भवितव्यमिति भावः। तदुक्तम्—'तपः स्वाध्यायेश्वरप्रणिधानानि क्रियायोगः' इति (यो० सा० पा० सू०) 'समाधिभावनार्थः क्लेशतनूकरणार्थश्च' (यो० सा० पा० सू०)

द्रष्टा चिद्रूपः पुरुषः, दृश्यं बुद्धितत्त्वोपारूढं धर्ममात्रम्, तयोरन्यताख्यात्यभावपूर्वको यः संयोगः भोग्यभोक्तृत्वेनानादिसन्निधानम्। एतेन अप्राप्तस्य प्राप्तिरूपः संयोगः प्रत्युक्तः। स एव हेयस्य संसारस्य कारणम्। यावत्कालपर्य्यन्तं द्रष्टृदृश्ययोरुक्तविधः संयोगस्तावत्कालं संसृतिः। संयोगजन्या संसृतिरिति

यावत्। तदुक्तम् 'द्रष्टृदृश्ययोः संयोगो हेयहेतुः' इति (यो० सा० पा० १७ सू०) तस्य संयोगस्य चाविद्याकारणम्। अविद्या च विपर्ययज्ञानवासनावासिता अनादिर्बुद्धिः। सा सत्त्वपुरुषान्यताख्यातिरूपा स्वकर्तव्यपरमसीमामप्राप्य पुनरावर्तते। यदा तु सत्त्वपुरुषान्यताख्यातिमयं पुरुषोऽन्ये गुणा इत्येवंरूपां प्राप्नोति। तदा समाप्तकर्तव्यता सती न पुनरावर्तते। तदुक्तम्—"तस्य हेतुरविद्या" इति (यो० सा० पा० सू०) संयोगस्य ह्रास एव पुरुषस्य कैवल्यम्। विवेकख्यातिश्च योगजन्या। योगश्च योगाङ्गानुष्ठानजन्यः। योगाङ्गानि च योगसूत्रे-उक्तानि 'यमनियमासनप्राणायामप्रत्याहारधारणाध्यानसमाधयोऽष्टावङ्गानि' इति (यो० सा० पा० २९ सू०) तत्र यमः-प्राणवियोगफलकः कायिको वाचिको मानसो वा व्यापारस्तदभावः। सर्वथा सर्वदा सर्वभूतानामनभिद्रोह इति यावत्। वाङ्मनसयोर्यथार्थत्वम् सत्यम्। परस्वापहरणाभावोऽस्तेयः, उपस्थयोभगनिरूपा संयमः ब्रह्म—वेदस्तदध्ययनार्थो नियमोऽपि ब्रह्मचर्यम्, विषयाणां धनादीनामर्जनरक्षणक्षयसङ्गहिंसादिदोषदर्शनादस्वीकरणमपरिग्रहः। एतत्पञ्चकं यमपदेनोच्यते।

"शौचसन्तोषतपःस्वाध्यायेश्वरप्रणिधानानि नियमाः" (यो० सा० पा० ३२, सू०) तत्र शौचम्, बाह्यमाभ्यन्तरञ्च। आद्यं मृज्जलादिभिः कायवस्त्रादिप्रक्षालनम्। स्वरूपतः स्वामिनश्च मेध्याहारादिसेवनम्। आभ्यन्तरम् परगुणेष्वसूयामदमानेर्ष्या-राग-द्वेष-चिकीर्षा-परदोषाविष्करणरूपासूयाशोकादीनां चित्तमलानामाक्षालनम्। सुखितेषु सर्वेषु सुखिनः सदीया इति मैत्रीभावनया, दुःखितेषु स्वस्येव परेषामपि दुःखं न भूयादिति करुणाभावनया, पुण्यं कर्म कुर्वत्सु प्राणिषु स्वकीयहर्षभावनया, कोष्ठस्थस्य वायोर्नासिकापुटाभ्यां प्रयत्नविशेषाद्वमनेन, प्राणायामेन, विषयवत्या नासिकाग्रे चित्तस्य धारणया, दिव्यगन्धसंविदा, जिह्वाग्रे दिव्यरससंविदा जिह्वामध्ये दिव्यस्पर्शसंविदादिना वा मानसमलानामपकर्षणम्।

एवं समाधिपादोक्तरीत्या ताभ्यो मनसः प्रवृत्तयो मन ईश्वरविषयायां विवेकख्यातिविषयायां वा स्थितिं निबध्नन्ति।

हृत्पुण्डरीके चित्तं धारयतः पुंसो या बुद्धिसंवित्सा मनसः स्थितिनिबन्धिनी भवति। अयम्भावः। उदरस्योरसश्च मध्येऽष्टदलमधोमुखं कमलमस्ति तद्रेचकप्राणायामेनोर्ध्वमुखं कृत्वा तत्र चित्तं धारयेत्। तन्मध्ये ओंकारः सुषुप्तिस्थानम्। तस्योपरि परं व्योमास्ति ब्रह्मनादः तुरीयं स्थानम्। तत्र कर्णिकायामूर्ध्वमुखी सूर्यादिमण्डलगा ब्रह्मनाडी। ततोऽप्यूर्ध्वं मूर्धपर्यन्तं गता सुषुम्ना नाम नाडी। तया ब्रह्माण्यपि सूर्यादिमण्डलानि प्रोतानि। सा हि चित्तस्थानम्, तत्र चित्तस्य धारणया बुद्धिसंविदुपजायते। तत्र योगिनश्चित्तं स्थिरतां लभते।

न च नैतद्विषयाः प्रवृत्तयः कथं समाधिप्रज्ञायाः स्थितिं निबध्नन्तीति वाच्यम्, योगादिशास्त्रानुमतेष्वाचार्योपदिष्टेषु तात्त्विकेषु सूक्ष्मेष्वर्थेषु चञ्चलमनसा शास्त्रमवगाहयता प्राणिना प्रामाणिकत्वेन विश्वासः उत्पादनीयः तत्रावश्यं कश्चन विशेषार्थः प्रत्यक्षीकरणाय तत्र तदुपदिष्टार्थेष्वेकदेशस्य प्रत्यक्षीकृतत्वे सति सर्व सुसूक्ष्मविषयमापवर्गात् सुश्रद्धेयं स्यादिति संशयापनोदायैव तासु तासु संशयद्वारा तत्तत्सिद्धीनां योगशास्त्रे प्रतिपादनम्।

आसनञ्च स्थिरसुखं पद्मासनम्, वीरासनम्, भद्रासनम्, स्वस्तिकासनमित्यादीनि बहूनि आसनानि। यत्र कवचन स्थिरसुखं जायते तदासनं योगाङ्गम्। तदुक्तम्—'स्थिरसुखमासनम्' इति (यो० सा० पा०

४६ सू०) आसनस्थैर्ये सति श्वासप्रश्वासयोर्यो गतिविच्छेदः स प्राणायाम.। बाह्यस्य वायोरन्त.प्रवेशनं स्वासः कोष्ठचस्य वायो निःसारण प्रश्वासः।

प्राणायामेन चित्ते निरुद्धक्रिये सति इन्द्रियाणा स्वविषयो रूपादिस्तेन सहासम्प्रयोगे आभिमुख्येन वर्त्तनाभावे इन्द्रियकर्तृक चित्तसम्बन्धिस्वरूपानुसरण प्रत्याहारः। यदामोहनीयरञ्जनीयकोपनीयै. शब्दादिभिर्विषयैश्चित्त न संयुज्यते तदा चक्षुरादीन्द्रियाण्यपि विषयैर्न सम्प्रयुज्यन्ते इति सोऽयमिन्द्रियाणा चित्तस्वरूपानुसरणम्, स्वविषयासम्प्रयोगरूपसाधरणधर्मेण चित्तस्वरूपानुकारसादृश्यम्।

यथा मधुमक्षिका उत्पतन्त मधुकरराजमनूत्पतन्ति, निविशमानमनुनिविशन्ते, तथा इन्द्रियाणि सक्रिये चित्ते सक्रियाणि, निरुद्धे तस्मिन् निरुद्धानि जायन्ते। इन्द्रियाणि विषयेभ्य. प्रतीपमाह्रियन्ते स्वरूपसत्ताया प्राप्यन्तेऽस्मिन्निति प्रत्याहार।

यमादिप्रत्याहारान्तान्यङ्गानि असम्प्रज्ञातसमाधेर्वहिरङ्गतयोपकारकाणि वहिरङ्गाणि धारणादीना साधनानि च वहिरङ्गाणि, धारणादीनि अन्तरङ्गाणि, अन्तरङ्गत्वञ्च नानन्तर्भवत्वेन, ईश्वरप्रणिधानस्य "ईश्वरप्रणिधानाद्वा" (यो० स० पा० २४ सू०) इत्युक्त्याऽन्तरङ्गत्वेऽपि तत्रान्तरङ्गत्वस्य केनाप्यस्वीकृततया तत्रातिव्याप्तेः, किन्तु ध्येयसमानविषयकत्वेन अन्तरङ्गाणि।

तदपि सम्प्रज्ञातसमाधिम्प्रत्येव असम्प्रज्ञातस्य निर्विषयत्वाणत्। तदुक्तम्—'त्रयमन्तरङ्ग पूर्वेभ्य.'? इति (यो० वि० पा० ३ सू०)। धारणादीनि संयमरूपे समाधौ श्रद्धोत्पादिकाना वक्ष्यमाणविभूतीना साधकानि सन्ति समाधेरुपकारकाणि च।

प्राणायामो हि मनःस्थिरतामानयन् धारणा सुयोग्य करोति। तदुक्तम्—

प्रणायामेन पवनम् प्रत्याहारेण चेन्द्रियम्।
वशीकृत्य ततः कुर्याच्चित्तस्थान शुभाश्रये॥ इति॥

नाभिचक्रे, हृत्पद्मे, मूर्धस्थे ज्योतिषि, नासाग्रे इत्येवमादिषु वाह्याया वाभगवदादिमूर्त्तौ चित्तस्य बन्धो धारणा। बन्धश्च सम्बन्ध.। स च न स्वरूपत, किन्तु ज्ञानात्मकवृत्तिविषतया।

वाह्ये आभ्यन्तरे वा शुभाश्रये स्थिरीभूतया धारणया ध्यानयोग्य मन सम्पद्यते। तत्र ध्येये प्रत्ययस्य या एकतानता प्रत्ययान्तरेण परामर्शरहित सदृश. प्रवाहस्तद् ध्यानम्। तदुक्तम्—प्रत्ययैक तानता ध्यानम्" इति (यो० वि० पा० २ सू०) प्रत्ययैकतानता च षष्टिघटिकावच्छिन्ना ग्राह्या। अन्यथा द्वित्रक्षणमात्रेणापि प्रत्ययैकतानताया ध्यानत्वापत्ते तदुक्तम्—

धारणा पञ्चनाडिका ध्यान स्यात् षष्टिनाडिकम्।
दिनद्वादशकेनैव समाधिरभिधीयते॥ इति (स्कं पु०)

तदेव ध्यानमर्थाकारसमावेशान्न्यग्भूतध्यानस्वरूपमत एव स्वरूपशून्यमिव समाधिरित्यु- च्यते। सम्यक् विक्षेपान परिहृत्य आधीयते एकाग्रीक्रियते मनो यत्र स समाधिः। नन्वर्थाकारनिर्भासस्य

ध्यानेऽपि सत्त्वाद् ध्यानसमाध्योरैक्यापत्तिरिति चेन्न, ध्याने ध्यातृध्यानध्येयरूपाया त्रिपुट्या भानात् समाधावर्थमात्रप्रतीत्या च तयोर्भेदस्य सत्त्वेनैक्यासम्भवात् ।

पूर्वं समाधिजाः सिद्धयः योगशास्त्रप्रतिपाद्यार्थस्य साक्षात्करणेन प्रामाणिकवचोलनद्वारा शास्त्रबोधितसमाधावपि श्रद्धोत्पादनद्वारेणोपकारिकाः । तत्र सिद्धयः कयाः सिद्धय इत्याकाङ्क्षायाम् 'परिणामत्रयसंयमादतीतानागतज्ञानम्" (यो० सू० वि० पा० १६) 'शब्दार्थप्रत्ययानामितरेतराध्यासात् सर्वभूतरुतज्ञानम्' 'भुवनज्ञानं सूर्ये संयमात्' इत्यादिसूत्रैर्बह्व्यः सिद्धय उक्ताः । तत्र संयमपदार्थप्रदर्शनाय 'त्रयमेकत्र संयमः' धारणादित्रयस्यैकत्रस्थितौ संयम इत्युच्यते। तेन चित्तदार्ढ्याय समाधेश्चाशूपपत्तये च नानाविधा सिद्धयो ग्राह्या भुवनज्ञानादिरूपा, आभ्यन्तरकायव्यूहादिरूपा, समाध्युपयोगिनश्चान्तःकरणबहिष्करणलक्षणेन्द्रियभावाः प्राणादिवायुभावाश्च योगदर्शने दर्शितास्ते तत्रैव द्रष्टव्याः ।

इदानीं स्वदर्शनोपयोगिसम्प्रज्ञातासम्प्रज्ञातसमाधिसिद्धये विविधोपाया उच्यन्ते। भूतानाम् पृथिव्यादीनां विशिष्टाकारवद्दृश्यमानं स्थूलरूपम् । गन्धस्नेहोष्णताप्रेरणावकाशदानलक्षणं स्वरूपम् २ भूतानां कारणं गन्धादितन्मात्रं सूक्ष्मम् ३ भूतेष्वन्वयिनो ये सत्त्वादिगुणास्तेषां प्रकाशप्रवृत्तिस्थितिरूपम् अन्वयत्वम् ४ भूतगतसत्त्वादिगुणानां भोगापवर्गरूपप्रयोजनवत्त्वरूपार्थवत्त्वम् ५ एषु पञ्चसु संयमाद् भूतजयी योगी जायते। तज्जयाद् वत्सानुसारिण्यो गाव इवास्य योगिनः सङ्कल्पानुगामिन्यो भूतप्रकृतयो भवति।

भूतानां योगिसङ्कल्पानुगामित्वे महानपि अणुर्भवति, इति अणिमाख्या सिद्धिः १ गुरुरपि लघुर्भूत्वा इषीकातूल इवाकाशे विहरति, इति लघिमासिद्धिः २ अल्पोऽपि नागनगनगरपरिमाणो भवितुमर्हति, इति महिमासिद्धिः ३, योगिनः सर्वे पदार्थाः संनिहिता इति प्राप्तिः सिद्धिः ४ भूमिष्ठ एवाङ्गुल्यग्रेण चन्द्रादिकं स्पृशेत्। भूतजयिनो योगिनो रूपम् भूतस्वरूपैर्मूर्त्यादिभिर्नाभिहन्यते भूमावुन्मज्जति निमज्जति चोदक इव इति प्राकाम्यसिद्धिः ५ सर्वाण्येव भूतानि भौतिकानि च तदनुगामित्वात् तदुक्तं नातिक्रामन्ति, इति वशित्वसिद्धिः, यानि यथा स्थापयति तानि तथैव तिष्ठन्तीति वशित्वसिद्धिः ६ विजितमूलप्रकृतिर्योगी भूतभौतिकानामुत्पादं, विनाशं, व्यूहं, यथावत् स्थापनमेतेषां सर्वेषामीष्टे इति ईशित्वसिद्धिः ७ विजितगुणार्थतत्त्वो योगी यद्वस्तु यत्फलत्वेन सङ्कल्पयति तद्वस्तु तत्फलाय कल्पते विषमप्यमृतकार्ये सङ्कल्प्य भोजयन् जीवयति प्राणिनः इति कामावसायित्वसिद्धिः ८ तदुक्तम् ततोऽणिमादिप्रादुर्भावः कायसम्पत्तद्धर्मानभिघातश्च इति (यो० सू० वि० पा० ४६)।

इन्द्रियाणां विषयाकारवृत्तौ, प्रकाशकत्वस्वरूपे चास्मितायाम्, गुणेष्वर्थत्वे च संयमादिन्द्रियजयः । इन्द्रियजये च मनोवत् शरीरस्य शीघ्रगतिः । देशान्तरे शरीरगमनं विनैव इन्द्रियजये ज्ञानं जायते। यथा स्वस्थस्य एव योगी पाटलिपुत्रस्थ मैत्रादिकं जानीयात्। तदुक्तम् ('मनोजवित्वं विकरणभावः प्रधानजयश्च' इति यो० सू० वि० पा० ४८) देशान्तर स्थितस्यापि योगिनो दूरव्यवहितदेशस्थवस्तुविषयक-प्रयत्नात्मकेन्द्रियवृत्तिलाभो विकरणभावः । उक्तरीत्येन्द्रियजयानन्तरमन्तःकरणस्य जयो विधेयः ।

स च दूरीकृतरजस्तमोमलस्य बुद्धिसत्त्वस्य वश्यतारूपः । तत्र वर्तमानस्य योगिनो वशिनः सत्त्वपुरुषान्यताख्यातिमात्रं जायते। तादृशख्यातिमतश्च जडप्रकाशरूपाः सर्वे भावाः क्षेत्रज्ञं स्वामिनं

प्रति अशेषरूपेणोपतिष्ठन्ते, इति सर्वाधिष्ठातृत्वं सर्वज्ञातृत्वञ्च तस्य जायते। अतीतानागतवर्तमानरूपेण परिणताना गुणाना युगपद् विवेकज ज्ञानं भवतीति यावत्। इयं विशोका नाम ज्योति. यत्र वर्तमानो योगी क्षीणक्लेशादिबन्धनो वशी सर्वज्ञः सन् विचरति।

यदा क्लेशकर्मणो क्षये सति 'सत्त्व विवेकजज्ञानरूपधर्मवत् परिणामि, रागाद्यशुद्धिमत्, इत्येव विशोकायामपि हेयत्वबुद्ध्या वैराग्यं जायते। पुरुषश्चापरिणामी, शुद्धःसत्त्वादन्य. विवेकजज्ञानधर्मरहित इत्युपादेयता प्रतीयते। तदैव विरज्यमानस्य योगिनो यानि क्लेशकर्मरागादिदोषाणा बीजानि अविद्यादीनि तानि दग्धबीजकल्पानि प्रसवसामर्थ्यहीनानि सम्पद्यन्ते। मनसा सहैव प्रत्यस्त यान्ति। तेषु लीनेषु पुरुष· पुनरिदं तापत्रयं नानुभवति। पुरुषस्यात्यन्तिकगुणवियोगरूपम् त्रिविधदुखात्यन्तनिवृत्तिरूपं वा कैवल्य जायते।

चतुर्विधा हि योगिन—प्राथमिकल्पिक २. मधुभूमिक २. प्रज्ञाज्योति. ३. अतिक्रान्तभावनीयश्च ४ तत्राभ्यासी, यस्य परचित्तादिविषयकं ज्ञान प्रवृत्तमात्रं स प्रथमः १ स्वरूपशून्येवार्थमात्रनिर्भासा या प्रज्ञा सा निर्विचारा। रजस्तमउपचयरूपावरणमलापेतस्य प्रकाशात्मनो बुद्धिसत्त्वस्य स्वच्छ स्थितिप्रवाहो वैशारद्यम्। तयोर्निर्विचारवैशारद्ययोः समाहितचितस्य या प्रज्ञा सा ऋतम्भरा तद्विशिष्टऋतम्भरप्रज्ञो द्वितीयः, भूतेन्द्रियजयी तृतीय, अतिक्रान्तभावनीयश्चित्तलयमात्रकर्त्तव्यकश्चतुर्थ। अयञ्च जीवन्मुक्तश्चरमदेह·।

तत्र योगिनामिन्द्रादिभिर्देवैरुपनिमन्त्रणं श्रूयते—तद्यथा, देवा स्वर्गस्थानोपलक्षितैर्विमानकल्पद्रुम सिद्धाप्सरोदिव्यविभवैर्योगिन. प्रलोभयन्ति। तत्र जननमरणतिमिरसंकुलसंसृतौ परिभ्राम्यता मया वहुजन्मायासत. कथञ्चिदासादितः संसरणतमोध्वंसको योगप्रदीप., लब्धालोकोऽह पुनर्देवप्रदर्शितयाऽनयामृगतृष्णया वञ्चित. सन् कथमपि प्रदीप्तस्य संसाराग्नेरात्मान नेन्धनीकुर्यामिति सङ्गभय भावयेत्। उक्तविषयसङ्गं परिवर्जयन् अहो अहं देवानामपि प्रार्थनीयः सम्पन्न इति स्मयमपि न कुर्यात्, अन्यथा सङ्गस्मयाभ्यामुपस्थित. प्रमादो लब्धविवर. क्षीणान् क्लेशान् पुनरुत्तम्भयिष्यति।

इदञ्चोपनिमन्त्रणं न प्राथमकल्पिकयोगिपरम्, तस्य प्रथमप्रवृत्तत्वेन तादृशयोग्यताया अभावात्। नापि प्रज्ञाज्योतिस्तृतीययोगिपरम्, भूतेन्द्रियवशित्वेनैव तस्य देवै. प्रलोभनीयवस्तूनां प्राप्तिसंभवात्। नाप्यतिक्रान्तभावनीय चतुर्थं प्रति, तस्यासम्प्रज्ञातसमाधित्वेन परवैराग्यसम्पत्ते. सङ्गस्मयाशङ्काया दूरोत्सारितत्वात्। किन्तु ऋतम्भरप्रज्ञस्य मधुभूमिकापरपर्य्यायस्यैवोपमन्त्रणम्।

वसिष्ठस्तु—

संसारोत्तरणे युक्तिर्योगशब्देन कथ्यते।
आत्मज्ञान प्रकारोऽस्या एक. प्रकटितो भुवि॥

द्वितीय प्राणसंरोध. इत्युक्त्या प्राणवृत्तिनिरोध एव योग इत्याह। तथा हि कुक्षेर्दक्षिणभागे इडा, वामभागे पिङ्गलानाम नाडी। अतिसूक्ष्माऽप्रतीयमाना विद्यते। तयो. सकलप्राणशक्तीनामाधारभूतयन्त्रनिभमस्थिमृद्वस्थिमांसमयं पुरीतन्नामकं पद्मयुगत्रयं विलसति। नासिकाग्रमारभ्य पादतलं यावत् शरीराकाशे

सचारिणश्चन्द्राभिधस्यानतायुस्रामृतस्य नैरेन पत्रपुगतस्य पत्राणि विकसितमुचिनानि जायन्ते। तत्पत्राणा वस्यनेन पुरीतन्मस्यद्वासु ऊद्ववाध स्थिरासु मवासु नाडीषु जङ्गमे लता इव स मरुत् परिवहत। तद्गो वायु तत्तद्गत्या प्राणापानोदानसमानव्यानसंज्ञा लभमान द्विसप्ततिमहस्रनाडीषा प्रतिशाख मेरुशननाडीषु विहरति। तेभ्यो हृदयपद्मेभ्यश्चन्द्रबिम्बात् किरणा इव निर्गता प्राणशक्तया विस्तता सन्ति। नाभि प्राणशक्तिभि मततमनरमादीना यथावत् स्वरूपमम्पादिका गत्यागतिविक्षपणहरणविहरणादिक्रिया नियन्ते। काचिल्लोचने स्पन्दयति, काचित् त्वचा स्पर्श ग्राहयति, काचिन्नसा गन्धम्, काचिदन्न जन्यनि काचिद्वाचमुच्चारयति इत्येव सर्व शरीरावयवकार्य निर्वहति। तेषूर्ध्वग प्राण, अधोगोऽपानश्चोत्तम। इमा द्वौ देहरूपमहायन्त्रस्य प्रमहीनावदनौ हृदाकाशस्यार्कशशिनौ शरीरनगरपालस्य मनसो रथचक्रे स्त। तथा च प्राणवृत्तिनिरोधेन मनसो वृत्तिनिरोध स्फुट एवेति नास्ति विरोधो योगशास्त्रोक्तचित्तवृत्तिनिरोधेनेत्यलमतिविस्तरेणेन।

योगतत्त्वस्य मीमासा मनःशुद्धि विधाय मे।
ददातु तुष्यमिष्टार्थमितीच्छति समार्पण।

कर्मानुष्ठाने आत्मतत्त्वप्रतिभासः

चिन्नस्वामिशास्त्री

लोके तावदिदं सर्वतन्त्रसम्प्रतिपन्नम् यत् प्राणिमात्रस्याऽऽत्मनः सुखलाभाय चेष्टेति। तत्र यावान् यावान् ज्ञानप्रकर्षोदयः तावतीमभ्यधिकां सुखसन्ततिं समीहते चेतनः। यश्च यावांश्चाभ्युदयस्समुपनिपतितः, तञ्च तावन्तं कञ्चित्कालं सहर्षमनुभवन्, गच्छति च काले तत्रैव चर्वितचर्वणतया, मध्ये मध्ये दुःखौघसवलिततया च समुपजातानलम्मतिः, ततोऽप्यधिकं दुःखासम्भिन्नञ्च कञ्चन सुखविशेषमिहैव प्रत्यक्षेणानुमानेन वा समधिगच्छन् तत्र च जातोत्कण्ठयो यतते तल्लाभाय। एवं क्रमेण ससागरामपि समग्रां पृथिवीं स्वाभिलाषपूरणायाऽपर्याप्तां मन्वानः, इतोऽपि श्रेष्ठतमं कञ्चन लोकविशेषं स्वमनीषारूढैः प्रमाणैस्साधयन् तदवाप्तये साधनमन्विष्यति। एवं बहून् लोकान् तत्र चोत्तरोत्तरं सुखाधिक्यञ्च कल्पयन् पूर्वपूर्वसुखेष्वनाविष्टचेता उत्तरोत्तरस्मै तस्मै स्पृहयति। तत्प्राप्तिञ्च ततस्ततोऽभ्यधिकेषु लोकेष्विति। अनयैव दिशा चतुर्दशभुवनानि वैकुण्ठं कैलासं वा कल्पयन् तत्र सुखस्य परां काष्ठामभिमनुते पुरुषः प्रेक्षावानित्यभियुक्ता आशेरतेऽभ्यूहकुशलाः।

सुखसाधनं धर्म एव

तत्र पारलौकिकस्य ऐहिकस्य वा सुखस्य यत् साधनं, यस्य यथावदनुष्ठानेन तत्सुखमविकलमवाप्तुं शक्यते, तदेव धर्मपदाभिधेयं ब्रुवते विचक्षणाः। तच्च सुखं सावधिकं मन्वानाः, अत एव तत्रापरितुष्यन्तो निरवधिकं निरतिशयञ्च कञ्चन सुखविशेषमचीक्लृपन् मेधाविनः। स च निःश्रेयसपदेनाऽभिधीयते। तत्रापि कारणं धर्ममेव सम्मन्वते केचनाचार्याः। यथोक्तमृषिणा कणादेन—'यतोऽभ्युदयनिःश्रेयससिद्धिस्स धर्मः' इति। एवञ्च यद्यस्ति लोकान्तरं यदि च चेतनेन तत्र गन्तव्यमित उत्तमस्य सुखस्यानुभवाय, तर्हि कथं तत्र गन्तुं शक्यते! कस्तत्र पन्था? सशरीरस्य गमनमुताशरीरस्य? अनुष्ठितात्कर्मणः स्वत एव फलमुत्पत्तुमर्हति? उत तस्य प्रदात्राऽन्येन भाव्यम्? यद्यन्येन केनचन भाव्यम् स किम्प्रभावः कीदृशः? किंवपुः? कियान् कीदृशश्चानेन चेतनेन सह तस्य सम्बन्धः? इत्यादयः प्रादुष्ष्यन्ति विशयाः।

शरीरातिरिक्तात्मसद्भावः

तत्र प्रत्यक्षेण शरीरमिदं दह्यते, नाश्यते, खाद्यते वा। अतो नानेन शक्यते परलोकः प्राप्तुमिति

निदिध्यासन शरीरातिरिक्तस्य कस्यचिद्वस्तुनोऽस्तित्वम्, तस्य च विनापीदं भौतिकं शरीरं स्वतः स्थाना-न्तरगमने सामर्थ्यञ्चावधारयति। एवञ्च एतच्छरीरातिरिक्तं कश्चिदस्ति य एतच्छरीरमन्तरापि स्थातुं शक्नोति, नास्य नाशेन नश्यति, स्वकर्मवशेन लोकान्तरं प्राप्य तत्रत्यं सुखं यथोपार्जितमनुभवति इत्यध्य-वस्यति। अत्रैव च केचित् कृष्यादिवत् अनुष्ठितादेव कर्मणः स्वतः फलमुत्पद्यत इति नातरां कञ्चन फलदातारमीहन्ते। अन्ये च केचिल्लोकदृष्टान्तेन चेतनादेव फलावाप्तिं मन्वाना, तद्दानाय प्रभविष्णुं निरवधिकज्ञानैश्वर्यसम्पन्नम्। अनाद्यन्तमीश्वरपदाभिधेयं विशिष्टं चेतनं कञ्चित् फलदातृत्वेऽभ्युप-गच्छन्ति। स सर्वेश्वरोऽपि सर्वशक्तिरपि स्वस्य वैषम्यनैर्घृण्यदोषपरिहाराय तत्तत्कर्मानुरूपमेव फलं प्राणि-भ्यो दातुमुत्सहते न ततोऽधिकमित्यध्यवस्यन् पुरुषः तावताऽप्यसमाहितचेताः ततोऽपि समुन्नतफलावाप्तये समुन्नते साधने यतते। तच्च सुखं निरवधिकं मन्वानः तस्याऽनुभवितृत्वापि नित्येन भाव्यमिति शरीराति-रिक्तात्मसत्ता, तस्य नित्यता च निश्चीयते पुरुषेण। गच्छत्सु च कतिपुचन कालेषु ऐहिकसुखदृष्टान्तेन पारत्रिके सुखे सावधिकतामनुमिमानः, अत एव तत्राऽपरितुष्यन् निरवधिकसुखेप्सुः, अग्रे धावति कल्पनायै। तस्मिन्नेवावसरे स्वापरतया वस्यचित् पृथग्भूतस्य सत्त्वम्, तस्य चेश्वरत्वम्, परभावः, निरवधिकज्ञानसुख-रूपत्वम्, तेन सहात्मनस्तोऽन्यमेवकभावः, शरीरशरीरिभावः, स्त्रीपुंभावः, परापरभावः, सोऽहंभावः, भेदो नित्यः, अभेदः औपचारिकः, जागरितो भेदः, आगन्तुकश्चाभेदः, अभेद एव नियम्यश्च, भेदस्त्वौपाधिको मिथ्याभूत इत्यादयः कल्पिताः प्रवाहं प्रापिता वा पुरुषैर्यथावदभिप्रेतं स्वस्वधिषणावैरानुसारम्। सुदूरञ्च धावित्वा तत्र सर्वास्मातिरिक्तेष्वसारतामनस्थिताञ्च परिपश्यन्, अन्तत आत्मन एव तादृशसुखस्वरूपत्वं पश्यन् तत्रवात्यन्तिकीं सुपरतिं तुरत्वेनाध्यवस्यति। तदेव सर्वसुखापेक्षया परमं सुखं निःश्रेयसमित्युच्यते तु धैः। तत्रैवेतरेषां सुखानामन्तर्भावः। तत्प्राप्तौ सत्यां नायमस्मिन् सुखे रमते चेतनः। एवञ्च चेतनस्सु-खाभिलाषी स्वतः बहिस्तनसाधनञ्च रचयन् प्रवृत्तः क्रमशः परीक्ष्य स्वातिरिक्तेषु सर्वेष्वपि वस्तुष्व-नवाप्तपारस्य, अन्तत आत्मन्येव पर्यवस्यति। एवञ्च यत्रापत्रमन्तरैवोपरमः। इयमेव चेतना चित्तविकारस्य कल्पनामूलस्य परा काष्ठा।

वेदशब्दार्थ

एवं स्वस्वमतिविभवानुसारेण स्वाभ्यूहकुशलतानिक्रमेण या या परस्यापरस्य वाऽऽत्मनोऽवस्थाम्, यच्च यच्च साधनं, यानि यानि च फलानि पर्यकल्पयन् समर्थयंश्च, तानि तानि यथासमयं यथासम्भवं स्वान्तेवासिभ्यो व्यदिकुर्वन् पूर्वे महर्षयः। त एव च वाग्भिरेवंवशीकृता ग्रन्थरूपतामापादिता वेदशब्दाभिधानं भजन्ति। इयञ्च विकासपरम्परा नाल्पीयस्यनेहस्याविर्भवितुमुत्सहते। तत्र च परस्सहस्राणि वर्षाण्यत्ययुः। तत्र कल्पकबुद्धिशक्तिमनुसृत्य क्वचित् क्वचिन् वस्तुषु न्यूनाधिकभावः, अन्यथाभावो वा नूनं कदाचिदु-परम्परयेनापि, परं सोऽकिञ्चित्करः। अत एव "अजानन् ह वै पृश्नीं स्तपस्यमानान् ब्रह्मस्वयम्भ्व्या-नर्षत् तदृषीणामृषित्वम्", "स तपस्तप्त्वा, आनन्दो ब्रह्मेति व्यजानात्" (तै० आ० ९ २ १) इत्या दीनि तत्र ततोपलभामहे वाक्यानि। एवञ्चास्माकीना महर्षयः पूर्वं प्रात्यक्षिकेषु विषयेषु, असारतां

---

(१) कल्पादौ सृष्टान् पुनः पुनर्जन्ममरणरहितान् काञ्चन महापुरुषान् तपः कुर्वतो वेदाख्यस्स्वत-स्सिद्धः शब्दराशिः प्राप्नोत्। अत एव तेषामृषित्वमिति तत्त्वार्थः। (तै० आ० २ ९ १)

ल्पकालताञ्च परिपश्यन्तस्ततोऽपि सारवत्तमायानल्पकालवर्तिनेऽविनश्यदवस्थाय तत्त्वाय स्पृहयन्तः तस्य चावरस्य सत्ता निश्चिन्वन्तस्तल्लाभायानल्प तपः कायिक मानसिक तप्यमाना अन्ततस्तदलभन्त, तच्च बहिश्शब्दराशिना प्राकाशयन्। स एव शब्दराशिर्वेद इति सिद्ध्यति।

अनेन शङ्केयं समाहिता भवति यद्येवं सर्वमिदं परलोकतत्सुखानुभवादिक पुरुषबुद्धिमात्रकल्पितं स्वरूपतो नास्तीति शून्यवादे, नास्तिकवादे वा पर्यवस्येदिति। स्वरूपतस्सताम् अथ च नित्यानामपि भावाना यावत्पुरुषज्ञानविषयता तावदसत्समा एव ते। अर्थात् परोक्षविषयाणामनुमानादिप्रसाध्याना पुरुषबुद्ध्यैकसंवेदनीयत्वात् यावत् पुरुषा इमान् लोकान्तरतत्सुखसत्तादीन् प्रमाणेन प्रसाध्य विषयान् न बहिः प्रकाशयन्ति तावत्कथमवगन्तु शक्यते तेषा सत्ता, अतो न दोष ।

कर्मकाण्डे आत्मविचारः

तत्र कर्मोपासनाज्ञानकाण्डात्मना त्रिधा विभक्ते वेदे औपनिषदे भागे आत्मविषयको विचारः परा काष्ठामधिरूढ, इति नात्र विचारणीयमस्ति किञ्चिदपि। कर्मकाण्डैकोपजीविन. कर्मिण. तेषामात्मविषये कियत्यवगतिरिति विचारयाम किञ्चिदिव।

तत्र कर्मानुष्ठायिनोऽपि पारलौकिकसुखमनुभवितुम् अनुभवितुरात्मनो नित्यत्वमभ्युपगच्छन्ति। अन्यथा तेषा सिद्धान्तस्य मूलमेव निकृत्येत। सत्येव हि कस्मिश्चित् कालान्तरे कर्मजन्यफलभोक्तरि कर्मसु प्रवृत्तिरुदियात्। अन्यथा श्वोभावे आत्मनः सशयान. पुरुष कथं कष्टात्मकेषु कर्मसु प्रवृत्तिमादध्यान्मन्दधीरपि। परलोकगमने च तेषा सुनिश्चिता प्रतिपत्तिरासीत् । अत एवान्त्येष्ट्याख्ये कर्मणि मृतशरीरदाहकोऽग्नि प्रार्थ्यते—"यस्ते शिवास्तनुवो जातवेदः। ताभिर्वहेमं मुक्ता यत्र लोका" इत्यादिभिर्मन्त्रैः मृतस्य परलोकप्रापण प्रति। पर तावतैव सतुष्टास्ते कर्मठा न ततोऽधिक आत्मविचारे विशेषतः प्रावर्तन्त। पर कर्मकाण्डेऽपि वैरल्येनोपलभ्यत एव स विचार । अत कर्मिण आत्मज्ञानविधुरा इति यत्कथन तत्कथयतामिव विचारवैधुर्य पुष्णाति।

इन्द्रादिदेवतास्वीकारः।

वैदिके मार्गे विशेषेण पर्यालोच्यमानेऽपि नेद स्फुटतरमवगन्तु शक्यते यत् कृतस्य कर्मण. फलदातारं स्वाराध्यदेवतातिरिक्त कञ्चिन्निरतिशयशक्तिमन्तमीश्वरमभ्युगच्छन्ति न वेति। परमिद स्पष्टतया प्रतीयते इन्द्राग्निमित्रावरुणादीन् न केवलं स्वीकुर्वन्ति देवान्, तैस्सह प्रत्यक्षतो वार्तालापादिकमपि कुर्वन्ति। प्रायेण तेषां प्रत्यक्षदृश्याः पुरुषविद्या एव देवा.। तानेव यजन्ति चरुपुरोडाशादिभि', तानेव च प्रार्थयन्ते

---

१ इन्द्रो दिव इन्द्रम् ईशे पृथिव्या इन्द्रो अपामिन्द्र इत्पर्वतानाम् ।
इन्द्रो वृधामिन्द्र इन्मेधिराणामिन्द्रः क्षेमे योगहव्य इन्द्र ॥ (ऋ० सं० १०,८९.१५)
देवान् वसिष्ठो अमृतान् ववन्दे ये विश्वा भुवनानि प्रतस्थु' ।
ते नो रासन्तामुरुगायमद्य यूयं पात स्वास्तिभिस्सदा नः ॥ (ऋ० स० १० ६६.१५)
'यदा सत्यं कृणुते मन्युमिन्द्रः विश्व दृढं भयत एजदस्मान्' (तै० ब्रा० २.८.३.३)

स्वाभीष्टफलप्रदानाय । ते च तादृशी मया विश्रयेवेति तेषामभेदो विश्वास । निखिलजगतामाधिपत्य तत्तादृशमैश्वर्यञ्चेन्द्रादीना पुराण तेऽङ्गीकुर्वन्ति । तेष्वेवान्यतमस्तादृशीमेव शक्तिमाबिभ्रद्रुद्रो विष्णुर्वा देवविशेष, न ततो विलक्षणशक्तिमान् । सर्वदेवश्रेष्ठ इन्द्र एव, अन्ये देवा तदवाश्च इति मन्यन्ते स्म । अनन्तरकालिकेषु पुराणेष्वेव सर्वदेवतातिशायिनी शक्तिस्त्रयोरन्यतमस्योभयोर्वाऽप्रतिहता परिपठ्यते । तमेव पौराणिक भावमुपष्टम्भयितु तैस्तेषामर्क तत्तादृश श्रुतिवचनमविद्याविद्यादाहृियत इत्ययदेतत् । परमिदमवश्याभ्युपगमनीयमापतति—यदेव वस्तु सर्वातिशायि, सर्वव्यापि, अजरममरमनाद्यनन्तम्, येन सर्वमिद ततम् । यस्यैव महिमायम् सर्वमिद स्थावरजङ्गमात्मकम् । तदेव चेन्द्राद्यात्मना तदा तदा व्यवह्रियतेऽनुसृत्य प्रयोजनम् । एवञ्च न तेषा ज्ञानमात्मास्तित्वमात्रे तन्नित्यत्वमात्रे वा पर्यवस्यति, पर जीवापेक्षया परमात्मनस्सत्ताया, तस्य न जीवापेक्षया भेदे, तस्यैव जगत्कारणत्वे, जीवस्यैव कर्मफलभोक्तृत्वे, तस्य च स्वकर्मफलभोगावसाने पुनर्जन्मप्राप्तौ यावदुपाधिसत्त्व तावत् पुन पुनर्जन्ममरणाख्यससारपरिभ्रमणे परमात्मनस्साक्षिमात्रत्वे च साधीयान् विचारस्सुपरिनिष्ठित आसीदिति सुनिश्चितमवगम्यते ।

वेदेषु सर्वत्र पुन पुनर्जन्मोपलब्धि

सति चैव यदुक्त Robert Ernest Hume महाशयेन स्वीयोपनिषदनुवादोपोद्घाते—ऋग्वेदे पुनर्जन्मविषयिणी चर्चा नास्ति । आशयोऽस्य परिपोष्यते छान्दोग्योपनिषद्गतया पञ्चाग्निविद्यासम्बन्धिन्या कयाचिदाख्यायिकया । तत्र हि अद्य यावदिय विद्या क्षत्रियेष्वासीत्, नमा ब्राह्मणा जानन्ति स्म । इत प्रभृत्येव ब्राह्मणान् गमिष्यति इत्युपलभ्यते कथा । तेनावगम्यते—उपनिषत्कालात् प्राक् पुनर्जन्म नाजानन् भारतीया इति । तदिदमनालोचितवस्तुतत्त्वम् । न वय प्रतीमो बहु विचारयन्तोऽपि कथमनया कथया तदा पुनर्जन्मविषयकज्ञानाभाव । स एव महाशयो लिखति तत पूर्व क्षत्रियेष्वासीदिति । क्षत्रिया कि न भारतीया ? सर्वथा तावदासीदेषा जन्मान्तरविषयक ज्ञान क्षत्रियेषु ब्राह्मणेषु वति तु नापरमिति शक्यते ।

किञ्च मन्त्रभागेषु बहुत्रोपलभ्यते पुनर्जन्मविषयिणी चर्चा । तथा हि—ऋग्वेदे प्रथममण्डले अस्यवामीयसूक्ते [2]"अपाङ्प्राङेति स्वधया गृभीत" इत्यस्मिन् मन्त्रे कर्मार्जितेन सूक्ष्मशरीरेण सम्बद्धो जीवपदाभिधेय आत्मा तत्तत्कर्मानुसार नानायोनिषु जन्म लभते । अभिज्ञा केचित् यथावत् जानन्ति, केचनाभिज्ञा न जानन्तीत्युदीयते । अन्यथा पुनर्जनन, अनेकयोनिप्राप्तिकथन कथमिव सगच्छताम् ।

---

(१) इन्द्र मित्र वरुणमग्निमाहुरथो दिव्यस्सुपर्णो गरुत्मान् ।
एक सद्विप्रा बहुधा वदन्त्यग्नि यम मातरिश्वानमाहु ॥ (ऋ० म० १ १६४ ४६)
द्वा सुपर्णा सयुजा सखाया समान वृक्ष परिषस्वजाते ।
तयोरन्य पिप्पल स्वाद्वत्त्यनश्नन्नन्यो अभिचाकशीति ॥ (ऋ० म० १,१६४,२०)

(२) अपाङ्प्राङेति स्वधया गृभीतोऽमर्त्यो मर्त्येनासयोनि ।
ता शश्वन्ता विषूचीना वियन्ता न्यन्य चिक्युर्न निचिक्युरन्यम् ॥ (ऋ० स० १ १६४ ३८)

तत्रत्यभाष्यसग्रह —अमर्त्य =अमरणधर्मायमात्मा स्वधाशब्दलक्षितेन शरीरेण गृहीतस्सन् अनुकूल कर्म कृत्वाऽधागच्छति ।

अत्रैव स्थलान्तरस्थेन मन्त्रेणाप्ययमर्थ. परिपोषमावहति। अन्त्येष्टिप्रकरणे प्रेतं भौतिकशरीरेण वियुक्तं जीवमुद्दिश्य तत्पुत्रादि प्रार्थयते——

"संगच्छस्व[1] पितृभि:" इत्यादिना केनचन मन्त्रेण। तत्रोत्तरार्द्धे "हित्वा यात्वद्य पुनरस्तमेहि" इति स्वर्गे इष्टापूर्तजन्यपुण्यफलभोगानन्तरं पुनरत्रागमनं शोभनशरीरग्रहणञ्च सप्रार्थ्यते। अभेद्यमिदं प्रमाण पुनर्जननास्तित्व इति कि ववतव्यम्।

एव तैत्तिरीयशाखायामप्ययं मन्त्रस्तत्प्रकरणे पठितस्तमेवार्थमनुवदति। परं "यत्र भूम्यै वृणसे तत्र गच्छ" इत्यस्ति पाठ.। तस्याप्ययमेवार्थ—यस्या भूमौ जन्म प्राप्तुमिच्छसि हे जीव! तत्र गच्छेति। परतन्त्रोऽहं कथ स्वतो गन्तु शक्नुयामित्याशङ्कायामुच्यते—"तत्र त्वा देवस्सविता दधातु" इति। तत्रैव पठित मन्त्रान्तर साधूपपादयति विपयमिमं "स्तोदित्पदम्"[2] इति। मन्त्रस्याशय यथावद्विवृणोति भाप्यकार। "अयमर्थ.—अत एव रथचक्रवत् पुनः पुनरावर्तमानो लोकदृष्ट्या मृतोऽपि वस्तुत स जीवो न मृतः, किन्तु जीवत्येव। यथा रथचक्रं पुन पुन. पर्यावर्तते।

तथा जीवोऽपि ससारे पुन परिभ्रमति। स च सत्त्वरजस्तमोगुणैरावृतत्वात् कदाचित्सत्त्वाधिक्येन शास्त्रार्थ जानन्नपि कालान्तरे तमोगुणाधिक्ये सति तं शास्त्रार्थं न जानाति' इत्यादि। "प्रजामनुप्रजायसे तदु ते मर्त्यामृतम्" इत्यादीन्यपि मन्त्रगतानि वचनान्यत्रानुकूलानि। कि बहुना! सर्वप्रथमेऽपि वैदिककाले जीवस्य कर्मबन्धन पुन पुनर्जन्म तत्रोच्चावचलोकादिप्राप्तिरित्यादिक, ज्ञात, स्वीकृतम् उद्भावितञ्च क्वचित्क्वचिदिति ह्यूम महाशयस्योक्तिर्निर्मूला भ्रममूला वेत्येव वयमुत्पश्याम.।

---

(१) "संगच्छस्व पितृभि सयमेन समिष्टापूर्तेन परमे व्योमन् हित्वा यावद्यं पुनरस्तमेहि संगच्छस्व तन्वा सुवर्चा. (ऋ० सं० १०—१४—८)" यत्र भूम्यै वृणसे तत्र गच्छ तत्र त्वा देवस्सविता दधातु इति तैत्तिरीये (तै० आ० ६—४—२, अथर्व सं० १८—३—५८)

(२) तदित् पद न विचिकेतं विद्वान् यन्मृतः पुनरप्येति जीवान्।
त्रिवृद्यत् भुवनस्य रथवृत् जीवो गर्भो न मृतस्स जीवात्॥"

(तै० ब्रा० ३, ७, १०, ६)

It is noteworthy that in the Rigveda there is no mention of Metapsychos. This fact is interestingly Confirmed in the Upanishads at chanda 5. 3 where neither Swetaketu (who according to chanda 6. 1. 2 has spent twelve years in studying Vedas) nor his father and instructor Gautama, had heard of the doctrine; but when they are instructed in it, it is expressly stated that the doctrine had always belonged to the Kshathriyas, the military class and was then for the first time divulged to one of the Brahman class.

अन्यविषयेष्वप्यात्मिनेषु परिचय

अयेष्वप्येतादृशोपनिपत्प्रतिपाद्येषु आत्मविषयेषु कर्मिणामपि नर्मागिकी प्रवृत्ति प्रतीनयन्च माव्य जामनियत्र नास्ति विशय । पर ते कमकाण्डे वैरल्येनेतस्न प्रामङ्गिकनयोपात्ता । तदुपपादनमात्रैकप्रवृत्ते ज्ञानकाण्डे तु पौनपुर्येन बहुर्मिर्विद्याभिरिद परतया इत्येतावानेव विशेष । तथाहि —"पूर्वोदाहृत 'द्वासुपर्णा इति मन्त्रे जीवात्मा परमात्मा चेति द्वा श्रूयेते। तत्र जीवात्मन एव तत्तत्कर्मफलोपभोग, परमात्मा तु साक्षिमात्रतयाऽवतिष्ठत इत्युक्तम्। यस्य पुन पुनराम्रेडनमुपनिपत्सूपलभामहे। एव तत्रैव 'इन्द्र मित्र वरुणम्" इति मन्त्रेण यदेकस्य परमात्मन एव सर्वात्मकतोक्ता, सापि

"एक एव हि भूतात्मा भूते भूते व्यवस्थित ।
एकधा बहुधा चैव दृश्यते जलचन्द्रवत्॥

इत्यादी औपनिषदानि वाक्यान्यनुवदन्ति। स एव परमात्मा क्वचिदात्मशब्देन क्वचिद् ब्रह्मशब्देन क्वचिच्चपरब्रह्मशब्देन व्यवह्रियते। यद्यप्यत्रोपनिषद्वाक्ये भूतात्मशब्दप्रयोगात् सर्वेषा जीवानामकत्वमेवात्र प्रतिपद्यत, न जीवात्मपरमात्मनोरैक्यम् इति प्रतीयते, तथापि जीवैकत्वकथन परमात्माभदकथन एव पर्यवस्यति। जीवाना परस्पराभेदसिद्धौ श्रुत्यन्तराक्ता जीवात्मपरमात्मनोरपि भेद कमुतिकन्यायेन सिध्यति। किन्च "स इत् तन्तु स विजानात्योतुम्" इत्यादिषु त्रिषु मन्त्रेषु परमात्मन एव स्वरूपमुपवर्ण्यते

तत्र द्वितीये मन्त्रे "ध्रुव ज्योतिरमृत मर्त्येषु" इत्यनन मर्त्येषु मरणधर्मवत्सु प्राणिषु अमरणधर्मा प्रकाशात्मक, अमृतस्वरूप कश्चन देदीप्यमान आस्त इति स्पष्टमुद्घोष्यते । नच स जीव कुतो न स्यादिति शङ्कनीयम्। प्रथममन्त्रे "स इत्तन्तु स विजानात्योतुम् " इति तस्य जगत्सृष्ट्यादौ सामर्थ्यप्रतिपादनात। जीवस्य ततोऽन्यस्य वा कस्यचित् परिच्छिन्नशक्तिमत जगदोतत्वप्रोतत्वयोरसामर्थ्यात्। यदि चौपाधिकरूपतो भेदो जीवपरमात्मनो, तदा उपाधिनाशे परमात्मैव स इति तस्य सर्वशक्तिमत्तोपपद्येत। अपि चाथर्वणश्रुतौ ' यदन्तरिक्षे ।

---

(१) स इत्तन्तु स विजानात्योतु स वक्ताण्यृतुथा वदाति।
य ई चिकेतदमृतस्य गोपा अवश्चरन् परो अन्येन पश्यन्॥ (ऋ० म० ६, ९, १)।
(२) ध्रुव ज्योतिर्निहित दृशयेक मनोजविष्ठ पतयत्स्वन्त ।
विश्वेदेवा समनसस्सकेता एक क्रतुमभिवियन्ति साधु ॥
अय होता प्रथम पश्यत इममिद ज्योतिरमृत मर्त्येषु।
अय सयने ध्रुव आनिषत्तोऽमर्त्यस्तन्वा वर्द्धमान ॥ (ऋ० म० ६, ९, २, ३)
(३) यदन्तरिक्षे यदि वात आस यदि वृक्षेषु यदि वोलपेषु।
यदश्रवन् पशव उद्यमान तद् ब्राह्मण पुनरस्मानुपैतु॥ (अथर्व० ७,६८,१)
(४) ब्रह्मणा भूमिर्विहिता ब्रह्मद्यौरुत्तराहिता। ब्रह्मेदमूर्ध्व तिर्यक् चान्तरिक्ष व्यचाहितम्॥
(५) ब्रह्म देवानजनयत् ब्रह्म विश्वमिद जगत्। अन्तरस्मिन्निमे लोका अन्तर्विश्वमिद जगत्"
ब्रह्मन् देवास्त्रयस्त्रिशत ब्रह्मन्निन्द्रप्रजापती।
ब्रह्मन् ह विश्वाभूतानि नावीवन्तस्समाहिता॥ (तै० ब्रा० २८-८-१०)

यदि वात आस" इत्ययं मन्त्रो ब्रह्मणस्सर्वगतत्वमुपवर्णयति। तत्रैव मन्त्रान्तरमस्य जगत्कर्तृत्वं ख्यापयति—"ब्रह्मणा भूमिर्विहिता" इत्यादि। एतेन ब्रह्म सर्वज्ञ, सर्वशक्तिमत्, सर्वगतं, जगत्कारणञ्चेति सिध्यति। तैत्तिरीयश्रुतिरपि "ब्रह्मवनं ब्रह्म स वृक्ष आसीत्" ।

"ब्रह्म देवानजनयत् ब्रह्म विश्वमिदं जगत्" इत्यादिका ब्रह्मण. सर्वात्मकत्वम्, जगत्कर्तृत्वञ्च प्रतिपदयति। न केवलं तत्। ब्रह्मण्येव सर्वमिदं जगँदध्यस्तमित्यपि सा कथयति—"ब्रह्मन् देवास्त्रयस्त्रिंशत्" इत्यादिका। "[1]येन द्यौरुग्रा पृथिवी च दृढे" इतीयमृक् ब्रह्मणो जगदवष्टम्भकत्वमावेदयति। यद्यपि हिरण्यगर्भसूक्तान्तर्गतेयमृक् तमेवाभिधातुमीष्टे, हिरण्यगर्भस्तु जीव एव समष्टिरूप', न परमात्मा, तथापि सेयमृक् परमात्मरूपेणैव तमभिधत्ते न हिरण्यगर्भेण, [2]तथैवाचार्यैर्व्याख्यातत्वात्। स एव च परमात्मा जनानां हृदये सनिविष्ट, प्रविष्टश्च। स एव च भूतात्मा जीवतामापन्न। तस्यैव च परमात्मन एकत्वेनावस्थितस्य जीवरूपेण वहुत्वापत्तिरित्यादि चातुर्होत्रीयाख्यचयन्नाङ्गभूता होतृहृदयाख्या मन्त्रा अभिदधति। अन्त.[3] प्रविष्टश्शास्ता जनानाम् इत्यादय। यथा बुद्बुदाः जलमध्ये समुत्पद्य कंचित्कालमवस्थाय विलीना. जल एवैक्य प्राप्नुवन्ति, तथा सर्वे भावा परब्रह्मण एवोत्पद्य तत्रैव स्थित्वा विलीयमाना एकता गच्छन्ति। तं हि जना योगेन निरुद्धचित्तास्सन्तो जगदीश्वरं स्वस्वरूपत्वेन साक्षात्कुर्वन्ति। न तु भदन पश्यन्ति, इत्यादि तत्रत्य भाष्यम्। एवं सन्ति वहवो मन्त्रास्तस्मिन्नेव प्रकरणे जीवात्मपरमात्मनोरैक्यप्रतिपादका.।

एवं "नासदासीत्" सूक्तेऽपि सृष्टे. पूर्वमव्यक्तावस्थां ततो जगतो व्यक्तरूपेण सृष्टिमभिदधद्भिर्मन्त्रैर्ब्रह्मणो जगत्कारणत्वम्, तस्यैव च जगदात्मना भासमानता, तत्सत्तातिरेकेणाऽन्यसत्ताभावश्च व्यक्तीक्रियन्ते प्रश्नोत्तरनिरूपणद्वारा। इयञ्च श्रौती कथा।

मन्वापस्तम्वयाज्ञवल्क्यादयोऽपि महर्षयोऽमुमेवाशयं स्वग्रन्थेषु प्रकटीचक्रु.। पर श्रौत तत्रापि साहितिकमेवाशयं विवरीतुमुद्युक्ता वय न तत्र लेखनी व्यापारयितुमभिलाषाम। अत्र श्रौतेष्वौपनिषदेषु दार्शनिकेषु वा भेदवादे, अभेदवादे, भेदाभेदवादे, जगतस्सत्यत्वे मिथ्यात्वे, आरम्भपरिणामविवर्तवादेषु, अन्येषु वैतादृशेषु विवादास्पदेषु पदमनिधाय ताटस्थ्यमेवावलम्बितुमीहमाना. केवल सहिताभागेषु कर्मप्रतिपादनैकप्रवणेष्वपि आत्मतत्त्वमन्तर्गर्भितं विवर्तवादावधिकमितस्ततो विप्रकीर्णमुपलभमाना वयं प्रायेण साहितिकोऽपि भाग औपनिषदेनात्मतत्त्वेनाभिव्याप्त एवेत्येतावदेव सप्रमाण यथामत्युपपादयन्तः शेषं विवेचकेभ्यो विसृजन्तः प्राज्ञेभ्योऽत्रैव विरमण वाञ्छाम इति शिवम्।

---

(१) येन द्यौरुग्रा पृथिवी दृढे येन सुवस्तभितं येन नाक। यो अन्तरिक्षे रजसो विमानः कस्मै देवाय हविषा विधेम" (ऋ० सं० १०, १२२, ५)

(२) अव्यभिचारि हि तल्लिङ्गं यत् द्यावापृथिव्यौ नियते वर्तेते। चेतनावन्त प्रशासितारमन्तरेण नैतद्युक्तम्। येन द्यौरुग्रा पृथिवी दृढा इति मन्त्रवर्णात्" (शा० भा० वृ० उ० ३,८)

(३) अन्तः प्रविष्टश्शास्ता जनानाम्। समानसीन आत्मा जनानाम्। सर्वे वेदा यत्रैक भवन्ति। सर्वे होतारो यत्रैकं भवन्ति। स मानसीन आत्मा जनाना सर्वात्मा (तै० आ० ३, ११,१,२)

कवे रसप्रतीतिः

प्रो० अ० सुब्रह्मण्य अय्यर

मुनीन्द्रं भरतं ध्यात्वा रसमार्गप्रवर्तकम् ।
आनन्दवर्धनं चैव ध्वनिग्रन्थविधायिनम् ॥
नत्वाभिनवगुप्तं च महान्तं ज्ञानसागरम् ।
तेषामेव स्वतुष्ट्यर्थं मनागंशोऽत्र वक्ष्यते ॥

(१) विदितमेवैतत् सर्वेषां यद् रसवादो नामालङ्कारशास्त्रप्रतिपादितेषु विषयेषु मुख्यतमः । भरतमुनेरारभ्य यावन्त आलङ्कारिकाः समभवन्, सर्वैरपि रसमधिकृत्य स्वल्पं बहु वा लिखितमुपलभ्यते । भारते तत्र तत्र तदा तदा प्रादुर्भूतानामालङ्कारिकाणां रसविषयकेषु मतेषु यद्यपि महद् वैचित्र्यं दृश्यते तथापि तेषां सर्वेषामपि मतानामस्ति किंचित् साम्यं तच्चेदं यत्तेषु सर्वेष्वपि सामाजिकदृष्ट्यैव रसस्वरूपनिरूपणं कृतं दृश्यते । भरतमुनेरिवानन्दवर्धनाचार्याणामभिनवगुप्ताचार्याणामिव । पण्डितराजजगन्नाथस्य मते रसो नाम सामाजिकस्यानुभवः । अतः सर्वैरपि सामाजिकदृष्ट्या रसस्वरूपनिरूपणं कृतम् ।

(२) अत्रायं प्रश्नः समुल्लसति "किं कवेरपि रसास्वादो भवितुमर्हति न वेति । यदि भवितुमर्हति तर्हि कविगतस्य रसस्य किं स्वरूपम् । तत्प्रतीतौ च का प्रक्रिया । कविसामाजिकगतयो रसयोः परस्परं कः सम्बन्ध इति । यद्यपि मुख्यविचारविषयत्वेन न स्वीकृतोऽयं प्रश्नः शास्त्रकारैस्तथापि सामाजिकदृष्ट्या रसस्वरूपनिरूपणे प्रवृत्तैस्तैरस्मिन् विषये प्रसङ्गतो यद् यदुक्तं तत्सर्वं सङ्गृह्य विमृश्यमानं सत् किं किं तत्त्वं बोधयतीति भवति नैसर्गिकं कुतूहलमस्माकं सर्वेषाम् ।

(३) परं तु प्रयत्ने कृतेऽप्यस्य कुतूहलस्यात्यन्तिकी शान्तिर्न भवेत् । यतः शास्त्रकारैरिमं विषयमधिकृत्य स्पष्टतया बहु नोक्तम् । यच्च स्वल्पं तैरुक्तं तेन न भवति सर्वासां शङ्कानां समाधानमिति बहु स्वयमभ्यूहितव्यमस्माभिः । एवं शास्त्रकारैः प्रसङ्गतो यद् यदुक्तं तत्सर्वं पर्यालोच्य स्वयं च किंचिदूहयित्वास्मिन् विषये यत् स्वल्पं किंचिद् वयं वक्तुमत्र समुद्यतास्तत् स्वकीयमन्तःकरणमपि न तोषयति किं पुनरनेकशास्त्रपरिशीलनपरिष्कृतमानसानां विदुषाम् । तथापि सरसोऽयं विषय इति कृत्वा परस्परसंघटितांस्तदा तदा प्रादुर्भूतान् कांश्चिद् विचारान् स्वल्पैः शब्दैरत्र प्रकटयितुमिच्छामः ।

गणेश-लक्ष्मी की काँस्य-मूर्ति
नैपाली कला
ई० १७वी शती

—लखनऊ संग्रहालय

(४) केचिदाचार्या एव मयन्ते यद् रसास्वाद सामाजिकस्यैव भवितुमर्हति, न कवेरिति। कविर्हि काव्यशब्दार्थचिन्तनपर । अत मवदैव दु खमग्न । "कविरेव हि जानाति कवे कायपरिश्रमम्" इति न्यायेन रसानुगुणशब्दार्थान्वेषणपरस्य कवे कथ रसास्वादो भवितुमर्हति। भवेत्तस्य रसास्वादो भावकत्वलक्षणद्वितीयावस्थायाम्। पर तु तस्यामवस्थाया स सहृदय एवेति रस सहृदयस्यैव। "भूत पूर्वकस्तदुपचार" इति न्यायात् कवावुपचर्यते रस । एव काव्यनिर्माणदशाया काव्यशब्दार्थान्वेषणदु ख मग्नस्य निर्माणानन्तर स्वनिर्मित काव्य सहृदयरूपेण शृण्वत कवे कदापि रसास्वादो न भवितु-महतीत्यय पक्ष माणिक्यचन्द्रादिभिरङ्गीकृत ।

काव्यप्रकाश माणिक्यचन्द्रकृतसकेतसहित —पृ० ५ (आनन्दाश्रमसस्कृतग्रन्थावलि —ग्रन्थाङ्क ८९)।

(५) परत्वाचार्याभिनवगुप्तकृतलोचनाभिनवभारत्यादिग्रन्थेषु यादृशानि कानिचिद वाक्यानि समुपलभ्यन्ते यान्यस्माकमत्यन्त विचारार्हाणि प्रतिभान्ति। "नायकस्य कवे श्रोतु समानोऽनुभवस्तत" इति (ध्वन्यालोक लोचनसहित —पृ० ९२, काशी सस्कृत-सीरीज १३५) भट्टतौतवचनमनुवदद्भि स्वय च "कविगतो रस" (अभिनवभारती—१, पृ० २९५, गैकवाड ओरियन्टल सीरीज, XXXVI) इति, "कविर्हि सामाजिकतुल्य एव" इति च (अभिनवभारती, १, पृ० २९५, गैकवाड ओरियन्टल सीरीज XXXVI) वदद्भिरभिनवगुप्ताचार्यै कवित्वसहृदयत्वयोर्भेद 'सरस्वत्यास्तत्त्व कविसहृदयाख्य विजयते" (ध्वन्यालोकलोचन, पृ० १, काशी-सस्कृत-सीरीज, १३५) इत्यत्रा यत्र चाभ्युपगच्छद्भिरपि स्पष्टमेव कवेरपि रसास्वाद स्वीक्रियते । काव्यस्य रस एव सारभूतोऽस्य, आदिकवेर्वाल्मीके —

"क्रौञ्चद्वन्द्ववियोगोत्थ शोक श्लोकत्वमागत"
(ध्वन्यालोक, पृ० ८५, का-स-सी, १३५)

इति वदद्भिरानन्दवर्धनाचार्यैरपीदमेव तत्त्वमङ्गीकृत प्रतिभाति। आनन्दवर्धनाचार्यैया रामायणकथा परामृष्टा सावश्य स्मर्यत एव विद्वद्भि । निषादेन निपातित क्रौञ्च दृष्ट्वा वाल्मीके कारुण्य सम पद्यत। रुदती क्रौञ्ची निशाम्य —

"मा निषाद प्रतिष्ठा त्वमगम शाश्वती समा ।
यत् क्रौञ्चमिथुनादेकमवधी काममोहितम् ।"
(वा० रा, बालकाण्ड, सर्ग २, श्लोक, १५)

इति श्लोक व्याजहार। आदिकवे शोकस्य श्लोकत्वेन परिणतिर्वाल्मीकिरामायण एव वर्णिता दृश्यते। यथा—

"समाक्षरैश्चतुर्भिर्य पादैर्गीतो महर्षिणा।
सोऽनुव्याहरणाद् भूय शोक श्लोकत्वमागत ॥"
(वा० रा०, बालकाण्ड, सर्ग २ श्लो० ४०)

इति। "शोक श्लोकत्वमागत" इत्यस्य स्थाने "श्लोक श्लोकत्वमागत" इत्यस्ति प्राचीन पाठ ॥ यस्यैव व्याख्या कृता गोविन्दराजेन—"स श्लोक अनुव्याहरणात् शिष्यै पुन पुन व्यवह्रियमाणत्वात्

भूय. श्लोकत्वमागतः। पूर्वं श्लोकलक्षणलक्षिततत्वात् श्लोकत्वं गत. । संप्रति श्लोक्यमानत्वात् पुन. श्लोकत्वं गत इत्यर्थ." इति। परं तु "शोक: श्लोकत्वामागत." इत्येव प्रशस्तः पाठः, अतीव प्राचीनश्च। यत :--

"निषादविद्धाण्डजदर्शनोत्थः।
श्लोकत्वमापद्यत यस्य शोकः॥" (रघुवंश., १४, श्लोक, ७०)

इत्यस्मिन् रघुवंशश्लोकेऽनूदितोऽयं पाठो महाकविना कालिदासेन। प्रकृतस्य रामायणश्लोकस्य तिलकव्याख्यानेऽयमर्थः क्रियते। "अनु अतिशयितशोकोत्पत्त्यनन्तरं व्याहरणात् भूय.शोकः विपुलः शोक एव श्लोकत्वं प्राप्त इति वयं मन्यामहे" इति। सहृदयचक्रवर्तिभिरानन्दवर्धनाचार्यैः स्वकीये ध्वन्यालोके अभिनवगुप्ताचार्यैश्च स्वकीये लोचने कथामिमामवलम्ब्य कविगतरसविषये यदुक्तं तत् स्वल्पमपि मननार्हमस्माकं सर्वेषाम्। तेषामुक्तेरयमेव सारांशः यन्मुनिना वाल्मीकिना निषादनिहतसहचरविरहकातरक्रौञ्च्याक्रन्दनं श्रुत्वा करुणरसोऽनुभूतः। यश्च "मा निषादेति" श्लोक उदीरित स तस्यैव करुणरसस्य समुच्छलनरूप इति।

(६) अत्र वहवः प्रश्नाः समुल्लसन्ति। सामाजिकदृष्ट्या रसनिरूपणे प्रवृत्तैराचार्यैर्या रसप्रक्रियोक्ता तत्र कानिचित् तत्त्वानि महती प्रसिद्धिं गतानि। तद्यथा--अलौकिक-प्रसन्न-मधुरौजस्विशब्दसमर्प्यमाणत्वात् प्रमदोद्यानकटाक्षादीना लौकिककारणत्वादिपरिहारः। विभावनाऽनुभावना-समुपरञ्जकत्वरूपैर्व्यापारैस्तेषा विभावादिशब्दव्यपदेश्यत्वम्। एतेषा विभावदीना न ताटस्थ्येन प्रतीतिः, परतु प्रमातुः हृदयसंवादात् पूर्णीभविष्यद्रसास्वादाङ्कुरीभावेन तन्मयीभवनोचितचर्वणाप्राणतया। ततः सामाजिकधियि सम्यग् योगस्य संवन्धस्यैकाग्रचस्यासादनम्। वासनात्मतया स्थितस्य समुद्बोधन तस्य च रसनात्मवीतविघ्नप्रतीत्या ग्रहणम्। एतन्मुख्यतत्त्वकृतमेव रसस्य रसत्वम्। यस्यां प्रतीतावेतानि तत्त्वानि नोपलभ्यन्ते तस्याः प्रतीतेः सामाजिकदृष्ट्या रसप्रतीतित्वं न स्वीक्रियते शास्त्रकारै.।

(७) अधुनास्माभिरिदं विचारणीयम्--क्रौञ्चवृत्तान्तदर्शनेन मुनेर्वाल्मीकेर्योऽनुभवः संजात. तस्मिन्नेतानि तत्त्वानि समुपलभ्यन्ते न वेति। तत्रापाततः विचारे क्रियमाणे केषाचित्तत्त्वाना तत्राभाव एव प्रतीयते इति केचित्। तेषामयमाशयः। प्रथमतस्तावन्मुनेर्वाल्मीकेर्योऽनुभव. संजातः स न काव्यपठनाद्वा नाट्यदर्शनाद्वा संजातः। अतो निहतस्य क्रौंचस्य कथमलौकिकालम्वनविभावत्वम्। तस्य लौकिककारणत्वमेव भवितुमर्हति। एवं क्रौच्याक्रन्दनस्य तिलकव्याख्योक्तदिशा कथमुद्दीपनविभावत्वम्। "अत्र नष्टक्रौञ्चालम्बनकः क्रौचीविरावानुदीपित. निषादविषयक्रोधव्यभिचारिकः "मा निषादेति वाक्यानुभावकः करुणो रस इति वोध्यम्" इति ह्यत्र तिलकव्याख्यानम्। क्रौञ्च्याक्रन्दनस्य लौकिकसहकारित्वमेवोचितम्। "न हि लोके विभावानुभावादयः केचन सन्ति। हेतुकार्यावस्थामात्रत्वाल्लोके तेषामिति वचनमभिनवभारतीस्थं तत्र प्रमाणम्। (अभिनवभारती, १, पृ९, गैक० ओ० सी० ३६) एवं विभावादीनामेवाभावात् कथं प्रक्रियागतानामन्येषां साधारणीकरण-हृदयसंवाद-तन्मयीभवनादीनां तत्त्वानां तत्रोपस्थितिः स्यात्। एवं स्थिते मुनेर्वाल्मीकेः कथं करुणरसप्रतीतिः स्वीकर्तुं शक्यते इति।

(८) अस्याक्षेपस्य समाधानं यदि भवितुं शक्नोति तर्हि :--

"काव्यस्यात्मा स एवार्थस्तथा चादिकवे पुरा।
क्रौञ्चद्वन्द्ववियोगोत्थ शोक श्लोकत्वमागत ।
(ध्वन्यालोक—पृ० ८८, का० स० सी० १३५)

इति कारिकास्था वृत्ति तद्गत लोचन च पर्यालोच्यैव भवितु शक्नोति। तत्र यदुक्त तदतीव स्वरूपम्। न तत्र ग्रन्थकारै सर्वथा सन्देहाना खण्डन एव समाधानमुक्त यत्नान्न तदस्माभिरुन्नीयम्।

(९) कारिकावृत्तिलोचनगताना सन्दर्भाणामिदमेव मुख्यमुद्देश्य यदस्य काव्यात्मत्वप्रदर्शनम्। तच्चेतिहासव्याजेन क्रियते। अत एव रसस्य काव्यात्मत्व यत् कविनानुभूतो रस एव काव्यरूपेण परिणमति। य रसमनुभवता कविना काव्य कृत स एव रस काव्य शृण्वता नाट्य पश्यता च सामाजिकेनानुभूयते। मा निषादेति इत्यत्र मुनिनानुभूतस्य रसस्यैव निष्पन्दरूप। मुनिना च रसास्वाद इत्थ कृत। प्रथम तावद् वस्तुसाक्षात्कारात्मकस्य विभावस्य आक्रन्दाद्यनुभावस्य च चर्वणा भवति। तदनन्तर हृदयसवाद तन्मयीभावलाभ तदुत्तरमास्वाद। ततः करुणरसताप्राप्ति। तत रसपरिपूर्णकुम्भोच्चलनन्यायेन अकृत्रिमतया आवेगवशात् समुचितशब्दच्छन्दोवृत्तादिनियन्त्रितश्लोकरूपताप्राप्ति। एव चर्वणाचितशोकस्थायिभावात्मककरुणरससमुच्चलनस्वभावत्वात् स एव काव्यस्यात्मा सारभूत। अनया प्रक्रिययेद सिद्ध्यति यत् रविरससमुच्चलनस्वभावमेव काव्यमिति।

(१०) यस्माल्लोचनगताद्वचनादिय प्रक्रियास्माभिरवगम्यते तदिदम्—
"क्रौञ्चस्य द्वन्द्ववियोगेन सहचरीहननोद्भवेन साहचर्यध्वसनेनोत्थितो य शोक स्थायिभावो निरपेक्षभावत्वाद् विप्रलम्भशृङ्गारोचितस्थायिभावादन्य एव, स एव तथाभूतविभावतदुत्थाक्रन्दाद्यनुभावचर्वणया हृदयसवादतन्मयीभवनक्रमाद् आस्वाद्यमानता प्रतिपन्न करुणरसरूपता लौकिकशोकव्यतिरिक्ता स्वचित्तद्रुतिसमास्वाद्यसारा प्रतिपन्न रसपरिपूर्णकुम्भोच्चलनवत् चित्तवृत्तिनिष्यन्दरूपवाग्विलापादिवच्च समयानपेक्षत्वेऽपि चित्तवृत्तिव्यञ्जकत्वादिति नयेनाकृत्रिमतया आवेगवशात् समुचितशब्दच्छन्दोवृत्तादिनियन्त्रित श्लोकरूपता प्राप्त मा निषादेति।" (ध्वन्यालोकलोचनम् पृ० ८५–६, का० स० सी० १३५)

(११) अस्मिन् कविरसप्रक्रियावर्णने त एव हृदयसवाद—तन्मयीभवन विभावानुभावचर्वणाचित्तद्रुति इत्यादय शब्दा प्रयुक्ता ये सामाजिकदृष्ट्या रसप्रक्रियावर्णनेऽपि समुपलभ्यन्ते। शब्दसाम्य च प्रक्रियासाम्य द्योतयतीति निर्विवादमेतत्। अत्र हृदयसवादशब्दस्य प्रयोगो विशेषत कुतूहल नो जनयति। यत इद तत्त्व तत्र तत्र सहृदयस्य प्राणत्वेन वर्णितमुपलभ्यते। "हृदयसवादापरपर्यायसहृदयत्वम्" इति लोचने "हृदयसवादात्मकसहृदयत्व" मिति अभिनवभारत्या (अभिनवभारती १, पृ० २८६) "हृदयसवादभाज सहृदया" इति सहृदयलक्षणे च वर्णयद्भिरभिनवगुप्ताचार्यै हृदयसवादसहृदयत्वयोर्घनिष्ठ सबन्ध प्रतिपादित। इदमेव तत्त्व कविरसप्रक्रियायामपि सन्निवेशितम्।

(१२) को नाम हृदयसवाद। यद्यपि शब्दोऽय बहुश प्रयुज्यतेऽभिनवगुप्तपाद। यद्यपि प्रकरणपर्यालोचनयास्यार्थ कथमप्यवगम्यते तथापि तस्य तै कृत लक्षणमस्माभि कुत्रापि नोपलब्धम्। पर स्वयैरभिनवगुप्ताचार्यसस्थापितसप्रदायविद्भि काश्मीरकैरलकारिकैरस्य लक्षण कृत दृश्यते। अलकार-

सर्वस्वविमर्शिनीकारेण जयरथेन कृतं लक्षणमिदम्—"परकीयायाश्चित्तवृत्तेरात्मीयचित्तवृत्त्यभेदेन परामर्शो हृदयसंवाद । तस्य च स्वपरविभागाभावाद्देशकालाभावाच्च व्यापकत्वेन प्रतीते साधारण्यम् । अत एव परमाद्वैतज्ञानतुल्यत्वम् । तस्य ह्यहमित्येव परामर्श. । तद्व्यतिरिक्तस्यान्यस्यासभवात् ।" (अलंकारसर्वस्वम्, पृ० २२६, काव्यमाला ३५) परकीयायाश्चित्तवृत्तेरात्मीयचित्तवृत्त्या वास्तविकस्याभेदस्यासभवादभेदेन परामर्श इत्यस्य कोऽर्थ । तच्चित्तवृत्तिभावनया तत्सजातीयस्वीयचित्तवृत्त्युद्बोधनमेव तद्भवितुमर्हति। अय चित्तवृत्तिसंवादो हृदयसवादस्यैक प्रकार. । अस्यैवापर. प्रकारो वस्तुसवादो य: स्वभावोक्त्यलकारे प्रतीयते सहृदयै. । अत एवोक्त जयरथेन—"हृदयसवादो हि वस्तुचित्तवृत्तिगतत्वेन द्विविध. । तत्र स्वभावोक्तौ वस्तुसवाद: प्रदर्शित" इति। (अलकारसर्वस्वम्, पृ० २२७, काव्यमाला ३५)। यदिदमपर तत्त्व तन्मयीभवन नाम तदपि चित्तवृत्तितन्मयीभवनमेवेति हृदयसवादादस्य भेद: स्फुट न प्रतीयते। वर्णनीयतन्मयीभवनमेव तन्मयीभवन नाम। वर्णनीय च वस्तूनि चित्तवृत्तयो वेति जयरथोक्तवस्तुसंवाद-चित्तवृत्तिसवादाभ्या भिन्न किमिदं तन्मयीभवनमिति विचारार्हम् ।

(१३) क्रौञ्चवृत्तान्तदर्शनेन वाल्मीकेर्लौकिक शोको न संजात । पर तु लौकिकशोकव्यतिरिक्ता करुणरसरूपता सजाता। लौकिको हि शोक. स्नानभोजनादिकर्मस्वपि पुरुषस्य व्यापारं स्तभ्नाति, कि पुन: विश्रान्तिसव्यपेक्षे काव्यनिर्माणरूपे कर्मणि। अत. आदिकवेर्योऽय क्रौञ्चवृत्तान्तदर्शनेन हृदयसवाद. सजात स तस्य मुनित्वकृतो योगित्वकृत इत्येवास्माभिरूहनीयम्। आदिकवेर्योगित्व रामायण एव वर्णितं दृश्यते। योगदृष्टचैव कविना स्वकृते रामायणस्येतिवृत्तमवगत न पूर्वग्रन्थपरिशीलनेन। तत्र श्रूयतामय रामायणसंदर्भ :—

> उपस्पृश्योदकं सम्यङ् मुनिः स्थित्वा कृताञ्जलिः।
> प्राचीनाग्रेषु दर्भेषु धर्मेणान्वेषते गतिम्॥
> तत. पश्यति धर्मात्मा तत्सर्व योगमास्थित. ।
> पुरा यत्तत्र निर्वृत्त पाणावामलकं यथा॥
>
> (वा० रा०, वालकाण्ड, ३, श्लो० २–३)

एव योगदृष्टचा पुरा यत्तत्र निर्वृत्तं न केवल तद्दृष्ट तत्तद्दृष्टविषयोचितरसोऽप्यनुभूतो यो रामायणकाव्यरूपेण परिणति गत ।

(१४) अत्र समुल्लसत्ययं संदेह. । भवत्विय दशादिकवेर्योगिनो वाल्मीके । परं तु न सर्वे कवयो योगिनो भवन्ति। शास्त्रे या त्रिविधा कविप्रतिभा वर्णिता दृश्यते जन्मान्तरसंस्कारसिद्धा, अस्मिन् जन्मन्यभ्यासिद्धा मन्त्रतन्त्राद्युपदेशसिद्धा चेति सा त्रिविधाप्ययोगिनोऽपि भवितु शक्नोति। कालिदासादीना महाकवीनामपि योगित्वं न श्रूयते। तेषा काव्यानि रसमयानीत्यनुभवसिद्धमिदं सर्वेषाम्।

(१५) लौकिकवृत्तान्तसाक्षात्कारसमय एव आदिकवेर्वाल्मीकेरिवान्येषामपि कवीना हृदयसवादो मा भवतु। आदिकविर्हि लौकिककामक्रोधादिरहित इति तस्य सर्वदा अर्थात् लौकिकवृत्तान्ताना चर्मचक्षुषा साक्षात्कारदशायामथवातीतानागतानामर्थानां योगिप्रत्यक्षेण साक्षात्कारदशायां हृदयसवादादिक्रमेण रसमास्वादयेत्। इतरेषा तु कवीना स्वकीय कवित्व विहायान्यविषयेषु इतरमनुष्यतुल्यत्वात् लौकिकवृत्तान्तप्रत्यक्षीकरणावसरे इतरमनुष्याणामिवैव भवेदनुभव:। परं तु तेषामपि तदा तदा स्वकीयकवित्व-

कृतोऽप्यादृग कश्चिदनुभवोऽपि भवेत्। यस्मिन् पूर्वानुभवाहिताना सस्कारणा कयाचिदलौकिक्या रीत्या भवेत् समुद्बोधनम्। इयमेव स्यात्तेषा रविवदना। यतोऽस्या दशाया पूर्वाहितसस्कारणा स्वकीयरवित्व-कृतमार्गीक्या रीत्या भवति समुद्बोधन तत एव तत्र हृदयसवादादिक्रमेण भवेद्रसप्रतीति। रसप्रतीति प्रेरितेनैव कविना क्रियते काव्यनिर्माणम्।

(१६) यत् कैश्चिद् विमर्शकैरुच्यते—कविना पूर्वं रसोऽनुभूयते, पश्चात्तस्य रसस्याभिव्यजनाथ पाठकसामाजिकादिहृदयेष्वपि रसप्रतीतिमाधातु रसानुगुणशब्दार्थगुम्फन क्रियते इति, तन्नावर्जयति नो हृदयम्। किं काव्यनिर्माणसमये कवेर्भवति रसप्रतीति। आहोस्वित् पूर्वमनुभूत रस स्मृत्वा तत्प्रकाशक काव्य निर्मीयते कविना इति पक्षयोर्मध्ये प्रथम एव पक्ष समीचीन प्रतिभात्यस्माकम्। यथा सामाजिकाना रसप्रतीति विभावादिजीवितावधि, अत एव विभावादिप्रतीतिसवलिता पानकरसन्यायेन भवति सामाजिकाना रसप्रतीतिरिति प्रोद्घाप्यते शास्त्रे तथा कवेरपि रसप्रतीतावेतादृशी काचित् प्रक्रिया स्वीकर्तव्यास्माभि। काम सामाजिकेन शब्दार्थनिर्माण न क्रियते। परतु तस्य भवति कविसमर्पितया शब्दार्थया प्रतीति तत्प्रतीत्यधीना च तस्य रसप्रतीति। कविस्तु रसमनुभवन्नेव शब्दार्थगुम्फन करोति। यदय काव्य करोति तेनास्माभिरनुमीयते—अयमनुभवति रसमिति। यथा यथा कवि स्वप्रतिभया समुचितगुणालङ्कारसुन्दरशब्दार्थगुम्फन करोति तथा तथा तस्य रसप्रतीति परिपूर्णा भवति। अत सामाजिकस्येव कवेरपि रसप्रतीतिर्विभावादिप्रकाशकशब्दार्थप्रतीतिसवलितैव भवितुमर्हति।

(१७) तेन यदुक्त शब्दार्थान्वेषणदुखमग्नस्य क्व रसास्वाद इति तन्न रमणीयम्। प्रतिभावत रससमाहितचेतस कवेर्न भवति शब्दार्थान्वेषणदुखम्। अत एवोक्तमानन्दवर्धनाचार्यै "अलङ्कारान्तराणि हि निरूप्यमाणदुर्घटनान्यपि रससमाहितचेतस प्रतिभानवत कवेरहपूर्विकया परापतन्तीति। (ध्वन्यालोक, पृ० २२१–२२२, का०स० सी० १३५) यत्र शब्दा अर्थाश्चाहपूर्विकया परापतन्ति तत्र को दुखावकाश।

अत कविविषये यदस्माभि स्वल्प किंचिदुक्त तेनादावस्माभि कविसामाजिकगतयो रसयो र सबन्ध इति प्रश्नस्याशनो भवति समाधानम्। कवेरारभ्य सामाजिकपर्यन्त सन्ति चत्वारो घट्टा। कवे रस प्रथमो घट्ट काव्यनिर्माण द्वितीयो घट्ट। नटादिव्यापारस्तृतीयो घट्ट। सामाजिकस्य रसश्चतुर्थो घट्ट। इद सर्वं मनसि निधायैवोक्तमाचार्याभिनवगुप्तपादैयत् कवे रसो बीजस्थानीय। काव्य वृक्षस्थानीयम्। अभिनयादिव्यापार पुष्पस्थानीय। सामाजिकरस फलस्थानीय इति। (अभिनवभारती, १, पृ० २९५)। शुभमस्तु।

सीता-विवाह-कालनिर्णयः

रामाज्ञापाण्डेयः

सीताविवाह कस्मिन् मासे कस्या तिथौ कस्मिन् नक्षत्रेऽभूदित्यत्र वर्तते महान् विवादः। साम्प्रतं धनुर्यज्ञमहोत्सवो वहुत्र स्थलेषु मार्गशीर्षमासे क्रियते, तस्यैव मासस्य शुक्लपञ्चम्यां सीता-विवाहोत्सवः।

एतच्च ज्योतिर्विदामपि मतेन विरुध्यते, तन्मते पूर्वे फल्गुन्यौ सीताया विवाहर्क्षम्। मार्गशीर्ष-शुक्लपञ्चम्यां तु फल्गुनीनक्षत्रमापतत्येव न हि। 'प्राचेतस प्राह शुभं भगर्क्ष सीता तदूढा न सुखं सिषेवे। पुष्यस्तु पुष्यत्यतिकाममेव प्रजापतेराप स शापमस्मात्''' (विवाहवृन्दावने) इति विवाहवृन्दा-वनकर्तुः केशवस्योक्तचा भगर्क्ष सीताविवाहर्क्षमायाति। भगो हि पूर्वयो. फल्गुन्योर्देवता ज्योतिर्विदां मतेन। यथाह नारदः (ना० स० ६ ष्ठे ध्याये श्लो० १,२) नक्षत्रेशाः क्रमाद्दस्रयमवह्निपितामहाः। चन्द्रेशादिति-जीवाहिपितरो भगसञ्ज्ञिताः॥ १॥ अर्यमार्कस्त्वाष्ट्रमरुच्छक्राग्नी मित्रवासवाः। निर्ऋत्युदकविश्वेऽजो गोविन्दो वसवोऽम्बुपः॥ २॥ ततोऽजपादहिर्बुध्न्यः पूषा चेति प्रकीर्तिताः।' इति

वाल्मीकीयरामायणे निर्णयसागरमुद्रिते तु अयं पाठो दृश्यते :—"मघा ह्यद्य महाबाहो तृतीय-दिवसे प्रभो। फल्गुन्यामुत्तरे राजँस्तस्मिन् वैवाहिकं कुरु॥" इति।

अत्र तिलककार. :—अद्य तृतीयदिवसे तव मिथिलाप्रवेशात् तृतीयदिवसे, यज्ञसमाप्तेस्तृतीयदिवसे वा। अद्य मघा नक्षत्रम् फल्गुन्यां—पूर्वफल्गुनीनक्षत्रे। उत्तरे—श्रेष्ठे। अतो भगो यत्र प्रजापतिरित्यनेन अविरोधः। भगो हि पूर्वफल्गुनीदेव॰। उत्तरफल्गुन्योस्त्वर्यमेति बोध्यम्। वैवाहिकम्—विवाहम्। विनयादि-त्वात् ठक्।

मघा नक्षत्रं पितरो देवता, फल्गुनीनक्षत्रमर्यमा देवता, फल्गुनीनक्षत्र भगो देवतेति तैत्तिरीय-संहितायाम्। 'अर्यम्ण. पूर्वे फल्गुन्यौ भगस्योत्तरे' इति तद्ब्राह्मणे चोक्तत्वेन यथाश्रुतमेव सम्यगिति तत्त्वम्। उत्तरे इति पुंस्त्वमार्षम्। यद्यपि उत्तरे फल्गुन्यौ सीताया जन्मर्क्षम्, तथापि तदृक्षे भकूटशुद्धौ तत्र प्रथमचरणं विहाय तज्जन्मसत्त्वेन तस्या. कन्याराशित्वात् तृतीयैकादशरूपभकूटशुद्धेः तस्या न दोषः। भकूटशुद्धौ तन्न दुष्टमिति ज्योति.शास्त्रे प्रसिद्धम्।

किञ्च पूर्वासु तस्या द्वादशश्चन्द्र इति तत्र विवाहोऽनुचित एव। एकनाडीदोषेण च रामसीतयोर्वियोग इति ध्येयम्। (रा० आ० सर्ग ६६ श्लोक १८ टीकायाम्)।

किञ्च पाद्मेऽपि 'अथ लोकेश्वरी लक्ष्मीजनकस्य पुरे स्वत । शुभक्षेत्रे हलोत्खाते तारे चोत्तर फाल्गुने॥ अयोनिजा पद्मकरा बालार्कशतसन्निभा॥ सीतामुखे समुत्पन्ना बालभावेन सुन्दरी॥ सीता मुखोद्भवात् सीता इत्यस्यै नाम चाकरोत । ततोऽभूदौरसी तस्य ऊर्मिला नाम कन्यके' त्यनेनापि उत्तरे फल्गुन्यावेव तस्या जन्मसमायाति।

यत्तु 'ततीयदिवस' इत्यस्य तव मिथिलाप्रवेशात् तृतीयदिवस इत्यर्थ इति तिलककारेणोक्तम् । तत्तु कथञ्चिद् घटते। परं यत् तेनैव यज्ञसमाप्तेस्ततीयदिवस इत्युक्त तत्तु न सम्यक् विश्वामित्रस्य जनक पुरप्रवेशादिने 'यज्ञस्यावभृथ पुण्य द्रष्टासि सपदानुग । द्वादशाह च शेष मे यज्ञस्याहुर्मनीषिण ॥ (स० ५१ श्लो० १८, १५) ।

श्व प्रभाते महाराज निवर्तयितुमर्हसि । यज्ञस्यावभृथे पुण्यमुद्वाहमृषिभि सह ॥ (स० ७१ श्लो० ८४) उत्तरे दिवसे ब्रह्मन् फल्गुनीभ्यां मनीषिणः । विवाहेषु प्रशसन्ति नक्षत्र वै विपश्चित ॥" (सर्ग ७८, श्लो० ८४) इत्याद्युक्तिभियज्ञसमाप्तिदिवसे द्वादशाना दिनाना पूर्ते, यज्ञावभृथस्य च सत्वात् तत्रैव विवाहसम्पत्तेर्निश्चितत्वात। वस्तुतस्तु प्राचीनपुस्तकेषु 'तृतीयदिवसे' इति पाठस्यवाभाव ।

अपि च निर्णयसागरमुद्रितपुस्तके उत्तरे दिवसे ब्रह्मन् फल्गुनीभ्या मनीषिण । ववाहिक प्रशसन्ति भगो यत्र प्रजापति ॥ (सर्ग ७२ श्लो० १३) इति पाठो दृश्यते । तत्र टीकायाम् —उत्तरे दिवसे—द्वितीयदिवसे। प्रजापतिदेवताप्राशस्त्य च विवाहप्रजोत्पत्तिसाधनयोनिलिङ्गाधिष्ठातृभगदैवत्यत्वेनेति कतक । इत्युक्तम् । तेन च मिथिलाया आगमनाद् द्वितीयदिवसे प्रातमघा, अपराह्णे पूर्वे फल्गुन्यौ, तस्मिन्नेव दिने एकादशवादनादूर्ध्व तत प्राग् वा तत ऊर्ध्वं वा उत्तरे फल्गुन्यौ भविता इति तत्र विवाहो भवत ।

एतेन उत्तरे फल्गुन्यावेव सीताविवाहनक्षत्रम्, तदीय जन्मापि तदैवाभूदिति पाद्म वचन टीकाया नागेशभट्टेनोद्धृतम्, तत् युक्त प्रतिभाति ।

यत्तु साम्प्रतम् आनन्दाश्रममुद्रिते पद्मपुराणे उत्तरखण्डे अथ लोकेश्वरी लक्ष्मीजनकस्य निवेशने। शुभक्षेत्रे हलोत्खाते सुनासीरे शुभेक्षणा॥ बालार्ककोटिसकाशा रक्तोत्पलकराम्बुजा। सर्वलक्षण-सम्पन्ना सर्वाभरणभूषिता ॥ धृत्वा वक्षसि चावङ्गी मालामम्लानपङ्कजाम्। सीतामुखे समुत्पन्ना बालभावेन सुन्दरी॥ ता दृष्ट्वा जनको राजा कन्या वेदमयीं शुभाम्। उद्धृत्यापत्यभावेन पुपोष मिथिलापति ॥ (अ० २६९ श्लो० ८९) इत्यत्र सुनासीरे (ज्येष्ठानक्षत्रे) इति पाठो दृश्यते। तत्तु नागेशभट्टोद्धृत-प्राचीनपाठविरुद्धत्वादुपेक्ष्यमेव।

वाल्मीकीयरामायणे निर्णयसागरमुद्रितपुस्तके तु यस्मिन दिने दशरथ समायातस्तस्मिन्नेव दिवसे तयो समागम । तस्या रात्रौ दशरथस्य स्वावासे वास ।

प्रभाते जनकेन मन्त्रिद्वाराऽऽहूतो दशरथः सपुरोहित आगतः। तदा स्ववंशवर्णनं तयोरभूत्। अद्य मघा वर्तन्ते, निलयं गत्वा श्राद्धं गोदानादिकं च कुरु इति जनकः प्रोवाच। दशरथः स्वावासं गत्वा तस्मिन्नेव दिवसे नान्दीश्राद्ध चक्रे।

तृतीयदिवसे प्रभाते उत्थाय गोदानमङ्गलं विदधे। यस्मिन् दिने गोदान चक्रे तस्मिन्नेवाह्नि भरतमातुलो युधाजित् समायात, तेन सह ते स्वावासे ता रात्रि न्यवसन्।

पुन प्रभाते चतुर्थे दिवसे परिवारैः परिवृतो दशरथो जनकस्य यज्ञवाट समायात., इति कथा दृश्यते।

गरेसियोमुद्रिते पुस्तके तु यस्मिन् दिवसे जनकपुरे दशरथ आयातस्ततस्तृतीये दिवसे विवाहः सम्पन्नोऽभवत्, इति।

एवं चायमेव भेदो द्वयो पुस्तकयोर्वर्तते। तत्र च दशरथस्य जनकपुरप्रवेशाच्चतुर्थे दिवसे विवाह-पक्षो रामायणविरुद्ध. प्रतिभाति। द्वयोरपि पुस्तकयोर्यज्ञस्यावभृथे विवाहो भविष्यतीत्युक्ते। यज्ञसमाप्ते-श्च दशरथस्य जनकपुरप्रवेशात् तृतीयेऽह्न्येव निश्चितत्वात्।

तथा च चतुर्थे दिवसे इति पक्षस्य का गतिरिति चेत्, श्रूयताम्। बालकाण्डस्य द्वासप्ततितमे सर्गे एकविंशे श्लोके 'स गत्वा निलय राजा श्राद्ध कृत्वा विधानत.। प्रभाते कल्यमुत्थाय चक्रे गोदानमुत्त-मम्॥' इत्युत्तरार्धे श्लोके 'पुत्राणा प्रियपुत्रः स चक्रे गोदानमुत्तमम्' इति पाठस्यैव साम्प्रदायिकत्वात्, तत्पक्षस्यैव गर्भस्रावात् पूर्वोक्तयुक्तिभिश्च तस्य बाधितत्वात्।

इदानी सीताविवाहकालविषयकलेखस्य मूलभित्ति. प्रस्तूयतेः—

तथाहि अपराह्णकालेऽयोध्यात. प्रस्थान सराघवस्य विश्वामित्रस्येति रामायणे दृश्यते। विश्वा-मित्रश्च दशरात्रेण मे यज्ञसमाप्तिर्भवितेति दशरथ प्रोवाच। एव चायोध्याया प्रस्थाय अध्यर्धयोजनं गत्वा सरयूतटे रात्रौ निवास। तदा च वैशाखशुक्लत्रयोदशीतिथिर्हस्तनक्षत्रं चित्रा वा भवेत्। पुनः प्रातर्द्वितीयदिवसे चतुर्दश्या गङ्गासरयूसगमे वास.। पुन प्रातस्तृतीयदिवसे पूर्णिमाया गङ्गामुत्तीर्य गङ्गा-दक्षिणतटे ताटकावने वास.। पुन. प्रातश्चतुर्थदिवसे ज्यैष्ठकृष्णप्रतिपदि सिद्धाश्रमप्रवेश, मुनेर्दीक्षाग्रहण च। पञ्चमे दिवसे ज्यैष्ठकृष्णद्वितीयाया यज्ञारम्भ। षड्भिरहोरात्रैर्यज्ञसमाप्ति। दशमे दिवसे ज्यैष्ठ-मासस्य कृष्णसप्तम्या यज्ञसमाप्त्यवसरे समायाताना रक्षसा वध। अष्टम्यामेकादशे दिवसे मिथिला-प्रयाणम् शोणतटे वास, रात्रौ कथा कथयतो विश्वामित्रस्य अर्धरात्रे शीताशोरुदय.। इदमेव मूल तत्तत्कार्यतिथिनिर्णये। द्वादशे दिवसे नवम्या गङ्गादक्षिणतटे स्थिति.। त्रयोदशे दिवसे दशम्या गङ्गाया उत्तरे तटे विशाला पुरी ते ददृशु.। तत्रत्यान् ऋषींश्च सम्पूज्य विशाला तेऽगच्छन्। या हि तटस्थिता एव तेऽपश्यन्। रात्रौ तत्रत्येन नरपतिना प्रमतिना सत्कृतास्तत्रैव ते न्यवसन्। चतुर्दशे दिवसे एकादश्या गौतमाश्रमप्रवेश, अहल्याया शापान्मुक्ति,। तथा गौतमेन च सत्कृतो राम प्रागुत्तरा दिश गत्वाऽनु-सृतविश्वामित्रो यज्ञवाटं जनकस्य प्राविशत्। तत्र राज्ञा जनकेन सत्कृत कौशिको 'द्वादशाहेन' यज्ञसमा-प्तिर्भवितेति जनकेनोक्ते श्व. प्रातर्भवन्त द्रष्टास्मीति च प्रार्थितस्तां रात्रि तत्रैवोवास। पञ्चदशे दिवसे

द्वादश्या जनको विश्वामित्रोपदिष्टो राम धनुरानाय्यादर्शयत्। श्रीरामचन्द्रो धनुरातोल्यारोपयन्मध्ये बभञ्ज। तस्मिन्नेव दिने विश्वामित्रमापृच्छ्य अयोध्यातो दशरथमानेतुं दूतान् प्राहिणोत्। ते च दूता मार्गे त्रिरात्रं स्थित्वा अष्टादशे दिवसेऽमावस्यया पुरीमयोध्यां प्राविशन्, राज्ञा दशरथेन सत्कृतास्ते रात्रौ तत्रैव न्यवात्सुः।

एकोनविंशे दिवसे ज्येष्ठे शुक्ले प्रतिपदि प्रभृत्यग्रबलवाहनो राजा दशरथो जनकस्य पुरीं प्रतस्थे। चतुर्भिरहोरात्रैस्त्रयोविंशे दिवसे पञ्चम्यां स जनकान्तिकमाजगाम। तदा जनकोऽसौ नोवाचाय-समभि-दशरथ सत्कृत्य 'श्वः प्रभाते महाराज निवर्तयितुमर्हसि। यज्ञस्यावभृथे पुण्यमुद्वाहमृषिभिः सह' इत्युक्त्वा स्वावासं गन्तुमनुमेने। प्रभाते चतुर्विंशे दिवसे षष्ठ्यां सुदामानं मन्त्रिवर्यं दशरथं यज्ञवाटमानेतुं प्रैषयत्।

(अत्र जनकः कन्यापितृत्वाद् जामातृवर्गे प्रभुताया अनौचित्येन स्वयमेव स्वयमेवाहेति टीका)

तदागतं दशरथं सत्कृत्य वसिष्ठद्वारा कृतवंशगणनं स्वयंकृतगोत्रोच्चारो जनकः 'अद्य मघा वर्तन्ते, श्व उत्तरयोः फल्गुन्योर्विवाहो भविता। अद्यैव गत्वा नान्दीश्राद्धं गोदानादि च कुरु' इत्याद्युक्त्वा व्यसर्जयत्। तस्मिन्नेव श्राद्धदिवसे भरतमातुलो युधाजित् समायात। सर्वे च रात्रौ स्वाश्रये न्यवसन्। प्रभाते पुनरुत्थाय यज्ञवाटमायाताः। विवाहश्च पञ्चविंशे दिवसे सप्तम्याम् उत्तरयोः फल्गुन्योः सम्पन्नोऽभवत्। तिथिवृद्धिक्षयभेदेन अष्टमीतिथिर्भवितुमर्हति। एतावानर्थोऽपेक्ष्यते विवाहमासतिथ्यादिनिर्णये।

अत्र किञ्चिद् विचार्यते —यद्यपि पूर्वं जनकेन 'श्वः प्रभाते यज्ञस्यावभृथे पुण्यमुद्वाहं निवर्तयितुमर्हसि' इत्युक्तम्। विवाहश्च नहि श्वोऽभवत् किन्तु परश्वः। यज्ञस्यावभृथोऽपि गणनया परश्व एवायाति। यतो हि त्रयोदश्यामयोध्याया प्रस्थितस्य विश्वामित्रस्य द्वादश्यां पञ्चदशे दिवसे जनकेन समागमः। तदैव जनकेन 'द्वादश दिनानि यज्ञसमाप्तावशिष्टानी'त्युक्ते पञ्चविंशे एव दिवसे यज्ञस्यावभृथ आयाति। तथा च 'श्वः' इति जनकोक्तिः कथं सघटते? इति चेच्छ्रूयताम्। 'श्वः' इत्यस्यागामिनि दिवसे इत्येवार्थः, अन्यथा यज्ञसमाप्तिः, उत्तरयोः फल्गुन्योः स्थितिश्च कथं सघटेताम्, परश्वोऽपि श्वस्त्वव्यवहारे बाधाभावात्।

अस्मिन्नेव लेखे राजगृहसमीपे सराघव सर्षिगणः शतशकटीशतपरिवृतो विश्वामित्रः शोणनदमुदतरत्। इति प्राक् प्रदर्शितम्। स शोणमुत्तीर्य दिवसं चलित्वा गङ्गाया दक्षिणं कूलं प्राप। तथा च राजगृहात् क्षामात् क्षामं पञ्चाशत्क्रोशात्मकः एव मार्गे पूर्वस्यां दिशि तयोः सगमः आसीत् तदानीम्, यदा हि रामायणीयमादिकाण्डं निर्मितमभूत्।

शोणनदस्य पश्चिमायां दिशि गमनशक्तिश्च प्रतिष्ठानाद्वीत्रय क्रोशामिता स्थिरीक्रियते। यतो हि पतञ्जलिसमये पाटलिपुत्रं शोणस्य दक्षिणतट आसीत्। इदानीं स एव शोणः पट्क्रोशान् दूरं पश्चिमायां दिशि वर्तते। तथा च दशसहस्राब्दीतोऽधिक एव समयोऽपेक्ष्यते शोणस्य पश्चिमायां दिशि गमने रामायणकालात् पतञ्जलिकालं यावत्।

भगवतो बुद्धस्य समये पाटलिपुत्रमनुगङ्गमासीद् इति हि निर्णीतमितिहासाभिज्ञैः। एवं सति तयोः सगमो नातिदूरे मार्गे आसील् तदानीम्।

तदानीमयोध्या नगरी अष्टचत्वारिंशतः क्रोशान् दीर्घा द्वादशक्रोशान् विस्तृताऽऽसीत्। अयोध्यातः प्रस्थित सराघवो विश्वामित्रोऽध्यर्धयोजनं गत्वा सरयूतटमध्युवास। तत प्रभाते प्रस्थित एकेनाह्ना गङ्गासरयूसंगम प्रापत्। तथाचैकेनाह्ना तयोर्गति त्रिंशतः क्रोशेभ्यो न्यूना न भवतीत्यनुमीयते। एवमेव गङ्गाशोणयोर्मध्यस्थो भागस्तदानीन्तनस्तावानेव स्वीकर्तव्यः एतत्प्रामाण्येनैव गङ्गाशोणसंगमस्थानं निर्णेयम्। मया चैतन्निर्णये स एव पन्था अवलम्बितः।

अत्र केचन कथयन्ति यत् रामायणीया कथा तु अत्यन्तं प्राचीना वर्तते, भवेन्नाम रामकथासमयो विंशतिसहस्राब्दीतोप्यतिदूरं पूर्वं। ग्रन्थस्तु ईसामसीतः पूर्व पञ्चमशताब्द्यामेव ग्रथित इति।

अत्रोच्यते, भगवन्, इयमुक्ति सारशून्या वर्तते। यतो हि कथामूलमत्यन्त प्राचीन भवतु। पर कोऽपि ग्रन्थकारो यदा ग्रन्थं निर्माति तदा भौगोलिकी स्थिति तु आत्मकालिकीमेव समक्षं रक्षति, तर्हि सैव सरणी रामायणनिर्माणसमयेऽप्यवलम्बितैवेत्यत्र नास्ति काचिद् विप्रतिपत्ति.।

अत्र हि मया भौगोलिकी स्थिति पुरस्तादुपस्थाप्य रामायणनिर्माणसमयो निर्णीयते। यदि भूगर्भतत्त्व-वेत्तारो भूमिष्ठान् पदार्थान् परीक्ष्य शोणनदस्थिति निर्णेष्यन्ति तदा मदीय मत खण्डित मण्डित वा भवेन्नाम, परमद्य यावत्तु बाह्यभूभागं दृष्ट्वा मया यो ह्यर्थ. समुपस्थाप्यते स तु तावन्मन्तव्य एव गवेषकप्रवरैः।

स्वर्गीयडाक्टर्वेनिसमहोदयानां जीवनकाल एवाय लेखो लेखयित्वा आङ्गलभाषाया डाक्टरदेवदत्त-भाण्डारकरकरकमले समर्पित आसीत् इन्डियन् एन्टिक्वेरीनामके त्रैमासिकपत्रे मुद्रयितुम्। प्रतिजज्ञिरे च ते तथा कर्तुम्, पर कालवशाल् लेखोऽन्तर्धानं गतोऽभवत् मुद्रणकथा तु दूरापेता सजाता। पर यावन्तो गवेषिता विषया अत्रोपस्थाप्यन्ते तावन्तस्तत्र नासन्। तं च मदीय लेख दृष्ट्वा डाक्टरवेनिसमहोदया अवोचन् यत् तव कल्पनाया पुष्टं प्रमाण नास्ति, भवेन्नाम रामायणकथा इतोऽपि प्राचीना, पर, भाषादि-दर्शनेन ग्रन्थस्तु अर्वाचीन एव प्रतिभाति। मया च तेषा पक्षस्तत्समक्षेव क्षपित. पूर्वोक्तयुक्तिजालैः। ते च मदीयोक्ति निशम्य हसितुमारप्सत। न हि काचन विरुद्धा युक्तिस्तैस्तदोद्भाविता।

बहूनामर्वाग्भाविनामस्माक प्राचीनग्रन्थानामर्वाग्भावित्वसमर्थनेऽयमेव तीक्ष्ण. खड्गः करे कलितोऽस्ति यद् अस्य ग्रन्थस्य भाषा प्राचीना नास्तीति। पर ते न जानन्ति नापि ज्ञातु प्रयतन्ते यद् दृश्यमाने ग्रन्थे किं सर्वाण्येव पद्यानि गद्यानि वा समानरूपाण्येव सन्तीति। योऽपि कश्चन निर्णयसागरमुद्रित रामायण पश्येत्, गरेसियोमुद्रितं च पश्येत् स किं प्रभवेत् प्रवक्तु यद् द्वयोर्भाषा समानकालिकीति। अपि च यदि मदीयषोडशमातृकेतिहाससरणिमवलम्ब्य रामायणस्य प्राचीनतमपाठ स्थिरीकर्तु कोऽपि प्रयतेत तर्हि अवश्यमेव निश्चिनुयाद् यत् कियत् प्राचीनं ग्रन्थरत्नमिदमस्तीति। दृश्यमानो वेदः पादव्यवस्थया व्यवस्थितो वल्मीकप्रभवमहर्षे. पद्यावलीभ्योऽर्वाचीन एव। किञ्च यदि तेषा समये पादव्यवस्थया व्यवस्थिता ऋग् भवेत् तर्हि किम्प्रयुक्तमाश्चर्यं तेषा भवेत्, 'तत सशिष्यो वाल्मीकिर्विस्मय परम ययौ ॥ ४१। तस्य शिष्यास्तत. सर्वे जगु श्लोकमिम तदा॥ मुहुर्मुहु· प्रीयमाणा. प्राहुर्भूयश्च विस्मिता. ॥ ४२॥ समाक्षरैश्चतुर्भिर्यः पादैर्गीतो महात्मना॥ सोऽनुव्याहरणाद् भूय. शोक. श्लोकत्वमागत ॥ ४३॥' इत्यादिसन्दर्भेण इतः पूर्व पादव्यवस्था नासीदिति सूच्यते।

(वाल्मीकीयादिकाण्डरहस्यनामधेयस्य लेखस्य अयं क्षुद्रोऽशः। अपरे गवेषिता नूतना अशाः सारस्वत-सुषमायां द्रष्टव्याः)।

श्रीरुद्रस्यार्यदेवत्वम्

अनन्तशास्त्री फडके

श्रीभगवान् रुद्रोऽतिप्राचीनकालतो वैदिकैरार्यैरत्यादरेण सर्वदा सर्वप्रकारेण प्रपूज्यते। वेदादिष्वपि तस्य वर्णनं च समुपलभ्यते। अथापि तद्विषयेऽधुनातनैरनेकपाश्चात्त्यैर्विद्वद्भिरनार्यदेवत्वमनेकाभियुक्तिभिरशीतिग्रस्तं संपादितम्। परन्तु अस्माकं दृढं मतं श्रीरुद्रो वैदिक आर्यदेवश्चेति। एतन्मतं संहिताब्राह्मणग्रन्थस्थप्रमाणैर्नूतनप्रदर्शनमरण्यैव "यथा यक्षस्तथा बलि" इति न्यायेन चोपपादयितुं प्रयत्यतेऽस्माभि।

प्रथमतो विचारात्पूर्वं द्वित्राश्च सूचनाः प्रदर्श्य पश्चादाधुनिकमतमनूद्य विचारः प्रारभ्यते।

(१) वैदिकार्याणामत्यतिप्राचीनतमसंक्रमणकाले प्रादुर्भूतानामनेकवैदिकसूक्तानां मध्येऽयरी यानि सूक्तानि प्राचीनतमानि प्रकृतविद्यमानसंहितासूपलभ्यन्ते। बहुमूल्यकानि वाऽग्रस्तानि। यान्युपलभ्यन्ते तानि न समग्राणि, किन्तु कस्यचन कियाश्चिद् भाग, अत एवानेकदेवतावर्णनं सूक्तेषु दृश्यत इति सर्वविदितमेव।

(२) यदाधुनिकानां वैदिकैरार्यैः प्रजापतिरुद्रवरुणेन्द्रादिदेवता झञ्झावातविद्युत्पर्जन्यादिकं पञ्चमहाभूतोत्पन्नं कार्यं दृष्ट्वा भीत्यादरेण वा झञ्झावातादिषु कल्पिता इति मतं तन्नास्मभ्यं रोचते, किन्तु परमप्राचीनतमे काले प्रजापत्यादिनाम्ना स्थिताः समाजोन्नति-राष्ट्रोन्नति-शत्रुसंहारकारका देवा अस्मदादिवदासन्, तेषामेव वस्तुभूतं वृत्तं सूक्ताकारेण ऋषिसमाजे प्रादुर्भूतमपि बहुदेशसंक्रमण-परम्परासंघर्षादिना विनष्टं सद् वैदिकार्याणां संघपसंक्रमणावस्थामसमाप्त्यनन्तरं पुनस्समीचीनदशे दृढस्थित्या पुनः परम्परया कर्णापकर्णनरीत्या जातसंस्कारोद्बोधजननेन कियतांशेन पुनः संहितास्थसूक्तेषु ब्राह्मणेषु च प्रादुर्भूतम्।

(३) वैदिकेष्वार्येषु तत्तत्प्रजापतिप्रभृतिप्रधानपुरुषैः प्रवर्तिता अनेकाः संस्कृतय आसन्। ताश्च कदाचिद् द्वित्ररूपाः कदाचिदेकरूपाः कदाचिन्नानारूपाश्च। तासां परस्परं संघर्षः परस्परं मेलनं कदाचित्सम्स्कृतिप्रचारकस्य निमित्तेन केनचिद् बहिष्कारेण चेत्यादिकं समाजे स्वभावतः प्रवृत्तं सर्वदैकरूपमेव प्रचरन्ति स्मेति पुराणादिग्रन्थतो वेदादितः स्मृत्यादितश्च निश्चेतुं शक्यते। अस्तु, रुद्रस्यानार्यत्वेऽधुनातनप्रदर्शिनानां प्रमाणानां मध्ये कानिचिन्मुख्यानि चैतानि—

(क) ऋग्वेदे रुद्रस्य सूक्तानि सार्धत्रिसंख्यामितान्युपलभ्यन्ते। परन्तु इन्द्रादिदेवानां सूक्तानि बहूनि।

(ख) अस्य वर्णनं पशुमनुष्यादिहिंसकत्वेन घोररूपेण भीत्युत्पादकप्रकारेण चोपलभ्यते न तथार्यदेवानामिन्द्रादीनाम्।

(ग) शिश्नदेवा अस्माकं यज्ञे माऽऽगच्छन्त्विति प्रार्थना ऋषिभिरिन्द्रं प्रति कृतोपलभ्यते "मा शिश्नदेवा अपिगुर्ऋतं नः" (ऋ० ५।३।३)। तथा शिश्नदेवाना वध इन्द्रेण कृत.--

"घ्नन् शिश्नदेवाँऽअभिवर्पसाभूत्" (ऋ० ८।८।१४) शिश्नदेवा नाम–लिङ्गस्य देवत्वेन पूजयितारः शैवाः।

(घ) यज्ञविध्वसेन श्मशाननिवासेन कौपीन-रुण्डमाला-सर्पादिधारणेन वृषभवाहनेन च स्पष्टमनार्यदेवत्व भवति।

(ङ) रुद्रस्य यज्ञे मुख्यदेवतायागानन्तरमवशिष्टपदार्थेन यजनं स्पष्टमनार्यदेवत्व निश्चिनोति।

(च) रुद्रप्रसादग्रहणस्य धर्मशास्त्रे निषेधात्, शिवलिङ्गाना श्मशाने, नदीतीरे, पर्वते वा स्थित्यानार्यदेवत्व स्पष्टीभवति।

(छ) 'मोहेंजोदारो' प्रभृतिस्थानेषु ऋग्वेदप्राक्कालीना संस्कृतिरासीदित्युपलब्धप्रस्तरादिचिह्नैर्निश्चीयते। तत्रोपलब्धेषु प्रस्तरचिह्नेषु लिङ्गाधिक्यदर्शनेन ऋग्वेदपूर्वकालिका, अर्थादार्यसंस्कृतीतराऽनार्यसंस्कृतिरेकासीत्। सा च रुद्रदेवताकेति। एता कल्पना. प्रायो यूरोपदेशीयसंशोधकैर्विद्वद्भि. प्रकटीकृता', तास्तथैव तेषामादरातिशयादनुकरणतत्परैरस्माक भारतीयै. स्वीकृत्यात्मसात्कृत्वा तत्सदृशीः अनेकास्तत्र समेत्य च श्रीरुद्रदेवस्यानार्यत्वं स्पष्टमुद्घोषितम्।

यूरोपस्थविदुषामनालस्योद्योगप्रियत्वादिसद्गुणगणभूषिताना वयमधमर्णा एवेत्यस्मिन्विषये न संशीतिर्यतस्तैरनेकेषु विषयेषु नूतनामाविष्कारसरणि महता प्रयत्नेन निर्मायास्माक पुरतो नूतन. पन्था' प्रकाशित इत्यतस्तेषा प्रयत्नो कौतुकावहो विशेषरूपेण भारतीयैरादरणीय इति निश्चितम्। परन्तु तैर्यथैव स्वबुद्ध्या वैदिकपरम्परारहितया निश्चित तत्तथैवास्माभिर्निमील्य चक्षुर्ग्रहीतव्यमिति नास्मभ्य रोचते। अस्माभि. स्वीययाऽविच्छिन्नया वैदिकपरम्परयाऽऽलोच्याविष्य चोचित चेदवश्य ग्रहीतव्य नो चेत्सर्वथा त्याज्यमेव।

अत्र नास्त्येवास्माकमय हठः पुराणमित्येव च साधु सर्वमिति। भारतीयाना वैदिकाना वेदविचारसरिदखण्डरूपेण, क्वचित्सरस्वतीवाभ्यन्तरलीनापि ब्राह्मणग्रन्थ-उपनिषत्-सूत्र-पुराण-रामायण-भारतादिभिर्ग्रन्थैरनेकरूपापि प्रवहत्येवाधुनेति निश्चितम्। यद्यपि मध्ये मध्येऽनेकभिन्नसंस्कृतिनदीकुल्यादिभिर्मिश्रितजलोऽपि वेदसिद्धान्तस्रोत.प्रवाहः सूक्ष्मरूपेण सर्ववाङ्मयसमुद्र उपलभ्यत इति सर्वप्राचीनाना केषाचिदाधुनिकानामपि दृढमिद मतम्।

इदमार्याणामिदमनार्याणामिति निश्चयकरणार्थमस्माक पुरत एकं परमप्राचीनमृग्वेदादिग्रन्थसमूह त्यक्त्वा नान्यत्किञ्चिदपि प्रमाणकोटिमाटीकते। तत्रभगवतो रुद्रस्य विषयत्वसाधक किमुपलभ्यते तत्प्रथमत आलोचनीयम्।

रुद्रस्य यज्ञसाधकत्वेन[1] सुमखत्वेन[2] हविर्दातृत्वेन च वर्णन लभ्यते, तथा देवश्रेष्ठत्वेन देवाना निवासहेतुत्वेन चोपलभ्यते[3] तथा जीवैः प्रार्थनीये यज्ञेऽस्मान् भागयुज. कुर्विति प्रार्थना[4] दृश्यते। एवं देवानां

(१) 'त्वेषं वयं रुद्रं यज्ञसाधम्' (ऋ० १।८।४।५)
(२) 'कद्रुद्राय सुमखाय हविर्दे' (ऋ० ४।३।७)
(३) 'श्रेष्ठो देवाना वसु.' (ऋ० १।३।२६।५)
(४) 'आनो भज बर्हिषि जीवशंसे' (ऋ० ५।८।१३।४)

त्राधस्य नाश कुर्वित्यपि स प्राथ्यते,[5] किञ्च रुद्र ऐश्वर्येण जगत्सु श्रेष्ठ इत्यपि लभ्यते[6] तथा देवोत्पादितस्य पापस्य नाशकोऽस्तीति ग्रन्थत प्राप्यते[7]

तथा रुद्रो यज्ञाधिरतित्वेन,[8] देवाना प्रथमत्वेन, वस्तुत्वेन च वर्णत सुवर्णालङ्कारै रुद्रश्चकास्तीति स्तूयते। एव रुद्रप्रदत्तौषधीभि शतवर्षजीवा[9] प्राथ्यते। किञ्च सर्वलोकाना हिरण्यमिव प्रिय[10] इत्यपि लभ्यते, तथा चिकित्सकाना मध्ये भिषक्तम[11,12] इति स्तूयते। एव च यो देवाना श्रेष्ठ, यज्ञस्य साधक, देवाना क्रोधपापयोर्नाशयिता, बहुसुवर्णालङ्कारभूषित, जगत्स्वैश्वर्येण श्रेष्ठ, औषधीभि शर्मं दत्त्वा जनाना यज्ञे भागाहकारक, स्वय यज्ञकर्ता, सुवर्णमिव सर्वलोकप्रियो भिषक्तम, स आर्यविद्रोही यज्ञविरोधिनामनार्याणा देवश्चेति कथन न युक्तिसङ्गत ज्ञायते। रुद्रवदिन्द्रस्याग्नेरपि यज्ञनाशकत्व लभ्यते[13,14] अतो यज्ञनाशको हेतुर्नानार्यत्व साधयति।

श्रीभगवतो रुद्रस्य सेनापतित्वात्सर्वदा तस्य शत्रुसहारतत्परत्वेन च रुद्रविषये भीतियुक्तस्थितया तेन स्वपुत्रपौत्रपशूना नाशो न कर्तव्य इत्यभिप्रायेण तस्य स्तुति कृता ऋषिभि सोचितैव। तस्य सेनापतित्वम्,

अय ते अस्मद्रियक्पन्तु सेना' (ऋ० २।७।१६)

'इमा रुद्राय स्थिरधन्वने गिर क्षिप्रेषवे' (ऋ० ५।४।१३।४)

इत्याद्यनेकमन्त्रतो ज्ञातु शक्यम्। यथा रुद्रविषये भीतियुक्त वर्णन लभ्यते, तथेन्द्रविषयेऽपि। एवञ्च भीत्याद्युत्पादकत्ववर्णनेनास्य नानार्यदेवतात्व साधयितु शक्यम्।

अधुनाऽतिमहत्त्वस्य शिश्नदेवशब्दस्य विचार आरभ्यते शिश्नदेवाश्च ऋग्वेदे—

मा शिश्नदेवा अपिगुर्ऋत न (५।३।३।५) 'घ्नन् शिश्नदेवाऽअभिवर्पसाभूत्' (ऋ० १०।८।११)

इत्यादिषु दरीदृश्यते। त दृष्ट्वा यज्ञे शिश्नदेवाना निषेधकरणाच्छिश्नदेवानामिन्द्रकृतविनाशबोधनाच्च सर्वत्र लिङ्गाना लिङ्गाधारप्रस्तराणा च प्राप्तेर्मोहेंजोदारोप्रभृतिस्थानेषूत्खननजातपदार्थनगरादिध्वस्तावशेषदर्शनेन कस्यापिचिदेतस्या सस्कृते ऋग्वेदपूर्वकालिकत्वकल्पनेन तस्या सस्कृतेरार्यभिन्नानामर्यादिनार्याणा कल्पनेन ऋग्वेदे शिश्नपूजकाना यज्ञे निषेधेन मोहेंजोदारो प्रभृतिषु लिङ्गाना दर्शनेन च शिश्नदेवा नाम लिङ्गपूजका इत्यर्थस्य कल्पनेन च लिङ्गपूजाऽनार्याणा मध्ये प्रचलिताऽऽसीत्, तल्लिङ्ग यस्य देवस्य सोऽप्यनार्याणा देव इत्येतत्कल्पनासाम्राज्यम्।

---

(५) 'आरे अस्मद् दैव्य हेलो अस्यतु' (ऋ० १।८।५।८)

(६) 'श्रेष्ठो जातस्य रुद्र श्रियासि' (ऋ० २।७।१६।३)

(७) 'अपभर्ता रपसो (पापस्य) दैव्यस्य' (ऋ० २।७।१६।७)

(८) 'अध्यवोचदधिवक्ता प्रथमो दैव्य' (ऋ० तै० स० रुद्राध्याय १।६)

(९) 'शुक्रेभि पिपिशे हिरण्यै' (ऋ० २।७।१६।९)

(१०) 'त्वा दत्तेभी रुद्र शन्तमेभि शत हिमा अशीय भेषजेभि' (ऋ० २।७।१६।१)

(११) 'हिरण्यमिव रोचते' (ऋ० १।३।२६।५)

(१२) 'भिषक्तम त्वा भिषजा शृणोमि' (ऋ० २।७।१६)

(१३) 'अय शुन शुनस्समामृधस्व' (ऋ० २।६।२१।४) (हे इन्द्र यज्ञस्य मृधा हिंसा मा कृ = मा कार्षी सायणाचार्य)।

(१४) 'नमोऽग्नये मखघ्ने मखस्य मा यशोऽर्दात्' (तै० स० ३।२।४)

वैदिकभारतीयार्याणां संस्कृतिबोधकेष्वखण्डितपरम्परया प्राप्तेषु ग्रन्थेषु शिश्नदेवपदस्यार्थ क इति विचारणायां द्विसहस्रवर्षपूर्वकालिक यास्करचित निरुक्तं यद्यस्माभिर्दृश्यते तदा शिश्नदेवपदं न लिङ्गदेवानां लिङ्गपूजकानां बोधकमुपलभ्यते। श्रीमता यास्केन (अ० ४ खं० १९) विषुणपदनिर्वचनप्रसङ्गे 'सशर्द्धदर्यो विषुणस्य' (ऋ० ५।३।३।५) मन्त्रो निर्दिष्टः, तत्र 'शिश्नदेवा अपिगुर्ऋतं न' इत्यागत तत्र शिश्नदेवपद-निर्वचन 'शिश्नदेवा अब्रह्मचर्या' इति कृतम्, श्रीदुर्गाचार्येण, 'शिश्नदेवा शिश्नेन नित्यमेव प्रकीर्णाभिः स्त्रीभि. साकं क्रीडन्त आसते श्रौतानि कर्माण्युत्सृज्य, तेऽपि युष्मदनुग्रहादिदमस्माकं ऋतम्-यज्ञं, मा अपिगु', मा आगच्छन्तु, नास्माकं तैरपि यज्ञमभिगच्छद्भिरर्थोऽस्तीत्यभिप्राय', इत्यादिनाऽत्र स्पष्टीकृतम्। श्रीमता सायणाचार्येणापि तथैव विवृतम्। एवं चाखण्डपरम्परावेत्तृभिर्यास्कादिभि. शिश्नदेवपदेनाब्रह्मचर्या एव गृह्यन्ते स्म।

एव मूरदेवपदं 'मूरा अमूर न वयं' (ऋ० ७।५।३२) इत्यत्रागतम्। तत्रापि यास्केन 'मूरा–मूढा' इत्यर्थो दर्शित.। तत्र मूढो देवो यस्य इति विगृह्य मूढपूजक इत्यर्थकरणमसङ्गतमेव, शिश्नदेव इत्यत्रापि तथैव शिश्नं देवो यस्येति विग्रहकरणमसङ्गतम्, किन्तु यास्कादिभि प्रदर्शितार्थग्रहणमेवोचितमिति सत्यान्वेषणपराणा मान्य भवेत्। यदि शिश्नदेवशब्देन लिङ्गपूजकानामेव ग्रहणमिति दृढो हठश्चेत्तथापि सा लिङ्गपूजा वस्तुत अग्निप्रतीकभूतस्य लिङ्गस्य पूजाऽऽर्येष्वेव प्रचलिताऽऽसीत्। एव चेन्द्रपूजाप्रधाने यज्ञे तद्देवतात्वास्वीकर्तृणामागमन मा भवत्विति प्रार्थनं त्वत्यन्तमुचितमेव। एवमिन्द्रप्राधान्यास्वीकर्तृणा नाग इन्द्रकर्तृको न विसवदते व्यवहारेण। यथा संप्रति मुस्लीमलीगसमितौ तद्भिन्नानामागमन निषिद्ध बलादागताना नाशादिकं चोपलभ्यते, परन्त्वेतावता तेषा भारतीयत्व कथ निवर्तयितु शक्यम्, तथैव लिङ्गपूजका इन्द्रपूजकाना यज्ञे नागच्छन्तु बलाद् यद्यागच्छेयुस्तर्हि तेषां नाशकरणेऽपि तेषामार्यत्वं कथ निवर्तत इति नैव ज्ञातु शक्यते विना कल्पनात., वस्तुतो लिङ्गपूजक इत्यर्थो नैव सभवति शिश्नदेवपदस्येति पूर्व स्पष्ट प्रदर्शितम्।

अथ भारतेऽन्यत्र च सर्वत्र लिङ्गपूजा कथ प्रचलिताऽतिपूर्वतमे काले, कथं वा शिवस्य यज्ञात्पृथक्करणं, कथ वा रुद्रसूक्तानामल्पानामेवोपलब्धि, कथं वा रुद्रस्य यज्ञविध्वसकरण कथ वा तस्य प्रजापतिवधकरणं, कथं वा तस्य निर्माल्यस्य निषिद्धत्वमित्यादिशङ्काजातस्य निराकरणाय वस्तुस्थिते प्रकाशनाय च प्रसङ्गागतं प्राचीनवैदिकसमाजसंस्कृतेरितिवृत्तं किञ्चित् प्रदर्श्यते—अतिप्राचीनतमे काले वैदिकसमाजस्य स्थितिः कीदृशी स्यात् इति कल्पनया सूक्ष्मदृशाऽऽलोच्यमाने वेदसहिताब्राह्मणादिभ्य. किमपि वृत्त कल्पयितु शक्यते। देवाः पूर्वं मनुष्यवन्मर्त्या आसन् विशेषप्रयत्नेनामरा जाता इत्यादिवेदमन्त्रतो ज्ञायते। यथा (ऋ० ५।३।४)

'तव श्रिया देव देवाः पुरुदधाना अमृत सपन्तः।' तथा

'तव क्रतुभिरमृतत्वमायन्' (ऋ० ६।७।४), तथा

देवा वै मृत्योरविभयुस्ते प्रजापति मुपाधावन् (तै० स० २।३।५।१) तथा

'मर्त्या हवा अग्रे देवा आसुः (शत: ११।२।३)

इत्याद्यनेकप्रमाणतो देवानाममर्त्यत्वं प्रयत्नसिद्धमिति ज्ञायते। एव च मनुष्यवदस्या भूमौ स्थिते देवसमाजे तत्र प्रकृष्टतम. स्वबुद्ध्या स्वशक्त्या च देवानां रक्षणकर्ता प्रजापतिः प्रथमतो देवशासकत्वेन स्थित उपलभ्यते। स च भूतभौतिकाना स्थावरजङ्गमाना सर्वेषामधिपतिरित्यपि वेदमन्त्रत उपलभ्यते,

'हिरण्यगर्भः समवर्तताग्रे भूतस्य जातः पतिरेक आसीत्' (ऋ० १०।१२१।१) अय मन्त्रः सर्वसहितास्वनेकवार लभ्यते। तथा

'प्रजापते न त्वदेतान्यन्यो विश्वा जातानि परिता बभूव' (ऋ० ८।५८।२)

हे प्रजापते त्वत् अन्यो विश्वा जातानि परिगृह्य वर्तते इति मन्त्रार्थ । निरुक्तकारेणेम मन्त्र प्रदर्श्य 'प्रजापति प्रजाना पाता वा पालयिता वा' इति निर्वचन च प्रदर्शितम्। (नि० १०।४२) प्रजापतिना देवसमाजेऽनेकानि माधुर्याणि सम्पादितानि, प्रजानिर्माण देवानामसमयमवनोपाय प्रदान, व्यवस्थाकरण, नियमाना निर्माण, आगमप्रत्यास्थानादिकरणमुलभाना मकटाना निवारणाय मनेकापायप्रदानादिनाऽसुरता निमित्यादिकानि कार्याणि वेदसहिताभागस्य ब्राह्मणभागाच्च सतत प्रदर्शयितु शक्यन्ते। तत्र कानिचित्—

'सोऽकामयत प्रजापति । भूय एव स्यात्प्रजायेयेति' (श० ब्रा० ६।१।१)

देवा वै मृत्योरबिभयुस्ते प्रजापतिमुपाधावन्' (तै० स० २।१।२।१)

'प्रजापतिर्देवेभ्यो यज्ञान् व्यादिशत' (तै० स० २।६।३)

स इन्द्र प्रजापतिमुपाधावत् । तमेतया सत्यायाऽयाजयत्' (तै० स० २।२।११)

'यत देवा स्वर्गमारुह्य शरीरममृतस्य नाभिम्' (अथर्व ४।११।६) इत्यादिवाक्यानि बहूस्युपलभ्यन्ते।

प्रजापतेर्देवतानामधिपतित्वात् तदधिकारसमासक्तुमिन्द्रवरुणादिदेवाना प्रयत्न प्रचलित आसीदित्यपि वक्तु शक्यते। स्वात्माधिकाररक्षणार्थं प्रजापतेरपि बहूकार्याणि कर्तुमापतितानीत्यपि वक्तु शक्यते। तथाहि—यदा प्रजापतिना प्रजा निर्मितास्तदा ता प्रजापति त्यक्त्वा वरुणसमीपे गता, वरुणस्ता परावर्तयितु नैच्छत्। तदा प्रजापतिना तस्मै श्वेतपादकृष्णपशु दत्त्वा प्रजा पुनरानीता । 'प्रजापति प्रजा असृजत ता अस्मात् सृष्टा पराचीरायन। ता वरुणमगच्छन्। ता अन्वैत्। ता पुनरयाचत। ता अस्मै न पुनरदात्। सोऽब्रवीद्वर वृणीष्वाथ म पुनर्देहि। तासा वरमालभत। स कृष्ण एकशितिपादभवत् (तै० स० २।१।२),तथा प्रजापते प्रजास्त्यक्त्वा गतास्तदा प्रजापतिनाग्निसाहाय्येन ता प्रत्यावर्तिता । 'प्रजापति प्रजा असृजत ता सृष्टा पराच्य एवायन् न व्यावर्तन्त । अग्निना पर्यगच्छत्' (श० ब्रा० २।१२)। तथा इन्द्र प्रजापतेरधिकारमकामयत। तदा प्रजापतिना तस्मै महेन्द्रपदवी प्रदत्ता

इन्द्रो वै वृत्र हत्वा सर्वा विजितीर्विजित्याब्रवीत्प्रजापतिमहमेतदसानीति । स महानिन्द्रोऽभवत्। (ऐ० ब्रा० २।१४) तथा प्रजापतिनाऽङ्गिरसे कामयमानाय तस्मै स्वतजसा निर्मित पशव दत्तम (तै० ब्रा० २।२।१०)

प्रजापत्यधिकारकालेऽनेकदेवगणा आसन्। तेषा मध्ये स्वज्यैष्ठ्याय विरोधोऽपि प्रचलति स्म। कदाचिद्युद्धसमये प्राप्तेऽपि विरोधादाहरणानि लभ्यन्ते।

न देवा मिथो विप्रिया आसन्। तेऽन्योन्यस्मै ज्यैष्ठ्यायातिष्ठमानाश्चतुर्धा व्यक्रामन् । अग्निर्वसुभि, सोमो रुद्रैरिन्द्रो मरुद्भिर्वरुण आदित्यै' (तै० स० २।२।११)

यद्यपि तत्कालेऽग्निसोमेन्द्रवरुणप्रमुखा देवा अधिकारलिप्सव आसन्, तथापि प्रजापते सर्वदेव मान्यत्व, सर्वज्येष्ठत्व, सर्वरक्षकत्व स्वत्व, दृष्ट्वा तद्विरुद्ध प्रत्यक्ष किमपि नाचरितवन्त ।

अधिकारनिमित्तकदोषात्प्रजापतेरपि देवक्षोभोत्पादका केचनापराधा सजाता । त च केचन दृश्यन्ते। प्रजापतिना देवत्व प्राप्तेऽपि पूर्वमनुजैर्ऋभुभि सह सोमपान कृत तद् दृष्ट्वा देवास्त निनिन्दु ।

'आर्भव ह्यमन्यृभवो वै देवेषु तपसा सोमपीथमभ्यजयन् देवा अपैवाबीभत्सन्त' (ऐ० ब्रा०

३।३०) तथा राक्षसेभ्यो वरं दत्तवान् येन सूर्याय पीडा, संजाता (तै० आ० २।२) अन्ततः स्वकुलस्थ-कन्याधर्षणापराधं दृष्ट्वा सर्वैर्देवैर्भृशं क्रुद्धैस्तद्दण्डकरणार्थं समील्य मन्त्रयित्वा सेनापतित्वाद् रुद्रो दण्ड-करणार्थं नियुक्तः। एषा कथा शत० ब्राह्मणे 'प्रजापतिर्हवै स्वा दुहितर....' इत्यादिनोल्लिखिता (१।७।४), परन्तु तद्दण्डकरणसमये प्रजापत्यभिमानिभिः देवैः साकं महान्सगरः संजातो महांश्च विध्वंसः संजातस्तत्र प्रजापतिर्हत इत्येव निश्चीयते। यद्यपि शतपथब्राह्मणे प्रजापतेः शल्यनिष्कासनं ततः तस्याभिषेक उक्तस्तथाप्यन्ते यज्ञ एव प्रजापतिरित्युपसंहारेण प्रजापतिहननानन्तरं प्रजापतिस्थाने देवैः तद्यज्ञ सस्थाप्याधिकारिणः प्रजापते कार्यं प्रचालितम्। अत एव ऋग्वेदे रुद्रस्य नृहन्तृविशेषणं सगच्छते 'प्रव. कदग्ने रुद्राय नृघ्ने' (४।३।६) यद्यपि प्रजापतये दण्डकरणार्थं सेनापते रुद्रस्य पूर्वं क्रुद्धाः सर्वे देवमुख्या अनुकूला आसन्। परन्तु घोरतरप्रसङ्गे तस्मिन्निवृत्ते शान्तक्रोधैर्देवैर्विचारित दण्डस्थाने प्रजा-पतेर्हननं संजातं रुद्रसकाशादतो रुद्रस्य यज्ञाद्वहिष्करणं कर्तव्यं तत्तथैव कृतम्। तेनापि रुद्रेण स्वाधि-कारस्थापनार्थं पुनर्युद्धं कृतम्, तदा देवैस्तस्मै प्रधानहोमानन्तरमवशिष्टं होमद्रव्य प्रदत्तम्।

'देवा वै यज्ञाद्रुद्रमन्तरायन् स यज्ञमविध्यत् तं देवा अभिसमगच्छन्त.... तत् स्विष्टकृत' स्विष्ट-कृत्त्वम् (तै० सं० २।६।८)

अस्य सर्वस्य विस्तारेण प्रदर्शनतात्पर्यमेतद्रुद्रस्य यज्ञबहिष्करणमथवा यज्ञावशिष्टहोमद्रव्यप्रदाप-नमार्याणामेव मिथ.संघर्षनिमित्तेन संजातं न तेन तस्यानार्यत्वं सिद्धयति।

अतिप्राचीनतमे काले वैदिकसमाज एवं मिथ.संघर्षनिमित्तके संगरे जाते सेनापते रुद्रस्य यज्ञाद् मुख्यदेवतातो वहिष्करणे संजाते च रुद्रस्तत्सहकारिणश्च सर्वे स्वस्वाग्नि स्वस्वाभिप्रेतेषु समिध्-आत्म-पाषाणादिचिह्नेषु समारोप्य तत्स्थानात्तिसृषु दिक्षु प्रस्थिताः सन्तः सर्वत्र पृथ्वीतले गताः।

'रुद्रो वा एष यदग्निस्तस्य तिस्रः शरव्याः प्रतीची तिरश्चनुची '(तै० सं० ५।५।८)।

प्रस्थानसमयेऽग्निहोत्री स्वीयमग्निं स्वात्मनि समिधि वा समारोपयतीति प्रसिद्धमेव श्रोत्रियेषु। एवञ्च रुद्रस्य तत्सहकारिणाञ्च यत्र यत्र गमनं संजातं पृथिव्या तत्र सर्वत्र प्रजापतियज्ञस्थानादानी-ताग्निसमारोपणाधारभूतवस्तूनां तैः स्थापनं कृतम्। तानि च चिह्नानि रुद्रसेनास्थजनानां भिन्नभिन्नप्रका-रेण स्थितत्वात्क्वचित्काष्ठमयानि, रत्नमयानि, सुवर्णमयानि, प्रायो वहुन प्रस्तरमयानीति सर्वत्राग्निप्रतीक-भूतलिङ्गानामुपलब्धिः संजायते। अत एव भारते क्वचित् क्वचिज्ज्योतिर्लिङ्गानामपि स्थितिः समुचितैव। सेनापते रुद्रस्य सेनायामनेकप्रकारका जना आसन् काश्चन स्त्रियोऽपि विद्यन्ते स्मेत्यतः

'नमः कुलालेभ्यः कर्मारेभ्य.' 'नम आव्याधिनीभ्यो विविध्यन्तीभ्यः'

'असंख्याताः सहस्राणि ये रुद्रा अधिभूम्याम्' इत्यादिरुद्राध्यायस्य वर्णनं समीचीनमेव प्रतिभाति।

रुद्रस्य सर्वत्र वास आसीदिति वहुत्र वहुपुराणेषु भारते चोपलभ्यते। अस्य मेरुधामेति नाम प्रसिद्धम्। (म० भा० अनु० ४८।९१ कुंभकोण) किञ्च मूजवति पर्वतेऽप्यस्य वास आसीत्

'एतत्ते रुद्रावसं तेन परो मूजवतोऽतीहि' (वा० सं० ३।६१)

मूजवान् पर्वतश्च कैलासादपि परतरो विद्यत इति ज्ञायते (वायु० १।४७।१९) रुद्रसहकारिणां रुद्रस्य च अन्यत्रान्यत्र देशे प्रक्रमणानन्तरं वहोः कालादनन्तरं प्रादुर्भूते प्रचलितसंहिताभागे यस्मिन् इन्द्रस्येन्द्रप्रचालितसंस्कृतेश्च प्राधान्यमस्ति तत्र रुद्रसूक्तानामत्यल्पत्वमुचितमेव।

प्रजापतिनाशानन्तरं वरुणोऽधिपतिः संवृत्तस्तदा वैदिकार्याणां जलमार्गेत इतस्तत गमनमासीदत एव वरुणस्य जलेन सागरेण च सह सम्बन्ध आगतः (ऋ० २।२८।४,५।८५।६, ७।६४।२, १।१६१।१४, ८।५८।२) इत्यादिस्थलानि द्रष्टव्यानि, प्रजापतिसंघर्षानन्तरं प्रधानतया स्थितस्य वरुणराजस्य न्यायप्रिय-

त्वेन (ऋ० ७।८८।३) अक्रन्दयानुतया (ऋ० ७।८६।५, ७।८९।५) मवनृपत्वेन (ऋ० १०।१३२।८) स्वावलम्बित्वेन (ऋ० २।२८।१) च वणनमुपलभ्यते। वरुणमन्त्रेनिरपि प्रचलितर्वेदमहिनातोऽनिप्राचीननमा यतश्शुन शेपनलिप्रमन्त्रे वरुणसम्बन्धदानेन प्रचलितब्राह्मणादिग्रन्थेषु परिगणितमनुष्य बलीनामुल्लेख दशनेन च तस्या प्रथायास्तत्सम्बन्धिन्या वरुणदेवताया अतिप्राचीनतमत्व ज्ञायते।

वहो कालादनतर इन्द्रस्यापि चित्ते वरुणाधिराज्यमात्ममात्कर्तुमिच्छा प्रादुर्भूता, तेन तत्रव स्थिना-ना, रुद्रपुत्राणा मरुता स्वपक्षे स्वमाहाय्यार्थ स्वीकार कृत। अत एव मरुता नाम 'इन्द्रवत' (ऋ० १०।१२८।२) 'इन्द्रज्येष्ठा' (ऋ० ६।५१।१५) इत्युपलभ्यते। मरुता रुद्रपुत्रत्व वण्यते—'आ ते पितमरुताम्' (ऋ० २।३३।१) इत्यत्र। प्रथमत इन्द्रस्य वरुणसेनापतित्वेन वणन लभ्यते अथादिन्द्रो वरुणसेनापति मजात (ऋ० ८।८३।६, ६।६८।२) तत उभयोर्मिलित्वा राज्यकरण लभ्यत (ऋ० १।१७।१) तत इन्द्रेणैवाधिराज्यत्व क्रियते। अत्र विषयेऽग्नेवरुणस्य च सवाद आलोचनीय। अत्राग्नि कथयति वहो कालान्मया पूर्वाधिपतिस्त्यक्तोऽधुना ममेन्द्रोऽधिपतिर्वियते *

'वह्वी समा अकरमन्तरस्मिन्निन्द्र वृणान पितर जहामि (ऋ० १०।१२४।४)

तत इन्द्रवरुणयोरधिराज्य कस्येति विषये प्रसिद्ध सवादो द्रष्टव्य। (ऋ० ४।४२) अत्र वरुण स्वमत्तावणन करोति

वरुण—'अह राजा वरुणो मह्य तान्यसुर्याणि प्रथमाधारयन्त।'

एतत्खण्डयितेन्द्र स्वमना वणयति—

'मा नर स्वश्वा वाजयन्तो मा वृत्ता समरणे हवन्त। कृणोम्याजि मघवाहमिन्द्र इयर्मि रेणु-मभिभूत्योजा।' (ऋ० ४।४२) अस्तु। यथा शूरवीरत्वबोधक रुद्रपदमनकविशेषणरूपेण धृत तथेन्द्रेण रुद्रविशेषण वज्रहस्तत्वम् (ऋ० २।७।१६।२) महस्रनेत्रत्वम् (तै० म० ४।५।५) धृतमुपलभ्यत। अस्तु।

आर्याणा भारतादिस्थितिकालात्परमप्राचीनकाले मर्त्या देवा विशेषयागाद्युपायकरणेन शरीर हित्वा स्वर्गं गतवन्त आसन्।

'येन देवा स्वरारुरुहुर्हित्वा शरीरममृतस्य नाभिम्' (अथर्ववे० ४।११।६)।

तदनन्तर काले स्थितवद्भिर्लोकैरन्तरालानन्तर स्थितैश्च जनैरपि देवाना स्वर्गगमनममत्यभवन च ज्ञात्वा अद्य यथा नामाक्तलोकाना कल्पना मनुष्यविनाशानन्तर भवन्ति, यथा च ते मृता स्वर्गं गता अग्नौ लीना जले वाऽऽकाशे वेति कल्प्यते, तथा प्राचीनप्रजापतिरुद्रवरुणेन्द्रादिवाना स्वर्गगमनानन्तरम् तत्कालिकैर्जनैर-ग्यादिषु तेषा स्थित्यादिकल्पनेन ततो वहो कालानन्तर प्रादुर्भूतमन्त्रादिभागेषु पञ्चभूतवणनरूपेण देवा-द्याकाररूपेण च तेषा स्वर्गतानामिन्द्राग्निरुद्राणा वणन साधु सगच्छत एव। अत एव रुद्रस्याग्निना सहा-भेदरूपेण भेदरूपेण च वणन रूच सगतमेव।

मध्ये मध्ये प्राधान्येन प्रचलिता सस्कृतय क्षीयन्ते स्म, याश्च क्षीणास्ता पुनरपि प्रधानरूपेण प्रचलिता स्मेत्यपि वणन लभ्यते। यदा सर्वे देवा स्वर्गं गतवन्तस्तदा रुद्रोऽत्रैव स्थित—

'यज्ञेन वै देवा दिवमुपादनामतथ योऽय देव पशूनामीष्टे स इहाहीयत' (शत ब्रा० १।७।३।१

एतेन इन्द्रादिसस्कृतिसकोचेन रुद्रसस्कृते पुनरपि प्राधान्य सूच्यते। तथैव प्रजापतिसस्कृतिरपि ब्राह्मणकाले विशेषरूपेण पुन प्रचलिता एवमन्यासामपि सस्कृतीना पुन पुन प्राधान्य गौणत्व च कारणवशादायातीत्यपि सूक्ष्मया दृशालोच्यमाने दरीदृश्यते। एव च कैश्चन सवदेवाना वेदेषूपलभ्य-

मानं वर्णनं भौतिकघटनापरमेव कल्प्यते, परन्तु तन्नैव विचारचतुराणा चेतासि चमत्करोति। सर्वथा सारल्येन तल्लापनं दुःशकमेव।

अस्तु, भारतीयैरार्यैरनेकदा सृष्ट्युन्नत्यर्थ प्रयत्नोऽकारि, यैश्च विशिष्टतपसानेकशास्त्राणि प्रकटीकृतानि, यैश्चास्माक सर्वथोन्नतिपथे नयन कृतं तेषामुपकारस्मरणार्थ स्वाभ्युन्नत्यै च तत्तद्देवतारूपेण स्थितस्य, जगत आदिभूतस्यानन्तस्य व्यापकस्य तत्त्वस्य प्रसादार्थ तत्तद्देवतानां यागादिना पूजन समुचितमेव।

रुद्रस्य निर्माल्यग्रहण धर्मशास्त्रे निषेधकोटिमाटीकत इत्यपि नैव रुद्रस्यानार्यदेवत्व साधयितुमीष्टे, सूर्यगणपतिदेव्यादिविषयेऽपि तथा निषेधोपलम्भेन तत्रैव च व्यवस्थाया. प्रदर्शनेन न निर्माल्यस्याशुद्धत्व कल्प्यते, किन्त्वस्माक तत्तद्देवतादीक्षाभावे निर्माल्यग्रहणाधिकाराभावेन तद्ग्रहणे पातित्यमेव बोधयति। अतः

शिवदीक्षान्वितो भक्तो महाप्रसादसंज्ञकम्।
सर्वेषामपि लिङ्गाना नैवेद्य भक्षयेच्छुभम्॥ (शिवपु० विश्वेश्वरसहिता २२।११)

आधुनिकैर्ऋग्वेदादिवेदसंहिताब्राह्मणादिग्रन्थेषूपलब्धतत्तज्ज्यौतिषवर्णनाधारेण, भाषाव्याकरणाधारेण च कालनिर्णयो विहितः, स प्रचलितसहितादिग्रन्थाना कथचित्सभवेत्तत्रापि बह्वृच. संहिता ब्राह्मणानि च लुप्तप्रायाणि, याश्च सहिता ब्राह्मणानि चोपलभ्यन्ते, ताश्च तान्यपि प्रायोऽसपूर्णरूपाण्येवेति खण्डितस्य यमयमीसूक्तस्य, पुरूरवउर्वशीसवादरूपसूक्तस्य खण्डितस्य चोपलब्ध्या तथा ब्राह्मणग्रन्थेषूपलब्धाना खण्डितप्रायाणामर्थवादाना लाभेन च वक्तु शक्यते। किं च तत. पूर्वमनन्तकाले कल्पनयापि निश्चेतुमशक्ये वैदिकसस्कृते· प्रादुर्भवनेन कथंकार वा मोहेञ्जोदारोप्रभृतिस्थानेषूपलब्धप्रस्तरादिचिह्नैर्भारतसंस्कृत्यपेक्षया सिन्धुदेशीयसस्कृते· प्राचीनत्वं वैदिकसस्कृतेश्च नूतनत्व वा कल्पयितु शक्यम्। किञ्च सापि वैदिकसंस्कृतिर्नासीदित्यपि केन दृढप्रमाणेन वक्तु शक्य, कथ वा सानार्याणा सस्कृतिः, कदाचिद्भारतस्थार्यावर्तादार्याणामनेकवार वहिर्गमन पुनश्चात्रागमनमनेकवार सजात सस्कृतेश्च वार वारसघर्षादिनित्तेन संकोचो विकासश्चा भवदित्यपि चक्रनेमिक्रमेण निश्चप्रचमेव सिन्धुदेशीयापि भारतीयसस्कृत्यन्तर्गतैकदेशीयसंस्कृतिर्भवितुमर्हतीति निश्चितम्।

अस्तु। एतत्सर्वमालोच्य विचारचतुराणा मनसि निश्चित भवेद् भगवतो रुद्रस्यार्यत्वमार्यदेवत्व वैदिकत्व चेति सभावयाम.। अत्र विषये वहुवक्तव्यमन्यदवशिष्यते तद् 'रुद्र' सज्ञकेऽतिमहति निवन्धे विस्तरेणास्माभिर्विवेचितम्। किंचिच्च तत्रत्यं राजकीयसंस्कृतमहाविद्यालयस्य सारस्वतीसुषमानामपत्रिकासहकारिसंपादकत्वेन कार्यकरणसमये विशिष्टाङ्के (सन् १९४२) वर्णितमस्ति।

अत्र वहूनि शङ्कास्थलानि विद्यन्त इति जानीम, यथा प्रजापतेः स्वदुहितृधर्षणस्य वेदे स्पष्टतया वर्णनस्योपलब्धेः कथ स्वकुलीयकन्याधर्षण कथ्यते? कथ वा प्रजापते पुन जीवनस्याभिषेकस्य च वर्णनस्य विद्यमाने हननत्वप्रतिपादनम्? कुत्र वा वास्तविकस्वर्गस्य स्थिति। तत्सर्वमपि विस्तरेण संस्कृतिह्रासविकासनिवन्धे, विवाहसंस्कारसंकोचविकासनिवन्धे रुद्रनिवन्धे च प्रतिपादितम्।

अत्र वर्णिताः कल्पना नैव सर्वथा नूतना. पुराणादिषु ब्राह्मणादिभागेषु चैता एव कल्पना इतिहासरूपेण विवृत्ता विद्यन्ते, ता एव केवलसंहिताब्राह्मणभागीयप्रमाणै.सङ्गति विधायातिसक्षेपरूपेण प्रतिपादिता.।

अयमेको देवताविषयविचारप्रकारो विदुषा पुरत उपस्थापित.। एव मन्ये सर्वासा देवताना तत्तत्संहिताब्राह्मणादिभागीयवृत्तवर्णनादिकमेकत्र स्थले कृत्वा भारतादीतिहाससाहाय्येन पुराणादिकसाधनेन सम्यगालोच्यते चेत्तदा नून वैदिकसस्कृते. सम्यक्स्वरूप देवतातत्वस्वरूप दर्शनाना प्रादुर्भाव-विकास-भेद-स्वरूपनिरूपण शिल्पमन्त्रायुर्वेदयोगशास्त्रादिक्रमादिज्ञानं च सम्यग् भवेदिति शम्।

भारतीयवेषविमर्शः ।

रघुनाथशास्त्री,

सशङ्खचक्रं सकिरीटकुण्डलं, सपीतवस्त्रं सरसीरुहेक्षणम् ।
सहारवक्षःस्थलकौस्तुभश्रियं, नमामि विष्णुं शिरसा चतुर्भुजम् । १ ।

अथातो वेषविमर्शः । यतो वेष एवाख्यानमपि देशं शीलं कर्म जीविकां वित्तं वर्णाश्रमं पुंस्त्वं स्त्रीत्वं वाऽऽख्याति । किं बहुना विशेषेण परतोऽपि विस्मयमभ्युद्विजन्ते च । वेष एव हि स्त्रिया पुरुषस्य वा मदनं भवति । दम्पत्योः परस्परानुरागजननाय हि वेष आवश्यको यथाऽऽह गोणिकापुत्रं वात्स्यायन-प्रणीते कामसूत्रे (५ अधिकरणे १अध्याये स्त्रीपुरुषशीलावस्थापनप्रकरणे)—"यं कञ्चिदुज्ज्वलं पुरुषं दृष्ट्वा स्त्री कामयते तथा पुरुषोऽपि योषितम् अपेक्षया तु न प्रवर्तते इति गोणिकापुत्रः (८ सू०) व्याख्या —स्वकीयं परकीयं वा पुरुषमुज्ज्वलं वर्णवेषाभ्यां दृष्ट्वा स्त्री कामयते सजातरागा भवति, पुरुषोऽपि योषित-मुज्ज्वलां दृष्ट्वा कामयते, अपेक्षया तु कस्यचित्कार्यस्य न प्रवर्तते द्वावपि न प्रयुज्यते, तदुभयोरप्युज्ज्वलकामित्वञ्च कार्यापेक्षत्वञ्च शीलम्, गोणिकापुत्रग्रहणं प्रावीण्यख्यापनार्थम् । तथाचाचार्यो मनुरपि—

तस्यां हि रोचमानायां, सर्वं तद्रोचते कुलम् ।
तस्यां त्वरोचमानायां तत्तु न प्ररोहति । इति
न जीर्णमलवद्वासा भवेच्च विभवे सति । इति चायम् ।

'तत्र वेषा नेपथ्य भूमिका चेत्यनर्थान्तरम्' वेशोऽपि तथैव । यतो वेशे साधुर्वेशमर्हति इति वा वेश्या भवति । वेशो वेश्यागृहमप्युच्यते । तत्र वेषा वेश्यानटचराणां वृत्तिसाधनमन्येषां तु प्रसाधनम् । अत एव वस्त्रवेषावयत ।५।१।१००। इति पाणिनिसूत्रस्य वेषेण सपादी वेष्यो नट इत्युदाहरणम् । अवाप्य शरूप इवप भूमिकाम् । १स०६९श्लो०शिशुपालवधे । स वर्णिलिङ्गी विदित इति च भारविः । तत्र वेषो यद्यपि प्रसाधनं तथापि शरीरसंरक्षणार्थत्वमपि तस्य सुस्थितमेव । तथा च चरकसंहितायां सूत्रस्थाने ५अध्याये—

काम्यं यशस्यमायुष्यमलक्ष्मीघ्नं प्रहर्षणम् ।
श्रीमत्पारिषदं शस्तं निर्मलाम्बरधारणम् ।
वृष्यं सौगन्ध्यमायुष्यं काम्यं पुष्टिबलप्रदम् ।
सौमनस्यमलक्ष्मीघ्नं गन्धमाल्यनिषेवणम्
धन्यं मङ्गल्यमायुष्यं श्रीमद् व्यसनसूदनम् ।

हर्षणं काम्यमोजस्यं रत्नाभरणधारणम् ।
मेध्यं पवित्रमायुष्यमलक्ष्मीकलिनाशनम् ।
पादयोर्मलमार्गाणां शौचाधानमभीक्ष्णशः ।
पौष्टिकं वृष्यमायुष्यं शुचिरूपविराजनम् ।
केशश्मश्रुनखादीनां कल्पनं संप्रसाधनम् ।
चक्षुष्यं स्पर्शनहितं पादयोर्व्यसनापहम् ।
बल्यं पराक्रमसुखं वृष्यं पादत्रधारणम् ।
ईतेः प्रशमनं बल्यं गुप्त्यावरणशंकरम् ।
घर्मानिलरजोऽम्बुघ्नं छत्रधारणमुच्यते ।
स्खलतः संप्रतिष्ठानं शत्रूणां च निषूदनम् ।
अवष्टम्भनमायुष्यं भयघ्नं दण्डधारणम् ।
नगरी नगरस्येव रथस्यैव रथी यथा ।
स्वशरीरस्य मेधावी कृत्येष्ववहितो भवेत्" । इति ।

अत एव शरीररक्षामपेक्ष्यैव तत्तद् देशेषु ते ते वेषाः सन्ति शीतवातातपसहाः । वस्त्रं हि शरीरस्याच्छादनरक्षार्थं पत्रमिव तरूणाम् । तदभावे हि समूला अपि ते शुष्यन्ति । अत एव देशानुकूल एव वेषो ग्राह्यो नत्वन्यदेशीयोऽनुकार्यः शरीरहितमिच्छता । तथा च लोके आभाणकः । 'यथा देशस्तथा वेष' इति । वक्ष्यते च नाट्यशास्त्रोपन्यासावसरे—

देवजातिविशेषेण देशानामपि कारयेत् ।
वेषं तथा चाभरणं क्षुरकर्म परिच्छदम् ।
अदेशजो हि वेषस्तु न शोभां जनयिष्यति ।
मेखलोरसि बन्धे च हास्यमेवोपजायते ।" इति ।

नहि हैमवतानां मारवाणाञ्चैको वेषो हितकृत् । न चान्यदीयवेषानुकारेण लोके पूजा भवति, पूजाया अवेषहेतुकत्वात् । तदुक्तम्—

'गुणाः पूजास्थानं गुणिषु न च लिङ्गं न च वयः ।'

तत्र लिङ्गं वेष एव । अत एव च सर्वेऽपि देशभेदेन वेषभेदास्तत्तद्देशीयानां श्लाघ्या एव । तत्र नैकतमस्योपहासः साधुः । किन्तु मध्यस्थलमेव वरम् । तदुक्तं नैषधीये—

क्रमेलकं निन्दति कोमलेच्छुः क्रमेलकः कण्टकलम्पटस्तम् ।
प्रीतौ तयोरिष्टभुजोः समाया मध्यस्थता नैकतरोपहासः । इति ।

तत्र वेषो नाम कृत्रिम आकारः । तस्य कृत्रिमत्वञ्च नानाक्रियानिर्वर्तितत्वात् । तथा हि वस्त्रभूषाकेशविन्यासाञ्जनाभ्यञ्जनादिक्रियाभिर्वेषो निर्वर्त्यते ।

तत्र नारीणां वेषाभिनिवेशवत्त्वान्नारीवेष एव प्रथमं निरूप्यते । तत्रापि संयुक्ताप्रोषितभर्तृकाविधवाभेदेन संक्षेपतो नारीवेषस्य त्रैविध्येऽपि प्रथमं संयुक्तावेष एव प्रदर्श्यते । भर्तुः प्रवासे मण्डनादिनिषेधात् । तत्रार्धचन्द्ररूपं शिरसि धार्यं सौवर्णं भूषणम् ।

'ये वध्वश्चद्र वहनु यक्ष्मा यन्ति जनादनु ।
पुनस्तान् यज्ञिया देवा नयन्तु यत आगता । ऋक् म०१०अ०७सू०८५। म० ३१।

भाष्यम्—वध्वश्चद्र हिरण्मयप वहन्तु ये यक्ष्मा व्याधय अनुयन्ति प्राप्नुवन्ति जनात् अस्मद्विरोधिन सकाशात्। यद्वा जनाद् यमाख्यात् तान पुनायन्तु प्रापयन्तु यज्ञिया देवा यज्ञार्हा देवा इन्द्रादय, यत आगता यस्मात्ते यक्ष्मा आगतास्तत्र तान्नयन्तु।

'चित्तिरा उपबर्हण चक्षुरा अभ्यञ्जनम्।
द्यौभूमि कोश आसीद्यदयात सूर्या पतिम्। म० १०।अ० ७ सू० ८५ म० ७।

भाष्यम्—चित्ति देवता उपबर्हणम आ आसीत, चक्षु अभ्यञ्जनम् आ आसीत्। तथाहि वृत्रस्य कनीनिका परापतन् त्रिककुन्नामपर्वते तेन त्रैककुदनाञ्जनमजातीयेन च चक्षुषी आञ्जते, तच्चक्षुरेवाञ्जनमासीदिति द्यावश्च भूमिश्च कोश आसीत् कोशस्थानीये अभूताम्। यद् यदा सूर्या स्वकीयनवभर्तार सोममयात् अगच्छत् तदवगुण्ठनाययामत। अनेन चक्षुपाररञ्जन स्त्रीणामावश्यक प्रसाधन प्रतीयते। अधर चोत्तरीयञ्च वासोयुग तासा गोभिलगृह्यसूत्र २ प्रपाठकस्य १ कण्डिकाया विवाहप्रकरण—अहतेन वसनेन पति परिदध्यात या अकृन्तन्नित्येतया ऋचा॥ १७॥ भाष्यम्—अहतेनाधौतेनाक्षुण्णत वसनेन वाससा पति कन्या दत्ता भर्ता परिदध्यात् परिधापयेत् या अकृन्तन्नित्येतया ऋचा। मन्त्रस्तु—आ

या अकृन्तन्नवयन् या अतन्वत याश्च देव्यो अन्तानभितोऽततन्थ।
तास्त्वा देव्यो जरसा सव्ययन्त्वायुष्मतीद परिधत्स्व वास॥ मन्त्रब्राह्मणम्॥१।१।५।

व्याख्या—या देव्यो द्युतिमत्य स्त्रिय इद वस्त्रमकृन्तन् कर्तिनवत्य सूत्राणि निर्मितवत्य या अवयन् ऊतवत्य या अतन्वत विस्तारितवत्य याश्च अन्तान् एतत्पटसदनान् अभित उभयपार्श्वयोरततत्य तेनुग्रथितवत्य ता देव्या दानादिगुणयुक्ता हे वधू त्वा त्वा जरसा जरान्त यावत् सव्ययन्तु परिधापयन्तु हे आयुष्मति इद वास परिधत्स्व परिधान कुरुष्व।

'परिधत्त धत्त वाससेति च प्रावृता यज्ञोपवीतिनीमभ्युदानयञ्जपेत सोमोऽददद् गन्धर्वायेति सू०। १८। तत्रव। भाष्यम्—परिधत्तेत्यनेन मन्त्रेण प्रावृता कृतोत्तरीया वध्व प्रावृताम्, यज्ञोपवीतिनीम्, * उपवीतवदित्यथ कुत स्त्रीणामुपवीतस्याभावात्। अभ्युदानयन् गृहदग्नेरभिमुखीमानयन् जपेत् सोमोऽददद् इत्येत मन्त्रम्। पूर्वसूत्रस्याहतवासोलक्षणन्तु—

ईषद्धौत नव श्वेत सदृश यन्न धारितम्।
अहत तद् विजानीयाद् देवे पित्र्ये च कर्मणि।
वृद्धहारीतस्मृति। ९।१४६।

स्त्रीपरिधाने तु श्वेतमित्यविवक्षितम्।
धारयेदय रक्तानि नारीचेत्पतिसयुता।
विधवा तु न रक्तानि कुमारी शुक्लवाससी।

इति मत्स्यपुराणात्। शुक्लवाससी इत्यनेन कुमार्या अपि अधरीयोत्तरीये गम्येते। परिधानप्रकारमाहतु शङ्खलिखितौ। "न नाभि दर्शयेत् कुल्यथूराशुल्फाभ्या वास परिदध्यात् न स्तनौ विवृतौ कुर्यात्" तत्त्वथुनेवाधरोरुक परिधेयम्। तथा च पाणिनीय सूत्रम्। आप्रपद प्राप्नोति। ५-२-८। पादस्याग्र प्रपद तदभिव्याप्नोति आप्रपदीन पट। अन्तर बहिर्योगोपसव्यानयो। १।१।३६। इति पाणिनिसूत्रा-

---

* पुराकल्प स्त्रीणा यज्ञोपवीतस्य विहितत्वात् यथाश्रुत साधु।

दनेकशाटीपरिधानमपि गम्यते। नह्यनेकशाटीपरिधान विना वहिर्योग उपपद्यते । महाभारते सभापर्वणि द्रौपदीचीरहरणावासरे——

सा कृष्यमाणा नमिताङ्गयष्टि शनैरुवाचाथ रजस्वलाऽस्मि।

एक च वासो मम मन्दबुद्धे सभा नेतु नार्हसि मामनार्य।४७१। अधरोरुकमपि शाटचन्तः परिधीयमान स्त्रीवेष, केवलं तु तदल्पवयस कुमार्या इत्येतदधरेति विशेषणाद् भाति। तदुक्तं व्याकरण-महाभाष्ये दशदाडिमादिवाक्ये। अधरोरुकमेतत्कुमार्या इति।

ततो जवेनाभिससार रोषाद् दु शासनस्तामभिगर्जमान।

दीर्घेषु नीलेष्वथ चोर्मिमत्सु जग्राह केशेषु नरेन्द्रपत्नीम्।३६९। आर्यस्त्रीणा दीर्घकेशवत्त्व वेष आसीन्नतु कर्तनेन ह्रस्वीकृता.केशा इ त्येतद्वाक्यात्प्रतिभासते। नील्या रक्ता शाटी तु स्त्रिया न धार्या ऋते पतिसमागमकालात्। तथा चाङ्गिर स्मृति.।

अत ऊर्ध्व प्रवक्ष्यामि नीलीशौचस्य वै विधिम्।
स्त्रीणां क्रीडार्थसभोगे शयनीये न दुष्यति ।१२।
स्नान दानं जपो होम. स्वाध्यायः पितृतर्पणम्।
स्पृष्ट्वा तस्य महापाप नीलीवस्त्रस्य धारणम्।१४।
नीलीरक्तं यदा वस्त्रमज्ञानेन तु धारयेत्।

अहोरात्रोषितो भूत्वा पञ्चगव्येन शुध्यति।१५। वधूदुकूलदशा हंसादिचित्रिता आसन्निति-कुमारसंभवपद्यदर्शनेनानुमीयते। तदुक्तम्।

त्वमेव तावत्प्रविचारय स्थिरं कदाचिदेते यदि योगमर्हत।

वधूदुकूलं कलहंसलक्षणं गजाजिनं शोणितविन्दुवर्षि च। कुमारसभवे पार्वतीवर्णिसंवादे वासोविन्यास-विशेषस्तु तत्तद्देशाचारदवगन्तव्य., तत्र दिङमात्र यथा काव्यमीमासाया कविरहस्यनाम्नि प्रकरणे ३ अध्याये——

आर्द्रार्द्रचन्दनकुचार्पितसूत्रहार. सीमन्तचुम्बिसिचय. स्फुटवाहुमूल ।
दूर्वाप्रकाण्डरुचिरास्वगुरूपभोगाद्, गौडाङ्गनासु चिरमेष चकास्तु वेषः।
ताडङ्कवल्गनतरङ्गितगण्डलेख, मानाभिलम्बिदरदोलिततारहारम्।
आश्रोणिगुल्फपरिमण्डलितोत्तरीय, वेष नमस्यत महोदयसुन्दरीणाम्।
आमूलतो वलितकुन्तलचारुचूड, श्चूर्णालकप्रचयलाञ्छितभालभाग ।
कक्षानिवेशनिविडीकृतनीविरेष, वेषश्चिर जयति केरलकामिनीनाम्। इति। वात्स्यायनप्रणीते कामसूत्रे ४अधिकरणे १अध्याये एकचारिणीवृत्तप्रकरणे नानाविधा सयुक्तावेषा। 'स्वेददन्तपङ्कदुर्गन्धांश्च वुध्येतेति विरागकारणम् ।२३। "वहु भूषण विविधकुसुमानुलेपन विविधरागसमुज्ज्वल वास इत्याभि-गमिको वेष ।२४। "प्रतनुश्लक्ष्णाल्पदुकूलता परिमितमाभरण सुगन्धिता नात्युल्वणमालेपन तथा शुक्लान्यन्यानि प्रयोज्यानीति वैहारिको वेष ।२५। काममूत्रे ५अधिकरणे २अध्याये अभियोगप्रकरणे—— 'तत्र मर्हाहगन्धमुत्तरीय कुसुम चात्मीय स्यादङ्गुलीयञ्च तद्धस्तात्ताम्बूलग्रहणं गोष्ठीगमनोद्यतस्य केशहस्तपुष्पयाचनम्।२१। स्त्रीणा केशपाशे पुष्पग्रथनमित प्रतीयते। कामसूत्रे ६अधिकरणे १अध्याये गम्योपावर्तनप्रकरणे——

ताम्बूलानि स्रजश्चैव संस्कृतञ्चानुलेपनम्।
आगतस्य हरेत्प्रीत्या कलागोष्ठीञ्च योजयेत्।

व्याख्या—सम्भृतमिति सर्वत्र योज्यम्। कलागोष्ठीश्चेति चकारादाख्यगोष्ठीश्च। इतो बा-ह्यान् उपात वाक्यस्य भेद प्रतीयते। कामसूत्रे ६अधिकरणे १अध्याये कान्तानुवृत्तप्रकरणे वृत्ताऽपगमे तद्व्यसने वाऽस्वास्थ्यात्ग्रहणमभोजनञ्च । १८ । नित्यमकल्याणयोग परिमितोऽभ्यवहार ।२१। व्याख्या—यत् नित्यमकल्याणयोगिनीस्याद् इत्युक्त तत्पत्यु परदेशादुपावर्तनकाले द्रष्टव्यम । परिमित इति, बहुभक्षणं प्रायशो वश्याना दोषवत्त्वात् तत्रापि स्निग्ध, न रूक्ष, ज्वरादिकारित्वात् रूक्षस्य। ।२१। कामसूत्रे ६अधिकरणे ५अध्याये लाभविशेषप्रकरणे—'सर्वाङ्गिकोऽलङ्कारयोग, गृहस्या दारम्यरचण, महार्हैर्भाण्डै परिचारकैश्च गृहपरिच्छदस्योज्ज्वलतेति रूपाजीवाना लाभातिशय ।२६। व्याख्या—सर्वाङ्गिक इति। सर्वेष्वङ्गेषु यो भवति, उदारस्येति । सस्थानत सत्कारतश्चेति। महार्हैरिति। लोहताम्रराजतै । परिचारकैरिति। यथास्व वमणा परिचरन्ति ये। गृहपरिच्छदस्येति। गृहसविधानकस्योज्ज्वलतेत्ययप्रधानाय । तद्व्ययसहिष्णोधनस्य नायकात्परिग्रहणमिति वनत। अय प्रकृष्टो लाभातिशयो रूपाजीवानामिति। उत्तमाना सत्स्वपि गुणेषु रूपमेवाजीवो यासा, रूपस्य प्रधानत्वात्। तदन्यास्तु न सन्ति। तत्र रूपस्य गुणाना पादापहान्या मध्यमाधमा । अत्र य प्रधानाथ स गणिकानाम स्त्येव ।२६। नित्य शुक्लमाच्छादनमपक्षुधमन्नपान नित्य सौगन्धिकेन ताम्बूलेन च योग सहिरण्यभागमलङ्करणमिति कुम्भदासीना लाभातिशय ।२७। व्याख्या—नित्यमिति। आच्छादन-मिति। परिधानीय प्रावरणीयञ्च सदैव शुक्लम्, अवदातत्वात् क्षुधमपनयति, सौगन्धिकेन सुगन्धि-समूहेन चतुःसमकादिना ताम्बूलेन च नित्य योग, एतत्सर्व गणिकाना रूपाजीवानाञ्चास्त्येव। विशेषमाह सहिरण्यभागमिति। सुवर्णलेशेन युक्तमित्यर्थ ।२७। कामसूत्रे ७अधिकरणे १ अध्याये सुभगकरणप्रकरणे —तगरकुष्ठतालीसपत्रकानुलेपन सुभगकरणम। ४। व्याख्या—तगरेति। तगर तु चन्दनौत्तरापथिक न नेपालभव, कुष्ठ यच्छ्वेत, तालीसपत्रक प्रतीतम्, एतैरनुलेपन शरीरस्य। ४। 'एतैरेव सुपिष्टैर्व-र्तिमालिप्याक्षतैलेन नरकपाले साधितमञ्जनञ्च। ५। व्याख्या—एतैरेवेति। वर्तिमालिप्य दुकूलमयीम् अक्षतैलेन विभीतकतैलेन। साधितमिति। नरकपाले पाचितमित्याम्नाय। कज्जल तेन स्नेहन योज्य, सुभगकरणमिति सर्वत्र योजनीयम्। ५। पुनर्नवासहदेवीसारिवाकुरण्टकोत्पलपत्रैश्च सिद्ध तैलमभ्यञ्जनम्। ६। व्याख्या—पुनर्नवेति। पुनर्नवा, सहदेवी, दण्डोत्पल, सारिवेति उत्पलसारिवा ग्राह्या, कुरण्टक प्रतीत । उत्पलपत्रमिति । यदाभ्यन्तर, न ग्राह्यम् । शेषाणा मूलम् । सिद्धमिति । तैलविधानेन पक्वम् । एतैरेव कषाय कल्कञ्च कृत्वा । तैलमिति । तिलानाम् । अभ्यञ्जन सुभगकरणम् । ६। तद्युक्ता एव स्रजश्च । ७। व्याख्या—पुनर्नवादिचूर्णयुक्ता स्रजो धारिता सुभगकरणम् ।७। पद्मोत्पलनागकेशराणा शोषिताना चूर्णं मधुघृताभ्यामवलिह्य सुभगो भवति। ८। व्याख्या—नागइति नागकेसर। पद्मादीना केसराण्येकीकृत्य सचूर्ण्य, अवलिह्येति वमनविरेचन कृत्वा, तत्रापि न तदैव सुभगो, मासादूर्ध्वंदृष्टशक्ति। सुभग इति पुस्त्वमविवक्षितम्। ८। तान्येव तगरतालीसतमालपत्रयुक्ता न्यनुलिप्य। ९। व्याख्या—पद्मादिकेसराणि तगरादियुक्तानि अनुलिप्येति। अनुलेपन कृत्वा शरीरस्य, सुभगो भवति। ९। मयूरस्याक्षितरक्षोर्वा सुवर्णेनावलिप्य दक्षिणहस्तेन धारयेदिति सुभगकरणम्।१०। व्याख्या—मयूरस्येति। यो न विशीर्णवह । तरक्षोर्वेति। यो मत्त । स हि ग्रीष्मे माद्यति। अक्षीति दक्षिण वामञ्च ग्राह्यम्, द्वयोरेव सामर्थ्यमित्याम्नाय । सुवर्णेनविलिप्येति। शुद्धसुवर्णपत्रेण पुष्ययोगेन वेष्टयित्वा। कामसूत्रे १ अधिकरणे ४अध्याये नागरकवृत्तप्रकरणे—'तत्र रात्रिशेषमनुलेपन माल्य सिक्थ-करण्डक सौगन्धिकपुटिका मातुलुङ्गत्वचस्ताम्बूलानि च स्यु । ८। व्याख्या—तत्र वेदिकाया रात्रिशेष

बौद्ध देवी तारा की कांस्य-मूर्ति
नैपाली कला
ई० १६वी—१७वी शती

—मथुरा संग्रहालय

राज्युपयुक्तवेष सिक्यकराञ्च सिक्थकसपुटिका सौगन्धिक सुगन्धद्रव्यनिवृत्त स्वेदापनोदाय तस्य पुटिका तमालादिपत्रमयी मातुलुङ्गत्वचो मुखवैरस्यापनोदाय दुष्टमारुतनिवारणायञ्च । ८ । काशीखण्डे ४ अध्याये मधुव्रताया प्रसाधन सौभाग्यवर्धनमुक्तम् । हरिद्रा कुङ्कुम चैव सिन्दूर कज्जल तथा । कूर्पासकञ्च ताम्बूल माङ्गल्याभरण शुभम् । २४ । केशसस्कारकबरीकरकर्णादिभूषणम् ॥ भर्तुरायुष्यमिच्छन्ती दूरयेन्न पतिव्रता । २५ । काव्यमीमासायाम् ५अध्याये सौरनोवेष ।

कृत कण्ठे निष्कोनहि किमुततन्वीमणिलता, कृताशीलापत्र श्रवसि, निहित कुण्डलयुचि ।

न कौशेय चित्र रमनमवदात तु वसित, समासन्नीभूतेनिधुवनविलासेवनितया । अथ तत्रैव नानाविधाङ्गरागपत्ररचनादिप्रयुक्ता नानाविधानारीवेषा । तत्रैव ६अध्याये—

नित्य त्वयिप्रचुरचित्रकपत्रभङ्गीलाटङ्कताडनविपाण्डुरगण्डलेखा ।
स्निह्यतु रत्नरशनारणनाभिराम कामार्तिनर्तितनितम्बतटास्तरुण्य ।

तत्रैव १०अध्याये—

पत्यु शिरश्च द्रकलामनेन स्पृशेति सख्यापरिहासपूर्वम् ।
सा रञ्जयित्वाचरणौ कृताशीर्माल्येन ता निर्वचन जघान । तत्रव १३ अ०
तनस्तम श्यामलपट्टकञ्चुक विपाटयन् किञ्चिदुदृश्यनान्तरा ।
निशातरुण्या स्थितवेषकुङ्कुमस्तनाभिराम शवर कलावत ।

तत्रैवाग्रे—शोकाश्रुभिवामरखण्डिताना, सिक्ता कपोलेषु विलासिनीनाम् ।

कान्तेषु कालायसमाचरन्तु, स्वत्पायुष पत्रलता बभूवु ।

पत्रलता चन्दनादिकृता पत्रपुष्पलताद्याकृतय स्तनकपोलादिषु ॥ तत्रैव मुखे वृत्तचन्दन तिलकवर्णनम् ।

शौण्डीर्येनस्व दीर्घ भुजमुत्रम्य भ्रूवधू ।
निशामस्या करोतीव शशाङ्कतिलक मुखे । तत्रवाग्रे १५अ०
आलिम्पयन्नसिकतागुरुणाभिराम रामामुखेक्षणमभाजितचन्द्रबिम्बे ।
जात पुनर्विकसनावसरोऽयमस्येत्युक्त्वा सखी कुवलय श्रवणे चकार ।

अथ तत्रव १३अ० ज्योत्स्नायामभिसारिकावेष ।

हारो वक्षसि दन्तपत्रविशद कर्णे दल कौमुद,
माला मूर्ध्नि दुकूलिनी ननुलता कर्पूरशुक्लौ स्तनौ ।
वक्त्रे चन्दनबिन्दुरिन्दुधवल बाल मृणाल करे,
वेष किं सित एष सुन्दरि शरच्चन्द्रात्त्वया शिक्षित ।

अथ तत्रैव तमिस्रायामभिसारिकावेष

मूर्तिर्नीलदुकूलिनी मृगमदै प्रत्यङ्गपत्रक्रिया
बाहू मेचकरत्नकङ्कणभृतौ कण्ठे मसारावली ।
व्यालम्बालकवल्लरीत्वमसि किं कान्ताभिसारोत्सवे,
यत्सत्य तमसा मृगाक्षि विहित वेषे तवाचार्य कम् ।

यानि नीलनिचोलिन्य तमिस्रास्वभिसारिका इति साहित्यदर्पणे । व्रज सखि कुञ्ज सतिमिरपुञ्ज शीलय नीलनिचोलम् इति गीतगोविन्दे । निचोलआगुल्फलम्बि कञ्चुकम् निचोल प्रच्छदपट इत्यमर । काव्यमीमासायामेव १५अ० शुक्लस्वक्चन्दनतिलकमधकुङ्कुमशब्दवाच्यम् ।

गुणानुरागमिश्रेण, यशसा तव सर्पता।
दिग्वधूना मुखे, जातमकस्मादर्धकुङ्कुमम्। तत्रैव१८अ०
पुंनागरोध्रप्रसवावतसा वामभ्रुव कञ्चुककुञ्चिताङ्ग्रय।
वक्त्रोल्लसत्कुङ्कुमसिक्थकाङ्का. सुगन्धतैला. कवरीर्वहन्ति।
मधूच्छिष्टं तु सिक्थकमित्यमर। अत्र सिक्थकपदेन सिक्थकाकारा पत्ररचनाकुङ्कुमकृता विवक्षिता। इदञ्च नारीविशेषणम्। तत्रैवाग्रे वासन्तिको वेषः।
पिनद्धमाहारजनाशुकाना, सीमन्तसिन्दूरजुषा वसन्ते।
स्मरीकृते प्रेयसि भक्तिभाजां, विशेषवेष', स्वदते वधूनाम्।
कर्पूरचूर्ण सहकारभङ्गस्ताम्बूलमद्रिक्रमुकोपक्लृप्तम्।
हाराश्च तारास्तनुवस्त्रमेतन्महारहस्य शिशिरक्रियाया'। इति च। अथ ग्रैष्मो वेषः।
मुक्तालताश्चन्दनपङ्कदिग्धा, मृणालहारानुसृता जलार्द्रा.।
स्रजश्च मौलौ स्मितचम्पकाना, ग्रीष्मेऽपि सोऽय शिशिरावतार।

कर्णे स्मेर शिरीष शिरसि विचकिलस्रग्लता' पाटलिन्य
कण्ठे मार्णालहारो वलयितमसिताम्भोजनालं कलाच्यो।
सामोदं चन्दजाम्भ.स्तनभुवि नयने म्लानमाञ्जिष्ठपृष्ठे,
गात्रं लोलज्जलार्द्र जयति मृगदृशा ग्रैष्मिको वेष एप।

इति च। सायकालिको वेषस्तत्रैव—
अभिनवकुशसूचिस्पर्धिकर्णे शिरीषं मरुवकपरिवारं पाटलादामकण्ठे।
स तु सरसजलार्द्रोन्मीलितः सुन्दरीणा, दिनपरिणतिजन्मा कोऽपि वेषश्चकास्ति।
मेघदूते उत्तरमेघे स्त्रीणा पौष्पी वेषरचना।
हस्ते लीलाकमलमलक वालकुन्दानुविद्धं नीता लोध्रप्रसवरजसा पाण्डुतामाननश्री।
चूडापाशे नवकुरवक चारु कर्णे शिरीषं, सीमन्ते च त्वदुपगमज यत्र नीप वधूनाम्।
विराटपर्वणि स्त्रीवेष.। यस्य ज्याघातकठिनौ, बाहू परिघसंनिभौ। स शङ्खपरिपूर्णाभ्या,शोचन्नास्ते धनञ्जयः। १९अ० १७श्लो०।
किरीटं सूर्यसंकाश यस्य मूर्धन्यशोभत।
वेणीविकृतकेशान्त. सोऽयमद्य धनञ्जय.।
भूषितं तमलकारै कुण्डलै परिहारकै।
कम्बुपाणिनमायान्तं दृष्ट्वा सीदति मे मन.। १९अ०२६।
कम्बुपदवाच्यानि शङ्खघटितवलयानीति नीलकण्ठी १३अ०विराटपर्वणि—
सत्त्वोपपन्न. पुरुषोमरोपम., श्यामो युवा वारणयूथपोपम।
आमुच्य कम्बूपरिहाटके शुभे, विमुच्य वेणीमपिनह्य कुण्डले। ११अ० ५श्लो०।
कुण्डले ताडङ्के कम्बूना शङ्खानामुपरिहाटके कनकमये वलये च परिमुच्येति नीलकण्ठी। मृच्छकटिके १अङ्के स्त्रीवेष'।
रक्ताशुक पवनलोलदशवहन्ती। २०।
प्रचलितकुण्डलघृष्टगण्डपार्श्वा। २४।

ि त्व वटीतटनिवेशिनिमुद्वहन्ती, ताराविचित्रमचिर रत्नानलापम्।२७।

त्वा मूनयिष्यति तु मायगमुद्भवोऽय, गधरा भीरु मुरगणि च नूपुराणि।३५। तत्रैव २ अङ्के—

विचलतिनूपुरयुग, छिद्यन्ते च मेखला मणिखचिता।

वत्याश्च गुन्दरतरा रत्नाङ्कुरजालप्रतिवद्धा। १९। तत्रैव ५अङ्के—

वर्षोदकमुद्गिरता श्रवणान्तविलम्बिना कदम्बेन।

एकस्तनोऽभिषिक्तो नृपमुत इव यौवराज्यस्य।।२८। अभिज्ञानशाकुन्तले १अङ्के—

ईषदीषच्चुम्बितानि भ्रमरै सुकुमारकेसरशिखानि।
अवतसयन्ति दयमाना प्रमदा शिरीषकुसुमानि।८।

तत्रैव शकुन्तलावाक्यम् मखि अनसूये, अतिपिनद्धेन वल्कलेन प्रियवदया नियन्त्रितास्मि शिथिलय तावदेतत्। तत्रैव दुष्यन्तवाक्यम्—

इयमधिकमनोज्ञा वल्कलेनापि तन्वी, किमिव न रुचिराणा मण्डन नाकृतीनाम्। १७। तत्रैव ४अङ्के—

क्षौम केनचिदिन्दुपाण्डुतरुणा माङ्गल्यमाविष्कृतम्,
निष्ठ्यूतश्चरणोपभोगसुलभो लाक्षारस केन चित्।

अन्येभ्यो वनदेवताकरतलैरापर्वभागोत्थितैर्दत्तान्याभरणानि तत्किसलयोद्भेदप्रतिद्वन्द्विभि।८।

क्षौम, क्षुमाऽलसी तस्यास्त्वचो विकारभूत वस्त्र विवाहादिमङ्गलावसरे परिधेय महाजनवेषपरिगृहीतञ्च पुराऽभूत् इदानीन्तनैस्तु पट्टकर्तृभिर्नाद्यापि तदवरुद्धम्। अवगुण्ठनमपि नारीवेषस्तत्रैव ५अङ्के—

कास्विदवगुण्ठनवती नातिपरिस्फुटशरीरलावण्या।।१३।

सीमन्तस्य वेषवेषोऽपि सीमन्तिनीति स्त्रीनाम्नैव प्रसिद्ध। अय च पुरुषसाधारण। यथा नैषधीये—

द्विफालबद्धाश्चिकुरा शिर स्थितम्।

मङ्गलसूत्र सूक्ष्मकाचमणिसूत्रयुग्म विवाहावसरे वधूकरे मस्करगणपतौ विधानपादिजाते लब्धाश्वलायनस्मृतौ चोपलभ्यते। नन्दिपुराणे सौभाग्यवतीमुद्दिश्य श्राद्धे इदानीमुपलभ्यमाना सर्वेऽपि करकणवलकट्याद्यलकारा प्रायेण दृश्यन्ते। विष्णुमार्कण्डेयपुराणे देवीमाहात्म्ये मध्यमचरित्रे २अ०स्त्रीणामलकारा—हारचूडामणिकुण्डलकटकार्धचन्द्रकेयूरनूपुरग्रैवेयकाङ्गुलीयकनागहारस्या श्रीदेव्यै प्रसाधनाय देवै दत्ता। स्त्रीणामलकारविषयेपाणिनिसूत्रमपि। कर्णललाटात्कनलकारे। ४–३–६५। कर्णिका। कर्णालकार। ललाटिका। ललाटे चन्दनतिलकम्। ललाटिकाचन्दनधूसराङ्गिका। इति कुमारसभवे। कुम्कुमि ग्रीवाभ्य दखाम्यलकारेषु। ४।२।९६। ग्रैवेयको हार। अथ प्रोषितपतिकावेषा। काशीखण्डे४अ०—

कार्यार्थं प्रोषिते क्वापि, सर्वमण्डनवर्जिता। १०। तदुक्त याज्ञवल्क्येन—

क्रीडा शरीरसस्कार, समाजोत्सवदर्शनम्।

हास्य परगृहे यान त्यजेत्प्रोषितभर्तृका। कामसूत्रे ४अधिकरणे १अध्याये प्रवासचर्याप्रकरणे—

'प्रवासे च मङ्गलमात्राभरणा देवतोपवासपरा वार्तायां स्थिता गृहानवेक्षेत।' सू० ४३। व्याख्या—मङ्गलमात्रमाभरण शङ्खवलयादिक यस्या सा। कामसूत्रे ६अधिकरणे २ अध्याये कान्तानुवृत्तप्रकरणे—'प्रोषिते मृजाऽनियमश्चालङ्कारस्य प्रतिषेध। मङ्गलन्त्वपेक्ष्यम्, एक शङ्खवलय वा धारयेत्' सू० ४४।

व्याख्या—मृजाऽनियम शरीरासस्कृति। अभिज्ञानशाकुन्तले ७ अङ्के—

'वसने परिधूसरे वसाना नियमक्षाममुखी धृतैकवेणि।

अतिनिष्करुणस्य शुद्धशीला मम दीर्घं विरहव्रतं बिभर्ति ॥२१॥ वाल्मीकीयरामायणे सुन्दरकाण्डे हनूमद्वाक्यम्—"न रामेण वियुक्ता सा स्वप्तुमर्हति भामिनी। न भोक्तु नाप्यलंकर्तुं न पानमुपसेवितुम् ॥"

अथ विधवावेषाः। काशीखण्डे ४अध्याये—

'विधवा कवरीबन्धो भर्तृबन्धाय जायते।
शिरसो वपनं तस्मात्कार्यं विधवया सदा ॥ ७४ ॥"
नचाङ्गोद्वर्तनं कार्यं स्त्रिया विधवया क्वचित्।
गन्धद्रव्यस्य संयोगो नैव कार्यस्तया पुनः ॥ ३९ ॥"
'कञ्चुकं न परीदध्याद् वासो न विकृतं न्यसेत् (वसेत्) ॥ ३ ॥"

व्याख्या—विकृतं विशेषेण कृतं चित्रमित्यर्थः। अङ्गिरस्मृतौ—'मृते भर्तरि या नारी नीलीवस्त्रं प्रधारयेत् भर्त्ता तु नरकं याति सा नारी तदनन्तरम् ॥ २१ ॥"

अथ पुरुषवेषाः।

तत्र प्रथमं बालवेषः। तत्रापि कस्यचित्परम्पराप्राप्तं पद्यम्—

'दिगम्बरं गतव्रीडं जटिलं धूलिधूसरम्।
महापुण्येन पश्यन्ति धन्याः शिवमिवार्भकम् ॥'

'बालग्रीवेव व्याघ्रनखपङ्क्तिमण्डिता' इति विन्ध्याटवीवर्णने कादम्बरी 'बालाना तु शिखा प्रोक्ता काकपक्षः शिखण्डकः' इत्यमरः। 'चलकाकपक्षकैरमात्यपुत्रैः इति रघुः।

'बालानां कपोलसमीपशिखा काकपक्षः' इति रामायणतिलके बालकाण्डे।

अथ ब्रह्मचारिवेषाः। तत्र 'पञ्चचूडाङ्गिरसो मुण्डा भृगवः एकचूडाऽन्ये' इति पारस्करगृह्यसूत्रे चूडाप्रकरणे। आपस्तम्बधर्मसूत्रे—'जटिलः' प्रथमप्रश्ने २क३१सूत्रम्। व्याख्या—जटावान् स्यात् ॥ शिखाजटो वा वापयेदितरान्' सू० ३२। एतस्यैव संग्राहिकास्मृतिः—

'मुण्डो वा जटिलो वा स्यादथवा स्यातशिखाजटः।' अथ तस्य दण्डः—

'ब्राह्मणो बैल्वपालाशौ क्षत्रियो वाटखादिरौ।
पैलवौदुम्बरौ वैश्यो दण्डानर्हन्ति धर्मतः।' मनु० २अ०श्लोक८५।
'केशान्तगो ब्राह्मणस्य दण्डः कार्यः प्रमाणतः।
ललाटसंमितो राज्ञः स्यात्तु नासान्तिको विशः ॥" ४६ ॥
'ऋजवस्ते तु सर्वे स्युरव्रणाः सौम्यदर्शनाः।
अनुद्वेगकरा नृणां सत्त्वचो नाग्निदूषिताः ॥ ४७ ॥'

आपस्ताम्बधर्मसूत्रे—'पालाशो दण्डो ब्राह्मणस्य नैयग्रोधस्कन्धजोऽवाएग्रो राजन्यस्य बादर औदुम्बरो वा वैश्यस्य, वार्क्षो दण्ड इत्यवर्णसंयोगेनैके उपदिशन्ति।' १ प्र० २क०३८सू०। पालाशदण्ड आषाढपदेनापि व्यवह्रियते। 'अथाजिनाषाढधरः प्रगल्भवाक्' इतिकुमारसंभवे। 'पार्णवैल्वाश्वत्थदण्डाः' गोभिल गृह्यसूत्रे २प्र०१०क०१०सू०। व्याख्या—पार्णः पालाशः वैल्वः आश्वत्थ इति वर्णक्रमेण दण्डाः।

अथ तस्य वस्त्राणि

'कार्ष्णरौरवबास्तानि चर्माणि ब्रह्मचारिणः।
वसीरन्नानुपूर्व्येण शाणक्षौमाविकानि च।' इति

ब्रह्मचारिप्रकरणे मनु । व्याख्या—कार्ष्णं कृष्णमृग चर्म। रुरुर्विन्दुमान्मृग, गौरमृगो वा। वस्ताज । एतच्चर्माणि वर्णक्रमेण ब्रह्मचारिणा परिधेयानि। शाण क्षौममाविकञ्च वस्त्र वर्णक्रमेण धार्यम्। आपस्तम्बधर्मसूत्रे—'हारिणमैणेय वा कृष्ण ब्राह्मणस्य' १प्र०२क०३सू०। व्याख्या—हरिणो मृग, एणी मृगी। 'रौरव राजन्यस्य'' सू०५। 'रुरुर्विन्दुमान् मृग' इति तद्वृत्तौ। 'बस्ताजिन वैश्यस्य' सू०६। 'कम्बलश्च' सू० ७। व्याख्या—प्रावरणमेव सर्वेषाम्। 'अजिन त्वेवोत्तर धारयेत्' सू० १० 'शाणक्षौमाजिनानि' सू० ४०। व्याख्या—वर्णक्रमेण परिधेयानीत्यर्थ । 'काषाय चैके वस्त्रमुपदिशन्ति' सू०४१। व्याख्या—काषाय गैरिकरक्तम्। ब्राह्मणस्येति शेष, इतरयोर्वक्ष्यमाणत्वात्। 'माञ्जिष्ठ राजन्यस्य' 'हारिद्र वैश्यस्य' ४२० ४३सू०। गोभिलगृह्यसूत्रे २प्र०१०क०—'क्षौमशाणकार्पासौर्णान्येषा वसनानि' सू०७ व्याख्या—अत्राद्यस्य वासो द्वयस्य ब्राह्मणविषयत्व वक्ष्यति विकल्पेन 'क्षौम शाण वा वसन ब्राह्मणस्य इति। 'ऐणेयरौरवाजान्यजिनानि सू०८ क्रमेणेतिशेष । अथ तस्य मेखला। आपस्तम्बधर्मसूत्रे 'मौञ्जी मेखला त्रिवृद्ब्राह्मणस्य शक्तिविषये दक्षिणावृत्तानाम्' १प्र० २क०३३सू०। व्याख्या—शक्तौ सत्या प्रदक्षिणावृत्ताना मुञ्जानामित्यर्थ । ब्राह्मणस्येति शेष । 'ज्या राजन्यस्य' ३४सू० 'मौञ्जी वाऽयोमिश्रा' ३५सू० 'आविसूत्र वैश्यस्य' ३६सू० 'सैरी तामली वत्येके' ३७सू० व्याख्या—सीरवाहोत्र रज्जु । तामलो मूलादारभ्यो वृक्षस्तस्य त्वचा ग्रथिता तामली। गोभिलगृह्यसूत्रे—'मुञ्जकाशतामल्त्या रशना' २प्र०१०क०९सू० व्याख्या—मुञ्जकाशौ प्रसिद्धौ, तम्रल शण उच्यते।

'मौञ्जी त्रिवृत् समा श्लक्ष्णा कार्या विप्रस्य मेखला।

क्षत्रियस्य तु मौर्वी ज्या वैश्यस्य शाणतान्तवी॥

मुञ्जालाभे तु कर्तव्या कुशाश्मन्तकबल्वजै । त्रिवृता ग्रन्थिनैकेन त्रिभि पञ्चभिरेव वा॥' इति मनु । वाल्मीकिरामायणे बालकाण्डे ब्रह्मचारिणि उपयुक्ता पदार्था कुशलवकृतरामायणगानावसरे चतुर्थसर्गे—

'प्रसन्नो कलश कश्चिद् ददौ ताभ्या महायशा ।
प्रीत कश्चिन्मुनिस्ताभ्या सस्मित वल्कल ददौ॥
अन्य कृष्णाजिनमदाद् यज्ञसूत्र तथापर ।
कृसीमयस्तदा प्रादात् कौपीनमपरो मुनि ॥
काषायमपरो वस्त्र चीरमन्य ददौ मुनि ।
कश्चित् कमण्डलु प्रादान्मौञ्जीमन्यो महामुनि ॥
ताभ्या ददौ तदा हृष्ट कुठारमपरो मुनि ।
जटाबन्धनमन्यस्तु काष्ठरज्जु मुदान्वित ॥'' इति।

व्याख्या—काषाय ब्रह्मचारिधार्यं कुसुम्भरक्त वस्त्रम्। चीर खण्डपटम्। जटाबन्धन काष्ठरज्जु पलाशादिमूलनिर्मितरशनाम्। उपर्युक्तानि ब्रह्मचारिधार्याणि प्रतीयन्ते। अथ ब्रह्मचारिणा वर्णक्रमेण यज्ञोपवीतानि।

'कार्पासमुपवीत स्याद्विप्रस्योर्ध्ववृत त्रिवृत्। शणसूत्रमय राज्ञो वैश्यस्याविकसौत्रिकम्' मनु २अ० ४४श्लो० हारीतस्मृतौ ६अध्याये—

'अजिन दण्डकाष्ठ च मेखला चोपवीतकम्।
धारयेदप्रमत्तश्च ब्रह्मचारी समाहित ।
छत्र चोपानह चैव गन्धमाल्यादि वर्जयेत्।'

अथ स्नातकस्य वेषाः। आश्वलायनगृह्यसूत्रे अ०३खं०८—अथैतान्युपकल्पयीत समावर्तमानो मणि कुण्डले वस्त्रयुग छत्रमुपानद्युगं दण्डं स्रजमुन्मर्दनमनुलेपनमाञ्जनमुष्णीपमित्यात्मने चाचार्याय च। वौधायनसूत्रे १प्र०३अ०—'अथ स्नातनकस्य।' १। 'अन्तर्वास्युत्तरीयवान्'। २। स्यादिति शेषः। अन्तर्वासः कटिसूत्रं तद्वान् अन्तर्वासी स चोत्तरीयवान् स्यादित्यर्थः। कटिसूत्रं गृहस्थस्यापि वाल्मीकीयरामायणे सुन्दरकाण्डे हनूमत्कर्तृकप्रसुप्तरावणवर्णनावसरे—

श्रोणीसूत्रेण महता मेचकेन सुसवृत.'। इति।

वौधायनधर्मसूत्रे तत्रैव—'वैणवं दण्डं धारयेत्'। ३। अङ्गुष्ठप्रमाणा मूर्धपरिमिता (मुखपरिमिता) यष्टिर्दण्ड.। 'सोदकञ्च कमण्डलुम्।' ४। धारयेदिति शेष.। 'द्वियज्ञोपवीती'। ५। 'उष्णीषमजिनमुत्तरीयमुपानहौ छत्रञ्चोपासनञ्च दर्शपूर्णमासौ च'। ६। 'पर्वसु च केशश्मश्रुलोमनखवापनम्।' । ७। केशाः मूर्धजा। श्मश्रु मुखजम्। लोमगुह्यप्रदेशजम्। नखाः करजादय। आपस्तम्बधर्मसूत्रे स्नातकधर्मप्रकरणे १प्रश्ने—'सर्वान् रागान्वाससि वर्जयेत्।' १०। 'कृष्णञ्च स्वाभाविकम्'। ११। अपीति शेष.। 'अनुद्भासि वासो वसीत'। १२। अनुद्भासि अनुल्वणवर्णम्। 'अप्रतिकृष्टञ्च शक्तिविषये'। १३। व्याख्या—प्रतिकृष्टं निकृष्टं जीर्णं मलवत्स्थूलञ्च तद्विपरीतमप्रतिकृष्ट तादृश वासो वसीत शक्तौ सत्याम् इतिहरदत्तीयोज्ज्वलावृत्तौ। 'दिवा च शिरस प्रावरणं वर्जयेत् मूत्रपुरीषयो. कर्म परिहाप्य'। तत्रैव। परिहाप्येत्यस्य वर्जयित्वेत्यर्थ। गृहस्थस्यापि यथायोगमेते धर्मा। अथ गृहस्थ वेषाः। आपस्तम्बधर्मसूत्रे गृहस्थधर्मप्रकरणे २प्र०—'नित्यमुत्तरं वास. कार्यम्'॥ २२। गृहस्थस्य नित्यमुत्तर वासो धार्यमित्यर्थः।

"जलतीर समासाद्य, तत्र शुक्ले च वाससी।
परिधायोत्तरीयञ्च, कुर्यात् केशान्नधूनयेत्। ३४।
न रक्तमुल्वणं वासो, न नीलञ्च प्रशस्यते।
मलाक्तं गन्धहीनञ्च, वर्जयेदम्बरं बुध। ३५। हारीतस्मृति
सदोपवीतिना भाव्यं, सदा बद्धशिखेन च।
विशिखो व्युपवीती च यत्करोति न तत्कृतम्। इत्यपि स्मर्यते।

कामसूत्रे १अधिकरणे ४अध्याये नागरकवृत्तप्रकरणे—'स प्रातरुत्थाय कृतनियतकृत्य गृहीतदन्तधावन. मात्रयाऽनुलेपन धूप स्रजमिति गृहीत्वा दत्त्वा सिक्थकमलक्तकञ्च दृष्ट्वाऽऽदर्शे मुख गृहीतमुखवास ताम्बूल. कार्याण्यनुतिष्ठेत्। १६। व्याख्या—मात्रयेति। प्रभूतानुलेपनादिग्रहणादनागरक. स्यात् कार्यानुष्ठाने प्रस्तुतत्वात्। धूपमगुर्वादिना, स्रजं शेखरकमापीड वा, अलक्तक विशिष्टरागार्थं दत्त्वेति। अर्थादोष्ठयोः। ईषदार्द्रयाऽलक्तपिण्ड्या घृष्ट.यौष्ठ ताम्बूलमुपयुज्य सिक्थगुटिकया ताडयेदित्यय क्रम। आदर्शे मुखमवलोक्य मङ्गलार्थ प्रसादगुणदोषज्ञानार्थञ्चेत्यर्थ। 'नित्य स्नान द्वितीयमुत्सादन तृतीयक फेनक. चतुर्थकमायुष्य पञ्चमकं दशमक वा प्रत्यायुष्यमित्यहीनम्। १७। व्याख्या—प्रत्यह स्नानम् ओजस्करत्वात् पवित्रत्वाच्च। द्वितीयकमिति। यस्मिन् दिवसे कृतमुत्सादनं तदनन्तरदिन प्रथमतस्माद्द्वितीयेऽह्नि शरीरदार्ढ्यार्थ स्यात्। एकान्तरितमित्यर्थ। उत्सादनमुद्वर्तनम्। तृतीयकमिति। तृतीयेऽह्निजङ्घ यो फेनको देय. स्यात्। द्विदिनान्तरित इत्यर्थ.। अन्यथा ऊर्ध्वं जङ्घे कर्कशे स्याताम्। चतुर्थकमिति। त्रि.पक्षस्य च श्मश्रुनखरोमाणि वर्धयेदित्ययमागम.। अत्र केषाचिन्नागरिकाणामुपायभेदात्कालभेद। तत्रायुष्य श्मश्रुकर्म, क्षुरेण तच्चतुर्थेऽह्नि स्यात्। दिनत्रयान्तरितमित्यर्थ। कर्तर्या तु पञ्चमकमेव स्यात्।

निवेदनम्

इत्थं विचारितो वेषो देशान्याणशाम्यया ।
परप्रणेयता यान्ति परानुकृतिरा यत ॥ १ ॥
ऐदंयुगीनो वेषस्तु, दारिद्र्यपदस्पर्शिनाम् ।
स्वेच्छामात्रप्रवृत्तत्वात् न व्यवस्थातुमर्हति ॥ २ ॥
देशो व्यवस्थितो वेष वृत्त वेष व्यवस्थितम् ।
भाषा व्यवस्थिता यपे सर्वं त्रेपे व्यवस्थितम् ॥ ३ ॥
वेषेणाद्रियते राष्ट्रे वेषेण परिभूयते ।
ददौ तनूजा हस्ये हरयाधिमहाविषम् ॥ ४ ॥
परवेषानुसारो हि परगौरवभावन ।
तस्मात्स्वस्थावरार परवेषो न सेव्यताम् ॥ ५ ॥

"प्रत्यक्ष-विमर्श:"

अनन्तरामशास्त्री

अयि गुणलोभ्याः सभ्याः।

नाविदितन्तत्रभवताम्भवतां यदत्र जलचर-स्थलचर-स्थास्नुचरिष्णु-नैकविध-प्राणि-संकुले निखिले प्रपञ्चजाते विश्वजनीन-विश्वव्यवहारविषय-वस्तुनो यथार्थतो विज्ञानं प्रमाणमन्तरा नैव संसिध्यतीति। तदुक्तमभियुक्तैः—'मानाधीना मेयसिद्धिरिति'। तत्र च सर्वप्रमाणोपजीव्यत्वात्, सर्वतैर्थिकपरिगृहीतत्वेनात्यन्तमुपादेयत्वाच्च,—प्रत्यक्षमेव प्रमाणमूर्धन्यकोटिमाटीकत इति साम्प्रतं प्रत्यक्षविषयमेवावलम्ब्य किंचिदिव लेखनीं व्यापारयामः। तत्र च घटः प्रत्यक्षः घटज्ञानं प्रत्यक्षं, इन्द्रियाणि प्रत्यक्षाणि, इतिसर्वजनीनाबाधितानुभवानुरोधेन प्रत्यक्ष-प्रमाण-प्रमेयाणां निरूपणीयतया, नास्तिकदर्शनमतानि चार्वाकबौद्धजैनाख्यानि न्यायमीमांसाद्यास्तिकसिद्धान्तांश्च पूर्वपूर्वमतेऽस्वारस्यप्रदर्शनपुरस्सरं निरस्य सकलदर्शनशिरोमणौ वेदान्तशास्त्रे प्रतिपादितं सिद्धान्तं संक्षेपतः प्रतिपादयिष्यामः।

चार्वाकमतम्—

तत्रादौ लौकायतिकमतं विविच्यते। एषां मते प्रत्यक्षमेव प्रमाणम्। तत्प्रत्यक्षं (प्रमात्मकं) द्विविधं, बाह्यमान्तरञ्च। तत्र इन्द्रियार्थसन्निकर्षजन्यं ज्ञानमाद्यम्। द्वितीयं मनोजन्यम्। अनुमित्यादिस्थले धूमेन सहेन्द्रियसन्निकर्षसत्वात् धूमस्य बाह्यं प्रत्यक्षम्। वह्नेस्तु तदभावान्न बाह्यं किन्त्वान्तरम्। प्रत्यक्षप्रमाकरणं च इन्द्रियाणि मनश्चेति।

चार्वाकमतेऽरुचिप्रदर्शनम्—

एतन्मतमसहमाना बौद्धास्तु अनुमानप्रमाणानङ्गीकारे परपुरुषवर्तिनोऽज्ञानसंशयादयः कथं ज्ञातुं शक्याः? अज्ञात्वैव शब्दप्रयोगे तु उच्चारयितुर्भ्रान्तत्वापत्तिरिति अकामेनापि अनुमान-प्रमाणमङ्गीकर्तव्यमेवेति वदन्ति।

बौद्धमतम्—

एषां मते द्वे प्रमाणे प्रत्यक्षमनुमानञ्च। तत्र प्रत्यक्षं निर्विकल्पकम्। तच्चतुर्विधम् इन्द्रियज्ञानं, मानसं, स्वसंवेदनं, योगिज्ञानञ्च। तत्र निर्विकल्पकं यथा बालमूकादीनां वस्तु-प्रथमदर्शने 'अस्ति किंचिद्वस्तु' इति प्रतीतिगोचरः लोचनादिजन्यः सकलजात्यादिकल्पनाकलापरहितः स्वलक्षणमात्रबोधः समुदेति तदेव निर्विकल्पकम्। तदुक्तं 'प्रत्यक्षं कल्पनापोढमभ्रान्तं तत्र बुद्ध्यतामिति।' शब्दसंसर्गवती प्रतीतिः कल्पना, सा अपोढा-अपगता यस्मात्। अथवा कल्पनाया अपोढं, नाम जातिगुणक्रियाद्रव्यकल्पनारहित-

मिति तदय । अभ्रान्त भ्रान्तिरहितम् । एतेन शुक्तिरजतादीना भ्रान्तिज्ञानाना निरास ।

सविकल्पकप्रत्यक्षखण्डनम्—

निर्विकल्पकानन्तर तु जाति-गुण-नामद्रव्यादिकल्पनावसरस्य समापतितत्वात सविकल्पकस्य कल्पनापोढत्वस्पनिर्विकल्पकत्वसिद्धि । तस्य प्रत्यक्षकार्यत्वेन प्रत्यक्षत्वासभवाच्च । किंच प्रत्यक्षेण हि अनधिगतार्थविषयकेण भवितव्यम् । नच तत् सविकल्पकस्य सम्भवति, तस्य निर्विकल्पकाधिगतार्थविषयकत्वात् । तस्मात सविकल्पक प्रत्यक्षमिति ।

इन्द्रियज्ञाननिरूपणम्—

ज्ञानेन्द्रिय-पञ्चकाश्रयेणोत्पन्न बाह्यरूपादिपञ्चविषयावलम्बन ज्ञानमिन्द्रियप्रत्यक्षम् ।

मानसम्—

स्वविषयानन्तर विषयसहकारिणेन्द्रियज्ञानेन समनन्तरप्रत्ययसज्ञकेन जनित मनोविज्ञान मानसम् । अस्यार्थ —स्वविषयस्य घटादेरिन्द्रियज्ञानविषयस्यानन्तरो विषयो द्वितीयक्षण, तेन सहकारिणा सह मिलित्वा, इन्द्रियज्ञानेन उपादानेन समनन्तरप्रत्ययसज्ञकेन यज्जनित त मानसम् । समनन्तरप्रत्ययविशेषणेन योगिज्ञानस्य मानसत्वप्रसङ्गो निरस्त । समनन्तरप्रत्ययशब्द स्वसमानवर्त्युपादाने ज्ञाने रूढ्या प्रसिद्ध ।

स्वसवेदननिरूपणम्—

सर्वचित्तचैत्तानामात्मसवेदन स्वसवेदनम् । चित्त वस्तुमात्रग्राहक ज्ञानम्, चित्तेर्भवाश्चैत्ता वस्तुविशेषरूपग्राहका —सुखदु खापेक्षादिलक्षणा, तेषामात्मा येन वेद्यते तत स्वसवेदनम् ।

योगिज्ञानम्—

भूतार्थभावनाप्रकर्षपर्यन्तज योगिज्ञानम् । भूतार्थ प्रमाणोपपन्नार्थ, तस्य भावना पुन पुनश्चेतसि समारोप, तस्या प्रकर्षाज्जात योगिज्ञानम् ।

एतादृशप्रमाजनक प्रत्यक्षप्रमाणम् । तच्च क्वचित् चक्षुरादि । क्वचिन्मन । क्वचित् स्वसवित्तिरित्यादीनि ।

बौद्धमतेऽरुचिप्रदर्शनम्—

एतन्मतमसहमानैर्जनै सविकल्पकमेव प्रत्यक्षमङ्गीक्रियते । निर्विकल्पकस्य प्रत्यक्षत्वाङ्गीकारे हि भ्रम-प्रमाव्यवस्था न स्यात् तद्वति तत्प्रकारकज्ञानस्यैव प्रमात्वात् । तस्य च निर्विकल्पकेऽसभवात्, तज्जनकस्य प्रमाणत्वासभवात् । उक्त च—हिताहितप्राप्तिपरिहारसमर्थ हि प्रमाण ततो ज्ञानमेव तत् निर्विकल्पकज्ञानात्प्रवृत्तिनिवृत्ती न स्याताम् । यत प्रवर्तकज्ञान हि 'इद मया कर्तव्यम्' निवर्तकञ्च 'इद मया न कर्तव्यम्' इति । निर्विकल्पके च विशेषण विशेष्यभावासभवात् हिताहितप्राप्तिपरिहारौ न भवत । तस्मात् निर्विकल्पक न प्रत्यक्षम् ।

जैनमतम्—

तच्च सविकल्पक प्रत्यक्ष (प्रमात्मक) द्विविध बाह्यमान्तरञ्च । आद्यन्तावत् इन्द्रियार्थसन्निकर्षजन्यम । द्वितीय मनोजन्यम । तदुक्तम् 'अपरोक्षतयार्थस्य ग्राहक ज्ञानमीदृशम् । प्रत्यक्षमितरज्ज्ञेय परोक्ष ग्रहणेक्षयेति । अस्यार्थ —अपरोक्षतया अनन्यान्तरस्यात्मस्वरूपस्य बाह्यस्य च घटपटादेर्वस्तुनो व्यवसायात्मकतया साक्षात्परिच्छेदकज्ञानम् । एतेन विशेषणेन कल्पनापोढत्वादिवादिना सौगताना निरास ।

ग्रहणेक्षयेतिपदस्य—ग्रहण ज्ञानात्पृथक्त्वाह्यार्थस्य यत्सवेदन, तस्येक्षयाऽपे तया अर्थस्य ग्राहक यत्तत्प्रत्यक्षम् । एतेन योगाचारादयोऽपि निरस्ता । तच्च प्रत्यक्ष मुख्य-साव्यवहारिकया, न द्विविधम् । तत्राद्य यथा—'इन्द्रियानिन्द्रियनिमित्त देशत साव्यवहारिकम् विशद प्रत्यक्षमिति स्फुभेदेऽर्थे समीचीनो-

ऽवाधित: प्रवृत्तिनिवृत्तिलक्षणो व्यवहार. संव्यवहार', स प्रयोजनमस्य प्रत्यक्षस्य तत्साव्यवहारिक प्रत्यक्षम्। मुख्यं प्रत्यक्षं तु 'सामग्रीविशेषविश्लेषिताखिलाऽऽवरणमतीन्द्रियमशेषतो मुख्यम्। इति।

जैनवार्त्तिके तु—त्रिविध प्रत्यक्षम्। ऐन्द्रियम्, अनैन्द्रियम्, योगजं चेति। उक्त हि—

प्रत्यक्षं विशदज्ञानं त्रिधेन्द्रियमनिन्द्रियम्।
योगज चेत्यवैशद्यमिदन्त्वेनावभासनम्॥ इति॥

जैनमतनिरास —

तदिदं वौद्धजैनमतं नैयायिका न सहन्ते। तेषामिदमाकूतम्—सविकल्पक हि विशेषणविशेष्यभावावगाहि भवति। तत्र विशेषण-विशेष्ययोर्ज्ञानमन्तरा विशिष्टज्ञानाऽसंभव'। घटघटत्वे इति विशेषणविशेष्ययो. पार्थक्येन यज्ज्ञान तदेव निर्विकल्पकमित्यकामेनापि जैनेन निर्विकल्पकमवश्यमङ्गीकरणीयम्। यदुक्तं निर्विकल्पकस्य हिताऽहितप्राप्तिपरिहारेत्यादिलक्षणासभवेन प्रमात्वमेव नास्तीति, तदिष्टापत्त्या परिह्रियते, निर्विकल्पकस्य भ्रम-प्रमावहिर्भूतत्वात्।

बौद्धमतनिरास —

यदपि सौगतैरुक्तं सविकल्पकस्य प्रत्यक्षत्वमेव नास्तीति। तदपि न युक्तिसहम्, तस्य प्रत्यक्षत्वे प्रतीतेरेव मानत्वात्। तस्मान्निर्विकल्पकवत् सविकल्पकमपि प्रत्यक्षमिति।

न्यायमतम्—

तच्च प्रत्यक्षं (प्रमात्मक) द्विविधम्, लौकिकम् अलौकिकञ्च। आद्यमिन्द्रियार्थसन्निकर्षजन्यं, घ्राणजादिभेदेन षड्विधम्। इन्द्रियाणि च भौतिकानि। तत्त्व च तेषामनुभवेनैव सिद्धम्। अलौकिक प्रत्यक्षं च सामान्यलक्षणाज्ञानलक्षणायोगजभेदेन त्रिविधम्। आद्य यथा धूमत्वेन सकलधूमविषयकं ज्ञानम्। द्वितीयं यथा सुरभि चन्दनमित्यत्र सौरभज्ञानम्। शुक्तिरजतज्ञानं च। योगिनाम् अतीतानागतविषयकं योगजम्। एतत्सकलविधप्रत्यक्षग्राहक तत्तदिन्द्रियादिरूप लौकिकम्, ज्ञानलक्षणादिकं चालौकिकं प्रमाणम्।

नैयायिकमतऽरुचिप्रदर्शनम्—

एतन्मतेऽप्यसंतुष्टा जैमिनीया—लौकिकालौकिकोभयविधप्रत्यक्षाङ्गीकारे प्रमाणाभाव:। ज्ञानलक्षणाजन्य सामान्यलक्षणाजन्य च न प्रत्यक्षम्, ज्ञानलक्षणासामान्यलक्षणयोरनङ्गीकारात्। योगजमपि न प्रत्यक्षम्। यत:—प्रत्यक्षत्व विद्यमानोपलम्भनत्वम्। अत्र च 'सत्सप्रयोगे पुरुषस्येन्द्रियाणा वुद्धिजन्म-तत्प्रत्यक्षमनिमित्तं विद्यमानोपलम्भनत्वात्' इति जैमिनिसूत्रस्यैव प्रमाणत्वात्। अतीतानागतविषयकयोगिप्रत्यक्षे विद्यमानोपलम्भनत्व नास्ति। तस्मात् लौकिकमेव प्रत्यक्षम्। तत्र च निर्विकल्पकस्य भ्रम-प्रमावहिर्भूतत्वम्, तद्वति तत्प्रकारकत्वरूपप्रमात्वस्य, तदभाववति तत्प्रकारकत्वरूपभ्रमत्वस्य च तत्राभावात्, इति यदुक्त तन्न युक्तिसहम्, अगृहीतग्राहित्वमेव प्रमाणत्वम्। अगृहीतग्रहणं हि प्रमा। निर्विकल्पके च अगृहीतग्रहणं जायते इति तत्र प्रमात्वं निर्विवादमेव।

मीमासकमतम्—

तत्र प्रत्यक्षं घ्राणजादिभेदेन षड्विधम्। इन्द्रियार्थसम्प्रयोगजन्य लौकिकमेव। तत्र पूर्वनिर्विकल्पक तत. सविकल्पकमिति तार्किकोक्तदिशाऽवसेयम्। सविकल्पकप्रत्यक्षे च पञ्चधा विकल्पा जातिगुणद्रव्यक्रियानामविषयका भवन्ति। ते च वौद्धमतवज्ज्ञेया.। एतन्मतेऽपि भौतिकान्येवेन्द्रियाणि। तत्त्व च नैयायिकमतवदेव ध्येयम्।

मीमांसकमतेऽरुचिप्रदर्शनम्—

एतन्मतमसहमाना कापिलास्तु अलौकिकप्रत्यक्षानङ्गीकारे इष्टसिद्धिर्दुर्लभा। तथाहि-सामान्यलक्षणाया'-प्रत्यासत्तित्वानङ्गीकारे व्यवहारविषये एकघटव्यक्तौ गवादिग्रहे सर्वव्यक्तीनामप्रत्यक्षतया सर्वत्र

गतिनिग्रहो न स्यात्। एव मुखार्थिनो नरस्य सिद्धसुखविषयकप्रवृत्त्यभावात्। असिद्धसुखस्य चाज्ञानात् तत्र प्रवृत्तिर्न स्यात्। एव अरण्यस्थदण्डादौ घटजननयोग्यत्वरूपजनकत्वस्यासिद्धि, अरण्यस्थदण्डाज्ञानात्। तस्मात् सामान्यलक्षणाप्रत्यासत्तिरावश्यकी। एव ज्ञानलक्षणाप्रत्यासत्त्यनङ्गीकारे सुरभि चन्दनम् इति ज्ञाने सौरभस्य भान न स्यात्। तदशे चक्षु सन्निकर्षाभावात्। सामान्यलक्षणया यस्यचित् सौरभस्य भानेऽपि सौरभत्वस्य भान ज्ञानलक्षणयैव। सौरभत्वस्य स्वरूपेणानुपस्थिते। तस्मात् ज्ञानलक्षणाप्रत्यासत्तिरप्यावश्यकी। एव योगजमपि। इति वदन्ति।

साख्यमतम्—

'दृष्टमनुमानमाप्तवचनञ्चे' ति साख्यकारिकोक्ते। 'प्रत्यक्षमनुमानञ्च शास्त्र च विविधागमम्। त्रय सुविदित कार्यं धर्मशुद्धिमभीप्सता ॥ इतिस्मृते। 'द्वयोरेकतरस्य वाऽप्यसन्निकृष्टार्थपरिच्छित्ति प्रमा तत्साधकतम यत् तत् त्रिविध प्रमाणमिति साख्यप्रवचनसूत्रदर्शनेन, साख्यमते त्रिविधमेव प्रमाणम्। उपमानार्थापत्त्यनुपलब्धीना पृथक्प्रमाणत्वाङ्गीकारे फलाभावो गौरवञ्च। प्रत्यक्षानुमानाभ्यामेव तदन्तर्भावसम्भव। तदुक्त सर्वप्रमाणसिद्धत्वात्' इति।

एषा मते पुरुषनिष्ठबोध एव प्रत्यक्षप्रमा। पुरुषनिष्ठबोधश्च बुद्धौ (अन्तःकरणे) चितिशक्तेः प्रतिबिम्ब तस्मिन् बुद्धिवृत्तिप्रतिबिम्बनमेव। वृत्तिप्रतिबिम्बनञ्च तत्तदिन्द्रियेण सह विषयस्य सन्निकर्षे सति विषयाकारा या अन्तःकरणवृत्तिरुपजायते तस्या चितिशक्तौ प्रतिबिम्बनमित्यर्थ। 'असन्दिग्धा विपरीतानधिगतविषया चित्तवृत्ति पौरुषेयबोधश्च फलप्रमा तत्करण प्रमाणम्' एव च वृत्ते प्रमाणमसिद्धम्। योगभाष्येऽपि 'फलमविशिष्ट पौरुषेयश्चित्तवृत्तिबोध'। इति। इन्द्रियापेक्षया च वृत्ते प्रमात्वम्। तदपेक्षया इन्द्रियाणा प्रमाणत्वव्यवहार। तत्प्रत्यक्ष द्विविधम्—ऐन्द्रियम, अनैन्द्रियञ्च। आद्य यथा साख्यप्रवचनभाष्ये 'यत्सम्बद्ध सत् तदाकारोल्लेखि विज्ञान तत् प्रत्यक्षम्' इति। द्वितीय पुनर्योगजम्। तच्च पूर्वोक्त प्रत्यक्ष निर्विकल्पकसविकल्पकभेदेन पुनर्द्विविधम्। तयोर्लक्षण तु वेदान्तिमते उपपादयिष्यते। इन्द्रियाणि चाहङ्कारिकाणि। तदुक्त 'सात्त्विक एकादशक प्रवर्तते वैकृतादहङ्कारात्' इति। प्रत्यक्षविषये तु मीमासकमतात् अस्मिन्मतेऽयमेव विशेष यत् एषा मते विषयाकारा अन्तःकरणवृत्तिर्भवति। तन्मते तु नेति।

साख्यमतेऽरुचिप्रदर्शनम्—

दार्शनिकमूर्धन्यानाम् अद्वयसिद्धान्तिना वेदान्तिना तु नैतत्सह्यम—यत साख्यमते पौरुषेयबोधो हि प्रत्यक्षप्रमा। स च अन्तःकरणनिष्ठवृत्ते पुरुषे प्रतिबिम्बनमेव। तत्तु न सभवति पुरुषस्य निर्लेपत्वाऽसम्भवात्। 'प्रकृति कर्त्री, पुरुषस्तु पुष्करपलाशवन्निर्लेप' इति तेषा सिद्धान्तात्। तस्मात् चैतन्यमात्रमेव प्रत्यक्षप्रमा। एवम् 'उपमिनोमि' इति, 'अर्थापयामि' इति च सर्वजनीनानुभवसत्त्वात्—उपमानार्थापत्त्यो प्रमाणत्वानङ्गीकारे प्रमाणाभाव। एवमेवानुपलब्धे प्रमाणान्तरत्वमेव।

वेदान्तिमतम्—

एषा मते प्रत्यक्षप्रमालक्षण चैतन्यमेव। 'यत्साक्षादपरोक्षाद् ब्रह्मे' ति श्रुते। तच्च प्रत्यक्ष जीवसाक्षि, ईश्वरसाक्षिभेदात् द्विविधम्। अन्तःकरणस्य विशेषणत्वे चैतन्यस्य जीवत्वव्यवहार। तस्योपाधित्वे तु जीवसाक्षीति व्यवहार। विशेषण च कार्यान्वयित्वे सति व्यावर्तक यत्तदेव। यथा प्रकृते च कर्तृत्वादिधर्मा-अन्तःकरणस्यैव न चैतन्यस्य। तत्र चाह करोमि, अह गच्छामि, इत्यादिप्रतीतौ कर्तृत्वादिकार्यान्वयित्वमन्तःकरणस्यैवेति तस्य विशेषणत्वम्। उपाधित्व च कार्यान्वयित्वे सति व्यावर्तकत्व सति वर्तमानत्वम्। यथा चैतन्यस्य ज्ञानरूपत्वेन विषयभासकत्वम्। एव च विषयभासकत्वरूपकार्यान्वयित्वेन

विषयभासकचैतन्योपाधित्वमन्त.करणस्येत्यर्थः। एवं मायावच्छिन्न चैतन्यं परमेश्वरः। मायोपहितं चैतन्यं चेश्वरसाक्षी। अत्रापि-पूर्ववत् मायाया विशेषणत्वोपाधित्वव्यवहार.। तदुक्त सिद्धान्तलेशे--

'कर्माध्यक्ष. सर्वभूताधिवासी साक्षी चेता केवलो निर्गुणश्च' इति।

तच्च--निर्विकल्पक-सविकल्पकभेदेन पुनर्द्विविधम्। तत्राद्य तावत् विषयित्वसंबन्धेन विद्यमानो विकल्पो विशेष्यविशेषणयो. संसर्गो यत्र ज्ञाने तत्। तदुक्तं धर्मराजाध्वरीन्द्रेण--वैशिष्ट्यावगाहि ज्ञानं सविकल्पकम् यथा घटमहं जानामीति। संसर्गानवगाहिज्ञानं च निर्विकल्पकम्। यथा सोऽयं देवदत्त.। तत्त्वमस्यादि च। पुनरपि प्रत्यक्ष द्विविधमिन्द्रियजन्य, तदजन्यञ्च। अन्त्य च सुखादिप्रत्यक्षम्। तस्य मनोजन्यत्वात्। मनसश्च इन्द्रियत्वाऽस्वीकारात्। आद्यं चाक्षुषादिप्रत्यक्षम्। इन्द्रियाणि पञ्चैव।

प्रत्यक्षप्रमाणम्--

इन्द्रियेण सह विषयस्य सन्निकर्षे सति अन्त करणपरिणामात्मिका या वृत्तिरुदेति सैव प्रत्यक्ष-प्रमाणम्। तदपेक्षया इन्द्रियाणामपि प्रमाणत्वेन व्यवहारः साख्यमतोक्तरीत्या सूपपादः। इन्द्रियापेक्षया च वृत्ते. प्रमात्वव्यवहार.। घटज्ञानं प्रत्यक्षमिति प्रतीतेरनुभवसिद्धत्वेन--घटज्ञानस्य घटाशे प्रत्यक्षत्व-प्रयोजकं नैयायिकादिमते इन्द्रियजन्यज्ञानविषयत्वमेव। तच्च न सभवति,--अनुमित्यादेरपि तत्त्वेनातिव्याप्तेः ईश्वरप्रत्यक्षेऽव्याप्तेश्च। तस्मादन्त करणवृत्त्यवच्छिन्नचैतन्यविषयावच्छिन्नचैतन्ययोरभेद एव विषयांशे। ज्ञानगतप्रत्यक्षत्वव्यवहारप्रयोजक। घटज्ञानस्य स्वाशे प्रत्यक्षत्वप्रयोजक तु चित्त्वमेव। तत्त्वमसीति-वाक्यजन्यप्रत्यभिज्ञास्थले इन्द्रियजन्यज्ञानत्वाभावेऽपि प्रत्यक्षत्वमेव। इन्द्रियजन्यज्ञानत्वस्य प्रत्यक्षत्वाप्रयोजक-त्वात्। एवधारावाहिकबुद्धिस्थलेऽपि बोध्यम्।

प्रमेयविचारः--

प्रत्यक्षप्रमा-विषयश्च-चार्वाकमते प्रत्यक्षमात्रस्यैव प्रमाणत्वेन देहादि. सर्व एव विषय। बौद्धैक-देशिमते बाह्यार्थः प्रत्यक्षविषयः। तल्लिङ्गकानुमितिविषयं ज्ञानं तु अनुमेयम्। अन्येतु बाह्यार्थनङ्गीकुर्व-न्ति। तन्मते ज्ञानं प्रत्यक्षविषयमेव तदुक्त शबरस्वामिना प्रत्यक्ष च नोबुद्धि. अतस्तदभिन्नमर्थरूप नाम न किंचिदस्तीति पश्याम.। नैयायिकमते लौकिकप्रत्यक्षे-उद्भूतरूपमहत्त्वादीना कारणत्वेन पृथिव्यादि-चतुष्टयपरमाणुद्व्यणुकाकाशादिपञ्चकस्य लौकिकप्रत्यक्षविषयता नास्ति। मीमासकमते तु--इदानी घट. आकाशे बलाका। इत्यादिप्रतीत्यनुरोधात् दिक्कालादीनामपि प्रत्यक्षविषयता। ज्ञानस्य तु ज्ञाततालिङ्गका-नुमितिगम्यता। ज्ञातता च प्रत्यक्षगम्या। साख्यमतेऽपि नैयायिकमतोक्तदिशा पदार्थाना प्रत्यक्षविषयता दार्शनिकसार्वभौमवेदान्तिमते तु त्रिविध सत्त्वं पारमार्थिक, व्यावहारिक, प्रातिभासिक च। तत्र पारमार्थिक-प्रत्यक्षविषयत्व चैतन्यस्यैव। व्यावहारिकप्रत्यक्षविषयत्वं-घटपटादीनाम्। कालस्यापि, प्रातिभासिकप्रत्यक्ष-विषयता च प्रातिभासिकाना शुक्तिरजतादीनाम्। विषयाशे प्रत्यक्षत्वव्यवहारप्रयोजकं तु अन्त करणाव-च्छिन्नचैतन्यस्य विषयावच्छिन्नचैतन्याऽभेदः। एव सक्षेपतोऽन्यमतनिरासपूर्वक वेदान्तिमत-प्रत्यक्षविचारो-ऽस्मिन्निबन्धे प्रदर्शित.।

सूचना--

अत्र प्रत्यक्षविचारेऽवश्य विचारणीयानाम्--इन्द्रियाणा प्राप्यकारित्वम्, चर्ममन संयोगस्य, त्वङ्-मन.सयोगस्य वा ज्ञानकारणत्वविचारः, प्रत्यभिज्ञाविचार, धारावाहिकबुद्धिविचारः, अन्ये च प्रासङ्गिका-विषयाः (एतेषा) विषयाणामत्रसमावेशे लेखविस्तरभयं मनसि समजनि, अतोऽत्रोपेक्षित मया। काला-न्तरे लेखान्तरे वा यथावसरं पुनरवशिष्टविषये प्रयतिष्यते। प्रकृतलेखविषये च हंसक्षीरन्यायेमनुसरन्तु विद्वत्तल्लजा, इति भूयो भूयो निवेद्य विरमामोऽस्माद् व्यापारात् इति।

भगवान् वात्स्यायनः

आनन्दझा,

कोऽसौ तत्रभवान् न्यायदर्शनापरनामधेयस्य गौतमसूत्रस्य वृहद्भाष्यकर्ता वात्स्यायन, यदीयप्रतिष्ठिततम भाष्य मूलत्वेनादाय तत्रभवता श्रीमदुद्योतकरेण विरचिता न्यायवार्तिकनाम्नी महती टीका। यदुपरि विरचिता तद्व्याचस्पतिना न्यायाचार्यश्रीमदुदयनविरचितपरिशुद्धिमूलभूता तात्पर्यटीका, इति प्रश्ने समुत्थाप्यमाने नैवविधमुत्तर समुपलभ्यते सर्वेषा समीक्षकाणामविरोधेन। तथाहि—भाष्यकर्ता वात्स्यायन परमर्षिमहर्षिगौतमानार्वाचीन इत्येक मतम। नासौ परमर्षि किन्तु वत्सगोत्रोपन्नतया वात्स्यायननामधेयवान परन्तु अर्थशास्त्रकृत, कामशास्त्रकृतश्च चाणक्यापरनामधेयादाचार्यकौटिल्याद भिन्न इत्यपर मतम्। कामशास्त्रकर्तुराचार्यात कौटिल्यादभिन्नो भाष्यकर्ता वात्स्यायन इति तृतीय मतम।

तत्र कस्य पक्षस्य युक्तत्वमिति विचारे क्रियमाणे तृतीयस्यैव पक्षस्य युक्ततेति प्रतिभाति। यत प्रथमपक्षस्य बाधकमिद दृश्यते यत मन्त्रद्रष्टॄणामेव ऋषिपदेन व्यवह्रियमाणता दृश्यते नान्येषाम। न्यायभाष्यकर्तारो वात्स्यायनपादा मन्त्रद्रष्टार आसन् इति विषये प्रमाणाभाव। यद्यपि दिनकरापरनामधेये मुक्तावलीप्रकाशे "प्रतिपादितञ्चैवमेव भाष्ये, अत एवानुमानचिन्तामणौ" इत्यादिमुक्तावलीपटक्तिव्याख्यानावसरे भाष्यस्याऽऽर्षत्वमाशङ्क्य आह अत एवेति" इत्यवतरणरूपेणोक्तम। आर्षत्व च न्यायभाष्यस्य ऋषिप्रणीतत्वादेव भवितुमर्हतीति भवति सम्भावना भाष्यकारे वात्स्यायने ऋषित्वस्य। तथाप्यवतरणात्मकस्योक्तदिनकरीग्रन्थस्य भाष्यकर्तरि ऋषित्वसम्भावनयाऽपि सङ्गतत्व तस्य ग्रन्थस्य निश्चायकता ऋषित्व न्यायभाष्यकर्तु। यदपि "बभूव वात्स्यायनगोत्रसम्भवो द्विजो जगद्गीतगुणोऽग्रणी सताम" इति कादम्बरीपद्ये वात्स्यायनस्य गोत्र वात्स्यायनगोत्रमिति व्युत्पत्त्या भाष्यकर्तुर्वात्स्यायनस्य गोत्रप्रवर्तकत्वश्रवण समुपलभ्यते। गोत्रप्रवर्तकत्व च कश्यप शाण्डिल्यादिषु महर्षिष्वेव दृष्टमिति भवति भाष्यकर्तुर्महर्षित्वमिति, तदपि वात्स्यायन च तत गोत्र च वात्स्यायनगोत्र इति कर्मधारयसमासाश्रयणेन विचार्यमाणपक्षस्यापर भवति। किञ्च वात्स्यायनस्य गोत्र वात्स्यायनगोत्रमिति षष्ठीसमासपरिग्रहेऽपि न्यायभाष्यसदृशदुरूहग्रन्थरत्नविरचयितृतया महापुरुषस्य भगवतो वात्स्यायनस्य सम्बन्धमादायाऽपि गोत्रशब्दवाच्यस्य वंशस्य प्राशस्त्य तद्दर्शनाभिप्रायेण महाकवेर्बाणस्य तथोक्तिश्च सङ्गतिमावहत्येवेति कथ तेन निर्णीत भवति भाष्यकर्तुर्महर्षित्वम् ?

यच्च न्यायवार्तिकतात्पर्यटीकाभूमिकायां "वात्स्यायनमुनिप्रणीतं गौतमसूत्राणां भाष्यम्" इति महामहोपाध्यायश्रीगङ्गाधरशास्त्रिणां लेखदर्शनात् तेन परम्परावगत मुनित्वं भाष्यकर्तुरायाति। मुनित्वं च महर्षेरेव भवितुमर्हतीति भवति भाष्यकर्तुर्महर्षित्वमिति तदपि न मनोरमतामावहति। यतः "स्थितधीर्मुनिरुच्यते" इति गीतावाक्येन स्थितधिय एव मुनित्वाऽभ्युपगम । न खलु मन्त्रद्रष्टृत्वस्वरूपमहर्षित्वस्याऽऽवश्यकता। दृश्यते च "क्रियते चित्सुखमुनिना प्रत्यक्तत्त्वप्रदीपिकाविदुषा" श्रद्धाब्नेन मुनिना मधुसूदनेन इत्यादिवाक्ये महर्षिभिन्नानामपि मुनित्वव्यपदेश । न चेदमाशङ्कनीयम् यन्महर्ष्यप्रणीतत्वे भाष्यस्य महत्त्वव्याघात इति, आचार्यशङ्कर-श्रीपतिरामानुज-माध्वादीना महर्षिभिन्नानामेव महापुरुषाणा भाष्यकृत्त्वदर्शनेन तत्कृतभाष्याणाञ्चातिसमादरणीयत्वदर्शनेन तादृशशङ्काऽनवकाशात्।

एव द्वितीय पक्षोऽपि न प्रतिभाति प्रामाणिक । यतो हि साधकप्रमाणप्राप्तेः का कथा! प्रत्युत बाधकान्येव प्रमाणानि समुपलभ्यन्ते। तानि च तृतीयमतस्थापकान्येवेत्यनुपदमेव विवेचयिष्यन्ते। तथाच—कामसूत्रकर्तुरर्थशास्त्रकर्तुश्चाभिन्न एव न्यायभाष्यकर्ता वात्स्यायन. । तथाहि अर्थशास्त्रस्य कर्ता चाणक्यापरपर्याय आचार्यकौटिल्य, कामसूत्रस्य च कर्ता आचार्यमल्लनाग । कोषे वात्स्यायन-कौटिल्य-मल्लनागप्रभृतिनाम्ना समानार्थकत्व दृश्यते। तादृशकोषवाक्यं तु,—

> वात्स्यायनो मल्लनागः कौटिल्यश्चणकात्मज.।
> दामिल. पक्षिलः स्वामी विष्णुगुप्तोऽङ्गुलश्च स. । इत्यभिधानचिन्तामणीयम्।
> विष्णुगुप्तस्तु कौण्डिन्यो चाणक्यो द्रमिलोऽङ्गुलः।
> वात्स्यायनो मल्लनागः पक्षिलः स्वामि इत्यपि ।

इति त्रिकाण्डशेपीयश्चावगन्तव्यम्। 'शक्तिग्रह व्याकरणोपमानकोशाप्तवाक्याद् व्यवहारतश्च' इत्यभियुक्तोक्तेः कोशस्यापि शक्तिग्राहकतया वात्स्यायनपदस्य चणकात्मजे कामसूत्रकर्तुर्मल्लनागादिभिन्ने शक्तेरवश्य स्वीकर्तव्यतया पक्षस्तृतीयो न कथचिदपि क्षोदक्षमतामावहति। न चानेकेषामप्येकनामदर्शनात् कोषवाक्यघटकवात्स्यायनशब्द भाष्यकर्तृवात्स्यायनभिन्नस्यैव कस्यचिद्वाचक इति वाच्यम्, व्युत्पादिते च भगवतापक्षिलस्वामिना किमपरमवशिष्यते इति तात्पर्यटीकाया वाचस्पतिमिश्रेण भाष्यकारमभिलक्ष्य पक्षिलस्वामिनाम्न प्रोक्तत्वात्, प्रोक्तकोषवाक्यद्वयेऽपि च पक्षिलस्वामिनाम्न. समुल्लेखात् त्रिकाण्डशेषीयवाक्ये कौटिल्यस्थाने कौण्डिन्य इति पाठ. प्रामादिक इति तु स्पष्टमेव प्रतिभाति।

काममूत्रकर्तृमल्लनागाभेदश्च न्यायभाष्यकारस्य प्रोक्तकोषवाक्यद्वयेन, कामसूत्रविन्यास इव मल्लनाग इति वासवदत्तान्तपातिसुबन्धूक्तया च सेत्स्यति। यत्तु भाष्यस्य प्रसन्नपदाख्यव्याख्यारचयित्रा सुदर्शनाचार्येण भाष्यकारवात्स्यायनस्योपरि कामसूत्रकृत्तया कामुकत्वस्य, नन्दनृपवंशोच्छेदकतया क्रूरत्वस्य, अर्थशास्त्रकृत्तया कुटिलहृदयत्वस्य चाक्षेप, तत्प्रणीततया च भाष्यस्य नानाऽसम्बद्धाभिधानघटितत्वाक्षेपश्च साटोप विहित स्वलिखिताया भूमिकायां स तु सीमातिशायितबोधविभवस्यैवाऽनुमापक.।

यदि कामविषयकचर्चयैव शास्त्रस्य जघन्यत्व तत्प्रतिपादकस्य च निन्दितत्व तदा "योषा वा अग्निर्गौतम? तस्या उपस्थ एव समिल्लोमानि धूमो योनिरर्चिर्यदन्त करोति, तेऽङ्गारा अभिनन्दा विस्फुलिङ्गा तस्मिन्नेतस्मिन्नग्नौ देवा रेतो जुह्वति" इति बृहदारण्यकोपनिषदि प्रतिपादनाद् उपनिषदोऽपि जघन्यत्व, तत्कर्तुश्च भगवतो निन्दितत्वमापतति। अत. सर्वथेदं स्वीकरणीयमेव यद्

विवेचने कस्यापि पदार्थस्य न कोऽपि दोष इति। कोऽपि महाविरक्तिसक्तो यदि योनिव्यापदादिरोगचिकि-त्सार्थं निर्मलहृदय पश्यति जननेन्द्रिय तर्हि स किं कामुक इति कथ्यते लोके ? अत काममूत्रकृत्त्वेऽपि न भाष्यकारस्य तत्रभवतो वात्स्यायनस्य कामुकत्वम्, तत्प्रयुक्ता भाष्यसमादरहानिर्वा, प्रत्युत तादृश सूत्रकृत्त्वादेव तस्य गौण महर्षित्वमपि प्रतिपादित लोके। यदपि नन्दनृपवशोच्छेदकतया क्रूरत्व तेन च भाष्यकारस्यासमहत्त्वमुद्घोष्यते तदपि न साधु नन्नृच्छेने। कुतश्चिदरागणात् कालविशेषे व्यक्तिविशेष मधिकृत्य यो भवति क्रूरकार्यकारी स सर्वदा क्रूरत्वमादाय तिष्ठति किम् ? एकविंशतिवार मेदिनी नि क्षत्रिया कुर्वन् भगवान्परशुराम किं विहाय दारुणकार्याणि न तेपे तपासि ? य एव जीव प्रथम बद्धस्तिष्ठति स हि किं मुक्तो न भवति ज्ञानवैराग्यैश्वर्यसम्पन्न सन् ?

तात्पर्यटीकाकृद्वाचस्पतिमिश्रकीर्तित प्रोक्तकौशाम्ब्यद्वयासनपक्षिलस्वामीति तन्नाम्ना स्पष्टमिद प्रतीयते यत् पश्चादसौ चाणक्यो मौर्यादुपरत परमदान्त सञ्जात, तदानीमेव च न्यायभाष्य रचयामास। स्वामीति सज्ञा यतो यतेर्यतिकल्पस्यैव वा सम्भवति युक्ता।

मम त्वय दृढो निश्चयो यदाचार्यश्चाणक्यो धर्मार्थकाममोक्षाख्यचतुर्विधपुरुषार्थाना प्राप्तिर्जनाना साकल्येन भवतु इत्येतदर्थ चतुर्विधपुरुषार्थप्राप्त्युपायप्रकाशकान् ग्रन्थान् रचयामास यत्र धर्मार्थयोर्घनिष्ठसम्बन्धात् उभयप्रतिपादकमेकमर्थशास्त्र, कामप्रतिपादक कामशास्त्र, मोक्षोपायप्रकाशक च वात्स्यायनभाष्य विरचितवान्। अधर्माचरणे दण्डस्य प्रायश्चित्तस्य च विधानव्यवस्थापनात् अर्थशास्त्रस्य तदीयस्योभयप्रकाशकत्व स्फुटमेव । धर्मार्थयोर्घनिष्ठसम्बन्धस्तत्त्वतोऽपि बुध्यते यतो मनु-याज्ञवल्क्यादिरचितमवलम्ब्य धर्मशास्त्र राजनीतिसमाविष्टो दृश्यते। कथमन्यथा दण्डविचारो दायविचारो वा तत्तद्धर्मशास्त्रे स्थानमाप्नुयात्।

अतो मौर्यचन्द्रगुप्तसचिवो विद्याम्बुराशायितमानसो अत्रभवान् चाणक्य एव न्यायभाष्यकर्ता वात्स्यायन । यदपि भाष्यलेखशैली कौटिल्यार्थशास्त्र-कामसूत्रलेखशैलीतो भिन्नेति न त्रयाणा ग्रन्थानामेक कर्तेति कथन, तदपि न सन्तोषयति हृदयम्। यतो भाष्ये तत्र तत्र स्वपदवर्णनार्थं सूत्रानुरूपसक्षिप्त-भाषया तत्तदर्थापयामो भाष्यकारस्यास्य सूत्रकृत्त्व स्पष्टयत्येव ।

अर्थशास्त्रान्तर्गतविद्योद्देशप्रकरणपरिपठितस्य—

प्रदीप सर्वविद्यानामुपाय सर्वकर्मणाम्।
आश्रय सर्वधर्माणा शश्वदान्वीक्षिकी मता

इति पद्यस्यैव—

प्रदीप सर्वविद्यानामुपाय सर्वकर्मणाम्।
आश्रय सर्वधर्माणा विद्योद्देशे प्रकीर्तिता ॥

इत्येव रूपेणोपन्यास विद्योद्देशे प्रकीर्तिता इत्यनेन कृता अर्थशास्त्रान्तर्गतविद्योद्देशप्रकरणचर्चा, विद्योद्देशे प्रकीर्तिता इत्येतद्घटकप्रकीर्तितेति क्रियापदबलादध्याहृत "मया" इति तृतीयान्तपद च पुष्णाति न्यायभाष्यकर्तुश्चाणक्यादभेद वात्स्यायनस्य। यदि च प्रकीर्तितेति क्रियापदेन "कौटिल्येन" इत्येव

तृतीयान्तपदमध्याहार्य तदाऽर्थशास्त्रकर्तुश्चाणक्यात् न्यायभाष्यकर्ता वात्स्यायनोऽर्वाचीनतां गच्छतीति पूर्वप्रदर्शितकोशवाक्यद्वयमाकुलं भवति सर्वथा।

यद्यपि अस्माकमन्यतमगुरुवरैर्महामहोपाध्यायफणिभूषणतर्कवागीशमहाशयैः स्वकीयन्यायपरिचयाख्य-वङ्गभाषामयग्रन्थभूमिकायां न्यायभाष्यकर्ता वात्स्यायनश्चाणक्याद् भिन्न एवेति संक्षेपेणोक्तम्, तथापि विचार्यमाणे तत्त्वे न तन्मनसे रोचते। मन्ये सुदर्शनाचार्याक्षिप्तकामुकत्वादिदोषनिरासायैव गुरुचरणैरेव प्रतिपादितम्। परन्तूक्तदिशा विचारे क्रियमाणे तदाक्षेपस्यावसर एव नास्तीति कृतं तद्भिया भाष्यकर्तु-र्वात्स्यायनस्य चाणक्यभिन्नत्वप्रतिपादनेन। तथा च—सर्वथेदं सिद्धं, यदाचार्यकौटिल्य एव भाष्यकर्ता वात्स्यायन इति।

भूसुरोऽसौ किंदेशजन्मेत्यत्रापि विद्यते विप्रतिपत्तिः। कश्चिद्वदति पञ्चाम्बुनदीयोऽसावासीत्। कश्चिद् अभिधानचिन्तामणीयप्रोक्तपद्यस्य द्रामिलस्थाने द्राविड इति पाठं प्रकल्प्य दाक्षिणात्योऽसाविति वदति। बहवस्तु मगधराज्यानतिदूरवर्तिनैयायिकाकरभूतमिथिलाप्रसूतो, मैथिलब्राह्मणोऽसाविति वदन्ति। अत्रापि विचारे विधीयमाने तृतीय एव पक्षः स्थैर्यमावहति। प्रथमपक्षे तु किमपि मानमेव नावलोक्यत इति, तस्य पञ्चनदीयत्वव्यवस्थापनाग्रहो 'मुखमस्तीति वक्तव्यं दशहस्ता हरीतकी' इति न्यायमेवानुधावति। द्वितीयपक्षेऽपि न किमपि वास्तविकं मानमुपलभ्यते। यदप्युपस्थाप्यते मानत्वेन तदपि मानाऽऽभासतामेव व्रजति। किमत्र मानं यद् द्रामिल इतिकोषोक्तिर्भ्रान्तिमूला तत्स्थाने द्राविड इति पाठो वास्तविक इति?

यदपि स्वामीत्युपाधेर्दक्षिणदेश एव प्रचारात् भाष्यकारस्य च पक्षिलस्वामीति नामोपलब्धेस्तस्य दाक्षिणात्यत्वमिति, तदपि त्यागित्वमूलकतदुपाधिसम्भावनया निर्णयकथाऽतीतमेव प्रतिभाति। न हि कुप्पुस्वामि-चिन्नस्वामीतिवत् स्वरूपानन्दस्वामीत्यत्रापि स्वामिपदस्य श्रूयमाणतया स्वरूपानन्दस्वामिनोऽपि भवति दाक्षिणात्यत्वम्। स्वामिपदप्रवृत्ति-निवृत्तिनिमित्तभूतस्त्यागस्तु तस्य इतिहासादिप्रसिद्ध एव। यो मौर्यसम्राजश्चन्द्रगुप्तात् प्राप्ताः दीनारापरनामधेयस्वर्णमुद्राः दीनेभ्य एव वितरेत् कस्ततोऽधिकत्यागी वक्तुं शक्यते कैरपि। अथवा मौर्यराज्यसाचिव्यासनासीनोऽपि सर्वदा सर्वथा चाप्रतिहताज्ञत्वात् स्वामीति व्यपदेश-मुपागतः। राजनि स्वामिपदस्य लोकेऽतिप्रसिद्धेः। पक्षिण.—स्वपक्षाश्रिता. लसन्ति यस्मात्, अथवा पक्षिषु—स्वपक्षाश्रितेषु लसति, किंवा पक्षः—सन्दिग्धसाध्यवान् अस्य हेतोः अस्तीति पक्षी, 'संदिग्धसाध्यवद्वृत्तिहेतु.' तं लाति कृन्तति अर्थात् निश्चितसाध्यवद्वृत्तिनं करोतीति विविधव्याख्यया आचार्यवर्यचाणक्यस्य पक्षिलत्वमपि साध्वेव सम्पद्यते इति।

तथा च—मैथिलोऽसौ न्यायभाष्यकर्ता चाणक्यापरनामा वात्स्यायन इत्येव परिशेषसिद्धिमुपयाति। परिशेषञ्चेतोऽप्यवसीयते यत् यद्यसौ भवेद्दाक्षिणात्य. पञ्चाम्बुनदीयो वा न कथमप्यतिविप्रकृष्टमगधदेश-मागत्य तादृशीं लोकरुचिं समुत्पादयितुमर्हेत् येन बद्धमूलनन्दमहासाम्राज्योच्छेदनक्षमतामुपेयात्। किञ्चा-यमितिहाससाक्षिको विषयो यत् कुरूप. काणश्चासौ चाणक्यो नन्दनृपप्राङ्गणविधीयमानब्राह्मणभोजने प्राप्तनिकारोऽतिविकारमागत्य नन्दराज्योच्छेदं चकारेति। एवं च सूक्ष्मेक्षिकया समीक्षणीयमेतत् यद् दूराद्दूरात् पञ्चाम्बुनदात् दक्षिणदेशाद्वा कः समागच्छेद् भोजनार्थम्? आगत्य वा प्राप्तनिकारसहस्रोऽपि किं तत्र कर्तुं शक्नुयादत्यन्तापरिचिते प्रदेशे?

पक्षेऽस्मिंस्तृतीये सर्वाधिकतरवर्ती युक्तिरियं यत् मिथिलायां यदद्यापि वृद्धस्त्रीपुरुषसाधारणी ख्यातिश्चाणक्यस्य दृश्यते, न तथाऽन्यप्रदेशे। ग्राम्या मूढमूढा अपि मैथिलललना या 'चानक' इत्यपभ्रंशेन चाणक्यं न व्याहरन्ति। चाणक्यस्य ख्यातिरीदृशी व्याप्तिमुपगता तत्र, यत्तत्रत्या मूढा अपि रमण्यः 'ई चानक थीक' इत्यादिरूपेण नीतिमपि चाणक्यापभ्रंशभूतेन 'चानक' इति शब्देन व्याजहृ व्याहरन्ति च।

न्यायभाष्याद्यनेकशास्त्रसूत्रसंक्षेपशैलीनिक्षेपेऽपि तत्पक्षस्तृतीय एव पक्षः सर्वथा स्थिरता-मुपगच्छति। महता मैथिलपण्डितानां लेखस्यासमसाधारण स्वभावो यद् गम्भीरबहुलार्थत्वेऽपि शब्द-संक्षेपमूलकं काठिन्यम्। यन्निदानं तु शङ्कराचार्यभगवत्पादादनितरवर्तिनां उदयन-श्रीवल्लभादीनां कुसुमा-ञ्जलि-न्यायलीलावत्यादिग्रन्थेषु। न्यायभाष्यादिष्वपि शब्दसंक्षेपमूलकं तादृक्काठिन्यं दृश्यते एवेति सर्वथा स्थिरतामुपगच्छत्ययं तृतीयः पक्षः। भाष्यकर्तुर्वात्स्यायनस्यास्य स्थितिसमयश्च स्कन्द विष्णुपुराणा-द्यालोचनेनैव प्रतिभाति यद् ईसवीयवर्षारम्भात् सहस्रद्वयाब्दपूर्वमवातरदिदम्भवान् न्यायभाष्यकर्ता वात्स्यायन इति कृतमधिकेन।

स्वतन्त्रभारते प्राचीनार्य्यमर्य्यादा ।

गोपालशास्त्री

(टि०—अत्र विवादग्रस्तविषयाणां कृते प्रत्युत्तरदायित्वभारो लेखके एव—सम्पादक)

"एतद्देशप्रसूतस्य सकाशादग्रजन्मन ।
स्वं स्वं चरित्र शिक्षरेन् पृथिव्या सर्वमानवाः।"

उपर्य्युक्तमनुस्मृतिश्लोकेन तु स्पष्टमेवेदं प्रतीयते यद् भारतीया आर्य्या कदाचित् समग्रस्यैव विश्वस्य गुरवो भूत्वा जगद्गुरुपदासीना सर्वमानवशिक्षका आसन्निति। इत्यत एव प्राचीना आर्य्या विशालहृदया दीर्घदर्शिनो दैवी सम्पत्तिं समाश्रिता इन्द्रियारामवहिर्मुखास्त्यागवृत्तयो वीरभावापन्नाः शासकप्रकृतय एवासन्निति।

तस्मिन् काले सत्यमेवार्य्या आर्य्या एवासन्। न कोऽपि दोषस्तेषु अन्वेषणतोऽपि तदानीमुपालभ्यत। यदि कुत्रापि कुतोऽपि कियानणुमात्रेणापि दोषलेशो गुप्तोऽगुप्तो वा दृष्टिपथमायाति स्म, तदा तदा झटित्येव तदानीमार्यस्यस्तस्य दोषलेशतः पुंसो जातिवहिष्कारो धर्मवहिष्कारोऽथवा देशवहिष्कार एवान्ततो भवति स्म। इय बहिष्कारप्रथा आर्य्येषु क्रमश एवं बद्धमूला समजनि, यद् उत्तरोत्तर जातिधर्मसमाजदेशवहिष्कृतानामेवार्य्याणां भूयसी सख्या देशदेशान्तरे द्वीपद्वीपान्तरे च प्रसृता। तत्र च ब्राह्मणाः सम्पर्कशून्यतया आर्य्याचारवहिष्कृता विस्मृतस्वकुलजातिधर्मसमाजाचार । शनै शनैर्व्रात्यतां सम्पन्नास्ते म्लेच्छा एव सञ्जाताः। यथोक्तम् मनुनापि—

"तपोबीजप्रभावैस्तु ते गच्छन्ति युगे युगे
उत्कर्ष चापकर्ष च मनुष्येष्विह जन्मतः।
पौण्ड्रकाश्चौण्ड्रद्रविडाः काम्बोजा यवनाः शकाः।
पारदाः पल्लवाश्चीनाः किराता दरदाः खशा.॥
शनकैस्तु क्रियालोपादिमाः क्षत्रियजातयः।
वृषलत्वं गता लोके ब्राह्मणादर्शनेन च॥"

भारतीयार्य्याणामितो भारताज्जाति-धर्म-देश-वहिष्कारेण, व्यापारादिनिमित्तेन च द्वीपान्तरे देशान्तरे च प्रवेशः सर्वत्रैव संस्कृतपुस्तकेषु शतपथब्राह्मणादारभ्य रामायणमहाभारतेतिहासग्रन्थेषु

अनश्चाधुनाऽप्यस्माव शुद्धिर्देशकालात्मवेदिनो स्वतन्त्रभारतीयार्य्यमर्य्यादानुकूला यदि स्यात्तर्हि वहुसिद्ध स्यादार्य्यसमाजस्य, नितरा हित स्याद् हिदुसमाजस्य । डा० भगवद्दासैर्मानवधर्मसाराग्नाम्नि स्वरचितग्रन्थे साधूक्त विद्यते यत्—

मिशा चेन्मुण्डिता सूत्र त्रोटित च वलादपि ।
अभक्ष्य वाऽप्यपेय वा खादित पायित वलात् ॥
हिन्दुत्व वा कथ नष्टमामूल तावतैव हि ।
जन्मना मानवत्व यत्तत्तु नैवापनीयते ॥
वर्णस्तदा कथ गच्छेदिति वुद्धया विचार्य्यताम् ।
केनापि कारणेनैव सोऽपनेयो भवेद्यदि ॥
न कथ प्रत्युपानेयो भवेत्स प्रतिकारणै ।
सूत्रभङ्गेन भज्येत शिखाया मुण्डनेन च ॥
अभक्ष्यपेयपानेन यदि वा तत्कथ पुन ।
नवसूत्रपरिधानैनवकेशविवर्द्धनै ॥
रेचनेन विरकेण सन्धीयेत कथ नहि ।

कि वहुना, सम्प्रति स्वतन्त्रेऽस्मिन् भारते वालवुद्धिविडम्वनामिमा विहाय वद्धपरिकरै सर्वैरेव विद्वद्वरैय स्तथा हिदुसमाज सस्वतन्त्र यथा कोऽप्येकोऽपि हिन्दुर्विधर्मा न भवेत्, तथा विधर्मीभूता मोहम्मदीया सृष्टाश्च पुनर्हिन्दुसमाजे समाविष्टा स्युर्येन पुनरपि पूर्ववद् भारते आर्य्याणामेव शत प्रतिशत सख्या स्यात्। पूर्वमिह भारते स्वतन्त्रावस्थाया ये केऽपि वैदेशिका आगच्छन्ति स्म ते सर्वेऽपि लवणसम्पर्केण लवणवत्, भारतीयार्य्यसम्पर्क समागत्य भारतीया आर्य्या एव भवन्ति स्म । तथैवाधुनापि स्वतन्त्रे भारते इहस्थानामार्य्यकुलादेव कतिपयवर्षत पूर्वमनार्य्यता गताना विधर्मणान्तु कथैव का वैदेशिका अपि सर्वथा सहस्रवर्षतोऽनार्य्यता गता विधर्माणोऽप्यार्य्यता गत्वा चातुर्वर्ण्यचातुराश्रम्यमर्य्यादापालका भवेयुरिति। इत्थ हि पूर्व स्वतन्त्रभारतेऽनार्य्याणामार्य्यीकरणप्रथा प्रसृता आसीत् । पश्यन्तु मानवधर्मसारे तथैवेतिहासिक सक्षिप्तमितिवृत्तम्—

'शिवसिहो महाराजो महोत्साहो महावल ।
शिवाजीत्येव नाम्ना य सर्वत्र प्रथितो भुवि ।
स निम्वकरनामान स्वीय सेनाधिकारिणम् ।
युद्धेषु मुस्लीमीभूत पुनरावर्त्य हिदुताम् ।
जाताबोधनाथ वै स्वा सुतामुदवाहयत्
पश्चात्तजोग्राजश्च तन्नीतेरनुसारिण
सर्वान वै मुस्लीमीभूतान ख्रीष्टीयानपि मानवान्
हिन्दुधर्मे समानिन्यु शुद्धिसस्कारपूर्वकम् ।
रणवीरोऽपि नृपतिरिमा नीतिमुपाग्रहीत् ।"
वहवो ह्येवमावृत्ता हिन्दवो हिदुता पुन
साऽनुमार्य्योत्तमा नीति पुनरस्माभिरद्य वै ।"

महायान बौद्ध देवता सिहनाद लोकेश्वर
उत्तर मध्यकाल (ई० १२वीं शती)
चंदेल कला
महोबा से प्राप्त
—लखनऊ संग्रहालय

इत्यादीनि पुराणेतिहासापाख्यानानि तत्र मानवधर्मसारग्रन्थे निबद्धानि। स ग्रन्थोऽधुना सर्वैरेव सम्प्रतम, द्रष्टव्य। इत्येवमाख्यमर्यादाया प्रणवोच्चारणप्रकारमभिधायाहमपि विरमामि। अन्ते च सर्वानेव भारतीया-निवेदयामि यत्ते स्वनामभाग्लेऽधुना बद्धपरिकरा भूत्वा स्वीया पुरातनी प्रथा पुनरपि प्रचारयन्तु सवानेव विधर्मिण सम्प्रत्य कृण्वन्तो विश्वमार्यमिति वैदिक सिद्धान्त सफलयन्तो भारत पुनरार्यमार्यैवप्रसतिमनुप-लभ्यमानविधर्माण विधाय—

> यस्येमे हिमवन्तो महित्वा यस्य समुद्र रसया सहाहु।
> यस्येमा प्रदिशो यस्य बाहू कस्मै देवाय हविषा विधेम॥

इतिभारतीयर्धमात्मने परेशाय स्तवमुद्गिरन्विरमानि।
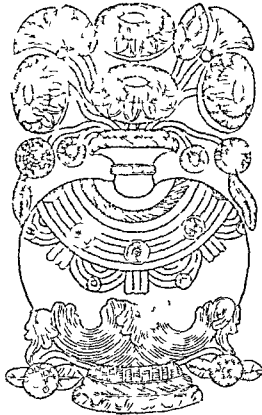
भारतीयसंस्कृतेः परिरक्षणम्

पट्टाभिरामशास्त्री

किं ब्रूमो वयमस्माकं पचेलिमा भागधेयपरम्पराम्—यदद्य वयं सुबहोः कालादनन्तरं केनापि दैवविशेषेण, अथवा भारतीयसन्नायकानां दृढतरोद्यमविशेषेण पारतन्त्र्यपिशाचादुन्मुक्ताः प्राज्यं स्वातन्त्र्य-सुखमनुभवाम.। स्वातन्त्र्यं हि नाम नोच्छृङ्खलता, न वा यथेच्छाचारिता, किन्तु स्वस्वतन्त्रेषु (कर्त-व्येषु) यथावद्वर्तनम्। तत्तद्देशप्रसूतस्य राज्ञो नायकस्य वा स्वभावसिद्धोऽयं गुणः—यत् स्वराष्ट्रस्य देशस्य समाजस्य च सम्यक्परिष्करणम्, यस्मै च परिष्काराय देशान्तरस्था अपि सर्वात्मना स्पृहयेयुरिति। तदिदमेव पवित्रं कार्यं सम्पादयितुं भारतीया अस्माकं सन्नायका शासनसूत्रं हस्ते परिगृह्य समनोयोगं प्रयतन्त इति नितरां प्रमोदस्थानमस्माकम्। अधुना भारतशासकानां पुरतः संख्यातीताः प्रश्ना एकदैव समुपस्थिताः, ये चात्यन्तं दुस्समाधेयाः। तथाहि—यवनानां हिन्दूनाञ्च परस्परं विश्वाससमुत्पादनम्, स्थानान्तरित-व्यक्तीनां भारते यथायोगं समावेशनम्, एभिस्तत्र तत्र बलात्परित्यक्तानां प्रभूतानां धनराशीनां पुनर-पि तत्स्वायत्तीकरणम्, अन्नस्य वस्त्रस्य च यथायथं वितरणम्, प्रभूतस्यान्नराशेस्समुत्पादनम्, आढ्यैस्तत्र तत्र क्रियमाणस्य दुर्व्यवहारस्य निरोधनम्, प्राप्तेऽवसरे शत्रूणां कदनाय विविधानामाधुनिकशस्त्राणां समुत्पादनञ्चेत्यादीनि नैकविधानि कार्याण्येकदैव समुपस्थितानि। इमानि च कार्याणि सत्यमेवास्माकं दृढतराणामपि शासकानां चेतांसि विकम्पयन्ति। इतोऽपि महदेकं सर्वापेक्षयात्यावश्यकञ्च कर्म समुप-स्थितं वर्तते—यद् भारतीयसंस्कृतिपरिरक्षणं नाम।

समाजान्तर्गता मानवाः क्रमशो यया विकासमाप्नुवानाश्शुभेषु कार्येषु लोकहितेषु प्रवर्तेरन्, यया च मानवानां मानवत्वं व्यवस्थितं भवेत् सैव नाम संस्कृतिशब्देन व्यवह्रियते। सर्वोऽपि हि मानवः दृढतरां संस्कृतिमेवावलम्ब्य समत्वबुद्धिं व्यापकत्वञ्चाधिगत्य 'वसुधैव कुटुम्बकम्' इति पाठं शिक्षयति। अत एव जन्तूनां नरजन्म दुर्लभम्' 'न मानवाच्छ्रेष्ठतरं हि किञ्चित्' इत्यादयो वादास्सम्प्रवृत्ताः। संस्कृतेरुपादेयत्वमधिकृत्य किं ब्रवीम्यहम्—संस्कृतिरियं मानवेषु परस्परं प्रेम्णा वर्तनं शिक्षयति, भेदेन वर्तमानानामभेदं बोधयति, नीचकर्मभ्यो मानवान् निवर्त्योच्चकर्मसु प्रवर्तयति, नैकविधैः क्लेशैरुच्चावचं परिभूयमानान् तेभ्यस्समुद्धर्तुं मनः प्रेरयति, हिंसकांश्चाहिंसायां समाकर्षति, दुष्टांश्च शिष्टान् विदधाति अतस्संस्कृतेरुपादेयत्वे न कोऽपि सन्दिहीत।

कस्यापि राष्ट्रस्य समाजस्य वा समुन्नतये स्वसंस्कृतिपरिरक्षणमेव मुख्यं साधनम्। इदमेव च स्वस्वातन्त्र्यपरिरक्षणाय प्रबलं शस्त्रम्। यदि कश्चन राष्ट्रस्य नेता, स्वसंस्कृतिं समेधयितुं बद्धादरः स्यात्, तर्हि स्वयं स शासनकर्मणि साफल्यमवश्यमवाप्नुयात्। यश्च समाजः स्वसंस्कृतावभिमानमादध्यात् स कदापि पारतन्त्र्यं नानुभवेत्। प्रबलेन सेनाबलेन वैज्ञानिकदृशा उच्चावचमाविष्कृतैः शस्त्रजालैस्समेतेन, सुसज्जितेन वा पराजिताः स्मः, पुनरपि सुसमयमवाप्य ततोऽपि प्रबलतरैः शस्त्रैस्समेतः कालान्तरेऽस्मान् विजेष्यत इत्यत्र स्यादवकाशः। यदि वयं तमेव, प्रलोभनीयेन स्वसंस्कृतिशस्त्रेणाध्यात्मिकशक्तिसंवलितेन पराजयेम, तर्हि स कदापि पुनरस्मान् न प्रभवेत्।

यद्यपि कठिनतरोऽयं प्रश्नः दुस्समाधेयश्च। यतो बाल्यादारभ्यैव वैदेशिकशिक्षाशिक्षिता वयं भारतीयाः। वैदेशिकानामाक्रमणेन स्वसंस्कृतिर्विस्मृता अस्माभिः। तेषामेव संस्कृतिरस्मासु दृढमूला वर्तते। तयैव संस्कृत्या कालं यापयितुं समुत्सुकास्स्मो वयम्, तथापीदं तावदस्माभिर्निर्देष्टव्यम्—यद्वैदेशिका अपि भारतीयायसंस्कृत्यै स्पृहयालवो वर्तन्त इति। तत्र किं कारणम्? मन्त्रद्रष्टॄणां चिरन्तनानां महर्षीणां महतायासेनाविष्कृतानि तत्त्वानि विज्ञानानि, योगशास्त्रया निरूपितानि च पदार्थजातानि भारतीयसंस्कृतिकल्पतरोर्मूलेषु पूर्वजैस्समावेशितानि, यानि कदापि स्वरूपं न परित्यजन्ति। कल्पतरोरस्य पत्राणि काम पुष्पाणि शाखाः स्कन्धाश्च विशीर्णाः, मूलं परमद्यापि दृढतरमेव वर्तते। अस्माकं सन्नेतॄणां हस्तजलसेचनमेव प्रतीक्षते।

नानादेशभेदेन संस्कृतिरियं वस्तुतः प्रभिन्ना। अस्माकं प्राचीनैरार्यैः प्रवर्तितेयमतितरां भारती संस्कृतिः सात्त्विकीमाधिभौतिकीमाध्यात्मिकीञ्च शक्तिं परिवर्द्धयन्ती चतुर्विधपुरुषार्थेषु प्राधान्येन प्रथमस्य तुरीयस्य च सम्पादिका। 'विषया उपतिष्ठन्तां विपर्ययैर्वा समवयन्तु करणानि। आन्तरमेकं करणं शान्तं यदि वा ततश्चिन्ता॥' इति रीत्या मानवान् विषयोपभोगेभ्यो निवर्तयति, समाजपरिष्करणाय सामाजिकान् प्रवर्तयति शरीरेन्द्रियादिभ्योऽतिरिक्तमात्मानमवबोधयति, जगति सतीष्वपि वर्णव्यवस्थासु नाना विद्यासु च सम्प्रदायपरम्परासु शुनि चैव श्वपाके च पण्डितास्समदर्शिनः। "त्यक्तव्यो ममकारः त्यक्तुं यदि शक्यते नासौ। कर्तव्यो ममकारः किं तु स सर्वत्र कर्तव्यः"॥ इत्येवंरूपेण मानवेषु वैषम्यमपाकृत्य समतामुपदिशति। एवं निवृत्तिमार्गं समुपदिशत्यस्माकं भारतीया संस्कृतिः, तेषु तेषु देशसमाजोन्नत्योपयिकेषु कर्मसु विशेषेण श्रद्धां समुत्पाद्य मानवान् प्रवर्तयन्ती नानाभक्तिकर्मणा समन्वयरूपेण विलसतीत्यहो भाग्यमस्माकम्।

संस्कृतेरस्याः प्रसाराय सन्ति बहूनि कारणानि—कला भाषा, साहित्यं शिक्षा चेत्यादीनि। तत्र च प्राधान्यं कलाया एव स्वीकर्तव्यम्। मानवानां समाजेषु पवित्रभावनानां सञ्चारः कलयैव भवन्तीत्यत्र सन्ति बहून्युदाहरणानि। भरतनाट्यशास्त्रे विमृश्यमाने स्पष्टमिदं प्रतीयते कियन्माहात्म्यं कलाया इति। तत्र प्रतिपादितानां मूर्तिचित्रकाव्यसङ्गीतनृत्यरूपेण प्रभिन्नानां कलानां यादृशं भावाभिव्यञ्जकत्वं न तादृशं कस्याप्यन्यस्य साधनस्य भवितुमर्हतीति सुदृढं वक्तुं शक्यते। किं तु यदा हि तास्ताः कलाः वैषयिकोपभोगसाधनत्वेन स्वीक्रियन्ते, तदा ताः समीचीनसंस्कृतिनिर्माणेऽसमर्था भवन्तीत्यपि न विस्मरणीयम्।

अत्र हि प्राचीनेतिहास एव प्रमाणम् । मौर्यशासनसमये प्राचीनार्यसंस्कृति पुष्कला सुसमृद्धा चासीत् । तदा हि विविधा. कला: सम्यग्विकसितास्स्वय स्वीयमनुपमं कार्य सम्पादयामासु, पर यवनाना समये ता एवोपभोगसाधनान्यभवन् । याश्चित्रकला मौर्यसमये सुसंस्कृत्याधायिका अभवन् ता एव यवनानां समये मनोरञ्जनाधायिका अभवन् । तत आरभ्यैव क्रमशो भारतवर्षे कलाना ह्रासस्समुदभूत् । या हि भक्ते. श्रद्धाया विषयसुखोपभोगेभ्यो निवृत्तेश्च साधनम्, सा चेन्मनोरञ्जनसाधनम्, तर्हि कथ नाम सस्कृते: परिरक्षण स्यात् ? विंशतितमेऽप्यस्मिन् शतके भगवतो बुद्धस्य, तत्तत्सम्प्रदायप्रवर्तकाना श्रीमच्छङ्करभगवत्पादाचार्यप्रभृतीना, श्रीमतो गान्धिमहोदयस्य च चित्रेषु, प्राचीनमन्दिरस्थेषु देवताविम्बेषु च विलोक्यमानेषु कस्य वा सचेतसो मनसश्शान्तिर्न समुदियात् ? अद्यापि तदानीन्तनै कलाकारै समुट्टङ्कितानि हावभावविन्यासपुरस्सर द्रष्टॄणा हृदयाकर्षकाणि चित्राणि सुवर्णरञ्जितानि विलोक्य, सामयिक भावमवबुध्य, प्रसन्न. को वा रसिक कलाकार न प्रशसेत् ? सन्तापपरीत जनस्य हृदयमावर्ज्य तत्र किमपि नूतन वैभवमातन्वत', विलक्षण भावं द्रष्टॄणा मनसि सम्पादयत. पुरातनी शैली सस्कृतिञ्च प्रबोधयत', अनन्यसाधारणी योग्यताञ्च प्रकटयत कलाकारस्य वैशिष्ट्य किं निगूढ कस्यापि विवेकिन ?

एव सत्यपि वैशिष्ट्ये पुरातनी सस्कृतिं परिवर्त्य स्वस्वानुरूपा सस्कृति सर्वत्र प्रसारयितु यवनशासका विलक्षणां काञ्चन भाषा, तदनुरूपञ्च साहित्यम्, तच्छिक्षणञ्च प्रारभन्त । 'यथा राजा तथा प्रजा' इति न्यायेन तदानीन्तनाना भारतीयाना राजाज्ञानुवर्तनमनिवार्यमापतितम् । आचारे व्यवहारे वेषभूषासु च महदन्तर सवृत्तम् । मानवाना परस्पर प्रेमभावो लुप्त, पाशविकस्य कर्मण' सर्वत्र प्रचार आसीत्, मन्दिरेषु देवतासु च भक्तिभाव. क्षीणतां गत', मन्दिरेषु तेषु तेषु आगमानुसार प्रतिष्ठापितास्तास्ता देवता प्रतिमाश्च शासकवर्गेण खण्डिता., चित्रकलासु मानवाना कौशल कुण्ठितमभूत्, निलिम्पवाण्या' पठनं पाठनञ्च क्रमशो ह्रासभाव गतम्, यवनभाषायाश्चातिमात्र प्रचार आसीत्, बलात्तत्र तत्र मतपरिवर्तन समारब्ध यवनै । एव क्रमेण तेषा दौष्ट्येन दुराचारेण वा यदा स्वानुकूला सस्कृति: प्रसृता, तदा ता निरोद्धु तत्र तत्र भक्तशिरोमणय. श्रीतुलसीदासप्रभृतयस्त्रिचतुरा महापुरुषा प्रादुरभूवन्, न्यभान्त्सुश्चार्यसंस्कृतिपरिरक्षणाय श्रीरामचरितमानसप्रभृतीनि ग्रन्थरत्नानि । इमानि च ग्रन्थरत्नानि संस्कृतेरस्माकं रक्षायै कवचरूपाण्येवासन्निति न वक्तव्यमस्माभि ।

एव याते बहुतिथे काले आङ्गलाना भारतवर्षे प्रवेशो जात. । तदारभ्य परिशिष्टाप्यार्यसस्कृति सर्वत्र विलयं गता । आङ्गला हि भौतिकशरीरविकास एव सुभृश श्रद्धधानास्तन्निर्माणमेव मुख्यममन्यन्त । शरीरातिरिक्तस्यात्मनस्सत्ताया ते सन्दिहाना एवाभवन् । अत एव तेषा तच्छक्तिसग्रहे प्रवृत्तिर्नोदभूत् । तेन चात्मा दुर्बलो जात । तेषा शासनसमये प्राचीनार्येतिहासस्य, शिक्षाया, सस्कृते. सभ्यताया:, कर्मकाण्डस्य, आत्मज्ञानसाधनाना दर्शनानाञ्च यथा द्रुतगत्या ह्रासस्समजायत, न तथा यवनाना शासनसमय इति निस्चप्रच वक्तु शक्यते । तेषाञ्चायमभिनिवेश आसीत्—यद् भारते मानवा. वर्णेन, रुधिरेण, अस्थ्ना समूहेन च काम भारतीया भवन्तु, किन्तु बुद्ध्या, व्यवहारेण आचारेण, वेषेण, रुच्या, चेमे पाश्चात्त्या एव यथा भवेयुस्तथास्माभि प्राणपणेनापि प्रयतनीयमिति । यवना आसुरी वृत्तिमाश्रित्य प्रजापालनकर्माकुर्वन्, पाश्चात्त्यास्तु पैशाची वृत्तिमाश्रित्य तदकुर्वन्निति वक्तु शक्यते । मन्ये मनोरथस्तेषा परिपूर्ण इति । अद्यत्वे वयमवलोकयाम: —प्रायस्सर्वोऽपि परमात्मनस्सत्ताया सन्दिग्धो सर्वपुरुषा-

थेग्लानि रागाद्धर्मादुद्विजते, प्राचीनानि शास्त्राणि दर्शनानि च द्वेष्टि, स्वदितिहास विस्मृत्य मिथ्यारूपेण पाश्चात्यै प्रसारिते इतिहासे श्रद्धत्ते, प्राचीनैस्सुपरिश्रम्य प्रवर्तित साहित्य दूरीकरोति, भक्ष्यमभक्ष्यञ्च न विवेचयति, गम्यागम्ये च न विचारयति, ज्ञानेन वयसा तपसा च वृद्धानधिक्षिपति, पुत्र पितरम्, शिष्यो गुरुम्, जाया पतिम्, सेवकश्च स्वामिन न तृणाय मन्यत इति। हन्त! किमह ब्रवीम्यधुनैकोऽपि भारतीय पाश्चात्यशिक्षाचिरतया समानाल्पो यथेच्छ शूद्रजानुत्सृज्य स्वैर नृत्यति। सर्वस्या अप्यस्या अनर्थपरम्पराया प्रसारे तेषा भाषैव मुख्य कारणमिति न वक्तव्यमस्माभि । कूटनीतिकुशलास्ते प्राचीनैराविष्कृतान् विषयान् कथञ्चिदवगत्य स्वभाषया च तान् सग्रथ्य, स्वेच्छानुरूपञ्चा यथयित्वा सर्वत्र क्रमश प्रचारयाम्बभूवु । भारतीया अपि तपस्विन ततोऽरुचिमादधाना, तै प्रसारिते मोहजाले सलग्ना, तत्रैव तथ्य-बुद्धि विदधत, तदध्ययने तत्प्रचारे च सुभृश साहाय्यमाचरन्। य एव हि पाश्चात्यदेशान् प्राप्य वेदान दर्शनानि, साहित्यञ्चाधीत्य समागच्छति, स महान् पण्डित परिगण्यत इत्यत्र सुलभान्युदाहरणानि। येनैव भारतीयेन तत्र त्रिचतुराण्यक्षराणि पी० एच्० डी०, डी० लिट्, प्रभृतीनि प्राप्यन्ते, स एव विद्वदग्रेसर । अहह! किमितोऽप्यधिक कष्टकरमस्माक स्यात्? सत्यमस्माक नैतिक सांस्कृतिकञ्च पतन जातम्।

एव सत्यामप्यनर्थपरम्पराया तदपाकरणायास्त्यवकाश । राजनीतौ कुशलान् स्वातन्त्र्येण भारत-भुव प्रशासतो नायकान् वीक्ष्य भगवती भारतमाता नून सम्प्रति प्रमुदितान्तरङ्गा विलसति। तत्रापि महात्मनो गान्धिमहोदयस्यैव पन्थान जगद्धितकरमनुवर्तमानान् श्री नेहरू–पटेल–राजेन्द्र–गोविन्दवल्लभ–सम्पूर्णानन्दप्रभृतीन् सत्पुरुषानुद्वीक्ष्य निर्वृतस्वान्ता वर्तत इत्यत्र नास्ति विशय । पर नैतावता मातुर्मनोरथ परिपूर्ण । नैतिकी सांस्कृतिकी चोन्नतिरपि सा कामयते। तदर्थ सत्स्वपि शारीरिकेष्वत्यावश्यकेषु भारतीय संस्कृतिसंरक्षणमेव प्रथममावश्यकम्। 'सवम्पग धेप् विश्वमिति' इति हि न्याय । न्यायमिममनुसृत्य कश्चन सुन्दर उपायस्तन्नायकैराश्रयणीय । प्राथमिकशिक्षाया संस्कृतवाण्या अध्ययन यथा अनिवार्य स्यात् तथा सा प्रवर्तनीया। एव सति राष्ट्रभाषाया हिन्द्या महानवलम्बस्स्यात्। संस्कृतमवलम्ब्य हिन्दीभाषाया एव पूर्वो-क्तानर्थनिवारणेऽस्मिन् सामर्थ्यमिति न वक्तव्यमस्माभि । एव सत्येव प्राचीनैर्महर्षिभिस्सुपरिश्रम्या-विष्कृतानां वेदाभिधानाना ग्रन्थसन्दर्भाणा, दर्शनानाम् अन्येषाञ्चाध्यात्मिकशक्तिसम्पन्नाना शास्त्राणा सर्वत्र प्रचारायानुकूल्य स्यात्। एतदर्थमामूलचूड शिक्षाया परिवर्तन तथा विधेयम्, यथा ह्यधीताना विषयाणा क्रियात्मना प्रयोगाय द्वारमुद्घाटित स्यात्।

साम्प्रतमस्माक भाग्यस्यैव परिणामभूता श्रीसम्पूर्णानन्दमहोदया, उत्तरप्रदेशे शिक्षासाचिव्यमाव-हन्तो भारतवर्षानुकूला काञ्चन मनोरमा शिक्षापद्धति प्रवर्तयितु बद्धपरिकरास्सन्तीति नितरा प्रसाद-स्थानमिद विश्वसिमश्च वय—यद् श्रीशिक्षासचिवमहाभागा सम्पूर्णानन्दमहोदया प्रथममुत्तरप्रदेशे पूर्वोक्तानर्थनिवारणाय शिक्षापद्धति परिवर्त्य भगवत्या भारतमातुर्मनोरथ परिपूरयेयुरिति।

साङ्ख्यनये प्रमाणप्रमेयविचारः

ले० उमेशमिश्रः

तत्तच्छास्त्रप्रतिपादितपरमतत्त्वावसिद्ध्यर्थं तत्साधनभूतप्रमाणप्रमेयनिरूपणं तत्तच्छास्त्रकारैः कृतमिति तत्तच्छास्त्रप्रमुखग्रन्थेषु स्पष्टमेव। चरमोद्देश्यभेदेन प्रमेयविभिन्नता तथा प्रमाणभेदोऽपि। अत एव यानि खलु प्रमेयाणि प्रमाणानि च न्यायशास्त्रे नियतानि, न तानि साङ्ख्यनये सर्वथाऽपेक्षितानि। एवमन्येष्वपि शास्त्रेषु दृश्यत एव। शास्त्रस्य वास्तविकस्वरूपज्ञानं तच्छास्त्रप्रतिपादितप्रमाणप्रमेयज्ञानेनैव जायते, एतयोरेव विशेषविचारे शास्त्रस्य महानायासः। एतयोः पुनः प्रमेयज्ञानं प्रमाणज्ञानाधीनम्। प्रमाणभेदश्च प्रमेयस्वरूपाधीनः। तदुक्तम्—'मानाधीना मेयसिद्धिः' 'प्रमेयसिद्धिः प्रमाणाद्धी'ति। यदि प्रमेयस्वरूपमीदृशं यस्य सम्यग्ज्ञानायैकमेव प्रमाणमपेक्षेत तर्हि प्रमाणद्वयस्वीकारे नास्ति काऽपि युक्तिः, शास्त्रव्यर्थता च।

इत्थं शास्त्रसिद्धान्तमुररीकृत्य तद्विशेषविचाराय प्रवर्त्तमाने ईश्वरकृष्णविरचितसाङ्ख्यसप्ततिग्रन्थे तापत्रयविनाशाय त्रिविधमेव प्रमेयं निरूपितम्। एतस्यैव व्यक्ताव्यक्तज्ञरूपत्रिविधप्रमेयस्य विशेषज्ञानेनेश्वरकृष्णोक्तसाङ्ख्यशास्त्रप्रतिपादितचरमोद्देश्यस्य सिद्धिर्भवतीति। अत एवोक्तमीश्वरकृष्णेन—'तद्विपरीतः श्रेयान् व्यक्ताव्यक्तज्ञविज्ञानाद्' इति। एतस्य त्रिविधप्रमेयस्य विज्ञानार्थम् 'दृष्टमनुमानमाप्तवचनञ्चेति त्रिविधं प्रमाणमिष्टम्' केन प्रमाणेन पुनः कस्य प्रमेयस्य प्रतीतिर्जायत इति जिज्ञासायाम्—

'सामान्यतस्तु दृष्टादतीन्द्रियाणां प्रतीतिरनुमानात्।
तस्मादपि चासिद्धं परोक्षमाप्तागमात् सिद्धम्॥'

इति कारिकाकारैरुक्तम्। साङ्ख्यनये दृष्टशब्दः प्रत्यक्षेऽर्थे प्रयुक्तः। अस्याः कारिकायाः व्याख्यानञ्चित्थं प्रतिभाति—'सामान्यतः' इत्यत्र षष्ठ्यर्थे तसिः। सामान्यस्य-साधारणवस्तुनः-इन्द्रिययोग्यस्य सर्वस्य 'दृष्टात्' प्रत्यक्षादेव 'प्रतीतिः' ज्ञानं जायते। तेन सकलव्यक्तस्य—(बुद्धिः, अहङ्कारः, एकादशेन्द्रियाणि, पञ्चतन्मात्राणि तथा पञ्चभूतानि) साङ्ख्यदृष्ट्या साधारणवस्तुजातस्य ज्ञानं प्रत्यक्षप्रमाणेनैव जायते। तदुक्तं गौडपादैः—'व्यक्तं प्रत्यक्षसाध्यम्'। 'अतीन्द्रियाणां' बुद्धेरगोचराणां प्रमेयाणां 'प्रतीतिः' 'अनुमानात्' अनुमानप्रमाणेन भवति। कानि पुनरतीन्द्रियाणि साङ्ख्यनयस्वीकृतप्रमेयेषु सन्तीति विचार्यमाणे अव्यक्तमेव ईदृशं प्रमेयं यत्खल्वतीन्द्रियम्, अव्यक्तत्वादेव हेतोः। ननु अव्यक्तस्य प्रधानस्य एकत्वात्

यत्र बहुवचनमतीन्द्रियाणामित्यभोक्तम् आदरार्थे बहुवचनम्। अथवा यद्यपि मूला प्रकृतिस्तु अव्यक्त रूपा एकैव, किन्तु प्रकृतिविकृतिरूपेषु सप्तसु व्यक्तेष्वपि प्रकृतिरूप तु सत्त्वाव्यक्तमेव। यथा बुद्धिस्तु व्यक्तरूपेण प्रत्यक्षमेव किन्तु अहङ्कारस्य प्रकृतिरूपत्वात, प्रकृतिरूपेण च तस्या अव्यक्तत्वमिष्टमेव। एवमहङ्कारादिष्वपि विकृतिरूपेण व्यक्तत्व प्रत्यक्षगाह्यत्वञ्च, प्रकृतिरूपेण चाव्यक्तत्व मतीन्द्रियत्वञ्च स्पष्टमेव। तेन अव्यक्ताना प्रकृतीनामतीन्द्रियाणा प्रतीतिरनुमानेन भवतीति। अथवा शास्त्रतय द्विविधस्य पुरुषस्य प्रतिपादन वर्तते। तत्र एको बद्ध यस्यास्तित्व 'सघातपरार्थत्वात त्रिगुणादिविपर्यया-दधिष्ठानात पुरुषोऽस्ति भोक्तृभावात् कैवल्यार्थं प्रवृत्तेश्च॥' इत्यनया कारिकया प्रसाधितम्। एव 'जननमरणकरणाना'मित्यादि कारिकया च तस्यैव बहुत्व निर्णीतम्। एष पुरुष परोक्षोऽतीन्द्रिय इति यावत्। एव 'प्रधानादि'-लिङ्गैरनुमेय। तेन प्रधानस्याव्यक्तस्य बुद्ध्यादिप्रकृतिरूपाव्यक्ताना बद्धपुरुषाणा-ञ्चातीन्द्रियाणा प्रतीतिरनुमानेन भवतीति सर्वं सुस्पष्टमेव।

एव व्यक्तान्यक्तयोर्विज्ञानार्थं प्रत्यक्षानुमानयो सार्थकत्व दर्शितम्। तदनु मुक्तपुरुषस्य कथ प्रतीतिरिति विचार प्रवर्तते। सोऽप्यतीन्द्रिय परोक्ष। किन्तु अस्य त्रिगुणातीतत्वात लिङ्गादेरभावाद अनुमानेन प्रतीतिभवितु नार्हति। अत एवास्य प्रतीति केवलमाप्तश्रुत्या भवति। एव त्रिविधस्य प्रमेयस्य प्रमाणत्रयेणैव विज्ञान जायते। अतो नाधिकस्य प्रमाणस्य साङ्ख्यनयप्रतिपादिततत्त्वज्ञानायापेक्षा वर्तते न चान्येनैव प्रमाणेन सर्वस्य प्रमेयजातस्य ज्ञान भवितुमर्हतीति। तस्माद् उक्तार्थप्रतिपादनमेवे-श्वरकृष्णस्याभिप्रायो भवितुमर्हति। तदर्थमेवोक्तम्—'सामान्यतस्तु दृष्टादि'त्यादि।

स्वाभाविकमममुमर्थमनादृत्य टीकाकारै क्लिष्टतमकल्पनादिकमुद्भाव्य स्वस्वग्रन्थव्याख्यानचातुर्य प्रदर्शितम्। तत्र तत्त्वप्रदानमात्रप्रवृत्तानामस्माक कोऽप्याग्रहो नास्ति। अस्य च युक्तायुक्तत्वे सूरिभिरे-वावगन्तव्ये इति।

जयति जननि भारती

राजेंद्र

जयति जननि भारती !

अमृत पीन वक्ष पटल
पर तुषार हार धवल
चरण विकच श्वेत कमल
—कल्पना निहारती

केश गगन नील जलद
मृदुल मृदुल हस्त वरद
हास मधुर चंद्र शरद
—ज्योत्स्ना सँवारती

परमाणु शक्ति और परमाणु बम

राहुल सांकृत्यायन

परमाणु बम के बारे मे आजकल बहुत शोर सुनने मे आता है। शायद ही कोई दिन नागा जाता हो, जब परमाणु बम के बारे मे अखबारो मे कुछ न आता हो। कम्युनिज्म और रूस से घबडाई दुनिया के लिये परमाणु बम सब से बड़ा सहारा है। लोग इसके भरोसे निश्चित बैठना चाहते है, यद्यपि परमाणु बम के रहते-रहते भी ४५ करोड़ निवासियो का चीन कम्युनिज्म के हाथ में चला गया। जापान की मनचूरिया मे हार पर हार हो रही थी और जर्मनी के आत्मसमर्पण के बाद उसका आत्मसमर्पण चद ही दिनो मे निश्चित था, तब भी अमेरिका ने हिरोशीमा और नागासाकी पर परमाणु बम गिराये ही, जो केवल नृशंसता थी। हिरोशीमा के ६० हजार बच्चों, स्त्रियो, नर-नारियो को तुरत और उतनो ही को कुछ महीनों के भीतर मार डालना मानवता का चरम पतन था। अमेरिका जानता था कि जापान से अमेरिका बहुत दूर है, वहाँ तक उसके विमानो का पहुँचना असभव सा है। इसीलिये निर्द्वद्व हो उसने जापान के दोनो नगरो पर परमाणु बम गिराए। यदि जापान से अमेरिका उतना ही नजदीक होता, जितना जर्मनी से इगलैड, तो हिरोशीमा और नागासाकी पर ये बम कभी नही गिराए जाते, क्योकि तब जापान विषैली गैसो और रोग-कीटाणुओ के बम अमेरिका पर फेकता, जो परमाणु बम से कही भयकर सिद्ध होते। वस्तुतः जर्मनी और जापान के साथ युद्ध करने मे इगलैड और अमेरिका की सेनाएँ जितनी हो कच्ची सिद्ध हुई थी उतनी ही रूस की सेना अधिक मजबूत मालूम पड़ी। इस लज्जा को धोने और भविष्य मे अपने राजनीतिक महत्व को कायम रखने के लिये परमाणु बमो द्वारा जापानियो को मारा गया, उनके दो नगरो को ध्वस्त कर दिया गया। आज अमेरिका चाहे कितनी ही सहृदयता दिखलाए, किंतु क्या जापानी कभी इस नृशसता को भूल सकते है? परमाणु बम के गिराने से पश्चिमी युरोप के प्रतिगामियो को साँस लेने की हिम्मत हुई। रूस परमाणु बम से नही डरता, यह निश्चित है कि उसके पास परमाणु बम तथा उससे भी भयंकर हथियार मौजूद है, हाँ, दुनिया के बहुजनो का हितैषी होने से वह हिरोशीमा के नृशसतापूर्ण हत्याकाड का कारण नही बन सकता।

परमाणु बम की शक्ति

परमाणु बम बहुत भयकर हथियार है। तेरहवी शताब्दी मे आदमी ने बारूद के हथियारो का प्रयोग आरभ किया। उससे पहिले लकड़ी, कोयला और तेल को जला कर आदमियो ने

ताप तथा शक्ति का उपयोग किया था। तेल और कोयले में छिपी रासायनिक शक्ति का उसी तरह इंजन और मोटर चलाई जाती है। यह रासायनिक शक्ति वस्तुतः परमाणु के एलेक्ट्रानों से भी नहीं आती, बल्कि समानधर्मा परमाणुओं को बाँध कर उन्हें अणु के रूप में परिणत करनेवाली शक्ति का ही यहाँ उपयोग किया जाता है। इस शक्ति को परमाणु के बाहरवाले एलेक्ट्रन एक दूसरे से उलट कर पैदा करते हैं। यह रासायनिक शक्ति भी बहुत जबरदस्त है, इसमें शक नहीं। किन्तु कोयला और पेट्रोल से ले कर बारूद तक का प्रयोग करते हुये आदमी ने ऊपरी तल की शक्ति का ही अमोलक उपयोग किया था। परमाणु बम में परमाणु के भीतरी नाभिकण में निहित अपार शक्ति का प्रयोग किया जाता है। वह शक्ति कितनी है, यह इसीसे मालूम हो जायगा, कि एक छोटे से गेंद के बराबर के उरानियम में जितने ही अरब उरानियम परमाणु होते हैं, जिनमें से हरएक के भीतर बीस करोड़ एलेक्ट्रन-वोल्ट शक्ति छिपी हुई है। इस छोटे से गेंद में कितनी शक्ति निहित है, उसका अंदाज आसानी से लगाया जा सकता है। टी–एन–टी आजकल का सब से जबरदस्त विस्फोटक है। हिरोशीमा पर जो परमाणु बम गिराया गया था, उसमें बीस हजार टन टी–एन–टी की शक्ति थी।

परमाणु गर्भ

प्राचीन काल से आज तक साइंस वेत्ता परमाणुओं का पता लगाते आ रहे हैं। उनमें बहुत से तो प्रकृति में स्वाभाविक रूप से मिलते भी नहीं। उनके नाभिकण इतने भंगुर होते हैं, कि वह क्षणभर के लिये भी ठहर नहीं सकते। कितनी बार लोगों ने उनके आविष्कार का दावा किया, लेकिन वह सत्य नहीं साबित हुआ।

परमाणु के बाहरी भाग में एलेक्ट्रन बड़ी तेजी से चक्कर काटते हुए किसी भी नजदीक आने वाले पराये पदार्थ को धक्का देकर बाहर करते हुए पहरेदारी करते हैं। उनसे बहुत दूर परमाणु के गर्भ में नाभिकण है, जो प्रोटन और न्यूट्रन से बना है। एलेक्ट्रन यदि ऋण बिजली है तो प्रोटन धन बिजली, और न्यूट्रन न धन बिजली है न ऋण बिजली। न्यूट्रन और प्रोटन की भूतमात्रा प्रायः समान है। प्रथम परमाणु हाइड्रोजन सब से छोटा और बनावट में सरल अर्थात् उसे बाहर पहरा देने के लिए सिर्फ एक एलेक्ट्रन और गर्भ में एक प्रोटन होता है। विशेष हाइ-ड्रोजन दो और तीन प्रोटन वाले भी होते हैं। हाइड्रोजन के बाद का अगला परमाणु हीलियम है, जिसके बाहर दो एलेक्ट्रन होते हैं और गर्भ में दो प्रोटन। हीलियम की भूतमात्रा चार है। इस भारीपन का कारण उसके गर्भ में अवस्थित दो न्यूट्रन हैं। गर्भ से हल्की धातु लिथियम के भीतर तीन धन बिजली (प्रोटन) हैं, लेकिन उसकी भूतमात्रा सात है, बाकी चार भूतमात्रा चार न्यूट्रन के कारण है। यह मालूम ही है कि एक प्रोटन की भूतमात्रा एलेक्ट्रन से १८०० गुनी होती है।

नाभिकण में अपार शक्ति है, यह बात तो पहिले से ही मालूम थी, किन्तु उस शक्ति को हस्तगत करने का कोई साधन नहीं मालूम था, जब तक १९३० में चडविक ने न्यूट्रन का पता खोज नहीं निकाला। न्यूट्रन धन और ऋण दोनों बिजलियों से वर्जित है इसलिये किसी परमाणु के नाभिकण में पहुँचने में उसे बाधा नहीं होती। यदि किसी दूसरे हथियार को इस्तेमाल करना पड़ता, तो करोड़ों एलेक्ट्रन वोल्ट की शक्ति भरके "गाड़ी" को प्रोटन तक पहुँचाने में सफलता मिलती।

न्यूट्रन एक या दो एलेक्ट्रन वोल्ट की शक्ति से फेक कर नाभिकण मे पहुँचाया जा सकता है। हाँ, न्यूट्रन को इतनी शक्ति से फेकने की जरूरत है, जिसमे वह नाभिकण के आगे नही निकल जाए। इसीलिये न्यूट्रन को बड़ी धीमी गति से भीतर फेकने का ढग निकाला गया है। प्रोटन की भूतमात्रा १.००७६ और न्यूट्रन की १००९० है। दोनो मिलकर के जब नाभिकण का निर्माण करते है, तब दोनों के योग की थोडी सी मात्रा कम उतरती है। दोनो का योग २०१६६ है, किंतु प्रोटन और न्यूट्रन से मिलकर बना ड्युटेरोन २०१४२ के बराबर होता है। यह कमी उस शक्ति के निर्माण मे व्यय हुई, जो कि प्रोटन और न्यूट्रन को बाँध के रखती है। इस बाकी .००२४ भाग से ड्युटेरोन को बाँधकर रखनेवाले २२ लाख एलेक्ट्रन वोल्ट की शक्ति पैदा हुई। यदि दोनो टुकडो को अलग किया जाए, तो फिर उक्त कमी को पूरा करना पड़ेगा।

रेडियो-क्रियावाले तत्त्वो के बारे मे पहिले कहा जा चुका है, थोरियम, उरानियम आदि रेडियो-क्रियावाले परमाणु है, जिनके नाभिकण की कणिकाएँ स्वत निकलती रहती है, जिनकी कमी के कारण परमाणु का द्रव्यातर होता रहता है। अपार शक्ति लगाकर नाभिकण को बाँध रखा गया है, इसीलिये नाभिकण का तोडना आसान काम नही था। लेकिन रेडियो-क्रियावाले तत्त्वों ने काम को कुछ आशाप्रद बना दिया। न्यूट्रन के हाथ लग जाने पर तो काम और आसान हो गया। उरानियम ९२ परमाणुओ से सब से भारी और अतिम परमाणु है। इसकी भूतमात्रा २३८ है, और इसके बाहरी ९२ एलेक्ट्रनो के सतुलन के लिये ९२ प्रोटन तथा उन्हे बाँधकर रखनेवाले १४५ न्यूट्रन है। लेकिन परमाणु-बम जिस उरानियम से बनाया गया, वह २३८ भूतमात्रावाला साधारण उरानियम परमाणु नही, बल्कि २३५ भूतमात्रा रखनेवाला समस्थानीय उरानियम है, जो दो न्यूट्रन कम हो के २३५ का बना होता है। अर्थात् वह १४३ न्यू-९२-ए-९२-प्रो है।

उरानियम की खाने विश्व मे बहुत अधिक नही है और अब तो उन्हे बहुत छिपाकर रखने की कोशिश की जाती है। युक्तराष्ट्र अमेरिका, कनाडा तथा दूसरे देशो ने उरानियम ही नही, अपने यहाँ की सभी रेडियो-क्रियावाली धातुओ की खानो को भी राष्ट्रीय सपत्ति बना लिया। निश्चय ही यदि भावी युद्ध म परमाणु-बम का इस्तेमाल हुआ, तो खानो पर सब से पहिले आक्रमण होगा। अभी तक जो खाने प्रकट है, उनका स्थान-निर्देश निम्न प्रकार है :—

नाम	देश
बिहार	भारत
फरगाना उपत्यका	सोवियत रूस
योआक्रिम्स्ताल	चेकोस्लावाकिया
उत्तरी भाग	जर्मनी
दक्षिणी भाग	स्वेडन
कार्नवाल	इंगलैंड
——	पोर्तुगाल
टगानिका	अफ्रीका
मदगास्कर	मदगास्कर द्वीप
बेल्जियम कागो	अफ्रीका

दक्षिण-पश्चिमी अफ्रीका	अफ्रीका
गार्डोनिया	दक्षिणी अफ्रीका
ब्राजील	ब्राजील
——	मेक्सीको
कोलोरडो	युक्तराष्ट्र
ओंटारियो	युक्तराष्ट्र अमेरिका
यूटा	युक्तराष्ट्र अमेरिका
एल्डोरेडो	कनाडा

लेकिन द्वितीय विश्वयुद्ध के बाद रेडियो क्रियाकारी तत्वों, विशेष कर उरानियम की खानों को गुप्त रखने की बड़ी कड़ाई कर दी गई है। सोवियत मध्येशिया की उरानियम खान बाहर के लोगों को मालूम है क्योंकि युद्ध से पहिले उसे छिपाने की कोशिश नहीं की जाती थी। सोवियत रूस में और कई उरानियम की खानें हैं, जिनमें कुछ तो ध्रुव कक्षीय प्रदेश में हैं।

ऐसी १७५ धातुएँ हैं जिनके साथ उरानियम पाया जाता है। जहाँ कहीं भी सगखारा की चट्टान मिलती है वहाँ उरानियम की साथी धातुएँ भी पाई जाती हैं। पहिले हमारे बिहार के उरानियम या द्रावकार के थोरियम की कोई पूछ न थी, किन्तु अब इनका मूल्य बहुत बढ़ गया है। उरानियम की खान अब चाँदी और हीरे की खानों को भी मात करने लगी है। ऐल्डोरेडो (अमरिका) में उरानियम के मनुष्य द्वारा भेदने के पहिले प्रतिमास ५ लाख डालर (बीस लाख रुपया) की चाँदी, सोना और रेडियम निकलता था। द्वितीय युद्ध से पहिले उरानियम वहाँ कूड़ा-करकट समझ कर फेंक दिया जाता था। अब उससे करीब-करीब उतना ही मूल्य प्राप्त होता है। यूटा और कोलोरडो में वनाडियम, उरानियम और रेशमात्र रेडियमवाली खानों का भी मूल्य बढ़ गया है। पश्चिमी कोलोरडो के पथराये (फासील) वृक्ष समाज में उरानियम और रेडियम के लिए बहुत ही समृद्ध स्थान हैं। १९३० में सानमगुल नदी में दो विशाल फासील वृक्ष मिले थे, जिनमें २३० हजार डालर (१ लाख २० हजार रुपया) का वनाडियम उरानियम और रेडियम निकला था। उरानियम आक्सिद का मूल्य २३ हजार वनाडियम का २८ हजार और १.७५ ग्राम रेडियम का १७५००० हजार डालर था—यह १९३० के मूल्य में। उरानियम और रेडियम के कोई-कोई धातुपाषाण ६५ से ८० प्रति सैकड़ा उरानियम ओक्सिद प्रदान करते हैं। यह धातु साधारण तौर से पैनाइट (सगखारा) चट्टानों में मिलती है, जो पृथिवी के गर्भ से आदि काल में पिघले लावा के रूप में बाहर निकलकर ठंडे और स्फटिक बन गए।

यह निश्चय ही है कि उरानियम और उसके बाद थोरियम तथा दूसरी रेडियो क्रियाकारी धातुओं का महत्व और मूल्य अब सभी धातुओं से अधिक माना जाने लगा है। जब तक उनका प्रयोग केवल संहार के लिये किया जा रहा है तब तक उन्हें गुप्त रखने की भी पूरी कोशिश की जायेगी।

आजकल परमाणु-बम राजनीतिक धमकी का हथियार बन गया है। ऐंग्लो-अमरिकन साम्राज्यवादी अपने प्रभावित देशों में इस बात का बहुत जोर से प्रचार कर रहे हैं, कि परमाणु-बम और

परमाणु-शक्ति की कुंजी केवल हमारे हाथों में है। लेकिन यह बहुत कुछ गाल बजाने की सी बात है। उरानियम परमाणु तोड़ने का काम अमेरिका के नहीं, बल्कि जर्मनी के दो वैज्ञानिकों ने किया। उरानियम के नाभिकण के स्वतः विदरण की बात १९४० से पहिले ही दो रूसी वैज्ञानिकों ने खोज निकाला था, जिसका विवरण अमेरिका की प्रमुख भौतिक-विज्ञान-पत्रिका फिजिकल रिव्यू में १९४० में छपा था। उक्त विद्वानों ने दिखलाया था, कि किस तरह बिना न्यूट्रन के प्रहार के स्वतः उरानियम का नाभिकण विदरित होता है। यह विदरण बहुत कम पाया जाता है। १९४० में प्रकाशित रूसी ग्रंथों से पता लगता है, कि एक किलोग्राम (सवासेर) साधारण उरानियम से एक सेकंड में ५५० न्यूट्रन स्वतः निकल कर बाहर हो जाते हैं।

उरानियम का विदरण

परमाणु के गर्भ में अवस्थित अपार शक्ति यदि किसी तरह मुक्त की जा सके तो, कोयला, तेल और पानी में भी अधिक सस्ती तथा भारी परिमाण में विद्युत्-शक्ति प्राप्त हो सकती है। सभी परमाणुओं के नाभिकणों को तोड़कर शक्ति बाहर करने की बात मुश्किल थी, लेकिन स्वतः विदरित होनेवाले (रेडियो क्रियावाले) परमाणुओं से विशेष कर न्यूट्रन के आविष्कार के बाद अधिक आशा हो चली और वैज्ञानिकों ने उनके ऊपर अपना ध्यान भी आकृष्ट किया। जर्मनी के विज्ञानवेत्ता हान ने सबसे पहिले सफलतापूर्वक उरानियम के नाभिकण का १९३८ में विदरण किया। १९३० में न्यूट्रन के आविष्कार के बाद न्यूट्रनों को बढा-घटाकर ९२ तत्त्वों के कितने ही विभेद समस्थानीय तैयार किये गए। प्रोफेसर अटोहान इसी तरह नाभिकण को प्रहारकर के नये-नये समस्थानियों के निर्माण का प्रयोग कर रहे हैं। यह याद रखना चाहिये, कि अभी तक इस प्रक्रिया से ३०० से ऊपर समस्थानीय परमाणु निर्मित किये जा चुके हैं। प्रोफेसर हान अपने प्रयोग में उरानियम परमाणु के नाभिकण पर न्यूट्रन की गोली दाग रहे थे। न्यूट्रन कभी नाभिकण को तोड़ने का काम करते हुए निकल जाता है और कभी नाभिकण इस आक्रमणकारी को पकड के अपने पास रख लेता है। यदि उरानियम का नाभिकण न्यूट्रन को पकड लेता है, तो उसकी भूतमात्रा २३८ की जगह २३९ हो जाती है, ऐसा पहले भी देखा गया था और पकडने की प्रक्रिया से ही उरानियम में एक न्यूट्रन बढ़ाकर नेप्तूनियम समस्थानीय बनाया गया, जो ९३वाँ रसायनिक तत्त्व है। समस्थानीय भी रेडियो-क्रियावाला है। अपने भीतर से बीटा कण को निकालकर यह ३-३ दिन में प्लूतोनियम समस्थानीय (प्लू० २३९) के रुप में परिणत हो जाता है। यह उतना जल्दी परिणत नहीं होता और इसमें उरानियम की तरह विदरण के लिये काम में लाया जा सकता है, परमाणु-बम में भी इसका उरानियम की तरह उपयोग हो सकता है। प्लूतोनियम का आविष्कार १९४० में हुआ था। उरानियम से बने प्लूतोनियम का वही महत्त्व है, जो उरानियम २३५ का। जापान पर गिराए गए दो परमाणु बमों में एक प्लूतोनियम का था।

हाँ, तो प्रोफेसर हान जिस वक्त न्यूट्रन से उरानियम के नाभिकण पर प्रहार कर रहे थे, उस वक्त वह यही आशा रखते थे, कि नाभिकण में पकडा जाकर वह इस परमाणु को दूसरे तत्त्व में परिणत कर देगा। लेकिन उनको जो दृश्य देखने में आया, उस पर वह विश्वास नहीं कर सकते थे। २३८ भूतमात्रा का उरानियम टूटकर (विदरित होकर) प्रायः दो समान भागों में बँट गया और उनमें से प्रत्येक की भूतमात्रा बारियम (१३७ भूतमात्रा) के बराबर थी। प्रोफेसर को विश्वास

करना मुश्किल था, किंतु अत में धर्मकीर्ति के शब्दों को मानना ही था, "यदिद स्वयमर्थाना रोचते तत्र के वयम्"। हान ने फिर और प्रयोग कर के देखा, किंतु परिणाम वही निकला। रसायनिक परीक्षा ने बतलाया, कि वह न्यूट्रन द्वारा प्रहारक के उरानियम परमाणुओ को बारियम परमाणु के रूप में बदल रहे है। १९३८ के उत्तरार्ध को हान ने इसी परीक्षा में बिताया। उन्होने अपने परीक्षण की व्याख्या के लिए एक महिला वैज्ञानिक डाक्टर लीज माइटनेर की सहायता ली, जो सैद्धांतिक भौतिकशास्त्र तथा उच्च गणित एव परमाणु-सयोजन सबधी सिद्धातो की पडिता थी। यहूदी होने के कारण कुमारी माइटनेर थोड़े ही समय बाद जर्मनी से भागने के लिए मजबूर हुई और आजकल वाशिंगटन के कैथोलिक विश्वविद्यालय में भौतिकशास्त्र का अध्यापन करती है। उन्होंने हान को बतलाया कि उनके प्रहार से उरानियम परमाणु विदरण द्वारा विभक्त हो गया। यह विदरण की प्रक्रिया ठीक उसी तरह की थी, जिससे प्राणियों के सेल बढ़ते-बढ़ते विदरित हो जाते है। डाक्टर माइट्नेर ने विदरण होने की ही बात नहीं बतलाई, बल्कि यह भी कहा, कि जहाँ टी-एन-टी जैसी परम शक्तिशाली विस्फोटक वस्तु का प्रत्येक अणु तीन या चार शक्ति-एकाइ देता है, वहाँ उरानियम परमाणु विदरण द्वारा द्विधा विभक्त होते समय २० करोड शक्ति-एकाइ प्रदान करता है। यहाँ वह सकेत मिला, जो आगे परमाणु-बम-निर्माण करने में सहायक बना। डाक्टर माइट्नेर जर्मनी से भाग कर डेनमार्क में पहुँची। नोबेल-पुरस्कार-विजेता भौतिक शास्त्री प्रोफेसर बोर की प्रयोगशाला में शामिल हुई। वह अपने साथ उरानियम विदरण की गणित-शास्त्रीय गणना को भी लेती हुई गई थी। प्रोफेसर बोर १ जनवरी १९३९ को कोपन हेगन (डेनमार्क) से अमरिका के लिये प्रस्थान कर रहे थे जहाँ उन्हें प्रिंसटोन विश्वविद्यालय में महान् वैज्ञानिक अलबर्ट आइन्स्टाइन से मिलना था। इसी समय हान के प्रयोग को डाक्टर माइट्नेर तथा डाक्टर र० फ्रिश दोहराने की तैयारी कर रहे थे। उन्हें बारियम बनाने की चिंता नहीं थी, बल्कि वह २० करोड शक्ति एकाई की खोज में थे।

प्रोफेसर बोर प्रयोग के देखने की प्रतीक्षा नहीं कर सकते थे। अमेरिका में जनवरी के मध्य मे पहुँचकर उन्होने प्रिंसटोन के भौतिक शास्त्री डाक्टर जान वीलर और कोलबिया युनिवर्सिटी में उस समय अध्यापक मुसोलिनी के कोप से निर्वासित इटालियन वैज्ञानिक एनरिको फेर्मी से उसका जिक्र किया।

अभी द्वितीय युद्ध छिडा नहीं था। इसी समय वाशिंगटन के विश्वविद्यालय और कार्नेगी प्रतिष्ठान ने सैद्धांतिक भौतिकशास्त्र के सबध में एक समेलन बुलवाया था। २८ जनवरी को समेलन जुटा। पहिले वक्ता ने अपना भाषण शुरू ही किया था, कि इसी समय फेरमी और बोर बहुत उत्तेजित स्वर में बात करते सभागार में पहुँचे। उनका ध्यान वक्ता की ओर बिलकुल नहीं था। कितने ही उनसे परिचय रखने वाले विद्वान उनके पास जमा हो गए। प्रोफेसर बोर, प्रोफेसर फेरमी से एक पत्र के बारे मे कह रहे थे, जिसमें उन्हें उनके भाजे डाक्टर फ्रिश ने माइटनेर की गणनाओ के बारे मे लिखा था। फ्रिश ने यह भी बतलाया था, कि हान और उनके सहकारी स्ट्रासमान के प्रयोगो का पूरा विवरण जर्मन वैज्ञानिक पत्रिका नातुर-विजेन-शाफ्टेन के फरवरी (१९३९) के अक में निकल रहा है।

बोर और फेरमी पत्रिका के उस अक के देखने के लिये अधीर हो उठे। अभी उसके अमेरिका पहुँचने में देर थी, किंतु उसका प्रूफ वाशिंगटन की राष्ट्रीय साइंस एकेडमी के कार्यालय में मौजूद

था। बोर और फेर्मी मँगाकर उस ऐतिहासिक लेख को पढने लगें, जिसने परमाणु-युग का आरभ कराया। प्रयोग दुरूह नही था, कई प्रयोगशालाओ मे उसे तुरत दोहराया गया और कुछ ही घटो के भीतर पता लग गया कि उरानियम परमाणु के टूटने से अपरिमित शक्ति निकलती है। उसी शाम को बोर और फेरमी ने दूसरे मेहमानो के साथ स्वयं अपनी आँखो इस तजरबे को देखा। यह आसानी से समझा जा सकता था कि जैसे उरानियम परमाणुओ को तोडकर बारियम और क्रिपट्रोन के परमाणुओ मे बदलते हुए अपरिमित शक्ति मुक्त की जा सकती है, उसी तरह पास-पास रखे दूसरे उरानियम परमाणुओ का भी विदरण कराया जा सकता है और इस प्रकार उनसे अपार शक्ति फूट कर बाहर निकल सकती है। इसी समय पेरिस से सूचना भी मिली कि यहाँ उरानियम के विदरण द्वारा एक विदरण-श्रृखला कराने का तजरबा सफल रहा। एक उरानियम-परमाणु टूटते वक्त अपरिमित शक्ति को मुक्त करते हुए अपने न्यूट्रन से दूसरे उरानियम परमाणु पर प्रहार करता है। इसी तरह यह श्रृखला आगे चलाई जा सकती है। १९३९ की गर्मियो से १९४० के जाड़े के महीनों तक परमाणु-भेदन सबधी बहुत तरह की विचित्र-विचित्र कथाएँ अखबारो मे छपती रही। वैज्ञानिक अभी परमाणु-शक्ति के औद्योगिक उपयोग को दशाब्दियो की बात समझ रहे थे, किंतु सेना के वैज्ञानिक उसके तुरंत उपयोग करने की धुन मे थे।

जर्मनी द्वितीय विश्वयुद्ध छेड चुका था, हिटलर की सेनाएँ अव्याहत गति से सब जगह आगे बढ रही थी। जर्मन वैज्ञानिक भी परमाणु-शक्ति के सैनिक उपयोग के उपाय ढूँढ रहे थे। ७ दिसम्बर १९४१ को जापान ने पर्ल हारबर पर आक्रमण करके अमेरिका को भी युद्ध मे ढकेल दिया। अमेरिकन सरकार की रोक के कारण परमाणु तथा उरानियम-धातु सबधी अनुसधानो की कोई बात बाहर छपने नही पाती थी। लेकिन अनुसधान जारी रहा तथा पर्ल हारबर-काड के चार साल के भीतर ही अमेरिका ने हिरोशीमा और नागासाकी पर परमाणु-बम गिराए।

उ. २३५—उरानियम के वस्तुत तीन भेद हैं, जो अपनी भूतमात्रा के अनुसार उ—२३५, उ—२३४, और उ—२३८ के नाम से प्रसिद्ध हैं। इन तीनो उरानियम समस्थानीयो मे उ—२३५ ही ऐसा है जो परमाणु-शक्ति के मोचन मे सहायक हुआ। लेकिन वह बहुत दुर्लभ द्रव्य है। उ—२३८ का १४० पौड जितने धातु-पाषाण से प्राप्त होता है, उतने से उ—२३५ का एक पौड ही हस्तगत होता है। उ—२३५ पर न्यूट्रन द्वारा प्रहार करने पर विदरण होते देखा गया। उ—२३८ प्रहार करने पर विदरित नही होता, बल्कि वह न्यूट्रन को पकडकर मानव निर्मित प्लूतोनियम के बनाने मे सहायक होता है, जो भी परमाणु-बम का एक महत्वपूर्ण उपादान है।

१९४२ मे अमेरिका मे परमाणु-बम के निर्माण के लिये दौड सी लग रही थी। उसे यह मालूम था, कि उरानियम के विदरण का आविष्कार जर्मनो ने किया और अब वह परमाणु-बम के पीछे पडे हुए है। २ दिसम्बर १९४२ से बहुत तत्परता के साथ काम होने लगा। पहिले दिन के प्रयोग मे केवल आधी वाट शक्ति उत्पन्न हुई, जिससे एक छोटा-सा बिजली का लट्टू भी जलाया नही जा सकता था, लेकिन १२ दिसम्बर तक २०० वाट शक्ति पैदा करने मे सफलता मिली, लेकिन इसी समय वैज्ञानिको ने काम रोक दिया, क्योकि इस विदरण द्वारा रेडियम जैसी घातक किरणे पैदा हो रही थी। इन तजरबो से पता लग गया, कि प्लूतोनियम बनाया जा सकता है और इस क्रिया मे जो

भयकर किरणें उत्पन्न होती ह, उनसे रक्षा का प्रबन्ध किए बिना वैज्ञानिक कर्मिया के लिये भारी खतरा ह।

समस्या चाहे कितनी ही कठिन हो, लेकिन उसका समाधान भी निकालना आवश्यक था। अमेरिकन सरकार पानी की तरह डालर बहाने को तयार थी। उसने बडे-बड वेतन द देश विदेश क बहुत से महान् वैज्ञानिको और यन्त्र-शास्त्रियो का इस काम पर भिडा दिया। न्यू-मेक्सीको (युक्त राष्ट्र, अमेरिका) की बालुका भूमि के एक कोने में नगरो और घनी बस्तियो स बहुत दूर लोस अलमास स्थान म परमाणु-बम की प्रयोगशाला बनाई गई। प्रिंसटोन, शिकागो, केलिफोर्निया, विस्का नसिन और मिनेसोता के विश्वविद्यालयों के विज्ञानविशारद वहा पहुँचे। प्रिंसटोन से तीन लारी वैज्ञानिक यन्त्र आए। हारवड का विशाल साइक्लोट्रान उखाडकर लोस अलमोस पहुँचाया गया। विस्कोनसिन ने वान डी-ग्राफ नामक दो परमाणुभेदक भेजे। हारवड का साइक्लोट्रोन १८ अप्रैल १९४३ को वहाँ पहुँचा, लेकिन काय इतनी तत्परता से किया जा रहा था, कि जुलाई के आरभ म ही उसका उपयोग किया जाने लगा।

परमाणु-बम का निमाण अमेरिका का परम गोपनीय रहस्य ह। वह अपने सहकारी तथा अनुगामी इगलड और कनाडा को भी वह रहस्य बतलाना नहीं चाहता। लेकिन अब भी परमाणु बम के निर्माण का ढग अमेरिका से बाहर किसी देश को मालूम नही ह, यह नही कहा जा सकता। उ २३५ तथा प्लूतोनियम पहिले ही से प्रसिद्ध थे । विदरणो की शृखला भी वैज्ञानिको को सबन विदित हो चुकी थी। अमेरिका ने विदरण शृखला द्वारा अधिक शीघ्र तथा भयकर विस्फोटनवाले बम तैयार करने का काय आरभ किया। प्रयोग द्वारा देखा गया कि उ २३५ या प्लूतोनियम के टुकडे तभी अभीष्ट काय करने में सफल हो सकते हैं, जब वह एक निश्चित परिमाण में हो। छोटा परमाणु-बम बेकार होता, क्योंकि वह फूट नही सकता था। एक ऐसा बडा बम बनाना था, जिसके भिन्न-भिन्न भाग इस तरह एक दूसरे के साथ सबधित हो, कि वह निश्चित और इच्छित काल में ही विस्फोटन करे। यदि उसके भीतर के परमाणु धीरे-धीरे विस्फोटित होने लग, तो बम के कितने ही भाग टुकडे-टुकडे हो जाएँगे, और बम के भीतर की सारी सामग्री का उपयोग नही हो सकेगा। बिना फूटा हुआ टुकडा जमीन पर गिरेगा और उ २३५ या प्लूतोनियम का यह महार्घ डला शत्रु के देश में गिरकर उसके हाथ लगेगा। अमेरिका ने देशी विदेशी वैज्ञानिको की सहायता से यह समस्या हलकरके परमाणु-बम बनाया, और न्यू-मक्सीको के अलमोगादरो नामक स्थान में प्रथम परमाणु बम के विस्फोट का सफल तजरबा किया गया।

युद्धोपरात परीक्षाएँ

परमाणु-बम विश्व का सब से शक्तिशाली हथियार ह, किन्तु उसके निमाण में खच भी बहुत अधिक पडता ह । उसकी उपादान, उरानियम जैसी अत्यत महार्घ धातु सामग्री का दाम चुकाने के लिये अमेरिका तैयार है लेकिन इसका यह अर्थ नही है, कि उसका प्रतिद्वद्वी रूस इस दौड में पीछे तथा उदासीन ह । अमेरिका म उसकी नीति बिल्कुल उल्टी है । जहाँ अमेरिका परमाणु-बम का मौके-बेमौके हर वक्त सभी जगह ढिंढोरा पीट रहा ह, वहा रूस स इतना ही मालूम हो सका, कि उसने भी परमाणु-बम बना लिया ह। रूस ने ढिंढोरा नहीं पीटा, किन्तु

अमेरिका और उसके साथी देशो को भूकम्प-मापक यत्रो द्वारा पता लग चुका है, कि रूस के पूर्वी भाग मे कई वार परमाणु-वम के प्रचंड विस्फोट हो चुके है। रूस भी उसी तरह हजारो की सख्या में वड़े-वड़े वैज्ञानिको को परमाणु-शक्ति के सैनिक और असैनिक उपयोग की गवेषणा मे लगाये हुए है। अमेरिका की होहल्ला मचानेवाली विशाल प्रोपेगडा मशीन ज्यादा प्रभावशाली है या रूस का गभीर मौन, इसके वारे मे निर्णय देने का यहाँ स्थान नही है।

अमेरिका ने हिरोशीमा और नागासाकी के वाद भी परमाणु-वम के तजरवे किए है और उसका कहना है, कि हमारे आधुनिकतम परमाणु-वमो से हिरोशीमा और नागासाकीवाले वमो की कोई तुलना नही हो सकती। १ जुलाई १९४६ को प्रशात महासागर के विकिनी द्वीप की खाडी मे अमेरिका ने अपने नये परमाणु-वम का तजरवा किया। इसके लिये विकिनी द्वीप के निवासियो को वहाँ से हटा कर दूसरी जगह भेजा गया। एक प्रत्यक्षदर्शी वैज्ञानिक सवाददाता ने विकिनी खाड़ी के तजरवे के वारे मे लिखा है —

"रात्रि के अधकार मे १८ मील पर एक आलपीन के आकार का लालिमा लिए हुए पीला प्रकाश दिखलाई पडा। यह परमाणु-वम के विस्फोट की पहिली ज्वाला थी, जो धीरे-धीरे वढती और फैलती एक महान् अर्धगोल के रूप मे परिणत हो गई—प्लूतोनियम के परमाणु टूट-टूटकर के यह दृश्य उपस्थित कर रहे थे। यह सवकुछ एक सेकड के दस लाखवे हिस्से मे हो गया। महान् अर्धगोल की ज्वाला फूटती ऊपर की ओर वढती गई। उसके मुड से परमाणु वम का विशेष चिह्न मक्खन जैसा सफेद एक महान् छत्रक निकला। चक्कर काटते वादलो के छोरो पर चित्र-विचित्र रग दिखलाई पड़ रहे थे—यह लाल, पीले और नारगी रंग सभी जगह एक दूसरे से मिश्रित होते सदा वदलते दीख रहे थे। वम फट कर ज्वाला ऊपर और उठती जा रही थी। फिर उसके मुड से दूसरा छत्रक निकला। यह परमाणु-वम का वादल पहिले २० हजार फीट फिर ३० हजार फीट तक उठा। वहाँ ज्वाला के तीन तल दिखलाई पड रहे थे। सवसे निचला तल समुद्र था, जहाँ विकिनी की खाड़ी मे अवस्थित लक्ष्यभूत जहाज जलते हुए धुआँ दे रहे थे। विचले तल मे कुमुलस वादल कपास के परदे की तरह परमाणु-वम के छत्रक को ढाँके हुए था। अत मे सव से ऊपर का तल सफेद तथा मक्खन के क्रीम की तरह फूले गेद जैसा परमाणविक वादल का था, जिसमे हिलती-डोलती, गुलावी, सुनहली आदि कितनी ही आकृतियाँ दिखाई पड रही थी। इसी वादल के भीतर आदमी के हाथो द्वारा तोड़े गये अरवों परमाणुओ की आग और ज्वाला जल रही थी। मानव नेत्रो के लिए यह अत्यत अद्भुत दृश्य थे।

"यह सभी चीजे आँखे देख रही थी, तो भी वहाँ कोई वड़ी आवाज नही हुई, न तोप जैसी गर्जना सुनाई पड़ी, जिसकी इस हृदयद्रावक दृश्य मे आशा की जा सकती थी। वहाँ केवल एक दवा सा धडाका सुनाई पड़ा। जिस वक्त वम ज्वाला के गोले के रूप मे फटा, उससे डेढ़ मिनट वाद यह धडाका सुनाई दिया। आवाज ११९० फीट प्रति सेकड चलती है और पत्रकारो का जहाज अपलाचियान धड़ाके की जगह से १८ मील पर था, जहाँ आवाज को पहुँचने मे ९० सेकड लगे। आवाज वहुत हल्की थी। वहाँ धक्का देने वाली वलवान लहर भी कोई नही आई। लेकिन अदृश्य रेडियोकरण उन सभी लोगो के शरीर को पार कर गया, जो वम विस्फोट को देख रहे थे। एपला-चियान के एक मनस्वी साहसी नाविक ने दाँत के फोटो के लिये इस्तेमाल होने वाले एक्सरे–फिल्म के

एक टुकडे को अपने हाथ के पीछे लगा लिया । जिस वक्त बम विस्फोट हुआ उसी समय उसने अपनी हथेली को विकिनी खाडी की ओर कर के हाथ को फैला दिया। फिल्म को प्रयोगशाला में धोया गया । उसकी हड्डियो का बहुत साफ एक्सरे फोटो निकला दिखाई पडा, और यह एक्सरे फोटो १८ मील की दूरी से लिया गया था । रेडियीकरण अपलाचियान के ऊपर बैठे हम सभी यात्रियो को पार कर गया था, तो भी हमारे ऊपर कोई दुष्प्रभाव नही पडा, क्योकि हम विस्फोट-स्थान से दूर सुरक्षित स्थान में थे। हममें से कोई भूल नही सकता और न भूल सकेगा, कि दूरी ही ने हमारी रक्षा की। अब हमने अनुभव किया, कि क्या हमारे जहाज को एडमिरल ब्लेंडी ने १८ मील दूर रखवाया था।

"सवेरे अपलाचियान खुले समुद्र से विकिनी खाडी की ओर लौटा। लक्ष्यभूत युद्ध पोता मे केवल चार मील की दूरी से भयकर ध्वस लीला दिखलाई पडने लगी। डूबने से बचे विशाल पोता के ऊपरी ढाचे, मस्तूल, चिमनी, गडर—मीनार आदि चूर-चूर हो गये थे, जिससे मालूम हो रहा था कि बम की अदृश्य धक्का देने वाली लहर भी कितनी जबरदस्त शक्ति रखती है। विमानवाहक इडीपडेंस, जो नवीनतम पोत था, जल रहा था और उसका ऊपरी ढाँचा तथा उडान-टेक का बिल्कुल पता नही था। सारी रात इडीपेंडेंस धाय-धाय जलता रहा और आग बुझाने वाला का सारा प्रयत्न व्यर्थ गया। अभिमानी, जापानी क्रूजर सकावा चूर्ण और दग्ध हो चुका था। उसकी चिमनिया और मस्तूलें दोहरे हो गए थे। अगले दिन सकावा डूब गया। सकावा के पास ही आक्रमणकारी वाहक कार्लाइल और ध्वसक एडरसन लगर डाले हुए थे। सकावा के नजदीक के यह दोनो जहाज लुप्त हो चुके थे। लक्ष्य के केद्र से दूर ध्वसक रेमसोन खडा था, अब एक विशाल ब्लेड की तरह उसकी चिकनी अटारी पेंदी ही दिखलाई पड रही थी। जहाज बम के धक्के से उलट गया था। पीछे वह डूब गया। लक्ष्यभूत जहाजो के मस्तूल तोडफोडकर चूर्ण हुए काले-काले दिखलाई पड रहे थे। बम के द्वारा निर्मित रेडियो क्रिया की किरणो से उनके पास किसी जीवित प्राणी का रहना असभव था।

"बम विस्फोट हवा में किया गया था, इसलिये सवेरे ही विकिनी के जल को छोटे पोता के लिये सुरक्षित घोषित कर दिया गया। एडमिरल ब्लेंडी और नवसेना मत्री फोरेस्टल का अग्निबोट तुरत लक्ष्य के क्षेत्र के केंद्र में अवस्थित पोत की ओर दौडा। जैसे ही उनका बोट नजदीक पहुँचा, सकावा डूब गया। सवेरे एडमिरल का बोट तथा कुछ दूसरे परीक्षक बोट खतरनाक क्षेत्र में जा पहुँचे। दोपहर को पत्रकार के लिये भी आज्ञा मिल गई। वहा कुछ दूर कुछ उलटे सैकडो पोत दिखाई पड रहे थे। विमानवाहक इडीपेंडेंस नये और आधुनिक युद्धपोतो में से था, वह भी परमाणु-बम की सनक का शिकार हुआ। पीछे पता लगा कि इडीपेंडेंस यद्यपि ध्वस्त हो गया था, तो भी डूबा नही। पत्रकारो की आखें सभी जहाजो में जीवन के चिह्न ढूँढ रही थीं और देखना चाहती थी, कि परमाणु-बम के आघात से सूअरो, बकरियो और चूहो में से कौन बचा। पहले जीवधारी आक्रमणकारी वाहक फालोन के ऊपर दिखलाई पडे। यह पोत केन्द्र से एक मील दूर पर था। सवाद दाताओ ने वहाँ दो बकरियो को देखा, जिनमें एक कठघर पर खडी थी। उसकी दाढी हवा मे हिल रही थी, दूसरी लेटी हुई थी। उनकी आखें चौंधियाई सी थी। दोनो जानवरो पर आघात का प्रभाव दिखलाई पड रहा था। किन्तु विमानवाहक सरातोगा परमाणु-बम के आघात की पहुच से दूर था। उसके ऊपर के प्राणी अच्छी अवस्था में थे। प्रथम विकिनी-परीक्षा ने सिद्ध कर दिया, कि

परमाणु-वम के पतन-स्थान से दो मील दूर पर सरातोगा जैसे पोत सुरक्षित रह सकते हैं। युद्ध में सौ फीट पर गिरे गोले से वच निकलने की आशा रहती है, किंतु परमाणु-वम के गिरने के दो मील तक सुरक्षा की आशा नही। सरातोगा जैसे पोत के डेक पर यदि नाविक रहते, तो वहाँ पर रक्खे छोडे सूअरो की भाँति शायद वम-विस्फोट के दूसरे दिन वह जीवित रहते, लेकिन कौन कह सकता है, वह हिरोशीमा के अभागो की तरह दस या अधिक दिन मे मर नही जाते। नेवादा दूसरे दिन सारे समय "तप्त" रहा। यह रेडियो-क्रिया सवंधी रेडियो-करण का प्रभाव था। वम-विस्फोट के ७२ घंटे वाद ही सवाददाता नेवादा के ऊपर जाने की इजाजत पा सके।" *

२५ जुलाई १९४६ को विकिनी-खाडी मे एक और परमाणु-वम की परीक्षा की गई, जिसमे वम को हवा मे नही जल के भीतर विस्फोटित किया गया। वम-विस्फोट के साथ विकनी-खाड़ी का जल एक ऊँचे स्तभ के रूप मे वरावर लवा होता ऊपर उठता गया। यह जलस्तभ प्राय. एक मील ऊँचा था। उसके ऊपर ४००० फीट तक और उठे गैस-फौव्वारे फूल से दिखलाई पड़ते थे। इस फूल के डठल मे १० लाख टन जल था। यह पुष्प सहित डंठल या छत्रक कितने ही समय तक आकाश मे लटकता रहा। फिर धीरे-धीरे जहाजो के ऊपर भयकर रेडियोक्रियावाली वर्षा के रूप मे गिर पडा। वम विस्फोट के समय सौ फुट ऊंची लहर समुद्र से निकलकर किनारे की ओर आगे वढने के साथ कम होती चली गई और विस्फोटस्थान से साढ़े तीन मील पर अवस्थित विकिनी द्वीप पर जाके ७ फीट ऊँची रह गई। उसने सारे विकिनी द्वीप को धो नही डाला, लेकिन पास के एक छोटे द्वीप को अवश्य डुवा दिया। पानी के भीतर ही भीतर ५००० फीट प्रति सेकंड की चाल से एक भीषण प्रवाह की तरग वढी, जिसने लक्ष्य जहाजो को सव से अधिक क्षति पहुँचाई, पेदियो को चूर कर दिया, धरनो को तोड़ दिया और जहाजो को डुवा दिया। युद्धपोत अरकसम तुरंत इस आघात के कारण डूव गया। सरातोगा और नमातो भी जल के भीतर से ध्वस्त होकर डूव गए। इस परीक्षा मे रेडियोक्रिया की वहुत अधिक ध्वस-लीला देखी गई। चार दिन तक रेडियोक्रिया के खतरे के मारे कोई उन जहाजो के पास तक नही जा सकता था, जो अव तक तैर रहे थे। रेडियोक्रियायुत "वर्षा" इसका कारण थी। इस परीक्षा ने वतला दिया, कि जल के भीतर से प्रवाहित आघात आध मील तक वडे जहाजो को ही डुवा नही सकता, वल्कि रेडियोक्रियायुक्त वर्षा के मारे जहाजो के नाविको का वच निकलना मुश्किल है। चाहे कुछ नाविक न भी मरते, लेकिन रेडियोक्रिया-वाली वर्षा उनके लिए थोड़े समय मे घातक सिद्ध होती।

विकनी मे परीक्षा के समय दो सौ पोत अपने पैंतीस हजार आदमियो के साथ मौजूद थे। इन पोतो मे ७७ लक्ष्यभेद के लिये थे। सव मिलाकर ४२ हजार आदमियो ने परीक्षा मे भाग लिया था। उनके खाने के लिये प्रतिदिन १३ हजार सेर आटा, २० हजार सेर मास, साढे ४८ हजार सेर तरकारी, १९ हजार सेर काफी, १८ हजार सेर मक्खन, ६६०० सेर चीनी खरच होती थी। उनके साथ ही लोगो ने ७० हजार मिश्री की सिल्लियाँ तथा ३० हजार सिगरेट के डव्वे भी खरीदे थे।

---

* यग पीपुल्स वुक आव एटामिक एनर्जी : लेखक रोवर डी पाटर, न्यूयार्क

अग्रेज विज्ञानवेत्ता जे० बी० एस० हल्डेन ने परमाणु-बम की ध्वस-लीला के बारे में कहा है [1]

"युक्तराष्ट्र अमरिका और सोवियतसघ ही ऐसी दो शक्तियाँ है, जो परमाणु-बम के युद्ध मे पूर्णतया ध्वस्त नही हो सकेंगी। यद्यपि वह न्यूयार्क, सानफ्रासिसको, लेनिनग्राद या ओदेस्सा को नही बचा सकेंगे। किंतु मिनियापोलिस, शिकागो और सेंटलुई के बचा पाने की आशा की जा सकती है। युक्तराष्ट्र को शायद कुछ सुभीता हो, किंतु उसके समुद्र तटवर्ती नगर पनडुब्बियो से छोडे निश्चित समय पर फटने वाले परमाणु बमो से ध्वस्त हो जायँगे, उनकी उठाई भयकर लहरो मे बहा दिये जायगे। इगलैड के बचने की तो बिल्कुल आशा ही नही है। जो पागल सडकी पश्चिमी योरोपीय गुट के लिये काम कर रही है, उसे इस बात का ध्यान नही है कि दस साल के भीतर ही लदन और पेरिस सोवियतसघ या किसी दूसरे राज्य से फेंके जाने उडतू बम की उडान के भीतर आ जायगे।'

परमाणु-शक्ति का अन्य उपयोग

परमाणुशक्ति का ध्वस के लिये ही अभी तक प्रयोग हुआ है। युद्ध और सेना के खर्च में पैसे-कौडी की ओर ध्यान नही रखा जाता। यदि परमाणु शक्ति के असैनिक उपयोग की खोज पर भी उसी तरह प्रयत्न किया जाता, तो सभवत अब तक उसके सबध मे भी कितने ही आविष्कार हो गये होते। गति धीमी चाहे हो, किंतु दुनिया के विज्ञान-वेत्ताओ का दिमाग इस वक्त उसी में लगा हुआ है। अफसोस यह है कि परमाणुशक्ति के सैनिक उपयोग की ओर अधिक ध्यान होने मे सभी देश अपने अनुसधानो को बहुत गुप्त रख रहे है, जिससे दुनिया के सभी वैज्ञानिको को एक दूसरे के अनुभव से काम उठाने का मौका नही मिल रहा है। अमेरिका रहस्य को गुप्त रखने के लिये सब से अधिक सचेष्ट है, लेकिन परमाणुशक्ति उद्योगधधो के लिये बहुत सस्ती विद्युतशक्ति प्रदान करेगी, जिससे परमाणुशक्ति वाले देश इतनी सस्ती चीजें बना सकेंगे, जिनका बाजार में दूसरे मुकाबिला नही कर सकेंगे। भला व्यापार में ऐसी जबर्दस्त प्रतिद्वद्विता मे कौन सा देश शक्ति नही होगा।

परमाणु-बम की अपेक्षा परमाणु शक्ति के औद्योगिक उपयोग की ओर लोगो का कम ध्यान नही है। लेकिन परमाणुशक्ति के लिये जितने बडे यत्रो की आवश्यकता है, उसके कारण परमाणु-शक्ति का उपयोग मोटरो और रेलवे इजनो पर नही हो सकेगा। हाँ, जहाजो पर शक्ति निष्पादक यत्र लगाये जा सकते है। दो सौ टन का विमान शायद परमाणुशक्ति से सचालित किया जा सके। चिकित्सा मे परमाणु-बम के निर्माण मे पैदा हुए रेडियो क्रियावाले तत्वो का बहुत सस्ता प्रयोग अब भी होने लगा है। उसने रेडियम की अपेक्षा बहुत सस्ते साधन डाक्टरो के हाथ में दे दिए है। रेडियोक्रियावाले कार्बन १४ तथा आइडिन कई दुसाध्य रोगो मे बडे सफल सिद्ध हुए है।

कृषि को भी इन सस्ते रेडियोक्रिया वाले पदार्थों से बहुत लाभ होगा। उनके द्वारा बीजो के भीतर जाति-परिवर्तन की गति को बढाया जा सकता है और नयी तरह की वनस्पति जातियों को उद्भावित किया जा सकता है। खाद में भी इसका उपयोग अधिक लाभदायक सिद्ध होगा। रेडियो क्रियावाले उत्पादित पदार्थो से हमारी सपत्ति को बढाया जा सकता है। हमारी युद्ध करने की शक्ति उससे बढती है, लेकिन साथ ही बहुत से मानवो की प्राणरक्षा भी उसके द्वारा की जा सकती है।

---

[1] सायस इन दि एटामिक एज

अशोक के लोक सुखयन धर्म का नया दृष्टिकोण

वासुदेव शरण

देवानाप्रिय प्रियदर्शी राजा अशोक की सब से बड़ी विजय धर्मविजय थी। कलिग विजय के बाद अशोक में विचारो का जो परिवर्तन हुआ उसके कारण उस ने धर्म के वास्तविक तत्त्व पर बहुत काफी चितन किया। जान पडता है, विचार करते हुए वह अत मे एक ऐसे निष्कर्ष पर पहुँचा जिसका मनुष्यजीवन के साथ घनिष्ठ सबध है। अशोक के लिये धर्म न तो सप्रदायो और मत-मतातरो की, जिनकी काफी सख्या उस समय भी देश मे थी, बपौती थी, और न इस लोक के जीवन से दूर केवल परलोक मे स्वर्ग जैसे किसी प्रलोभन को वश मे कर लेने का कोई नुस्खा था। अशोक ने अपने महान् व्यक्तित्व और विशाल मस्तिष्क की शक्ति से भारतीय ज्ञान और दर्शन की प्राचीन परपराओ को मथकर उनका तत्त्व खीच निकाला। उसीको उसने 'सारवढि' अर्थात् धर्मो के सार की वृद्धि कहा है।

देवो के प्रिय प्रियदर्शी राजा सब सप्रदायो, साधुओ और गृहस्थो का समान करते है और बहुत तरह की पूजा से उनको पूजित करते है। लेकिन कोई भी दान ओर पूजा देवानाप्रिय की दृष्टि मे इतनी महत्वपूर्ण नही है जितनी सब सप्रदायो के सार की वृद्धि (शि० ले० १२)।

धर्म के तत्त्व की नई परिभाषा अशोक का अपने अतर्ज्ञान और प्राणिमात्र की कल्याण—भावना से मथा हुआ मक्खन है। जैसा विशाल उसका हृदय था उसी विशालता के अनुसार धर्म की एक सार्वभौम परिभाषा पर उसका मन जाकर टिका। न तो उसे धर्म के नाम से प्रचलित किसी एक सप्रदाय को औरो की उपेक्षा करके आगे बढाना अभीष्ट था और न उसके जैसी सूक्ष्म तार्किक बुद्धि ओर अतर्राष्ट्रीय तथा उदार भावना के व्यक्ति के लिये धार्मिक परिभाषा के किसी तंग बधन को स्वीकार करना ही सभव था। अतएव अपनी सारग्राहिणी सूक्ष्म प्रतिभा से अशोक ने मौर्यकालीन राष्ट्र के उस महान् युग मे महान् पराक्रम किया। धर्म की सार्वभौम परिभाषा का निर्णय करने और अपनी प्रजाओ के एवं अपने मित्र-राजाओ के जीवन मे उस धर्म को सत्य कर दिखाने का कार्यक्रम, यही उस पराक्रम का स्वरूप था।

अशोक के धम पर विस्तृत विचार करने से पूव बौद्धधर्म के साथ जो उसका सबध था उसपर भी विचार करना आवश्यक है। बौद्धसाहित्य के दिव्यावदान आदि ग्रथो में अशोक को भगवान् बुद्ध के शासन में दीक्षित कहा गया है। अपने कोष, महापृथिवी, अत पुर, अमात्यगण, आत्मा और कुणाल को आयसघ को सौपकर भी अशोक का मन प्रसन्न न हुआ। इसपर राधगुप्त अमात्य ने पूछा 'आप उदास क्यो है ?' अशोक ने कहा—'सघ से मैं विप्रयुक्त हूँ, इसलिये दुखी हूँ' (दिव्यावदान, पृ० ४३०)। इसमें सदेह नही कि बौद्धधम और सघ के साथ अशोक का घनिष्ठ सबध था। उसने भगवान् बुद्ध के जन्मस्थान लुम्बिनी गाव की अपने अभिषेक के बीसवें वष में यात्रा की (रुम्मिनदेई स्तभलेख)। उस अभिषक के चौदहवे वष म पूवकाल के एक बुद्ध कनक मुनि के स्तूप की यात्रा करके आकार में उसको दुगुना बढाया। इन बातो से बौद्धधम के साथ उसके जीवन का व्यावहारिक सबध प्रकट होता है। वैराट शिलालेख से मालूम होता ह कि बौद्धसघ के प्रति भी अशोक क मन में सम्मान का भाव था। उसने सघ को यथोचित अभिवादन किया है। सघ के लिये उसके मन म गौरव और प्रसाद अर्थात् श्रद्धा का भाव था[1]। परतु उससे भी अधिक उसकी श्रद्धा भगवान बुद्ध के उपदेशो के लिये थी। उसके शब्दो में—भगवान् बुद्ध ने जो कुछ कहा है वह सब सुदर कहा है। उस भगवान् के उपदेश को भिक्षु और भिक्षुणी, उपासक और उपासिकाएँ सवदा सुने और धारण करें, यह उसका अभिमत था। इसी प्रसग में बुद्ध के धम को उसने सद्धम कहा है और यह इच्छा प्रकट की है कि बुद्ध-वचनो की रक्षा से ही सद्धम चिरस्थायी हो सकता है। मास्की म प्राप्त प्रथम लघु शिलालेख म, जिसमें केवल एकबार अशोक का निजी नाम दिया गया है, स्पष्ट किया है—अँ सुमि बुध शके, अर्थात् मैं शाक्य बुद्ध का अनुयायी हूँ। कलिंग-विजय के डेढ वष बाद तक अशोक बुद्धानुयायी उपासक बना रहा। तब तक उसने जीवन में जैसा चाहिए था वैसा पराक्रम नही किया था। वह कहता है कि एक वष पहले जब से मैं सघ में आया हूँ, मैने बहुत अधिक उद्योग किया है और पराक्रम का ही यह फल हुआ है।

इन वचनो से यह अवश्य ज्ञात होता है कि अशोक के मन पर बुद्ध के उपदेश की गहरी छाप पडी थी और वह एक गृहस्थ की भाँति अपने आपको बौद्धधर्मानुयायी मानने लगा था। सघ म जाने (सघमुपगते) की घटना भी ऐतिहासिक सत्य है, किंतु इससे यह कहना कठिन है कि अशोक ने सघ म दीक्षित होकर चीवर पहन लिया था। सघ का जो विशेष प्रभाव उसपर पडा वह बौद्ध-धम के बाहरी रूप के बाहरी प्रचार के लिये नही था, क्योंकि उस विषय म उसने बारबार सब सम्प्रदायो के लिये अपने समान व्यवहार का उल्लेख किया है बल्कि जिस तत्त्व को उसने धमरूप मे ग्रहण किया था उसके सर्वात्मना प्रचार के लिये अपनी सारी शक्ति से कटिबद्ध हो जाना, यह विशेष परिवतन सघ मे आने के बाद उसके जीवन में हुआ। अपने राज्य-शासन को सुरक्षित रखते हुए साम्राज्य की सारी शक्ति का धम-विजय के आदर्श से सचालित करना, यही अब उसके उत्थान और उग्र पराक्रम का ध्येय बन गया।

भगवान् बुद्ध के अमृत तुल्य वचन अशोक के सामने थे। भारतीय साहित्य की अन्य जो प्राचीन परपराएँ थी, वे भी उसके सामने थी। अनेक धार्मिक आचार्यों ने जिन प्राणदायक सत्यो का

---

१ विदिते वे भते आवतके हमा बुधसि धमसि सघसी ति गारवे च प्रसादे च (बैराट लेख)

विशालकाय बोधिसत्व, आरंभिक बौद्ध मूर्तिकला पूर्व कुषाणकाल
(ई० १ली शती) मथुरा से प्राप्त

—लखनऊ संग्रहालय

अपने जीवन म साक्षात्कार किया था और जिनमे भारतीय ज्ञान की महती परपरा प्रतिष्ठित हुई वह भी अशोक को अविदित न थी। उन सब का मथन करके अशोक ने धम के तत्व का मक्खन या अमृतभाग निकाला। धम क्या है? इसे बताने के लिये सीधे सादे शब्दो में उसने स्वय ही कहा है—

देवानाप्रिय ऐसा कहते है—"मातापिता की सेवा करनी चाहिए। गुरुओ की सेवा करनी चाहिए। प्राणियो के प्रति दया का भाव दृढ करना चाहिए। सच बोलना चाहिए। इन धम के गुणो को आगे बढाना चाहिए। ऐसे ही अतेवासी का आचाय की सेवा, सम्मान करना चाहिए। सगे सबधियो के साथ यथायोग्य व्यवहार करना चाहिए। यह पुरानी प्रकृति है। यह दीर्घायु का देने वाली ह। ऐसा ही करना उचित ह।" *

इन सरल शब्दो में अशोक ने अपने धार्मिक मतव्य को कहा ह। जतिग रामेश्वर स्थान के इसी लेख में एक वाक्य और जोडा गया ह जो धम की इस परिभाषा के साथ अशोक के सबध को निश्चित कर देता ह—

हव धमे देवान पियम

अर्थात् देवो के प्रिय राजा के मत में यही धम ह। जीवन को ऊँचा उठाने वाले ये नियम अत्यत प्राचीन ह और इसीलिये अशोक ने स्वय माना अपने धम की इस परिभाषा के लिए सार्वजनिक सहानुभूति और मतैक्य प्राप्त करने के लिये ही ऐसा कहा है—

एसा पोराण पकिती।

अर्थात यही सनातन परपरा है, यही पुरानी और चिरस्थायी जीवनपद्धति ह। इसके स्वीकार करने में सबको एकमत होना चाहिए। इन धमगुणो को स्वीकार करने में किसीको बाधा नहीं हो सकती। तत्तिरीय उपनिषद् की शिक्षावल्ली के अतगत गुरु अपने शिष्य को जो अनुशासन देता ह उसम और अशोक के धमगुणो में कितना साम्य है—

सत्य वद। धम चर। मातृदेवो भव। पितृदेवो भव। आचाय देवो भव। अतिथि देवो भव।

अर्थात्, सच बोलो। धर्म पर चलो। माता, पिता, आचाय और अतिथियो की सेवा करो।

धम की इस परिभाषा को दूसरे स्तभ-लेख म और भी स्पष्ट किया गया है। इस लेख में अशोक ने प्रश्नग्राहिका शैली से स्पष्ट कहा है—

धम अच्छा है, लेकिन धम है क्या? पापरहित होना, बहुत कल्याण करना, दया, दान, सचाई और पवित्रता, ये धम ह। [१] धम की यह परिभाषा मनु के प्रसिद्ध दस लक्षणवाले धम के कितनी निकट है। मनु ने भी धृति, क्षमा, दम, अस्तेय, शौच, इद्रियनिग्रह, ध्यान, विद्या, सत्य और अक्रोध इन दस गुणो को जिनका सबध नीति और सदाचार से है धम कहा है। मनु की परिभाषा

---

* लघु शिलालेख, २।

१ धमे साधू कियचु धमे ति अपासिनवे बहुकयाने दया दानि सचे सोचिये (द्वितीय स्तभ लेख)।

के अक्रोध, दम और इद्रियनिग्रह अशोक के 'अल्प आसिनव' के अतर्गत है।' 'चंडता, निष्ठुरता, क्रोध, मान और ईर्ष्या, ये आसिनव या पाप के गड्ढे मे मनुष्य को गिराते है' (स्तभ लेख ३) । क्षमा दया नामक धर्मगुण का पर्याय है। सत्य और शौच दोनो सूचियो में समान है। अग्रपराक्रम और अग्र-उत्साह जिन पर अशोक ने इतना जोर दिया है, ये ही धर्ममय जीवन के लिये धृति नामक गुण है। मनु के धी या ध्यान पर अशोक ने भी बहुत जोर दिया है और अपने शब्दो मे उसे 'निझति' कहा है। स्तभलेख सात मे अनेक प्रकार से धर्म की व्याख्या और धर्म के लिये किए गए अपने कार्यो का परिगणन कराने के बाद कहा है "धर्म की वृद्धि दो तरह से होती है, एक तो बाहरी धर्मनियमो का पालने करने से ओर दूसरे निझति या ध्यान से। इनमे भी धर्म के नियम महत्त्व मे कम है। निझति बहुत भारी है। धर्म नियम तो ऐसे समझिए जैसे मैने यह-यह किया, इन-इन जीवो को अवध्य कर दिया, और भी जो काम मैने किए, वे धर्म नियम है। पर निझति से ही मनुष्यो मे सच्ची धर्मवृद्धि हुई है'। (स्तभलेख ७) वस्तुत ध्यान के द्वारा मानसिक परिवर्तन ही 'निझति' है। यही इस नये धर्म का रहस्य था जो उस युग के धर्मविषयक सार्वजनिक चितन की विशेषता थी। अशोक के बहुत कल्याणवाले धर्म मे और मनु के दस लक्षणवाले धर्म मे गहरी समानता देखते हुए यह मानना उचित प्रतीत होता है कि दोनो की आत्मा एक है। सम्प्रदाय विशेष या मतमतातरो के विश्वास से धर्म को ऊपर उठाकर शील और सदाचार की दृष्टि से धर्म की परि-भाषा करना और नीतिप्रधान मार्ग से जीवनक्रम को चलाना यह उस युग के विचार की विशेषता थी। इसका सर्वोत्तम पुष्प हम अशोक मे विकसित देखते है। अशोक की धर्मविषयक वाणी और व्यास की भारत सावित्री दोनो का मर्म बिल्कुल एक है। अशोक कहते है--"भेरीघोप को हटाकर मैने धर्मघोप चलाया है।" (शिलालेख ४) । वेदव्यास ने भी निम्नलिखित शब्दो मे अपने व्यक्ति-त्व की छाप डालते हुए कहा है--

ऊर्ध्वबाहुर्विरौम्येष न च कश्चिच्छृणोति मे।
धर्मादर्थश्च कामश्च स धर्मः किं न सेव्यते ।।

अर्थात् भुजा उठाकर मै कह रहा हूँ कि धर्म से ही जीवन मे अर्थ और काम की प्राप्ति होती है। उस धर्म की उपासना क्यो नही करते ?

व्यास के 'न च कश्चिच्छृणोति मे' कोई मेरी बात नही सुनता की तरह अशोक ने भी ठीक इसी प्रकार के शब्दो मे मनुष्यो की स्वाभाविक प्रवृत्ति का वर्णन किया है--

कयानमेव देखति इय मे कयनि कटेति नो मिन पाप देखति इयं मे पापे कटेति इयं वा आसि-नवे नामाति। द्रुपटि वेखे चु खो एसा । हेव चु खो एस देखिये। (स्तभलेख ३) । देवानाप्रिय प्रियदर्शी राजा ऐसा कहता है--"कल्याण या अच्छाई को ही हर कोई देखता है कि यह मैने अच्छा काम किया है। पर पाप को कोई नही देखता कि यह मैने पाप किया है। अथवा यह जो आचार-हीनता है मुझसे हुई है। अवश्य ही इस प्रकार का देखना बहुत ही कठिन है। परंतु इसे इस तरह देखना ही चाहिए।

अशोक और व्यास दोनो के कठ की वाणी लगभग एक ही प्रकार से फूट पड़ी है। दोनों ने लोककल्याण की कामना से व्याकुल होकर मनुष्यों की एक साधारण कमजोरी की ओर इशारा किया है।

अथ और काम के मुकाबले में धर्म की बात किसीको अच्छी नहीं लगती। अपने गुणों का ध्यान करने में लोग जितने तत्पर रहते हैं, अपनी त्रुटियों के प्रति उतने सचेत नहीं रहते और न उन्हें दूर करने में कड़ाई से बरतते हैं। व्यास ने महाभारत में एक नये सिरे से धर्म की व्याख्या की। उनके मत में धर्म को धर्म इसलिये कहते हैं क्योंकि उससे प्रजाओं को धारण किया जाता है। जिसके अंदर धारण करने की शक्ति हो उसीको धर्म कहना चाहिए—

धारणाद्धर्म इत्याहुधर्मो धारयते प्रजा ।
यत्स्यात् धारणसंयुक्तं स धर्म इत्युदाहृत ॥

व्यक्ति को, राष्ट्र को, जीवन को, संस्थाओं को, लोक और परलोक को धारण करनेवाले जो शाश्वत सर्वोपरि नियम हैं, वे धर्म हैं। धर्म स्वर्ग से भी महान् है। लोकस्थिति का सनातन बीज धर्म है। इस नई दृष्टि से देखने पर धर्म ओजस्वी प्रवाह की तरह जीवन को सींचने और पवित्र करने वाला अमृत है। राजाओं की जय और पराजय आने जाने वाली है, पर धर्म नित्य है—

न जातु कामान्न भयान्न लोभाद्
धर्मं त्यजेज्जीवितस्यापि हेतो ।
नित्यो धर्मः सुखदुःखे त्वनित्ये
जीवो नित्यो हेतुरस्य त्वनित्य ॥ (महाभारत का अंतिम श्लोक)

अर्थात् काम से, भय से, लोभ से, यहाँ तक कि प्राणों के लिये भी धर्म को छोड़ना ठीक नहीं है, क्योंकि धर्म नित्य है, सुख और दुःख क्षणिक हैं। इसी तरह जीव भी नित्य है, जन्म और मृत्यु अनित्य हैं।

अशोक ने भी शील और सदाचार प्रधान धर्म को 'दीघावुसे' या दीर्घजीवी माना है (स्तंभ लेख २) और धर्मविजय को महाफला, बहुत फल देनेवाली एवं परलोक में भी टिकाऊ कहा है (शिलालेख १३)। अशोक के अनुसार धर्म ही साधु है या जीवन का सार है।

जीवन के आदर्श परिवर्तनशील हैं और इतिहास इस बात का साक्षी है कि वे युगानुसार बदलते रहते हैं। किसी समय 'श्रेष्ठतमाय कर्मणे' (यजुर्वेद), श्रेष्ठतम कर्म के लिये जीवन को ढाला जाता था। ब्राह्मण ग्रंथों के युग में यह श्रेष्ठतम कर्म यज्ञ था और यज्ञ का आदर्श ही जीवन का प्रधान आदर्श था। शतपथ ब्राह्मण में लिखा है—

यज्ञो वै श्रेष्ठतमं कर्म (१।७।१।५)*

इस आदर्श की समाज में जब अति हुई तब भगवान् बुद्ध के युग में उसकी प्रतिक्रिया आरंभ हुई। अशोक ने भी हिंसा की उस प्रवृत्ति की ओर उल्लेख किया है—

अतिकातं अंतरं बहूनि वाससतानि'
वढितो एव प्रणारंभो विहिंसा च भूतानं ॥ (शिलालेख ४)

अर्थात् 'पूर्वकाल में बहुत समय तक, अनेक सैकड़ों वर्षों तक पशुओं की हिंसा और सब भूतों

---

* यही बात यजुर्वेद के प्रथम मंत्र के 'श्रेष्ठतम कर्म' शब्दों की व्याख्या करते हुए तैत्तिरीय ब्राह्मण में भी कही है—यज्ञो हि श्रेष्ठतमं कर्म (३।२।१।४)।

के प्रति हिसात्मक व्यवहार वढ़ता रहा। समाज मे इस प्रकार की निरर्थक और उद्वेगकारिणी हिसा से लोगो का मन फिरा ओर जीवन मे एक नये आदर्श की खोज होने लगी। हिमात्मक यज्ञ तत्र श्रेष्ठतम कर्म न रह गया। वुद्ध-युग मे शील-प्रधान धर्म आदर्श के ऊँचे आसन पर प्रतिष्ठित किया गया। वुद्ध का प्रयत्न एकागी न था। सारा समाज उस प्रकार के भाव से हिल रहा था। समाज मे विचारो की वह असाधारण उथल-पुथल धर्म जैसी जीवन की सरल व्याख्या को प्राप्त कर के कुछ शात हुई और स्थिर किनारे पर लगी। इसका गहरा प्रभाव हिंदू साहित्य पर भी स्पष्ट है। सशोधित-महाभारत के विद्वान् सपादक श्री सुकथनकर ने महाभारत ग्रथ पर पडे हुए नीति-प्रधान धर्म के इस गभीर प्रभाव को देखकर, उसकी विवेचना करते हुए लिखा है कि किसी गाढे युग मे चौबीस हजार श्लोको वाले वीरगाथा परक मूल काव्य को जिसके कर्ता वेदव्यास माने जाते थे एव जिसमे भारतयुद्ध के इतिहास का ही विस्तृत वर्णन था, भृगुओ ने, जिनको धर्म और नीतिशास्त्र का विशेष ज्ञान था, अपनाकर. उसका वृहत सस्कार कर डाला और भारत को महाभारत के रूप मे ससार को प्रदान किया। फलत महाभारत केवल इतिहास ग्रंथ न रह गया, उसने धर्मग्रथ का रूप ग्रहण कर लिया। महाभारत का विशाल प्रासाद धर्म की नीव पर रचा गया है। धर्मग्रंथ महाभारत के नायक धर्म के पुत्र धर्मराज युधिष्ठिर है, भारतयुद्ध धर्मयुद्ध है, युद्धभूमि को धर्मक्षेत्र कहा गया है एव नारायण को धर्म की ग्लानि दूर कर के धर्म की स्थापना के लिये कृष्ण रूप मे अवतार लेनेवाला कहा गया है। इस प्रकार सपूर्ण महाभारत धर्म के साँचे मे ढलकर निष्पन्न हुआ। कुछ दिन तक, जैसे आश्वलायन गृह्यसूत्र के समय मे, मूल भारत काव्य महाभारत से अलग भी विद्यमान रहा, पर पीछे से धर्मशास्त्र, अर्थशास्त्र और मोक्षशास्त्र नामक त्रिवर्ग के रूप मे ससिद्ध महाभारत ग्रंथ ही लोक के सामने वच गया। धर्म-प्रधान भावना का यह युग अनुमान से बुद्ध से लेकर अशोक मौर्य तक का समय था। इसीमे धर्म के आदर्श की पूर्ण प्रतिष्ठा वढी। एक ओर वेदव्यास ने 'नमो धर्माय महते धर्मो धारयते प्रजाः।' कहकर महान धर्म को प्रणाम किया है, और दूसरी ओर अशोक ने--

एस हि सेस्टे कमे य धमानुसासनं (शिलालेख ४),

अर्थात् यही श्रेष्ठ कर्म है जो धर्म का अनुशासन है, इस प्रकार की घोषणा की।

जो श्रेष्ठतम आदर्श कर्म है उस धर्म के स्वरूप का परिचय कराने का अशोक ने कई वार प्रयत्न किया है। स्तभलेख २ और ७ एव लघुशिलालेख २ मे इस सदाचार प्रधान धर्म की व्याख्या की गई है। जिन विशिष्ट कार्यो से और जीवनपद्धति से दया, दान, सत्य, पवित्रता, मृदुता और लोककल्याण की वृद्धि हो वे ही धर्म है।* धर्म और शील ये दोनो पर्यायवाची है। अशोक ने जहाँ एक ओर धर्म को श्रेष्ठ कर्म वताया वही दूसरे सूत्र मे कहा है कि जिसके जीवन मे शील नही है उससे धर्म का आचरण भी नही हो सकता---

एस हि सेस्टे कमे य धमानुसासन
धंमचरणे पि न भवति असीलस। (शिलालेख ४)

---

* एस हि धमाप दाने धंम पटीपति च या इय दया दाने सचे सोचवे मदवे साधवे च लोकस (स्तभलेख ७ पक्ति १८)।

धममय जीवन की कुजी व्यक्ति के मन की शुद्धि है। जिसके मन मे भावशुद्ध नही है उसका धर्माचरण और सारा काम भी दभ के लिये हो सकता ह । अतएव भाव शुद्धि आर आत्मसयम यही धम की सच्ची कसौटी है। अशोक ने सब धर्मो के सिद्धान्त पर सूक्ष्म विचारकर के यही निष्कर्ष निकाला कि सयम और भाव शुद्धि इन दोना के विषय मे वे सब एकमत ह, यथा—

'देवा के प्रिय प्रियदर्शी राजा की इच्छा ह कि सब धम और सम्प्रदाया के लोग हमारे राज्य में सब जगह समान रूप से रहें, क्योकि वे सभी तो एकमत होकर सयम आर भावशुद्धि चाहते हैं। मनुष्या की इच्छाएँ और उनकी प्रवृत्तियाँ एक-सी नही होती। कोई पूर्णरूप से और कोई एक अश में धर्माचरण कर पाता है। लेकिन यह निश्चय है कि सयम, भावशुद्धि, कृतज्ञता आर दृढभक्ति से जो रहित है वह चाहे जितना भी दान दे उसका स्थान बहुत नीचे रहेगा।' (शिलालेख ७)

ज्ञात होता है कि भावशुद्धि पर इस प्रकार का गौरव उस युग की विशेषता थी। शील प्रधान जीवन में यदि भाव ठीक नही तो सब कुछ आडवर बन जाता है। मनु ने भी भावशुद्धि को ही मुख्य माना है 'वेद, दान, नियम, यज्ञ आर तप, ये सब उसके जीवन में जिसका भाव बिगडा हुआ है, व्यर्थ हो जाते है।* गीता के धम का लक्ष्य भी मनकी शुद्धि प्राप्त करना ह। बिना मन को ठीक किए धार्मिक जीवन के आडबर को गीता में मिथ्याचार कहा है। सच्चे धम के लिये आत्म-पर्यवेक्षण अत्यत आवश्यक है। अपने अच्छे-बुरे कर्मो की छानबीन करने की आदत ही धार्मिक जीवन की पहली सीढी है। इस प्रकार का सूक्ष्म विचार या विवेक ही वह भीतरी आँख है जिसस मनुष्य स्वय अपनी उन्नति कर सकता है। इसे अशोक ने 'चक्षु' कहा है आर दया, दान, सत्य, शौच आदि गुणा के अतिरिक्त अनेक उपाया से आध्यात्मिक चक्षुदान के लिये उसने जो अथक परिश्रम किया उसका गौरव पूर्ण उल्लेख किया है। (स्तभलेख २)।

उसके निजी जीवन म यह आध्यात्मिक आख अत्यत जागरणशील विचार और काय के द्वारा रात और दिन सब भूता के हित आर लोककल्याण म प्रवृत्त रहती थी । इसके अतिरिक्त उसने अपना प्रभाव अपने पुत्र, पौत्र, आर उच्च-राजकर्मचारियो पर भी डाला और धममय शासन के नये विधान को यथाशक्ति पूरा करने के लिये उन्हें प्रेरित किया ।

धम-विजय के लिये कृतसकल्प सम्राट ने एक विशिष्ट लेख म शासन के इस नए विधान की घोषणा जारी की—

एसा हि विधि या इय धमेन पालना, धमेन विधाने धमेन सुखियना, धमेन गोती ति ।

अर्थात यह विधान है। धम से प्रजा का पालन करो। धम से सम्पन्न कार्यो का आचरण करो। धर्म से लोक को सुख पहुँचाओ। धम से रक्षा करो। (स्तभलेख १)।

* वेदास्त्यागश्च यज्ञाश्च नियमाश्च तपासि च।
न विप्रदुष्टभावस्य सिद्धिं गच्छन्ति कर्हिचित् ॥ (मनुस्मृति २।९७)

इन चार सूत्रो मे शासन के नए दृष्टिकोण से सब को परिचित कराया गया। मेरे जितने छोटे-बड़े और मध्यपद के राजकर्मचारी (पुलिसा) है, वे सब, एव प्रत्यंत देशो में कार्य करने वाले महामात्र, सब इसी विधान का अनुवर्तन करेगे और दूसरे लोगो से करायेगे' (स्तंभलेख १)। उसने चाहा कि वह अपने उपदेश ओर उदाहरण से सब के मन मे अपना सक्रामक उत्साह भर दे। 'विना अग्रधर्मकामता के, विना अग्रआत्मपरीक्षा के, विना अग्रशुश्रूषा के, विना अग्रभय के, विना अग्र उत्साह के, इस लोक और परलोक दोनो मे से किसी की भी साधना नही की जा सकती।' इस विचार का प्रभाव सब से पहले उसके निजी जीवन पर पडा और उसने अपने दैनिक कार्यक्रम में भारी परिवर्तन किया। सर्वत्र और सवकाल मे उसने अपने आपको राजकार्य के लिये तत्पर और सुप्राप्य घोषित किया। जो उसका विल्कुल निजी समय था उसमे भी राजकार्य को हिस्सा बँटाने का अधिकार दिया गया। 'अव मैंने ऐसा कर दिया है कि चाहे मै भोजन करता होऊँ, चाहे अपने महल मे होऊँ, चाहे रनिवास मे होऊँ, चाहे शरीर की आवश्यक क्रियाओ मे सलग्न होऊँ, चाहे पूजा मे निरत होऊँ, और चाहे उद्यान मे विश्राम करता होऊँ, सव जगह लोगो के कार्य की सूचना मेरे कर्मचारी मुझे दे, सव जगह मै लोक-कार्य करने के लिये उद्यत हूँ। ऐसी मैंने आज्ञा दी है। जनकार्य और उत्थान करते हुए मुझे सतोष नही होता। सर्व-लोक-हित मेरा एक मात्र कर्तव्य है, उससे श्रेष्ठ और कोई कर्म नही है।' (शिलालेख ६)

अव क्रमश. अशोक ने अपने चारो ओर के बहुविध जीवन को टटोलना शुरू किया कि किस प्रकार से उसमे धर्म के नए आदर्श के अनुसार परिवर्तन किया जाय। धार्मिक जीवन के दो पक्ष है—एक तो आतरिक शील, सयम ओर सदाचार की प्रवृत्ति जिसका सवध व्यक्ति के अपने जीवन से है, और दूसरे परिवार ओर समाज के वीच मे स्थित मनुष्य के व्यवहारों से। सच्चे धार्मिक जीवन का प्रभाव मनुष्य के वाह्य व्यवहारिक जीवनपर अवश्य पड़ना चाहिए। इसके लिये अशोक ने एक नए जीवन-विधान का उपदेश दिया। जिस प्रकार प्रथम स्तंभलेख मे शासन के नए विधान मे चार वातो को प्रधानता दी गई है उसी प्रकार दूसरो के साथ संपर्क मे आनेवाले धार्मिक जीवन के लिये चार वातो को मूल भूत कहा गया है। वे इस प्रकार है—

१. धर्म दान
२. धर्मसंवध
३. धर्म सविभाग
४. धर्मसस्तव या धर्मपरिचय

अर्थात् कोई भी व्यक्ति केवल अपनी ही उन्नति और धर्मवृद्धि से संतुष्ट न रहे, वल्कि उसमें सव को हिस्सा दे आर धर्ममय जीवन के वढ़ते हुए क्षेत्र मे प्रयत्नपूर्वक सव का स्वागत करे। जव कोई किसीको द्रव्य का दान देता है या अन्य किसी प्रकार से अनुग्रह करता है तो उससे केवल परिमित हित हो सकता है, लेकिन धर्मदान और धर्मानुग्रह का फल अनंत है। धर्म के उपदेश से जिसका जीवन वदल दिया जाता है, उसके कल्याण की कोई हद नही रहती। इसलिये पिता को, पुत्र को, भाई को, स्वामी को, पडोसी को, मित्र को, सुहृद् को, संवंधी को, और परिचितो को चाहिए कि आपस में एक दूसरे को वताते रहे कि यह कर्तव्य है ओर यह उत्तम है (शिलालेख ९,११) पर सवंधी धार्मिक व्यवहार की अशोककृत व्याख्या मे निम्नलिखित कर्तव्य समिलित है—

१ दास और सेवकों के साथ सम्यक् व्यवहार
२ माता और पिता की शुश्रूषा
३ मित्र, परिचित और सबंधियों को दान
४ श्रमण और ब्राह्मणों को दान
५ प्राणियो की अहिंसा *

शिलालेख ९ म गुरुजनो का सम्मान और सेवा भी इस कार्यक्रम में सम्मिलित है, एव इस प्रकार के अन्य उत्तम कर्तव्य भी समझने चाहिए (एस अने चा हेडिस)। यह व्याख्या अशोक को अत्यन्त प्रिय थी। शिलालेख ३ और ४ में भी इसको दोहराया गया है। अल्पव्यय अर्थात् दस माल पर धन का व्यय करना और अल्पभाण्डता अर्थात् कम सग्रह करना ये दोनो गुण भी इसी कार्यक्रम के अतर्गत कहे गए है। अशोक ने कहा है कि जीवन म इस प्रकार के गुणो का आचरण उसके धर्माचरण सबधी विशेष आयोजन का फल था अन्यथा उससे पूर्व के युगो में पशुओ का यज्ञीय आलभन और प्राणियो की हिंसा बहुत बढी हुई थी और अन्य सद्गुणों की ओर भी लोगो की रुचि नही थी। इस प्रकार जनता में नया धर्मदान बाँटने और उनमें धर्म मगल का भाव जगाने के लिये केवल एक सामान्य आज्ञा देकर ही अशोक ने सतोष नही कर लिया, बल्कि उसने शासन के सपूर्ण यत्र को उसी ध्येय के लिये सचालित किया। साम्राज्य में सर्वत्र राजकर्मचारी, रज्जुक, और प्रादेशिक पदाधिकारियो को हुक्म हुआ कि वे प्रति पाँच वर्ष में एकबार धर्मानुशासन के कार्य के लिये अवश्य दौरा करें, किंतु उसके साथ अपने नियमित कार्यों को न भूलें। ज्ञात होता है कि पीछे से इस कार्य के लिये स्वतत्र कर्मचारियो की आवश्यकता का अनुभव हुआ और सम्राट् ने धर्म महामात्र नाम के विशेष कार्यकर्ता नियुक्त किए। सम्राट स्वय भी प्रजाओ के सपर्क में आकर धर्मानुशासन और धर्म विषयक परिप्रश्न करते थे। अपनी व्यक्तिगत रुचि की ओर विशेष सकेत करते हुए अशोक ने कहा है कि धर्म का उपदेश और धर्मविषयक परिपृच्छा इन दोनो में भी अतिम बात उसको बहुत प्रिय थी। सरल ढग से जानपद जन के निकट जाकर उनसे धार्मिक विषयो के प्रश्नोत्तर करने म उसका मन बहुत लगता था (एसे भुये लाति होति देवाना पियसा पियदसिसा लाजिने) (शिलालेख ८)।

घरेलू जीवन को धर्म के साँचे मे ढालने के लिये एक आवश्यक बात की ओर भी अशोक ने ध्यान दिया। गृहस्थ जीवन का मूल आधार स्त्रियाँ है और उनका बहुत-सा समय और शक्ति छोटे छोटे निरर्थक रीति रिवाजो में निकल जाती है। घर में बीमारी के समय, पुत्र के विवाह म, कन्या के विवाह में, बच्चो के जन्म के समय, घर से बाहर यात्रा के समय और इसी प्रकार के बहुत अवसरो पर नाना भाँति के छोटे-बडे मगल लोग मनाते है और माताएँ और स्त्रियाँ तो विशेष कर इसमें भाग लेती है। उन्हे यह सोचना चाहिए कि इस प्रकार के मागलिक कार्यों का फल बहुत थोडा है। उनमे वास्तविक सुख की वृद्धि नही होती। गृहस्थ-जीवन के सच्चे सुख को बढाने के लिये धर्म मगल करना चाहिए जिसका फल बहुत बडा है। घर में नौकर चाकरो के प्रति अच्छा, व्यवहार

* तत एसे दास भटकसि सम्या पटिपति मातापितासु सुसुसा मितसथुत नातिक्यान समना बभनाना दाने पानान अनालम्भे (शिलालेख ११)।

वड़े-बूढों का आदर, यथाशक्ति दान और हिसा की वृत्ति को रोकना यही सच्चा धर्म-मगल है जिससे घर का स्थायी सुख वढ सकता है। इसीमे सवको मन लगाना चाहिए। पिता, पुत्र, भाई, स्वामी, मित्र, परिचित और पड़ोसी सभी को अवसर के अनुसार इन वातो को समझाने का प्रयत्न करना चाहिए। धर्म-मगल के अतिरिक्त जो दूसरी तरह की मान्यताएँ है उनका फल भी सदिग्ध है। उनको करने से काम सिद्ध हो अथवा न भी हो। यदि कार्य हो भी जाय तो उसका फल इसी लोक मे मिल सकता है। लेकिन धर्म-मगल का फल चिरस्थायी होता है। अगर वह विशेष काम न भी पूरा हो तो भी परलोक के जीवन मे धर्म-मगल से अनत पुण्य होगा। कदाचित् धर्म-मगल करने वाले व्यक्ति का लौकिक कार्य भी सपन्न हो जाय तव तो दोनो लाभ है, यहा कार्यसिद्धि और परलोक मे अनत पुण्य (गिलालेख ९)। इस प्रकार अपने नैतिक विचारो के अनुसार लोगो के जीवन को धर्मपरायण वनाने के लिये अशोक ने एक वृहत् और सार्वजनिक प्रयत्न किया और छोटे-वड़े सव को निमत्रण दिया कि वे उस सुदर और आवश्यक कार्य मे सहयोग दे।

धर्मानुशासन की नई नीति के फलस्वरूप जनता के वाह्य जीवन मे भी सम्राट् को कुछ परिवर्तन आवश्यक जान पडे। इन्हे अशोक के सामाजिक सुधार कहा जा सकता है। पहला सुधार सव प्रकार की हिंसा को रोकना था। इसके लिये उसने अपने आपको ही सव से पहिले सुधार का पात्र समझा। उसके कथानुसार पहले राजाओ के रसोईघर मे सैकड़ो-हजारो पशुओ की हिसा होती थी, और जिस दिन पहला धर्मलेख उसने लिखवाने का विचार किया उस दिन तक दो मोर और एक हिरन राजा के चौके के लिये मारे जाते थे। उसमे हिरन निश्चित न था, पर उस दिन मे पीछे इन तीनो प्राणियो का वध भी रोक दिया गया। इस प्रकार अपने जीवन को परिशुद्ध वनाकर उसने जनता के जीवन मे से हिसा के दोष को मिटाने का निश्चय किया। उसने उन समाज नामक उत्सवो को वद करने की आज्ञा दी जिनमे उसे वहुत प्रकार के दोष जान पड़े। वौद्ध साहित्य से मालूम होता है कि समाज संज्ञक उत्सवो का जनता मे वडा प्रचार था। इनमे नृत्य और सगीत के लिये वहुत वड़ी सख्या मे जनता एकत्र होकर आनद मनाती और मास और मद्य का प्रचार रहता था। अशोक का लक्ष्य विशेषकर उस तरह के समाज से हो सकता है जिसमे हाथी, घोडे, वैल, वकरे, मेढ़े, मुर्गे, वटेर आदि की हिसामय भिड़त कराई जाती थी। कौटिल्य ने भी उत्सव-समाज और यात्राओ का उल्लेख किया है जिनमे चार दिन के लिये राज्य की ओर से मद्य चुआने और पीने की छूट रहती थी (अर्थ० २।२५)। अशोक के पितामह चद्रगुप्त को पशुओ की भिडत देखने का वहुत शौक था और वर्ष मे एकवार इस प्रकार के हिसायम द्वद्व कराने के लिये एक वड़े मेले की आयोजना की जाती थी। हाथी और गैड़ो को परस्पर भिडते और लोहू लुहान होते देखकर जनता मे पाशविक आनद की उत्तेजना होती थी। इस वीभत्स कृत्य को वद करना आवश्यक था और इसी सुधार ने सव से पहले अशोक का ध्यान खीचा। हिसात्मक समाजो को वद करते हुए जो जनता के स्वस्थ और शुद्ध उत्सव थे, उनपर किसी प्रकार की रोक थाम नही लगाई गई। 'एक तरह के समाज ऐसे है जो देवानांप्रिय प्रियदर्शी राजा की दृष्टि मे शिष्ट सम्मत है' (शिलालेख १)।

ये उत्तम समाज वे जान पड़ते है जिनके लिये, स्वय अशोक ने जनता मे धर्म का अनुराग उत्पन्न करने के लिये प्रवध किया था। ये एक प्रकार के धार्मिक जुलूस थे जिनमे देवताओ के विमान निकाले जाते थे। सजे हुए हाथी, ज्योति-स्कंध एवं और भी अनेक दिव्य रूप जनता को दिखलाए

जाते थे। लोगो में उस समय स्वग और परलोक के सबध म जैसा दृढ विश्वास था उसीके अनु रूप विमान दर्शना, हस्ति दशना, अग्नि-स्कध और दिव्य रूप प्रदर्शन के आयोजन अशोक के द्वारा कराने की व्यवस्था की गई।

पशु-जगत् के प्रति तो धार्मिक सम्राट् के मन म बहुत ही अनुकपा का भाव था। 'द्विपाद, चतुष्पाद, पक्षि, और जलचर जीवो पर मैंने बहुत प्रकार का अनुग्रह किया है और प्राण-दक्षिणा दी है' (स्त० लेख० २)। अनुकम्पा के ये विविध काय इस प्रकार थे—

१ मुर्गो को वधिया न किया जाय।*
२ गेहूँ आदि की भूसी जिसमें जीव पैदा हो गए हो न जलाई जाय।
३ जगलो का व्यथ के लिये या जानबूझकर पशु हिंसा के लिये न जलाया जाय।
४ हर महीने की कुछ निर्दिष्ट तिथियो पर बैल, बकरे, मढे, सुअर और अन्य पशुओ की खस्सी न किया जाय।
५ अन्य निर्दिष्ट तिथियो पर गाय और घोडो को दागा न जाय।
६ वष म परिगणित छप्पन तिथियो पर मछली न मारी जाएँ, न बेची जाएँ।
७ उन्ही दिनो में हाथियो के लिए सुरक्षित वनो में तथा कवटो के लिये सुरक्षित तालाबो में किसी प्रकार की हिंसा न की जाय।
८ बकरी, भेड और सूकरी जो गर्भिणी है या जिसके बच्चे दूध पीते हो, वे तब तक अवध्य है, जब तक कि बच्चो की आयु कम से कम छ महीने की न हो जाय।
९ सक्षेप म जीव का जीव से पोषण किसी प्रकार न करना चाहिए (जीवेन जीव नो पुसित विये)। इस सबध में पशु और पक्षियो की एक लबी सूची देकर सम्राट् ने उन्हे अवध्य घोषित किया।

इस प्रकार का ब्योरेवार शासन जारीकर के अशोक ने पशु-जगत् को वास्तविक रूप में अपनी कृपा का पात्र बनाया और प्राण-दक्षिणा दी।

जनता के व्यक्तिगत और सावजनिक जीवन म उपर्युक्त प्रकार से गभीर सुधार किए गए। साथ ही अशोक का ध्यान एक दूसरी कठिन समस्या की ओर भी गया। भारतवष में सदा से बहुत से मतानर और सम्प्रदायो के लोग बसते रहे है। उनकी पारस्परिक शाति और सद्भावना पर ही जनता की उन्नति और सुख निभर करते हैं। उनके प्रति राज्य की नीति क्या होनी चाहिए इसका जैसा सुदर निणय अशोक ने किया वह आज भी महत्वपूण है। प्रथम तो अशोक ने इस तथ्य की ओर सकेत किया है कि कोई जनपद अर्थात् देश का भाग ऐसा नहीं है, जहा कि जनता का किसी न किसी धार्मिक सम्प्रदाय (पाषड) में विश्वास और प्रीति (प्रसाद) न हो (शिलालेख १३)। धार्मिक भेद एक अनिवाय घटना है। जब धम की दृष्टि से महान जनसमूह में भेद अवश्यभावी है, तब उस अनिवाय परिस्थिति में मनुष्य की चतुराई इसी बात में है कि वह भेद से बचकर समन्वय

* वधिया करने से कुक्कुट का मास अधिक स्वादिष्ट बन जाता है इस विचार से ऐसा किया जाता था। इस निष्ठुर प्रथा के विरुद्ध यह आज्ञा जारी की गई थी।

के मार्ग को खोज निकाले। जिस तरह आज देश मे कई प्रधान धर्मो के माननेवाले लोग रहते है उसी तरह अशोक के समय मे भी थे। स्तंभलेख ७ से ज्ञात होता है कि उसकाल मे चार संप्रदाय मुख्य थे, ब्राह्मण, श्रमण अर्थात् वौद्ध, निर्गथ अर्थात् जैन और आजीवक। अतिम सप्रदाय के लोग आचार्य मंखलि गोसाल के अनुयायी थे जो नियतिवाद या भाग्य पर अत्यधिक विश्वास करते थे और कर्म का निराकरण करते थे। ये चारो संप्रदाय अत्यत शक्तिशाली और लोक मे वहु संख्यक मनुष्यो को मान्य थे। उनमे पारस्परिक मतभेद, ईर्ष्याजनित वाद-विवाद और कलह भी पर्याप्त मात्रा मे रहता था। अपने धर्म की प्रशंसा मे और दूसरो का खडन करने मे अधभक्त लोग शिष्ट मर्यादा का अतिक्रमण कर जाते थे। अशोक ने इस जटिल प्रश्न पर गभीरता के साथ विचार किया और उसने वह उपाय ढूँढ निकाला जिससे इन सप्रदायो मे समवाय या मेल की वृद्धि हो। उसने अपनी नीति का स्पष्टीकरण करते हुए कहा है कि मै सभी संप्रदायो के भिक्षुओ और गृहस्थो का समान करता हूं, और दान तथा विविध प्रकार की पूजा से उनको पूजित करता हूँ (शिलालेख १२)। इस प्रकार राज्य की ओर से सव संप्रदायो के प्रति समान व्यवहार की घोषणा की गई। यदि यह प्रथम सत्य है कि देश मे अनेक मतमतातर और संप्रदाय वसते है, तो दूसरा सत्य यह है कि राजा या राज्य की दृष्टि मे वे सव वरावर है। राजकोष से दान और समान पाने मे सव का समान अधिकार है।

इस सत्य की घोषणा के वाद अशोक ने एक तीसरे सत्य की ओर ध्यान दिलाया है। वह यह कि जो जिस सप्रदाय को अपनी इच्छा और प्रसन्नता से ग्रहण किये हुए है वही उसके लिए श्रेष्ठ है—

ए चु इयं अतना पचूपगमने से मे मोख्यमते। (स्तभलेख ६)

सप्रदाय के विपय मे अपनी-अपनी रुचि ही सव से वढकर है। 'आत्मना प्रत्युपगमन' अर्थात् अपने मन के अनुसार मार्ग का ग्रहण, यही वुद्धि-परक-नीति कही जा सकती है। जो जिस धर्म को स्वेच्छा से मानता है, वही उसके लिये मुख्य है। धर्मो के विपय मे पारस्परिक स्पर्धा विलकुल अनावश्यक है। इस प्रकार राज्य की दृष्टि से सव धर्मो का समान अधिकार घोपित करके, एव व्यक्तिगत स्वातन्त्र्य की दृष्टि से हरएक को मुख्य पद का अधिकारी मानकर अशोक ने प्रत्येक सप्रदाय को एक दूसरे ही धरातल पर उठाने का प्रयत्न किया। यह नवीन उद्देश्य सव सप्रदायो या पापंडो की सारवृद्धि था। देवो के प्रिय राजा दान और पूजा को उतना महत्त्वपूर्ण नही समझते, जितना सव धर्मो के सार की वढ़ती को। सारवृद्धि तो वहुत तरह की है किंतु उसका मूल वाणी का सयम (वचिगुती) है। धार्मिक विचार परिवर्तन के सवध मे वाक्-सयम की क्या मर्यादा है, इसकी व्याख्या मे अशोक की सूक्ष्म तर्क-शक्ति और निष्पक्षपात विचार का वहुत ही सुदर परिचय प्राप्त होता है—

'वह वाणी का सयम क्या है? लोग केवल अपने ही सप्रदाय का आदर और दूसरे सप्रदाय की निंदा विना कारण के न करे। दूसरे सप्रदाय के विपय मे हल्की वात केवल किसी विशिष्ट कारण से ही कही जा सकती है और इसी तरह दूसरे सप्रदायो का आदर भी विशिष्ट कारण से ही होना चाहिए। जो ऐसा करता है वह अपने सप्रदाय की उन्नति करता है और दूसरे धर्म का भी हित करता है। इसके विपरीत आचरण से वह अपने धर्म को क्षति पहुँचाता है और दूसरे

सम्प्रदाय का भी अनहित करता है। जो कोई अपने धर्म की भक्ति में आकर अपने सम्प्रदायकी प्रशंसा और दूसरे की निंदा करता है कि मैं इससे अपने धर्म का गौरव बढ़ाऊँगा, वह वैसा करके वास्तव में अपने ही धर्म को बहुत बड़ी हानि पहुँचाता है (शिलालेख १२)।

प्रत्येक धर्म के सारतत्त्व को उन्नत करने का मुख्य उपाय वाक्संयम बताया गया है। यदि भारत जैसे विशाल देश के निवासी व्यवहार में इस नीति का पालन करते तो पारस्परिक कटुता के अवसर बहुत ही कम हो जाते। वाणी का संयम तब तक नहीं हो सकता जब तक पारस्परिक मेल-मिलाप की भावना न हो। इसलिये सब धर्मों का प्रथम सार और अन्तिम सार निश्चित रूप से यह जान लेना चाहिए कि आपस का मेल-जोल ही एकमात्र साधु मार्ग है (स समवाय एव साधु)।

समवाय या समन्वय केवल सदिच्छा से ही नहीं प्राप्त किया जा सकता, उसके लिये बुद्धि-पूर्वक प्रयत्न और कार्य की आवश्यकता होती है। जब तक हम एक दूसरे के धर्म के विषय में सच्ची जानकारी नहीं प्राप्त करते, तब तक हम में दूसरों के लिये सहानुभूति उत्पन्न नहीं हो सकती। अतएव अशोक की दृष्टि में समवाय को प्राप्त करने के लिये प्रत्येक व्यक्ति को बहुश्रुत होना चाहिए। इसके लिये सब लोग एक दूसरे के धर्म को सुनें तथा सुनने की इच्छा रखें। इस प्रकार सभी धर्मो वाले बहुश्रुत होंगे, और उनका आगम या सिद्धांत उत्तम बनेगा। प्रत्येक सम्प्रदाय को यह अच्छी तरह बता देना चाहिए कि देवानांप्रिय की दृष्टि में दान और पूजा का इतना महत्त्व नहीं है जितना इस बात का कि सब धर्मों के सार तत्त्व की वृद्धि हो और सब सम्प्रदायों का दृष्टिकोण उदार बने (सार वढि अस सव पासंडान बहुका च, शिलालेख १२)।

राज्य की ओर से एक सफल शासक की भाँति अशोक ने सब धर्मों की एकता के मार्ग पर लाने के लिये विशेष कर्मचारी नियुक्त किए, जिनका नाम धर्म महामात्र था। वह केवल मौखिक उपदेश देकर ही शांत नहीं रहा, किंतु उसी काम के लिये नियुक्त विशेष कर्मचारियों के द्वारा उसने सब धर्मों के प्रति अपने कर्तव्य का पालन किया। साथ ही इस बात की भी भरसक चेष्टा की कि सब सम्प्रदायों में एकता और मेल-जोल की वृद्धि हो, सब को राज्य के प्रसाद में समान भाग मिले, संन्यासी और गृहस्थ लोगों में धार्मिक भावों का प्रचार हो, और राज्य की ओर से प्राणियों के लिये अविहिंसा आदिक जो अनुग्रह के कार्य आदिष्ट थे, उन सबका यथावत पालन किया जाय। इस प्रकार के गंभीर उत्तरदायित्व की पूर्ति धर्ममहामात्र नामक राजपुरुषों के अधीन था जिनको बहुत ही विश्वासपात्र जानकर सम्राट ने नियुक्त किया था।

अशोक के धर्म की अंतिम विशेषता इस लोक और परलोक के जीवन का समन्वय है। वह स्थान स्थान पर इस लोक और परलोक दोनों को धार्मिक जीवन के द्वारा साधने की बात कहता है। 'इस प्रकार जो धर्माचरण करेगा वह इस लोक और परलोक को बना लेगा (हिदत पालते आलधे होति। स्त० ले० ७)। 'राजुक लोग धर्म के लिये नियुक्त राजपुरुषों के द्वारा जानपद जन से कहेंगे कि यहां वहाँ (हिदत-पलत), इस लोक परलोक दोनों की आराधना करो' (स्त० ले० ४) 'बिना ऊँचे दर्जे के पराक्रम और उत्साह के इस लोक और परलोक की साधना कठिन है' (स्त० ले० १)। 'इस बात पर सब को विशेष ध्यान देना चाहिए कि यह मेरे लिये इस लोक में

लाभकारी है, और यह परलोक मे लाभकारी है' ('स्त० ले० ३)। 'जो कर्मचारी इस प्रकार से अपने कर्तव्य का पालन नही करता उसको न स्वर्ग की प्राप्ति हो सकती है और न राजा की प्रसन्नता मिल सकती है। किंतु जो अपने कर्तव्य का ठीक तरह से पालन करेगा वह स्वर्ग भी प्राप्त करेगा और इस लोक मे मुझ से भी उऋण हो जाएगा।' (कलिंग ले० १) निम्नलिखित वाक्य मे उसकी इस विषय की अभिलाषा स्पष्ट रूप से कही गई है——

सवे मुनिसे पजा ममा। अथा पजाये इच्छामि।

हक किति ? सवेन हित सुखेन हिदलोकिक पाललोकिकेन यूजेवू ति। (कलिंग लेख १) अर्थात् सब मनुष्य मेरी सतान की तरह हैं। अपनी सतान के लिये मैं चाहता हूँ कि वे सब प्रकार के इसलोक और परलोक संवधी हितसुख से युक्त हो।

इस धर्मदान से इस लोक में सुख और परलोक मे अनत पुण्य उत्पन्न होता है (शि० ले० ११)। इसलोक के जीवन मे अभ्युदय और परलोक के जीवन में उच्चगति, इन दोनो पर अशोक के धर्म मे समान वल दिया गया है। उस समय की जनता मे धर्म पर पक्का विश्वास था। उसीकी झलक हमे अशोक के इस वाक्य में मिलती है। इससे वढकर ओर कौन-सा कर्तव्य है जैसी कि स्वर्ग की आराधना।*

इस प्रकार इसलोक और परलोक दोनो को सुधारने का आदर्श सामने रखते हुए शिलालेख दस मे उसने अपनी आतरिक भावना के अनुसार पारलौकिक कल्याण का भी स्पष्टीकरण कर दिया है। वह कहता है कि मेरा जो कुछ पराक्रम है वह परलोक के लिये है, और इस वास्ते है कि सब लोग पाप के वधन से छूट जाएँ। भाँति-भाँति का अपुण्य ही घोर वधन है। जहाँ वधन कम है ऐसे स्वर्ग की प्राप्ति छोटे ओर वड़े दोनो के लिये अग्रपराक्रम के विना वहुत कठिन है। उन दोनो मे भी जो वडे लोग है, उनके लिये तो महा कठिन है।' लघुशिलालेख १ मे वह विशेष रूप से पुन. इसी भाव को दोहराता है कि विपुल स्वर्ग की आराधना मे छोटे और वड़े का भेद नही है, छोटा व्यक्ति अवश्य उसमे भाग पा सकता है।

अशोक ने व्यक्तिगत, सामाजिक ओर राष्ट्रीय जीवन मे शील और सदाचार के रूप मे धर्म की नई व्याख्या करके प्रजाओ का वहुत कल्याण किया। उसने लोगो को आध्यात्मिक चक्षुदान दिया। उसके अपने शब्दो मे 'लोककल्याण दुष्कर है। जो कल्याण का कार्य सब से पहले करता है वह दुष्कर कार्य करता है' (शि० ले० ५)। अशोक समस्त राजकीय परपरा मे लोककल्याण के सच्चे आदि कर्ता थे।

---

* किं च इमिना कतव्यतर यथा स्वगारधि। (गिरनार शि० ले० ९)।

काशी की प्राचीन शिक्षापद्धति और पंडित

मोतीचद

आधुनिक और मुगलकालीन अनुश्रुतियों के आधार पर हमारा विश्वास रहा है कि काशी जनपद और विशेषकर उसकी राजधानी वाराणसी बहुत प्राचीनकाल से ही शिक्षा और भारतीय संस्कृति का प्रसिद्ध केंद्र रही है। काशी की प्राचीनता कितनी है, यह तो ठीक-ठीक नहीं कहा जा सकता, पर इसमें संदेह नहीं है कि अथर्ववेद की पैप्पलाद शाखा को काश्या का बोध था। शतपथ ब्राह्मण और उपनिषदों में तो काशी के कई उल्लेख हैं। पुराणों में भी काशी संबंधी अनेक अनुश्रुतियाँ सुरक्षित हैं। पर काशी जनपद और उसकी राजधानी वाराणसी का राजनीतिक और सामाजिक चित्र सब से पहले हमें जातकों से मिलता है। काशी जातक-युग में भारतवर्ष की शायद सबसे बडी नगरी थी। जातकों के अध्ययन से हमें पता चलता है कि आज की तरह अढाई हजार वर्ष पहले भी काशी के लोग अपनी स्वतंत्र विचारधारा, अक्खडपन और व्यापार के लिये प्रसिद्ध थे। काशी का चंदन, वस्त्र, हाथीदाँत के सामान इत्यादि देशभर में प्रसिद्ध थे। यहाँ के काफले देश के कोने कोने में तो जाते ही थे, कभी-कभी काशी के व्यापारियों के जहाज समुद्र का चक्कर भी व्यापार के लिए लगाया करते थे। पर इतना सब होते हुए भी जातकों में इस बात के बहुत कम उल्लेख हैं कि काशी महाजनपद-युग में भी शिक्षा का केंद्र था। प्राय सब जातक एकमत हैं कि महाजनपद-युग में तक्षशिला ही भारतवर्ष का प्रसिद्ध शिक्षाकेंद्र था और यहीं उत्तर भारत के प्राय हर भाग से उच्चवर्ण के विद्यार्थी शिक्षा प्राप्त करने आते थे। जैसा हम आगे चलकर देखेंगे, केवल थोडे ही जातक ऐसे हैं जिन्होंने काशी को महाजनपद युग का एक शिक्षा-केंद्र माना है। अब स्वाभाविक प्रश्न उठता है कि क्या वास्तव में प्राचीन काल में काशी केवल एक व्यापारिक नगरी थी और उसका शिक्षा संबंधी महत्ता बाद में बढी।[1] ध्यानपूर्वक ब्राह्मण और बौद्ध साहित्यों का अध्ययन करनेपर हमें पता चलता है कि काशी की धार्मिक और शैक्षिक महत्ता का ब्राह्मण ग्रंथों में उल्लेख न होने का प्रधान कारण यह है कि काशी अपनी स्वतंत्र विचारधारा के लिये वैदिक युग में प्रसिद्ध थी और यही कारण था कि वहाँ की शिक्षा-परंपरा को संदेह की दृष्टि से देखते हुए कुरु-पंचाल देश के ब्राह्मणों ने न तो उसे माना ही और न उसे अपने ग्रंथों में प्रधानता ही दी। फिर भी ब्राह्मण ग्रंथों में अनेक उद्धरण ऐसे हैं जिनसे पता चलता है कि प्राचीनकाल में भी काशी तत्वज्ञान शिक्षा का प्रधान केंद्र थी।

---

१ अथर्ववेद ५।२२।१४

हम ऊपर कह आये हैं कि शुद्ध वैदिक आर्यो को काशी के लोग विशेष प्रिय नही थे। सर्वप्रथम काशी की याद अथर्ववेद की पैप्पलादशाखा मे किया गया है और वह भी विचित्र तरह से। एक मंत्रकार रोगी के लिये तक्मा अर्थात् जूडी से प्रार्थना करता है कि वह उसे छोड़कर गधार, काशी और मगध के लोगों पर अपना अधिकार फैलावे। इसके माने तो यही होते हैं कि गधार, मगध और काशी के लोगो से कुरु-पंचाल देश के ठेठ वैदिक आर्य अप्रसन्न थे और उनकी अवनति देखना चाहते थे। इस शत्रुता का कारण काशी की धार्मिक शिथिलता हो सकती है। शतपथ ब्राह्मण[1] मे भी इस बात का उल्लेख है कि शतानीक सात्राजित द्वारा काशिराज धृतराष्ट्र के हराए जानेपर काशीवासियो ने अग्निहोत्र छोड़ दिया। इस घटना से भी काशीवासियों की वैदिक क्रियाओ की ओर अवहेलना प्रकट होती है। मनुस्मृति मे भी काशी को कोई विशेष स्थान नही मिला है। पर जैसा दूसरे वैदिक उल्लेखों से पता चलता है, काशी उपनिषद और सूत्रकाल मे तत्वज्ञान का एक प्रसिद्ध केंद्र थी, इसी कारण से काश्यों और विदेहो का बड़ा घनिष्ट सबध था। इन दोनो के पारस्परिक संबंध मे हम न केवल भौगोलिक सानिध्य का ही दर्शन करते हैं; बल्कि उस सास्कृतिक विचारधारा की भी एकता पाते हैं जिसने विदेह को उपनिषद्-युग मे भारतीय तत्वज्ञान का प्रसिद्ध क्षेत्र बनाया। बृहदारण्यक उपनिषद्[2] के एक उद्धरण से तो ऐसा पता लगता है कि जैसे काशी के राजा अजातशत्रु का विदेह पर भी अधिकार रहा हो। उपनिषदों[3] के अनुसार काशीराज अजातशत्रु स्वयं तत्वज्ञानी थे जैसा ब्राह्मण बलाकी के साथ उनके संवाद से पता चलता है। इसमे सदेह नही कि विदेहराज जनक की राजधानी मिथिला की तरह उन्होने भी काशी को तत्वज्ञान का एक प्रसिद्ध केद्र बनाने का प्रयत्न किया।

जैसा हम ऊपर कह आये हैं महाजनपद-युग मे तक्षशिला शिक्षा का प्रसिद्ध केंद्र था। लगता ऐसा है कि बनारस को शिक्षा-केद्र बनाने का श्रेय तक्षशिला के उन भूतपूर्व विद्यार्थियों को था जिन्होंने बनारस मे आकर लोगो की शिक्षा का काम अपने हाथों मे लिया।[4] खुद्दक अट्ठ कथा (पृ० १९८) मे तो यहाँ तक कहा गया है कि बनारस की कुछ शिक्षा-संस्थाएँ तक्षशिला की शिक्षा संस्थाओं से भी प्राचीन थी। धम्मपद अट्ठकथा[5] मे भी इस बात का उल्लेख है कि बनारस शिक्षा के क्षेत्र मे इतना प्रसिद्ध हो चुका था कि तक्षशिला के शख नामक एक ब्राह्मण ने अपने पुत्र सुसीम को बनारस शिक्षा-प्राप्ति के लिये भेजा। कुछ दिनो बाद तो बनारस मे भी ससार-प्रसिद्ध आचार्य होने लगे जिनका काम विद्यार्थियों को शिक्षा देना था[6]। बनारस के लोगों का भी शिक्षा के प्रति इतना अनुराग था कि भोजन की व्यवस्था करके वे गरीब विद्यार्थियों को शिक्षा दिलवाते थे।[7]

---

१. शतपथ, १३।५।४।१९

२ बृहदारण्यक उ०,३।८।२

३. वही, २।१।१, ३।८।३; कौषीतकी उ० ४।१

४ जा० १,४६३; २,१००

५. धम्मपद अ० ३,४४५

६ जा० १,२३८; ३,१८,२३३; ४,२३१

७ जा० १.१०९

आजदिन भी बनारस में अनेक अन्नसत्र हैं और विद्यार्थियो की हर तरह से मदद करना काशीवासी अपना धर्म मानते है। गुट्टिलजातक मे कहा गया है कि बनारस सगीत विद्या का केन्द्र था और यहाँ कभी-कभी वीणावादन की प्रतियोगिता भी होती थी।[1]

इस बात का तो ठीक-ठीक पता नही चलता कि महाजनपद-युग में बनारस की पाठशालाओ और आश्रमो का क्या पाठ्यक्रम था, पर बनारस और तक्षशिला के शिक्षाक्रम में सादृश्य होने से हम इसके बारे में कुछ अदाज लगा सकते है। प्रारभिक शिक्षा समाप्त कर के सोलह वर्ष की अवस्था में विद्यार्थी उच्चशिक्षा के लिये गुरुओ के पास जाते थे। उन्हें आचार्यो की दक्षिणा अग्रिम रूप में देनी पडती थी। दक्षिणा न दे सकनेपर भी गुरु की सेवा करके विद्यार्थी पढ सकता था ऐसे शिष्य दिन में तो गुरु की सेवा करते थे और रात में पढते थे। दक्षिणा देकर पढनेवालो को आचारिय भागदायक और सेवा करके पढनेवाले विद्यार्थियो को धमतेवासिक कहते थे। विद्यार्थी पढाई समाप्त करने के बाद भी दक्षिणा दे सकते थे। आचार्यो और विद्यार्थियो को बहुधा लोग भोजन करा देते थे और दान-दक्षिणा भी देते थे। राजकुमारो के साथियो को भेजने का भार उनका भेजनेवाले राज्य उठाते थे। अतवासी प्राय आचार्यो के पास दिन रात रहते थे, पर दिन में भी विद्यार्थी आकर शिक्षाग्रहण कर सकते थ। ऐसे विद्यार्थियो में बहुधा गृहस्थ और विवाहित पुरुष होते थे। आचार्यो के पास विद्यार्थियो की सख्या सर्वदा पाँच सौ दी गई है, पर यह सख्या गोल-सी मालूम होती है। विद्यार्थियो में अधिकतर ब्राह्मण और क्षत्रिय होते थे, पर इनमें थोडे से श्रेष्ठियो और राजपुरुषो के लडके भी होते थे। शूद्रो और अछूतो का इन शिक्षालयो में प्रवेश नहीं था।[2] अपने शिक्षाकाल में विद्यार्थी सादा जीवन बिताते थे और उनकी दिनचर्य्या पर उनके आचार्य कडी नजर रखते थे। यहाँ तक कि बिना आचार्य के साथ वे नदी पर भी नहाने नही जा सकते थे। विद्यार्थियो का कर्तव्य था कि वे आश्रम के लिये जगल से लकडियाँ इकट्ठा करें और हर प्रकार गुरु की सेवा करें। उनके भोजन में दलिया और भात होते थे, जिन्हें आचार्य की एक दासी पका देती थी। विद्यार्थियो की सख्या काफी होने से आचार्यो को सहकारी अध्यापको की, जिन्हें पिठ्ठ आचार्य कहते थे आवश्यकता पडती थी। ऊँचे दरजे के विद्यार्थी भी पढाने का काम करते थे।

अध्ययन का काम प्रातकाल में आरभ होता था। विद्यार्थियो को नीद से जगाने के लिये आश्रम में एक मुरगा रखा जाता था। प्राचीन पाठ को दुहराने के लिये और एकात में अध्ययन करने के लिये भी कुछ समय नियुक्त था। पढने का काम दोपहर तक समाप्त हो जाता था। पढाई मौखिक और पुस्तको द्वारा होती थी।

पाठ्यक्रम में तीन वेदो और अठारह शिल्पो का विशेष स्थान था। बारबार तीन वेदो के नाम आने से पता चलता है कि अथर्व वेद का पाठ्यक्रम में कोई स्थान नही था। हस्तिसूत्र, मत्र, लुब्धक कर्म, धनुर्विद्या और चिकित्सा शास्त्र पाठ्यक्रम में थे। इन शास्त्रो को पढकर विशेष कर चिकित्साशास्त्र पढने के बाद विद्यार्थी स्वय घूमकर अनुभव प्राप्त करते थे।

---

१ जा० २,५,२४८ से

२ रतिलाल मेहता प्री बुधिस्ट इडिया पृ० ३००

इन शिक्षालयों के सिवा वनो में ऋषि-मुनियो के आश्रम मे भी दर्शन और धर्मशास्त्र का अध्यापन होता था। ये आश्रम हिमालय में तथा बस्तियो के पास भी होते थे। कहा जाता है कि प्रसिद्ध दार्शनिक श्वेतकेतु पहले बनारस मे विद्यार्थी थे वहाँ अपनी शिक्षा समाप्त कर तक्षशिला गए और वहाँ की भी शिक्षा समाप्तकर वे घूम-घूमकर सब विषयो और कलाओ का व्यावहारिक ज्ञान प्राप्त करते रहे। अत मे उनकी भेंट पाँच सौ परिव्राजको से हुई और उन्होने इन्हे दीक्षित कर सब विद्या पढाई और व्यावहारिक ज्ञान का अनुभव कराया[1]।

भगवान बुद्ध के समय मे भी बनारस शिक्षा का एक प्रसिद्ध केंद्र था। उनका उरुवेला से से इसिपतन आना ही इस बात का द्योतक है कि बनारस उस समय शिक्षा और धार्मिक स्वतंत्रता के लिये प्रसिद्ध था। बुद्ध, जैसा कि पालि साहित्य से पता लगता है, बनारस मे कई बार ठहरे और यहाँ उन्होने बहुत से सूत्रो का प्रवचन किया। लगता है, इस संघ के कुछ प्रधान भिक्षु भी समय-समय पर इसिपतन में रहा करते थे। यहाँ रहते हुए सारिपुत्त और महाकोट्ठिक के वार्तालापो का बौद्ध-साहित्य मे कई जगह वर्णन है[2]। एक जगह महाकोट्ठिक और चित्तहत्थि सारिपुत्र की भी बातचीत का जिक्र आया है। विनय[3] से पता लगता है कि सारिपुत्र और महाकोट्ठिक के सिवाय महामोग्गलायन्, महाकच्चान्, महाचुद, अनिरुद्ध, रेवन उपालि, आनंद और राहुल भी बराबर काशी प्रदेश में आतेजाते रहते थे। इस तरह कुछ दिनो मे बनारस बौद्ध-शिक्षा और धर्म का भी प्रधान केंद्र बन गया। अशोक के समय में तो वहाँ बौद्ध संघो की भी नीव पड गई और इनमें बौद्ध-पिटक साहित्य की शिक्षा का प्रबध रहने लगा।

३२१ ई० पूर्व नंदो के हाथों से मगध का साम्राज्य मौर्यो के हाथों मे चला गया। चद्रगुप्त मौर्य ने उत्तर भारत मे मौर्य साम्राज्य की स्थापना की और विष्णुगुप्त चाणक्य ने उस दृढ राज्यसत्ता की नीव डाली जिसका वर्णन हम कौटिल्य के अर्थशास्त्र में पाते है। अशोक (२७२ से २३२) मौर्यवंश के सब से बडे राजा हुए। इन्होने स्वय बौद्धधर्म ग्रहण किया और इनके प्रयत्नो से इस धर्म का केवल भारतवर्ष मे ही नही इसके बाहर भी प्रचार हुआ। अशोक के बाद क्रमश. मौर्य साम्राज्य की अवनति होती गयी और उसके अंतिम राजा बृहद्रथ को मारकर १८४ ई० पू० में पुष्यमित्र ने अपना मगध मे राज्य स्थिर किया। इसी काल मे डिमित्रियस की अधीनता मे यूनानियनो ने मगध पर आक्रमण किया और जैसा राजघाट से मिली कुछ मुद्राओ से पता लगता है, यह आक्रमण बनारस होकर हुआ। पुष्यमित्र शुग के बाद बनारस के इतिहास पर विशेष प्रकाश नही पडता, पर लगता ऐसा है कि काशी से शुगो का काफी सबंध था। भागाभद्र, (करीब ९० ई० पू०) जिनके पास तक्षशिला के राजा अतकिलदास ने अपने दूत हेलियेजोरस को भेजा, लगता है, काशी से सबंध रखते थे. क्योकि इनकी माता काशी की राजकुमारी थी। शुगो के बाद काशी पर कौशांबी के स्थानिक राजाओ का शासन रहा।

---

१. मेहता, वही पृष्ठ ३०५.

२ सयुक्त निकाया २ पृ० १२ से; ३,१६८; ४; १६२, ३८४ इत्यादि

३ विनय भा० २ पृ० ३५९—३६०

इस युग में बनारस की शिक्षा की क्या अवस्था थी इसपर बहुत कम प्रकाश पड़ता है। पर ऐसा लगता है कि यहाँ श्रमण और ब्राह्मण दोनों ही की शिक्षा-दीक्षा का अच्छा प्रबंध था। पुष्यमित्र शुंग बौद्धधर्म के द्रोही माने गए है, पर शुंगयुग के सारनाथ से मिले हुए अवशेषो से पता लगता है कि बनारस में बौद्ध धर्म का काफी प्रचार था। इस युग में बनारस की कला ने भी काफी उन्नति की और यहाँ एक विशेष शैली की नीव पडी।

शक सातवाहन युग के बनारस के इतिहास के बारे में हमें विशेष पता नहीं है, पर अंदाज से यह कहा जा सकता है कि इस युग में भी बनारस काशाम्बी के अंतर्गत रहा। ईसा की पहिली शताब्दी में बनारस पर कौशाबी के राजा अश्वघोष राज्य करते थे। कनिष्क के लेखो से पता लगता है कि ८१ ई० सन के पहिले उसका अधिकार बनारस पर जम चुका था। पर ऐसा लगता है कि कनिष्क के बाद बनारस पर से कुषाणो का राज्य उठ गया और पुन यहाँ कौशाबी के स्थानीय शासक राज्य करने लगे और यही सिलसिला गुप्तो के अभ्युदय के पहले तक चलता रहा।

इस युग में बनारस में बौद्धधर्म का बोल बाला था। सारनाथ और राजघाट से मिली मूर्तियो से पता लगता है कि बनारस उस समय बौद्धधर्म का एक प्रधान केंद्र था। भिक्षु बल द्वारा ८१ ई० में स्थापित बुद्ध मूर्ति[1] से यह पता चलता है कि बौद्धधर्म उस समय मथुरा और काशी में काफी उन्नत हो चुका था और उन दोनों जगहों में बौद्ध त्रिपिटक का सूत्र पठन-पाठन होता था। भिक्षुबल स्वयं त्रिपिटज्ञ थे और भिक्षुणी बुद्धिमित्रा भी त्रिपिटक ज्ञाता थी। लेख से पता लगता है कि सारनाथ के विहार में उपाध्याय, आचार्य और अंतेवासी बौद्धधर्म के पठन-पाठन में रत रहते थे। बौद्ध ग्रथो की शिक्षा का प्रचार किन-किन विहारो में होता था इसका तो ठीक पता नहीं है, लेकिन राजघाट में मिली एक कुषाण मुद्रा से पता चलता है कि उस युग में बनारस के प्रसिद्ध विहारो में शिवकविहार एक था।

सारनाथ में मिले एक पत्थर की छतरी के टुकडे पर भगवान बुद्ध द्वारा धर्मचक्र प्रवर्तन के समय के उपदेश उत्कीर्ण है, जिसमें बौद्धधर्म के चारो आर्य सत्य आ गए है। डा० स्टेनकोनो का मत है कि उत्तर भारत में पालि भाषा का यह अकेला लेख है और इससे पता लगता है कि पालि त्रिपिटक का वास्तव में अस्तित्व था और बनारस में लोग उसे जानते और पढ़ते थे।[2]

करीब २७५ ई० के बनारस में काशाबी के राजन्यो का शासन था और शायद इनके ही वशधरो के समय में बनारस में शैवधर्म का विकास हुआ। लगता है, कौशाबी के साथ-साथ बनारस पर भी चद्रगुप्त प्रथम का अधिकार हो गया और इसके बाद बनारस बराबर गुप्त साम्राज्य में बना रहा और गुप्त साम्राज्य के अंतिम राजा वज्र के समय तक काशी गुप्तो के ही वश में थी। गुप्तयुग की बहुत-सी मिट्टी की मुद्रायें राजघाट की खुदाई में मिली है जिनसे गुप्तकालीन बनारस के सामाजिक, धार्मिक और व्यापारिक जीवन पर प्रकाश पडता है। इन मुद्राओ के आधार

---

१ एपीग्रैफिया इडिका भा० ८ पृ० १७६

२ कैटलौग आफ दी म्यूजियम आफ आर्क्यालोजी सारनाथ, पृ० २३०

पर हम इस निष्कर्ष पर पहुँचते है कि बनारस गुप्तयुग में शैवधर्म का प्रधान केंद्र बन चुका था और भागवतधर्म का भी यहाँ काफी प्रचार था। बनारस के प्रधान शिवलिंग अविमुक्तेश्वर की लोग पूजा अर्चना करते थे। इस प्रधान शैव-मदिर के सिवाय भी बनारस में अनेक शैवमदिर थे। जिसमें से कुछ में वैदिक शिक्षा का भी प्रबंध था। चातुर्विध लखराती गुप्तकालीन मुद्रा से पता लगता है कि गुप्तयुग में बनारस मे चारो वेद पढ़ाने के लिये कोई पाठशाला थी। यह भी संभव है कि इस पाठशाला मे चारो विद्याएँ यथा आन्वीक्षिकी, त्रयीवार्ता, दण्डनीति और शाश्वती पढ़ाई जाती रही हो। बह्वृच चरण के लेख वाली मुद्राओ से पता लगता है कि गुप्तयुग में बनारस मे ऋग्वेद के पढाने के लिये भी एक पाठशाला थी। इन मुद्राओ पर पाठशाला का सुंदर लांछन भी दिया गया है। इस पर बने एक आश्रम मे एक जटाजूटधारी अध्यापक अपनी दोनो ओर एक दंड-धारी शिष्य के साथ खडे दिखलाये गये हैं। अध्यापक के बाएँ हाथ में एक करवा है। जिससे वे बाईं ओर एक वृक्ष पर पानी डाल रहे हैं। आश्रम का अकन दो वृक्षो द्वारा हुआ है ऐसा पता लगता है कि बनारस में प्रत्येक मदिर के साथ आश्रम अथवा पाठशालाएँ होती थी।

गुप्तयुग की कुछ बनारस की पाठशालाओं में सामवेद पढ़ाने की व्यवस्था भी थी। इस पाठशाला की मुद्राओ पर छांदोग्य लेख आता है। शायद इस पाठशाला का लाछन वृषभ था। इला-हाबाद म्यूजियम की तीन मुद्राओ के पट पर भी छापे हैं एक के पटछाप पर छादोग्य की पुनरुक्ति है। दूसरे पर पालसेन का नाम है, तीसरी मुद्रा के पट पर दो छापे हे एक में चक्र और दो छोटे शख अकित है और दूसरे मे छरहरे बदन का एक लबा आदमी। कलाभवन बनारस की छादोग्य वाली तीन मुद्राओ के पटों पर योगेश्वर स्वामी के लेख है तथा अर्धचंद्र, अक्षसूत्र, अमृतघट तथा दंड अकित है। इन मुद्राओं के आधार पर हम इन नतीजों पर पहुँच सकते है, बनारस में योगेश्वर के मदिर के साथ-साथ सामवेद की एक पाठशाला थी, कुछ वैष्णव लक्षणो के आने से शायद यह भी कहा जा सकता है कि इस पाठशाला के कुछ आध्यापक वैष्णव थे।

श्री सर्वत्रत्रै विद्यस्य वाले लेख की मुद्राओं के आधार पर यह कहा जा सकता है कि बनारस में शायद त्रैविध नाम के किसी शिव मदिर के साथ तीनो वेदों के पढ़ाने का प्रबध था।

गुप्तों के बनारस से हट जाने पर लगता है यहाँ कुछ दिनों तक मागध गुप्त राज्य करते रहे। इनकी मौखरियो से शत्रुता थी। इस बश के कुमारगुप्त ने करीब ५६० ई० के लगभग ईशानवर्मा से बनारस सहित प्रयाग को जीत लिया पर मागध गुप्तो की यह विजय क्षणिक ही रही और बनारस पुन· मौखरियों के अधीन हो गया। मौखरियो के अत होने पर बनारस, लगता है हर्ष के साम्राज्य के अतर्गत हो गया; पर हर्ष के बाद बनारस पुन. मागध गुप्तों के अधीन हो गया।

उपर्युक्त ऐतिहासिक विवेचन से हम देख सकते है कि बनारस मे अनेक राजनीतिक परि-वर्तन हुए पर जहाँ तक राजनीतिक और धार्मिक अवस्था का सवाल है बनारस अपनी पुरानी परपरा पर डटा रहा। युवान च्वांग के यात्रा-विवरण से पता लगता है कि बनारस शहर में बौद्ध-धर्म का बहुत कम प्रभाव था और यहाँ के निवासी शिवपूजक थे। शहर में सौ देवमदिर थे और यहाँ अनेक साधु-सन्यासी तपश्चर्या मे निरत रहकर मुक्ति की कामना करते रहते थे। यहाँ के

धनी नागरिकों की शिक्षा के प्रति बड़ा अनुराग था। देवमंदिरों में मठ आश्रम होते थे और लगता है, यहीं बालकों की शिक्षा का प्रबंध था[1]।

आठवीं सदी के मध्य में बनारस कन्नौज के राजा यशोवर्मा के अधिकार में आया पर उनकी यह विजय क्षणिक रही और उन्हें कश्मीर के ललितादित्य मुक्तापीड़ से हारा कर तरह हारना पड़ा। इस घटना के बाद पालवंश के राजा धर्मपाल (७५२–७९८) का बनारस पर अधिकार हुआ। धर्मपाल के पुत्र देवपाल के हाथों से बनारस निकल कर ८५० ई० के लगभग प्रतिहारों के अधिकार में चला गया और दसवीं सदी के अंत तक उन्हीं के अधीन रहा। इसके बाद ग्यारहवीं सदी के प्रथम चरण में काशी पर गांगेयदेव कलचुरि का अधिकार हो गया। इन्हीं के राज्य में १०३३ में अहमद नियाल्तिगिन ने बनारस लूटा। गांगेयदेव के बाद उनके पुत्र कर्ण के अधिकार में भी बनारस बना रहा। कर्ण, लगता है, विद्वानों का बड़ा आदर करते थे। विक्रमांकदेव चरित के रचयिता प्रसिद्ध कश्मीरी कवि बिल्हण की कर्ण से बनारस में ही भेंट हुई।

आठवीं सदी से ग्यारहवीं सदी तक के बनारस के इतिहास से पता चलता है कि इन तीन सौ वर्षों में बनारस की धार्मिक और सामाजिक अवस्था में कोई परिवर्तन नहीं हुआ। पहले की ही तरह शैवधर्म का बनारस में बोलबाला रहा तथा और भी हिंदू देवी-देवताओं की पूजा का यहाँ प्रचार बढ़ा। बौद्ध धर्म भी सारनाथ में बना रहा। पर इस युग में वह पूरा वज्रयानी हो गया था। जो भी हो गुप्तयुग की तरह इस युग में भी बनारस शिक्षा का प्रधान केंद्र था। बनारस के मिले पत्थर के लेख से पता चलता है कि वाराणसी में दूर दूर से आये विरक्त जनम मरण से छुटकारा पाने के लिए तप करते थे और विद्या, वेदाध्ययन, व्रत, जप, नियम का लाभ प्राप्त करते थे[2]। अल्बेरूनी के तारीख हिंद[3] से भी हमें पता चलता है कि दसवीं सदी में बनारस सांस्कृतिक दृष्टिकोण से भारत का सब से बड़ा नगर था। महमूद गजनवी के आक्रमणों से तो बनारस की महत्ता इसलिये और बढ़ गई कि सारे उत्तर भारत से प्राचीन भारतीय संस्कृति के रक्षक और परिवर्धक पंडित भाग भाग कर बनारस में बस गये। गाहड़वाल युग में बनारस में जो संस्कृत शिक्षा की अधिक प्रगति मिली, उसका मुख्य कारण यहाँ भारतवर्ष के अन्य भागों से आकर पंडितों का बसना हो सकता है। अल्बेरूनी से हमें यह भी पता लगता है कि १०वीं सदी में बनारस स्मृतियों के पठन-पाठन के लिये विख्यात था।

कलचुरि कर्ण की मृत्यु के बाद ही गंगा यमुना के दोआब में गाहड़वालों का उदय हुआ। उत्तर भारत में गाहड़वाल मुसलमानी धावे से हिंदू-संस्कृति के प्रधान संरक्षक कहे जाएँ तो अत्युक्ति न होगी। महमूद गजनवी के धावों ने उत्तरी भारत की राजनीतिक और सांस्कृतिक भित्तियों को जड़ से हिला दिया था। इन हमलों के प्रभाव का वर्णन करता हुआ अलबेरूनी लिखता है "महमूद ने देश की विभूति पूर्ण रूप से नष्ट कर दी और वहाँ उसने वीरता के ऐसे कारनामें दिखलाये कि हिंदू धूल के कणों की तरह चारों ओर बिखर गये और एक प्राचीन कथा की तरह लोगों की जुबानों पर

---

१ वाटर्स, युवान च्वाङ, भा० २, पृ ८६–८७

२ एपि० इंडिका, भा १,५५९ से

३ सचाऊ, अल्बेरूनीज इंडिया, भा० १, पृ २२

ही बन गये। उनमें से बचे बचाये लोग मुसलमानों को बड़ी ही घृणा से देखते है। यही कारण है कि हिंदू ज्ञान-विज्ञान हमारे विजित इलाकों से बहुत दूर हटकर कश्मीर और बनारस पहुँच गये हैं; जहाँ हमारा हाथ अभी तक नहीं पहुँच सका है। वहाँ शरणार्थियों और मुसलमानों की शत्रुता को राजनीतिक और धार्मिक क्षेत्रों से अधिक प्रोत्साहन मिलता है'[1]। जयचद्र के पहले तक के गाहड़वाल ताम्रपत्रों से हमें पता लगता है कि वे मुसलमानी आक्रमण से देश की रक्षा के लिये सतत प्रयत्न-शील रहे। उनके द्वारा अनेक पडितों और ब्राह्मणों को भूमिदान देने से भी यह पता चलता है कि वे हिंदू-सस्कृति की रक्षा के लिये बनारस मे पडितों के बसाने मे बराबर तत्पर रहे। इतना ही नही उन्होंने अपने राज्य में थोडे-बहुत बसे हुए मुसलमानों पर तुरुष्क दंड लगाकर हिंदुओं पर जजिया लगाने का भी प्रत्युत्तर दिया। आपदकाल से बचने के लिये उन्होंने पौराणिक धर्म, दान-दक्षिणा, व्रत-होम की व्यवस्था की और मदिर और घाट बनवाए, पर जीर्ण-शीर्ण मध्यकालीन हिंदू-सस्कृति उनके इन सब प्रयत्नों से भी न बच सकी और अत मे उन्हें मुसलमानों के पदाक्रात होना ही पडा।

इस अराजकता के युग में मध्यदेश में गाहडवाल-वंश मे चद्रदेव नामक एक वीर उत्पन्न हुआ जिसने अपनी वीरता और प्रताप से प्रजोपद्रव शात कर दिया—"येनोदारतरप्रताप शमिता-शेषप्रजोपद्रवा[2]"। चंद्रदेव ने बनारस को अपनी राजधानी बनाई और इस तरह १७०० वर्षों के बाद काशि-जनपद पुन. राजनीतिक केंद्र बन बैठा। चद्रदेव का राज्य प्राय पूरे युक्तप्रात पर था। चंद्रदेव के बाद ११०० और ११०४ के बीच उनके पुत्र मदनपाल गद्दी पर बैठे और १११४ के पहले तक राज्य करते रहे। इनके राज्यकाल ही मे राज्यसत्ता इनके पुत्र गोविदचद्र के हाथ मे थी। मदनपाल के राज्यकाल ही में गोविदचद्र को मुसलमानों का सामना करना पडा और उन्होंने 'हम्मीर' को बराबर मात दी। अपने पिता की मृत्यु के बाद ११०९ और १११४ के बीच गोविदचद्र गद्दी पर बैठे। लगता है, अब तक मुसलमानों का धावा रुका नही था और जैसा कि कुमारदेवी के सारनाथ वाले लेख से पता चलता है, एक समय तो बनारस तक उनके झपेटे मे आ गया था, पर गोविदचंद्र की वीरता ने न केवल बनारस की ही रक्षा की साथ ही साथ सालारमासूद गाजी को भी इनके हाथ बहराइच के पास अपनी जान गवाँनी पडी। गोविदचद्र ने अपने विजय-पराक्रम से कलचूरियों को भी जीता। उनका गुजरात और कश्मीर के साथ भी सास्कृतिक संबध था। श्रीकठचरित[3] में इस बात का उल्लेख है कि गोविदचद्र ने सुहल नामक एक पंडित को अलकार द्वारा नियोजित एक कश्मीरी पडितों और राज-कर्मचारियों की सभा में भेजा। गोविदचद्र केवल पराक्रम-शील राजा ही नही थे, विद्या के प्रति भी उनका अतीव अनुराग था। उनके प्रसिद्ध विद्वान् मत्री भट्ट लक्ष्मीधर अपने कृत्यकल्पतरु मे[4] कहते है कि वे ज्ञान और पराक्रम दोनों के ही घर थे (एव-ज्ञान पराक्रमैकवसति)। गोविदचद्र के सधि-विग्रहिक भट्ट लक्ष्मीधर अपने समय के प्रसिद्ध पडित थे। वे स्मृतियों, पुराणों, वेदो और मीमासा में निष्णात् थे, दर्शन और शास्त्रों के अपार ज्ञान से

---

१ वही,

२ इडियन एटि० भा० १८, ५ १६, १८, प० ४

३ श्री कंठचरित, २५।०

४ कृत्यकल्पतरु, भा० १, १४, श्लो० ६, के वी० रगस्वामी द्वारा सपादित, बडौदा, १९४१

उन्हें शास्त्रों की विवेचना करने की अपूर्व क्षमता मिली थी और राजनीति व युगल पन्ति के थे हो[1]। भट्ट लक्ष्मीधर की शिक्षा कहाँ हुई थी और व रहने वाले कहाँ के थे इसका तो ठीक-ठीक पता नहीं चलता, पर ऐसा लगता है कि बनारस में ही उनकी शिक्षा हुई होगी क्योंकि महमूद गजनवी के आक्रमण के बाद उत्तर भारत में केवल बनारस ही ऐसा क्षेत्र बच गया था, जहाँ शास्त्रों की शिक्षा का पूरा प्रबंध था।

गोविंदचंद्र का राज्यकाल ११५८ में समाप्त हो गया और उनके पुत्र विजयचंद्र गद्दी पर बैठे। इन्हें भी किसी मुसलमानी धावे का सामना करना पड़ा। विजयचंद्र के बाद उनके पुत्र जयचंद्र ११७० में गद्दी पर आये। जयचंद्र की कहानी भारतीय इतिहास के विद्यार्थियों को विदित है। पृथ्वीराज और जयचंद्र की शत्रुता ऐतिहासिक दृष्टिकोण से कहाँ तक ठीक है यह तो नहीं कहा जा सकता, पर इतना तो निश्चित है कि जयचंद्र पृथ्वीराज से द्वेष करते थे और मुहम्मद गोरी द्वारा दिल्ली जीत लिए जाने पर भी उन्होंने आने वाले संकट को नहीं पहचाना, जिसका नतीजा यह हुआ कि चंदावर की रणभूमि में उन्हें अपनी जान खोनी पड़ी और ११९४ में बनारस भी कुतुबुद्दीन ऐबक के हाथों लगा। वहाँ के प्राचीन मंदिर ढहा दिए गए। बनारस के पण्डितों पर क्या बीती यह तो नहीं कहा जा सकता, पर इसमें संदेह नहीं कि मुसलमानों के आने से बनारस की संस्कृति और शिक्षा को गहरा धक्का लगा, जिससे सँभलने के लिये उसे कई सौ बरस लग गए।

जैसा हम ऊपर संकेत कर आए हैं, गाहडवाल युग में बनारस उत्तर भारत में शिक्षा का प्रधान केंद्र था। अभाग्यवश गाहडवाल युग के लेखों से बनारस के शिक्षाक्रम पर बहुत कम प्रकाश पड़ता है। लेखों में विद्यार्थियों का कहीं उल्लेख नहीं है, पर कुछ ऐसा लगता है कि ब्राह्मणों को बहुत से गाँव दान देने से गाहडवाल राजाओं का मतलब शिक्षा को प्रोत्साहन देना था। जैसा हम आगे चलकर देखेंगे, बनारस के उपाध्याय न केवल छात्रों को पढ़ाते ही थे, उन्हें उनके रहने और खाने पीने का भी प्रबंध करना पड़ता था, और यह तभी संभव था जब गुरुओं के पास किसी तरह का आर्थिक सबल हो। लगता है, गाहडवालयुग में उपाध्याय राज्यदत्त भूमिकर और दान-दक्षिणा से प्राप्त द्रव्य से अपना और छात्रों का काम चलाते थे। चंद्रदेव के एक लेख[2] से पता चलता है कि भूमिदान पाने वाले ब्राह्मणों में बहुधा विद्वान् ब्राह्मण भी होते थे। लेख में जाट (नं० २) नामक एक ब्राह्मण को ऋग्वेदचरणे चतुर्वेदिन् कहा गया है, थील्ह (नं० १२६) यजुर्वेद चरण चतुर्वेदिन् थ, छीहिल (२२२) अथर्ववेद चरणे द्विवेदिन् थ, और देदिग श्रीछान्दोग्य चरणे त्रिपाठिन् थे। इससे पता लगता है कि बनारस में चारों वेदों के पढ़ने-पढ़ानेवाले पंडित थे। विधिकरण गंगाधर (नं ४६८) के नाम से पता चलता है कि वैदिक कर्मकाण्ड को पढ़ने-पढ़ाने का भी काशी में प्रचार था।

अलबरूनी के अनुसार बनारस की पाठशालाओं में और पंडितों में सिद्धमातृका अक्षर चलते थे। कुछ दिनों पहले तक बनारस के विद्यार्थी ओनामासीधं कह के पाठ प्रारंभ करते थे। यह ओनामासीधं केवल ओं नमः सिद्धम् की ही दुर्गति है।

---

१ वही, ५०-१५

२ एपि० इंडिका, भा० १८, १३७-२००

सौभाग्यवश भारतीय विद्यामंदिर के संचालक श्री जिन विजयजी को 'युक्ति व्यक्ति प्रकरण' नाम का एक व्याकरण ग्रंथ मिल गया है जिससे बनारस और उसके आसपास के प्रदेशों के सांस्कृतिक जीवन पर काफी प्रकाश पड़ता है। 'युक्तिव्यक्ति प्रकरण' में आए प्रसंगों से पता चलता है कि ग्रंथ के लेखक पंडित दामोदर गोविंदचंद्र के समकालीन थे। ग्रंथ के एक उल्लेख (२१।११-१८) से पता चलता है कि ब्राह्मणों को बनारस में बसाने का बहुत बड़ा श्रेय गोविंदचंद्र को था। पंडित दामोदर के बारे में और कुछ पता नहीं चलता, पर शायद गोविंदचंद्र के ताम्रपत्रों से इन पर कुछ प्रकाश डाला जा सकता है। गोविंदचंद्र के ११३४ के लेख[1] में इस बात का उल्लेख है कि महाराज पुत्र आस्फोट चंद्रदेव ने अक्षय-तृतीया के दिन गंगास्नान कर के काश्यप गोत्रीय दामोदर शर्मन् को नंदिनी पत्तना में कनौन नाम का एक गाँव भेंट किया। ११४६ के एक दूसरे लेख से पता चलता है कि गोविंदचंद्र की आज्ञा से महाराज पुत्र राज्यपाल देव ने उत्तरायण संक्रांति के दिन दामोदर शर्मा को एक गाँव दान में दिया[2]। ११५० के एक तीसरे लेख में गोविंदचंद्र द्वारा पंडित दामोदर शर्मा को उत्तरायण संक्रांति के अवसर पर एक गाँव देने का उल्लेख है[3]। इन तीनों लेखों से पता चलता है कि दामोदर शर्मा मदनपाल के पुत्र, लोकपाल के पौत्र और गुणपाल के प्रपौत्र थे। उनका गोत्र काश्यप और प्रवर काश्यप, अवत्सर और नैध्रुव थे। वे यजुर्वेद की वाजसनेयी शाखा के विद्यार्थी थे। सूर्य उनके इष्टदेवता थे और वे ज्योतिष के पंच सिद्धांतों के पूर्ण पंडित थे।

ताम्रपत्रों से यह भी पता चलता है कि गोविंदचंद्र के दो पुत्रों, यानी आस्फोटचंद्र और राज्यपाल ने अपने पिता की सहमति से दामोदर शर्मा को गाँव भेंट किए। ताम्रपत्रों में इस बात का उल्लेख तो नहीं है, पर ऐसा मानने के पर्याप्त कारण हैं कि पंडित दामोदर शर्मा राजकुमारों के शिक्षक थे। जो भी हो 'युक्ति व्यक्ति प्रकरण' से तो यह बात साफ हो जाती है कि पंडित दामोदर कुशल शिक्षक थे और उन्हें १२वीं सदी की शिक्षाक्रम का अच्छा ज्ञान था। 'युक्ति व्यक्ति प्रकरण' से यह भी पता चलता है कि संस्कृत के माध्यम से राजकुमारों को देशी भाषा की शिक्षा दी जाती थी। इस शिक्षा का उद्देश्य बहुमुखी था। इसमें पत्र-लेखन और व्यवहार-शिक्षा भी शामिल थी। पढ़ाई रोचक बनाने के लिये तरह-तरह की पहेलियाँ और प्रश्नोत्तरियाँ भी काम में लाई जाती थीं। 'युक्ति व्यक्ति प्रकरण' में हमें पूर्वी हिंदी के सब से प्राचीन उदाहरण मिलते हैं और उनसे हमें पता चलता है कि बारहवीं सदी में अवधी का क्या रूप था और विचार-स्फुरण की उसमें कितनी शक्ति थी। युक्तप्रांत के पूर्वी जिलों की कहावतों की जानकारी के लिये भी यह ग्रंथ अपनी जोड़ नहीं रखता।

'युक्ति व्यक्ति प्रकरण' के अनुसार गाहड़वाल युग में बनारस की शिक्षा का उद्देश्य था 'वेद पढ़व, स्मृति अभ्यासिब, पुराण देखब, धर्म करब' (१५।१६-१७) अर्थात् हमें वेद पढ़ना चाहिए, स्मृतियों का अभ्यास करना चाहिए, पुराणों को देखना चाहिए और धर्म करना चाहिए। उपर्युक्त

१. एपि० इंडिका, भा० ८, ४.१५५-१५६
२. वही, ५,१५६-५७
३. वही, पृ० १५८-५९

उदाहरण से पता चलता है कि १२वीं सदी के बनारस में वेदों, स्मृतियों और पुराणों के पठन-पाठन पर विशेष ध्यान दिया जाता था।

उपाध्याय जिन्हें ओझा कहा गया है लडकों को पढाते थे, 'पढाव छात्रहि शास्त्र ओझा (१३।१८)। विद्यार्थियों को अपना ज्ञान सवर्धन उपाध्याय द्वारा ही करना पडता था—ओझा पास वीदा ले (१८।१६)। लगता है, शहर मे प्राय छात्र अपने गावों को जाते थे—'छात्रु गाउ या' (१६।१२)। गाव जाने के लिये छात्र अपने को सँजोते थे—(गाउ चरा सजव' (यु० प्र० ३९।३०) सँजाता क्या था 'नगा नहाय क्या निचोडे क्या' की कहावत के अनुसार ये छात्र गाँव जाते समय अपनी पोटरी सँजाते थे—'गाउ जात पोटलि सजव (८१।२८) और इस तरह पोटरी लेकर पार उतरने की तैयारी करते थे—'पोटल लै जाण पार' (३८।२१)।

'युक्ति व्यक्ति प्रकरण' में कुछ प्रश्नोत्तरिया भी दी हुई है जिनसे काशी के विद्यार्थी जीवन पर काफी प्रकाश पडता है। 'इहा को पढइ?' 'यहाँ कौन पढता है?' उत्तर था ब्राह्मण पुत्र (२१।८)। 'इहा को पढनिहार आछ?' यहाँ कौन पढने वाला है?'—उत्तर, 'छात्र' (२१।८-९)। उपाध्याय पूछते है 'अम्हा पासे वेद पढव?' हमारे यहाँ कौन पढेगा' उत्तर 'द्विज' (२१।९।१०)। अंतिम प्रश्नोत्तर से ब्राह्मणों की उस प्राचीन सकीर्ण वृत्ति का पता चलता है जिससे शास्त्र पढने का केवल ब्राह्मण अधिकारी था और दूसरा कोई नही। आश्चर्य तो इस बात का है कि इसी युग में जैन-सस्कृत पढ सकते थे, और बौद्धों का उसपर अच्छा अधिकार था, पर हिंदुओं में तो खाली द्विजो को ही शास्त्रज्ञान विहित था। यह सकीर्ण वृत्ति बराबर बनारस में बनी रही और पुराने पडितों में अबतक पाई जाती है।

एक दूसरी प्रश्नोत्तरी से पढाई के एक उद्देश्य पर प्रकाश पडता है। प्रश्न है "राउरें पाह राव को आच्छिह?" "राजा के पास कौन जायगा?" गुरुजी जवाब देते है 'तू' विद्यार्थी पूछता है, "मरा क्षेम को करिह' मेरा क्षेम कौन करेगा?' गुरुजी जवाब देते है "हौं' 'मै' (२२।१-२) इससे पता लगता है कि गुरु के पास पढकर विद्यार्थी राजसेवा में भरती होने के लिये आतुर रहते थे।

प्राय विद्यार्थी उपाध्याय के घर जाकर पाठ पढते थे। प्रश्न है 'बेटा काहा गा?' ("बेटा कहा गया?" उत्तर है "ओआउझ" (२२।१-२)। यह भी पता लगता है, अधिकतर विद्यार्थी उपाध्याय के साथ ही उनके घर पर रहते थे (२४।२२ से ३१)। यहा गुरु-शुश्रूषा करते हुए विद्याध्ययन करते थे (२७।८-१०)। यह भी पता लगता है कि प्राचीन काल की तरह गाहडवाल युग में भी बनारस मे आश्रम होते थे (२७।१७)। एक दूसरी जगह इस बात का भी उल्लेख है कि मठो मे भी पढाई होती थी। गाहडवाल युग मे केदारमठ बनारस की प्रसिद्ध शिक्षा सस्थाओं में था (२०।७२)। बारहवीं सदी में बनारस (३०।८), कान्यकुब्ज (३०।४) और प्रयाग (३०।१४) अपनी शिक्षा-सस्थाओं के लिये प्रसिद्ध थे।

बनारस में यह बात उस समय प्रसिद्ध थी कि केवल घोखने से ही विद्या नही आती उसके लिये बुद्धि की भी आवश्यकता होती है। कोई प्रश्न करता है "छाटे हें आहें विद्या सवड, "घट मे

विद्या कैसे आ जाय" उत्तर है "प्रज्ञै", "तीव्रबुद्धि' से (२२-१७)। लगता है, व्याकरण इत्यादि विषयों को सरल बनाने के लिये और बालको मे विद्या के प्रति प्रेम उत्पन्न करने के लिये पहेलियो की भी सहायता ली जाती थी। पहले प्रश्न पूछे जाते थे और अत में उत्तर बता दिए जाते थे। इससे बालको मे कुतूहल उत्पन्न होता था और उनकी विचारशक्ति और हाजिरजवाबी बढती थी। कुछ ऐसी ही पहेलियाँ 'युक्तिव्यक्ति प्रकरण' में दी गई हैं (२२।१३-२१, २३-२५)

"किससे सग्राम-सकट मे वीर दुर्जय हो जाता है ? — खग से।
साहसशाली धीर किससे नदी पार करते है ? — बाहुओं से।
रात्रि में जगत् क्षीर समुद्र में डूबा हुआ किससे मालुम पडता है ? — शरत् की चाँदनी से।
बिना पैर के रास्ते मे किसके सहारे जल्दी से चला जा सकता है ? — काठ की घोडी से।
ग्रीष्म-सतप्त भू-पृष्ठ पर आदमी किसके सहारे चलते हैं ? — जूतो के।
किस के सहारे मेघ समय पर विश्व को नया कर देते हैं ? — वृष्टि से।
किसके सहारे कुम्हार मृत्पिड को पात्र बना देते हैं ? — चाक के।
रात-दिन होते हुए काम को किनके सहारे लोग देखते है ? — नेत्रों के।
अपने दृढव्रत के सहारे बालनृप के राज्य में कौन रहते हैं ? — पात्र।
सेनापति अपने स्वामी से कहता है "नाथ! किसने शत्रुओ को जीता है ?" तुमने।

निम्नलिखित प्रश्नोत्तरी से भी बनारस के विद्यार्थी-जीवन पर प्रकाश पडता है :—

"सखे तुमने वेद कहाँ पढा ?" — "देव शर्मा उपाध्याय से।"
"ईधन जलाना कहाँ सीखा ?" — "उपाध्याय की पत्नी से।"
"तुम्हे भोजन कहाँ से मिलता है ?" — "द्विजवरो के घरो से" (२३।२०-२१)

उपर्युक्त प्रश्नोत्तरो से पता चलता है कि छात्रो को भोजन स्वय बनाना पडता था और उन्हे अन्न द्वि-जातियो के घरो से मिल जाता था। बेचारे नये छोकरे गाँव से आते थे उन्हे भला भोजन बनाना क्या मालूम, इसीलिये उपाध्याय पत्नी उन्हें ईंधन जलाने की क्रिया में दीक्षित करती थी।

लगता है, बिचारे गुरुदेव अपने पुरानो छात्रो से कुछ सहायता की आशा करते थे। निम्न-लिखित प्रश्नोत्तरी से इस संबध में कुछ प्रकाश पडता है। अपने विद्यार्थियो को बहुत दिनो के बाद देखकर गुरुजी उनसे प्रश्न करते हैं—

"पुत्रो जानते हो तुमने वेद किससे पड़ा है ?" — "आपसे"।
"किससे हमारी पत्नी और पुत्रो सहित वृद्धावस्था मे गुजर होगी ?" — "हमसे"। (२३।२१-२३)।

इस प्रश्नोत्तरी से साफ-साफ पता चल जाता है कि उपाध्याय विद्यार्थियो को अपने पूर्वकृत उपकारो का स्मरण कराके वृद्धावस्था में उनकी सहायता चाहते थे।

निम्नलिखित प्रश्नोत्तरी से भी बनारस के विद्यार्थी जीवन का कुछ पता चलता है। "यह कौन है ?" "छात्र"। "क्या करता है ?" "पढता है।" "कहाँ पढता है ?" "यहीं" "क्या पढ़ता है ?" "शास्त्र।" "किससे" "पुस्तक से।" कैसे पढता है ?" "पुस्तक से।" "कहाँ पढता है ?" "उपा-

ध्याय से' "कहाँ रहकर पढ़ता है ?" "घर में" किसके घर में ?" "उपाध्याय के" (२८।२२-३१)। लगता है, कि बनारस के विद्यार्थियों से उपर्युक्त प्रश्न इतने लोग पूछते थे कि उसके लिये सस्कृत में निम्नलिखित लोकोक्तियाँ ही बन गईं। (३१।१८-२५)।

प्रश्न—सखे ब्रूहि वस्त्र चिर लिस्व भुवन् लिखेत वा लिखेद्दाम् के यस्म।
कुत कुत्र कस्येति लोकोक्तिरेवा यदेकत्र वाच्य दगाना विवक्षा।

उत्तर—अह विप्रपुत्रो पठन्नेव शास्त्र लिखामि स्वय पाणि नैवासने स्वान्।
गुरु प्राप्ति निष्ठस् गृहस्थैव रम्ये प्रयोग प्रवास जात् स्वाथ हन्।
विद्वानों म भी बहुधा ऐसे ही प्रश्न पूछे जाते थे ऐसी प्रश्नोत्तरी भी एक श्लोक में दी गई है।

> विद्वन् भवन कुत्र निवास ? वाराणस्या गंगा तीरे।
> कस्मिन् दान कुत्र विवाह द्विज वर वर्गे नागर जातौ (२८।१-२)
> "हे विद्वान् आपका निवास कहाँ है ?" वाराणसी में गंगा के तीर पर।
> "किससे यहाँ आपकी शिक्षा हुई है ? आपका विवाह कहाँ हुआ है ?"
> "द्विजवरवर्ग में मेरी शिक्षा हुई है और नागर जाति में मेरा विवाह।

उपर्युक्त श्लोक से यह पता चलता है कि काशी के विद्वान् गंगा के तीर पर रहते थे और बारहवीं सदी में भी गुजरात के नागर ब्राह्मण काशी में आ चुके थे।

हमें बारहवीं सदी के काशी के विद्यार्थी की वेशभूषा का भी पता एक उदाहरण से मिलता है। उदाहरण है 'को ए मुडे मुड दीर्घी चुरी धोती पहिरें (३१।२८-२९)। उत्तर है, विद्यार्थी इससे पता चलता है कि बारहवीं सदी के विद्यार्थी अपने सिर घुटाये रहते थे, लंबी शिखायें रखते थे और धोती पहनते थे। आज आठ सौ वर्ष के बाद भी काशी के सस्कृत के विद्यार्थियों की वेशभूषा वसी ही है।

गुरुजी जैसा हम ऊपर कह आए हैं केवल विद्यार्थियों को प्रेम के साथ शिक्षा ही नहीं देते थ लगता है, काम न करने पर वे उन्हें पीटते भी थे। एक उदाहरण में आया है "गुरुजी म हलाने" (३१-१२) अर्थात् गुरु शिष्यों को सजा देते थे। आज दिन भी बनारस में कहावत है कि चमोटी लागे समसम विद्या आवे चमचम' पर इससे शिष्य गुरु से कभी बुरा नहीं मानते थे और वे अपने गुरु की पूरी इज्जत और पूजा करते थे। एक उदाहरण में कहा गया है 'या गुरुआचमो पाप मुचु (८३।७-८) अर्थात् जो गुरु की सेवा करता है उसके पाप छुट जाते हैं।

(४)

११९८ ई० में बनारस मुसल्मानी सल्तनत के अधीन हो गया जिसके फलस्वरूप लगता है बनारस की प्राचीन शिक्षा-पद्धति को काफी धक्का पहुँचा। सल्तनत के आरभिक काल में बनारस की धार्मिक और सास्कृतिक अवस्था पर तो विशेष प्रकाश नहीं पडता पर लगता है इल्तुतमिश के राज्यकाल ही में बनारस पुन अपनी प्राचीन सस्कृति को ऊपर उठाने की कोशिश कर रहा
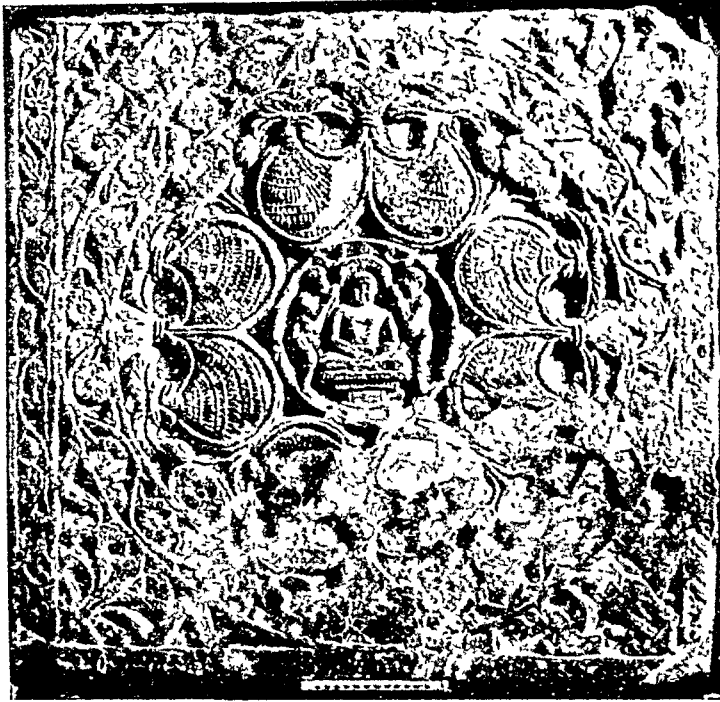
आयागपट्ट जिसपर जैन तीर्थंकर पार्श्वनाथ की पूजा का दृश्य अंकित है
कुषाणकाल (ई० १ ली–२री शती)
मथुरा से प्राप्त

—लखनऊ संग्रहालय।

था। लगता ऐसा है कि इसी काल में विश्वनाथ का मंदिर पुन बना और गुजरात के प्रसिद्ध जैन सेठ वस्तुपाल ने मंदिर में पूजा के लिये एक लाख रुपया भेजा[1]। अलाउद्दीन खिलजी (१२९६–१३१५) की धार्मिक असहिष्णुता इतिहास प्रसिद्ध है, पर उसके राज्यकाल के पहले ही वप बनारस में पद्मस्तर साधु ने पद्मेश्वर का मंदिर बनवाया[2]। यह मंदिर विश्वेश्वर के मंदिर के पास था। बनारस से मिले एक दूसरे लेख से पता चलता है कि वैरिश्वर नाम के किसी व्यक्ति ने १३०२ ई० में मणिकर्णिकेश्वर के मंदिर की स्थापना की[3]। मुहम्मद तुगलक (१३२५–१३५१) के जमाने में प्रसिद्ध जैनाचार्य जिन प्रभ सूरि ने काशी की यात्रा की[4]। उनके यात्राविवरण से पता चलता है १४ वी सदी में चार वाराणसियाँ थी जिनमें से एक को देव वाराणसी कहते थे। इसी वाराणसी में विश्वनाथ का मंदिर था और कुछ जैन मंदिर भी थे। जिनप्रभ के अनुसार तो बनारस में कोई विशेष गडबड नही थी और लोगों को धार्मिक मामलो में काफी स्वतंत्रता थी। हिंदुओं को धार्मिक स्वतंत्रता देने के दो कारण हो सकते है, एक तो यह कि बनारस की तरफ सुल्तानों का विशेष ध्यान ही नही था, और दूसरा यह कि बनारस के प्रांतीय शासक उतने कट्टर नही थे जितना उनके मालिक।

हम ऊपर बता चुके है कि तुगलक काल तक बनारस में कुछ न कुछ धार्मिक स्वतंत्रता था, पर इस युग में बनारस की शिक्षा का क्या हाल था, इसका पता हमें फारसी अथवा सस्कृत ग्रंथो से बहुत कम मिलता है। भाग्यवश जिनप्रभ सूरि द्वारा बनारस की १४ वी सदी की शिक्षा-पद्धति पर कुछ प्रकाश पडता है। बनारस में उस समय धातुवाद, रसवाद, खन्यवाद तथा मंत्रविद्या के निपुण विद्वान रहते थे। शब्दानुशासन, तर्क, नाटक, अलकार और ज्योतिष के पठन पाठन का यहाँ काफी प्रबंध था। लोग निमित्तशास्त्र भी पढते थे। और साहित्य के प्रति भी लोगो का अनुराग था लेखक ने यहाँ वालो का कला-कुतूहलो के प्रति अनुराग का भी उल्लेख किया है।

मुहम्मद तुगलक के बाद हिंदुओ की किस्मत ने पुन पलटा खाया। फिरोज तुगलक की कट्टरता प्रसिद्ध है। शर्की सुल्तानो को भी बनारस से, कुछ अधिक प्रेम न था और सिकदर लोदी को तो काफिर फटी आँख भी नही सुहाते थे। फिरोज तुगलक से लेकर सिकदर लोदी तक बनारस में शिक्षा का क्या हाल था, इस पर तो इतिहास प्रकाश नही डालता, पर यह मानने में हमें आपत्ति न होनी चाहिए कि बनारस इस युग में भी शिक्षा का केंद्र रहा, पर वह शिक्षा बड़ी पुराने ढर्रे की थी। इस्लाम के प्रचड आक्रमण ने भी न तो हमारी शिक्षा का रुख बदला और न उसे इस योग्य ही बनाया कि दुनिया में उससे शिक्षित अपना स्थान बना सकें। शिक्षा और धर्म के इस थोथे रूप के विरुद्ध रामानद ने बनारस में आवाज उठाई और अपने शिष्यो को जाति और धर्म की प्राचीन रूढियो को तोड डालने के लिये ललकारा। धार्मिक असहिष्णुता और निरर्थक आचारो का कबीर ने बडा विरोध किया। बाह्याचारो के चाहे वह हिंदुओ के हो अथवा मुसलमानो के, कबीर कट्टर विरोधी थे और प्रेम को वे इन सब के कही ऊपर मानते थे। पर शिक्षा और धर्म का यह सर्वजन हितकारी

१ प्रबंध कोश, पृ० १३२, कलकत्ता, १९३५

२ फुहरर, दि शर्की आर्किटेक्चर आफ जौनपुर, पृ० ५१

३ जनल आफ यू० पी० हि० सो० भा ९, ((एप्रिल, १९३६), पृ० २१–२२

४ विविध तीर्थ कल्प (जिन विजय द्वारा सपादित), पृ० ७२–७४, शाति-निकेतन १९३४।

विचार बनारस में केवल नीच वर्णों तक ही सीमित रहा। यहाँ के पडितो ने तो अपना एक मार्ग निश्चित कर लिया था जिसे वे सनातन मानते थे और उससे वे विलग होने को कभी तैयार नही थे।

उत्तर भारत मे अकबर द्वारा शांति स्थापित होते देश की सस्कृति मे एक नया जोश पैदा हो गया। अकबर की धार्मिक सहिष्णुता और सस्कृति-प्रेम विख्यात है। लगता है, इसीके फलस्वरूप बनारस में पुन: सस्कृत शिक्षा को प्रोत्साहन मिला। अकबर के राज्यकाल मे बनारस के साथ राजा टोडरमल और मानसिह का काफी सबंध था, इन दोनो के प्रयत्न से बनारस में अनेक मदिर बने। टोडरमल की सहायता से काशी के प्रसिद्ध विद्वान नारायण भट्ट ने पुन विश्वनाथ का मदिर बनवाया। टोडरमल के पुत्र गोवरधन का बनारस से १५८५ से ९० तक के बीच घनिष्ट सबंध था। और उन्ही के प्रयत्न से बनारस के सास्कृतिक जीवन को काफी प्रगति मिली। सन् १५८५ और ९९ के बीच विश्वेश्वर की पूजा के उपलक्ष में प्रसिद्ध विद्वान शेषकृष्ण द्वारा लिखित "कस वध" नाटक का अभिनय हुआ[1]। गोवरधन इस नाटक में स्वय उपस्थित थे। नाटक के एक प्रारंभिक श्लोक से पता चलता है कि गोवरधन को कलाओ से बहुत प्रेम था और विद्वद्गोष्ठी इन्हे बहुत प्यारी थी। जैसा हम आगे चलकर देखेंगे अकबर-युग मे महाराष्ट्र और दक्षिण से अनेक विद्वान ब्राह्मण बनारस में आकर बस गए और तब से पडितो का बनारस की शिक्षा पर बहुत बडा प्रभाव रहा।

बनारस के शिक्षाक्रम मे जहाँगीर और शाहजहाँ-युग मे कोई परिवर्तन नही हुआ पर औरंगजेब के गद्दी पर आते ही बनारस पर गाज सी टूट पड़ी। १६५९ मे बनारस के अनेक मदिर बादशाह की आज्ञा से तोड दिए गए। तथा इलाहाबाद के मुगल सूबेदार को यह हुक्म दिया गया कि वे बनारस मे जो बेवकूफ ब्राह्मण अपनी रद्दी किताबें पाठशालाओ में पढाते थे उन्हें पढाये जाने से रोके क्योकि उनसे न केवल हिदुओ में ही बल्कि मुसलमानो मे भी कुफ्र पैदा होता था। बादशाह के हुक्म का सूबेदार ने तुरत पालन किया और बनारस की अनेक पाठशालाये जमींदोज कर दी गई।[2]

बनारस की इस युग की शिक्षापद्धति पर दो प्रसिद्ध फराँसीसी यात्रियो अर्थात् तावरनियर और बरनियर द्वारा प्रकाश पडता है। तावरनियर ने तो केवल विदुमाधव के पास कगनवाली हवेली में जयसिह की निजी पाठशाला देखी जिसे उन्होंने अपने राजकुमारो के पढाने के लिये खोल रखा था था।[3] पर बरनियर ने तो बनारस की शिक्षापद्धति पर भी प्रकाश डाला है।[4] तावरनियर जयसिह की पाठशाला मे स्वय गया और उसमे वहाँ देखा कि कई पडित बच्चो को सस्कृत में पढ़ना-लिखना सिखा रहे रहे हैं। पाठशाला के पहले खड की दालान में उसने राजकुमारो को सरदार और ब्राह्मणो के लड़को के साथ बैठे देखा। ये विद्यार्थी जमीन पर खड़िया मे कुछ अक लिख रहे थे। तावरनियर को देखकर उन्होने उसका परिचय पूछा और यह पता लगने पर कि वह फिरगी है, उन्होने उसे ऊपर

---

१. ऐगलिग, इडिया ऑफिस कैटलाग आफ सस्कृत मैनुस्क्रिप्ट भा० ५—७ पृ० ५९१।

२. इलियट, भा० ७ पृ० १८३—१८४।

३. ट्रैवेल्स इन इडिया बाइ जे बापलिन्स तावेरनियर अनुवादक वी बाल, भा० २ २३० से २३७

४. फाको आ बरनियर. ट्रैवेल्स इन दी मुगल एम्पायर, १६५६—१६६८, अनुवादक ए० कास्टेबुल लेडन, १८९१, पृ० ३३५ से ३४०।

बुला लिया और उससे यूरोप और विशेष कर फ्रास के बारे में बहुत-सी बात पूछी। एक ब्राह्मण के हाथ में एक डच द्वारा उपहार दिए गए दो ग्लोब थे, जिनपर तावरनियर ने बाल्का का फ्रास की स्थिति दिखलाई।

१६६० ईसवी के करीब बरनियर बनारस पहुँचा। उसके अनुसार पूरा नगर हिंदुओं का विद्यालय था। यहा केवल ब्राह्मण और दूसरे भक्त पठन-पाठन में अपना समय व्यतीत करते थ। काशी में उस समय कोई विश्वविद्यालय जैसी सस्था नहीं थी, जहाँ क्रमबद्ध पढाई होती रही हो। गुरु लोग शहर के भिन्न भिन्न भागों में अपने घरो में अथवा रईसो के बगीचो में रहते थे। कुछ गुरुओं के पास चार शिष्य रहते थे, कुछ के पास छ या सात। प्रसिद्ध पडितो के पास भी दस या पद्रह से अधिक विद्यार्थी नही रहते थे। प्राय विद्यार्थी अपने गुरुओ के पास दस से पद्रह वर्षो तक रहते थे और वही विद्याभ्यास करते थे। बरनियर का कहना ह कि अधिकतर विद्यार्थी सुस्त होत थ और शायद उनकी सुस्ती का कारण गरमी और उनका भोजन था। प्रतिस्पर्धा की भावना न होने से और विद्वत्ता दिखाने पर किसी मान-मर्यादा अथवा पुरस्कार की आशा न होने से भी ये विद्यार्थी अपनी पढाई धीमे धीमे चलाते थे। उनका मुख्य भोजन खिचडी थी जो महाजनो की कृपा से मिल जाती थी। पाठ्यक्रम में पहले तो विद्यार्थी व्याकरण की मदद से सस्कृत सीखते थे बाद में पुराण पढते थे और आगे चलकर दर्शन, आयुर्वेद, ज्योतिष आदि अपने इच्छित विषय का अध्ययन करते थे। बनारस में बरनियर ने एक प्रसिद्ध पुस्तकालय भी देखा जो सम्भवत आचार्य का प्रसिद्ध पुस्तकालय था।

इसमें सदेह नहीं कि मुगल काल में बनारस में सस्कृत शिक्षा का क्रम अविच्छिन्न रूप से चलता रहा। बनारस में मुगलो के पहिले के पडितो के इतिहास के बारे में हमें बहुत कम जानकारी ह। इसका एक प्रधान कारण यह हो सकता है कि सुलतानो के युग में बनारस में पडित थे तो अवश्य पर वे खुलकर अपनी विद्या का प्रदर्शन नहीं कर सकते थे। अकबर द्वारा शाति स्थापित होने के बाद बनारस में भी धीरे-धीरे पडितो का आसन जमने लगा और इसमें सदेह नहीं कि मुगल युग के सस्कृत साहित्य के इतिहास में काशी के पडितो का बहुत बडा हाथ रहा। उस युग की हजारो हस्तलिखित पुस्तको की जाच पडताल के बाद यह पता चलता है कि उनमें स अधिकतर बनारस के पडितो द्वारा लिखी गई, पर सब से आश्चर्य की बात तो यह है कि इन पुस्तको के लेखक अधिकतर एतद्देशीय कान्यकुब्ज और सरयूपारी न होकर दक्षिण और महाराष्ट्र के ब्राह्मण थे। ऐसा होने का केवल यही कारण हो सकता ह कि एतद्देशीय ब्राह्मणो में सस्कृत के प्रति मुगल-युग में इतनी लगन नहीं थी जितनी पचद्राविडो में।

बनारस के मुगलकालीन सस्कृत साहित्य के अध्ययन से यह भी पता चलता है कि उस समय के पडित मौलिकता खो बैठ थे, वे अपना समय मौलिक शास्त्रो की रचना में न लगाकर अधिकतर टीका-टिप्पणियो में ही लगाते थे। व्याकरण, धर्म-शास्त्र और वेदात तो इनके प्रिय विषय थे, पर इन विषयो पर उनके ग्रथो में मौलिक विचारो की काफी कमी देख पडती है। बात यह है कि सस्कृत साहित्य में यह नव्यन्याय का युग था, जिसने वृथा तर्क को आश्रय देकर मौलिकता को आगे बढने से रोका। सस्कृत-शिक्षा पर ब्राह्मणो का एकमात्र आधिपत्य होने से भी साहित्य की गति अवरुद्ध

रही और जनजीवों से तो उसका सम्पर्क ही छूट गया। संस्कृत के साथ-साथ सत्रहवी सदी में और उसके वाद वनारस व्रजभाषा साहित्य का भी एक अच्छा केंद्र वन गया। जैसा हम आगे चलकर देखेंगे; वहुत से संस्कृत के पडित व्रजभाषा मे भी कविता करने लगे थे क्योंकि उन्होने लोकरुचि देखकर यह भली भाँति जान लिया था कि व्रजभाषा अथवा अवधी को केवल 'भाखा' कहकर तिरस्कार की दृष्टि से देखने से ही उनका काम नही वनने का था। अगर उन्हे उस समय के राजा-रईसो से दक्षिणा वसूल करनी थी तो केवल संस्कृत श्लोक वनाकर जिन्हें समझने वाले काशी के विरले ही रईस रहे होंगे, वे उन्हें नही रिझा सकते थे। इसके लिये तो उन्हें उस भाषा में भी कविता करना जरुरी था जिसे लोग और विशेष कर राजा--रईस समझ सकते थे और उसका आनद लूट सकते थे।

वनारस के सस्कृत पडितो और व्रजभाषा के कवियों का पूरा २ इतिहास लिखना तो एक स्वतंत्र विषय है जिसका इस लेख मे प्रतिपादन होना संभव नही है। यहाँ तो हम केवल उन्ही पडितो का उल्लेख कर सकते हैं, जिन्होने मुगल युग मे अपनी कृतियो से इस नगरी का उत्तर भारत मे नाम वढ़ाया।

जिस महान् पंडित ने वनारस मे हिंदू धर्म और संस्कृति के उत्तरभारतीय सिद्धातो के विरुद्ध हिंदू संस्कृति और जीवन के दक्षिणी मत का प्रतिपादन किया, उनका नाम नारायण भट्ट है। इन्ही नारायण भट्ट ने राजा टोडरमल की सहायता से वनारस मे विश्वनाथ के मदिर की स्थापना की। यह एक विलक्षण वात है कि नारायण भट्ट के परिवार मे तीन सौ वरस तक लगातार वनारस के गण्यमान पंडित होते आए। 'गाधिवंशानुचरितम्'[1] के आधार पर महामहोपाध्याय डा० हरप्रसाद शास्त्री का कहना है कि नारायण भट्ट के पिता रामेश्वर भट्ट पैठन के रहने वाले थे और वही शिक्षक का कार्य करते थे। नारायण भट्ट का जन्म १५१४ मे रामेश्वर भट्ट की द्वारका यात्रा के अवसर पर हुआ। उनके पिता कुछ दिनो तक द्वारका ठहरकर काशी चले आए और वही सदा के लिये वस गए। उनके तीनो ही पुत्रो का विवाह काशी मे हुआ। इनके शिष्यो मे काशी के अनेक पडित थे।

अपने पिता की मृत्यु के वाद नारायण भट्ट ने श्रुतियो, स्मृतियो और षट्दर्शन मे अधीत होने के कारण अपने पिता का स्थान ग्रहणकर लिया। गया, काशी और प्रयाग की पूजाविधि के लिये उन्होने 'त्रिस्थलीसेतु' नाम का ग्रथ लिखा। उत्तर भारत के अनेक पडितो से उनके शास्त्रार्थ हुए, जिनमे वे सदा विजयी ठहरे। एकवार तो उन्होने राजा टोडरमल के घर एक श्राद्ध के अवसर पर नवद्वीप के पडित विद्यानद के अधिनायकत्व मे पंडितो की एक टोली को हराया।

उनके प्रसिद्ध शिष्यो मे ब्रह्मेंद्र सरस्वती और नारायण सरस्वती थे। इनमे ब्रह्मेंद्र सरस्वती का नाम तो जैसा हम आगे चलकर देखेंगे, कवींद्र सरस्वती के अभिनंदन पत्र मे आता है। नारायण सरस्वती ने वेदात पर सोलहवी सदी के अत मे कई ग्रंथ लिखे।

नारायण भट्ट ने 'धर्म प्रवृत्ति' और 'प्रयोगरत्न' नाम के दो ग्रथ स्मृतियो पर लिखे। 'वृत्तरत्नाकर' पर १५४५ मे इन्होने टीका की। इन ग्रथो के सिवाय नारायण भट्ट के २८ ग्रथों का उल्लेख किया जाता है।

---

१ इंडि० एंटि०, मा० १२, पृ० ७-१३।

जैसा हम ऊपर कह आए ह, नारायण भट्ट धुरधर शास्त्रार्थी थे। उन्होने अपने समय के उपेंद्र शर्मा और मधुसूदन सरस्वती जैसे प्रकाड विद्वानो को शास्त्रार्थ में पराजित किया। उनकी प्रतिभा से कायल होकर भारतवर्ष की पडित-मडली उन्हे अपना सरक्षक मानने लगी और उन्होने इस भावना का आदर करते हुए सदा रुपए पैसे से उनकी सहायता की। नारायण भट्ट ने सस्कृत के हस्तलिखित ग्रथो का भी अच्छा सग्रह किया।

नारायण भट्ट की मृत्यु वृद्धावस्था मे हुई। मरते समय इनके तीन पुत्र और कई पौत्र थे। नारायण भट्ट के सब म बडे पुत्र रामकृष्ण दीक्षित थे जिनकी मृत्यु बावन साल की अवस्था म हो गई। रामकृष्ण अनेक ग्रथो के, जसे 'जीवन पितृक निणय', 'कोटिहामादि पद्धति', 'ज्योतिष्टोम पद्धति', 'मासिक श्राद्ध निणय', 'अनत व्रतोद्यापन प्रयोग', 'शिवलिंग प्रतिष्ठा विधि', 'रुद्रस्नान पद्धति', इत्यादि के रचयिता थे। दूसरे पुत्र शकर भट्ट थे प्रसिद्ध शिष्यो म मनोहरि भट्ट, तथा विश्वनाथ दात थे। इनके ग्रथो म 'धर्माद्वैत निणय चद्रिका', 'मीमासा-बाल-प्रकाश', तथा 'श्राद्धकल्प सार' ह। 'कवींद्र चद्रोदय' में इन्हें बनारस के पण्डितो का मुखिया कहा गया है।

नारायण भट्ट के सब से बडे पुत्र रामकृष्ण भट्ट के पौत्र गागा भट्ट थे, जिन्होने अपने पिता दिवाकर भट्ट के कई स्मृति सबधी अधूरे ग्रथो को पूरा किया तथा 'जैमिनीसूत्र' पर 'शिवार्कोदय' नाम की टीका की। इन्ही की व्यवस्था मे शिवाजी महाराज क्षत्रिय माने गए। वे शिवाजी के राज्याभिषेक के समय भी उपस्थित थे। गागा भट्ट के उत्तराधिकारी सुप्रसिद्ध नागोजी भट्ट हुए। सस्कृत विद्या की शायद ही ऐसी कोई शाखा बची हो जिसपर नागोजी भट्ट ने टीकाएँ नहीं लिखी। पाणिनिसप्रदाय के व्याकरण पर उनकी टीका बडी ही प्रमाणित है। व्याकरण के सिवाय उन्होने अलकार, तीर्थ, तिथि, योग, मीमासा, रामायण, साख्य और वेदात पर भी अनेक ग्रथ लिखे। अपने बुढापे मे भी जीवन का सुखपूर्वक उपभोग करते हुए वे समाज के प्राय सब श्रेणी के लोगो से मिला करते थे। अग्रजो का बनारस पर राज्य जम जानेपर करीब १७७५ म उनकी मृत्यु हुई। नागोजी भट्ट के शिष्य और उत्तराधिकारी वैद्यनाथ पायगुडे थे। इन्होने व्याकरण और स्मृतियो पर अनेक ग्रथ लिखे। 'मिताक्षरा' के व्यवहारखड पर इनकी टीका आज तक बनारस के स्मर्तिकारो में बडी उपादेय मानी जाती है।

हम ऊपर कह आए ह कि काशी में नारायण भट्ट का उस काल के एक प्रसिद्ध विद्वान मधुसूदन सरस्वती से शास्त्रार्थ हुआ[1]। मधुसूदन सरस्वती के पिता नवद्वीप के पुरदराचार्य थ। सन्यास ग्रहण करके मधुसूदन सरस्वती बनारस आए और यहा उन्होने विश्वेश्वर सरस्वती स शिक्षा-ग्रहण की। बाद में उन्होने यहा 'अद्वैतसिद्धि' नामक ग्रथ लिखा। गोस्वामी तुलसीदास के वे समकालीन और प्रशसक थे। कहावत है कि जब उन्होने 'रामचरितमानस' पढा तो उसकी प्रशसा म गोस्वामी जी के पास निम्नलिखित श्लोक लिख भेजा—"आनदकानने ह्यस्मिन तुलसी जगमस्तरु, कविता मजरी यस्य रामभ्रमर भूषित। यह भी किंवदती है कि उन्होने अकबर से भेंट की थी। अपने जीवन के अतिम दिनो में वे हरिद्वार चले गए जहाँ एक सौ सात वष की उमर में मत्यु हो गई। उनका समय १६वी सदी का दूसरा भाग और १७वी सदी का आरभ कहा जा सकता ह।

---

१ एनाल्स भाडारकर ओ० रि० इ०, भा० ८, पृ० १४८ से

मधुसूदन सरस्वती ने अद्वैतदर्शन पर 'वेदात-कल्प-लतिका,' 'सिद्धार्तविदु,' 'अद्वैतसिद्धि,' 'अद्वैतरत्न-लक्षण' और 'गूढार्थ-दीपिका' नाम के ग्रथ लिखे। ऋग्वेद के पाठ पर उनका 'अष्टविकृतिविवृति.' नामक ग्रथ है। भक्ति पर उन्होंने 'भक्ति-रसायन-टीका,' 'महिम्न-स्तोत्रिका' और 'हरि-लीला-व्याख्या' नाम की पुस्तके लिखी। कुछ लोगो का मत है कि 'श्रीमद्भागवत प्रथम श्लोक त्रय टीका,' 'शाडिल्य-सूत्र-टीका,' 'वेद-स्तुति-टीका,' 'आनंद मदाकिनी' तथा 'कृष्ण-कुतूहल' नाटक भी उनकी कृतियाँ है। अर्थशास्त्र पर उन्होने 'राज-प्रतिवोध' नामक ग्रंथ लिखा।

जिस समय काशी मे भट्टवंश की प्रतिभा चमक रही थी उसी समय तैलग ब्राह्मण कला के प्रसिद्ध विद्वान् शेषकृष्ण अपने निवासस्थान गोदावरी के काठे से बनारस आए।[1] उनके पूर्वपुरुष का नाम विश्वरूप और उनके पिता का नाम भट्ट नृसिह था। भट्ट नृसिह विजयनगर के मुख्य पंडित थे। शेषकृष्ण के भाई का नाम शेषचितामणि था। शेषकृष्ण ने मुरारिविजय मे अपना मूल स्थान गोदारोध वताया है पर उनके भाई ने अपने गॉव का नाम ब्रध्नपुर कहा है। काशी मे वसकर शेष परिवार का महाराष्ट्र ब्राह्मणो से सपर्क वढ़ा और वाद मे तो वे तैलंग न माने जाकर महाराष्ट्र ब्राह्मण ही माने जाने लगे।

शेषकृष्ण ने निम्नलिखित ग्रथ लिखे :—

(१) प्रक्रिया प्रकाश; (२) पारिजातहरण चंपू, (३) कंस-वध, (४) उपा-परिणय, (५) मुरारि विजय, (६) सत्यभामा परिणय, (७) सत्यभामा विलास, (८) क्रिया गोपन काव्य।

'प्रक्रिया प्रकाश' रामचंद्राचार्य की 'प्रक्रिया कौमुदी' नामक व्याकरण ग्रथ पर टीका है जो पत्र-पुंज के राजपुत्र कल्याण के लिये लिखी गयी। 'पारिजातहरण चंपू' काशी के राजा नरोत्तम के पार-मार्थिक कल्याण के लिये और 'कस-वध' नाटक राजा टोडरमल के पुत्र धरु अथवा गिरधारी के लिये लिखे गए।

१७वी सदी के वनारस के साहित्यिक-जगत् मे शेषकृष्ण के गुरुत्व को लेकर जगन्नाथ पंडित-राज ओर भट्टोजी दीक्षित की लडाई प्रसिद्ध घटना है, जिसकी याद अव भी काशी के पंडित कभी-कभी करते है।[2] शेषकृष्ण भट्टोजी के गुरु थे और शेषकृष्ण के पुत्र शेष वीरेश्वर जगन्नाथ पडितराज के पिता पेरुभट्ट के गुरु थे। भट्टोजी के एक दूसरे गुरु अप्पय दीक्षित थे। शेषकृष्ण की मृत्यु के उपरात भट्टोजी ने उनकी प्रक्रिया-प्रकाश पर मनोरमा नाम का एक खंडन ग्रथ लिखा। इसपर पडितराज भट्टोजी से वड़े क्रुद्ध हुए। यह सुनकर कि अप्पय दीक्षित ने सिद्धात कौमुदी की प्रशसा की थी वे उनसे भी नाराज हुए ओर दोनो का ही खंडन करने लगे। भट्टोजी को उन्होने गुरुद्रोही की पदवी दी और भट्टोजी ने उन्हे म्लेच्छ की। इसके वाद जगन्नाथ ने मनोरमा पर मनोरमा-कुचमर्दन नाम का ग्रंथ और अप्पय दीक्षित कृत चित्र मीमांसा पर चित्र मीमासा खडन लिखा। क्रोध मे उन्होंने अप्पय को द्रविड़पिशाच, द्रविडशिशु इत्यादि कहकर नीचा दिखाने का प्रयत्न किया।

---

१. वासुदेव अनंत वाबर्डेकर, भट्टोजि दीक्षित (जाति विवेक)। पृ० ३१२ से, बंबई, १९३९, इंडियन ए० १२, पृ० २४१ से।

२ वही, पृ० ३४० मे।

जगन्नाथ पडितराज के सबध में अनेक दत कथाएं प्रचलित है पर उनकी ऐतिहासिकता अभी सदिग्ध है। शेषकृष्ण, अप्पय, भट्टोजी और जगन्नाथ के समय निश्चित करने के साधनो की भी कमी है। अप्पय का काल १५५४ से १६२६ यानी ७२ वर्ष माना जाता है। शेषकृष्ण की मृत्यु १६०५ के करीब मानी जाती है, पडितराज की मृत्यु १६६० और ग्रथ-रचना-काल १६३० से १६६० तक। भट्टोजी का काल १५७६ से १६२८–४०–५० तक माना जाता है। इन तीनो काल की विभिन्नता देखते हुए इन तीनो की विवाद सबधी बहुत-सी अनुश्रुतियाँ गलत प्रमाणित होती है। श्रीकावडेकर ने इस विवाद के शास्त्रीय आधारो का पता लगाया है और उन्ही आधारो का उल्लेख नीचे किया जाता है।

पडितराज जगन्नाथ का अधिक समय दिल्ली में शाहजहाँ की छत्रछाया में बीता (दिल्ली वल्लभ-पाणि-पल्लव तले नीत नवीन वय)। बादशाह ने उन्हें पडितराज की पदवी दी। वे बादशाह को ईश्वर का प्रतिरूप मानते थे। उन्होने बादशाह दारा शुकोह और आसफ खा की भरपूर प्रशसा की है। आसफ खा की मृत्यु के बाद उन्होने आसफ विलास नाम का ग्रथ लिखा। उन्हें अपनी जाति का अभिमान था। व बादकुशल पडित थे और उन्होने शास्त्राथ में कितने ही हिंदू और ईसाई पडितो को जीता था।

भट्टोजी द्वारा शेषकृष्ण के दोष दिखलाने के लिये ही टीका लिखने के कारण जगन्नाथ का भट्टोजी के प्रति रोष उमड पडा और वे उस श्रेष्ठ विद्वान् को आग्रही कहने लगे। श्रीकावडेकर की राय में इस रोष का कारण जातिद्वेष और गुरुद्रोह था। शेषवीरेश्वर जगन्नाथ और उनके पिता पेरभट्ट के गुरु थे। वीरेश्वर के पिता शेषकृष्ण भट्टोजी के गुरु थे। उन्होने अपने गुरु के ग्रथ पर टीका की, बस उन्होने जगन्नाथ के गुरु-पिता का अपमान किया। इसका बदला लेने की उन्होने ठान ली। *अगर शेष घराने से जगन्नाथ के शिष्यत्व का नाता न होता तो भट्टोजी के गुरुद्रोह की* बात ही नही उठती थी। अब हमें विचार करना चाहिए कि जगन्नाथ का शेष घराने से क्या सबध था। रस गगाधर के आरभ में ही उन्होने शेष घराने के गुरुत्व की कल्पना की है जिससे पता लगता है कि जगन्नाथ के पिता पेरभट्ट ने शेषवीरेश्वर से पातजल महाभाष्य पढा था। पेरभट्ट का मूल ग्राम मुगुज वेंगीनाड में था और वीरेश्वर भी उसी प्रदेश के रहने वाले थे। देशबधु के कारण ही शायद पेरभट्ट ने वीरेश्वर को अपना गुरु माना, पर गुरु के इस क्षुद्र अपमान से पीडित होकर जगन्नाथ ने मनो रमा कुचमदन ऐसा अश्लील शीर्षक वाला ग्रथ लिखा।

अप्पय दीक्षित और भट्टोजी दीक्षित की भेंट का कोई ऐतिहासिक आधार नही मिलता। प्रसिद्ध विद्वान और लेखक होने के कारण अप्पय की चारो ओर कीर्ति फैल चुकी थी और उनके कुछ ग्रथ काशी ऐसे विद्या-क्षेत्र में भी मान्य हो चुके थे। भट्टोजी ने सिद्धात-कौमुदी की एक प्रति अप्पय के पास भेजी और उन्होने इस ग्रथ का भरपूर स्वागत किया। उसी समय भट्टोजी रामेश्वर की यात्रा के बहाने वेदात और मीमासा के अध्ययन के लिये दक्षिण में अप्पय के पास आकर रहने लगे और उन्हें अपना गुरु माना। जगन्नाथ द्वारा भट्टोजी को गुरुद्रोही पुकारने का कारण शेषकृष्ण

के ग्रंथ के विरुद्ध टीका तो थी ही, पर दूसरा कारण यह भी था कि उन्होंने स्वजातीय गुरु के रहते हुए भी द्रविड़ जाति का गुरुत्व स्वीकारा और यही दोनों के बीच में वैर-भाव का कारण था।

इसमें जरा भी संदेह नहीं है कि भट्टोजी दीक्षित (१५७०–१६३५) काशी के शायद सब से बड़े पंडित हुए। काशी के विद्वानों की ग्रंथ रचना शैली में कोई विशेषता अथवा नवीनता तो थी नहीं, इसीलिये उसका प्रचार सीमित रहा, पर भट्टोजी की अकेली सिद्धांत-कौमुदी ही देश के कोने-कोने में पढ़ी जाती है और लोग आज दिन भी बड़े आदर के साथ उनका नाम लेते हैं। काशी के नाग पंचमी के दिन विद्यार्थी 'बड़े गुरु का छोटे गुरु का नाग ले नाग' कहकर नागों की तस्वीरें बेंचा करते हैं। यहाँ बड़े गुरु से तात्पर्य पतंजलि और छोटे गुरु से भट्टोजी दीक्षित की ओर संकेत है। शायद भट्टोजी को लोग नाग का अवतार मानते हैं।

भट्टोजी के पूर्वज आन्ध्रदेश के रहने वाले कृष्ण यजुर्वेद की तैत्तिरीय शाखा के आन्ध्र ब्राह्मण थे।[1] उनके पिता लक्ष्मीधर भट्ट वियजनगर-सम्राट् के आश्रित थे। लक्ष्मीधर के भट्टोजी और रंगोजी दो पुत्र थे। भट्टोजी की आरंभिक शिक्षा पिता के पास हुई। पिता के देहांत के बाद भट्टोजी पहले जयपुर गए, पर जल्दी ही वहाँ से काशी पहुँचे और वहाँ शेषकृष्ण से व्याकरण पढ़ने लगे। अपनी बुद्धि की प्रखरता से थोड़े ही दिनों में उन्होंने व्याकरण में प्रवीणता प्राप्त कर ली। इसके कुछ ही दिनों बाद उनका विवाह हुआ और वे सोमयाग-कर के दीक्षित हो गए। अपनी विचक्षण प्रतिभा के अनुकूल उन्होंने सिद्धांत-कौमुदी की रचना की और प्रचार के लिये उसकी अनेक प्रतियाँ प्रसिद्ध पंडितों के पास भेजी। अपने पुस्तक की एक प्रति उन्होंने अप्पय दीक्षित के पास भी भेजी। उसे पढ़कर अप्पय दीक्षित ने भट्टोजी का अभिनंदन किया। इसी बीच भट्टोजी के गुरु शेषकृष्ण का देहांत हो गया। इन्हीं घटनाओं के बीच भट्टोजी ने शेषकृष्ण विरचित प्रक्रिया-प्रकाश पर प्रौढ मनोरमा नाम का एक खंडन ग्रंथ लिखा और सब प्रकार से सिद्धांत कौमुदी का प्रचार किया। उनके इस गुरुद्रोह से अप्रसन्न होकर पंडितराज जगन्नाथ ने प्रौढ मनोरमा कुचमर्दन नामक खंडन ग्रंथ लिखा। भट्टोजी और पंडितराज की इन चढ़ा-उपरियों के बारे में तत्कालीन पंडित-समाज में काफी चरचा रही।

भट्टोजी के छोटे भाई रंगोजी भट्ट केलदी के राजा वेंकटप्पा नायक के आश्रित थे। अपने भाई से मिलने और रामेश्वर यात्रा के निमित्त भट्टोजी ने काशी से प्रस्थान किया। चिदंबरम् में उनकी अप्पय दीक्षित से भेंट हुई। उस समय अप्पय सिद्धांत-कौमुदी पढ़ा रहे थे। बाद में परिचय होने पर अप्पय से उन्होंने 'माध्वमत विध्वंसन' नामका ग्रंथ पढ़ा बाद में भट्टोजी ने 'तत्वकौस्तुभ' नाम के ग्रंथ की रचना की।

भट्टोजी ने व्याकरण, धर्मशास्त्र इत्यादि अनेक विषयों पर चौंतीस ग्रंथ लिखे।[2] भट्टोजी

---

१. वही, पृ० ३४९ से।

२ भट्टोजी के ग्रंथ—(१) अद्वैत-कौस्तुभ, (२) आचार-प्रदीप, (३) अशौच-निर्णय, (४) आह्निकम्, (५) कारिका, (६) काल-निर्णय-संग्रह, (७) गोत्र-प्रवर-निर्णय, (८) चतुर्विंशति-मुनिवर-व्याख्या, (९) चंदन-धारण-विधि, (१०) जातकालंकार, (११) तत्व-कौस्तुभ; (१२) तत्व-विवेक-

अद्वैतवादी थे और श्री नृसिंहाश्रम उनके गुरु थे। भट्टोजी के वीरेश्वर दीक्षित और भानु दीक्षित नाम के दो पुत्र हुए तथा हरि दीक्षित नाम के पौत्र। इन सबने भी काफी साहित्य का सृजन किया। 'मध्यसिद्धान्तकौमुदी' तथा 'व्यवहार-निर्णय' इत्यादि ग्रंथों के रचयिता वरदाचार्य, नीलकंठ शुक्ल, रामाश्रम तथा ज्ञानेंद्र सरस्वती भट्टोजी के शिष्य थे।

भट्टोजी के पुत्र पौत्र का महाराष्ट्र ब्राह्मणों में विवाह संबंध होने से उनका घराना महाराष्ट्र कहलाया। भट्टोजी के अंतिम दिन ब्रह्म चिंता में बीते और इस तरह ६५ वर्ष की अवस्था में काशी में उनकी मृत्यु हुई।

जिस समय बनारस में रामेश्वर भट्ट आए करीब-करीब उसी समय काशी के प्रसिद्ध धर्माधिकारी कुल के लोग भी वहां आए। काशी के प्रसिद्ध भारद्वाज कुल का इतिहास महादेव पंडित से आरंभ होता है। महादेव शंकर भट्ट के पुत्र नीलकंठ भट्ट के जामाता थे। इस कुल के अंतिम महामहोपाध्याय दामोदर शास्त्री और गोविंद शास्त्री हुए। अट्ठारहवीं और उन्नीसवीं सदियों में पायगुंडे कुल में भी अनेक विद्वान् हुए। चतुर्धर या चौधरी कुल में महाभारत के प्रसिद्ध टीकाकार नीलकंठ हुए। पुणतांबेकर कुल में भी अनेक विद्वान् हुए। इसी कुल के महादेव नामक एक पंडित ने भावानंदसिद्धांतवागीश की दीधिति पर टीका की।

सत्रहवीं सदी के बनारस के अनेक पंडितों का उल्लेख एक निर्णय-पत्र में[1] मिलता है। यह निर्णय-पत्र १६५१ में लिखा गया और इसमें ७० पंडितों और ब्राह्मणों के हस्ताक्षर हैं (देखिए परिशिष्ट १)। इन पंडितों में अधिकतर संन्यासी तथा महाराष्ट्र, कर्नाटक, कान्यकुब्ज, तैलंग, द्रविड़ और दूसरे ब्राह्मण हैं। इस तालिका में से निम्नलिखित पंडितों के बारे में कुछ पता चलता है —

१ पूर्णेंदु सरस्वती—कवींद्र चंद्रोदय में इन्हें पूर्णानंद ब्रह्मचारी के नाम से पुकारा गया है। इनका नाम रामाश्रम के दुर्जन मुख चपेटिका में भी आता है।

३ नीलकंठ भट्ट—शायद ये शंकर भट्ट के पुत्र हों, इन्होंने भगवंत भास्कर नाम का एक ग्रंथ लिखा (काने, हिस्ट्री आफ दि धर्मशास्त्र, १,४४०)।

४ जनपाणि शेष—शायद कारक विचार के लेखक थे (आउफ्रेक्ट, सी० सी० आई० ६६२, १५)

५ माधवदेव—इन्होंने न्याय सार नाम का ग्रंथ गोदावरी के किनारे बसे हुए धारापुर

दीपन-व्याख्या, (१३) तत्व-सिद्धान्त-दीपिका, (१४) तंत्राधिकार-निर्णय, (१५) तत्वामृतम्, (१६) तिथि-निर्णय (१७) तिथि निर्णय-संक्षेप, (१८) तिथि-प्रदीप, (१९) तीर्थ यात्रा विधि, (२०) त्रिस्थली सेतु-सार-संग्रह, (२१) तैत्तिरीय-संध्या-भाष्य, (२२) दश श्लोकी-व्याख्या, (२३) दायभाग, (२४) धातु पाठ-निर्णय, (२५) प्रायश्चित्त-विनिर्णय, (२६) प्रौढ मनोरमा, (२७) बाल मनोरमा, (२८) भट्टोजि दीक्षितीय, (२९) भट्टोजि भट्टीय, (३०) मास निर्णय, (३१) लिंगानुशासन सूत्रवृत्ति, (३२) शब्द कौस्तुभ, (३३) श्राद्ध-कांड, (३४) सिद्धान्त-कौमुदी।

[1] पूना ओरियंटालिस्ट, भा० ८(३–४), पृ० १३० स।

ग्राम से वनारस आकर लिखा। इन्होंने रामभद्र सार्वभौम के 'गुण-रहस्य' पर 'गुण-रहस्य टिप्पणी', 'शब्द प्रामाण्यवाद', तथा 'तर्क-भापासार मजरी' नाम के ग्रथ लिखे।

९ रघुदेव भट्टाचार्य—ये वंगाली विद्वान् वनारस मे अपनी पाठशाला चलाते थे। प्रसिद्ध जैन विद्वान यशोविजय (करीव १६०८–८८) जिन्होंने छद्मवेश मे रहकर १२ वर्ष वनारस मे शिक्षा ग्रहण की, इनका अपने ग्रथ मे उल्लेख करते है। उनके समकालीन वनारस के कवि चिरजीव भट्टाचार्य ने भी अपने काव्य-विलास मे उनके वारे मे एक श्लोक दिया है। रघुदेव भट्टाचार्य ने चिंतामणि पर 'तत्व-दीपिका', 'निरुक्त-प्रकाश', 'न्याय-कुसुमाजलिकारिका-व्याख्या', 'द्रव्य-सार-संग्रह', 'सिद्धात तत्व' तथा और भी कई छोटे ग्रथ लिखे है।[२]

१७ नारायण भट्ट आरडे—ये लक्ष्मीश्वर भट्ट के पुत्र तथा 'गृह्याग्निसार,' 'प्रयोगसार', 'श्राद्धसागर' और 'लक्ष-होम-कारिका' के लेखक थे।

२२. ब्रह्मेंद्र सरस्वती व रामाश्रम ने इनका 'दुर्जनमुख चपेटिका' मे उल्लेख किया है। शायद ये नृसिंहाश्रम नाम से भी पुकारे जाते थे। इनके नाम दारा शुकोह द्वारा एक संस्कृत पत्र भेजने का भी उल्लेख है।[३]

२७ गोविद भट्टाचार्य—ये दिग्गज विद्वान् रुद्रन्याय वाचस्पति के एकमात्र पुत्र और काशी के वगाली पंडितो के नेता विद्यानिवास भट्टाचार्य के पौत्र थे। इन्होने १६२८–२९ मे 'न्यायसक्षेप' नामक ग्रथ लिखा। आसफ खॉ की प्रशसा मे इन्होंने पद्य मुक्तावली लिखी।[४]

४६ नारायण तीर्थ—इन्होने वनारस मे 'मातृभाषा-प्रकाशिका' लिखी। 'कुसुमाजलि' और 'दीधिति' पर भी इनकी टीकाएँ मिलती है। शायद वे १७२० तक जीवित रहे।[५]

५४ रघुनाथ जोशी—इन्होने वनारस मे १६६० मे मुहूर्त-माला लिखी। इनके पिता नृसिह वनारस के रहने वाले थे। असीरगढ़ का किला फतह होने के वाद अकवर ने इन्हे ज्योतिर्विद पदवी से भूपित किया (दीक्षित, हिस्ट्री आफ इडियन आस्ट्रोनामी, पृ० ४१४)।

५८. देवभट्ट महाशब्दे—देवभट्ट वनारस के रहने वाले थे तथा इनका शाडिल्य गोत्र था। इनके पुत्र रत्नाकर को सवाई जयसिह ने अपना गुरू वनाया था।

इस युग के वनारस के सर्वश्रेष्ठ पडित कवीद्राचार्य सरस्वती थे।[६] कवीद्राचार्य हिंदी और सस्कृत दोनो ही के विद्वान् थे। एक ओर तो वे काशी के सस्कृत पडितो के सिरमौर थे और दूसरी

---

१ इडियन हिस्टोरिकल क्वाटरली, जून १९४२, पृ० ९१–९२

२. वही, पृ० ९३–९४

३. अडयार लाइब्रेरी बुलेटिन, अक्टूवर, १९४०, पृ० ९३।

४. इंडियन हि० क्वा० जून १९४५, पृ० ९४–९६

५. वही, पृ० ९१।

६. कवीद्र चद्रोदय, एच० डी० शर्मा तथा एम० एम० पाटकर द्वारा संपादित, पूना १९३९; नागरी प्रचारिणी पत्रिका, ५२, अंक।

और उनका मुगल दरबार से घनिष्ट संबंध था। इनकी जन्मभूमि गोदावरी के किनारे स्थित पुण्य भूमि थी। वे वेदांगों और दूसरे शास्त्रों का अध्ययन करने के बाद संन्यासी होकर बनारस चले आए। उनके काशीनिवास का कारण निजामशाही राज्य पर शाहजहाँ का अधिकार होना बताया जाता है। कवींद्राचार्य काशी में वरुणा नदी के किनारे जिस बाग में रहते थे वह अब भी वेदांती का बाग के नाम से प्रसिद्ध है।

शाहजहाँ के समय हिंदुओं के पवित्र तीर्थ गया, प्रयाग और काशी में हिंदुओं से यात्री कर वसूल किया जाता था। काशी के विद्वानों ने इस कर से मुक्ति पाने के लिये कवींद्राचार्य के नायकत्व में शाहजहाँ के पास अपना प्रतिनिधि-मंडल भेजा। इनके प्रयत्न से यात्रीकर उठा लिया गया और शाहजहाँ ने इन्हें सर्व-विद्या-निधान की पदवी से भूषित किया। इतना ही नहीं शाहजहाँ ने इनको दो हजार सालाना पेंशन भी बाँध दी। बनारस लौटने पर वहाँ के पंडितों ने इन्हें कवींद्र की पदवी से सम्मानित कर इन्हें एक मान-पत्र भेंट किया। इस घटना का मुगल इतिहास में कोई उल्लेख नहीं है। इसका यह कारण भी हो सकता है कि मुसलमान इतिहासकार उन बातों का उल्लेख नहीं करना चाहते थे जिनसे मुसलमान बादशाहों की हिंदुओं के प्रति कोई सद्भावना देख पड़े।

दिल्ली जाने के बाद कवींद्राचार्य का मुगल दरबार में प्रवेश हो गया और वे दारा शुकोह के पंडित समाज के प्रधान बना दिए गए। शाहजहाँ के बंदी होने पर उनकी वृत्ति बंद कर दी गयी। पुनः वृत्ति चालू करने के लिये कवींद्राचार्य ने दानिशमंद खाँ से सहायता चाही, पर यह नहीं कहा जा सकता कि उनकी वृत्ति पुनः चालू हुई अथवा नहीं। सन् १६६७ में बर्नियर ने कवींद्राचार्य से मुलाकात की और उनका बड़ा पुस्तकालय देखा। कवींद्राचार्य की मृत्यु १६७० के लगभग हुई। जैसा हम ऊपर कह आए हैं, कवींद्राचार्य संस्कृत के प्रकांड पंडित थे। उनके निम्नलिखित ग्रंथ मिलते हैं—कवींद्र-कल्पद्रुम, पद-चंद्रिका, दश-कुमार-टीका, योग-भास्कर-योग, शतपथ-ब्राह्मण भाष्य इत्यादि।

कवींद्राचार्य हिंदी के भी कुशल कवि थे। 'शिवसिंह सरोज' में कहा गया है कि शाहजहाँ बादशाह की आज्ञा से इन्होंने कवींद्र-कल्प-लता नामक ग्रंथ भाषा में लिखा। इस ग्रंथ में दाराशुकोह और बेगम साहब की तारीफ में बहुत से कवित्त हैं। हिंदी में उनका दूसरा ग्रंथ योग-वाशिष्ठ-सार है, जो संवत् १७१७ में लिखा गया। इनका तीसरा ग्रंथ समर-सार कहा जाता है।

काशी के विद्वानों के अध्ययन से यह पता चलता है कि इनमें अधिकतर दाक्षिणात्य ब्राह्मण थे पर इसके यह माने नहीं कि काशी उस समय एतद्देशीय ब्राह्मण विद्वानों से शून्य थी। यह संभव है कि इनमें दाक्षिणात्य विद्वानों की-सी तेजी और दौड़-धूप की ताकत नहीं थी और शायद इसीलिये वे इतना नाम नहीं कमा सके। काशी के ऐसे ही एक एतद्देशीय सरयूपारी ब्राह्मण विद्वान श्रीरामानंद थे। इनके कुल में आज तक संस्कृत का पठन-पाठन होता आया है।[1]

श्रीरामानंद के पूर्वज शायद सोलहवीं सदी के अंत में बनारस आकर बस गए। उनके पिता पंडित मधुकर मिश्र के संबंध में तो अधिक पता नहीं चलता, पर उनके बारे में श्रीरामानंद के

---

१ प्रासीडिंग्स एंड ट्रांजैक्शंस ऑफ दी ऑल इंडिया ओरियंटल कान्फ्रेंस, १९४३-४, भा० ८ पृ० ४७ में।

उल्लेखो से स्पष्ट हो जाता है कि वे काशी की विद्वन्मडली मे आदरणीय व्यक्ति थे। ऐसा पता चलता है कि उनकी विद्वत्ता से आकर्षित होकर दाराशुकोह ने उनसे 'विराड्-विवरण-भू' नामक ग्रथ साकार ईश्वर की सार्थकता सिद्ध करने के लिये लिखवाया। इस ग्रथ के अतिम लेख से तो यह स्पष्ट हो जाता है कि १६५६ ई० मे धरणिधर मुहम्मद दाराशुकोह ने रामानद को विराड्-विवरण लिखने के लिये नियुक्त किया। इस ग्रथ के निर्माण करवाने से ऐसा भास होता है कि औपनिषदिक सिद्धातो को समझने के बाद दाराशुकोह को साकार ईश्वर सबंधी दार्शनिक सिद्धातो को जानने की इच्छा हुई और इस काम के लिये उन्हे बनारस मे सब से अच्छे पडित श्री रामानद ही नजर आए। दारा की जीवनी से यह पता नही चलता कि यह ग्रथ उसके पास पहुँचा अथवा नही, कम-से-कम इस ग्रथ के आधार पर दारा ने कोई फारसी ग्रथ नही लिखा। जो भी हो दारा ने उनके पाडित्य से मुग्ध होकर उन्हे 'विविधविद्या चमत्कार पारंगत' की उपाधि से विभूषित किया।

दाराशुकोह के साथ श्री रामानद का जैसा उनके कुल मे किवदती है गुरु शिष्य का सबध था। जो भी हो यह तो निश्चित है कि दारा के प्रति श्री रामानद का अनुराग था। औरगजेब द्वारा दारा के पराभव का समाचार सुनकर श्री रामानद का चित्त जैसा उनके कुछ पद्यो से से पता चलता है, खिन्न हो उठा। दारा के गुणो को याद करते-करते वे कहते है—'दारा शाह विपत्सु हा! कथमहो प्राणा न गच्छन्त्यमी', "हाय दाराशाह की विपत्ति से हमारे प्राण क्यो नही निकल जाते। हमे पता है कि १७वी सदी के मध्य मे बनारस के अनेक पडित दारा के आश्रित थे पर जहाँ तक हमे पता है, इनमे से किसी ने सिवाय रामानंद के दारा की विपत्ति पर आँसू बहाने की हिम्मत नही की और यही मुख्य कारण है जिसके आधार पर हम कह सकते है कि उनका दारा के साथ निकट सबध था।

काशी के पडितो को राज्य का भय सदा बना रहता था और शायद इसीलिये अनेक अत्याचारो को सहते हुए भी उन्होने अपना मुँह खोलने की कभी हिम्मत नही की, पर श्रीरामानद इस प्रवृत्ति के अपवाद थे। अपनी ओजस्विनी वाणी द्वारा वह औरगजेब का कुछ बिगाड तो नहीं सकते थे पर हिदुओ मे शायद वे अकेले ही व्यक्ति थे जिन्होने औरगजेब कालीन बनारस मे हिदुओं की दयनीय दशा का जीता-जागता चित्र अपने हास्य-सागर नामक प्रहसन मे खीचा है —

हन्यन्ते निर्निमित्त सकल सुरभयो निर्दयैर्म्लेच्छ जातै—
दीर्यन्तेऽमी सदेवा सकलसुमनसामालयाञ्चातिदीर्घा.।
पीड्यन्ते साधुलोका. कठिनतरकरग्राहिभि कामचारै
प्रत्यूहैस्तै क्रतूना समयमिव जगत्यामराणा कुमारै।

उपरोक्त उद्धरण से पता चलता है कि औरंगजेब-युग मे गोवध हो रहा था, देवमंदिरो की प्रतिमाएँ तोडी जा रही थी, और औरंगजेब के स्वच्छद कर्मचारियो के उत्पीड़न तथा अत्यधिक कर-ग्रहण से लोग त्रस्त और आतंकित हो रहे थे। श्लोक के आधारपर यह भी कहा जा सकता है कि श्री रामानंद ने हास्य-सागर-प्रहसन १६६९ के बाद ही लिखा होगा, जब औरंगजेब की आज्ञा से बनारस के मदिर तोड़ दिए गए और हिंदुओ पर तरह-तरह के अत्याचार किए गए।

पण्डित होने के सिवाय श्री रामानंद शिव के परम भक्त थे, पर देवी की उपासना में भी उनका चित्त रमता था और शायद वे तांत्रिक भी थे। अपने अंतिम दिनों में वे संन्यास ग्रहण कर के लक्ष्मी कुंड पर स्थित काशीमठ के शिष्य होकर वहीं रहने लगे।

श्री रामानंद संस्कृत के प्रतिभाशाली भावुक कवि थे और उनके पूर्ण अपूर्ण करीब-करीब पचास स्फार ग्रंथ मिलते हैं। हिंदी में भी वे कविता करते थे। साहित्य के सिवाय व्याकरण, न्याय, वेदांत, ज्योतिष, कर्मकांड इत्यादि विषयों में भी वे पारंगत थे। उनके साहित्यिक ग्रंथों में रसिक-जीवन, पद्य पीयूष, हास्य-सागर, काशी-कुतूहल तथा रामचरित्रम् मुख्य हैं। टीका ग्रंथों में किरात पर भावार्थ दीपिका और काव्य प्रकाश के प्राकृत अंशों की व्याख्या भी है।

(५)

हम ऊपर देख आए हैं कि महाराष्ट्र ब्राह्मणों के लिये काशी परम पवित्र तीर्थ बन गई। काशी में बहुत से महाराष्ट्र पंडित बस गए और अपने पांडित्य से बनारस का नाम ऊँचा करते रहे। महाराष्ट्र में पेशवाई आरम्भ होने पर काशी में महाराष्ट्र ब्राह्मणों की संख्या और बढ़ी और पेशवा बनारस के सुधार के लिये काफी रुपये खरचने लगे। काशी के अधिकतर महाराष्ट्र ब्राह्मण तो पूना की वृत्ति से ही अपना गुजारा करते थे। इन ब्राह्मणों को रहने के लिये पेशवाओं ने बहुत-सी ब्रह्मपुरियाँ बनवाईं और उनकी स्नान-पूजा के लिये बहुत से घाट भी बनवाए। इस युग में पूना से बनारस आए हुए पंडितों में नारायण दीक्षित पाटणकर का विशेष स्थान था। १७३४ ई० में नारायण दीक्षित अपने पुत्र बालकृष्ण दीक्षित के साथ काशी आए। वे अपनी साधुता और चरित्र के लिये सारे महाराष्ट्र में विख्यात थे और उनसे प्रभावित होकर बाजीराव विश्वनाथ उन्हें अपना गुरु मानते थे। बनारस में नारायण दीक्षित ने बहुत से धर्मकार्य किए। ब्रह्माघाट और दुर्गाघाट बनवाया तथा ब्राह्मणों के लिये बहुत से मकान बनवाए। बालम, चितळे, पारणधर और वर्वे कुल के मकान उसी समय के हैं। जिस मुहल्ले में नारायण दीक्षित का मकान था उस भाग को दीक्षितपुरा अथवा ब्रह्माघाट कहते हैं। बाद में यहीं प्रतिनिधिसागरीकर, रामदुगकर, और नानाफड़नवीस ने इमारतें बनवाईं।

धर्मनिष्ठ और पंडित होते हुए भी नारायण दीक्षित देशस्थ ब्राह्मणों की ही अधिक सहायता करते थे। पेशवा की माता राधाबाई १७३५ में बनारस आईं और वहाँ उन्होंने दस-बीस बड़े पंडितों को अच्छी दान दक्षिणा दी। उनके जातिभाई चितपावनों को भी कुछ रुपए मिले, पर बाकी महाराष्ट्र ब्राह्मण यों ही टापते रह गए।[1] यह बात नारायण दीक्षित को बड़ी बुरी लगी और इस बात की उन्होंने शिकायत भी की। तत्कालीन बहुत से मराठी पत्रों से यह भी पता लगता है कि बनारस के महाराष्ट्र पंडितों में कई दल थे जो हमेशा एक दूसरे से लड़ाभिड़ा करते थे।

नारायण दीक्षित के समय बनारस में एक महत्व की राजनीतिक घटना हुई जिसमें उस समय के पंडित समाज की दुरवस्था पर काफी प्रकाश पड़ता है। बाजीराव राजीराव (१७४०–१७६१)

---

१ वामन भास्कृष्ण दीक्षित, नारायण दीक्षित पाटणकर पृ० २८–३०, बम्बई १९२५

२ पेशवा दफ्तर, भा० ९, २५

की यह पूरी इच्छा थी कि बनारस किसी तरह उनके हाथ लग जाय। १७४२ मे बालाजी बाजीराव ने बंगाल जाते हुए मिर्जापूर मे अपनी सवारी रोक कर बनारस ले लेने की इच्छा की। जब अवध के नवाब सफदरजग को यह पता लगा तो उन्होने बनारस के पडितो को इकट्ठा कर उन्हे बालाजी बाजीराव के बनारस आने के पहिले ही मार डालने की धमकी दी। बिचारे ब्राह्मण क्या करते। नारायण दीक्षित की अधीनता मे वे पेशवा के पास पहुँचे और उन्हे लौट जाने के लिये मना लिया।[1] इस घटना पर प्रकाश डालने वाला काय गाँवकर दीक्षित के दफ्तर मे २७ जून १७४२ का एक पत्र है।[2] जिसका अनुवाद नीचे दिया जाता है:—

"मल्हारराव का विचार ज्ञानवापी मस्जिद को गिराकर पुनः विश्वेश्वर मंदिर बनाने का हुआ। पर पच द्राविड़ ब्राह्मण चिता करने लगे, 'यह मस्जिद अगर बादशाह के हुक्म के बिना गिरा दी गई तो बादशाह क्रुद्ध होकर ब्राह्मणो को मार डालेगा।' इस प्रात मे यवन प्रबल है। सब के चित्त मे यह बात ठीक नही जँचती। दूसरी जगह मदिर बनाना अच्छा है।' ब्राह्मण चिता करते हैं . ब्राह्मणों की घोर दुर्दशा होगी, मना करने वाला कोई नही है और मना करने से देवस्थापना न करने देने का दोष होगा। जो विश्वेश्वर को भावेगा वही होगा, चिता करने से क्या लाभ। अगर मस्जिद गिरने लगेगी तो सब ब्राह्मण मिलकर विनती-पत्र भेजेगे ऐसा विचार है।"

मुगल साम्राज्य की अवनति के युग मे भी बनारस के पडितो की सख्या मे कोई कमी नही आई। इस युग मे नागोजी भट्ट को छोड़कर काशी मे कोई ऐसा विद्वान नही हुआ जिसने साहित्य अथवा व्याकरणशास्त्र को कोई नयी देन दी हो। १८वी सदी के उत्तरार्ध मे बनारस के अनेक पडितो का पता बीर प्रमाण-पत्रों से चलता है, जो उन्होंने वारेन हेस्टिग्ज को १७८७ तथा १७९६ मे समर्पित किए थे। १७८७ के दो प्रमाण-पत्रो का सपादन डा० एस० एन० सेन ने किया है।[3] इनमे से एक प्रमाण-पत्र पर १७८ एतद्देशीय, महाराष्ट्र और नागर ब्राह्मणो और पडितों के हस्ताक्षर हैं। दूसरे प्रमाण-पत्र पर ११२ हस्ताक्षर बगाली पडितो के कहे गए है पर वास्तव मे उनमे से बहुत से सज्जन कायस्थ थे और शायद संस्कृत समझ भी नही सकते थे। बगालियो का मान-पत्र तो बंगला अक्षरों मे है, पर देशी पंडितों का नागरी अक्षरो मे।

इन मान-पत्रो मे जिन पडितो और ब्राह्मणों के नाम आए है उनका संबध जीवन के अनेक क्षेत्रो से था। इनमे से कुछ तो वास्तव मे पंडित थे बाकी पुरोहित तथा पाठ-पूजा करने वाले रहे होंगे। बगाली पंडितों वाले मानपत्र मे तो जयनारायण घोषाल, बिहारी चरण सील तथा रामशंकर बसु के नाम आए है जो ब्राह्मण नही थे पर जिनका सबध काशी के पडितो से अच्छा था। जो भी हो बनारस के सब ब्राह्मणो और पडितो और नागरिको ने मुक्तकठ से दोनो मानपत्रो मे वारेन हेस्टिग्स के उन कार्यो की प्रशंसा की है जिनसे यात्रियों की गगापुत्रो से रक्षा हुई और अन्य धार्मिक कार्य करने की बेरोक-टोक सुविधा प्राप्त हुई। इन मानपत्रो मे अली इब्राहीम खाँ को बनारस के कोतवाल नियुक्त करने की भी प्रशसा की गयी है। तथा वारेन हेस्टिग्स के द्वारा

---

१. इतिहाससग्रह, जून १९१० पृ० ४४।
२. राजवाड़े, मराठयां च्या इतिहासाची साधनें, या. ३. प. ३५४
३. दिजर्नल ऑफदि गंगानाथ रिसर्च इस्टिटयूट, या. १, पृ. ३२ से

विश्वम्भर मंदिर के ऊपर नौबतखाना बनाने के कार्य की भी काफी प्रशंसा की गयी है। इस नौबतखाना के बनवाने से यह पता चलता है कि वारेन हेस्टिंग्स हिंदुओं को अपनी ओर आकृष्ट करना चाहता था।

अब यह प्रश्न उठता है कि पंडितों द्वारा यह मानपत्र अपने मन से दिए गए अथवा जबरदस्ती दिलाये गए। हमें इस बात का पता है कि अली इब्राहीम खाँ ने बनारस के रईसों और पंडितों द्वारा दिए गए चारों मानपत्रों को डेकन साहब की सेवा में इसलिये भेज दिया कि वे कलकत्ते की सरकार के मार्फत उन सबों का अनुवाद ईस्ट इंडिया कंपनी के डाइरेक्टरों के पास भेज दें। डेकन के ऐसा स्वीकार न करने पर ये मानपत्र हेस्टिंग्स के एटर्नी मि० टामसन के पास भेज दिए गए। इसपर टामसन ने गवर्नर जनरल से प्रार्थना की कि वे हेस्टिंग्स संबंधी और दूसरे भी मानपत्रों को विलायत आने की इजाजत दें। उनकी यह बात मान तो ली गई पर गवर्नर जनरल ने अपने अफसरों को आज्ञा दी कि जो मानपत्र अपने से आवें उन्हें वे रख लें पर मानपत्र इकट्ठा करने के लिये लोगों पर किसी तरह का जोर न दें। पर जैसा इतिहास से पता है काशी के कोतवाल अली इब्राहीम खाँ वारेन हेस्टिंग्स के मित्र थे और उन्हें इस बात का पूरा अवसर था कि वे बनारस के रईसों और पंडितों पर मानपत्र देने का दबाव डालें। जो भी हो मानपत्रों में किसी राजनीतिक बात की तो चर्चा ही नहीं है और इससे पता लगता है कि शायद यह मानपत्र लोगों ने अपनी तबीयत से ही दिया हो। इन मानपत्रों में आए पंडितों के नाम परिशिष्ट २ में दिए जाते हैं।

१७८७ में ही दो मानपत्र देकर बनारस के पंडित चुप रहने वाले नहीं थे। १७९६ में पुनः उन्होंने वारेन हेस्टिंग्स के नाम दो मानपत्र भिजवा दिए। ये दोनों मानपत्र उन प्रमाण पत्रों के संग्रह में हैं जो ब्रिटिश भारत के निवासियों ने समय-समय पर वारेन हेस्टिंग्स को दिए थे और जिनका १७९७ में प्रकाशन हुआ।[1] पहला मानपत्र १९ दिसंबर १७९६ को दिया गया। इस मानपत्र पर जिन पंडितों के हस्ताक्षर हैं उनके नाम परिशिष्ट ३ में दिए गए हैं। इस मानपत्र के पंडितों में तर्क और विज्ञान के पंडित (नं० १) ऋग्वेद के पंडित (नं० २३) सामवेद के पंडित (नं० २४) यजुर्वेद के पंडित (नं० २५) अथर्ववेद के पंडित (नं० ३६) और एक ज्योतिषी (नं० १०) के नाम हैं। ऐसा बोध होता है कि वे इस युग में बनारस के मुख्य पंडित थे।

पंडितों का दूसरा मानपत्र १७९७ में दिया गया। मानपत्र के शीर्षक से पता लगता है कि पहले इस मानपत्र में हिंदू-मुसलमान, रईस और पंडित सब शामिल होने वाले थे, पर बाद में मुसल्मानों ने अपना अलग मानपत्र देने का निश्चय कर लिया और इसलिये उपर्युक्त मानपत्र केवल हिंदुओं के नाम से गया। जिन पंडितों और ब्राह्मणों के नाम इस मानपत्र में हैं वे परिशिष्ट ३ में दिए गए हैं। इनमें से कुछ पंडितों ने अपने हस्ताक्षर श्लोकों में दिए हैं।

(६)

अठारहवीं सदी में काशी में संस्कृत शिक्षा का वही प्रबंध था जो मुगल काल में या उससे भी पहले था। विद्यार्थियों को काशी के पंडित निःशुल्क पढ़ाते थे और उनके भोजन और रहन का

१ पी० के० गोडे० दी टेस्टीमोनियल्स आफ गुड कंडक्ट टू वारेन हेस्टिंग्स बाई बनारस पंडित, जरनल ऑफ दी टंजोर संस्कृत मैन्युस्क्रिप्ट लाइब्रेरी वा० २ नं० १ पृ० १०–१४।

प्रबंध भी करते थे। जीविका के लिये उन्हें महाजनो और राजाओं की सहायता अपेक्षित होती थी और लगता है, यह सहायता उन्हें पर्याप्त रूप मे मिलती थी। जब से पेशवाओं का सबंध बनारस से हुआ तब से दक्षिणी पडितों के सहायतार्थ महाराष्ट्र तथा मराठो की दूसरी अमलदारियो से भी अन्नसत्र और पाठशालायें चलाने के लिये काफी रुपये आते थे। १८वीं सदी के अंत में जब अंग्रेजो का पैर बनारस मे जम गया, तब उन्होंने बनारस में संस्कृत कालेज खोलने की सोची[1]। कालेज चलाने की बात पहले पहल किसके दिमाग में आई यह कहना तो कठिन है। संस्कृत कालेज के प्रथम आचार्य काशीनाथ लार्ड मर्निंगटन के नाम अपने १७९९ वाले पत्र मे लिखते हैं कि बनारस संस्कृत कालेज की बात पहले पहल उन्होंने ही चलायी। उनके इस कथन में कितना सत्य है यह तो हम नहीं कह सकते, पर उनका यह दावा एकदम से टाला भी नहीं जा सकता। यह भी संभव है कि चार्ल्स विलकिन्स ने जिन्हें संस्कृत पढने के लिये एक पडित ढूढने में बडी कठिनाई पडी थी यह सुझाव वारेन हेस्टिंग्स के सामने रक्खा हो। काशीनाथ पडित का अपने पत्र में यह कहना कि कालेज की स्थापना के सबंध मे मुझे अपनी कलकत्ता यात्रा स्थगित करनी पडी और इसके बाद मैंने यह प्रस्ताव जोनेथन डकन के पास रक्खा, किसी और दूसरे कागजपत्र से समर्थन नहीं होता। जो भी हो पहली जनवरी १७९२ को एक पत्र द्वारा डकन ने बनारस में संस्कृत शिक्षा के लिये एक कालेज खोलने का प्रस्ताव रक्खा। डकन के कालेज स्थापना करने मे पहला उद्देश्य यह था कि पडितो और विद्यार्थियो की सहायता से अनेक विषयो पर संस्कृत की हस्तलिखित पुस्तकें इकट्ठी की जायँ। दूसरा उद्देश्य यह था कि कालेज की स्थापना से अग्रेजो की हिंदुओ में ख्याति बढेगी और कालेज से ऐसे पडित निकल सकेंगे जो हिंदू कानून को समझाने में अग्रेजी जजों की सहायता कर सकेंगे। कालेज चलाने मे खर्च केवल चौदह हजार रुपया सालाना आँका गया। गवर्नर जनरल ने तुरत डकन का प्रस्ताव स्वीकार कर लिया और कालेज के खर्च के लिये बीस हजार की मंजूरी दे दी। कुछ समय बाद संस्कृत पाठशाला की स्थापना हो गई और उसमें पढाने के लिये आठ पडित रक्खे गए और काशीनाथ इनके प्रधान आचार्य नियुक्त हुए। काशीनाथ का वेतन दो सौ रुपया मासिक नियुक्त हुआ। पाठशाला की देख-रेख का भार बनारस के रेजिडेंट और उनके डिप्टी पर छोड़ दिया गया। डकन ने इस बात का पूरा प्रयत्न किया कि ब्राह्मण पडित जिनपर इस पाठशाला की सफलता निर्भर थी, किसी तरह से अप्रसन्न न होने पाएँ। इसके लिये पाठशाला में ब्राह्मण पडित ही नियुक्त किए गए और यह भी निश्चय किया गया कि स्मृतियों और धर्मशास्त्र के परीक्षक ब्राह्मण ही हो।

इस पाठशाला के पहिले सात साल के कागज पत्र नहीं मिलते। डकन १७९५ में बनारस से बबई के गवर्नर नियुक्त होकर चले गए। १७९८ में पाठशाला के प्रबंध का भार एक कमेटी पर आ पडा, जिसमे बनारस के कमिश्नर सैमुअल डेविस और कैप्टन विलफोर्ड भी थे। बनारस की पाठशाला की प्रबंधक-समिति के मेंबर मि० चेरी फारसी के विद्वान थे, डेविस भारतीय ज्योतिष में दखल रखते थे और विलफोर्ड में संस्कृत पढने की बड़ी रुचि थी। विलफोर्ड इस कमेटी के सेक्रेटरी नियुक्त किए गए। कैप्टन विलफोर्ड पहले पहल अंगरेजी जिलो और अवध के नवाब के राज्य

---

१ एस० एन० सेन, संस्कृत कालेज एट बनारस, जर्नल गंगानाथ झा रिसर्च इस्टिट्यूट मई १९४४, पृ० ३१५ से।

की जमीन की पैमाइश के लिये नियुक्त किए गए थे, पर इसवाम में नवाब के आदमियो द्वारा राडे अटकाए जाने पर डकन ने सर जान शोर को लिखा कि वे विल्फोड को बनारस में रहकर अपना अध्ययन समाप्त करने की आज्ञा दे दें। सर जान शोर ने डकन की यह बात मान ली और विल्फाड का उनकी तनख्वाह के अलावा पढ़ने की सामग्री इकट्ठा करने के लिये ९ सौ महीने का वजीफा भी स्वीकार कर लिया।

१८०१ में कालेज की कमिटी ने, जिसमें चेरी और डेविस की जगह नीव और टीन आ गए थे, रिपोट भेजी कि काशीनाथ द्वारा बताइ गइ विद्यार्थियो की दो सौ सख्या में पचास तो बराबर पाठशाला में आते थे। पचास से सत्तर तक महीने में केवल एक या दो बार आते थे और बाकी तो केवल नाम के ही विद्यार्थी थे। पाठशाला में काशीनाथ ने बारह की जगह केवल ग्यारह ही पडित रख छोडे थे और बारहवें पडित का फर्जी नाम देकर उसकी तनख्वाह खुद हडप जाते थे। कमिटी के आदेशानुसार काशीनाथ वेतन का ठीक तौर से चिट्ठा भी नहीं बनाते थे। इन्ही सब कारणो से कमिटी ने काशीनाथ का निकाल बाहर किया और उनकी जगह जटाशकर पडित को पाठशाला का प्रधानाध्यापक नियुक्त कर दिया। इस तरह निकाल दिए जाने पर काशीनाथ ने लाड मार्निगटन के पास एक अर्जी भेजी जिसमें अपना दुखडा रोया। इसमें शक नहीं कि पाठशाला के कामकाज में काशीनाथ बडी गडबडी करते थे, पर इस गडबडी का बहुत कुछ श्रेय उनके नालायक मातहतो का भी था। १७९८ में ही काशीनाथ ने गवनर जनरल से शिकायत की थी कि पाठशाला के बारह पण्डितो में से पाच पण्डित अमला और रईसो के यहाँ बराबर आया जाया करते थे जिससे पाठशाला के काम में बडा विघ्न पडता था। इस बात की शिकायत उन्होने बनारस के अमला से भी की, पर इसमें उन्होने दखल देने से इनकार कर दिया। ऐसा लगता है कि कालेज के पडित काशी की प्रथा के अनुसार विद्यार्थियो को अपने घर पर ही पढाया करते थे जिससे पाठशाला के नियमो का उल्लघन होता था। डकन के जाने के बाद तो कालेज के नियम और भी ढीले पड गए। पाठशाला के आरभिक अध्यापको में रामप्रसाद तर्कालकार अपनी नियुक्ति के समय करीब ८० वर्ष के थे। वीरेश्वर पडित, सुब्बा शास्त्री, और जयशकर भट्ट चाहते थे कि उनके छात्रो को भी वृत्तिया उन्ही को मिलें, पर ऐसा करने से कमेटी ने साफ इनकार कर दिया। १८०८ में कमेटी का विचार था कि जटाशकर में पाठशाला के आचार्य बनने की योग्यता नहीं थी। १८१३ में वीरेश्वर पडित, शिवनाथ पडित और जयराम भट्ट के विरुद्ध शिकायतें की गइ। इन बातो से पता चलता है कि काशीनाथ की असफलता का कारण उनकी अयोग्यता ही नही उनके साथियो की अयोग्यता भी थी, फिर भी रुपये पैसे के मामले में गडबडी करने के लिये वे अवश्य दोषी थे।

काशीनाथ के आचार्य पद से हटा दिए जाने पर भी पाठशाला के प्रबध में किसी तरह की उन्नति नहीं हुई। उनके उत्तराधिकारी जटाशकर एक साधारण कोटि के पडित थे। कमेटी के सभासद भी कालेज के कामो में दिलचस्पी नहीं लेते थे। इन सब बातो से यही पता चलता है कि जिस ध्येय को लेकर डकन ने इस कालेज की स्थापना की उसका कोई परिणाम नहीं निकला।

१८१२ में कालेज की पुनर्निर्माण योजना हुई जिससे १८१५ तक उसकी दशा में बहुत कुछ सुधार हो गया। १८२० में कैप्टन फेल कालेज कमिटी के सेक्रेटरी चुने गए। वृत्ति पानेवाले

विद्यार्थियों की संख्या ६० निर्धारित कर दी गई, पर बिना वृत्ति के दूसरे विद्यार्थी भी कालेज मे शिक्षा प्राप्त कर सकते थे। १८२३ मे विद्यार्थियो की सख्या वढ कर दो सौ हो गई। १८२५ मे इस पाठशाला का आँखो देखा वर्णन विशप हेवर ने छोड़ा है।[1] यह वर्णन इतना मजेदार है कि हम उसे नीचे उद्धृत करते है।

"विद्यालय दो चौक की ऊँची इमारत मे है। यह सर्वदा शिक्षको और विद्यार्थियों से भरा रहता है। विद्यालय मे वहुत सी कक्षाएँ है, जिनमे भारतीय गणित, फारसी, स्मृति शास्त्र, वेद, सस्कृत, और ज्योतिष इत्यादि पढाये जाते है। विद्यालय मे दो सौ विद्यार्थी है। उनमे से वहुत से मुझे पाठ सुनाने आए। अभाग्यवश थोडी ज्योतिष और फारसी के सिवाय मै कुछ न समझ सका। ज्योतिष के पंडितों ने हिंदू ज्योतिष के सिद्धातानुसार बने दो गोले दिखलाये, इनमे उत्तरी ध्रुव पर मेरु पर्वत और दक्षिणी ध्रुव पर एक कछुवा जिसपर पृथ्वी आश्रित है, थे। पडित जी ने वताया कि दक्षिणी गोलार्ध वसने योग्य नही है। इन्होंने यह भी वतलाया कि प्रतिदिन सूर्य पृथ्वी के कितने सौ चक्कर मारता है और उसी गति से वह कैसे नक्षत्रो के भी चारो ओर घूम आता है। . इस पाठशाला मे अंग्रेजी और यूरोपीय ज्योतिष पढाने की कई वार कोशिश की गई, पर इस विद्यालय के विगत प्रधान शिक्षक इसके इसलिये विरोधी थे कि ऐसा करने से संस्कृत शिक्षा पर व्याघात पहुँचने का तथा पंडितो की धार्मिक भावनाओ पर धक्का लगने का डर था।"

"दूसरे दिन मै वनारस की सैर करने घोडे पर निकला। विद्यालय का एक छोटा विद्यार्थी मेरे पीछे दौडा और हाथ जोड कर अपना पाठ सुनाने की प्रार्थना की, जिसे मै कल नही सुन सका था। मैंने अपना घोड़ा रोक दिया और लड़का सस्कृत के श्लोक सुनाने लगा। मैंने उसे उत्साह देने के लिये शावाशी दी इससे उत्साहित होकर वह और भी श्लोक पढने लगा। जब मैंने उसको कुछ पैसे दिए तो उसने कुछ फूल दिए और वातचीत करता हुआ मेरे साथ आगे तक वढता रहा, जब तक कि भीड़ ने हम दोनो को अलग नही कर दिया। जब वह अपना पाठ पढ या गा रहा था तब आसपास के लोग उसे शावाशी दे रहे थे। जिस तरह से श्लोक सुनकर मेरी तरफ इशारा कर रहे थे उससे यह पता लगता है कि श्लोक मेरे संबध मे थे। शायद यह अभिनदन-पत्र था जो जल्दी मे मुझे कल न मिल सका पर आज दे ही दिया गया।"

१८२४ मे कैप्टन फेल की मृत्यु के बाद कैप्टन लोसवाई उनकी जगह सस्कृत पाठशाला के सेक्रेटरी नियुक्त किए गए, इन्होने छात्र वृत्तियो की सख्या सौ कर दी। १८२९ मे उन्होंने एक अग-रेजी स्कूल खोलने पर जोर दिया और वनारस ऐंग्लो-इंडियन सेमीनरी नाम से १८३० मे एक अग्रेजी स्कूल खुल ही गया। १८३६ मे इस स्कूल का नाम गवर्नमेंट स्कूल रखकर एक अगरेज शिक्षक की नियुक्ति कर दी गई। १८३५ मे कुछ काल के लिये इस स्कूल के प्रधानाध्यापक मि० निकोल्स वनाये गए। उनके समय मे विद्यार्थियों की सख्या २९६ थी पर १८३८ मे फारसी की कक्षाएँ वंद कर देने से तथा छात्रवृत्तियो मे कमी कर देने से छात्रो की सख्या घट गई। १८४३ मे इस स्कूल का प्रवंध स्थानीय सरकार के जिम्मे कर दिया गया और इसके प्रिंसिपल मि० म्योर वना दिए गए।

---

१. विशप हेवर, टूर इन नार्दर्न प्राविंसेज, पृ० १६२ से

१८८६ में मि० ग्रैल्टाइस स्कूल के प्रिंसिपल हुए। इन्ही के काल म १८५२ म स्कूल की इमारत बन कर तैयार हुई। इस स्कूल का नक्शा मेजर किटो ने १८४७ में बनाया था और इसके बनाने में तेरह हजार पाउड की लागत बैठी।

परिशिष्ट १

१६५७ के निर्णय-पत्र मे आए हुए पडितो के नाम

(१) पुर्णेंदु सरस्वती (कवींद्र चद्रोदय, ११३–११९, पूर्णानद ब्रह्मचारी), (२) व्यासेंद्र, (३) नीलकठ भट्ट, (४) चक्रपाणि पडित शेष, (५) आडवा शुक्ल, (६) गोविंद भट्ट काले, (७) बापु व्यास, (८) गोपी भट्ट मौनी, (९) रघुदेव भट्टाचार्य, (१०) गोविंद भट्ट दशपुत्र, (११) विनायक शुक्ल, (१२) बापु भट्ट टेंकाल, (१३) बहिरव भट्ट, (१४) गणेश दीक्षित, (१५) विश्वनाथ दातार, (१६) वासुदेव कोवाइ, (१७) नारायण भट्ट आरडे, (१८) नृसिंह भट्ट गहाण, (१९) नृसिंह भट्ट पायस, (२०) पुमण भट्ट वेटेर, (२१) धाडा भट्ट कुडली, (२२) रुद्रेंद्र सरस्वती उर्फ नृसिंहाश्रम, (२३) अनत देव, (२४) गागा-भट्ट, (२५) साम्राज्य पडित, (२६) भय्या भट्ट (कवींद्र चद्रोदय, ६१–६२, २७३–२८०), (२७) गोविंद भट्टाचार्य, (२८) बालकृष्ण दीक्षित, (२९) वीरेश्वर शुक्ल, (३०) हरिशकर कोरडे, (३१) तुलसीदेव भट्ट, (३२) भैरव चडी, (३३) विश्वनाथ मनोहर, (३४) अप्पया दीक्षित, (३५) घुटिराज, (३६) भास्कर ज्योतिर्विद्, (३७) ज्योतिर्विद महान्द, (३८) कृष्ण भट्ट नगरकर, (३९) गिरिधर भट्ट वैशपायन, (४०) गणेश भट्ट खर, (४१) रामभट्ट गौतम, (४२) चिंतामणि भट्ट द्राण, (४३) बालकृष्ण भट्ट कविमडन, (४४) (४४) वीरेश्वर भट्ट काल पाडे, (४५) विष्णु दीक्षित पाटणकर, (४६) शिवराम तीर्थ नारायण तीर्थ, (४७) खडदेव, (४८) अनत भट्ट भीमोमक, (४९) लक्ष्मण पडित वैद्य, (५०) माधव देव भट्टाचार्य, (५२) गोमाजी भट्ट रामहृदय, (५३) गणेश दीक्षित बापु दीक्षित डाउ, (५४) ज्योति विनारायण पालशेतकर, (५५) ज्योतिर्विद्विट्ठलदाभोलकर, (५६) रुद्र दीक्षित, (५७) काशी सोमयाजी लक्ष्मण सोमयाजी, (५८) देवभट्ट महाराडे, (५९) काशीभट्ट पोल, (६०) सच्चिदानद सरस्वती, (६१) तिलभाडेश्वर, (६२) विष्णु दीक्षित मौनी, (६३) नरहरि दीक्षित, विष्णु दीक्षित, (६४) लक्ष्मण दीक्षित, (६५) दीन दीक्षित नमू दीक्षित, (६६) वाछाभट्ट, (६७) गदाधर पाराणिक, (६८) जयराम न्याय पचानन, (६८) महादेव भारद्वाज, (७०) महादेव भट्ट पोटे।

परिशिष्ट २

१७८७ वाले गुजराती, महाराष्ट्र और एतद्देशीय पडितो और ब्राह्मणो द्वारा दिए गए मानपत्र के हस्ताक्षर

नीलकठ भट्ट, वीरेश्वर शेष, आत्माराम काय, बालम भट्ट कोर काळेड, भार्गव दीक्षित, मेघनाद देव, शभू देव, जयराम भट्ट, जगनाथ भट्ट शुक्ल, वैजनाथ भट्ट, जगनाथ मिश्र, गगाराम करिकार, रामचद्र भट्ट कूरकानकर, आत्माराम पुराणिक, भट्ट गगाराम, सोमनाथ भट्ट नैयायनगर, भूदेव मिश्र, भैरव दीक्षित, बालभट्ट भारद्वाज, गुणेश्वर भट्ट, बाबा दीक्षित, बालकृष्ण दीक्षित, महाजी, दादभट्ट, कृष्णभट्ट अरारी, सुखराम भट्ट, योगेश्वर भट्ट, हरिकृष्ण दीक्षित, बापू दीक्षित जयाचर, रामकृष्ण त्रिपाठी, उदयशकर पडित, अन्न शास्त्री, सदाशिव भट्ट, बालमुकुद भट्ट गाले,

बालकृष्ण दीक्षित; सीताराम भट्ट पुराणिक; प० नाना पान्हिक, बालकृष्ण कलिकाल, मौनी राम] भट्ट सदहृती; वैजनाथ भट्ट नागराज, प्रेमशंकर, आनद राम भट्ट लक्ष्मीधर, शम्भूजी दीक्षित, उदयकृष्ण त्रिपाठी; लक्ष्मीधर दीक्षित, लक्ष्मण व्यास, वल्लभजी, शिववल्लभ जी गोपालजी, जयकृष्ण पाठक; आनंद राम अनतराम; मायानाथ पडा, सदाकृष्ण जानी; सदानद राम; मुकुदराम शुक्ल, कल्याणजी दीक्षित; मूलनाथ रुद्रजी, दूबे केवल कृष्ण, शिवप्राण जीवन, तिवारी भीष्म देव, तिवारी कन्हैया देव; बालकृष्ण दूबे गणपत जी, दूबे विष्णुराम, मूरजकृष्ण, तिवारी कृष्ण वल्लभ, पूरा गगाराम, पूरा विष्णुराम, पड्या कल्याण जी, तिवारी मोतीलाल, दूबे कन्हैया जी; आनदराम शुक्ल; रामदत्त केवलकृष्ण दीक्षित, दोनानाथ; रामकृष्ण भट्ट खोले, अनतराम भट्ट; मालाधर धर्माधिकारी, बालमुकुद अरोरी, हरिभट्ट धोबे, वासुदेव भट्ट गुज्जर, शिवराम भट्ट जोशी, जगंनाथ धर्माधिकारी, अनत राम भट्ट, विनायक भट्ट मौनी, कृपाकृष्ण जकार, शिवलाल पाठक, लक्ष्मण भट्ट; वज्रूपधशास्त्री, भवानी शकर ठाकुर, योगेश्वर शास्त्री, मेघपति जोशी, गणेश भट्ट शारगपाणि, शिव भद्र पाठक, सूरजराम जानी, आरतराम वल्लभ राम, गोविदराम शिवदत्त, बेनीराम बोरा, सिहजी मोरेश्वर, मोहनलाल मुरलीधर, दूबे चिरजीव शिवशकर, देवकरण वखतराम; गौरीशकर वाराचद, नानक परमेश्वर कारला करण अजिलेश्वर, दूबे बनातराम; रामेश्वर बकरन, काशीराम रत्नेश्वर, रतिराम समुखराम, विद्याधर उदयकरण, दूबे इज्जतराम लज्जाराम, दयाधर दीनानाथ, दयानाथ विष्णु, गोथ सत्वाक कृष्ण कायल; वाराधर मगलेश्वर, रेवादास, जीवनेश्वर, अबाशकर विजयशकर, शीलाधर रूपराम काशीराम शिवशकर, जानी रेवाधर विहारी लाल, सूरजराम मुन्नाराम, नाना मोरवा, गोविदराम निर्वाणेश्वर, ईश्वर जी लक्खू जी, जैन आनद राम सारथराम, जगतराम इज्जतराम, मुकेश्वर, रसिकलाल व्रजलाल, दयानद करुणाकरन, रामदत्त सेवकेश्वर; समुखराम उत्तमराम, स्वर्गशकर दयाराम, वज्जीराम चरनराम; बालमुकुद शकर; चद्रेश्वर, हीराकरण मोतीकरन; विश्वनाथ झा गोपीनाथ, जिनेश्वर लक्ष्मीश्वर, प्रेमशकर, महत गोपाल कृष्ण, अबाराम व्यास, कृष्णजी जोशी, रामचद्र व्यास, मावारीमल शिवेश्वर; दूबे सूरज जी; तिवाड़ी रतन जी, तिवाडी अबाराम गणपत जोशी, पडया महादेव, विद्याधर वैद्य, राजाराम कवल राम, देवदत्त भट्ट, विद्यानन्द जोशी; वीवरेश्वर; बट्ठा-राभ भट्ट, ओझा रामकृष्ण, तिवाडी वैजनाथ, दूबे चतुर्भुज, दूबे देवराम, ओझा राधाकृष्ण, अवाशकर जाली; आनद राम व्यास; मुन्नाराम, रघुनाथ गोपाल, दीक्षित गोपालजी, दीक्षित हरिकृष्ण, सूरजलाल शुक्ल, जीवनराम दूबे, कृष्णदेव दीक्षित, गोपालदेव, चित्रेश्वर भट्ट, रघुदेव व्यास; शिवशकर दीक्षित, गोकुलनाथ दीक्षित।

१७८७ मे बगाली पडितो, रईसों और दूसरे ब्राह्मणो द्वारा दिए गए मानपत्र के हस्ताक्षर · कृपाराम तर्क सिद्धात, गोविदराम न्यायाचार्य, रामराम सिद्धांत, काशीराम चटर्जी, प्राणकृष्ण शर्मा; श्याम विद्या वागीश, कृष्ण मंगल शर्मा, कृष्ण चंद्र सार्वभौम, युगल किशोर वधोपाध्याय, कृष्णचद्र मुखर्जी, रामलोचन मुखर्जी, टुलाल न्यायालकार, वलराम वाचरपति, सदानद तर्क वागीश, शिवनाथ तर्क भूषण, आनंद चंद्र भट्टाचार्य, रामचद्र विद्यावागीश, काशी नाथ मैथिल, गगाराम व्यास, रामप्रसाद वद्योपाध्याय, रामसुदर राय, वागलेश्वर प्रधान, कालीप्रसाद भट्टाचार्य, गगाधर विद्यावागीश, कृष्णानद विद्यालंकार; रामचरन चक्रवर्ती, हरिदेव तर्कभूषण, रामचद्र विद्यालकार; रामराम वख्शी, वलराम भट्टाचार्य, रुद्रराम सरकार; भवानी चरन सरकार, राम-

क्या ऋग्वेदकाल में मुद्रा प्रचलित थी ?

अनंत सदाशिव अल्तेकर

ऋग्वेदकाल में मुद्रा का व्यवहार होता था या नहीं, इस विषय पर बहुत मतभेद है। विद्वानों के एक वर्ग का मत है कि उस काल में मुद्रा प्रचलित थी,[1] परन्तु दूसरा वर्ग इस मत के विपक्ष में है। अत वास्तविक स्थिति का पता लगाने के लिये हमें उपलब्ध साक्ष्य की परीक्षा करके देखना चाहिए कि हम किसी निश्चित निष्कर्ष पर पहुँच सकते है या नहीं।

वैदिककालीन समाज में कुछ लोग कृषि का उद्यम करते थे और कुछ भ्रमणशील जीवन व्यतीत करते थे। प्रत्येक कृषक अपनी आवश्यकता की वस्तुओं का अधिक भाग स्वयं उत्पन्न करता था, जो वह नहीं उत्पन्न करता था उसे अपने पड़ोसियों से अधिकतर वस्तु विनिमय द्वारा (दूसरी वस्तुओं के बदले में) प्राप्त कर लेता था। अन्न बहुत दिनों तक नहीं रह सकता था और सोने जैसी बहुमूल्य धातुएँ बहुत कम थीं। अत लोगों के पास उनकी संपत्ति के रूप में अधिकतर पशुओं के समूह ही होते थे। जब वस्तु-विनिमय संभव नहीं होता तो विनिमय के माध्यम के रूप में गौओं का उपयोग होता था।[2] ऋग्वेद में एक स्थल पर इंद्र की प्रतिमा का विक्रयार्थी एक ऋषि उस प्रतिमा का मूल्य दस गौएँ बतलाता है।[3] दूसरे स्थल पर हम एक ऋषि को यह कहते हुए पाते है कि मैं अपना इंद्र सौ या हजार या दस हजार गौएँ लेकर भी नहीं बेचूँगा।[4] युद्ध के लिये अभियान करती हुई भरत-सेना के वर्णन में कहा गया है कि वह गौओं के विजय की अभिलाषा से प्रेरित थी।[5] उनकी संपत्ति, जिसका पता लगाने के लिये इंद्र ने अपने दूत सरमा को भेजा था, सोने या चाँदी नहीं वरन् गौओं

---

१ भंडारकर एंशंट इंडियन न्यूमिज्मैटिक्स, पृ० ५०–१

२ एस० के० चक्रवर्ती एंशंट इंडियन न्यूमिज्मैटिक्स, अ० १।

३ क इमं दशभिर्मम इंद्रं क्रीणाति धेनुभि । ४।२४।१०

४ महे चन त्वा अद्रिव परा शुल्काय देयाम्।
न सहस्राय नायुताय वज्रिवो न शताय शतामघ ॥ ८।१।५

५ यदंग त्वा भरता सतरेयु गव्यन्ग्राम इषित इंद्रजूत ३।३३।११
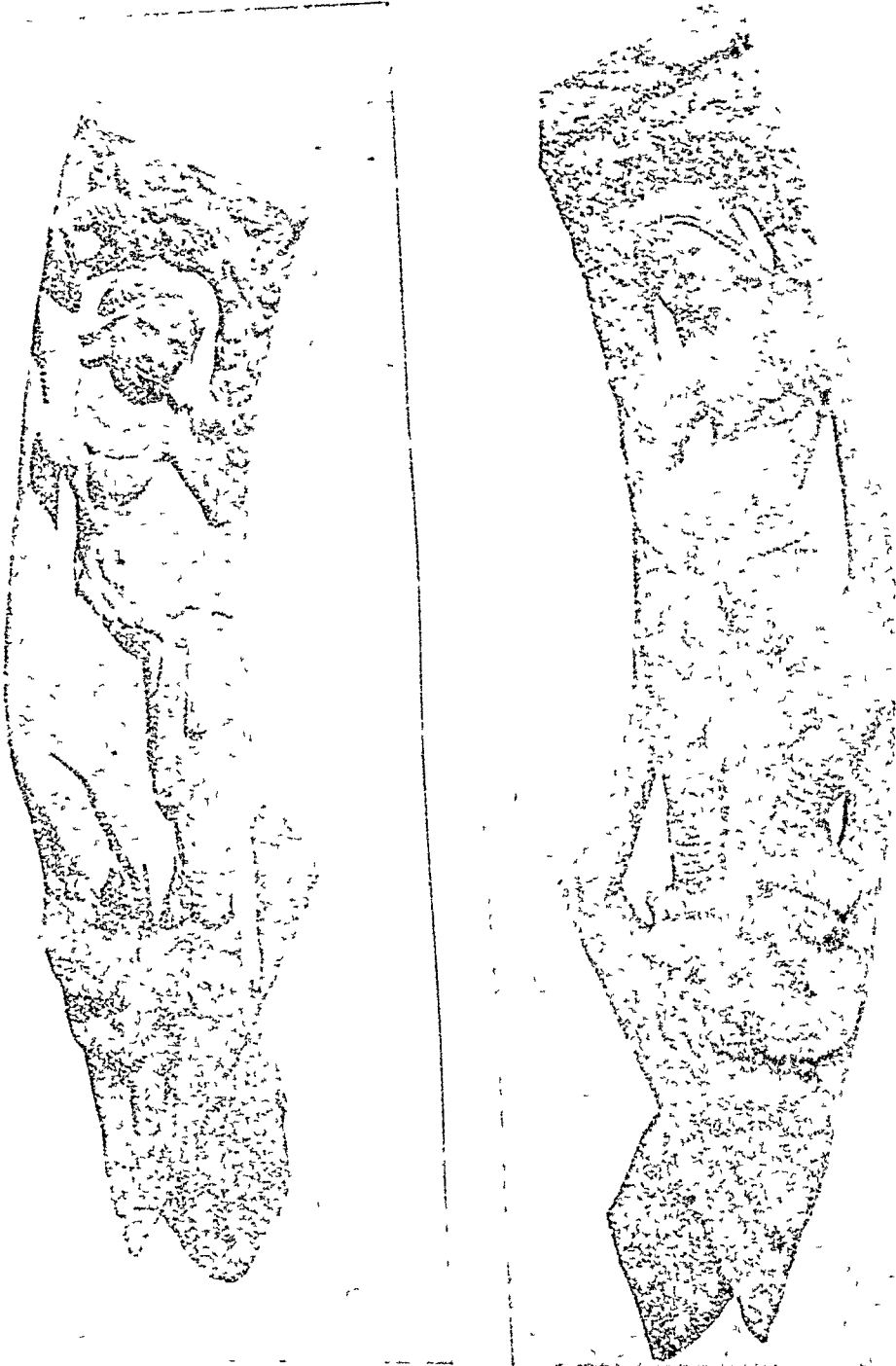
जैन स्तूप की वेष्ठनी पर लगी शालभंजिकाएँ
कुषाणकाल (ई० २री—३री शती)
मथुरा से प्राप्त

—लखनऊ संग्रहालय।

के रूप में थी।[1] अतः सभी प्रकार के व्यावहारिक कार्यों के लिये वैदिक भारतीयों की सपत्ति गाएँ थी, जो विनिमय के माध्यम का भी काम देती थी। इस पर हमें आश्चर्य नही करना चाहिए, क्योंकि अनेक प्राचीन समाजो में यही स्थिति थी। होमर के समय में समाज की सपत्ति अधिकतर ढोरो के रूप में होती थी। यदि ऋग्वेद में दस-गऊ मूल्य वाली प्रतिमा का उल्लेख है तो ईलियड में नौ गऊ मूल्यवाले शस्त्रो के बदले हजार-गऊ मूल्य वाले शस्त्रो का वर्णन है। वैदिक भारतीय गौएँ देकर सोम खरीदते थे, तो होमरकाल के यूनानी ढोर और खाल देकर मद्य क्रय करते थे। रोम और ग्रीको के पुराने कानूनो में अर्थदड का निर्धारण सिक्को में नही वरन ढोरो में किया जाता था।[2]

इसमें तो सदेह नही कि विनिमय के माध्यम के रूप में गौओ का उपयोग बड़ा असुविधाजनक है। यदि किसी वस्तु का मूल्य आधी-गऊ हो तो उसका मूल्य चुकाया नही जा सकता। विनिमय का माध्यम धातु होने से यह कठिनाई दूर हो जाती है। धातुएँ छोटे टुकडो में दी जा सकती है और उनके उपयोग, सचय और रक्षा में अधिक सुगमता होती है। अब यह देखना चाहिए कि वैदिककाल में वे विनिमय के माध्यम के रूप में कहाँ तक स्वीकार की गई थी।

बहुमूल्य धातुओ में केवल सोना ही वैदिककाल में भली भाति ज्ञात था, चादी का उल्लेख बहुत कम और केवल पिछली सहिताओ में हुआ है। ताँबे से लोग अच्छी तरह परिचित थे। अब हमें इस प्रश्न का निर्णय करना है कि वैदिककाल में इन धातुओ की मुद्राए प्रचलित थी या नही।

यह सर्वस्वीकृत है कि वैदिक साहित्य में ताँबे के सिक्को का उल्लेख कही नही है। माष या पण जैसे शब्द जो पिछले काल में ताम्रमुद्रा के सूचक थे, वैदिक साहित्य में अज्ञात है। उसमें कोई दूसरे भी ऐसे शब्द नही है जिनसे ताँबे के सिक्के का अर्थ लिया जा सके। वैदिककाल में चादी के सिक्के भी नही थे, स्वय चादी ही वैदिक आर्यो को प्राय अज्ञात थी। केवल पचविश ब्राह्मण में एकबार रजतनिष्क का वर्णन व्रात्यो के प्रसग में आया है, जो विदेशी-तुल्य थे।[3] अतः हम बेखटके यह स्वीकार कर सकते है कि वैदिककाल में चादी के सिक्के नही थे।

अब दूसरा प्रश्न यह है कि क्या वैदिक काल में सोने की मुद्रा प्रचलित थी? इस विषय में कुछ विद्वानो का मत है कि ऋग्वेद-वर्णित निष्क मुद्रा भी था और आभूषण भी। अन्य विद्वान इस निष्कर्ष पर आपत्ति करते है। अतः हमें उपलब्ध साक्ष्य की सावधानी से परीक्षाकर के देखना चाहिए कि उससे किस निष्कर्ष की पुष्टि होती है।

ऋग्वेद में सोने का उल्लेख कई प्रकार से हुआ है। जान पडता है कि पिछले काल की भाति उस समय भी सोना स्वर्णकण के रूप में पजाब की नदियो की तलहटियो से इकट्ठा किया जाता था। जब निकट भविष्य में उसके उपयोग की सभावना नही होती थी तो उसे छोटे-छोटे थैलो

---

१ इमा गाव सरमे या ऐच्छ । १०।१०८।५

२ यहाँ यह कह देना मनोरजक होगा कि यूरप वालो और उस महाद्वीप के आदिनिवासियो के बीच एक गज कपड़ा सिक्के के रूप में व्यवहृत होता था।

३ १७।१।१४

मे संचित कर रखते थे। राजा देवदास ने अपने पुरोहितों को दस घोडो, दस वस्त्रो और दस स्वर्ण-पिंडो[1] के साथ जो दस थैले दिए थे वे संभवत स्वर्णकण के ही थे। सुरक्षा के लिये सोना कलशो या अन्य पात्रो मे भर कर धरती मे गाड दिया जाता था।[2]

मूल कण रूप मे सोने के उपयोग मे कठिनाई होती थी अत उसे गलाकर पिंडो या डलो के रूप मे कर लेते थे जिनका उल्लेख ऊपर दिए मत्र में **हिरण्यपिंड** नाम से किया गया है। उससे पुरुषो और स्त्रियों के पहनने के भिन्न-भिन्न प्रकार के आभूषण भी बनाए जाते थे। इन आभूषणो मे से कुछ का ऋग्वेद में स्पष्ट रूप से उल्लेख हुआ है। एक का नाम **खादि** था जो भुजाओ और पैरों मे पहना जाता था। सभवत वह आजकल के कडो की तरह का होता था। दूसरा आभूषण **रुक्म** था जो कभी छाती पर और कभी भुजा मे पहना जाता था।[3] यह सभवत कई भिन्न-भिन्न आकारों में बनता था। तीसरा आभूषण **कर्णशोभन** था[4] जो सभवत आजकल के अनेक प्रकार के कर्णाभूषणों (इयरिंग) में से किसी से मिलता जुलता था। चौथा आभूषण **निष्क** था। एक मत्र में **निष्क** धारण किए हुए रुद्र का वर्णन है; उस निष्क का आकार **विश्वरूप** कहा गया है। विश्वरूप का ठीक-ठीक अर्थ निश्चयपूर्वक बताना कठिन है। सभवत. निष्क के ऊपर अनेक (विश्व) प्रकार के संकेत या आलकारिक चित्रण होते थे, इसी कारण उन्हे **विश्वरूप** कहा जाता था। जो कुछ भी हो, पर निष्क एक कलात्मक वस्तु थी, क्योकि प्रभात के सुदर दृश्य को अनावृत करती हुई **उषा** के आलकारिक वर्णन मे कहा गया है कि वह मानो **निष्कपट** या माला धारण किए हुए है।[5]

पिछले काल मे निष्क एक स्वर्णमुद्रा का नाम था जिसका तोल लगभग ३ तोला या ५७० ग्रेन था। भारत मे गोल सिक्को को गूथ कर माला (कठाभरण) बनाने की प्रथा बहुत प्राचीन काल से चली आई है। अत. क्या इस आधार पर हम कह सकते है कि ऋग्वेदकाल मे भी निष्क कोई स्वर्णमुद्रा था और वह कभी-कभी आभूषण के रूप मे भी प्रयुक्त होता था ?

वेदो में कुछ इस प्रकार के मत्र है जो प्रकट रूप मे इस विचार की पुष्टि करते है। ऋग्वेद मे एक स्थान पर कक्षवीत ऋषि इस बात का वर्णन करते है कि किस प्रकार उन्हे राजा भव्य से दस घोड़े और दस निष्क प्राप्त हुए।[6] अथर्ववेद मे एक दूसरा ऋषि बतलाता है कि कैसे उसके

---

१ दशाश्वान् दश कोशान्दश वस्त्राधि भोजना। दशो हिरण्यपिडान् दिवोदासा दसानिषम्॥
२ हिरण्यस्येव कलश निखात। उदूपर्यु दशमे अश्विनाऽहनि॥
ऋ० ६।४७।२३
३ भूरीणि भद्रा नर्येषु बाहुषु वक्ष सु रुक्मा ।१।१६६।१६
रुक्मासो अधि बाहुषु ।८।२०।१०
४ उत न. कर्ण शोभना पुरुणि धिष्णु आभर.।
त्व हि श्रृण्वसे वसो॥ ऋ० ८।७८।२
५ निष्कं वा धा कृण्वते स्रज वा दुहितर्दिव·।
६. शतं राज्ञो नाथमानस्य निष्कान्
शतमश्वान्प्रयतान्सद्य आदम्। ऋ० १।१२६।२

ना कोई प्रमाण नही मिलता कि निष्क राज्य या पचायत के अधिकार द्वारा प्रचलित किए जाते थे और उनपर उनके तत्त्व और मूल्य की प्रामाणिकता के सूचक सकेता की छाप होती थी।

यदि हम यह मान भी लें कि ऐसा होता था तो भी हमारा यह कहना ठीक नही होगा कि वैदिककाल में मुद्रा का प्रचार था। निष्को या स्वणपिडो का वणन केवल उदार राजाओ द्वारा दिए गए बडे-बडे दानो के वणन के ही प्रसग में मिलता है। अधिकतर राजा तो साधारणत गाओ का ही दान करते थे, सोने के निष्क केवल कुछ के द्वारा कभी-कभी दिए जाते थे। बेंची या दाननामा के के प्रसग में निष्क का कही उल्लेख नही है। वैदिककाल म अधिकतर लेनदेन वस्तु विनिमय की पद्धति द्वारा ही होते थे, केवल कही-कही गायो का वणन विनिमय के माध्यम के रूप में आया है। सोने के निष्क इस प्रकार क साधारण लेनदेन के लिये बहुत महँगे पडते थे। जनसाधारण की दैनिक आवश्यकताओ के लिये केवल ताँबे और चाँदी के ही सिक्के उपयोगी हो सकते थे, और इनका उल्लेख ऋग्वेद म कही नही है। क्योकि सोना अधिकतर स्वणकणो के रूप में पाया जाता था, अत तराजू बटखरे की झझट से बचने के लिये प्राय उनके निश्चित तोल और सर्वस्वीकृत मूल्यवाले खड बना लिए जाते थे, जो हिरण्यपिड या निष्क कहलाते थे। किंतु वे राज्य द्वारा नही बनाए जाते थे, न सभवत उनके ऊपर उनके मूल्य के प्रमाणस्वरूप कोई सकेत आदि ही होते थे। अतएव उन्हें मुद्रा नही कहा जा सकता, यद्यपि उनमें से एक का नाम निष्क पीछे स्वणमुद्रा के लिये व्यवहृत होने लगा था। मिस्र और असीरिया जैसे अय प्राचीन देशो म भी उन्नत और समृद्धि पूण सभ्यताएँ बिना मुद्रा की रह चुकी है। यही बात वैदिक भारत के विषय में भी थी।[1]

---

१ मुद्रा का आविष्कार होने के शताब्दियो बाद तक फोनीशिया वालो ने सिक्के नही चलाए, यद्यपि वे फारस और ग्रीस के सिक्के काम म लाते रहे होगे।

—दी गोल्ड कॉयनेज आव एशिया, पृ० ४

सिक्का—१

क ख

क—सामने से ख—पीछे से ।

सिक्का—२
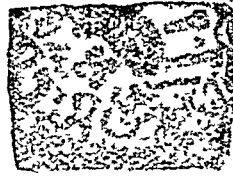
सामने से ।

सिक्का—३

क—सामने से ; ख—पीछे से ।

महषिवंशी मान राजा का सीसे का सिक्का, तदाकार ; हैदराबाद संग्रहालय ।

सिक्का—४

क—सामने से ; ख—पीछे से ।

महिवंशी यश राजा का सीसे का सिक्का; मस्की से प्राप्त; तौल ७०९.९२५ ग्रेन; आकार १.०१" ।

शिक्षक की मानसिक और सामाजिक स्थिति

सोहन लाल

शिक्षा का मुख्य उद्देश्य, पढ़ना, लिखना, गणित सिखाने के अतिरिक्त, सदा से चरित्र निर्माण रहा है। किसी भी शिक्षा-पद्धति में शिक्षा चक्र की धुरी शिक्षक होता है। शिक्षक का कर्त्तव्य है कि वह बालक के सामाजिक तथा नैतिक कर्तव्य संबंधी उचित विवेक से युक्त, पूर्ण, विकास प्राप्त नागरिक बनने में उसकी सहायता करे। शिक्षक और शिष्य की समता प्रायः माली और पौधे से की जाती है। परन्तु सूक्ष्म दृष्टि से विचार करने पर यह समता बहुत उपयुक्त नहीं प्रतीत होती। माली और पौधे का संबंध सर्वथा बाह्य है। माली पौधे की वृद्धि के लिये अनुकूल परिस्थिति उत्पन्न करता है। वह उसकी शाखाओं की काट छाँट भी करता है, और इस प्रकार पूरी तरह बढ़ने में पौधे की सहायता करता है। इसी प्रकार शिक्षक से भी आशा की जाती है कि वह बालक की परिस्थितियों का नियंत्रण एवं उसके विकास का पथ निर्देश करे। परंतु यही सब कुछ नहीं है। शिक्षक और शिष्य के व्यक्तित्वों का आन्तर-संपर्क भी होता है। यदि शिक्षक केवल परिस्थितियों के बाह्य नियंत्रण और निर्देशन तक ही अपने को सीमित रखे तो वह अधिक सफल नहीं हो सकता। चरित्र निर्माण में ठोस और स्थायी सफलता प्राप्त हो, इसके लिये यह आवश्यक है कि शिक्षक और शिष्य के बीच उनके व्यक्तित्व का संपर्क स्थापित हो। इस प्रकार का संपर्क स्थापित हुए बिना शिक्षक बालक के चरित्र पर कोई स्थायी प्रभाव नहीं डाल सकता।

मानव-जीवन के दो पक्ष होते हैं—बाह्य और आंतरिक। मनुष्य अपने घर में रहकर परिवार के प्राणियों के साथ भिन्न भिन्न संबंधों का निर्वाह करता है। कार्यालय में उसका जीवन दूसरे प्रकार का होता है, और गोष्ठी में उससे भिन्न प्रकार का। परंतु इन सबके अतिरिक्त उसका एक और प्रकार का जीवन होता है—विचारों और भावों का आन्तरिक जीवन। उसके अपने आदर्श होते हैं, धारणाएँ होती हैं, विचार होते हैं और कल्पनाएँ तथा महत्त्वाकांक्षाएँ होती हैं। उसके हृदय में भय, प्रेम, ईर्ष्या, द्वेष और कामवासना आदि भी होती हैं। ये सब व्यक्ति की निजी संपत्ति हैं। उसके भीतर निरंतर इनकी क्रिया-प्रतिक्रिया होती रहती है। इस अंतर्मुखी क्रिया के फलस्वरूप मन का एक विशेष रूप विकसित होता है, जिससे जीवन के प्रति हमारी भावना बनती है और जो बहुत अंशों में हमारे बाह्य आचरण के लिये उत्तरदायी होता है।

दो मनुष्यों के व्यक्तित्वों मे सवध स्थापित होना सदा संभव नही होता। बरसों तक दो मनुष्य साथ-साथ रहे, फिर भी यह सभव है कि उन दोनों का सवध केवल ऊपर-ऊपर का ही रह जाए, उनके व्यक्तित्वों का कभी स्पर्श तक न हो पाए। व्यक्तित्व का संवध रासायनिक क्रिया की भाँति होता है। जब दो व्यक्तियों के व्यक्तित्व का सवंध होता है तब दोनों परिवर्तित हो जाते हैं। मै एक अत्यत निपुण शिक्षक को जानता हूँ जो कहा करते थे कि "यह तो कोई भी मूर्ख सिखा सकता है कि दो और दो चार होते हैं। मुख्य वात तो शिष्य के व्यक्तित्व पर शिक्षक के व्यक्तित्व की छाप है।" यह कथन पूर्णतया सत्य है। कोई भी शिक्षक आतर सपर्क के अभाव मे वालक के चरित्र का निर्माण नही कर सकता।

शिक्षक और शिष्य, इन दोनों मे साधारणतः शिक्षक का व्यक्तित्व वलवत्तर होता है। यदि दोनों में आंतरसंपर्क स्थापित हो तो शिक्षक की अपेक्षा शिष्य में ही परिवर्तन की सभावना अधिक है। अत. शिक्षक का चरित्र ऐसा होना चाहिए कि उससे बालक के चरित्र का उत्कर्ष हो, न कि अपकर्ष।

यदि हम शिक्षक के आंतरिक जीवन की ओर ध्यान दे तो मालूम होगा कि वहाँ एक तूफान चल रहा है। समाज का उसके प्रति जो व्यवहार है उसके कारण उसके व्यक्तित्व का पूर्ण विकास होना संभव नहीं है। वह आर्थिक चिता से ग्रस्त रहता है। वह अनुभव करता है कि सामाजिक दृष्टि से वह उपेक्षित है और उसके महत्त्व का उचित स्वीकार नही किया जाता। उसका मस्तिष्क स्वस्थ है, परतु जीवन की कठिनाइयाँ उसके मौलिक विचारों और क्रियाओं का दमन कर देती हैं। वस्तुतः वह एक 'कुठित' (या निराश) व्यक्ति है। क्या ऐसे व्यक्ति से स्वस्थ आतरिक जीवन की आशा की जा सकती है? ऐसे अस्वस्थ मन का प्रभाव वालक के कोमल मन पर पड़ने का परिणाम निश्चय ही घातक होगा। आश्चर्य के साथ कहना पडता है कि आज के नवयुवक समाज मे जो अनुशासनहीनता, उत्तरदायित्व का अभाव तथा अधिकारियों के प्रति विरोध की भावना पाई जाती है उसका अधिकाश असतुष्ट शिक्षकों के साथ उनके सपर्क के कारण ही है।

यह प्राय. कहा जाता है कि शिक्षकों को उचित वेतन नही दिया जाता। यह निस्संदेह सत्य है। परतु इसके साथ यह भी अवश्य स्मरण रखना चाहिए कि कुछ अपवादों को छोडकर साधारणतः, शिक्षक-समाज धनलोलुप नही है। यह वात नही कि शिक्षकों को धन की अवश्यकता न हो। आवश्यकता है, पर वे लोभी नही हैं। उनमे से वहुसख्यक ऐसे हैं जिन्हे यदि निश्चित रूप से सरलतापूर्वक जीवननिर्वाह भर के लिये नियत न्यूनतम भृति का प्रवध हो जाय तो वे अपने बौद्धिक जीवन मे ही सतुष्ट रहेंगे। हाँ, एक दूसरा कारण अवश्य है जिसके वश होकर शिक्षक कभी-कभी धन की माँग उपस्थित करता है। यह माँग स्वय धन के हेतु नही वरन् उस प्रतिष्ठा के लिये होती है जो धन के द्वारा प्राप्त होती है। दुर्भाग्य से वर्तमान समाज केवल रुपयो के ही मूल्य मे सब कुछ आँकना जानता है। पर यह समझना कठिन नही होना चाहिए कि जिन लोगों को बौद्धिक जीवन का रस मिल चुका है उन्हे उस उन्मादपूर्ण दौड-झपट मे आनद नही आ सकता जो प्रभूत धन-सग्रह के लिये आवश्यक है। वास्तव मे शिक्षक जो वस्तु चाहता है वह है सम्मान, और वह उसे समाज नही दे रहा है।

समाज की दृष्टि में अब वे शिक्षक उतने नहीं हैं जैसे पहले होते थे। समाज पीछे उलटकर प्राचीन आचार्यों की ओर देखता है और उनके साथ आजकल के शिक्षकों की तुलना करता है। वह कहता है—'आजकल के शिक्षकों में चरित्रबल नहीं है। यदि उनका चरित्र प्राचीन आचार्यों का सा हो तो उन्हें भी सम्मान प्राप्त हो सकता है।'' इस तर्क में एक मनोवैज्ञानिक त्रुटि है। जब कोई प्राचीन आचार्यों को प्रशंसा के भाव से देखता है तब वह अनजान में अपने को प्राचीन समाज का व्यक्ति समझने लगता है। वह यह भूल जाता है कि अब उस समाज का अस्तित्व नहीं है। वह यह भी भूल जाता है कि यदि प्राचीन आचार्य जी अपनी बिखरी हुई मूँछ दाढ़ी और जटा लिए हुए, छाल के वस्त्र पहने, हाथ में कमण्डलु और चिमटा सहित किसी दिन प्रातःकाल उसके घर पर पधारें तो निश्चय ही चपरासी उन्हें निकाल बाहर करेगा। बेचारे आचार्य जी का आजकल के समाज में कोई स्थान ही नहीं है। तब, क्या यह शिक्षक के प्रति अन्याय नहीं है कि उसकी तुलना एक ऐसे व्यक्ति से की जाय जो हमारे समाज के लिये बिल्कुल बेकार है? कुछ लोग कहेंगे—"तुमने विषय को समझा नहीं। मुख्य बात आचार्य का बाहरी वेष नहीं, वरन् उसका विवेक और चरित्र है।" परन्तु मेरा विश्वास है कि प्राचीन आचार्य हमारे आचरण के संबंध में जो परामर्श देगा वह आजकल मान्य नहीं होगा। या तो वह वास्तविकता की उपेक्षा करनेवाला आदर्शवादी कहा जायगा अथवा उसे 'पलायनवादी' की उपाधि मिलेगी। अधिक से अधिक धार्मिक मनुष्यों के लिये वह भले ही अच्छा समझा जायगा, परन्तु वह ऐसा व्यक्ति नहीं माना जायगा जिससे महत्व की बातों में सलाह ली जा सके। तब यह कहना कितना मिथ्या है कि यदि आजकल के शिक्षकों का चरित्र प्राचीन आचार्यों के समान हो तो उन्हें भी सम्मान प्राप्त हो सकता है? यह तो प्रश्न को टालना है।

यह सत्य है कि प्राचीनकाल में प्राचीन आचार्यों का आदर होता था। जब वे राजसभा में जाते तब राजा उन्हें सिंहासन देता था। ऐसा होने का कारण यह था कि तत्कालीन समाज की दृष्टि आध्यात्मिक थी। समाज जानता था कि आचार्य के द्वारा उसके आदर्शों की उपलब्धि होती है। इससे वह उसका आदर करता था। वर्तमान समाज के आदर्श हैं—बहुमूल्य भड़कीले वस्त्र, 'ब्यूक' गाड़ियाँ, रेडियो, कालीन, उत्तम कोटि के 'फर्निचर', वायुयान द्वारा भ्रमण, तथा पुरुषों और सुंदर स्त्रियों पर अधिकार। जो इन आदर्शों को प्राप्त करने में समर्थ हुए वे आज भी आदर पाते हैं। शिक्षक तो इनसे कोसों दूर है, फिर उसका आदर कैसा?

शिक्षकों से आदर्श चरित्र की आशा करना भूल है। यह सत्य है कि प्राचीन गुरुओं का चरित्र आदर्श होता था, परन्तु वे संख्या में बहुत थोड़े थे। सब को शिक्षित बनाने की वर्तमान योजना के अनुसार करोड़ों बालकों को शिक्षा देना आवश्यक होगा और इसके लिये लाखों शिक्षकों की आवश्यकता होगी। आदर्श चरित्रवाले व्यक्ति लाखों की संख्या में नहीं पाए जाते। यदि इतने शिक्षकों का चरित्र किसी प्रकार आदर्श हो भी जाय तो वह इस कारण "आदर्श" नहीं माना जायगा कि उस प्रकार का चरित्र लाखों मनुष्यों का होगा। तब आदर्श और अधिक ऊँचे स्तर पर चढ़ जायगा और शिक्षक पर फिर चरित्रहीनता का दोषारोपण किया जायगा।

चरित्र की इस माँग का एक मनोवैज्ञानिक कारण भी है। बहुत से लोग, जहाँ तक चरित्र का संबंध है, स्वयं जैसे होना चाहते हैं वैसे नहीं हैं। जो वस्तु वे स्वयं प्राप्त करने में असफल रह

है कि इन रमैनियों में कुछ अवश्य पुरानी है, पर बहुत-सी नई बनाई गई होगी। हमने अपनी पुस्तक 'कबीर'-साहित्य में सिद्ध किया है कि प्रथम सात आठ रमैनियो का सुर कबीरदास की मूल वाणी से भिन्न है और इनमे प्रतिपादित सृष्टि प्रक्रिया कबीर संमत नहीं है।

यद्यपि बीजक की कई प्रतियों मे आरभ मे ही आदिमंगल के छपने से बहुत लोग उसे बीजक का ही अंग समझते है तथापि आदिमंगल बीजक का अग नहीं है। इसलिये इसमे प्रतिपादित-सिद्धात बीजक के सिद्धात नही कहे जा सकते। इसमे एक विशेष प्रकार की सृष्टि प्रक्रिया का वर्णन है। पुरानी टीकाओ मे केवल विश्वनाथ सिहजू की टीका मे आदिमंगल छपा है। कबीरचौरावाले सस्करणो मे उसका एकदम अभाव है। अनुरागसागर, श्वासगुजार, कबीर मसूर आदि जिन ग्रंथो के आधार पर उसे समझा जा सकता है, वे सभी धर्मदासी शाखा के ग्रथ है। आदिमंगल दो जगह और छपा है--(१) कबीर-मसूर मे और (२) साधु युगलानंद जी द्वारा सम्पादित सत्य कबीर की साखी मे। दोनों ही ग्रथ धमदासी शाखा से सबद्ध है। इसप्रकार आदिमगल वस्तुत: धर्मदासी संप्रदाय का ही ग्रथ है। वह कबीर और धर्मदास के संवाद के रूप मे ही लिखा भी गया है। परवर्ती तो वह है ही; किंतु यद्यपि आदिमंगल धर्मदासी सप्रदाय का ग्रंथ है तथापि बीजक मे ऐसे अनेक स्थल है जिनकी व्याख्या के लिये उस सृष्टिक्रिया की जानकारी आवश्यक है जिसका प्रतिपादन इसमे किया गया है। काशी का कबीरचौरा सप्रदाय आदिमगल की प्रामाणिकता मे विश्वास नहीं करता। अपने ३० अगस्त, ४५ के कृपापत्र मे कबीरचौरा शिरोमणि गुरुद्वारा के आचार्य श्री रामविलास साहेब ने मुझे बताया था कि सत्य कबीर के बीजक और साखियो की पुरानी प्रतियो मे आदिमंगल नही मिलता। बीजक की रमैनियो मे कई ऐसी है जो आदिमगल मे प्रतिपादित सिद्धातो का समर्थन करती है। हमारा यहाँ यह इशारा नही है कि बीजक की रमैनियाँ आदिमंगल या किसी ऐसे ही ग्रथ द्वारा प्रभावित है; अतएव परवर्ती है, बल्कि यह है कि वस्तुत: रमैनियो मे कुछ ऐसी अवश्य है जो कबीरदास की अपनी लिखी हुई नही है।

हमने ऊपर अपना यह अनुमान प्रकट किया है कि दोहे चौपाइयो को रमैनी के रूप मे सजाया गया होगा। कब से इस प्रवृत्ति का आरम्भ हुआ, यह विचारणीय प्रश्न है। बीजक की एक रमैनी आदि ग्रंथ मे (गउडी ३०) है। परतु वहाँ उसे 'राग गउडी' कहा गया है, रमैनी नही। स्वयं बीजक 'ज्ञान चौंतीसा' को दोहा चौपाई मे होने पर भी रमैनी नही कहता, जब कि कबीर ग्रथावली की 'ख' प्रति मे यह 'ज्ञान चौंतीसा' कुछ पाठातर के साथ 'रमैणी' कहा गया है। यही ज्ञान चौंतीसा आदि ग्रंथ मे भी प्राप्त है पर उसे वहाँ "गौडी पूर्बी, बावन आखरी" कहा गया है। इन सग्रहो को मिलाकर देखने से रमैनियो के बारे मे कुछ अत्यत महत्त्वपूर्ण नतीजो पर पहुँचा जा सकता है।

कबीर ग्रंथावली मे कई रमैनियो से मिलती-जुलती रमैनियाँ है। पर अधिकाश रमैनियाँ भिन्न है। निम्नलिखित रमैनियों के कुछ अंश या मिलते-जुलते पद कबीर ग्रन्थावली मे प्राप्त होते है--

संख्या	बीजक		कबीर ग्रन्थावली
(१)	रमैनी २० की साखी	'इच्छा के भव सागर'	तुल० पृ० २३३
(२)	रमैनी २२	--'अलख निरंजन लखै न कोई'	,, ,, २३०

सख्या		बीजक	कबीर ग्रथावली
(३)	रमनी २६	–'आपुहि करता भए कुलाला'	„ „ २८०
(४)	रमनी ३०	–'आ भूले घट दरसन भाई'	„ „ २३९
(५)	रमनी ३५	–'पडित भूले पढि गुनि बेदा'	„ „ २२९
(६)	रमनी ३९	– जिन कलमा कलि माति'	„ „ „
(७)	रमैनी ४०	–'आदम आदि सुधी नहिं पाई'	„ „ २२८
(८)	रमनी ५७	–'सग खोजन को तुम परे'	„ „ २३०
(९)	रमैनी ८२	–'सुवक ब्रिच्छ एक जात उपाया	„ „ २२७
(१०)	रमनी ८३	–'उधी धरइ छनिया धमा'	„ „ २३९

यह लक्ष्य करने की बात ह कि जो रमैनिया बीजक और कबीर-ग्रथावली मे सामान्य रूप म मिलती ह उनमें भिन २ मता की आलोचना है। इनमें या तो भ्रमग्रस्त जनता को भगवान का वास्त विक रूप बताया गया है या फिर षटदर्शन के मानने वाला की, ब्राह्मण की, क्षत्रिय की, मुसलमान की, काजी की आलोचना की गई ह । परतु सृष्टितत्त्व और ज्ञान महिमा का बताने वाली रमनिया न तो आदिग्रन्थ में है और न कबीर ग्रन्थावली म। कबीर ग्रथावली की 'ख' प्रति में कुछ पाठभेद के साथ समूचा 'ज्ञान चौतीसा' रमैणी कहकर उद्धृत किया गया है। साधारण पाठक भी कबीर ग्रथावली और बीजक के पदा को पढते समय यह अनुभव किए बिना नही रहेगा कि कबीर ग्रथावली के पदा म भक्ति और आत्मार्पण का वेग अधिक ह और बीजक म ज्ञान और 'पारिख' पर ज्यादा जोर दिया गया है। जो पद इन दानो मे समान रूप से प्राप्य ह उनमे भी पाठातर ऐसे है जिनसे बीजक में ज्ञानमार्ग की प्रवृत्ति स्पष्ट होती है और कबीर ग्रथावली म भक्तिमार्ग की।

रमैनिया की सख्या चौरासी है। प्राय प्रत्येक रमनी के अत में एक साखी है। ऐसा जान पडता है कि रमनिया का लेखक अपने वक्तव्य की पुष्टि के लिये सद्गुरु के वचना की साखी या गवाही पेश कर रहा ह। इस नियम का अपवाद कुछ थोडी ही रमैनियाँ है (न० ३,२८,३२, ४२, ५६, ६२, ७०, ८०)। एक अत्यत मनोरजक तथ्य यह ह कि कभी २ रमैनी की चौपाइया गुरु-मुख वचन ह, किन्तु साखिया जीवमुख या मायामुख या ब्रह्ममुख वचन। उदाहरण के लिये त्रिज्या (या तीज्या) टीका के अनुसार छठी रमैनी गुरुमुख वचन है पर उसकी साखी जीवमुख, दूसरी रमनी गुरमुख वचन है पर उसकी साखी मायामुख, २१वी रमैनी की चौपाइयाँ तो मायामुख ह, पर साखी ब्रह्ममुख है। इसीप्रकार और भी बहुत है। इस प्रकार व्यत्यय का क्या अर्थ हो सकता है समझ म नहा आता। केवल ऐतिहासिक विकास को ध्यान में रखने से ही इसका कुछ समाधान हो सकता है।

नागरी प्रचारिणी-सभा की खोज के अनुसार कबीर कृत सब स पुराने हस्तलिखित ग्रथ चार ह—कबीर जी के पद, कबीर जी की साखी, कबीर जी की रमनी और कबीर जी की कृत। इनका लिपिकाल स० १६४९ और रचनाकाल सवत् १६०० बताया गया है, पर खोज करने पर ये दोना बातें निराधार प्रमाणित हुई है। श्री रामकुमार वर्मा ने जोधपुर में, जहा से सभा को इन पुस्तको का सधान मिला था, पुस्तके मँगवाई, पर उनमें कबीर जी की रमैनी' और 'कबीर जी की कृत'

थे ही नही और जोधपुर राज्य-पुस्तकालय से प्राप्त हुए एक ग्रंथ को छोड़कर किसी भी ग्रंथ का लिपिकाल नही दिया हुआ है। अतः खोज रिपोर्ट का प्रमाण सदिग्ध है।[१]

अब भिन्न २ संग्रहो मे प्राप्य रमैनियों की तुलना करने पर हम कुछ निष्कर्ष निकाल सकते है :—

(१) आदि ग्रथ का संकलन संवत् १६६१ मे हो गया था। उस समय तक 'रमैनी' शब्द का प्रचलन नही हुआ था । रमैनियों का भी किसी न किसी 'राग' के रूप मे ही सग्रह किया गया था। यद्यपि बीजक के कुछ पद उसमें है, पर उसके विभाग के नाम भिन्न-भिन्न है।

(२) सन् ईस्वी की अठारहवी शताब्दी के अंत मे 'रमैनी' शब्द का प्रचलन हो गया था और सन् १८२४ तक चलकर यह प्रवृत्ति चल पड़ी कि दोहा चौपाई छदों मे लिखित प्रत्येक वस्तु को 'रमैनी' कहा जाय। इसी समय कबीर ग्रथावली की 'ख' प्रति लिखी गई थी जिसमे ज्ञान चौतीसा को भी 'रमैणी' कहा गया है।

(३) बीजक मे संगृहीत रमैनियों मे ज्ञानमार्ग पर अधिक जोर दिया गया है और स्पष्ट मालूम होता है कि बीजक के लेखक के मन मे अपने इर्दगिर्द के प्रचलित मतो के खडन की प्रवृत्ति अधिक है।

(४) बीजक मे सगृहीत सृष्टितत्त्व सबंधी रमैनियाँ सवत् १८८१ तक पश्चिमी भारत मे अज्ञात थी।

(५) गोस्वामी तुलसीदास जी की रामायण सवत् १६३१ मे आरभ की गई थी और सवत् १६८० तक अवश्य प्रचारित हो गई थी, क्योकि इसी वर्ष गोस्वामी जी का देहात हो गया था। इस प्रकार रामायण विक्रम की सत्रहवी शताब्दी के अत तक अत्यत प्रभावशाली रचना हो गई थी। ऐसा जान पड़ता है कि इसी समय के पासपास इस सर्वग्राही ग्रथ के प्रभाव से अपने सप्रदाय के अनुयायियो की रक्षा करने का प्रयास किया गया और कबीरदास जी के नामपर उन दिनो जो दोहे चौपाइयाँ प्राप्त थी उन्हे रामायणी रूप मे सजाया गया। सवत् १८८१ मे ज्ञान चौतीसा को भी रमनी ही माना गया था क्योकि वह दोहा चौपाइयो की शैली में था।

ये निष्कर्ष कबीरपथी साहित्य के अध्ययन मे बहुत महत्त्वपूर्ण है।

---

१. संत कबीर।

पंचांग और सरकार

गोरख प्रसाद

भारतवर्ष में पंचांग की मुख्य उपयोगिता यह है कि विवाह आदि के लिये शुभ मुहूर्त ज्ञात किया जा सके। जन्म समय ज्ञात होने पर फलित ज्योतिष द्वारा भविष्य भी बताने की चेष्टा की जाती है। परन्तु भारतीय पंचांग नाविकों के काम की वस्तु नहीं है। पाश्चात्य पंचांग से नाविक समय नापता है और समुद्र में अपनी स्थिति का ज्ञान प्राप्त करता है, परन्तु प्राचीन पद्धति से बने पंचांग इतने अशुद्ध होते हैं कि वे आधुनिक उपयोगों के लिये पूर्णतया निकम्मे होते हैं।

काशी-नागरी प्रचारिणी सभा की ओर से पंचांग संशोधन के लिये एक समिति बनी भी थी, जिसके कर्णधार श्री सम्पूर्णानंद जी थे, परन्तु देश की राजनीतिक परिस्थिति उन दिनों कुछ ऐसी थी कि सारी शक्ति स्वराज्य प्राप्ति में लगाना आवश्यक था। इसलिये यह समिति कुछ विशेष कार्य न कर सकी।

परन्तु अब समय आ गया है कि सरकार स्वयं विशुद्ध वैज्ञानिक पंचांग बनाने का काम अपने हाथ में ले। अन्य देशों में सरकार ही यह काम करती है। इंगलैंड का नॉटिकल ऐल्मनक ऑफिस सरकारी संस्था है जिसके अध्यक्ष इंगलैंड के राजज्योतिषी हैं। यहाँ से जगत्-प्रसिद्ध नॉटिकल ऐल्मनक निकलता है। अमरीका से 'अमेरिकन एफिमेरिस ऐंड नाटिकल ऐल्मनक' निकलता है जिसकी गणना और प्रकाशन के लिये लगभग तीस वेतनभोगी सरकारी कर्मचारी हैं। जर्मनी से 'बर्लिनर यारबुख' और फ्रांस से 'कनेसा दे ता' निकलता है, जो सभी नॉटिकल ऐल्मनक की जाति के पंचांग हैं। सभी सरकारी प्रबंध से निकलते हैं।

इस अभिप्राय से कि एक ही गणना का विभिन्न देशों में अलग-अलग करने में व्यय की शक्ति नष्ट न हो पश्चिम के प्रधान देशों में सन् १९१२ में समझौता हुआ था, जिसके अनुसार पंचांग के एक एक अंश अलग-अलग देशों में तैयार किए जाते हैं और सभी देश इन पृथक् पृथक् अंशों से लाभ उठाते हैं। उदाहरणतः सन् १९४९ के 'अमेरिकन एफिमेरिस' के लिये सूर्य, चंद्रमा और ग्रहों की गणना ग्रिनवीच (लंडन) में हुई, शनि के वलयों की बरलिन में, २१३ तारों की गणना इंटरनेशनल एस्ट्रॉनॉमिकल यूनियन ने की, बृहस्पति के उपग्रहों की गणना फ्रांस में हुई और शेष अमरीका में।

परंतु अमरीका की सरकार पूर्ण पंचांग की गणना स्वयं अपने देश में करा सकने के महत्व को अच्छी तरह समझती है। यह बात निम्न सरकारी आदेश से प्रत्यक्ष है, जो वर्षों तक अमरीकन एफिमेरिस में छपा करता था :—

The Secretary of the Navy is hereby authorised to arrange for the exchange of data with such foreign almanac offices as he may from time to time deem desirable, provided, that the work of the Nautical Almanac Office during the continuance of any such arrangement shall be conducted so that in case of emergency that entire portion of the work intended for the use of navigators may be computed by the force employed by that office, and without any foreign cooperation whatsoever: ...

ठीक ही है। यदि पंचाग की गणना के लिये विदेशियों का मुँह जोहना पड़े तो युद्ध छिड़ जाने पर क्या किया जायगा, तब तो अपने देश के जहाजों का चलना ही बंद हो जा सकता है; रेल ओर वायुयानो के संचालन में भी अत्यधिक कठिनाई पड़ सकती है।

भारतवर्ष को भी पचाग के मामले मे अपने पैरो पर खड़ा होना चाहिए। अभी तक तो इंगलैंड से आए नॉटिकल ऐलमनक से काम चल जाता है, परंतु कब तक हम दूसरों पर आश्रित रहेंगे। गत महासमर में नॉटिकल ऐलमनक काफी पहले से नही मिल पाता था। इसका परिणाम यह हुआ कि भारतीय पंचांगकार ग्रहण आदि की गणना के लिये नॉटिकल ऐलमनक की सहायता समय पर नहीं पा सकते थे। इससे उनके पंचांग या तो देर से छपते थे, या अशुद्ध रह जाते थे। ग्रहण की अशुद्धि तो साधारण जनता भी पकड लेती है। यदि पत्रे मे छपा है कि सूर्यग्रहण ३ बजे दिन से आरंभ होगा और वह २॥ या २ बजे ही आरभ हो जाय तो लोग पत्रे पर कैसे विश्वास करेंगे? इसलिये ग्रहणों की गणना नॉटिकल ऐलमनक से की जाती है, एकादशी, पूर्णिमा आदि तिथियों की गणना चाहे भले ही प्राचीन सूत्रो के आधारपर की जाय।

गुजरात के कुछ उत्साही ज्योतिषियो ने आधुनिक ज्योतिष के सूत्रो से (और जब नॉटिकल ऐलमनक मिल सकता है तब उससे) पंचाग निर्माण करना प्रारंभ कर दिया है। तिथि, नक्षत्र, योग आदि की गणना भी इन पंचांगों में आधुनिक ज्योतिष के आधारपर की जाती है। विश्वस्त सूत्रो से मुझे पता चला है कि इन पंचागों की बिक्री गुजरात मे प्राचीन पद्धति पर बने पंचागो से अधिक है। यह हर्ष की बात है, परतु ये पंचाग गुजराती मे छपते हैं। हिंदी मे छपने वाले आधुनिक ज्योतिष पर आश्रित ऐसे पंचांग जिनका अच्छा प्रचार हो मेरे देखने मे नही आए।

मेरी राय में भारतीय या प्रातीय सरकार को एक पंचांग-कार्यालय खोलना चाहिए जहाँ से हिंदी में ऐसा पंचाग छपे जिसमें आधुनिक आवश्यकताओं की पूर्ति के लिये सब वैज्ञानिक सामग्री रहे और साथ-साथ पूजा-पाठ, विवाह आदि, तथा फलित ज्योतिष के लिये भी पर्याप्तसामग्री रहे। ऐसे कार्यालय में प्रारभ मे ५ वेतनभोगी विद्वानों से काम चल जायगा। पीछे विद्वानो की संख्या में आवश्यकतानुसार वृद्धि की जा सकती है। यदि साथ मे आधुनिक ज्योतिष-वेधशाला रहे और ज्योतिष

सिखाने के लिये विद्यालय भी हो, तो और भी अच्छा होगा। यदि ज्योतिषाचार्य की उपाधि प्राप्त करने के पहले आधुनिक ज्योतिष का ज्ञान प्राप्त करना भी आवश्यक कर दिया जाय तो देश में ज्योतिष की उन्नति शीघ्र हो सकती है, परन्तु यह सब चाहे अभी हो, चाहे पीछे, आधुनिक पंचांग की गणना और प्रकाशन के लिये एक पंचांग-कार्यालय सरकार की ओर से खोला जाना नितान्त आवश्यक प्रतीत होता है।

और इस कार्यालय के लिये काशी से बढ़ कर और स्थान कहाँ हो सकता है?
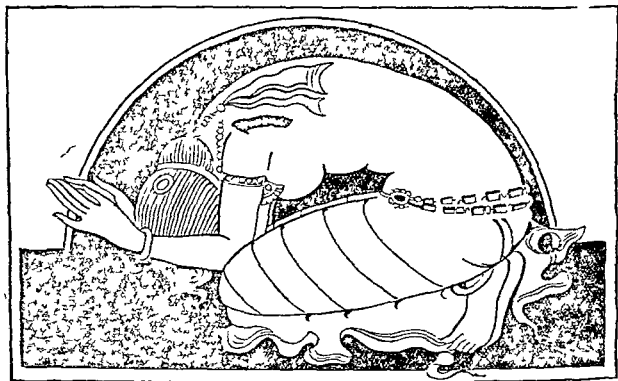
ऋग्वेद में नदी-स्तुति सूक्त की ऐतिहासिक व्याख्या

राजवली पांडेय

ऋग्वेद में नदी-स्तुति नाम का एक सूक्त (१०।७५) है। इसमें आप (जलों-नदियों) और विशेष कर सिन्धु नदी की स्तुति है। इसका ऋषि प्रैयमेध सिंधुक्षित है। इसका नदी देवता है। सूक्त के जिन मंत्रों में नदियों के नाम आए हैं उनको नीचे उद्धृत किया जाता है;

इमं मे गंगे यमुने सरस्वति शुतुद्रि स्तोमं सचता परुष्ण्या।
असिक्न्या मरुद्वृधे वितस्तयार्जिकीये शृणुह्या सुषोमया॥ ५॥
तृष्टामया प्रथमं यातवे सजूः सुसर्त्वा रसया श्वेत्यात्या।
त्वं सिन्धो कुभया गोमती क्रुमुं मेहत्न्वा सरथयाभिरीयसे॥ ६॥
ऋजीत्येनी रुशती महित्वा परिज्रयांसि भरते रजांसि।
अदब्धा सिन्धुरपसा पपस्तमाश्वान चित्रावपुषी व दर्शता॥ ७॥
स्वश्वा सिन्धु सुरथा सुवासा हिरण्ययी सुकृता वाजिनीवती।
ऊर्णावती युवतिः सीलमावत्युताधिवस्ते सुभगा मधुवृधम्॥ ८॥

ऊपर के मंत्रों में आए हुए नदियों के नामों की सूची क्रमश: इस प्रकार दी जा सकती है।

(१) गङ्गा (प्रसिद्ध)
(२) यमुना (प्रसिद्ध)
(३) सरस्वती (सरसुती)
(४) शुतुद्रि (सतलज)
(५) परुष्णी (रावी)
(६) असिक्नी (चन्द्रभागा-चेनाब)
(७) वितस्ता (झेलम)
(८) मरुद्वृधा (६ और ७ की मिली हुई धारा)
(९) आर्जिकीया (सम्भवत: सिंधु का ऊपरी भाग)
(१०) सुषोमा (सुवान)
(११) तृष्टामा (अनिश्चित)

(१२) सुमर्तु (सिधु की एक सहायक नदी)
(१३) रसा (अनिश्चित)
(१४) श्वेत्या ,,
(१५) सिधु (प्रसिद्ध)
(१६) कुभा (काबुल)
(१७) गोमती (गोमल)
(१८) क्रुमु (कुरम)
(१९) मेहत्नु (अनिश्चित)

प्राय विद्वानो ने नदिया के नामा से यह निष्कर्ष निकाला है कि जिस समय ऋग्वेद की रचना हुई थी उस समय आय लोग उत्तरभारत में पूर्व में गगा से लेकर पश्चिम में काबुल तक के प्रदेश से परिचित थे, क्योंकि ऋग्वेद में सरस्वती और उसके पश्चिम की नदियो के नाम अधिक आए ह और यमुना और गगा के बहुत कम (गगा का केवल एकबार), इससे अनुमान होता है कि आय लोग अधिकाश सरस्वती के पश्चिम में ही बसते थे और यमुना और गगा के बारे में उन्होने केवल सुन रखा था। जो लोग यह मानते ह कि आय विदेशी थे और उन्होने पश्चिमोत्तर दर्रों स भारत में प्रवेश किया उनका यह भी कहना है कि इस सूक्त में नदियो की सूची से विदेशी आर्यों के आक्रमण और विस्तार का क्रम मालूम होता है (!) जो लोग सप्त सधव प्रदेश (पजाब, काश्मीर और सीमाप्रदेश) को आर्यो की आदिभूमि मानते हैं उनकी धारणा है कि सरस्वती के पश्चिम काबुल तक का प्रदेश आर्यों का मूल निवासस्थान था और पूर्व में यमुना और गगा की ओर वे बढने का प्रयास कर रहे थे।

ऊपर के निष्कर्षों में सब से बडा दोष यह है कि इनके समर्थक नदियो के क्रम पर बिल्कुल ध्यान नही देते, सूक्त में नदियो का क्रम पूर्व से पश्चिम की ओर है, गगा सब से पूर्व की नदी और कुभा (काबुल) सब से पश्चिम की। यदि नदिया के क्रम का किसी जाति के विस्तार-क्रम से कोई सबध है तो इससे यही अनुमान निकल सकता है कि जिस जाति का इन नदियो से सीचा हुई भूमिपर आवास था उसका विस्तार पूर्व से पश्चिम को ओर हुआ। यह स्वाभाविक है कि जब किन्ही वस्तुओ की गणना की जाती है तो पहले निकट और परिचित वस्तु से प्रारभ कर गिनती दूर और कम परिचित पर समाप्त की जाती है। इस सूक्त में दिए हुए नदियो के क्रम से तो यही मालूम होता है कि इस सूक्त का ऋषि यद्यपि सिधु के किनारे पहुँच चुका था तथापि वह पूर्व की नदिया (गगा, यमुना) से *अधिक परिचित था। इसलिये नदिया की गणना गगा से शुरू करता है।* यदि आय इस देश में बाहर से पश्चिमोत्तर दर्रों के रास्ते से आए अथवा वे मूलत सप्त सधव के निवासी थे तो बडे आश्चर्य की बात है कि वे नदियो की गिनती कुभा (काबुल) या परुष्णी (रावी) से न प्रारभ कर गगा से शुरू करते है। आर्यों को विदेशी या सप्त-सधवी मानने वाले विद्वाना से नदी-स्तुति सूक्त की जो व्याख्या की गई, है वह निस्सदेह सदोष और भ्रात है।

प्रस्तुत लेखक के मन में नदी-स्तुति सूक्त की ठीक व्याख्या करने के लिये दो बातें आवश्यक ह—(१) पहले तो मन से यह पूर्वधारणा निकालनी होगी कि आय विदेशी या सप्तसधवी थे

(२) दूसरे जिस देश में नदी-स्तुति सूक्त लिखा गया है उस देश की वैदिक व्याख्या की पद्धति का सहारा लेना होगा। वास्तव में वेद, जिसमें नदी-स्तुति सूक्त पाया जाता है, कोई ऐतिहासिक ग्रंथ नहीं है; उसका विषय काव्य, धर्म और दर्शन है; इसलिये उसमें जो ऐतिहासिक सामग्री मिलती है वह बहुत थोडी और आनुषगिक है। वेद की ऐतिहासिक व्याख्या की कुजी वेद में नहीं, किंतु भारतीय साहित्य की दूसरी धारा इतिहास-पुराण में है। भारतीय परंपरा के अनुसार वेद का अध्ययन इतिहास और पुराण के सहारे करना चाहिए।

यो विद्याच्चतुरो वेदान्साङ्गोपनिषदोद्विज.।
न चेत्पुराण सविद्यान्नैव स स्याद्विचक्षण ॥
इतिहासपुराणाभ्या वेद समुपबृंहयेत।
बिभेत्यल्पश्रुताद्वेदो मामय प्रहरिष्यति॥ पद्मपुराण ५।२।५०–२

(जो ब्राह्मण अगों और उपनिषदों के साथ चारो वेदों को जानता हो किन्तु उसके पुराण का ज्ञान न हो तो उसको विचक्षण (योग्य) नही समझना चाहिए। वेद का अध्ययन इतिहास और पुराण की सहायता से करना चाहिए, वेद अल्पश्रुत (कम पढे लिखे इतिहास-पुराण जैसा प्रसिद्ध साहित्य न पढे हुए) से डरता है कि वह मेरे ऊपर प्रहार करेगा (–मेरा अशुद्ध अर्थ करेगा)।)

अब देखना है कि भारतीय इतिहास-पुराण से नदी-स्तुति सूक्त पर क्या प्रकाश पड़ता है। सूक्त का ऋषि प्रैयमेध सिधुक्षित् है। वेद मे केवल नाम के अतिरिक्त और कोई परिचय इस ऋषि का नहीं है। पञ्चविंश-ब्राह्मण (१२।१२।६) मे कहा गया है कि सिधुक्षित् एक राजन्यर्षि (राजर्षि) था जो बहुत दिनों तक अपने राज्य से निर्वासित था, किंतु अंत में उसका पुनरावर्तन हुआ; परतु ब्राह्मण-ग्रथ से भी इस बात का पता नही लगता कि सिधुक्षित् कहाँ का राजा था। सिधुक्षित् के स्थान और समय का पता पुराण से लगता है। भागवत् पुराण के अनुसार भारतवशी पाचाल (गगा-यमुना दोआब) के राजा अजामीढ के वंशज प्रियमेध आदि द्विजाति थे—

अजामीढस्य वश्या. स्यु. प्रियमेधादयो द्विजा। ९।२१।११

वैदिक ऋषि प्रैयमेध सिंधुक्षित् अजामीढ़ का ही वशज था। भारतीय इतिहास मे राजकुमारो के निर्वासन और उनके द्वारा दूसरे प्रदेशो मे विजय तथा राज्यस्थापन के कई उदाहरण पाए जाते है। इसमें कोई आश्चर्य नही यदि पाञ्चाल निवासी प्रैयमेध सिधुक्षित् गगा के किनारे से चलकर पश्चिमी सयुक्त प्रात और पंजाब की नदियों को पार करता हुआ सिधु के किनारे पहुँचा हो और उसके पश्चिमी तट पर उतरकर उसमे पश्चिम से मिलने वाली सहायक नदियो से भी परिचित हो गया हो। सिंधु नदी की समृद्धि, अश्व, रथ, अन्न और युद्ध का जो वर्णन वह करता है उससे मालूम होता है कि वह सिधु के किनारे विजेता के रूप मे वर्तमान था।

मुख रथं युयुजे सिन्धुरश्विनं तेन वाजं सनिषदस्मिन्नाजौ।
महान्ह्यस्य महिमा पनस्यतेऽदब्धस्य स्वयशसो विरप्शिनः॥
—ऋग्वेद १०।७५।९

सिधु नदी के विस्तार, शक्ति आर समद्धि देखकर सिधुक्षित् प्रभावित हुआ था, परतु जव नदिया की स्तुति उसने प्रारभ की तव उनकी गणना अपनी अधिकतम परिचित और मूल्स्थान की निकटतम नदी गगा से शुरू किया। इस प्रकार नदी-स्तुति सूक्त प्रैयमेध सिधुक्षित् की पश्चिमाभिमुख यात्रा का द्योतक है।

प्रैयमेध सिधुक्षित् जिस क्रम मे नदी-स्तुति सूक्त की नदियो से परिचित हुआ था उसी क्रम से उससे पहले और पीछे भी मध्यदेश की आर्यजातिया और राजवश सरयू, गगा और यमुना के किनार मे पश्चिम की ओर चलकर उनसे परिचित हुए थे। आर्यजाति के इस पश्चिमाभिमुख विस्तार का इतिहास भी पुराणा में सुरक्षित है। (देखिए मेरा लेख—पुरानिक डेटा आन दि ओरिजिनल होम आफ दि इण्डो-आयन्स, दि इण्डियन हिस्टारिकल क्वाटर्ली, जिल्द २४ स० २ जून १९४८) प्रश्न हो सकता है कि जव आर्य मूलत मध्यदेश के निवासी थे और न केवल पश्चिम में परतु भारत के और भागा में भी उनका प्रसार हुआ था तव ऋग्वेद में भारत की और नदिया के नाम क्यो नही आते। इसका कारण यह है कि ऋग्वेद का भौगोलिक और ऐतिहासिक सबध अपने समय के सपूर्ण भारत से नही था। ऋग्वेद की रचना आर्यजाति की उन शाखाओ ने की थी जो प्राय गगा-यमुना से चलकर पश्चिम की ओर फैली थी और जिनकी राजनीति और सस्कृति का केंद्र सरस्वती नदी हो गई थी। इसलिये स्वाभाविक था कि ऋग्वेद में गगा के पश्चिमी प्रदेशो की नदिया के नामा का उल्लेख होता। आश्चर्य तो यह है कि किस प्रकार विद्वाना ने नदी स्तुति सूक्त से यह निष्कर्ष निकाला है कि इस सूक्त में वर्णित नदिया का क्रम आर्यों के भारत के ऊपर आक्रमण और उनके पश्चिम से पूर्व की ओर विस्तार का द्योतक है। निष्कर्ष तो ठीक इसका उल्टा निकलता है। यदि इस सूक्त का कोई सरल और भारतीय परपरा से समर्थित ऐतिहासिक अर्थ हो सकता है तो यह कि आर्यजाति की कुछ शाखाओ का विस्तार गगा-यमुना के किनारो से पश्चिमोत्तर की ओर कुभा (काबुल) तक हुआ था।

हमारा विश्व कितना पुराना है

अमिय चरण बैनर्जी

यह विश्व जिसके भीतर हमारी पृथ्वी की सत्ता एक बिंदु से भी छोटी है—कितना पुराना है, यह जानने का प्रयत्न करना वस्तुतः बहुत साहसपूर्ण कार्य है। यदि विश्व की कोई जन्म-पत्री होती अथवा उसके जन्मकाल का कोई विश्वसनीय लेखा होता तो बहुत सरलतापूर्वक हमें उसकी उम्र का पता चल जाता। दुर्भाग्यवश हमारे पास ऐसी कोई सामग्री उपलब्ध नहीं और हमें विश्व की अवस्था जानने के लिये दूसरे प्रकार के साधनों का सहारा लेना पड़ेगा। वैज्ञानिक ढंग से इस प्रश्न का विवेचन होने के पूर्व भी प्राचीन ऋषियों ने काल की प्रगति नापने के क्रम बना रखे थे। कालक्रम जानने की सब से महत्वपूर्ण विधि हिंदुओं की है। हिंदू पुराणों के अनुसार चार युग मिलकर एक महायुग होता है और

१ महायुग = ४३२०००० (सायन वर्ष)

१ मन्वंतर = ७१ महायुग = ३०६७२००० वर्ष

= ३ × १०⁸ वर्ष (करीब-करीब)

१ कल्प = १६ मन्वंतर × १५ संध्या = १००० महायुग = ४३२०००००० वर्ष = ब्रह्मा का एक दिन।

ब्रह्मा अपने इस दिन की इकाई के अनुसार १०० वर्ष तक जीवित रहते हैं। इस प्रकार ब्रह्मा का जीवनकाल ४३२०००००० × ३६० × १०० × २ (रात × दिन) = ३ × १०¹³ वर्ष

हुआ। इस कालक्रम के अनुसार वर्तमान कल्प अथवा सृष्टि का प्रारंभ १,९७२,९४९,०४९ वर्ष अर्थात् २ × १०⁹ वर्ष पूर्व हुआ है। यहाँ यह बता देना ठीक होगा कि सृष्टि के आरंभ की यह हिंदू-गणना आधुनिक विज्ञान द्वारा की गई गणना के बहुत समीप आती है।

पश्चिमी युरोप के बड़े पादरी (आर्क बिशप) उशेर (१५८१–१६५६) ने 'ओल्ड टेस्टामेंट' की कहानियों से यह निष्कर्ष निकाला था कि सृष्टि का प्रारंभ ईसा से ४००४ वर्ष पूर्व हुआ।

उस समय यदि किसी वैज्ञानिक ने यह बताने का साहस किया कि 'ओल्ड टेस्टामेंट' के कथन अविश्वसनीय हैं तो वह घोर नास्तिक समझा जाता था।

प्रसिद्ध ज्योतिर्विद एडमंड हेली (जिसके नाम पर 'हेली धूमकेतु' का नामकरण हुआ है) ही पहला वैज्ञानिक था जिसने सन् १७१५ ई० में विज्ञान के सहारे विश्व की उम्र जानने का प्रयत्न किया। उसका यह अनुमान बहुत ठीक था कि मैदान में बहकर आने वाली नदियों द्वारा निरंतर लाए गए लवणीय द्रव्यों के इकट्ठा हो जाने के कारण ही समुद्रों का पानी खारा हो गया है और इसलिये महासागरों में पुञ्जीभूत लवण की मात्रा के ज्ञान के आधार पर हम उनके जन्मकाल का अंदाज लगा सकते हैं और साथ ही पृथ्वी के ठोस रूप धारण करने के काल का भी हम ज्ञान हो सकता है। हेली ने यह खेद प्रकट किया कि प्राचीन ग्रीक विद्वानों ने इस बात का बिल्कुल उल्लेख नहीं किया कि उस जमाने में समुद्र में कितना खारापन था, अन्यथा उस समय से दो हजार वर्ष पूर्व और उस समय के पानी के खारेपन के अंतर के आधार पर यह गणना की जा सकती थी कि समुद्र के पानी को इतना खारा होने में कितना समय लगा होगा। लेकिन इस युक्ति से कुछ लाभ न होता क्योंकि हम अब यह जानते हैं कि २००० वर्ष के काल में समुद्र के खारेपन में रत्ती मात्र भी अंतर नहीं प्रतिभासित होता।

फिर भी इस बात का श्रेय हेली को ही है कि वह पहला व्यक्ति था जिसने यह सुझाव उपस्थित किया कि "अभीतक जितना सोचा जा रहा है संसार उससे कहीं अधिक पुराना है।" पर पृथ्वी को बने कितना अधिक समय बीत गया इसको पहलीबार भलीभाँति समझने का वास्तविक श्रेय भूगर्भ शास्त्री जेम्स हट्टन को ही है। पृथ्वी के निर्माण का इतिहास घटनाओं के क्रम से दस स्तर में विभाजित किया जा सकता है और इन्हीं विभाजन के आधार पर उसकी उम्र आँकी जा सकती है।

यह मानकर कि पृथ्वी धीरे धीरे ठंढी होती जा रही है और पृथ्वी के केंद्र की ओर बढ़ने में क्रमशः जो तापमान में वृद्धि होती जाती है उसका हिसाब लगाकर केल्विन ने यह निष्कर्ष निकाला कि पृथ्वी की ऊपरी सतह को ठंढा होकर ठोस बन जाने में २ करोड़ और ४ करोड़ वर्ष के बीच का समय लगा होगा। केल्विन के इस निष्कर्ष को परी ने गलत बताया और उसने यह सुझाव पेश किया कि विश्व का निर्माण करीब ६०००० करोड़ वर्ष पूर्व हुआ होगा। हाल ही में (सन् १९४६ ई०) बर्मिटोर्स्की ने अपने एक निबंध में पृथ्वी के अंतर की गर्मी के इतिहास पर प्रकाश डाला है और उन्होंने बहुत सुंदर ढंग से परी के अनुमान की पुष्टि की है। केल्विन की गणना गलत होने का प्रधान कारण यह है कि उसके जमाने में रेडियम धर्मी पदार्थों का कुछ भी ज्ञान नहीं था। भूगर्भ में रेडियमधर्मी-तत्व बिखरे पड़े हैं जो स्वयं क्षय हो जाने से पृथ्वी की गर्मी बढ़ाने में सहायक होते हैं। पृथ्वी उत्तरोत्तर ठंढी अवश्य हो रही है पर भू-गर्भ में स्थित रेडियमधर्मी पदार्थों की अनिश्चित गर्मी के कारण ठंढे होने की गति बहुत ही क्षीण है। इसलिये यदि पृथ्वी के क्रमशः ठंढे होने की गति के आधारपर उसकी उम्र की गणना की जाय तो वह केल्विन के अनुमान से बहुत अधिक होनी चाहिए। स्ट्रट (वर्तमान लॉर्ड रैले) ने सर्वप्रथम यह खोज की कि पृथ्वी के भीतर प्रायः प्रत्येक भाग में चट्टानों के अंदर रेडियमधर्मी पदार्थ पाए जाते

विशाल बुद्धमूर्ति का मस्तक गुप्तकाल (ई० ५वी शती) मथुरा से प्राप्त

—मथुरा संग्रहालय

है। पृथ्वी में जो कुछ गर्मी है वह केवल प्रारंभ की गर्मी का अवशेष ही नहीं है वरन् रेडियमधर्मी पदार्थों के कारण भी निरन्तर पृथ्वी की गर्मी के क्षय की कुछ अंश तक पूर्ति होती रहती है।

यदि किसी प्रकार यह मालूम हो जाय कि समुद्र के पानी में सम्मिलित लवण की सम्पूर्ण मात्रा क्या है तथा प्रतिवर्ष में नदियों द्वारा कितना नमक महासागरों में पहुँचता रहता है तो यह सरलतापूर्वक बताया जा सकता है कि समुद्र कितने पुराने होंगे—हाँ, यह अवश्य है कि यह गणना इस विश्वास पर की जायगी कि प्रतिवर्ष नदियों द्वारा समुद्र में एक ही मात्रा में नमक इकट्ठा होता है। आजकल प्रतिवर्ष समुद्र के पानी में नदियों द्वारा करीब १५×१०'' टन नमक पाया जाता है। यह मानकर कि अतीत में इसी मात्रा में प्रतिवर्ष नदियों द्वारा नमक समुद्र को मिलता रहा है, गणना करनेपर ज्ञात होता है कि समुद्रों का निर्माण करीब २५ करोड़ वर्ष पूर्व हुआ होगा। पर पृथ्वी को बने इतने कम दिन नहीं हुए होंगे। इस त्रुटि का कारण यही है कि भूकाल में भी नदियों द्वारा समुद्र को ठीक उतना ही नमक प्रतिवर्ष नहीं मिलता रहा है जितना आजकल मिलता है। सुदूरभूत में जितना लवण समुद्र में बहकर आता था उससे बहुत अधिक आजकल आ रहा है। कारण यह है कि कालान्तर में पहाड़ की शृंखलायें अधिक ऊँची होती गई हैं तथा वनविहीन मैदानों का क्षेत्रफल पहले से अधिक बढ़ गया है। इसलिये नदियों को अब स्थल में अत्यधिक मात्रा में लवण उपलब्ध है। अतः यह सर्वथा संभव है कि समुद्रों का निर्माण २५ करोड़ वर्ष के बजाय २५० करोड़ वर्ष पूर्व हुआ हो।

रेडियमधर्मी पदार्थों के क्षय को ध्यान में रखते हुए इस संबंध में अधिक विश्वसनीय तथ्यों का संग्रह किया जा सकता है। रेडियमधर्मी पदार्थों का क्षय किस गति से होता है, यदि यह मालूम है तो चट्टानों में सीसा तथा उरानियम अथवा सीसा तथा थोरियम के अनुपात के सहारे चट्टानों की उम्र का ठीक-ठीक पता लगाया जा सकता है। परमाणुओं का परिवर्तन निम्न प्रकार से होता है।

$$U^{238} \longrightarrow Pb^{206} + 8He^{4}$$
$$U^{235} \longrightarrow Pb^{207} + 7He^{4}$$
$$Th^{232} \longrightarrow Pb^{208} + 6He^{4}$$
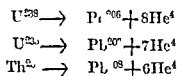
प्रत्येक दशा में सीसे का एक निश्चित समस्थानिक (आइसोटोप) बनता रहता है। आजकल इन पदार्थों के विघटन के कारण सीसे के समस्थानिक किस गति से बनते हैं इसका बहुत ही सही ज्ञान हम लोगों को प्राप्त है। पर प्रश्न उठता है कि क्या सुदूर अतीत में भी इसी गति से सीसे के समस्थानिक बनते रहे हैं। सौभाग्यवश इस बात की परीक्षा की जा सकती है कि कालान्तर में समस्थानिक बनने की रीति में परिवर्तन हुए हैं कि नहीं। ग्रेनाइट के कुछ ऐसे प्रकार हैं जिनमें भूरे माइका के फेन मिलते हैं और जिन्हें (प्लिओक्राइक हेलोज) कहा जाता है। यदि बहुत अच्छी शक्ति की खुर्दबीन के सहारे इनकी कान्ति का निरीक्षण किया जाय तो प्रभापूर्ण केन्द्रीय वृत्तों की एक बहुत ही मनोरम शृंखला दिखाई पड़ेगी और प्रत्येक दीप्तिमंडल के केन्द्र में स्थित बहुत ही सूक्ष्म रेडियमधर्मी रवा (क्रिस्टल) मिलेगा। प्रत्येक दिशा में प्रक्षिप्त होने वाले हीलियम के परमाणु अथवा अल्फाकण के कारण ही माइका का रंग काला हो जाता है। हर वृत्त का अर्द्धव्यास रेडियमधर्मी परमाणु के अल्फाकणों की पहुँच का द्योतक है। श्री जी० एच० हेंडरसन ने बहुत ही सावधानीपूर्वक

इन वृत्तो की सीमा का माप किया है और उन्होने पता लगाया है कि वे वृत्त जो एक अरब वर्ष से भी अधिक पुराने है ठीक उतने ही प्रभापूर्ण है जितने कि वे वृत्त जो अपेक्षाकृत कम समय की चट्टानो मे पाए जाते है। इस तथ्य से यह निष्कर्ष निकला कि वृत्तो के अर्द्धव्यास तथा अल्फाकणो की गतिसीमा (रेंज) समान है और भौतिक स्थिराक वदले नही है।

इस प्रकार यह जान लेनेपर कि रेडियमधर्मी पदार्थो मे सीसा के समस्थानिको के बनने की गति चिरकाल से एक ही जैसी रही है, यह ज्ञात करना सरल हो जाता है कि सीसे की वर्तमान मात्रा कितने दिनो में इकट्ठी हुई होगी। यूरैनाइट की चट्टानो मे निहित सीसे की मात्रा के आधार पर हिसाव लगाने से यह मालूम होता है कि हमारी पृथ्वी कम से कम १ अरब वर्ष पुरानी है । यदि हम यह मान ले कि पृथ्वी के निर्माण के समय इसमे सीसे के समस्थानिक Pb^{232} विलकुल नही थे और धीरे-धीरे U^{234} २३२ के विघटन के कारण इनका समावेश होता गया है तो पृथ्वी के अधिक से अधिक ५४०० करोड वर्ष पुरानी होने का प्रमाण मिलता है। प्रसिद्ध भूगर्भ-शास्त्री ऑर्थर होल्म्स का कहना है कि इस वात की अधिक सभावना है कि हमारी पृथ्वी ३३५ करोड वर्ष पुरानी है।

पृथ्वी की उम्र की सीमा निर्धारित कर लेने के वाद अव हम अपने विश्व की उम्र के विषय मे विचार करेगे। पर हमारा विश्व तो पृथ्वी की तरह एक छोटा-सा पिण्ड है नही। पृथ्वी से लाखो करोडों गुने वडे तारे अरवों की सख्या मे इस विश्व मे विखरे पड़े है और इन तारो के वीच कोटि-कोटि पृथ्वी को एक कोने मे छिपा रखने की क्षमतावाले भयकर रिक्तस्थान पडे है। अपने इस आश्चर्यजनक विश्व के भीतर किस प्रकार के कितने तारे कहाँ-कहाँ है, इसका भी समुचित ज्ञान हमे नही है। अतः विश्व की उम्र निर्धारित करना दुष्कर कार्य है । पर अपने विश्व के विषय मे एक अच्छी वात यह है कि इसमे विखरे हुए तारे सर्वथा स्वतत्र नही है। जगह-जगह इन तारो के सघटन है अर्थात् अनेक तारों के वडे-वड़े यूथ या समुदाय है। तारो के इन समुदायों को नीहारिका कहते है। इन नीहारिकाओ की उम्र के विषय मे जानने के लिये हमारे पास कुछ उपयोगी ज्ञान है और उन्ही के आधार पर हम इस विश्व की उम्र की भी सीमा निर्धारण करेगे। हम उस नीहारिका के विषय मे चर्चा करेगे जिसमे पृथ्वी आदि ग्रहों को लेकर हमारा सूर्य भी समिलित है । जिस किसी ने अधेरी रात मे निर्मल आकाश पर दृष्टि डाली होगी उसने आकाश-गगा को अवश्य देखा होगा। आकाश-गगा एक प्रभापूर्ण मेखला की तरह व्योम मे फैली रहती है। मनुष्य की कल्पना ने आकाश-गगा को लेकर वहुत-सी कथाओ की सृष्टि की है । यूनानियों की यह धारणा थी कि जुपिटर ने जव देवताओ की परिषद् बुलाई थी तव देववृंद इसी मार्ग से गए थे। इस मार्ग के दोनो ओर देवताओ के भव्य प्रसाद वने हुए है तथा देवनिवास से हटकर साधारण जनो के रहने के स्थान है। कहने की आवश्यकता नही कि यह कल्पना अधिक चमकीले और कम चमकीले तारो को लेकर की गई है। आधुनिक ज्योतिष्-शास्त्र ने आकाश-गगा के विषय मे अधिक यथार्थवादी दृष्टिकोण से काम लिया है। आकाश-गगा मे निरतर परिवर्तन हो रहे है, पर ये परि-वर्तन इतने धीरे-धीरे हो रहे है कि मनुष्य के जीवनकाल मे इनको परखना वहुत कठिन है। इसी आकाश-गगा के एक किनारे हमारा सूर्य भी अपने आश्रित ग्रहो के साथ घूम रहा है। यह नीहारिका अपने केंद्र की धुरी के चारों ओर कुम्हार के चक्के की तरह घूम रही है। इसके भीतर सूर्य से भी वड़े-वडे तारे और छोटे-वड़े कई तरह के नक्षत्र-समूह भरे पडे है। आकाश-गंगा की ही भाँति और भी नीहारिकाये विश्व मे है। यहाँ हम यह जानने का प्रयत्न करेगे कि आकाश-गगा कितनी पुरानी

है। जितने समय में हमारा सूर्य आकाश-गंगा के केंद्र के चारों ओर एक चक्कर पूरा करता है उतने समय को हम एक ब्रह्म-वर्ष कहेंगे। एक ब्रह्म वर्ष बीस करोड साधारण वर्षों के बराबर होता है।

आकाश-गंगा के भीतर के सभी तारे तथा नक्षत्र-समूह निरतर घूम रहे हैं। इनके घूमने की गति और कक्षा भिन्न भिन्न हैं, लेकिन अपने भ्रमण-काल में ये नक्षत्रमडल एक दूसरे की गति को प्रभावित करते रहते हैं। आकाश-गंगा के बनने के समय उनके नक्षत्रों की जो गति तथा कक्षा रही होगी उनमें आज बहुत परिवर्तन हो गए होंगे। वस्तुत घूमने के क्रम में जब एक तारा दूसरे तारे के अथवा एक नक्षत्र समूह के समीप आ जाता है तो आपस में गति तथा ऊर्जा (एनर्जी) का आदान-प्रदान हो जाता है और यदि बिना किसी ध्वंस के घूमने का यह क्रम चिरकाल तक चलता रहा, तो इन तारों की गति शक्ति एक दूसरे के बराबर होती जायगी। इस प्रकार आकाश-गंगा की सपूर्ण गति-शक्ति का सभी तारों में समान वितरण होने के लिए कम से कम ५×१०¹¹ वर्ष लगेंगे। निरीक्षण करने से पता चलता है कि आजकल आकाश-गंगा के भीतर के विभिन्न तारों और तारक समूहों की गति शक्ति में बहुत भिन्नता है। 'बी'—परिवार के तारों की गतिशक्ति 'के' तथा 'एम' परिवारों की गति-शक्ति के आधे से भी कम है। परिवर्तनशील तारों की गतिशक्ति अपने ही समान के साधारण तारों से करीब २५ गुना अधिक है। इस प्रकार भिन्न भिन्न तारों की गति में बहुत अतर है और इस गति-वैषम्य से यह निष्कर्ष निकलता है कि आकाश-गंगा को इस तरह चक्कर करते हुए बहुत दिन नहीं हुए होंगे।

आकाश-गंगा का केंद्रक इसके भीतर बिखरे हुए सभी नक्षत्र-समूहों को अपनी ओर आकृष्ट करता रहता है। यदि किसी नक्षत्र-समूह के तारे एक दूसरे के काफी समीप हुए तो उनके आपस के आकर्षण की प्रबलता के कारण नीहारिका के केंद्रक का आकर्षण उनमें किसी प्रकार का विघटन आसानी से नहीं कर सकता, पर यदि किसी नक्षत्र-पुंज में तारों का घनत्व कम हुआ, तो धीरे-धीरे केंद्रक के आकर्षण के कारण उनमें विघटन हो जाता है और कालातर में वह नक्षत्रपुंज समाप्त हो जाता है। अधिक घनत्ववाले नक्षत्र-समूहों में विघटन तभी होता है जब वे अपनी अबाध दौड़ में अकस्मात् किसी दूसरे नक्षत्र-समूह के पास आ जाते हैं। पर इस प्रकार की दुर्घटना बहुत समय बाद ही हो सकती है। अधिक घनत्ववाले नक्षत्र-समूहों का औसत जीवनकाल प्राय १०¹¹ वर्ष होता है। पर उन नक्षत्र-समूहों का ध्वंस जिनका घनत्व करीब-करीब (प्लाइडीज) कृत्तिका के समान है अपेक्षाकृत कम समय में हो सकता है। उनका औसत जीवनकाल करीब १५ ब्रह्म वर्ष तक है। इस प्रकार के नक्षत्रपुंजों की सख्या आजकल करीब ७०० के है जिससे यह निष्कर्ष निकालना सर्वथा उचित है कि आकाश-गंगा को बने बहुत दिन नहीं हुए होंगे अन्यथा इस प्रकार के तारक-समूह इतनी अधिक सख्या में न पाए जाते।

आकाश-गंगा के बाहर स्थित कुछ प्रकाशमेघों की गति का निरीक्षण करने के बाद अपनी नीहारिका के १० अरब वर्ष पुरानी होने का विस्मयजनक पर विश्वसनीय प्रमाण मिलता है। २८ साल पहले पैलोमर तथा माउंट-विल्सन वेधशाला के ज्योतिर्विदों ने देखा कि आकाश-गंगा के बाहर अगाध अपारावृत धूमिल नीहारिकाओं के वर्णानुक्रम में कुछ अद्भुत लक्षण हैं। इनके वर्णानुक्रम कुछ सूर्य के वर्णानुक्रम के समान ही थे पर इनमें एक विशेष बात थी। आकाश-गंगा के वर्णानुक्रम में यह पाया गया कि वर्ण-पट के लाल किनारे की ओर अवशोषण रेखा खिसक गई है। साथ ही

जितनी ही अधिक धुंधली नीहारिका थी उतनी ही अधिक अवशोषण रेखा खिसकी हुई मिली। अधिक दूरवाली नीहारिकाओ के वर्णानुक्रम मे तो आयनित (आयोनाइज्ड) कैल्शियम की के रेखा जिसे एगस्ट्रॉम की ३९३३ इकाइयो पर रहना चाहिए, ४३४१ इकाइयों पर थी, जहाँ साधारणतया हाइ-ड्रोजन रेखा रहती है। डॉप्लर के सिद्धात के अनुसार इस व्यतिक्रम की यही मीमासा है कि ये दूर की नीहारिकाये हमलोगो से और दूर हटती जा रही है और नीहारिकाओ का यह संपूर्ण लोक ही फैलता जा रहा है। यदि अवशोपण-रेखा का लाल किनारे की ओर हटना प्रसरण की गति का द्योतक ह तो सापेक्षवाद के सिद्धात के अनुसार दूर हटने की गति और दूरी मे जो संबंध है उसके आधार पर गणना करने से यह निप्कर्प निकलता है कि हमारे विश्व का प्रसरण आज से करीव ३ अरव वर्ष पूर्व प्रारंभ हुआ। यह सन्तोप का विपय है कि दूसरी विधियो द्वारा स्वतत्र रूप से हिसाव लगाने के वाद विश्व के लिए जो जीवनकाल आता है वह इसके वहुत समीप है। पर इससे यह नही समझना चाहिए कि यह अनुमान सर्वथा ठीक है और इसमे किसी प्रकार की त्रुटि नही। वस्तुत. इस तर्क मे कई दोप है। विश्व के प्रसरण शील होने के सिद्धात को सापेक्षवाद का समर्थन अवश्य प्राप्त है पर इसी प्रकार सापेक्षवाद न फैलने वाले तथा स्पंदनशील (आसिलेटिग युनिवर्स) की भी पुष्टि करता है।

होता क्या है कि हमलोग प्रयोगशालाओ के अनुभवपर प्रतिपादित होने वाले परमाणु-विज्ञान तथा विकिरण के सिद्धातों का प्रयोग किसी प्रकार के सुधार की स्पप्ट आवश्यकता के विना ही इन नीहारिकाओ के साथ भी करते है। लेकिन यह जरूरी नही है कि ये नियम उसी सचाई के साथ इन नीहारिकाओ के संवध में भी लागू हो। जैसे अवशोषण-रेखा का लाल किनारे की ओर हटने का वहुत ही स्पष्ट अर्थ यह लगाया जायगा कि विश्व प्रसारणशील है उसी तरह इस वात की मीमासा दूसरे ढंग से भी हो सकती है। प्रयोगशालाओ मे क्वैंतम की शक्ति सेकड के कुछ हिस्से तक ही रहती है, हमारी नीहारिकाओ मे यह शक्ति कई हजार वर्ष तक रह सकती है। लेकिन यदि क्वैंतम की शक्ति का वहुत ही धीरे-धीरे क्षय हो रहा हो तो यह संमत है कि हमे उस क्षय का अपनी प्रयोगशलाओं में अथवा नीहारिकाओं में किसी प्रकार का आभास न मिले। पर यदि प्रकाश-रश्मि एक करोड वर्ष की यात्रा करती रहे तो क्वैंतम की शक्ति का यह ह्रास निश्चय ही इतना अधिक हो जायगा कि इसका रंग कुछ लाल होने लगेगा। हाल ही में गति के संवध में एक एसे नियम का शोध हुआ है जो यह वताता है कि समय के वढने के साथ फैलने की गति क्षीणतर होती जाती है। तो भूतकाल मे फैलने की गति अधिक थी और अव क्रमश कम होती जा रही है। इस आधारपर गणना करने से विश्व के फैलने का समय १ अरव वर्ष पूर्व प्रारभ होता है।

आकाश-गगा के वाहर स्थित तारों के सघटन के गति-विज्ञान का अध्ययन करने के वाद यह निष्कर्ष निकलता है कि हमारी नीहारिका के वनने की अधिक कालवाली अवधि ही ठीक है। पर ट्युवर्ग का कहना है कि नीहारिकाओ के कई यूथ होने से हम इस परिणाम पर पहुँचते हैं कि ये सभी नीहारिकाये १००० अरव वर्प से अधिक पुरानी नही है। श्वेत वौने तारो का अध्ययन करने से लवी अवधि वाला ही अनुमान ठीक जँचता है पर यह भी कहा जाता है कि ये तारे विश्व का फैलाव प्रारभ होने के वहुत पहले ही वन गए थे। फिर हम यह भी देखते है कि आकाश-गंगा के भीतर धूलिकण और गैसे भरी हुई है। यदि आकाश-गगा वहुत पुरानी होती, तो ये गैसे और धूलिकण अव तक ठोस तारों मे समा गए होते। उनकी उपस्थिति अल्पकाल वाली अवधि की पुष्टि करती है।

पनेध न रटियमर्धमिता के आधार पर गणना करके यह परिणाम निकाला ह कि उल्काश्म (मिटियोराइट्स) का जन्म अधिक से अधिक ७ अरब वर्ष पहले हुआ होगा। रसेल का कहना है कि हमारी पृथ्वी में रेडियमधर्मी द्रव्यो की उपस्थिति इस बात की साक्षी है कि हमारी पृथ्वी १० अरब वष स अधिक पुरानी नहीं हो सकती। यह अवधि सपूण सौर परिवार के लिए भी लागू होती है।

मेरी अपनी यह धारणा है कि यह विश्व फैलता भी है आर सिकुडता भी है। सापेक्षवाद का सिद्धात भी इस मत की पुष्टि करता है। इस समय यह विश्व फैल रहा है और फलने का यह क्रम प्राय १० अरब वष पूव प्रारभ हुआ। श्वेत वाने तारो में कुछ का निर्माण वतमान प्रसरण के पूव ही हुआ था। वस्तुत हमारे विश्व के जीवनकाल का न तो कोई आदि है और न अत।
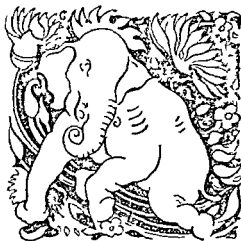
दक्षिण में शक संवत् का प्रसार

वा० वि० मिराशी

ऐसा परपरागत विश्वास है कि दक्षिण भारत के अधिकांश भागो मे सप्रति प्रचलित शालिवाहन शक (संवत्) की स्थापना ई० प्रथम शतक मे शालिवाहन नामक राजा ने की। यह भी माना जाता है कि यह शालिवाहन पैठण नगर मे राज्य करता था। पुराण, कथासरित्सागर, बृहत्कथामंजरी जैसे संस्कृत ग्रथो और जैनो के कल्पप्रदीप तथा निर्मुक्ति आदि टीकाग्रथो मे पैठन के सातवाहन राजा का नाम आया है। कहा जाता है कि यह सातवाहन और शक-संस्थापक शालिवाहन एक ही थे। सातवाहन एक कुल का नाम था और उसका सस्थापक सातवाहन नामक राजा था, इसीलिये उसका यह नाम पड़ा। सातवाहन की दो मुद्राएँ प्रकाशित हो चुकी है और तीसरी मुझे हाल मे ही प्राप्त हुई है, वह भी शीघ्र ही प्रकाशित होगी। परतु इनसे यह विदित नही होता कि इस सातवाहन राजा ने किवा उसके किसी वंशज ने सप्रति दक्षिण मे प्रचलित शालिवाहन शक सवत् को प्रचलित किया होगा। कारण, यदि ऐसा होता तो इस वंश के एकाध शिलालेख मे तो इस सवत् के अनुसार काल-गणना की होती। परंतु सातवाहन के किसी भी लेख मे इस काल का उल्लेख नही है। शकसंवत् के साथ शालिवाहन राजा का नाम भी ई० चौदहवे शतक मे अर्थात् इस सवत् की स्थापना के १३०० वर्षो के अनतर विजयनगर के राजा हरिहर के ताम्रपत्र मे पहलेपहल आता है। इसके पूर्व के सभी लेखो मे इस काल को शककाल किवा शक-नृपकाल कहा है और इसके वर्ष का शकवर्ष, शक-नृपति-सवत्सर अथवा शक-नृपति-राज्याभिषेक-सवत्सर नाम से उल्लेख किया है। इससे यह स्पष्ट है कि यह सवत् किसी शकनृपति ने प्रचलित किया और कई शतको के अनतर इसमे शालिवाहन का नाम जोड़ा गया।

इस शककाल का संस्थापक शक राजा कौन और कहाँ हुआ इस विषय मे विद्वानो का मतभेद है। तथापि अनेक शोधको का मत है कि वह कुषाणवंशी राजा कनिष्क रहा होगा। कनिष्क का विस्तृत साम्राज्य उत्तर भारत मे वायव्य सीमाप्रात से मगध तक फैला हुआ था। उसके द्वारा स्थापित सवत् का उपयोग हुविष्क, वासुदेव इत्यादि उसके वशजो ने अपने शिलालेखो मे किया है। यह राजा शकवंशी न होकर कुषाणवशी था यह सत्य है, परंतु इतर भारतीय सवतो के समान इस संवत् का 'शक' नाम आरभ के लेखो मे नही आता। वह साढेचार सौ वर्ष के बाद के लेख मे

पड़ उपड़ आता है। जिस प्रकार आभीरों द्वारा स्थापित संवत् का पीछे कल्चुरि राजाओं द्वारा उपयोग किए जाने पर कल्चुरि नाम पड़ा, उसी प्रकार इस संवत् का भी पीछे शक राजाओं द्वारा उपयोग किए जाने पर 'शक' नाम पड़ा।

कुषाणवंश का अस्त होने पर उत्तर में इस संवत् का धीरे-धीरे संकोच होना गया। मध्य हिंदुस्थान में राज्य करने वाले राजा संघ के कुछ लेख हाल में प्राप्त हुए हैं, उनमें एक विशिष्ट संवत् का उपयोग किया हुआ मिलता है। वह भी यह शक संवत् ही होगा, यह प्रस्तुत लेखक ने अन्यत्र दिखलाया है। गुप्त सम्राट समुद्रगुप्त द्वारा इस राजा का उच्छेद किए जाने पर इस संवत् का मध्यभारत में भी लोप हो गया। इसके पश्चात् मालवा और काठियावाड़ में राज्य करनेवाले क्षत्रपों के शिलालेखों में और मुद्राओं पर इस संवत् के वर्ष दिए हुए हैं। ये वर्ष शक संवत् के हैं, इस विषय पर विद्वानों का ऐकमत्य है। कुछ का तो यह मत है कि इन क्षत्रपों का मूलपुरुष चष्टन ही इस संवत् का चलानेवाला रहा होगा। परन्तु यह मत योग्य नहीं प्रतीत होता। कारण यह है कि चष्टन कितना भी हो तो महाक्षत्रप अर्थात् प्रांताधिपति ही था। तब इसमें संदेह नहीं कि उसने किसी सम्राट का स्वामित्व स्वीकार किया था। उसे अपना निजी संवत् चलाने की स्वतंत्रता नहीं थी। इससे बहुत कर के यही मत सयुक्तिक प्रतीत होता है कि उसका सम्राट् कनिष्क ही रहा होगा और कनिष्क के द्वारा स्थापित संवत् का ही उल्लेख उसके प्रांताधिपति चष्टन तथा उसके वंशजों के लेखों में किया गया है। क्षत्रपों का उच्छेद द्वितीय चंद्रगुप्त विक्रमादित्य ने ई० चौथी शताब्दी के अंत में किया। उसके पश्चात् शक संवत् का उत्तर भारत से सर्वथा लोप हो गया और उसकी जगह पहले गुप्त संवत् ने और पीछे विक्रम संवत् ने ले ली।

केवल दक्षिण में यह शक संवत धीरे-धीरे स्वयं फैलता गया। उत्तर महाराष्ट्र में कुछ काल तक भूमक और नहपान, इन दो क्षहरात क्षत्रपों का राज्य था। नहपान के शिलालेख में दिए हुए ८२ और ४६ वर्ष इस शक संवत् के ही होने चाहिए। नहपान के लेख नासिक, कार्ले इत्यादि स्थानों में पाए गए हैं। सातवाहन वंशी गौतमीपुत्र ने इस नहपान का पराभव किया और इसके क्षहरात वंश का समूल उच्छेद किया। इसके बाद ई० दूसरे शतक में यह शक संवत् कुछ काल के लिये महाराष्ट्र से लुप्त हो गया और उसकी जगह आभीरों द्वारा लगभग २५० ई० में स्थापित एक दूसरे संवत् ने ले ली। आभीरों के साम्राज्य विस्तार के साथ-साथ उनके संवत् का प्रचार उत्तर महाराष्ट्र, कोंकण और गुजरात प्रांतों में हुआ। पीछे कल्चुरि राजाओं द्वारा अपनाए जाने पर वह विदर्भ में भी कुछ काल तक प्रचलित रहा। ई० सातवीं शती में बदामी के चालुक्यों द्वारा कलचुरियों का पराभव होने पर इस आभीर अथवा कल्चुरि संवत् का दक्षिण से धीरे-धीरे लोप हो गया।

बदामी चालुक्यों ने शक संवत् का आदर किया। पूर्व कथनानुसार ई० दूसरी शताब्दी में यह संवत् उत्तर-महाराष्ट्र से लुप्त हो गया। इसके बाद का इस संवत् का प्रथम ज्ञात वर्ष ४६५ (ई० ५४३) है जो चालुक्य सम्राट् प्रथम पुलकेशी के बदामी के लेख में मिलता है। चालुक्यों का साम्राज्य ई० सातवीं शती में महाराष्ट्र, कोंकण, गुजरात और आंध्र प्रांतों में फैला और उसके साथ ही साथ शक संवत का प्रसार भी इन प्रांतों में हुआ। तब से आज तक इन प्रांतों में शक संवत् अविच्छिन्न रूप से प्रचलित है।

ई० दूसरी से छठी शती के बीच के काल का इस संवत् का कोई लेख अभी तक प्राप्त नहीं हुआ है। इस काल में इस संवत् का उपयोग कौन करता था, यह प्रश्न अब भी अनिर्णीत है। इस विषय की थोडी नवीन जानकारी प्रस्तुत लेख मे देने का प्रयत्न किया गया है।

यह सत्य है कि ई० तीसरी शती से बदामी के चालुक्यो ने शक संवत् को अगीकार किया, परंतु वे इसे अपना संवत् नही मानते थे, इसका स्पष्ट निर्देश उनके तथा उन्हीं की भाँति उनके माडलिकों के सभी लेखों मे मिलता है। तब यह स्पष्ट है कि चालुक्यो के उदय के पूर्व इस संवत् का उपयोग किसी शक् राजा ने किया और अपने प्रात मे पूर्व से ही प्रचलित होने के कारण चालुक्यो ने उसका उपयोग किया। जब चालुक्यो के माडलिक उत्तर महाराष्ट्र, कोंकण और गुजरात मे राज्य करने लगे, तब पहले उन्होंने कुछ काल तक उस प्रांत मे पहले से ही प्रचलित आभीर-कलचुरि संवत् का उपयोग किया। इसपर से भी उपर्युक्त अनुमान ठीक मालूम होगा। परतु यहाँ प्रश्न यह उपस्थित होता है कि बदामी अथवा बीजापुर जिले के पड़ोसी शक राजा का राज्य चालुक्यो का पूर्ववर्ती था, इसका प्रमाण क्या? इस प्रश्न का उत्तर हाल ही मे हैदराबाद मे प्राप्त चार मुद्राओं से दिया जा सकता है। इनमे की पहली दो मुद्राएँ हैदराबाद के मुद्रा-संग्राहक श्री हुरमुज कौस के सग्रह में है। उनको मैंने तीन वर्ष पूर्व इडियन हिस्टारिकल क्वार्टर्ली नाम की सुप्रसिद्ध त्रैमासिक शोधपत्रिका मे प्रकाशित किया था। ये मुद्राएँ सातवाहन की मुद्राओं के सदृश हैं। उनपर सामने की ओर सूँड़ ऊपर किए हुए हाथी बना है और पीछे की ओर उज्जैन चिह्न (एक पर एक आड़े खड़े रखे हुए डंबल) है। हाथी के चारो ओर राजनाम है जो दो मे से किसी एक मुद्रा पर भी पूर्णरूप से स्पष्ट नही है। परंतु दोनो मुद्राओं के अक्षर एकत्र करने पर वह 'रजो सिरि सगमान-महसस' इस प्रकार पूरा होता है। यह नाम तत्कालीन प्राकृत भाषा मे है ओर अक्षरों की लिपि ई० दूसरी या तीसरी शती की है। मुद्राओं पर के शब्दों का अर्थ इस प्रकार होगा—'यह मुद्रा राजा श्री शकमान महिष की' (है)। पुराण मे इस राजा का नाम निम्नलिखित रूप मे आया है—

'शक्यमानाभवद्राजा महिषाणां महीपतिः।"[1]

पुराणों के पाठ मे अनेक लेखको के अनवधान अथवा अज्ञान के कारण अनेक भूले पाई जाती है। ऊपर उद्धृत मूल का पाठ इस प्रकार होगा—

शकमानोभवद्राजा महिषाणां महीपतिः

इसका अर्थ है—'महिषो का राजा शकमान हो गया।' अतः यह स्पष्ट है कि ये मुद्राएँ शकवंशी मान राजा की है। इन मुद्राओ पर भी उसका 'महिष' विशेषण लगा हुआ है, इससे विदित होता है कि वह माहिषक देशपर राज्य करता था। इस माहिषक देश का उल्लेख दक्षिण मे विदर्भ और ऋषीक (वर्तमान खानदेश) देशो के साथ रामायण मे आया है। इस विषय का विवेचन पीछे किया जायगा।

कुछ मास पूर्व हैदराबाद राज्य के वस्तु-संशोधन विभाग के प्रमुख ख्वाजा मुहम्मद अहमद ने कुछ मुद्राओ के फोटो मेरे पास पढने के लिये भेजे थे। इनमे से दो मुद्राएँ इस वंश के राजा की है। इनमे की एक मुद्रा हैदराबाद नगर के उत्तर के मेडक जिले के कोडापुर स्थान मे प्राप्त हुई थी।

---

१. पार्जिटर कृत कलियुग राजवंश (अंग्रेजी), पृ० ५१।

इस स्थान में सातवाहन राजा का विस्तृत अवशेष पाया गया है। यह मुद्रा सीसे की है और इसके सम्मुख पृष्ठ पर सिंह की आकृति है। यह मुद्रा भी सातवाहन की मुद्राओं के सदृश है। इसपर का राजनाम खंडित है, तथापि बचे हुए अक्षर 'माण महसस' इस रूप में पढे जाते हैं। अत इसमें सशय नही कि यह मुद्रा भी उसी शतवंशी मान राजा की बनवाई हुई है।

दूसरी मुद्रा हैदराबाद राज्य के दक्षिण रायचूर जिले के अतर्गत मस्की स्थान के उत्खनन में प्राप्त हुई थी। यहा अशोक का शिलालेख प्राप्त होने के कारण यह गाँव सबको सुपरिचित है। यह मुद्रा भी सीसे की है और इसके सम्मुख भाग पर घोडे की आकृति है। उसके चारो ओर का राजनाम खडित हो गया है। तथापि 'सगस महसस' ये अक्षर पढे जाते हैं। इससे विदित होता है कि इस मुद्रा को महिषवश के एक राजा ने बनवाया था और उस राजा के नाम के अत में 'सगस्' शब्द था। इस राजा की और मुद्राएँ प्राप्त हुए बिना इस राजनाम का पूरा करना सभव नही है।

'महिष' वश का नाम सभवत माहिषक देश के नाम पर पडा। माहिषक देश का उल्लेख रामायण, महाभारत और पुराण में अनेक स्थलो पर आया है। रामायण में सीता की खोज के लिये सुग्रीव द्वारा भिन्न भिन्न दिशाओ म वानरो के भेजे जाने का वर्णन है। दक्षिण के देशो में 'विदर्भान् ऋषिकाश्चैव रम्यान् माहिषकानपि' इस प्रकार विदर्भ और ऋषिक देशो के साथ माहिषक देश का नाम आया है। महाभारत म माहिषक का नाम भीष्मपर्व, वनपर्व, अनुशासनिक पर्व, अश्वमेधिक पर्व इत्यादि कई पर्वो में मिलता है। इन उल्लेखो से विदित होता है कि माहिषक देश द्रविड, कलिंग, आध्र और महाराष्ट्र की ही भाति दक्षिण में था। साथ ही, उसका नाम इन देशो के साथ-साथ आने से यह भी अनुमान होता है कि वह इन देशो के निकट ही था। पूर्वोक्त मुद्रा हैदराबाद राज्य के दक्षिण भाग में प्राप्त होने के कारण इस अनुमान में सभवत भूल की सभावना नही है कि उस भाग का प्राचीन नाम माहिषक था।

पूर्ववर्णित मुद्राओं से विदित होता है कि इस प्रदेश पर शतवशी मान राजा राज्य करता था। पुराण में जिन थोडे से ऐतिहासिक काल के राजाओ का नाम निर्देश है उनमें से एक वह भी है। इससे मालूम होता है कि वह बडा बलवान् और उसका राज्य बहुत विस्तृत रहा होगा। इस भाग में उसके वशजो का राज्य कई पीढियो तक चला था[२]। पुराणो में कहा है कि आध्र किंवा सातवाहन वश का अत होने पर अनेक राज्यो का उदय हुआ, उनमें से एक शक राज्य भी था। पुराणो के ही कथनानुसार ये शक राजा अठारह हुए और उन्होंने ३८० वर्ष राज्य किया। पार्जिटर का कहना है कि उक्त वर्षों की सख्या में भूल है, ठीक सख्या १८३ वर्ष होगी। उनका कथन ठीक माना जाय तो १८ शक राजाओ ने लगभग ई० २५० से ४३३ के बीच राज्य किया होगा।

दक्षिण के इन शक राजाओ का कोई भी लेख अभी तक प्राप्त नही है। तथापि मैसूर राज्यातर्गत चद्रवल्ली के प्रस्तरलेख में बनवासी (उत्तर कानडा जिला) के कदब नृपतियो के मूल पुरुष मयूरशर्मा द्वारा शकस्थान नामक प्रदेश के जीत जाने का उल्लेख है। यह शकस्थान नामक प्रदेश कदब राज्य से बहुत दूर न होकर दक्षिण में ही रहा होगा। कदबो का राज्य धारवाड जिले म

२ पार्जिटर कृत कलियुग राजवश, प्रस्तावना, पृ० २४

दक्षिण उत्तर कानडा प्रांत पर था। तब यह अनुमान करने मे कोई हानि नही कि उनका जीता हुआ शकस्थान प्रदेश माहिषक ही होगा।

ऐसा विदित होता है कि इन शक राजाओं ने अपना सवत् माहिषक देश में और उसके आसपास अपने राज्य के इतर भागों में प्रचलित किया था। उस समय इस सवत् का बीजापुर, बेलगाँव और धारवाड़ जिलों मे प्रचार हुआ होगा। यदि कर्णाटक जिले मे चालुक्यों के पूर्वकाल का कोई लेख मिले तो आशा है उसमे इस संवत् का उल्लेख मिलेगा।

ई० छठी शताब्दी में बदामी के चालुक्यों का उदय हुआ। उन्होंने अपने लेख मे इस संवत् का उल्लेख किया है। इसका कारण यह होगा कि उनके देश मे यह पहले से ही प्रचलित था। राज्यक्रांति होने पर भी लोक द्वारा अपनाई हुई काल-गणना-पद्धति यकायक नहीं बदल जाती। आभीर, कलचुरि, गुप्त हर्ष—इनके सवत् इनका साम्राज्य नष्ट हो जाने पर भी जो कई शतकों तक चलते रहे उसका कारण यही है। अंग्रेजो का राज्य चले जाने पर भी हम उनके ख्रीष्टीय संवत् का उपयोग करते ही है। अस्तु।

चालुक्यों ने शक सवत् का उपयोग किया, तो भी वह सवत् उनका न होकर शकों का या शक राजाओं का था, ऐसा स्पष्ट निर्देश उन्होंने अपने सभी लेखों मे किया है। चालुक्यो का साम्राज्य द्वितीय पुलकेशी के राज्यकाल मे महाराष्ट्र, कोकण, विदर्भ, गुजरात और आंध्र प्रांतो मे फैला। इनमे से प्रथम चार प्रांतों मे उस समय आभीर किंवा कलचुरि सवत् का प्रचार था। चालुक्यवंशी राजाओं किंवा उनके मांडलिकों ने अपने आरंभ के लेखो मे उसी सवत् का उपयोग किया है। परंतु पीछे वे धीरे-धीरे अपने अधिक परिचित शक सवत् का उपयोग करने लगे। सौ डेढ सौ वर्षो की अवधि मे इन प्रांतो से कलचुरि संवत् का पूर्ण रूप से लोप हो गया। पूर्व मे आंध्र प्रांत मे उसका प्रचार चालुक्यो के राज्य के आरंभ से था ही। आंध्र देश के उत्तर कलिंग देश मे गांग संवत् प्रचलित था जो ई० दशवी शती पर्यंत रहा। ग्यारहवी शती मे वहाँ भी शक सवत् का प्रवेश हुआ। पीछे ई० चौदहवी शती में विजयनगर के राजा ने पहलेपहल उसे 'शालिवाहन शक' नाम दिया और इस प्रकार उसका संबंध शालिवाहन नाम के प्राचीन राजा से जोड दिया। तभी से हम उसे शालिवाहन शक (संवत्) कहते है।

इस प्रकार इस शकसंवत् का प्रसार नर्मदा के दक्षिण के अनेक प्रदेशों मे हुआ।

वैदिक प्रार्थनाओं का स्वरूप

धीरेंद्र वर्मा

किसी भी देश के निवासियों की धार्मिक प्रार्थनाओं से वहाँ के लोगों के जीवन संबंधी आदर्शों का पता चल सकता है। भारतवर्ष के धार्मिक इतिहास के भिन्न-भिन्न कालों में भी प्रार्थनाओं का रूप भिन्न भिन्न प्रकार का मिलता है। यहाँ अपने केवल वैदिक कालीन पूर्वजों की प्रार्थनाओं के स्वरूप का संक्षिप्त परिचय दिया जा रहा है।

वैदिक कालीन प्रार्थनाओं की सब से बड़ी विशेषता यह है कि उनका दृष्टिकोण पारलौकिक न होकर इस लोक से संबंध रखता है। उनमें मृत्यु के बाद मोक्ष, स्वर्ग, वैकुंठ, निर्वाण आदि की प्राप्ति की इच्छा प्रकट नहीं की गई है, बल्कि इस लोक में जीवनकाल में सुख देनेवाली वस्तुओं की प्राप्ति की प्रार्थना की गई है।

इस लोक की सामग्री में भौतिक पदार्थों का स्थान प्रमुख है। अनेक वैदिक मंत्रों में गौ, अश्व सुवर्ण, अन्न, धन, जौ, तेल, घृत आदि के संबंध में प्रार्थना की गई है। गौओं से दूध घी के अतिरिक्त अन्य वस्तुएँ भी बदले में मिल सकती थीं। सुवर्ण से आभूषण और रत्न आदि बनते थे और अन्य प्रकार की सामग्री खरीदने का काम भी कदाचित् लिया जाता था। घोड़े युद्ध में काम आते थे, रथों में जोते जाते थे तथा उस समय हल चलाने में भी शायद इस्तेमाल होते थे। घर में प्रचुर अन्न, घी, तेल, आदि खाद्य पदार्थों का होना संपन्नता का द्योतक है ही। इस प्रकार की वैदिक प्रार्थनाओं के कुछ रोचक उद्धरण नीचे दिए जाते हैं —

"हे इंद्र मेरा मन जौ, गौ, सुवर्ण अश्व का अभिलाषी होकर तुम्हारे ही पास जाता है।"
"हे इंद्र तुम हमें गाय, अश्व और तेल दो, साथ ही मनोहर और सोने के अलंकार भी दो।"
"शूर इंद्र, पुरोडाश को स्वीकार कर हम सौ और सहस्र गाएँ दो।" [1]

---

[1] त्वामिद्ध्यवयुर्मम कामो गव्युर्हिरण्ययुः। त्वामश्वयुरेषते॥
आ नो भर व्यञ्जनं गामश्वमभ्यञ्जनम्। सचा मना हिरण्यया॥
पुरोडाशं नो अन्धस इन्द्र सहस्रमा भर। शता च शूर गोनाम्॥
— ऋ० ८।६७।९,२,१

"हम स्तोता गौओ की अभिलाषा करते है, अश्वों की अभिलाषा करते है, अन्न की अभिलाषा करते है और स्त्री की अभिलाषा करते है।"[२]

"हे उषा, हमे गौ, वीर, और अश्व सहित धन दो। हमे वहुत अन्न दो। पुरुषो के वीच हमारे यज्ञ की निन्दा नही करना। तुम हमारा सदा स्वस्ति द्वारा पालन करो।"[३]

"हे उषा, आप अश्वो से युक्त, गौओ से युक्त, वीरपुत्रो से युक्त, सुखकारी मेरे घर को प्रकाशित करे। घी से परिपूर्ण करती हुई सव प्रकार से पुष्ट होकर आप स्वस्तिकारक होकर हमारी रक्षा करे।"[४]

परिवार तथा देश की शक्ति वुद्धिमान, सच्चरित्र स्वथ और वलिष्ठ पुत्रो से होती है, इस कारण से अनेक मत्रो मे पुत्रों की कामना भी की गई है। स्त्री का विशेप महत्व भी वीर-प्रसविनी होने का कारण ही था। इसी दृष्टिकोण से प्राय. स्त्री की भी अभिलाषा की गई है :—

"हे इन्द्र, तुम हमे स्तुतिपरायण, देवताओ मे विश्वास करने वाला, महान्, विशाल-मूर्ति, गंभीर, सुप्रतिष्ठित, प्रसिद्ध ज्ञानी, तेजस्वी, शत्रुदमनकर्त्ता, पूज्य और वर्षक पुत्ररूप धन दो।"

"हे इन्द्र, अश्वयुक्त, रथी, वीरसंपन्न, असख्य गौओ आदि से युक्त, अन्नवान, कल्याण-कारी सेवको से युक्त, विप्रो से वेष्टित, सव की सेवा करने वाला, पूज्य और वर्षक पुत्र-स्वरूप धन हमे दो।"[५]

"हे अग्नि, हम सूने घर मे नही रहेगे, दूसरे के घर मे भी नही रहेगे। हम पुत्र रहित और वीर रहित है। तुम्हारी परिचर्या करते हुए हम प्रजा से संपन्न घर मे रहे।"[६]

---

२. गव्यन्त इन्द्रं सख्याय विप्रा अश्वायन्तो वृषणं वाजयन्त।
जनीयन्तो जनिदामक्षितोतिमा च्यावयामोऽवते न कोशम्॥
ऋ० ४।१७।१६

३. नू नो गोमद्वीरवद्धेहि रत्नमुषो अश्वावत् पुरुभोजो अस्मे।
मा नो वर्हि. पुरुषता निदे कर्यूय पात स्वस्तिभि. सदा नः॥
ऋ० ७।७५।८

४. अश्वावतीर्गोमतीर्न उपासोवीरवती' सदमुच्छन्तु भद्रा.।
घृतं दुहाना विश्वतः प्रपीता यूयं पात स्वस्तिभि. सदा नः॥
अ० ३।१६।७

५. सुब्रह्माणं देववन्त वृहन्तमुरुं गभीरं पृथुवुध्नमिन्द्र।
श्रुत ऋषिमुग्रमभिमातिषाहमस्मभ्यं चित्र वृषण रयि दा'॥
अश्वावन्त रथिन वीरवन्त सहस्रिण शतिन वाजमिन्द्र।
भद्रव्रात विप्रवीर स्वर्षामस्मभ्य चित्र वृषण रयि दा.॥
ऋ० १०।४७।३,५

६. मा शू ने अग्ने नि षदाम नृणा माशेपसोऽवीरतापरि त्वा।
प्रजावतीषु दुर्यासु दुर्य॥
ऋ० ७।१।११

किन्तु ससार के समस्त सुख निसार हैं यदि मनुष्य स्वस्थ, नीरोग और दीर्घजीवी न हो। इसी कारण अनेक मत्रो में स्वस्थशरीर के साथ लबी आयु की प्रार्थना की गई है —

"हे रुद्र, हम तुम्हारी दी हुई सुखकारक औषधि के द्वारा सौ वर्ष जीवित रहें। हमारे शत्रुओं का विनाश करो, हमारा पाप पूर्णरूप से दूर कर दो और सर्वशरीरव्यापी व्याधि को भी दूर कर दो।" ७

"हे सोम, हमें मृत्यु के हाथ में नहीं देना, हम सूर्य का उदय देखते रहे, हमारी वृद्धावस्था दिन दिन सुख से बीते, निर्ऋति दूर हो।" ८

"हम सौ वर्ष देखें, सौ वर्ष जिएँ, सौ वर्ष सुनें, सौ वर्ष बोलें, सौ वर्ष दीनता रहित रहें तथा सौ वर्ष से अधिक भी।" ९

"मेरे मुख में बोलने की शक्ति रहे, नासिका में प्राण बराबर चलें, आँखों मे देखने की शक्ति रहे और कानो मे सुनने की शक्ति रहे। मेरे बाल सफेद न हो, दाँत न गिरें और मेरी भुजाओ में बल रहे।

'मेरी पिंडलियो मे बल रहे, जाघो में वेग रहे, पैरो में खडे होने की शक्ति रहे। मेरे समस्त अग कष्टरहित हो और मेरी आत्मा सताप रहित रहे।" १०

निम्नलिखित मत्रो मे उपर्युक्त भाव फुटकर ढग से बिखर पडे है किंतु प्रत्येक मत्र की प्रार्थना का चरम उद्देश्य इस जीवन मे सुख, ऐश्वर्य और समृद्धि की प्राप्ति से है —

"हे इन्द्र, हमें उत्तम धन दो, हमें निपुणता की प्रसिद्धि दो, हमे सौभाग्य दो, हमारा धन बढा दो, हमारे शरीर की रक्षा करो, वाणी में मिठास दो और दिनो को सुदिन करो।"११

---

७ त्वादत्तेभी रुद्र शन्तमेभि शत हिमा अशीय भेषजेभि ।
व्यस्मद्द्वेषो वितर व्यहो व्यमीवाश्चातयस्वा विषूची ॥
ऋ० २।३३।२

८ मो षु ण सोम मृत्यवे परा दा पश्येम नु सूर्यमुच्चरन्तम् ।
द्युभिर्हितो जरिमा सू नो अस्तु परातर सु निर्ऋतिर्जिहीताम् ॥
ऋ० १०।५९।४

९ पश्येम शरद शत जीवेम शरद शत ७ शृणुयाम शरद शतम् ।
प्रब्रवाम शरद शतमदीना स्याम शरद शत भूयश्च शरद शतात् ॥
य० ३६।२४

१० वाड्म आसन्नसो प्राणश्चक्षुरक्ष्णो श्रोत्र कर्णयो ॥
अपलिता केशा अशोणा दन्ता बहु बाह्वोर्बलम् ॥
ऊर्वोरोजो जड्घयोर्जव पादयो ।
प्रतिष्ठा अरिष्टानि मे सर्वात्मा नि भृष्ट ॥
अ० १९।६०

११ इन्द्र श्रेष्ठानि द्रविणानि धेहि चित्ति दक्षस्य सुभगत्वमस्मे ।
पोष रयीणामरिष्टि तनूना स्वाद्मान वाच सुदिनत्वमह्नाम् ॥
ऋ० २।२१।६

"वरुण, मुझे किसी धनी और अभूत दानशाली व्यक्ति से अपनी दरिद्रता की बात न कहनी पडे। राजन्, मेरे पास आवश्यक धन का अभाव न हो। हम वीर पुत्र-पौत्रवाले होकर इस यज्ञ मे स्तुति करेगे।" १२

'हे इन्द्र, ऐसा करो कि मै समकक्ष व्यक्तियो मे श्रेष्ठ होऊँ, शत्रुओ को हराऊँ, विपक्षियों को मार डालूँ और सर्वश्रेष्ठ होकर अशेष गोधन का अधिकारी बनूँ।" १३

"हे अग्नि, हमे निसतान नही करना, बुरे वस्त्र न देना, कुबुद्धि नही देना। हमे भूखा न रखना, हमे राक्षस के हाथ मे न देना। हे सत्यवान अग्ने, हमे न घर मे मारना, न वन मे।" १४

"हे ग्रीष्म, हेमंत, शिशिर, वसत, शरद तथा वर्षा, हमे सुख दो। हमारी गौओ और संतान को सुख प्रदान करो। हम सदा उपद्रवों से रहित इन ऋतुओ के अनुकूल घर मे निवास करे।" १५

उपर्युक्त प्रार्थनाएँ वैदिककाल के प्रारंभिक समय की प्रतिनिधि है। ऋग्वेद की अधिकाश प्रार्थनाएँ इसी प्रकार की है। किंतु संस्कृति के विकास के साथ भौतिक स्तर से मानसिक स्तर की ओर झुकाव मिलने लगता है। सासारिक सुख और वैभव ने मन और मानसिक अभिलाषाओं को कदाचित कलुषित करना प्रारभ किया होगा अत. शुभ सकल्पो वाले मन तथा मानसिक शाति के महत्व की ओर हमारे पूर्वजो का ध्यान गया। इस प्रकार की प्रार्थनाओ मे यजुर्वेद का निम्नलिखित शिव-सकल्प-सूक्त सब से प्रसिद्ध है:—

"जो दिव्य मन जागने पर दूर-दूर भटकता है तथा सोने पर भी उसी प्रकार इधर-उधर जाता है, वह ज्योतियो का भी ज्योति, दूर जाने वाला, मेरा मन शिव-सकल्प वाला हो।

जिसकी सहायता से कर्मण्य, मनस्वी और धीर पुरुष युद्धों तथा यज्ञो मे कर्म करते है जो समस्त प्राणियों के भीतर अपूर्व यक्ष है, वह मेरा मन शिव-सकल्पवाला हो।

---

१२ माहं मघोनो वरुण प्रियस्य भूरिदाव्न आ विदं शूनमापेः।
मा रायो राजन्त्सुयमादव स्थां बृहद्वदेम विदथे सुवीराः॥
ऋ० २।२९।७

१३. ऋषभं मा समानाना सपत्नानां विषासहिम्।
हन्तारं शत्रूणां कृधि विराज गोपति गवाम्॥
ऋ० १०।१६६।१

१४. मा नो अग्नेऽवीरते परा दा दुर्वाससेऽमतये मा नो अस्यै।
मा नः क्षुधे मा रक्षस ऋतावो मा नो दमे मा वन आ जुहूर्थाः॥
ऋ० ७।१।१९

१५. ग्रीष्मो हेमन्त शिशिरो वसन्तः शरद् वर्षाः स्विते नो दधात।
आ नो गोषु भजता प्रजाया निवात इद् वः शरणे स्याम्॥
अ० ६।५५।२

जो ज्ञान साधन, चेतन स्वरूप और स्मरण शक्ति रखनेवाला है। जो प्राणियो के अंदर अमर ज्योति स्वरूप है तथा जिसके बिना कोई भी काय नही किया जा सकता है, वह मेरा मन शिव-सकल्प वाला हो।

जिस अमर मन की सहायता से यह भूत, वतमान, और भविष्य सब जाना जाता है, जिसकी सहायता से सात होता वाला यज्ञ किया जाता है वह मेरा मन शिव-सकल्पवाला हो।

जिसमे ऋक, यजु, साम उसी प्रकार प्रतिष्ठित हैं जैसे रथ की नाभि में आरे। जिसमें प्राणिया का समस्त ज्ञान पिरोया हुआ है, वह मेरा मन शिव-सकल्पवाला हो।

जैसे अच्छा सारथी रासो से घोडो को हाँकता है उसी तरह जो मनुष्यो को चलाता है। हृदय म प्रतिष्ठित, कभी भी वृद्ध न होनेवाला, अत्यत वेगवान वह मेरा मन शिव सकल्पवाला हो।" [१६]

अत में यजुर्वेद से दो वैदिक प्राथनाएँ दी जा रही हैं, इनमें प्रथम राष्ट्रीय प्राथना, पूव वदिक काल के दष्टिकोण की द्योतक है, तथा दूसरी उत्तर वैदिककाल की उस नवीन प्रवृत्ति की प्रतिनिधि है जिसका विशेष विकास भारतीय धार्मिक सस्कृति के बौद्ध-सुधार से लेकर भक्ति-सुधारो तक के मध्ययुग मे हुआ। पहली में शरीर और मन के सुख का भाव प्रधान है और दूसरी में मन और आत्मा की शाति का। प्रथम प्राथना निम्नलिखित ह —

"हे ब्रह्म, इस राष्ट्र में ब्राह्मण ब्रह्मवचसी पैदा हो, राजय शूरवीर, धनुधर, शत्रु को परास्त करनेवाले और महारथी पैदा हो। दुधारी गाएँ, खूब बोझ ढोनेवाले बल, तज घोडे और गृहस्थी चलाने में समथ स्त्रियाँ हों। इस यजमान के घर सभा में बठने के योग्य युवा वीरपुत्र पदा हो। जब जब हम कामना करें, तब तब मेघ बरसें, हमारी खेती फलवती होकर पके और हमारा योगक्षेम हो अर्थात् नया धन प्राप्त हो और प्राप्त धन सुरक्षित रहे।" [१७]

---

१६ यज्जाग्रतो दूरमुदैति दैव तदु सुप्तस्य तथैवैति।
दूरङ्गम ज्योतिषा ज्योतिरेकन्तन्मे मन शिवसकल्पमस्तु॥
येन कर्माण्यपसो मनीषिणो यज्ञे कृण्वन्ति विदथेषु धीरा।
यदपूर्वं यक्षमन्त प्रजाना तन्मे मन शिवसकल्पमस्तु॥
यत्प्रज्ञानमुत चेतो धृतिश्च यज्ज्योतिरन्तरमृतम्प्रजासु।
यस्मान्न ऋते किञ्चन कम क्रियते तन्मे मन शिवसकल्पमस्तु॥
येनेद भूत भुवन भविष्यत्परिगृहीतममृतेन सवम्।
येन यज्ञस्तायते सप्तहोता तन्मे मन शिवसकल्पमस्तु॥
यस्मिन्नृच साम यजूꣳषि यस्मिन् प्रतिष्ठिता रथनाभाविवारा।
यस्मिंश्चित्त ꣳ सवमोत प्रजाना तन्मे मन शिवसकल्पमस्तु॥
सुषारथिरश्वानिव यन्मनुष्यान्नेनीयतेऽभीशुभिर्वाजिन इव।
हृत्प्रतिष्ठ यदजिरञ्जविष्ठ तन्मे मन शिवसकल्पमस्तु॥
य० ३४।१–६

१७ आ ब्रह्मन् ब्राह्मणो ब्रह्मवचसी जायतामा राष्ट्रे राजय शूरऽइषव्योऽति

और दूसरी प्रसिद्ध प्रार्थना इस प्रकार है :—

"द्यौ शाति दे, अंतरिक्ष शाति दे, पृथिवी शाति दे, जल शाति दे, अन्न शाति दे, वनस्पति शाति दे, ब्रह्म शाति दे, सब पदार्थ शातिप्रद हों, शाति स्वय शाति दे, ऐसी शाति मुझे प्राप्त हो।"

प्रभूत धनधान्य, गौ, अश्व, सुवर्ण, पुत्र, स्वस्थ शरीर, दीर्घजीवन आदि के स्थान पर केवल मात्र मानसिक और आत्मिक शांति की खोज अपने देश की सस्कृति के इतिहास मे एक यग परिवर्तन का परिचायक है।
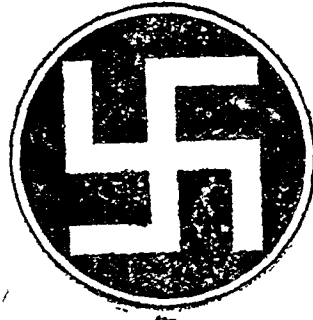
व्याधी महारथो जायतां दोग्ध्री धेनुर्वोढानड्वानाशुः सप्तिः पुरन्धिर्योषा जिष्णू रथेष्ठा सभेयो युवास्य यजमानस्य वीरो जायता निकामे निकामे नः पर्जन्यो वर्षतु फलवत्यो नऽओषधयः पच्यन्तां योगक्षेमो नः कल्पताम्। य० २२।२२

१८. द्यौः शान्तिरन्तरिक्ष ँ शान्तिः पृथिवी शान्तिराप शान्तिरोषधयः शान्ति। वनस्पतयः शान्तिर्विश्वे देवाः शान्तिर्ब्रह्म शान्तिः। सर्वं ँ शान्तिः शान्तिरेव शान्तिः सामा शान्तिरेधि। य० ३६।१७

पथ-पर

शम्भूनाथ सिंह

चल रहा सुनसान पथ पर मै अकेला,
छोड पीछे आ रहा रगीन मेला।

*

चादनी है, रात का पिछला पहर है
गीत मेरा और यह मेरी डगर है,
लग रहा सुखकर, युगो के बाद जैसे
आज मुझमें फिर जगी यौवन-लहर है।
छोडता मै जा रहा पथ के किनारे
चादनी के चित्र धरती पर सँवारे
चाद पश्चिम में झुका, प्राची क्षितिज पर,
द्वार तम के खोलता छिप-छिप उजेला।

*

मद पुरवाई बही, कुछ घिर गये घन,
खेलते है, चाद से, ये मुँदे लोचन,
किन्तु चौदस-चाद ने अब मुँह छिपाया
और क्षण में हो गया सब दृश्य नूतन,
ज्योति तम हैं नीर-क्षीर समान मिलकर
लग रहा आवृत अनावृत, सत्य सुदर
एक दुग्ध रहस्य सा लगता सभी कुछ
देखता मै भूल सब मन का झमेला।

*

प्रेत-छाया से खड़े ये वृक्ष सारे
रात है अब भी रुकी जिनके सहारे,
लग रहा अब सिंधु सा नीला गगन है
और नीचे सिंधु तल से खेत प्यारे,
ग्राम-पछी जागरण का स्वर सुनाता
स्वप्न है सुनसान का ज्यों टूट जाता
बढ रहा मैं, बढ़ रही है काल की गति
पास ही है नील-लोहित प्रात-वेला !

*

प्राण में अवसाद, पर गति है चरण में,
जा रहा अज्ञात भावी की शरण में,
यह थका जीवन चुनौती दे रहा है
देखना है शक्ति कितनी है मरण में।
किंतु पीछे खींचता कोई निरंतर
याद पर हिम-प्रश्न औ अगार उत्तर,
चल रहा आगे इसीसे पग बढाता
छोड़ कर पीछे प्रणय का खेल खेला !
चल रहा सुनसान पथ पर मैं अकेला
छोड़ पीछे आ रहा रंगीन मेला !

कवि और काव्य

राजेंद्र नारायण शर्मा

जीवन की अखंड अनंत चेतना काव्य के आनंद और रहस्य को नित्य धारण किए है। उसका शाश्वत उत्स वचनीय "स्वयंभू—सत्ता का मूल है।

जो सब का कारण है वह स्वयं अकारण है, क्योंकि उसका तो कोई कारण हो नहीं सकता। जो सब का आधार है, वह स्वयं निराधार है। निरपेक्ष है निरतिशय है।

निरपेक्ष ऐसे विश्वात्मा की देह से निकलकर उसीकी देह में फैले हुए इस प्रकाश जगत के कारण यदि 'ज्योतिषां ज्योति' चिदाकाशमय निरंजन ब्रह्म[1] है, तो काव्य[2] का उत्पाद्य चेतनाधार, नीलाभ्र से द्यौ तथा पृथ्वी (विश्वम्भरधारिणी) के अंतर और उसकी अवांतर दिशाओं में व्याप्त यह महाप्राण जीवन है। जो, (सत्व, रज, तम)—गुणत्रय के अविकल संयोग से बने (एक प्रधान भाव) सत् या सत्ताभाव में एकरस है तथा जिसकी चेतना से, जिसके संसर्ग से उत्पन्न चराचर सब जीवित है। जो संकल्प, स्पर्श, दृष्टि और माहात्म्यिका के द्वारा प्रकृति के असंख्य रूपों में प्रतिरूप होकर फैल रहा है। यह जीवन चिरंतन महाप्राण की, जगत्-पति की वह व्यक्तदशा है जो जन्म और मृत्यु की अवधि और अंतराल में सदा अनवच्छिन्न है। 'जीवन सर्वभूतेषु'—इस सूक्ति के उद्गायक आत्मा की उसीसे निकलकर फैली हुई यह सनातनी प्रवृत्ति या जीवनधारा[3] अनंत है। अविनाशी भी। नवल सर्ग में फिर फिर उगने के लिये जैसे फलाभूत यह लोक-वृक्ष अपने बीज रूपी कारण में संनिविष्ट होकर नष्ट नहीं होता वैसे ही इस महाव्यापी जीवन के गणनातीत भाव (Becomings) अपने सत् (Being) में पुनरावर्तन के लिये प्रस्तुत—सुदीप्त पावक में चिनगारी सदृश—केवल कुछ विश्राम कर लेते हैं, नाश को कदापि प्राप्त नहीं होते। विश्ववाङ्मय यह काव्य इसी विस्तार और

---

१ ब्रह्म—वह परम सत्तावान जो स्वयं सब का बृंहण, प्रसारण और संहरण करता है। 'सर्वेषां बृंहणम्' आदि से।

२ काव्य—विद्यमान यह साहित्य-सार।

३ Ancient and Infinite Energy of life

प्रकाशमान जीवन का भास है। सर्वव्यापिनी कल्याणी जीवन सत्ता की सर्वतोमुखी अभिव्यक्ति ही साहित्य सारभूत काव्य की आदि कल्पना और प्रथम विमर्श का आधार रही है। इसीसे प्राण का निरतन उद्गीथ काव्य भी जीवन के साथ-साथ अविनश्वर धर्मा हुआ। महर्षियो ने महत तेज की केंद्रित आदि जीवनसत्ता को जायमान साक्षात् हिरण्यगर्भ मानने और कहने में सकोच नही किया। द्योतनशील समस्त लोको के जनिता विश्व के अधिपति ने 'हिरण्यगर्भं' जनयामास'[1]—नयनाभिराम सौंदर्य, कल्याण[2] और उज्ज्वलसत्ता (चिति) के अविच्छेद्य समन्वय का अभिजनन किया। जिसका अभिजनन हुआ वही तो जीवन है। सर्व-दिशि-व्यापी इसी भाव (प्रसार) के पहले स्पद से प्रतिवीचियों सा प्रतिस्पंदित, अनंत काल से तथा अनत काल तक आगे भी, यह विश्व चिति परिपूरित और तरंगायित रहेगा। जगती की सत्ता-विश्लथ भावनाओ में महाचेतना के अजस्र सचार करनेवाले इस हिरण्यगर्भ—हितं रमणीयमत्युज्ज्वलं ज्ञान गर्भ अन्त.सारोयस्यतम्—(शकराचार्य्य) रमणीय चेतनाशाली जीवन को विश्ववागमय-काव्य की भूमिका पर अपने को अभिव्यवत करने के साक्षी-श्रुति साहित्य मे अनेक है। जन्म से इस प्राणी जीवन का अथ मृत्यु से इति या शेष होता है, ऐसा हम नही मानते[3]। हमारे ऋषि इसे अमृत का शाश्वत प्रवहमान निर्झर वताते है। शरीरात की जीर्ण वसन त्याग से उपमा देकर वे इसे अत्यत सरल और पुन उज्जीवन का नूतन वस्त्र ग्रहण करने की भावना से निर्वंधन कर अत्यत सुखमय वना गए है। काव्य इसी विश्वजीवन का सामाजिक रागोन्मेष है जो सव मे समानभाव से व्याप्त है। सर्वत्र सब ओर गतिशील है। कही सकल्प से प्रसुप्त कही उन्मेषशील। जीवन की विश्वपट पर यह रसपूर्ण अभिव्यजना ही प्रसरित होकर कविता सी सुदर वन जाती है। जीवन महाचेतना की निरंतर अभिव्यक्ति है। यत्रारूढ माया से जीवन को ब्रह्मावर्त मे चक्राकार घुमानेवाले जीवन देवता की विशुद्ध वह चेतना ही जीवन है (जीवन सर्व भूतेषु'।... 'भूतानामस्मिचेतना'—गीता) जो व्यापी विश्वात.करण (मनस, वुद्धि और अहकाररूपी अवयवो की क्रिया से संपन्न) के आश्रयभूत होकर तन्मात्रा के रूपो मे स्थिर पड़ी रहती है फिर जो नैसर्गिकी स्वेच्छावश स्वयम् परिस्फुटित (Manifest) होकर स्थूल तत्वो में अनत आकार ग्रहण करती है।

यह विश्व जिस आदि इच्छाशक्ति (कामना) का अभिव्यक्त रूप है तथा जिसके गुहागर्भ मे उसके सर्गावस्था से पूर्व निहित रहने और कल्पातर मे पुन अतर्लीन होने की कल्पना श्रुतियो ने की है, अवकाश पटल पर इतस्तत. उसी चिद्भावना के प्रकटीकरण से जीवन परिलक्षित होता है। किसी भी निर्मित आकार की भावना पहले मन मे होती है फिर उसके उद्गौरण से वाह्य मे रूप ढलता है। जिस प्राणमय से—जातानि जीवति (तैत्ति० ३।१।) अभिजात सभी जीवित है वह भी मन की क्रिया द्वारा ही शरीर मे आता है। अथवा वह अंतर बीजरूपी मनोमय ही वाह्य मे शरीर मय हो जाता है। * मन के अयन मे, संकल्पो के सहारे सारी सृष्टि-रूप धरती है। जव कुम्हार के मन मे घट आदि के साँचे की कल्पना पहले से (निर्माण-कर्म से पूर्व) प्रधान (आकृतिमयी) रहती

---

१. श्वेताश्व० उपनिषद ४॥ २॥

२. हित—शिवं, रमणीयम्, सुन्दरम्।

३. अव्यक्तादीनि भूतानि व्यक्त मध्यानि भारत। अव्यक्तनिधनान्येव—"गीता"
एक अग्रेजी सूक्ति भी–Birth is not the beginning of life nor the death its ending. Birth and death begin and end only a single chapter in life's story.

* मनोकृतेनायात्यस्मिन्शरीरे।—प्रश्नोपनिषद ३।३।

है तब मिट्टी और जल के सयोग म उसका कलश रूप धारण करना केवल गौण क्रिया या मूल विषय का अनुवाद मात्र ही कहा जा सकता है। सृष्टि का अभिरुचित प्रत्येक रचना के सबध में प्राय यही सिद्धात सत्य उतरता है।

यदि इस जगत का कोई कवि या कर्ता न मानें तो फिर कुम्हार के बिना घडे और चित्रकार के बिना चित्र की भी असभव कल्पना करनी पडेगी।

जगतो यदि नो कर्ता कुलालेन विना घट
चित्रकार विना चित्र स्वत एव भवेत् तदा॥

जसे कुलाल (स्रष्टा) और मिट्टी के बिना घट, चित्रकार और तूलिका के बिना चित्र, साधक और साधन के अभाव में वस्तुसाध्य अथवा ज्ञाता और ज्ञान के बिना पदार्थ ज्ञेय वैसे ही कवि और कवनीय (वर्णनीय) जीवन के बिना काव्य की कल्पना निराधार है।

प्रकृति विकास की तत्व-दृष्टि में कवि सर्वव्यापी जीवन की अविहित (वद-मुग) चिदवस्था का मूल स्फुरण हेतु है। जिसके अभाव में काव्य का भाव (कवनीय काव्य, तस्य भाव काव्यत्वम्) काव्य न ही शेष नहीं रह जाता। इसलिये "कवि कौन है?" यह प्रश्न विचार में सब से पहला होगा।

यह नित्य और अनत गतिशील विश्व जिसके सवेदनो की छाया है। जो चद्र सूर्य में उज्ज्वल प्रभा, अग्नि म तेज, अनिल-तिमिर के एकाश्रय आकाश का शब्द-प्रतिसाधर (शब्द खे-गीता।) व्यापी ब्रह्म है। जिसकी प्रसरणशील प्रतिभा विभूति में विवतमान समस्त (वाङ्मय) काव्य गीतादि उत्पन्न होकर सनातनी चेतना की भाति जगत में फैल रहे है। जिसके ही प्रतिभासन (चमकने) म विश्व का भासमान प्रत्येक द्रव्य (विद्युत, तारा, ग्रहदीपमाल) प्रतिभासित ह। चिन्मरस काव्य यह समृति जिसकी स्निग्ध सुदर ज्योत्स्ना है वह कलातीत पूर्णप्रतिभामडल मयर परमात्मा पहला कवि है। वह श्रुतियो में "कविर्मनीषी परिभू स्वयभू' कहा गया है। यहाँ कवि और मनीषी ज्ञानात्मकतया अभिन्न धर्मा होने से एक ही आसन पर या 'एकमेव सत्य' है।

कवि शब्द 'कुङ्' धातु से बना है जिसका अर्थ है—कू (कूजन) या शब्द (सृष्टि) करनेवाला —कवते कुङ शब्द 'अचइ' इत्यनेन इ कौति इनिवा—) सि० कौ०। कु शब्द व्यापार है। फिर आकाश में शब्द वही है जो जल में रस है, रवि में तेज है। शब्द वियद्व्यापी सत्ता है। जिसका व्यापार ध्वनन है। आत्मा मे आकाश की सत्ता है, उसका प्रादुर्भाव है। जैसे सुवर्ण से बना पदार्थ शाश्वत सुवर्ण ही रहता है उसमें अविराम सुवर्ण की व्यापकता होती है, वैसे ही इस महाकाश में आत्मा Subjective Brahman (ब्रह्म का अनभिव्यक्त स्वरूप) शब्द गुण से सवत ओत-प्रोत है। आत्मा का निरुपाधिक मूलत्व जब ब्रह्म होकर विश्व का बृहण और प्रसारण करना है तो उसे भी महदाकाश में क्रम से अपनी अभिव्यजना के लिये ईश्वर-हिरण्यगर्भ—या सूत्रात्मा और विराट होकर आकाश, अनिल और तेज का रूप धारण करना पडता है। किंतु यह सब व्यापार सोपाधिक आकार ग्रहण करने पर ही सभव है। और सूत्रात्मा या रचनाकार के वाचक उस चित्-आकाश तत्व की प्रतिमा या आकृति ही तो यह विश्व है। कुछ विद्वान 'कुङ्' (Sound made manifest) से गति का अर्थ भी लगाते हैं। किंतु उसमे भी हम उसी अभिप्राय पर पहुँचते हैं। गति महाचेतना है। प्राणात्मा निस्पद रहकर अपने को प्रगट नहीं कर सकता। उसमें गति, स्पद का समुदय ही विश्व के

प्रत्यालीढपदस्था बौद्ध देवी मारीचि (ऊषा) की मूर्ति

उत्तर मध्यकाल (ई० ९वीं—१०वीं शती)

मगध-कला

गया से प्राप्त

—लखनऊ संग्रहालय

यत प्रसूता जगत प्रसूती तोयेन जीवान्व्यससर्ज भूम्याम्।
यदोषधीभिः पुरुषान्पशूंश्च विवेश भूतानि चराचराणि॥
अत परं नान्यदणीयस हि परात्परम् यन्महतो महान्तम्।

एक वा ह। जो स्वय 'महान' कवि है। मन का प्रेरक है। एक मत है'—कवि शब्द 'कवृ' धातु से बना है। जिसका यौगिक अर्थ है—विस्तार करनेवाला, वर्णनकर्ता आदि। किसी भी पदार्थ का विस्तार या वर्णन करने के लिये क्षमता या शक्ति की अपेक्षा होती है। वर्णन भी, विस्तार भी दो प्रकार का होता है। एक तो समक्ष, देखी हुई प्रत्यक्ष वस्तु का और दूसरा न देखी हुई, अप्रत्यक्ष या परोक्ष वस्तु का। प्रत्यक्ष वस्तु का विस्तार करने, समझाने या बोध कराने में कोई कठिनाई नहीं पड़ती। योग्यता और न शक्ति विशेष के व्यय की ही आवश्यकता पड़ती है। अप्रत्यक्ष वस्तु के सम्बन्ध में कुछ जानने के लिये कल्पना का सहारा लेना पड़ता है। यहीं कवि की कल्पना और साधारण मनुष्य (अकवि) की कल्पना का अन्तर लक्षित होता है। साधारण पुरुष की कल्पित वस्तु की भांति कवि द्वारा कल्पित वस्तु निरी कल्पना न प्रतीत होकर तात्विक जान पड़ती है। ऐसी प्रखर कल्पना होती है प्रतिभा से। और प्रतिभा उत्पन्न होती है (मूल) शक्ति से। जिससे ही उचित (सत्), अनुचित के विवेक स्वरूप व्युत्पत्ति की भी उत्पत्ति लोक प्रसिद्ध है। यह शक्ति वही कवित्व-बीज-रूप संस्कार विशेष है जिसके बिना प्रकाशकार (मम्मट) ने काव्य के तीन मुख्य उत्पादक हेतु* (शक्ति, काव्यशास्त्राद्यवेक्षणात् निपुणता, और काव्यज्ञान विषयक शिक्षा का अभ्यास) या कारणों में पहला स्थान दिया है। कवि की इसी उपनिषद् (रहस्य) शक्ति से प्रादुर्भूत प्रतिभा और व्युत्पत्ति दोनों मिलकर काव्य का अविरल विकास करती है। यह शक्ति सब में नहीं पायी जाती, कवित्व की सहज प्राप्ति हो जाने पर भी। 'कवित्वं दुर्लभं लोके शक्तिस्तत्र सुदुर्लभा।'

बुद्धिमत्ता और काव्यांग का अभ्यास भले ही हो पर वहीं इस मौलिक शक्ति के समन्वय से पदार्थ त्रय का एक स्थल पर संयोग विरल ही होता है।[1]

कवि की यही रहस्यशक्ति वह विशुद्ध उन्मीलन कला है जो प्रतिपल विराट के निसर्ग-सम्पुट से एक विश्व का उन्मीलन किया करती है। यह जगत का सदा श्रेय संपादन करनेवाली, जड़ता का अपकार हरनेवाली, चेतना की, ज्ञान की, विमलबुद्धि (प्रज्ञा) की वह शाश्वत धारा है जो जीवन और मन का संस्कार करती न जाने कब से अपनी पावनी राग-रस की छलकती प्रवाहिका से जगती का अपुण्य प्रक्षालन करती चली आ रही है।

शक्ति की जिस कला के द्वारा कवि, काव्य-कर्म करता है वही प्रतिभा है। इसे 'नव नव उन्मेषशालिनी प्रज्ञा' भी कहते हैं। शब्द प्रति और भा है। प्रति का अर्थ है मुख्य के समान, प्रतिनिधि और '—भा'[2] के अर्थ हो सकते हैं[3] छवि, दीप्ति (चमक) भास अथवा व्यक्ति। जिससे

---

* शक्तिर्निपुणता लोके काव्यशास्त्राद्यवेक्षणात्।
काव्यज्ञ शिक्षयाभ्यास इति हेतुस्तदुद्भवे॥—मम्मट

१ बुद्धिमत्वं च काव्यांग विद्यास्वभ्यास कर्मच, कवेश्चाप निपच्छक्ति स्त्वयमेकत्र दुर्लभा।—का० प्र०

२ भा—'स्युः प्रभारुग्रुचिस्त्विड्भा भासश्छवि द्युतिर्दीप्तयः'—अमरकोश।

३ भा, दीप्तौ—पाणिनि।

प्रतिभा का अर्थ होगा मुख्य या मूल का सदृश भास या अभिव्यक्ति (Light or its manifestation) करानेवाली। जिससे नित्य नये नये विषय (शब्दार्थालंकारोक्त्यादयः) हृदय मे भासित, प्रतिभासित हो। और उनके पदार्थो के वास्तविक सत्य का प्रकाशन[1], समुदय जिसके द्वारा हो, वह अपूर्व वस्तु सृजन-सामर्थ्यवाली[2] प्रज्ञा प्रतिभा[3] कही जाती है। प्रज्ञा[4] वह तृतीय बुद्धि है जिसके द्वारा हमे भव्य की, भविष्य की आनेवाली बातो और विषयो का रूप-गोचर हो। ज्ञान हो। ज्ञातव्य अथवा ज्ञेय का (प्रकर्षेण, स्तूयते, ज्ञाप्यते ज्ञेय अनेन इति) ठीक परिज्ञान हो। नयी जो गहन आवरण के कारण पहले देखने मे न आयी हो ऐसी—बातो का अनुसंधान या पता लगाने मे प्रवीणा बुद्धि या उपमा के सहारे वह सदा नूतन आकार निर्मित करने की, नूतन विकास करने की चेष्टा मे प्रयत्नशील रहती है। उसे उच्छिष्ट या गायी हुई रागिनी प्रिय नही। जिन गुलाबी आखो की उपमा सहस्रो बार कवियो ने उत्फुल्ल अरुण जलज से दी उन्हे पुन. बारबार उन्ही सरसिजदृग, पद्मलोचन —कहकर उपमीत करना प्रतिभा को सह्य नही। वह तो रस प्रतीति की नयी अभिव्यंजना द्वारा ससार को काव्य-जगत की एक अनूठी उक्ति देने को उत्सुक होती है। प्रतिभा सदा नव-नव काति से विश्व का परिचय कराती है। वह तो नानाभाव या बहुधा शक्तियोग से फैले हुए व्यापी (एक, अविभक्त सत्य को समझाने, लोक को अवगत कराने के लिये नित्य अभिनव सिद्धांत सूत्रो का आविष्कार (अथवा अविहित का उन्मीलन) किया करती है। हमारे पूर्ववर्ती ज्ञानियो ने जिस एक सत्य विशेष को जिस प्रकार समझाया उसकी आवृत्ति करने अर्थात् उसी प्राचीन ढग से संसार को उसका ज्ञान कराने मे कोई नवीन कला नही, कोई अपूर्व सौदर्य नही, कोई अभिनव आकर्षण नही। अतः अच्छी से अच्छी नकल की क्रिया, प्रतिभा का कार्य नही। धी (बुद्धि) की इसी लोकत्रयी दर्शिका तृतीया धारा विश्व-चित् प्रज्ञा की प्रदीप्ति के लिये तथा सत्ता के उज्ज्वल उच्चतम-लोक (सत्य-लोक) से ऊँचे उठ कर अपने मूल (Source) प्रकाश-निधि मे इसके निमज्जन के लिये आर्य्य ऋषियो ने कितने सहस्र वर्ष पहले सर्वव्यापी चैतंन्य और ज्योति के अधिष्ठाता से वह प्रार्थना की थी जिससे अधिक मगल-सार-गर्भित एवं सुदर विनय विश्व—वाङमय मे आज भी दुर्लभ है। तथा जिसे बिना समझे बूझे शुकवत् कितने जन निरंतर प्रातः सायं दुहराते है।

'भूर्भुव.स्वः तत्सवितुर्वरेण्य भर्गो देवस्य धीमहि धियो यो नः प्रचोदयात्।' *

वह 'भूर्भुव. स्व.' ऊपर नीचे मध्यातरिक्ष सर्वत्र व्याप्त, विश्व के एक 'सविता' (प्रसविता) उत्पन्नकर्ता 'देव' (द्योतनशील) भगवान का वरेण्यभर्ग' सर्वोत्कृष्ट (श्रेष्ठ) आलोक अपनी अनत उज्ज्वलता मे 'न. धियो' हम सब की महा-मेधा प्रतिभा या स्फुरणशालिनी शुभ प्रज्ञा को 'प्रचोदयात्' प्रेरित करे। या मिला दे (उसीमे) एक कर दे।

---

१. Exhibition

२. 'अपूर्व वस्तु निर्माण क्षमा प्रज्ञा प्रतिभा'—अभिनव गुप्त।

३. अगरेजी मे—Intuitive faculty; Poetic sense: Genious; Imagination कहते है।

४. बुद्धि: स्मृति—जिससे अतीत (वस्तु) का ज्ञान हो।
मति—जिससे वर्तमान का ज्ञान हो।
प्रज्ञा—जिससे आगामी-भविष्य का ज्ञान हो।

*"We meditate on the Glory of That Being Who has produced this Universe let Him illumine our understanding"—विवेकानन्द।

जान पडता है स्रष्टा, महान कवि की इसी प्रतिभा को कही कही चिति के नाम से पुकारा गया है। यद्यपि चिति का अनुमित अर्थ अत्यत व्यापक और विराट मिलता है। ऋषि तो इस ज्ञान की अधिष्ठात्री विश्व रूपी देवी बताते है। विश्वरूपी अर्थात अग्नि (दाह, ऊष्मा) सदृश भुवा में प्रविष्ट होकर प्रत्येक वस्तु में उसी उसी विशेष आकृति से भीतर बाहर समायी और भरी हुई स्फूर्तिकला देवी। अन्तःकरण स्थिता (आराध्या) अथवा स्वात परिधि में निवास करनेवाली, शब्द (तैजस) अश-सभूता जगद्-मगल-कारिणी यह वही शक्ति-कला है जो अपनी उन्मीलन शक्ति से क्षण भर में विश्व का उन्मीलन करती है। जिसकी वदना, कवि कल्याण के लिये करता है।

यदुन्मीलन शक्त्यैव विश्वमुन्मीलति क्षणात्।
स्वात्मायतनविश्राता ता वन्दे प्रतिभा शिवाम्॥

'प्रत्यभिज्ञा हृदय' के आदि सूत्रद्वय द्वारा इसके (प्रतिभा-शक्ति के) स्वरूप की व्यजना और स्पष्ट हो जाती है। शब्द प्रवध में भी साम्य है। देखिये—

चिति स्वतत्रा विश्वसिद्धि हेतु ॥ १ ॥
स्वेच्छया स्वभित्तौ विश्वमुन्मीलयति। प्र० हृ०

अविकल आत्मशक्ति या चेतना[1] यहाँ प्रतिभा रूप से निर्विशेष मुक्त है। वह आनद स्पद-स्वय आत्मा की निर्मुक्त ज्योत्स्ना है। मुक्ति-किरण है। अन्यदीय इच्छा के द्वारा उसका सचालन नही होता। वहा कम की परतत्रता नही है। वह (तो) अपनी विशद भाव-भूमिका पर इस विपुल रहस्यमयी विश्व-कलिका को (उदग्र) विकसित करने की प्रेरणा करती है। फिर विच्छिन्न बधन हुई जीवन-सुरभि विदिशाओ में व्याप्त होने को चल पडती है। महा-प्रतिभा (मनीषा[2]) वाले, सब प्रकार की प्रज्ञा के प्रथम उत्स (स्रष्टा) उस महान कवि की जगद्व्यापिनी जीवन-कविता की, अप्रगल्भमति वाले जो तत्वदर्शी इस स्वरूप में वदना करते है व स्वय मनीषी, कवि होते हैं। क्योकि ज्ञानी (ज्ञानबीज रूप सस्कार वाला) उपासक अपने इष्टदेव या उपास्य की जिस रूप में (तन्मय भाव से) सानुराग उपासना करता है वह उसी रूप को निश्चय प्राप्त होता है। वही हो जाता है।

तत्प्रतिष्ठेत्युपासीत। प्रतिष्ठावान् भवति। तन्मह इत्युपासीत। महान भवति। तन्मन इत्यु इत्युपासीत। मानवान् भवति॥ ९। ३।तैत्तिरीय उपनिषद्।

प्रज्ञा चेतना है। मनीषा है। इसीलिये काव्य-कवि और मनीषी में भेद नही माना गया। क्योकि दोनो में प्रतिभा उभयनिष्ठ है। रस प्रतीति एक है। वह आध्यात्मिक प्रज्ञा, भाव जगत का प्रतिभा (शास्त्रानुसार) दो प्रकार की मानी गयी है। एक भावयित्री दूसरी कारयित्री। कारयित्री प्रतिभा काव्य करानेवाली और भावयित्री उसका आस्वादन करानेवाली होती है। इससे रस चर्वणा और आनद ग्रहण-करने, उसका भाव धारण करने की क्षमता 'गीर्वारणावती मेधा' मनुष्या में उपन्न

---

१ अपनी स्वतत्र क्रिया या सुरुभ, निसर्ग-कल्पना द्वारा

२ बुद्धिर्मनीषाधिषणा धी प्रज्ञा शेमुषी मति।
प्रेक्षोपलब्धि चित् सविन् प्रतिपज्ज्ञप्ति चेतना ॥

अमरकोश।

होती है। कारयित्री प्रतिभा सत्शिक्षा के सहयोग से रचना प्रवीण भावना की सृष्टि करती है। जिससे कवि का तत् (रचना) संबंधी प्रधान कर्म संपादित होता है। शास्त्रीय विचार से आगे चलकर इसके[1] (प्रतिभा) भी तीन[2] भेद माने गये हैं। सहजा, आहार्य्या, औपदेशिकी। स्वाभाविकी, जन्मातर[3] के संस्कार से प्राकृतिक-रूपेण हृदय में वर्तमान प्रतिभा सहजा है। इस जन्म के संस्कार, प्रयत्न आदि से अर्जिता आहार्य्या और मंत्र शास्त्रादि के उपदेश द्वारा प्राप्त उपदेशिकी। इनमें सहजा सर्वोत्तम है।

जिन प्रतिभाओं के सहारे (सत्[4]) साहित्य (सहितयो[5] भावः, शब्दार्थयोः) की सृष्टि या रचना होती है उनके विचार से कवि भी तीन प्रकार के होते हैं। सारस्वत, आभ्यासिक तथा औपदेशिक।

प्रतिभा, विमलबुद्धि प्रज्ञा की देवी (या साक्षात्) सरस्वती है। मनीषी या प्रतिभावान के लिये अब भी रीत्यानुसार 'जिह्वा पर सरस्वती' जैसे विशेषण का स्वच्छंदता पूर्वक व्यवहार होता है। आनंदवर्धन ने भी 'महता कवीनाम् सरस्वती। अलोक सामान्यमभिव्यनक्ति प्रतिस्फुरन्तम्' इत्यादि के द्वारा वाणी रूपी ऐश्वर्य में अपने को प्रगट कर विस्तीर्ण करनेवाली उसी विशिष्ट प्रतिभा की ओर संकेत किया है जिसको लक्ष्य कर विद्वानो से भरी हुई महती सभा में चकित पंडितो के राजा[6] के संमुख सुकुमार वय वाले एक छोटे से कवि और मनीषी[7] ने, बलपूर्वक कहा था—'बालोऽहं जगदानन्द न मे बाला सरस्वती।" (शंकराचार्य्य)।

प्रतिभा स्वयंभूता सरस्वती है। (प्रकर्षेण भातीति) फिर, जन्मांतर संस्कार से प्रबुद्ध सरस्वती जिनकी ऐसे, नैसर्गिकी, सहजा प्रतिभा से संपन्न कवि सारस्वत कहलाते हैं। इस जन्म के विद्याभ्यास मननादि निरंतर प्रयत्न से अस्वयं जिनकी सरस्वती उद्भासित हुई हो वे अर्जित या आहार्य्य प्रज्ञावाले आभ्यासिक कवि होते हैं। तृतीय श्रेणी के निकृष्ट, जिन्हे कवि कहना भी धृष्टता है, औपदेशिक होते है। प्रथम ही सच्ची कवि पदवी का अधिकारी है। शेष केवल नाम के लिये है। अथवा शब्द अर्थ, अलंकार, उक्ति, रस शास्त्रादि गुणों या चमत्कारों में एक या दो के द्वारा वैचित्र्य भरा पाण्डित्य प्रदर्शन मात्र ही उनका (कवि-कर्म) कर्म अवशिष्ट रह जाता है जो अचिरस्थायी अश्रेयोपयोगी होने से वस्तु-तत्व का प्रतिपादन नही करता। फलत उपेक्षित और सहृदय-श्लाघ्य न होकर स्वल्प काल मे ही वे अपनी कृति समेत विलुप्त हो जाते हैं।

कवि शब्द के दो सम और सम्पृक्त अर्थ-विभाग शाश्वत रीति से किये जा सकते है। प्रथम और साधारण अर्थ में वह ऋषि सर्वज्ञ, द्रष्टा पण्डित (महा-मनीषी) और सूर्य है। उसीसे सायुज्य द्वितीय अर्थ में उसका वास्तविक और विशिष्ट स्वरूप है स्रष्टा (सृष्टिकर्ता); प्रकृति या मूल मे

---

१. कारयित्री।

२ उत्तम, मध्यम, निकृष्ट। क्रम से सहजा, आहार्य्या और उपदेशिकी।

३. By-birth—'प्रकर्षण भातीति—प्रतिभा।' एक यह भी मत है।

४. काव्य और शास्त्र भेदद्वय सहित।

५. शब्द और अर्थ का यथावत् सहभाव।

६. महा-पण्डित मण्डन मिश्र, काश्मीर। 'वे श्राद्ध-कर्म-रत थे।'

७. महा-मनीषी श्री शंकराचार्य्य। 'दिग्विजय के लिये प्रस्थित।'

रचयिता। वह (कवि) ऋषि (ऋषयो मंत्र द्रष्टारः) होकर श्रुति के मंत्र द्वारा प्रार्थना करता है त्रिभुवन ज्योति के पितामह से कहता है—'सत्य का द्वार, उसके (मुझ) अन्वेषक के लिये खोल दो।

हिरण्मयेन पात्रेण सत्यस्यापिहितं मुखम्।
तत्त्वं पूषन्नपावृणु सत्य धर्माय दृष्टये॥

हे जगत्त्रय के भरण-पोषण करनेवाले देवता! कल्याण और सौंदर्य के स्वर्णिम अंतराल में छिप-छिपे रहते हुए विश्व सत्य के दीप्त मुख मंडल का दर्शन के हेतु मेरे लिए अनावृत कर दो। ज्ञानी ही ऐसे आत्मदर्शन का प्रकृत अधिकारी होता है। सच्चा कवि केवल कलाकार ही नहीं कुछ और भी होता है। वह कुछ और, उसका ज्ञानात्मक अवयव[1] है। जो उसकी आत्मा को—कलाकार गायक, चित्रकार आदि की कक्षा से ऊपर बहुत ऊँचे ले जाकर उस पद पर बिठाता है जहाँ मस्तिष्क, बुद्धि और कला के चमत्कार पहुँच ही नहीं सकते। गायक गाता है—कवि के हृदय का राग। कवि की स्फुट हृदय-वेदना की पुकार पर चलने में कवि ने जिस प्रेरणा की सृष्टि की उसका संदेश लोक-को सुनाने में उसके (गायक के) कर्मों की सार्थकता है। चित्रकार भी कुछ क्षण के लिये कवि का अनुवर्तन कर कल्पना के सहारे चित्र अंकित करता है। तीनों अपनी अपनी प्राणात्मा स्वर, शब्द और रेखाओं में भर उसके उद्गीरण से जगत को तृप्त करते, हृदय को राग और रूप या रस में सींचते और मन का, चित्त का प्रसादन करते है। किंतु कवि तो विश्व की प्रकृति और प्रकृतिमय की, प्राण प्राणमय की, प्राणी प्राणी की—अंतरात्मा के सारभूत (ज्ञान) भावों का प्रतिनिधित्व करने से विशिष्ट और महान है। "कवि तु विशिष्यते।" उसकी दृष्टि पैनी ही नहीं—प्राणमयी अतिपैनी—भावुक होती है। कलाविदों और गायकों के सदृश उसकी कला के द्वारा जगत का केवल मनोरंजन ही नहीं होता। वह तो लोकमंगल के प्रसाधन करनेवाले प्राणधर छंदों का निर्माता—जिनमें इहलोक और परलोक की चिंताओं से मानव को मुक्ति मिले—ऐसे सुंदर मंत्रों[2] का कवि और द्रष्टा है।

वह पूर्णज्ञान की साक्षात् प्रतिमा (रूप-धर) है। उसका स्वरूप ज्ञान है और वह भी केवल ज्ञान का स्वरूप है। इसीलिये विमलतम, निर्धूत श्रांत चेतनावाला होते हुए भी, पतंजलि के शब्दों में, विश्वदर्शन करनेवाला (द्रष्टा) कहा गया है।—'द्रष्टा दृशिमात्र शुद्धापि प्रत्ययानुपश्य।'' [3]—योग सूत्र। किंतु वही द्रष्टा भी है दृश्य भी। दृश्य में ही द्रष्टा है। ज्ञान और ज्ञाता भिन्न नहीं है ठीक उसी प्रकार जैसे भास्कर भास या प्रकाश से भिन्न नहीं कहा जा सकता है।

प्रकाशमानो न पृथक् प्रकाशात
स च प्रकाशो न पृथक् विमर्शात्।

आत्मदर्शन प्रकृत कवित्व की प्राप्ति के लिये अनिवार्य है। जिसने प्रकृति में आत्मदर्शन नहीं किया वह विश्व की भावनाओं का प्रतिनिधित्व करनेवाला या सच्चा कवि (श्रेष्ठ मनीषी) कदापि हो नहीं सकता। आत्मदर्शन साधना का विषय है। और साधना का तात्पर्य यहाँ मानव मन की उस अविराम श्रेय चिंतना या ज्ञानात्मक प्रयत्न से है जिसमें न विकल्पादि की क्रिया है और न

१ Function या क्रिया।

२ मननात् त्रायते इति मन्त्र।

३ द्रष्टा The seen is intelligence only and pure, sees through the colouring of intellect

तर्क-बुद्धि का वहु-व्यापार। वह वितर्क और निर्लक्ष्य अनुसधान के क्षेत्र से परे होती है। क्योकि साधना के द्वारा साधक उस रमणीय सत्य की खोज करता है जो कभी 'अनेक' नही 'एक' है। गुणन और विभाजन के योग्य नही अविभक्त है। जो किसी भी दिशा[1] से किसी भी दशा मे परिवर्तन के, रूपातर के योग्य नही जिसमे[2] कुछ निकाल लेने[3] ग्रहण करने की कल्पना या क्रिया के द्वारा न कोई उसे तिलभर घटा सकता है और न कुछ उसमे मिलाकर कोई उसे वढा ही सकता है। जो अपने मे जिसका स्व यह विश्व है अत जो विश्व मे—निज सहज व्याप्ति से भरा हुआ इतना पूर्ण है कि प्रचुर गुणन, विभाजन योजन और वियोजन के बाद भी वह, वही रह जाता है। उसमे कमी नही होती।

ओम् पूर्णमदः पूर्णमिद पूर्णात्पूर्ण मुदच्यते
पूर्णस्य पूर्णमादाय पूर्ण मेवावशिष्यते।

ब्रह्म कहो चाहे सत्य कहो, है वह एक ही क्योकि उसकी सत्ता की व्याप्ति के बाहर कोई अतिरिक्त स्थान ही शेष नही, जहाँ कोई अन्य किसी के होने की कल्पना भी कर सके। ऐसे आपूर्यमाण और अचल प्रतिष्ठ सत्य को, श्रेय के लिये, आत्म समक्ष करने की निरतर चेष्टा साधक कवि की साधना है। जो ही कवि की मूल-प्रवृत्ति है।

प्रत्येक साधक द्वारा साधित क्रिया[4] की परिणति किसी स्थायी (सत्तात्मक) रमणीय मगल की सृष्टि मे होती है। जहाँ आत्मदर्शी साधक की क्रिया फलवती होकर, विचार स्फुट और पूत भावनाएँ प्रगट आकारवती होकर अपने आप कुछ सृष्टि-विधान की ओर अग्रसर होती है। तव साधक निरा साधक ही न रहकर रचनाकार का भी पदग्रहण करता है। नित्य सृष्टि और विलय-चक्र के विधानानुसार निखिल कर्म कामनाओ मे और कामनाएँ (मानव-पक्ष मे रस वर्जनाएँ) अंतर्मुखी हो ज्ञान-सिंधु मे गल पचकर अपनी पृथक स्थिति का रूप मिटा देती है[5]। फिर सर्गकाल मे उसी विश्व चक्र के प्रत्यावर्तन से अनुत्तरग स्थिर-जलनिधि मे सस्कार मात्र से वर्तमान उर्म्मियो के समीरणास्फालित पुनरुत्थान की भाँति—वे सब (क्रिया कामनाएँ) प्रतिवर्तित क्रम से शनै. शनै. प्रगट होती है। प्रगट होनेवाली वस्तु या द्रव्य की ये सत्ताएँ केवल वीज रूप सस्कार से पदार्थज्ञान की छाया वनकर कर्ता के सकल्पामक विराट मन मे विश्राम करती है। जो प्रसुप्त होकर सूक्ष्म भावनाओ मे अवशिष्ट रह गई, नवल विकास का कारण रचती है। साधक श्रेयमयी सौंदर्य-निर्माण पटुता के पदावरोहण से नवल सर्ग की कल्पना करता है। हृदय का सचित ज्ञान शुभेच्छा में और शुभेच्छा[6] क्रिया भाव मे परिणत होकर मध्य चिति केंद्र से अपनी कला का विस्तार करती है। धीरे-धीरे प्रवुद्ध चेतनाशाली मनीषी या द्रष्टा, स्रष्टा का व्यापार-सपादन करने लगता है उसकी मौलिक (मूलकी) अतर्दशा मे क्राति भले ही लक्षित न हो, जहाँ परिवर्तन होता

---

१. दिशा—Sides
२ जो अतिशय निरुपाधिक है।
३. निकाल लेने की—Substraction
४. शुभक्रिया।
५. 'सर्व कर्माखिलं पार्थ ज्ञाने परिसमाप्यते'।—गीता
६. शुभेच्छा—धर्माविरुद्ध काम या कामना।

भी नही—पर उसमे द्वितीय अवयव,—सत्य के आवरण पटल की ग्रथि के उद्ग्रथन द्वारा आत्मा अभिव्यक्ति का क्षेत्र जीर्णशीर्ण होकर निर्विकार रूप मे चिरनतनता (प्राचीनता या जडता के विरुद्ध विमर्श का) का उज्ज्वल मर्म वहन करता है। वह रूप और नाम के सहयोग से अपनी शक्ति के सचार द्वारा रचना प्रपच फैलाता है। तब हम अपने 'कवि' का रचयिता के रूप में देखते है जिसकी परिक्रिया अथवा इतिहास-कथा की गति[1] का समारभ (आदि) सर्वप्रथम सृष्टिकार से माना गया है।

आदि स्रष्टा या रचयिताओ की गणना के प्रसग में सब से पहले सृष्टि-कर्ता (परमात्मा) का नाम आता है। उसने सब से पहले इस आकाशपुज ब्रह्माड की रचना की। जिसमें पहले न अस्तित्व का पता था और न अनस्तित्व का। न नक्षत्र रहे और न लोक (न मटर था और न 'एनर्जी') एक आवरण था रहस्यमय[2] घने कुहासा का। जिसके भीतर न स्पष्ट मृत्यु का ही चिह्न था और न अमरता की छाया। दिन और रात्रि की, दिशा और काल की कल्पना भी अगोचर थी।

नासदासीन्नोसदासीत्तदानी नासीद्रजोनो व्योमापरोयत
किमावरीव: कुहकस्य शर्मन्नम्भ किमासीद्गहन गभीरम्।—नासदीय सूक्त।

तब रहा क्या? विचित और अविचित के अतराल में उस, रहस्य के सीपी सपुट में, प्रेम का चमकता हुआ मोती—ज्योति सागर समुद्र का अनत रमणीय रत्न, वह श्रुतियो का 'स अनिर्वचनीय प्रेम स्वरूप'—था। जिस भाव के द्वारा उसकी सत्ता और आकृति का भान होता है वह अकथनीय महाकामना या 'प्रेम' रहा। जिसके लिये वैदिक काल मे 'काम'[3] शब्द का प्रयोग आर्य ऋषियो द्वारा होता था।

"कामस्तदग्रे समवर्तताधि मनसो रेत प्रथम यदासीत्' साधारण प्रसग में स्वामी-सखा स्त्री-पुरुष के लिये सीमित और सकीर्ण अर्थ मे प्रयुक्त आजकल का प्रेम (शब्द) नही किन्तु वह आदि की सत्ता सम्यान विहीन एक अनिर्वच प्रेम, जो उसकी, अभीप्सा या आत्मा—महान की दिव्य-सत्ता का सार, प्रतिनिधि और स्वरूप है, उस समय था वह प्रेम, जिसका स्वय परमात्मा प्रतिमा-धर देव है। प्रतिमा से अर्थ उस प्रतीक से है जिसके द्वारा वस्तु अभीष्ट के मान महत्व की हृदय में प्रतीति हो (प्रतीयते विधीयते अनया इति) वैदिक काल में सर्वत्र 'काम' शब्द से अभिहित भगवान के मूल तदाभास उस प्रेम की छाया—प्रतिमा के पूर्वापूर्व में होने का पता ऋषियो को चला जो विश्व रूप अनादि कामना प्रसार उस, प्रथम कवि के द्वारा, अभिसर्जन का आधार हुई।

---

१ परिक्रिया पुराकल्प इतिहास गतिर्द्विधा
स्यादेक नायका पूर्वा द्वितीया बहु नायका।—इतिहास।

२ It was all rapped in mistry —(VIVEKANAND)

३ प्रेम जिस वैदिक 'काम' शब्द का पर्याय है यद्यपि उसकी व्यापक अर्थभावना का समावेश अपने अभिधेयार्थ में नही कर सकता तथापि कुछ विद्वान भाष्यकारो के द्वारा इसके निरतर परिवर्तित प्रयोग की परपरा से, अप्रयुक्त काम शब्द की महत्ता और लाक्षणिकता धीरे-धीरे कम हो गई। तथा इसका (प्रेम) प्रचार God is Love और Love is God के नये अनुवाद के साहित्य में दीख पडता है। इसका ही व्यवहार साहित्यक चर्चा के उपयुक्त प्रतीत होता है।

असृजित सर्गावस्था की स्पंदनविहीन, विकल्प रहित मुद्रा में स्थित उस प्रथम सृष्टिकार में, तपस् की महान शक्ति से वह 'एक' प्रगट दिखाई पड़ा, आत्मदर्शी में अपने 'स्व' के प्रत्यक्ष देखने और जानने की अभीप्सा का प्रादुर्भाव हुआ। मैं—सब भावो का समन्वय व्यवधान (यह)—मैं क्या हूँ इसी कामना से सृष्टि-निर्माण की प्रवृत्ति या लीला-विग्रह की कामना का उदय हुआ। 'मैं' क्या 'यह' हूँ इस भावना से उस कवियो के कवि ने अपनी रचना (कविता) में अपने को व्यक्त किया। तब से नाना रूपो और रगों में अब तक अभिव्यक्त करता चला आ रहा है। अगणित बार उसने अपनी ही लालित्य-व्याख्या की। प्रेम मीमांसा की सुदर से सुदर अपने नवल सस्करण—अणोरणीयान्महतो महीयान—निकाले। फिर भी उसे अपने मंगलकारी अथ (सत्यस्वरूप) की इति (सौंदर्यपरिणति) न मिली। न कभी मिल सकती है। क्योकि वह तो स्वय सीमाविहीन है। सृष्टि क्रम के पूर्व कदाचित् वह भी इस भेद को अलग से जान सकने की दशा में था यह भी संदिग्ध है। क्योकि निर्गुण में ज्ञान, इच्छा या क्रिया के भाव का आरोप हो नही सकता। आनंद मूल सौदय की चेतना से स्पंदित स्वयं प्रेम का प्रवर्तक, आदि कवि बनकर, गुहाशय स्थित इस रहस्य को जान सका। रहस्य का ज्ञान हो जाना ही उसका पुट भेद है। तब निर्विकल्प-मुद्रा (सर्गावसर की) अनुवृत्ति से अर्ध-निमीलित संकल्प-चक्षु की दशा मे ही उस महान स्रष्टा ने निसर्ग-उद्भूत सिसृक्षा के द्वारा ऐसा 'ईक्षण' किया।[१] स्वभावतः (सानंद-निष्प्रयास) ऐसी सहज कल्पना की—"मैं कुछ सृजन करूँ"[२] [३]और उस अनत ज्ञानमय और सब ओर से प्रकाशित परम-चैतन्यकी शक्ति के तेज से चिरतन-ज्ञान (काव्य) वेद और स्थूल और सूक्ष्म जगत की कारण रूप प्रकृति (वाह्य-सत्ता) स्वय उत्पन्न हुई स्पदन से आवरण-मुक्त-महाप्रलय-परमाणु-स्वरूप भूमिस्थ-समुद्र और ऊर्ध्व में (हेतु) आकाशस्थ मेघ रूप जलसागर उत्पन्न हुए।[४] अखिल विश्व को सहज (ईषत्) ही स्ववश में रखनेवाले उस अनंत रमणीय ने अधः उपरिस्थ उन निर्मल जल और ज्योति पुजो का सृजन किया। फिर दिशा-काल के विभाग दिवसरात्रि[५] तथा वर्ष आदि उत्पन्न करनेवाली गति को प्रेरित किया। उसे आगे बढाया।" —इस भाँति उस कलाकार ने वाह्य में अपने अंतस्थ का प्रकटीकरण किया। सृष्टि रहस्य-पुट सी स्तर प्रतिस्तर खुलने लगी। विराट अपनी रचना में स्वयं उतर पड़ा। श्रुति के 'आत्मानं स्वयं अकुरुत' और कृष्ण के 'तदात्मान सृजाम्यहम्' से यह स्पष्ट है कि अन्यदीय उपकरण या तत्व से वह सृजन नही करता प्रत्युत स्वकीय (निजस्व)[६] अश के अंशाश से निर्माण क्रिया का परिशीलन करता है। उसकी आनद अभिकंपन प्रेरणा से सर्वभूत गुहा-शयी लीला विग्रही (मायामयी) अंतः सत्ता ("मूलप्रेम" सत्ता) स्वयं अपनी अभिव्यक्ति करती है। यही उस कवियो के कवि की काव्य लीला है,

इति प्रथम खंड

---

१. प्रजाकामो वै प्रजापति ...।"–. Was desirous of creation or कल्प"

२. स [Supreme Soul] इक्षत लोकान्न सृजा इति। ऐतरेय १।१ "स इक्षां चक्रे"

३ एक सादृश्य And God said : Let there be Light : and there was Light."–BIBLE.

४. "ऋत च सत्य चा भीद्धात्तपसोऽध्यजायत। ततो रात्र्यऽजायत समुद्रो अर्णव.। समुद्रादर्णावादधि संवत्सरो अजायत। अहोरात्राणि विदधत् विश्वस्यमिषतो वशी।"–ऋ० ०।१०।२०२।।

५. BIBLE मे भी–And God divided Light from the darkness [Day from Night]

६. 'He creates out of Himself.'—Upnisad,

'रसलीन'

गोपाल चंद्र सिनहा

उपोद्घात

'रसलीन' के नाम व उनके दोहों के रस-माधुर्य से हिंदी-संसार भली भाँति परिचित है, पर उनके विषय में मुख्य मुख्य बातों की भी जानकारी अभी तक शायद ही किसी को हो।

'रसलीन' का वास्तविक नाम सयद गुलाम नबी था और ये हरदोई जिले के बिलग्राम नामक कस्बे के रहनेवाले थे। इन्होंने मुसलमान होते हुए हिंदी में बहुत ही सुंदर और सरस कविता की है और इनके 'अंगदर्पण' तथा 'रसप्रबोध' नामक ग्रंथ हिंदी के रीति-ग्रंथों में एक विशिष्ट स्थान रखते हैं। इनमें से 'अंगदर्पण' तो सूक्तियों के चमत्कार के लिये सदा से ही काव्य रसिकों में विख्यात रहा है।

वंश-परिचय

मोहम्मद साहब के दौहित्र और हजरत अली के पुत्र हसन और हुसेन में से हुसेन के पौत्र जैद का विवाह हसन की पोती रुकैया के साथ हुआ था। उन्हीं जैद और रुकैया के ही वंश में बहुत आगे चलकर हमारे सैयद गुलाम नबी महोदय का जन्म हुआ था। मुसलमानों में जैद के वंशज जैदी कहलाते हैं और अपनी धमनियों में हसन तथा हुसेन दोनों ही का रुधिर वहन करने के कारण वे अपने को हसनी-उल्-हुसेनी भी कहते हैं।[1] इस प्रकार हमारे 'रसलीन' मुसलमानों में जैदी हसनी उल् हुसेनी थे।

जैद से लेकर जैद की १८वीं पीढ़ी में सैयद अबुल फरह नामक एक अत्यंत विद्वान और पहुँचे हुए महात्मा ने जन्म लिया। सैयद अबुल फरह पहले मदीने में ही रहते थे, पर बाद में वहाँ के शासकों के अत्याचारों से तंग आकर उन्हें अपना पैतृक अधिवास छोड़ इराक के वास्त नामक

१ खाँ साहब सैयद वसीउद् हसन बिल्ग्रामी राजतुल्कराम, पृ० १०।

नगर में जा वसना पडा। थोड़े दिनों वाद इराक के अमीर से कुछ अनवन हो जाने के कारण आपको वास्त भी छोड़ देना पडा। वास्त छोड आप पहले खुरासान और फिर खुरासान से गजनी गए और ग्रंत मे गजनी से भारत चले आए। सैयद अवुल फरह के चार पुत्र थे। उनमे से एक थे सैयद अवुल फारस। विलग्राम के सैयद उन्ही सैयद अवुल फारस के ही वंशज[1] है। वास्त के निवासी होने के कारण सैयद अवुल फरह और उनके पुत्र 'अलवास्ती' कहलाते थे। उन्होने भारत चले आने पर भी उस अल्ल को नही छोड़ा और वाद में उनके वश का नाम ही 'वास्ती' पड गया। हमारे रसलीन का भी जन्म इसी 'वास्ती' ही वश मे हुआ था।

भारत आने पर सैयद अवुल फरह के चारो पुत्रों को दिल्ली सम्राट से अलग-अलग चार गाँव मिले। उनमे से सैयद अवुल फारस को जाजनेर मिला और जाजनेर को ही उन्होने अपना निवास-स्थान वनाया। अवुल फारस के पुत्र अवुल फरह द्वितीय हुए। अवुल फरह द्वितीय के प्रपौत्र सैयद मोहम्मद से और दिल्ली सम्राट शमसुद्दीन अल्तमश से वड़ी घनिष्ठता थी और उनपर सम्राट् की विशेष कृपा भी रहती थी। सैयद मोहम्मद ने विक्रम संवत् १२७४ मे सुलतान से आज्ञा लेकर विलग्राम पर, जो उस समय श्रीनगर के नाम से विख्यात था, चढाई कर दी और वहाँ के तत्कालीन राजा को परास्त करके विलग्राम पर अधिकार कर लिया।[2] 'रसप्रवोध' मे 'रसलीन' कहते है :

"प्रगट हुसेनी वास्ती, वस जो सकल जहान।
तामें सैयद अवुल फ़ह, आए मध हिंदुआन।।
तिनके अबुलफरास सुत, जग जानत यह वात।
पुनि सैयद अव्वुल फरह, तिनके सुत अवदात।।
पुनि भये, सयद हुसेन सुत, तिनके सवल सरूप।
तिनके सुत सैयद अली, विदित भये जगभूप।।
सैयद मोहम्मद प्रगट में, तिनके अति वलवान।
विलग्राम श्रीनगर मे, जिन कीन्हो निज थान।।"

(रस प्रवोध के कविकुलकथन से)।

सैयद मोहम्मद के सैयद उमर, सैयद उमर के सैयद हुसेन द्वितीय, सैयद हुसेन द्वितोय के सैयद नसीरुद्दीन, सैयद नसीरुद्दीन के सैयद हुसेन तृतीय, सैयद हुसेन तृतीय के सैयद सालार, सैयद सालार के सैयद लुत्फुल्ला उपनाम लद्धा, लद्धा के खुदादाद उपनाम दादन और दादन के सैयद महमूद प्रथम हुए।[3] यही वात स्वयं रसलीन ने इस प्रकार कही है :

"तिनके सयद उमर भये, तिन सुत सयद हुसेन।
तिनते सयद नसीरुद्दी, यह जानत सव ऐन।।
पुनि भे सयद हुसेन अरु, पुनि सैयद सालार।
लुत्फुल्ला लद्धा भये, तिनकी बुद्धि अपार।।

---

१. वही, पृ० ११५–११८।
२. रोजतुल कराम, पृ० ११६–१२०।
३. वही, पृ० ६८–६९।

पुनि सैयद दादन भये, खुदादाद जिह नाम।
पुनि सैयद महमूद जो भये सिद्ध अभिराम॥"
(रसप्रबोध में कविकुलकथन से)

सैयद महमूद बड़े ही विद्वान और सिद्ध महात्मा थे। बिलग्राम में इनका एक आमों का बाग अब भी विद्यमान है और उसीमें इनकी समाधि है। कहा जाता है कि एक बार बिलग्राम के तत्कालीन शासक के कुछ कर्मचारी उस बाग में गए और सैयद महमूद साहेब की अनुज्ञा प्राप्त किए बिना आम तोड़ने लगे। माली ने मना किया पर शासन के मद में मतवाले कर्मचारियों ने सुनी अनसुनी कर दी। इतने ही में ऐसा ईश्वर का कोप हुआ कि इस जोर के पत्थर (ओले) पड़ने लगे कि शासक के कर्मचारी बुरी तरह घायल हो गए और उनका आम तोड़ना असंभव हो गया। तब से वह बाग 'भुतहा' बाग कहलाने लगा और कुछ दिन पीछे सैयद महमूद प्रथम के वंशज ही 'भुतहा' नाम से पुकारे जाने लगे।[1] हमारे 'रसलीन' इसी 'भुतहा' वंश के एक उज्ज्वल रत्न थे।

सैयद महमूद प्रथम के दो पुत्र हुए सैयद नूह और सैयद खान मोहम्मद।[2] 'रसलीन' पिता की ओर से सैयद खान मोहम्मद की और माता की ओर से सैयद नूह की शाखा में थे।[3] सैयद महमूद प्रथम से रसलीन तक वंशावली इस प्रकार है—
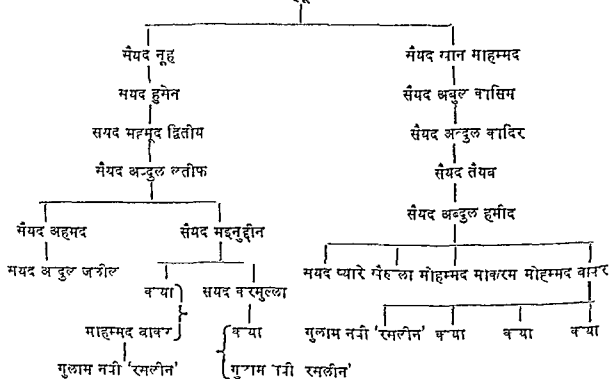
१ राजतुल्करम, पृ० ६९
२ वही, पृ० ६९।
३ वही, पृ० ६९-७०, ७६, ८०।

इस प्रकार सैयद अब्दुल हमीद के कनिष्ठ पुत्र सैयद वाकर तो रसलीन के पिता और सैयद मुईनुद्दीन की कन्या उनकी माता थी। सैयद महमूद (प्रथम) के आगे के अपने पैत्रिक के संबंध मे 'रसलीन' स्वयं कहते है कि --

"सैयद खान मोहम्मद भये; तिनके सुत जग आइ।
फिर अब्दुल कासिम भये, तिनके अति सुखदाइ ॥
सैयद अब्दुल कादिर भये, पुनि तैयव सुरज्ञान।
तिनके सैयद हमीद सुत, जानत सकल जहान ॥
पुनि सैयद वाकर भये, तिनके तनुज प्रसिद्ध।
सव लोगन मे सिद्धता, जिनकी प्रगटी सिद्ध ॥
भयो गुलाम नवी प्रगट, तिनको सुत जग आइ।
नाम कर्‌यो रसलीन जिन, कविताई मे ल्याइ ॥"
(रसप्रवोध)

जन्म

सैयद गुलाम नवी 'रसलीन' का जन्म कवियो की खानि विलग्राम मे २ मोहर्रम सन् ११११ हिजरी, अर्थात् २० जून, सन् १६९९ ई० (स० १७५६ वि०) को हुआ था।

जैसे संस्कृत और हिंदी मे संख्या व्यक्त करने के लिये कुछ निर्धारित शव्दो का प्रयोग होता है वैसे ही फारसी और उर्दू मे वही काम अक्षरों या अक्षर समूहो से लिया जाता है। फारसी वर्णमाला के प्रत्येक अक्षर का कोई न कोई अक नियत है, जैसे अलिफ का १, वे का २, ये का १०, काफ का १००, गैन का १०००, आदि। जव किसी छद मे किसी सन् या सवत् का उल्लेख करना होता है तो उसमे एक ऐसे शव्द या पद का प्रयोग कर देते है जिसके अक्षरो के अको का जोड़ उस सन् या सवत् की संख्या के वरावर हो। इस प्रकार छद मे किसी के जन्म या मरण अथवा अन्य किसी घटना का वर्णन करने को फारसी और उर्दू मे तारीख कहना कहते है। तारीख कहना फारसी और उर्दू छंद रचना की एक विशेष कला समझी जाती है और उसका प्रयोग फारसी लिपि मे रचना करनेवाले कई एक हिंदी कवियो ने भी किया है।

रसलीन के चचेरे मामा, मीर अब्दुल जलील विलग्रामी, हिंदी, संस्कृत, उर्दू, फारसी, तुरकी तथा अरवी के प्रकाड पडित और कवि थे और रसलीन के परिवार पर उनका विशेष स्नेह था। जिस समय रसलीन का जन्म हुआ उस समय मीर अब्दुल जलील महोदय दक्षिण मे सम्राट औरगजेव के साथ गढ़ सतारा के निकट डेरा डाले पडे थे। रसलीन के जन्म का शुभ समाचार उन्हे वही मिला। कहा जाता है कि उक्त समाचार को पा उन्हे इच्छा हुई कि नवजात शिशु के जन्म की तारीख (तारीख तवल्लुद) कहे और उस दिन उसी इच्छा को ले वे सो गए। सोते मे उन्होने स्वप्न मे नवजात शिशु को देखा ओर सुना उसे कहते हुए "नूरचश्मे वाकरे अब्दुल हमीदम" अर्थात् मै अब्दुल हमीद के पुत्र वाकर के नयनों की ज्योति (पुत्र) हूँ। पीछे जगने पर जव उन्होने 'नूरचश्मे वाकरे अब्दुल हमीदम" (نورچشم باقرے عبدالحمیدم) के अक्षरो की अंक गणना की तो पता चला कि

१. सर्वे आजाद, पृ० ३१२।

इसमें तो नवजात भागिनेय के जन्म की तारीख छिपी ह। अत उन्हाने उसीमें तीन और चरण जोड कर इस प्रकार छद पूरा कर दिया

"नूरचश्म मीर नाकर गुणत वाभन
चू गुल मुरगीद दर आलम दमीदम
मार तारीखे नवल्गुद खुद नगुपनम
नूरचश्म वाकरे अब्दुल हमीदम।"[1]

अथात मीर बाकर क पुत्र ने मुझ म कहा कि म ससार में सूय के फूल (अथात् सूरजमुखी फूल) क समान खिला हूँ और अपने जन्म की तारीख म न खुद कही है जो यह ह "नूरचश्मे वाकर अब्दुल हमीदम"। "नूरचश्म बाकर अब्दुल हमीदम" को फारसी लिपि म लिखने में उस वणमाला क जो जो अक्षर प्रयुक्त होत ह उनक अकों को यदि जोडा जाय तो कुल याग ११११ आवगा और ११११ हिजरी ही रसलीन क जन्म का सन् है।

मीर अब्दुल जलील की भविष्यवाणी

रसलीन क जन्म का समाचार पाने के उपरान्त मीर अब्दुल जलील महोदय ने दक्खिन स जो पत्र बिलग्राम भेजे थे उनमें यह लिखा था कि यह लडका अत्यत विख्यात और सुन्दर कवि होगा और आगे चलकर हुआ भी ऐसा ही।[2] उस समय के हिंदी कविया विशेषकर हिंदी के मुसल मान कविया, में जितनी ख्याति रसलीन ने पाई उतनी शायद ही किसी ने पाई हो।

रसलीन की सामयिक ख्याति

मिर्जा मोहम्मद अमीन उन दिनो तत्कालीन बहुत बडे विद्वानो में समझे जाते थे। उन्होने जब मीर गुलाम अली 'आजाद' से अरबी क और मीर गुलाम नवी 'रसलीन' से हिंदी के छन्द सुने तब अत्यत प्रसन्न हुए और तत्काल उनकी प्रशसा में निम्नलिखित पक्तियाँ लिख डाली

'दरी जमाना कि अवावे फज़्ल कमयाव अस्त
ज बिलग्राम दो शख्स अद दर सखुन उस्ताद
यक इमामे जमा सैयदे गुलाम अली
कसे बह शेर अरब मिस्ल ओ नदारद याद
दिगर जहाने हुनर सैयद गुलाम नवी
रसानद फितरते ओ शेर हिंद रा बसुगद।'[3]

अर्थात 'इस युग म जब विद्वान लोग दुर्लभ ह बिलग्राम में दो व्यक्ति काव्य के आचाय ह। एक तो इस युग के अग्रणी सयद गुलाम अली, जिनसे बढकर अरब की कविता कठस्थ रखनेवाला कोई दूसरा नहीं ह, और दूसरे, गुणा क ससार, सयद गुलाम नबी, जिनकी बुद्धि हिंदी कविता म उच्चसिद्धि को पहुँच गई है।

---

१ सर्वे आजाद, प० ३१०।
२ " , पृ० ३१३।
३ " " पृ० ३७२।

रसलीन के विद्यागुरु

'रसलीन' के विद्यागुरु थे मीर तुफैल मोहम्मद विलग्रामी।[१] इनकी जन्मभूमि और मूल निवासस्थान तो था अतरौली, जिला आगरा मे, पर ये जब १५ ही वर्ष के थे तभी विलग्राम चले गए थे, वही विद्योपार्जन किया और वही वस गए तथा अंतकाल तक वही रहे। मीर तुफैल मोहम्मद हिंदी, फारसी और अरवी तीनो ही के वहुत वड़े विद्वान और कवि थे और उनके पास दूर दूर से लोग विद्योपार्जन करने आया करते थे।[२] इन्हे रसलीन ही क्या विलग्राम के न जाने कितने व्यक्तियों को विविध-विद्या-विशारद वनाने का श्रेय प्राप्त था। रसलीन ने इनके विपय मे स्वयं लिखा हैं:

"देस विदेस के सव पडित सेवत हैं पग शिष्य कहाई।
आयो है ज्ञान सिखावन को सुर को गुरु मानुस रूप वनाई।
वालक वृद्ध सुवद्धि जहाँ लगि वोलत हैं यह वात वनाई।
को मन मेल कहै सुभ केल तुफैल तुफैल मोहम्मद पाई।[३]"।

रसलीन पर मीर अब्दुल जलील का प्रभाव

रसलीन के चचेरे मामा, मीर अव्दुल जलील विलग्रामी, अरवी, तुर्की और फारसी के तो पडित और कवि थे ही, हिंदी मे भी वड़ी सुदर और उच्च कोटि की कविता करते थे। हिंदी मे उनका 'सिखनख' नामक ग्रंथ वहुत ही सरस और सुंदर है। उन्हीं के विषय मे हरवंस मिश्र विलग्रामी के पुत्र 'दिवाकर मिश्र' ने जो स्वयं हिंदी के वहुत अच्छे कवियों मे थे, कह गए है कि--

"हुआ न है औ होयगा ऐसो गुनी सुशील।
जैसो अहमदनंद जग हुय गयो मीर जलील।"[४]

यह पहले ही कहा जा चुका है कि मीर अव्दुल जलील का रसलीन के परिवार और विशेषकर रसलीन पर असाधारण स्नेह था। मीर तुफैल मोहम्मद तो रसलीन के विद्यागुरु ही थे, पर जान पड़ता है रसलीन को हिंदी साहित्य के अध्ययन और हिंदी भाषा में काव्य रचना की प्रेरणा मुख्यतया अपने मामा मीर अव्दुल जलील ही से मिली थी।

रसलीन पर मीर गुलाम अली आजाद का प्रभाव

सर्वे आजाद आदि ग्रंथो के रचयिता तथा मीर अव्दुल जलील के दौहित्र, मीर गुलाम अली आजाद, जिन्हें यदि विलग्राम के विद्वानों में विद्वत्ता की दृष्टि से अद्वितीय कहा जाय तो अत्युक्ति न होगी, रसलीन के समकालीन और लगभग समयस्क ही थे। रसलीन का जन्म जून सन् १६९९ ई० का है और आजाद का जून सन् १७०४ ई० का। रसलीन और आजाद का साथ विलग्राम

---

१. सर्वे आजाद, प० ३१२

२. वही, पृ० २५१

३. "कवित्त मुत्फरिक सैयद गुलाम नवी रसलीन" नामक ग्रंथ से, जिसकी एक हस्तलिखित प्रति लेखक के पास और दूसरी रामपुर के राजकीय पुस्तकालय में है।

४. सर्वे आजाद, पृ० ३७०

के अतिरिक्त अय कई स्थाना में भी रहा था।[1] अत यह असभव है कि दोना की विद्वत्ता और विद्याव्यसनी तथा साहित्यसेवी स्वभाव ने एक दूसरे को प्रभावित न किया हो।

रसलीन का भाषा ज्ञान

हमारे रसलीन हिंदी, फारसी और अरबी तीनो ही के पडित थे[2] और कदाचित् सस्कृत भी जानते थे क्योकि उनकी कविताओ में सस्कृत के तत्सम शब्द प्रचुर मात्रा में मिलते है।

रसलीन का लिपि-ज्ञान और लिपि प्रयोग

रसलीन की रचनाओ से ही प्रकट है कि उन्होने हिंदी साहित्य का बडा व्यापक और गभीर अध्ययन किया होगा और बहुत सभव है उन्होने कम से कम रस और नायिका भेद के सस्कृत ग्रथ भी पढे हो। अत उन्हे न केवल देवनागरी लिपि का सम्यक् ज्ञान ही रहा होगा अपितु वे उसे भली भाँति लिख भी लेते रहे होगे। किंतु ऐसा होते हुए भी यह एक प्रकार से निर्विवाद ही है कि व उस काल के अनेक मुसलमान और हिंदू लेखको की भाँति हिंदी भी फारसी लिपि में ही लिखा करते थे उनके ग्रथो की उपलब्ध प्राचीनतम हस्तलिखित प्रतियाँ फारसी लिपि में ही है। फारसी में हिंदी और उर्दू की भाति टवग नही है इसीसे शुद्ध फारसी लिपि में ट, ड और ड की ध्वनियो को व्यक्त करने के लिये अक्षरो का अभाव है। उर्दू में यह काम अधिकतर 'ते' (ت), 'दाल' (د) और 'रे' (ر), पर (इस प्रकार ٹ ڈ ڑ) 'तो' (ط) का चिह्न बनाकर लिया जाता है, पर ढले हुए टाइपो से मुद्रित ग्रथो में, जिनका प्रारभ कलकत्ते के फोर्ट विलियम कालेज द्वारा प्रकाशित उर्दू ग्रथो से होता है, यही काम उक्त अक्षरो पर (इस प्रकार ٹ ڈ ڑ) एक बेंडी लकीर बनाकर लिया जाता है। पर रसलीन और मीर अब्दुल जलील ने हिंदी लिखने के लिये इस सबध में अपने ही चिह्न बना रक्खे थे और उन्हीका प्रयोग करते थे। बिंदुरहित 'त', 'दाल' और 'रे' पर रसलीन (इस प्रकार ٹ ڈ ڑ) तीन तीन बिंदु और मीर अब्दुल जलील (इस प्रकार ٹ ڈ ڑ) चार चार बिंदु लिखकर टवग के उपर्युक्त अल्पप्राण अक्षरो का काम लेते थे। यही बात गुलाम मोहम्मद खा 'वासिल' बिल्ग्रामी ने अपने फारसी ग्रथ 'मुफ्ताहुलहिंद'[3] में कही है और चारो लिखावटों में अतर व्यक्त करने के लिये निम्नलिखित चित्र भी दे दिया है

नाम मुरज्जिद कायदा	एख्तिलाफ जबान	सूरत ताय फूकानी	सूरत दाल मोहमिला	सूरत राय मोहमिला
ला तालीम	उर्दू	ٹ	ڈ	ڑ
कारगुजारान मुताबा कलकत्ता	उर्दू	ٹ	ڈ	ڑ
सैयद गुलाम नबी रसलीन	हिंदी	ٹ	ڈ	ڑ
मीर अब्दुल जलील	हिंदी	ٹ		ڑ

१ सर्वे आजाद, पृ० ३१३।
२ सर्वे आजाद, प्र० ३१२
३ इस ग्रन्थ की वासिल के ही हाथ की लिखी प्रति लेखक के पास है।

हिंदी लिखने के लिये फारसी-लिपि का इस प्रकार अनुकलन करने के कारण यदि रसलीन और मीर अब्दुल जलील को हिंदीवाले फारसी-लिपि के सुधारक की उपाधि से विभूषित करना चाहें तो कोई अत्युक्ति न होगी।

संगीत मे प्रवीणता

साहित्यज्ञ और साहित्य-स्रष्टा होने के साथ ही साथ रसलीन कुशल संगीतज्ञ भी थे। रसलीन और उनके समकालीन बिलग्रामी विद्वान 'साहित्य सगीत कला विहीनः' वाली उक्ति को पूर्णतया सत्य मानते थे और वैयक्तिक संस्कृति के लिये भाषा और साहित्य के ज्ञान के साथ ही साथ सगीतकला में भी दक्षता प्राप्त करना आवश्यक समझते थे। इसीलिये बिलग्राम में जितने निपुण और कुशल तथा प्राप्तख्याति गवइए हुए हैं, उतने अन्यत्र कदाचित् ही हुए होंगे। फोर्ट विलियम कालेज के प्रोफेसर, मीर शेर अली अफसोस, 'आराइश महफिल' नामक अपने भारतवर्ष के इतिहास में लिखते हैं कि 'कस्बा बिलग्राम में एक कुंवाँ' है, जो कोई चालीस दिन मुसलसल उसका पानी पिये गाने लगे।" यही बात 'गैजिटियर आफ दि प्राविंस आफ अवध' प्रथम खड में भी लिखी है[1]। इसी प्रकार की एक किंवदंती तानसेन के विषय मे भी प्रचलित है। ग्वालियर में जहाँ पर तानसेन की समाधि है उसीके सन्निकट एक वृहत इमली का वृक्ष है। कहा जाता है कि उस वृक्ष की पत्ती जो एक बार भी चबा लेता है उसका स्वर अत्यंत सुदर और मधुर हो जाता है। इस प्रकार की किंवदतियाँ चाहे वास्तविकता की दृष्टि से सत्य न हो पर वे कम से कम यह तो व्यक्त करती ही हैं कि उनसे संबद्ध स्थान का या तो किसी अत्यत विख्यात संगीतज्ञ से घनिष्ट संबध रहा है या वहाँ के लोगों में किसी न किसी समय सगीतविद्या और संगीतकला का पर्याप्त प्रचार रहा है। बिलग्राम के सब से कुशल और विख्यात संगीतकलाविद् हुए हैं हिंदी मे 'नादचंद्रिका' और 'मधनायकशृंगार' के रचयिता सैयद निजामुद्दीन मधनायक'।[2] रसलीन के समकालीन थे और इनका भी प्रभाव रसलीन पर अवश्य पड़ा होगा।

शूरवीरता और रणकुशलता

रसलीन के समय की एक यह भी विशेषता थी कि उन दिनो सभ्य समाज में कोई तब तक पूर्णतया सभ्य और सुसंस्कृत नही समझा जाता था जब तक वह लेखिनी और खग दोनों ही का समान उपासक न हो। रसलीन अत्यंत शूरवीर और साहसी तथा रणकुशल थे और, जैसा मीर गुलाम अली आजाद ने[3], सर्वे आजाद नामक अपने ग्रथ में कहा है: धनुर्विद्या में तो ये अद्वितीय (बेनजीर) ही थे। जैसा आगे कहा जायगा रसलीन रणक्षेत्र में लड़ते २ ही वीरगति को प्राप्त हुए थे। यह सौभाग्य हिंदी के विरले ही कवियों को प्राप्त हुआ होगा।

---

१. मकबूल समदनी: हयाते जलील, पृ० १५७
२ सर्वे आजाद, पृ० ३५६
३. वही, पृ० ३१३

रसलीन का धर्म

रसलीन शिया मुसलमान थे और मोहम्मद साहेब, हजरत अली, इमाम हुसेन, इमाम हसन आदि की वदना और स्तुति में श्रद्धा तथा भक्ति से समन्वित कई सुदर छद लिखे गए है। उदाहरणार्थ, क्रमात् मोहम्मद साहब और हजरत अली की वदना में कहे गए निम्नलिखित छद देखिए

"जीभ चखे तुह नाम की अमृत औरन नाम को पावन फीको।
चाटो मही यह क्या मुख नावन जारो गयो पन मारहि धी को॥
चाह्यो न आज लौं चाह सों काज को आवन लाज यहै नित जी का।
तू बिनती करै औरन पास कहाइ कै आप गुलाम नबी को॥"[1]
"भूप सब साहब ही जग के निबाहक ही जाचक के ठाहर ही जम निधान जो।
भवसिंधु थाहक ही पापन के दाहक विघन निवाहक ही साहब सुजान जो॥
दीनन के गाहक ही सेवक के चाहक हौ दया के उमाहक वरसै दान जो।
धरम अवगाहक हौ नबी के सराहक हौ फानमान के ब्याहक हो साह मरदान जो॥"[2]

रसलीन की धार्मिक सहिष्णुता

रसलीन पक्के मुसलमान होते हुए भी धर्मांधता और असहनशीलता से बहुत दूर, दूसरे धर्मों के प्रति सहानुभूति रखनेवाले तथा अत्यन्त उदारचित्त थे। भागीरथी गगा की स्तुति में नीचे लिखा छद इस बात का साक्षी है—

'विशुन जू के पग तें निकसि सभु सीस बसि भगीरथ तपतें कृपा करी जहान पें।
पतितन तारिबे की रीति तेरी एरी गग पाई रसलीन इह तेरिएँ प्रमान पें॥
कालिमा कलिंदी सरसुती अरुनाई दोउ मेटि कीन्हें सेत आपने विधान पें।
त्या ही तमोगुन रजोगुन सब जगत के करिकै सतोगुन चढावत विमान पें॥'[3]

रसलीन का शाहजहानाबाद और इलाहाबाद में रहना

आजाद ने अपने "सर्व आजाद" नामक ग्रथ में लिखा है कि हमसे और मीर गुलाम नबी से आपस में घनिष्ठ प्रेम था और हमारा व उनका साथ वर्षों बिलग्राम, शाहजहानाबाद और इलाहाबाद में रहा[4]। उसी ग्रथ में उन्होंने यह भी लिखा है कि मीर गुलाम नबी दिल्ली सम्राट् के प्रधान मन्त्री (वजीरे उलमिजाम) नवाब सफदरजग के अभिन्न मित्रो में थे[5]। अत हमारे रसलीन बिलग्राम के अतिरिक्त शाहजहानाबाद और इलाहाबाद मे आजाद के साथ तो रहे ही, बहुत सभव है वे उनके बाद भी कुछ दिनो नवाब सफदरजग के पास शाहजहानाबाद (दिल्ली) में रहे हो।

---

१ "कवित्त मुतर्फरिक सैयद गुलाम नबी रसलीन" नामक ग्रथ से, जिसकी एक हस्तलिखित प्रति लेखक के पास और दूसरी रामपुर राजकीय पुस्तकालय में है।

२ वही।

३ वही।

४ सर्व आजाद, पृ० ३१३।

५ सर्व आजाद पृ० ३१३।

आजाद सन् ११३४ हिजरी (सन् १७२१ ई०) मे शाहजहानावाद गए और वहाँ दो वर्ष रहे। तदनंतर ११३७ हिजरी (१७२४ ई०) मे विलग्राम वापस जाकर वहाँ उसी वर्ष शाह लद्धा विलग्रामी से दीक्षा ली। सन् ११४२ (सन् १७२९ ई०) में वे सविस्तान चले गए और वहाँ ४ वर्ष रहकर सन् ११४७ हिजरी मे विलग्राम वापस आ गए। सन् ११४७ से सन् ११५० तक वे विलग्राम ही मे रहे और सन् ११५० हिजरी में हज के लिये रवाना होकर फिर विलग्राम वापस नही गए।[1] हज से लौटने के उपरात जीवन पर्यंत वे हैदरावाद दक्खिन ही में रहते रहे। इससे प्रकट है कि आजाद शाहजहानावाद मे सन् १७२१ ई० और सन् १७२३ ई० के वीच तथा इलाहावाद मे सन् १७२४ और १७२९ के वीच ही रहे होगे। रसलीन इन दोनो स्थानों को, संभव है, आजाद के साथ ही गए हो और वहाँ से साथ ही विलग्राम लौटे भी हों या उनसे कुछ आगे पीछे लौटे हो। या यह भी संभव है कि आजाद के उत्तरी भारत छोड़ देने के पश्चात् भी रसलीन कई वार इलाहावाद और दिल्ली गए आए हों और वहाँ वर्षो रहे हो। ऊपर लिखा त्रिवेणी-स्तुति का छद वहुत संभव है इलाहाबाद ही मे लिखा गया हो। शाहजहानावाद के प्रथम निवासकाल में रसलीन की अवस्था २३ और २५ वर्ष के वीच तथा इलाहावाद के निवासकाल में २५ और ३१ के वीच रही होगी।

रामचेतौनी का युद्ध और रसलीन का स्वर्गारोहण

यह पहले ही कहा जा चुका है कि रसलीन का प्राणांत युद्धक्षेत्र में लड़ते लड़ते हुआ था। अतः यहाँ पर उक्त युद्ध का कुछ संक्षिप्त परिचय दे देना अनुपयुक्त न होगा। दिसंवर, १७४३ ई० मे फर्रुखावाद राजघराने के संस्थापक, मोहम्मद खाँ वंगश, के देहात पर उनके पुत्र कायम खाँ उनकी गद्दी पर वैठे। सन् १७४९ ई० मे कायम खाँ एक युद्ध मे रुहेलों के हाथ मारे गए; और उधर उनका मरना था कि इधर अवध के सूवेदार और दिल्ली सम्राट् के प्रधान मंत्री, सफदर जंग, तथा अवध के नायव सूवेदार, राजा नवल राय ने पूरे वंगश-राज्य पर अधिकार कर लिया, कायम खाँ की माता, वीवी साहेवा, को नजरवंद कर दिया और मोहम्मद खाँ के लडकों में से पाँच को पकड़ कर ओल रूप मे इलाहावाद भेज दिया। किंतु शीघ्र ही वीवी साहेवा किसी न किसी प्रकार नवल राय के चंगुल से निकल भागी ओर जाकर पठानों को इतना उत्तेजित किया कि वे दिल्ली सम्राट् के प्रति खुले विद्रोह पर कटिवद्ध हो गए। उन्होने मोहम्मद खाँ वंगश के एक दूसरे पुत्र, अहमद खाँ, को अपना नेता और अग्रणी वनाकर तुरंत राजा नवल राय पर चढ़ाई कर दी। युद्ध में नवल राय मारे गए और पठानो ने कन्नौज और फर्रुखावाद दोनो ही पर कब्जा कर लिया। सफदरजंग एक वड़ी सेना के साथ, जिसमे हमारे रसलीन भी थे, राजा नवल राय की सहायता को जा रहे थे और एटा जिले मे मारहरा तक पहुँच चुके थे। राजा नवल राय को मारने और कन्नौज तथा फर्रुखावाद पर अधिकार कर लेने के वाद अहमद खाँ अविलंव सफदरजंग की सेना की ओर वढ़ गया और दोनों सेनाएँ १३ सितंवर १७५० ई० को रामचेतौनी के मैदान पर एक दूसरे से भिड़ गईं। 'राम चतौनी' डंडवारगंज रेलवे स्टेशन के पास एक तीर्थ-स्थान है। वहाँ से मारहरा २२ मील

---

१. मकबूल समदनी का "ह्याते जलील", भाग २, पृ० १६४ (राम नारायण लाल द्वारा प्रकाशित)

पश्चिम, सहावर ७ मील पश्चिम, एटा १८ मील दक्षिण और पटियाली ५ मील पूर्व है। सफदरजंग की सहायता को जय कई राजाओं के अतिरिक्त अपने ५० हजार सैनिकों के साथ सूरजमल जाट भी उपस्थित था। दोनों सेनाएँ प्रातःकाल लगभग ९ बजे युद्धक्षेत्र में जा डटीं। पहले सफदरजंग के प्रधान सेनापति, इस्माइलखाँ, तथा सूरजमल ने अपनी सेनाओं सहित पठान सेना पर आक्रमण किया। यह आक्रमण सफल रहा। बंगश सेना का सेनापति, रुस्तम खाँ मारा गया और उसकी सेना भागती हुई कई मील पीछे हट गई। रुस्तम खाँ की मृत्यु और पराजय का समाचार पा अहमद खाँ तनिक भी विचलित या हतोत्साह नहीं हुआ। उसने अपनी सेना का एक बड़ा अंश युद्धक्षेत्र ही के एक कोने में जंगल की आड़ में छिपा रखा था। उस सेना के सैनिकों से उसने कहा कि रुस्तम खाँ ने विपक्षियों को हरा दिया है किन्तु यदि आप लोग आगे न बढ़ेंगे तो असम्भव नहीं कि आप की जय पराजय में परिवर्तित हो जाय। इस युद्ध में रुहेले बंगशों की ओर थे। अहमद खाँ ने परमल खाँ के नेतृत्व में पहले उन्हीं को आगे भेजा। रुहेलों के पहले ही धावे पर शाही सेना के अनेक सेनानी, जो शत्रु से मिले हुए थे, भाग खड़े हुए। अंत में सफदर जंग ने बची हुई शाही सेना की सहायता के लिये नूरुलहसन खाँ बिलग्रामी और मोहम्मद अली खाँ से आगे बढ़ने को कहा। ये लोग ३०० अत्यन्त वीर सैनिकों को ले, जिनमें हमारे रसलीन भी थे, बड़ी कठिनता, साहस और परिश्रम से मनुष्यों और हाथियों के झुंडों को चीरते हुए आगे जा पहुँचे पर तब तक शाही सैनिक इतने भयभीत और हतोत्साह हो चुके थे कि उन्हें युद्ध के लिये फिर उद्यत कर सकना असम्भव हो गया। इसी बीच इनके ऊपर २०० रुहेलों की एक दूसरी टुकड़ी ने पीछे से धावा कर दिया। रसलीन आदि बड़ी वीरता से लड़े। पर फिर भी जयश्री रुहेलों और बंगशों के ही हाथ रही। रसलीन के स्वागत के लिये स्वर्ग का द्वार पहले ही से खुला हुआ था। वे लड़ते लड़ते उसीमें प्रवेश कर गए। उनके भौतिक शरीर का कहीं पता तक न चला।"[1]

मरण-तिथि

उपर्युक्त युद्ध का दिनांक ऐतिहासिकों ने २९ शव्वाल सन ११६३ हिजरी अर्थात् १३ सितम्बर सन् १७५० ई० दिया है और यही दिनांक रसलीन के स्वर्गारोहण का भी दिनांक है।[2] आजाद ने रसलीन के भौतिक जीवन की इतिश्री की तारीख इस प्रकार कही है —

"वहोदे जमा सैयदे गुल मस्तुन,
न फिर्दोस मी जद ज जामे नवी
कलम गर य मर वर्दी तारीख आ
रकम कद "हय हय गुलमे नबी।"[3]

---

१ आशीर्वादी लाल श्रीवास्तव : द फर्स्ट टू नवाब्स आव अवध पृष्ठ १६५–१४७, १४८–१९१
सर यदुनाथ सरकार : "फाल आव द मुगल एम्पायर" खंड १, पृ० २७३–२९५
सैयद मोहम्मद बिलग्रामी : तब्सीरतुन् नाजिरीन (अप्रकाशित एक हस्तलिखित प्रति रायल एशियाटिक सोसाइटी आफ बंगाल' में सुरक्षित है)
सियारुल् मुताखिरीन, भाग ३, पृ० ८७८ (नवल किशोर प्रेस, लखनऊ)
२ सर्वे आजाद, पृ० ३१३
३ सर्वे आजाद, पृष्ठ ३१३

अर्थात्, अपने समय के सैयदों में जो अद्वितीय सुकवि था उसने स्वर्ग में नवी के पानपात्र से मदिरा का पान किया; रोती हुई लेखनी से उसकी मृत्यु की यह तारीख लिखी है "हय हय, गुलामे नवी।" "हय हय गुलामे नवी" को फारसी-लिपि में लिखने में उस वर्णमाला के जो जो अक्षर प्रयुक्त होते हैं उनके अंकों को यदि जोड़ा जाय तो कुल योग ११६३ आवेगा। रसलीन के देहावसान के इस सन् को सैयद मोहम्मद आरिफ विलग्रामी, उपनाम 'जान', ने, जो स्वयं हिंदी के एक अच्छे कवि थे, भारतीय ढंग से इस प्रकार व्यक्त किया है:

"मीर गुलाम नवी हतो, सकल गुनन को धाम।
वहुरि धर्‌यो, रसलीन निज, कबिताई मों नाम।।
गयौ जो वह सुरलोक कों, प्रभु सासन आधीन।
जान कह्यो रसलीन मुन भव सर में लीन।।'[1]

विवाह और संतति

रसलीन का विवाह उनके सगे मामा सैयद करमुल्ला की कन्या के साथ हुआ था।[2] सैयद स्वयं एक अत्यंत बुद्धिमान्, चतुर और विद्यासपन्न व्यक्ति थे।[3] करमुल्ला की कन्या से रसलीन की तीन संतानें थी, दो पुत्र और एक कन्या। रसलीन से नीचे रसलीन की वशावली इस प्रकार है[4]—
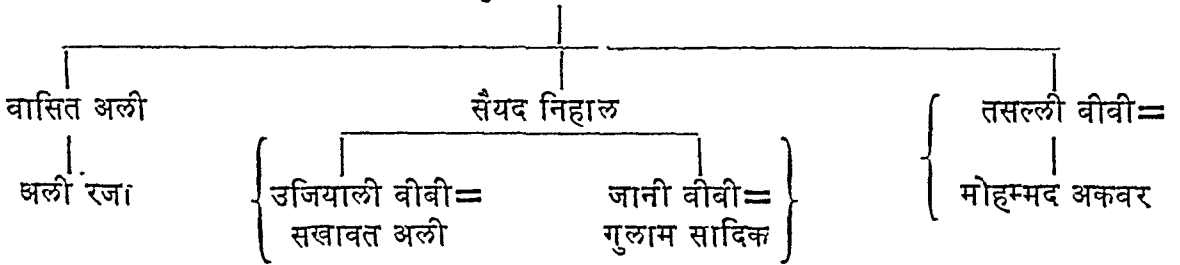
विलग्राम से ही मुझे रसलीन के ग्रंथो की फारसी लिपि में लिखी एक प्रति मिली है जिस पर दो स्थानो पर सखावत हुसेन खाँ की मोहर की छाप है और जिल्द के अदर मुखपृष्ठ पर एक कोने में कलम से भी उनका नाम लिखा है। मोहर के भीतर नाम के साथ १२२७ भी अंकित है जो संभवतः मोहर वनने और लगने के समय का हिजरी सन् है। इस प्रति में रसलीन के तीन के तीनों ही ग्रंथ सग्रहीत है, पर उनमें से पुष्पिका किसी के भी अत में नही है और टवर्ग के अक्षर अधिकतर रसलीन द्वारा आविष्कृत रीति से ही लिखे है। वहुत संभव है यह प्रति स्वयं रसलीन के ही हाथ की लिखी हो, उनसे ही उनके पुत्र, सैयद निहाल, के पास आई हो और सैयद निहाल से उनके जामाता, सखावत अली को मिल गई हो तथा सखावत अली ही का नाम सखावत हुसेन खाँ भी रहा हो।

---

१. गुलाम मोहम्मद खाँ 'वासिल' विलग्रामी रचित "मुफ्ताहुल् हिन्द" नामक फारसी ग्रंथ से।
२. खाँ साहेव सैयद वसीउल हसन विलग्रामी: "रोजतुल कराम" भाग १, पृष्ठ ७०।
३. वही, भाग २, पृष्ठ १९७।
हयाते जलील, भाग १, पृ० २४०
४. 'रोजतुल कराम' पृ० ८०

रसलीन के शिष्य

मीर्जा जाने जाना, उपनाम 'मजहर' देहल्वी, उर्दू और फारसी के विख्यात कवि हो गए हैं। 'सर्वे आजाद' में लिखा है कि इन्होने हिंदी काव्य रचना मीर गुलाम नबी से ही सीखी थी।[1] पहले के फारसी लेखक अधिकतर 'हिंदी' शब्द का प्रयोग उर्दू और हिंदी दोनो ही के लिये किया करते थे, पर सर्वे आजाद में, इस शब्द का प्रयोग, जान पडता है, केवल हिंदी के ही लिये हुआ है। दूसरे, रसलीन तो उर्दू कवि थे नहीं, उन्होंने यदि मजहर देहल्वी को काव्य-रचना की शिक्षा दी होगी तो वह हिंदी ही काव्य-रचना के सबध में रही होगी। मजहर देहल्वी का कोई हिंदी छद अभी तक प्राप्त नही हो सका है, पर बहुत सभव है खोज करने पर आगे चलकर प्राप्त हो जाय।

ग्रथ

रसलीन फारसी और हिंदी दोनो ही में कविता करते थे, पर थे वे कवि मुख्यतया हिंदी ही के। फारसी में उनका कोई ग्रथ देखने या सुनने में नही आता, केवल कुछ स्फुट ही छद पाए जाते हैं जो सर्वे आजाद में दिए हैं। हिंदी में रसलीन के कुल तीन ही ग्रथो का अब तक पता चल पाया है—अगदर्पण, रसप्रबोध, और उन्हीं के कुछ फुटकर कवित्त, सवैया आदि का एक सग्रह।

उनका सब से पहले पूरा होनेवाला ग्रथ है, "अगदर्पण" या "शिखनख"। कवि के ही अनुसार इसका रचना काल विक्रम सवत् १७९४ है। वे कहते हैं—

'ब्रज बानी सिख नख रची, यह रसलीन रसाल।
गुन सुवरन नग अरथ लहि, हिय धरो जीवन माल॥
अग अग को रूप सब, यामें परत लखाय।
नाम 'अग दपन' धर्यो, याही गुन ते ल्याय॥
सत्रह सै चौरान्नवे, सबत में अभिराम।
यह सिख नख पूरन कियो, लै सुख प्रभु को नाम।'[2]

रसलीन का जन्म विक्रम सवत् १७५६ का है। अत इस ग्रथ की रचना के समय वे ३८ वर्ष के रहे होंगे।

अगदपण के विषय में एक बात विशेष रूप से उल्लेखनीय है। हिंदी का सुविख्यात "अमी हलाहल मद भरे" वाला दोहा पहले समझा जाता था कि बिहारी का है। बाद में जब से काशी के भारत जीवन प्रेस ने रसलीन का 'अगदपण' प्रकाशित किया तब से यह सर्वमान्य सा हो गया कि उक्त दोहा बिहारी का नहीं प्रत्युत रसलीन का ही है। पर, यह दोहा बिहारी का हो चाहे न हो, उसके रसलीन-रचित होने में पर्याप्त सदेह है और अगदपण का तो वह नहीं है। भारत जीवन प्रेस द्वारा प्रकाशित अगदपण में 'अमी हलाहल' वाले दोहे को मिलाकर कुल १८० दोहे है पर मीर गुलाम

---

१ सर्वे आजाद, पृ० ३१२, ३७२

२ अगदपण

अली आजाद के अनुसार अंगदर्पण केवल १७७ ही दोहों का ग्रंथ है। 'सर्वे आजाद" में वे लिखते हैं—"अज नतायज फिक्र ओ' सिख नख' सद व हफ्ताद व हफ्त दोहा अस्त कि आंरा 'अग दर्पण' नाम गुजाश्ता।"[१] अंगदर्पण की जितनी उपलब्ध हस्तलिखित प्रतियाँ है उनमें भी १७७ ही दोहे हैं और उन १७७ दोहों मे "अमी हलाहल" वाला दोहा नही है। अतः इसमें तनिक भी संदेह नही कि उक्त दोहा अंगदर्पण का नही है। उक्त दोहे की भाषा और शैली रसलीन की अपेक्षा विहारी के ही अधिक निकट है। अत. वहुत संभव है कि उसके सवंध में लोगो की पहले ही वाली धारणा अधिक ठीक हो।

रसलीन का दूसरा ग्रंथ 'नायिका वर्णन' या 'रसप्रवोध' रसलीन ही के अनुसार हिजरी सन् ११५४ में निर्मित हुआ। वे कहते है :—

"ग्यारह सै चौवन सकल, हिजरी सवत् पाय।
सव ग्यारह सै चौवनें, दोहा राखे ल्याय।"[२]

हिजरी सन् ११५४ में रसलीन लगभग ४२ वर्ष के रहे होगे।

तीसरा ग्रंथ किसी एक समय नही वना और इसीसे उसमें उसका निर्माणकाल भी नही दिया है। रसलीन ने समय समय पर जितने कवित्त सवैये आदि लिखे थे वही सव इसमे एक सुव्यवस्थित ढंग से संग्रहीत है। स्वरचित कवित्त और सवैयों को एकत्र और सुव्यवस्थित करके उन्हे एक पुस्तक का रूप देने का कार्य जान पड़ता है रसलीन ने स्वय किया था। कव किया ? यह पता नही पर कई वातों को देखते जान पडता है कि यह कार्य हुआ होगा अगदर्पण और रसप्रवोध दोनो की रचना के वाद ही। इस ग्रंथ मे कुल ९८ छंद है और सव एक क्रमविशेष मे आवद्ध है। इस ग्रथ की अव तक केवल दो ही प्रतियाँ मिली है। उनमे से एक मेरे पास है और दूसरी रामपुर के राजकीय पुस्तकालय में। दोनो मे छदो का क्रम और उनकी संख्या समान है। अव तक लोगो की धारणा थी कि रसलीन ने दोहे ही दोहे लिखे है पर अव इस ग्रंथ के प्रकाश मे आने से यह भ्रम दूर हो जायगा। इस ग्रथ के कुछ छंद तो इसी लेख मे ऊपर आ चुके है और कुछ नीचे उद्धृत किए जा रहे है :–

गात रस कवित्त

तेरेई मनोरथ को होत है सपन लोक
तूही ह्वै अकास करै नखत उदोत है।
तूंही पाँचो तत्व सैल नर पसु पंछी होत
तूही ह्वै मनुख पूजै गोत ओ अगोत है।
तूही वन नारी फिर ताके रसलीन होत
तूंही ह्वै कै सत्रु लेत आपन ते पोत है।
जाग परे झूठहु ज्यो सपन लोक होत
त्यौ ही आत्मा-विचार लोक जागत को होत है ॥

१. सर्वे आजाद, पृ० ३७२

२. रसप्रवोध

१८

सारद ऋतु मध्य चाँदनी वर्णन

उज्ज्वल बसन तन मजुल सुदाम जुत
मोतिन के भूखन नारि अति छबि पाई है।
चद सा बदन दृग मोहें रसलीन मृग
हास दसन की मरीचिका दिखाई है।
ओस के समान झरत स्रम-स्वेद कन
मद मद मौन वात लावत सुहाई है।
सारद समय की निसि चद्रिका न होय यह
धरा की छलन कोउ छरा चलि आई है॥

दूती को बचन

आव कहै सुखदानी जब तब भाखा रहा सुखे तें कोउ भाख[१]।
छावै मधुब्रत मालती फूल तौ कद की चोप न कमेहु राख।
खाव निरतर पान को आन सो काहे को दॉतन लाव रि लागै।
पावै जो ऊ मुखचद की जोत चकोर तो चद्रिका भूल न चागै॥

प्रोषितपतिका

अवधि गई हरि की रसलीन सो वनितान हिये घन आग तई है।
ताहि समय पिय आए अचानक देखत हीं सियराइ गई है।
भोरहि फेरि चले तन की अवनो गनि ऐसी विचारि लई है।
माना ममान बुझे करके फिर नेह में बोरि जराइ दई है॥

१ इसमे रसलीन की देववाणी सस्कृत के प्रति आस्था दर्शित होती है।

भिक्षापात्र लिए ध्यानस्थ भगवान् वुद्ध की मूर्ति
भारतीय चीनी कला
ई० ६ठी शती

—लखनऊ संग्रहालय

एको रसः

बलदेव उपाध्याय

रस सुखमय या दुःखमय

काव्य तथा नाट्य का सर्वस्व रसोन्मेष ही है। वर्णन तथा अभिनय के द्वारा सामाजिक के हृदय में रस का उन्मीलन करना सहृदय के चित्त में रागात्मिका वृत्ति का उदय करना कवि का प्रधान कर्तव्य होता है। परन्तु रस के स्वरूप के विषय में अर्वाचीन आलोचकों तथा प्राचीन आलंकारिकों में पर्याप्त मतभेद दृष्टिगत होता है। रस का आस्वाद किं रूप है। इस प्रश्न के उत्तर में सभी आलोचकों का उत्तर एकरूप नहीं है। रस आनंदरूप है, सुखात्मक है, आलोचकों का बहुमत इसीके पक्ष में है, परन्तु कतिपय आलोचकों की दृष्टि में अनेक रसों की सुखानुभूति में तारतम्य है। एक ही प्रकार की सुखात्मिका अनुभूति प्रत्येक रस के आस्वाद में उत्पन्न नहीं होती। किसी में इस अनुभूति की मात्रा तीव्र होती है और किसी में नितांत सौम्य। अनेक आलोचक सब रसों में इस अनुभूति को सुखात्मक भी नहीं अंगीकार करते। उनकी दृष्टि में रस की अनुभूति निश्चित रूप से सुखात्मक है, परन्तु करुण, भयानक, बीभत्स तथा रौद्र रसों की अनुभूति दुःखात्मक है।

हमारे प्राचीन काश्मीरी आलंकारिकों की सम्मति में तथा तदनुयायी अन्य मान्य आलोचकों की दृष्टि में रस आनंदात्मक ही होता है, परन्तु मध्ययुगी कतिपय आलोचक रस को दुःखात्मक मानने के पक्षपाती हैं। 'नाट्यदर्पण' के रचयिता रामचंद्र और गुणचंद्र (१२ शताब्दी) ने विस्तार से इस मत का प्रतिपादन किया है। उनका सिद्धांत है सुखदुःखात्मको रसः (कारिका १०९)। इस वाक्य की व्याख्या से उनके मत का पूरा परिचय मिलता है। भयानक, बीभत्स, रौद्र तथा करुण रस के वर्णना के श्रवण से अथवा दर्शन से श्रोता तथा दर्शक के चित्त में एक विचित्र प्रकार की क्लेशदशा उत्पन्न होती है। इन रसों के अभिनय से इसीलिये समाज उद्विग्न होता है। सुखास्वाद से कथमपि उद्वेग उत्पन्न नहीं हो सकता। अतः उद्वेग का उदय होना इसका स्पष्ट प्रमाण है कि इन रसों की अनुभूति सुखात्मिका नहीं है। दुःखात्मक अनुभूति होने पर भी सामाजिक की प्रवृत्ति इसीलिये होती है कि कवि की शक्ति और नट के कौशल से वस्तु के प्रदर्शन में विचित्र चमत्कार का उदय होता है।[1]

---

१ भयानकादिभिरुद्विजते समाजः। न नाम सुखास्वादाद् उद्वेगो घटते। यत् पुनरेभिरपि

इसी चमत्कार से विप्रलब्ध दर्शक दु:खात्मक दृश्यों के देखने के लिये व्याकुल रहता है। दर्शक की प्रवृत्ति का यही कारण है। कवि की प्रवृत्ति का भी रहस्य है। लोकवृत्त का अनुकरण ही नाट्य ठहरा। जगत् की घटनाओं में ही सुख तथा दु:ख का समिश्रण इतनी विचित्रता से उपलब्ध होता है कि यथार्थता का पक्षपाती कवि अपने काव्य में दुःख के चित्रण की उपेक्षा नहीं कर सकता। यदि कहा जाय कि अनुकरण के समय दु:खात्मक दृश्य सुखात्मकरूप से प्रतीयमान किए जाते हैं, तो ऐसी दशा में क्या वह अनुकरण के सम्यक् तथा शोभन माना जायगा। लोकवृत्त के सम्यक् अनुकरण के ऊपर ही तो कवि की कला आश्रित रहती है। जिस प्रकार शरबत में तीखे स्वाद वाले पदार्थों की सत्ता होने पर भी विचित्र आस्वाद उत्पन्न होता है, उसी प्रकार काव्य में दु:खास्वाद की सत्ता होने पर भी उससे विरति नहीं होती, प्रत्युत विचित्र आस्वाद के कारण प्रवृत्ति ही होती है।[2]

'रसकलिका' के लेखक रुद्रभट्ट इसी मत से सहमत हैं। वे भी करुण रस की अनुभूति को दु:खात्मक मानने तथा रस को सुखदु:ख उभय रूपात्मक स्वीकार करने के पक्षपाती हैं[3]। प्रसिद्ध अद्वैतवादी वेदांती मधुसूदन सरस्वती को इस मत का आंशिक समर्थन करते हुए देखकर आश्चर्य होता है। उन्होंने सांख्य तथा वेदांत पक्ष का अवलंबन कर रस निष्पत्ति की द्विविध प्रक्रिया प्रदर्शित की है। सांख्य मतानुयायी व्याख्या में रस की अनुभूति के अवसर पर आनंद में तारतम्य दिखलाया है। मधुसूदन सरस्वती के मतानुसार सत्व के उद्रेक कहाँ? क्रोध में रजोगुण का प्रावल्य रहता है और शोक में तमोगुण का। परंतु सत्व की इतनी मात्रा उनमें अवश्य विद्यमान रहती है जिससे वे स्थायी भाव की कोटि पर पहुँच जाते हैं। स्वभावतः रज तथा तम के द्वारा मिश्रित होने के कारण तद्गत सत्व विशुद्ध तथा प्रबल नहीं माना जा सकता। क्रोधमूलक रौद्र रस में तथा शोकमूलक करुण-रस में विशुद्ध आनंद की सत्ता नहीं होती, प्रत्युत रज तथा तम के मिश्रण के अनुसार उनके आनंद में तारतम्य बना रहता है। इसीसे सब रसों में एक ही प्रकार के समान सुख का अनुभव नहीं होता।

द्रवीभावस्य च सत्त्वधर्मत्वात् तं विना च स्थायिभावासम्भवात् सत्त्व गुण सुखरूपत्वात् सर्वेषां भावानां सुखमयत्वेपि रजस्तमोमिश्रणात् तारतम्यम् अवगन्तव्यम्। अतो न सर्वेसुरसेषु तुल्यसुखानुभवः।
भक्तिरसायन, पृ० २२।

यह रसानुभूति का एकांगी पक्ष है जो युक्तिहीन होने से न तो माननीय है और न आदर-णीय। लोक में वस्तुओं में नाना प्रकार की विषमता दृष्टिगोचर होती है। यह स्वरूपगत वैषम्य ही पूर्वोक्त आपत्ति का निदान है। लोक में सिंह के जिस गर्जन को सुनकर वीरपुरुषों के भी हृदय

चमत्कारो दृश्यते, स रसास्वाद विरामे सति यथावस्थित वस्तुप्रदर्शकेन कविनट शक्ति कौशलेन। अनेनैव च सर्वांगह्लादकेन कविनटशक्ति जन्मना चमत्कारेण विप्रलब्धा परमानन्दरूपता दु:खात्मकेष्वपि करुणादिसु सुमेधसः प्रतिजानते। नाट्यदर्पण पृ० १५९।

२ कवयस्तु सुखदु:खात्मक संसारानुरूपेण रामादिचरित निबध्नन्तः सुखदु:खात्मकर सानुविद्ध-मेव ग्रथ्नन्ति। पानरसमाधुर्यमिव च तीक्ष्णास्वादेन सु खास्वादेन सुतरां सुखानि स्वदन्ते। नाट्यदर्पण, वही।

३. करुणामयानामपि उपादेयत्वं समाजिकानाम् रसस्य सुखदु:खात्मकतया तदुभयलक्षणेन उपपद्यते। अतएव तदुभयजनकत्वम्। रसकलिका।

में प्रबल भय का सचार होता है उसीका काव्यगत चित्रण आनद के उदय का कारण कस बन सकता है। लोक तथा काव्य में साम्य दीखता है लोक में भयजनक वस्तु काव्य में विन्यस्त होने पर भय जनक ही होनी चाहिए। भय तथा सुख में भूयसी विषमता है। भयोत्पादक पदार्थ कथमपि सुखात्मक नहीं हो सकता। इस मत का यही युक्तिवाद है। यह कथमपि आश्रयणीय तथा आदरणीय नही है।

मत की समीक्षा

अखिल विश्व में व्यापक ब्रह्म को लक्ष्य कर तैत्तिरीय श्रुति कहती है—रसो वै स। रस ह्येवाय लब्धा आनदी भवति[1]। वह रसरूप है। रस ही को पाकर ससार का प्राणी आनदित होता है। यह रसात्मक ब्रह्म जगत् के प्रत्येक पदार्थ में जब रम रहा है, तब यह कस माना जा सकता है कि इन पदार्थों में रस के उत्पन्न करने की क्षमता नहीं है। सुख उत्पन्न करने का योग्यता नही है। तथ्य बात है कि ससार का प्रत्येक पदार्थ रसात्मक है, सुखात्मक है, काव्य में ग्रहीत होने पर आनद दायक है। इसीलिये आनदवर्धन कवि की गरिमा तथा उत्तरदायिता का उद्घोष कर रहे है।[2]

न सा विद्या न सा कला
जायते यत्र काव्यागमहो भारो महान् कवे।

ब्रह्म सच्चिदानद रूप है। ब्रह्मानद ससार में समस्त आनदो का चरम अवसान है। आनदमय ब्रह्म से व्याप्त वस्तुओ में आनददायिनी शक्ति विद्यमान रहती है। अत स्वभावत नानाप्रकृतिवाले पदार्थों में आनद के उन्मीलन की क्षमता मानना नितान्त युक्तियुक्त है।

भाव दो प्रकार का होता है। बोध्यनिष्ठ तथा बोद्धृनिष्ठ। वर्णनीय विषय में रहनेवाला तथा बोद्ध सामाजिक के हृदय म रहनेवाला। इन दोनो में बोध्यनिष्ठ स्थायीभाव अपने स्वाभावानुसार सुख, दुख तथा मोह की उत्पत्ति का कारण बनता है, परतु बोद्धा सामाजिक के चित्त में रहनेवाले समस्त भाव कवल सुख के ही कारण होते है।

बोध्यनिष्ठा यथास्व ते सुखदु खादिहेतव।
बोद्धृनिष्ठास्तु सर्वेऽपि सुखमात्रैक हेतव॥
भक्तिरसायन ३।५

इस पार्थक्य के मूल में कारण है भावो की लौकिकता तथा अलौकिकता। लौकिक भाव अर्थात् ससार-गत भाव नाना प्रकार के परिणाम उत्पन्न करते है परतु अलौकिक भाव अर्थात् काव्यगत भाव केवल आनद की ही अनुभूति कराते है। ससार के भाव वैयक्तिक होते है काव्य के भाव साधारणीकृत होते है। वैयक्तिक सबध के कारण ही अपनी वस्तु मे प्रेम उत्पन्न होता है। शत्रु की वस्तु से द्वेष उत्पन्न होता है और तटस्थ की वस्तु मे उदासीनता उपजती है। काव्य की दशा इससे सर्वथा भिन्न है। शब्द के द्वारा निबद्ध होते ही भावो मे वैयक्तिकता व्यापार का उदय हो जाता है। श्रोता भावो से वैयक्तिकता का अपसरण कर देता है और उन्हें साधारण प्राणीमात्र के भाव के रूप में

---

१ तैत्तिरीय उपनिषद् २।८।
२ ध्वन्यालोक।

ग्रहण करता है। उपवन के वीच मलयानिल के झोके से झूमने वाला गुलाव का फूल कलाकार के लिये कोई विशिष्ट पुष्प नही होता प्रत्युत वह आनंद का एक सामान्य प्रतीक होता है। रंगमंच के ऊपर अभिनीत शकुन्तला किसी अतीत युग की विस्मृतप्राय सुदरी नही होती, प्रत्युत एक हृदयावर्जक कमनीय नायिका की प्रतिनिधि वन कर ही प्रस्तुत होती है। इसी साधारणीकरण व्यापार के द्वारा काव्य में निवद्ध प्रत्येक पदार्थ तथा भाव में रस के उन्मीलन की अपूर्व क्षमता उत्पन्न हो जाती है। भावो को आनददायक वनाने के लिए आवश्यकता है शोधन की। शोधन के द्वारा क्षुद्र लोहा ताँवा आदि धातुओं से वहुमूल्य सुवर्ण वनाया जा सकता है। उसी प्रकार शोधन के द्वारा भावो की भी परिणति आनंदरूप में संपन्न की जा सकती है। आधुनिक मनोविज्ञान इसी प्रक्रिया को 'भावों' का शोधन या उदात्तीकरण 'सव्लीमेशन आफ इमोशन्स' के नाम से पुकारता है। भावों की परिणति यदि भोग में ही होती है, तो इस अधोगामी मार्ग से नानाप्रकार के सुखदुखादि परिणाम उपजते है, परंतु उनका निरोधकर ऊर्ध्वगामी पंथ का आश्रय लेने पर वे ही भाव उदात्त वन जाते है तथा आनंद की ही सृष्टि करते है। इसीलिये रस की अनुभूति सुखात्मिका ही मानी गई है, दुखात्मिका नही। अग्निपुराण की यह उक्ति इस प्रसंग मे ध्यान देने योग्य है। वेदात में जिस परब्रह्म को अक्षर, सनातन, अज विभु, चैतन्य तथा ज्योति आदि अभिधानों से पुकारते है उसका सहज स्वभाव है आनद। उसी आनंद की प्रभा अभिव्यक्ति काव्य नाटक मे 'चैतन्य' 'चमत्कार' या 'रस' के द्वारा निर्दिष्ट की जाती है। अतः परमब्रह्म के आनंद की अभिव्यक्ति होने के कारण रस सर्वदा आनंद दायक होता है, इसमें सदेह का लेश भी नही है:

अक्षरं परमं ब्रह्म सनातनमज विभु।
वेदान्तेषु वदन्त्येक चैतन्यं ज्योतिरीश्वरम्॥
आनन्दः सहजस्तस्य व्यज्यते स कदाचन।
व्यक्ति. सा तस्य चैतन्य चमत्कार रसाह्वया॥

अग्निपुराण, अ० ३३९,१ श्लोक १,२।

तथ्य वात यह है कि जगत् में कोई भी वस्तु कुरूप नही है, रसहीन नही है। 'रसो वै सः०" यदि सच्चा है, तो प्रत्येक पादार्थ मे रस है, सौदर्य है तथा आनंद देने की शक्ति है। कुरूप कोई है तो हमारी ही दृष्टि है, जगत की वस्तु नही। कविवर रवीन्द्रनाथ ने अपने 'सौदर्य वोध' नामक सुंदर लेख में दिखलाया है कि वास्तव सौदर्य जगत् के पदार्थो से ऊपर उठकर किसी आदर्श संसार की वस्तु नही है, प्रत्युत प्रत्येक पदार्थ में पूर्ण सौदर्य स्वयं विद्यमान है। इसके ग्रहण के लिये हमारी दृष्टि विशुद्ध होनी चाहिए। अतः संसार का प्रत्येक पदार्थ, चाहे वह कितना भी अशोभन या वीभत्स क्यो न हो, सुखात्मक अनुभूति का उपकरण अवश्य वन सकता है।

२.

रस पर दार्शनिक दृष्टि

द्रष्टा होने पर ही रस का अनुभव होता है। प्रकृति में लीन हो जाने पर रस का अनुभव नही होता। 'द्रष्टा' का अर्थ है तटस्थरूप से दर्शन करनेवाला व्यक्ति। प्रकृति के पदार्थ में लीन न

होकर पृथक् रूप से वस्तु के रूप का द्रष्टा ही प्रकृत पक्ष में रस की अनुभूति कर सकता है। जो व्यक्ति प्रकृति की वस्तुओ में आसक्तभाव से लीन हो जाता है वह केवल राग 'द्वेष' का ही अनुभव करता है, रस का नही। रसानुभूति के निमित्त ताटस्थ्य, तटस्थता, अनासक्तिभाव की नितात आवश्यकता रहती है। यह केवल काव्य जगत का ही मौलिक सिद्धात नही है, प्रत्युत प्रत्येक कला के विषय में एकात तथ्य है। सौंदर्य की अनुभूति सर्वत्र ताटस्थ्य पर आश्रित रहती है। बगीचे में खिले हुए गुलाब फूल से उत्पन्न सौंदर्य भावना पर दृष्टिपात कीजिए। सौंदर्य की अनुभूति के अवसर पर द्रष्टा को स्वत्व या अधिकार की भावना कभी उदित नही होगी। उस बगीचे का स्वामी भी यदि स्वत्व की भावना से प्रेरित होता है, तो उसे आनद का उदय नहीं हो सकता। "यह मेरा है" यह समझकर न तो कोई उसे तोडकर अपने कानो के ऊपर रखता है और न तो उसे नाक के पास सूघने के लिये ले जाता है। प्रत्युत वह उसे यथास्थान रहने देता है और द्रष्टा रूप से उसमे आनद ही लेता है। भगवान की लीला के अवसर पर भी यही बात होती है। प्रकृति के समग्र पदार्थों में आसक्त रहकर भी भगवान् अपने को पृथक् रखकर उन्हें देखता है, तभी उसे आनद आता है। इस प्रकार भागवती लीला आसक्तरूप से नही होती, ताटस्थ्यरूप से ही होती है। इससे रस की दार्शनिक दृष्टि न तो एकात भेदवाद की है और न नितात अभेदवाद की, प्रत्युत 'अभेदेपि भेद' अथवा 'भेदे प्यभेद' ही रसोमीलन का दार्शनिक दृष्टिबिंदु है। यदि रसावस्था में नितात अभेद मान लिया जाय, तो इस ऐक्यभाव में आनद का उदय नही हो सकता। यदि भेद स्वीकार किया जाय, तो इस भिन्नता में भी आनद का उद्गम सभव नही। सहृदय के हृदय में सहानुभूति होने पर ही भाव का उदय हो सकता है। सहानुभूति तभी उत्पन्न होती है जब व्यक्ति अपने को पृथक रखते हुए भी वस्तु के साथ तादात्म्य का अनुभव करता है। यह अवस्था न पूर्णभेद की है और न पूर्ण अभेद की, प्रत्युत 'अभेदेपिभेद' की है। रसानुभूति का यही वैशिष्ट्य है जो विख्यात दार्शनिक सप्रदायों से उसका पार्थक्य स्पष्ट ही उद्घोषित कर रहा है।

रस और न्याय दर्शन

न्यायदर्शन द्वैतवादी तत्वज्ञान है। उसका अतिम लक्ष्य है दुखो की अत्यत निवृत्ति। इसके अनुसार मुक्तावस्था में जीव अपने विशिष्ट गुणो से रहित हो जाता है। इन गुणो में दुख के साथ सुख की भी गणना है। नैयायिको का आग्रहपूर्वक कथन है कि मुक्त आत्मा में आनद की उपलब्धि नही होती। सुख के साथ राग का सबध लगा हुआ है। और यह राग बधन का कारण है। अत मोक्ष को सुखात्मक मानने में राग की सत्ता सिद्ध होने से बधन की निवृत्ति कथमपि नही हो सकती। 'आनद ब्रह्म' आदि ब्रह्म को आनदमय बतलाने वाली श्रुतिया का तात्पर्य सत्तात्मक न होकर निषेधात्मक है। उसका अभिप्राय दुखापाय बोधन में है। लोक व्यवहार में भी तो यही बात दीख पडती है। सिर की पीडा से कराहते हुए या ज्वर के दुखद सताप से व्याकुल हुए पुरुष का अनुभव इसी सिद्धान्त को पुष्ट करता है। शिर पीडा की अथवा ज्वर की निवृत्ति होने पर रोगी अपने को सुखी मानने लगता है। यहाँ हुआ केवल दुख का अपनयन, निषेधात्मक व्यापार, परन्तु माना जाता है सुख का उदयरूप सत्तात्मक व्यापार। मोक्ष की भी यही अवस्था है।

न्याय की इस प्रक्रिया में आनदमय रस के लिये स्थान कहाँ है। दुख बहुल ससारदशा में न उसका स्थान है और न दुखसुखविहीन मोक्ष दशा में उसका आश्रय है। इसीलिये नैयायिको का

वेदातियो तथा वैष्णवो न बडा ही उपहास किया है। नैयायिक मुक्ति की पूर्वोक्त कल्पना अन्य दार्शनिको के कौतुकावह कटाक्ष का विषय है। मुक्तावस्था मे समग्र अज्ञानावरणों से विमुक्त आत्मा में आनद अंगीकार करनेवाले वेदाती श्रीहर्ष का यह उपहास जितना साहित्य की दृष्टि से रोचक है उतना ही दार्शनिक दृष्टि से युक्तियुक्त है। उनका कहना है कि जिस सूत्रकार ने सचेता पुरुषो के [1] लिये ज्ञान सुखादि विरहित शिलारूप प्राप्ति को जीवन का परम लक्ष्य बतला कर उपदेश दिया है उनका "गोतम" यह अभिधान शब्दत. ही यथार्थ नही है, अपितु अर्थत. भी समुचित है। वह केवल गो बैल न होकर 'गोतम' पक्का बैल, अतिशयेन गौः गोतम. है। मुक्तावस्था में आनदधाम गोलोक तथा नित्य वृन्दावन मे सरस विहार की व्यवस्था माननेवाले वैष्णवजन इस निरानद मुक्ति की नीरस कल्पना से घबरा उठते है और भावुक हृदय से पुकार उठते है कि वृन्दावन के सरस निकुंजो में शृगाल बनकर जीवन बिताना हमें मजूर है, पर नैयायिकों की मुक्ति पाना हमें कथमपि पसंद नही है।

वरं वृन्दावने रम्ये शृगालत्व वृणोम्यहम्।
वैशेषिकोक्तमोक्षात्तु सुखलेशविवर्जितात्॥

ऐसे नैनायिकों के तर्कों से आनंदरूप रस की निष्पत्ति कथमपि नही हो सकती। न्यायपक्ष के रसिक श्री शकुक का यह निराधार कथन है कि अभिनय के कौशल से नट मे, तदुपरात सामाजिक में रस की निष्पत्ति अनुमान से होती है। उनका 'अनुकरणात्मको रस.' सिद्धात केवल खडन रस की चरितार्थता के लिये ही हमारे आलोचना ग्रथो मे निर्दिष्ट किया गया है, कोई भी आलोचक उसका मडन तथा पोषण करने के लिये आगे नही आता।

सांख्य और रस

रस की व्याख्या के अवसर पर आलोचकों ने साख्य दर्शन के तत्वों का बहुश. उपयोग किया है। मुक्तिवादी भट्टनायक साख्यमतानुयायी रस व्याख्यान के पक्षपाती बतलाये जाते है। आदि रस को 'अभिमान' रूप मानने वाले भोजराज भी निश्चय ही साख्य के ऋणी है, परंतु साख्य के मौलिक मत से रस की अभिव्यक्ति का कथमपि सामंजस नही पटता। भट्टनायक ने अपने भोग व्यापार को 'सत्वोद्रेक प्रकाशानदमय संविद्विश्रान्ति' रूप स्वीकार किया है। इसका अभिप्राय यही है कि रस की मुक्ति में जिस आनंदमयी संवित् का उदय होता है वह सत्य के उद्रेक से ही होती है। तीनों गुणो में सत्व ही सुखात्मक होता है। अत उसके आधिक्य के अवसर पर आनद का उद्गम मानना नितात सयुक्तिक है। और इस सिद्धात को अभिनवगुप्त आदि व्यक्तिवादी आचार्यो ने भी अंगीकार किया है। इतना मानने के लिये हम भी तैयार है, परन्तु इसके आगे बढ़कर दोनों की समता दिखलाने में अनेक विपत्तियाँ प्रस्तुत हो जाती हैं।

---

१. मुक्तये य. शिलात्वाय शास्त्रसूत्रे सचेतसाम्
गोतमं तमवेक्ष्यैव यथावित्थ तथैव स.। (नैषध चरित १७।७५)

१ सर्वसिद्धान्त संग्रह, पृ० २८

२. श्रीशंकक के मत का दारुण खडन अभिनवगुप्त के नाट्यगुरु भट्ट तौत ने विस्तार से किया है। द्रष्टव्य अभिनव भारती खड १

१९

रस की अनुभूति के लिये दो वस्तुओं की विशेष आवश्यकता होती है। पहिली है वियोग और दूसरी है संयोग। प्रथमतः वियोग, तदनन्तर संयोग। प्रथमतः विरह, अनन्तर मिलन। विरहावस्था रसानुभूति की प्रक्रिया में एक अपार आवश्यक स्तर है। विरह मिलन की माधुरी का जनक है। बिना विरह हुए क्या मिलन कभी आनंददायक हो सकता है। विप्रलंभ के ऊपर कविजनों के आग्रह का यही रहस्य है। अलकापुरी में यक्ष को बिना निर्वासित किये उसका अपनी प्रेयसी से मिलन क्या आनंदमय माना जा सकता है। इसीलिये कालिदास ने विरह में आनंदानुभूति की महिमा गाते हुए कहा है —

> स्नेहानाहुः किमपि विरहे ध्वंसिनस्ते त्वभोगाद्।
> इष्टे वस्तुन्युपचितरसाः प्रेमराशीभवन्ति॥
>
> उत्तरमेघ, ५१ श्लोक।

विरह की दशा में स्नेह अन्तर्हित हो जाता है, सचमुच ज्ञानविहीन मूर्खों की ही यह कल्पना है। वे निरे भोले कवि यह ठीक नहीं जानते कि विरह में भोग न होने के कारण इष्ट वस्तु के विषय में स्नेह कम नहीं होता, प्रत्युत उसका आनंद वृद्धिगत होकर वह प्रेम का महनीय भंडार बन जाता है। अतः विरह के अनन्तर संयोग का पुष्टता तथा प्रौढ़ता कविजनमान्य है। कालिदास का यह स्नेहविषयक वचन रस के मौलिक तथ्य का परिचायक है।

रस का यह वैशिष्ट्य सांख्यमत में कथमपि सिद्ध नहीं होता। सांख्य मत में आरंभ से ही पुरुष प्रकृति के साथ संयुक्तावस्था में वर्तमान रहता है। परंतु इस दशा में रस का उदय नहीं हो सकता, क्योंकि यह है अज्ञान दशा। पुरुष अपने शुद्ध रूप को कथमपि जानता ही नहीं। पुरुष स्वभावतः असंग तथा मुक्त है, परन्तु अविवेक के कारण उसका प्रकृति के साथ संयोग आरंभ से ही निष्पन्न हो गया है। तत्त्वज्ञान से विवेक ख्याति उत्पन्न होती है। तब पुरुष प्रकृति से अपने को पृथक् कर लेता है। अतः रस का प्रथम पक्ष वियोग तो सम्पन्न हो गया, परन्तु संयोगरूप द्वितीय पक्ष अभी तक उदित नहीं हुआ। ज्ञानी पुरुष के सामने प्रकृति की समस्त लीलायें स्वतः बंद हो जाती हैं। इस विषय में सांख्याचार्य प्रकृति की तुलना उस अभिनयशीला नटी के साथ करते हैं[1] जो रंगमंच में उपस्थित दर्शकों के सामने अपनी कलाबाजी दिखलाकर कृतकार्य होकर नर्तन व्यापार से स्वतः निवृत्त हो जाती है। वस्तुतः प्रकृति से सुकुमारतर व्यक्ति दूसरा है ही नहीं। वह इतनी लज्जाशीला है कि एक बार पुरुष के द्वारा अनुभूत हो जाने पर उसके सामने उपस्थित ही नहीं होती।[2]

विवेकी व्यक्ति के सामने प्रकृति का कोई व्यापार ही नहीं होता। उस प्रयोजन की सिद्धि होने पर प्रकृति का व्यापार स्वयं विराम को प्राप्त कर लेता है। यही है सांख्यानुसार मोक्ष की

---

१ रंगस्य दर्शयित्वा निवर्तते नर्तकी यथा नृत्यात्।
पुरुषस्य तथात्मानं प्रकाश्य विनिवर्तते प्रकृतिः॥
साख्य कारिका, ५९।

२ प्रकृतेः सुकुमारतरं न किंचिदस्तीति मे मतिर्भवति।
या दृष्टास्मीति पुनर्न दर्शनमुपैति पुरुषस्य॥
साख्यकारिका, ६१ का०।

कल्पना। साख्यसूत्र ३।६५ के अनुसार अपवर्ग है दोनों प्रकृति पुरुष का परस्पर वियोग होना या एकाकी होना अथवा पुरुष की प्रकृति से पृथक् स्थिति केवल रूप मे रहना। मुक्तावस्था में पुरुष को यह निश्चित ज्ञान उत्पन्न हो जाता है[1] कि 'नास्मि' मे स्वभावतः निष्क्रिय हू, क्योंकि मुझ में किसी प्रकार की क्रिया का सबंध नही है। 'नाहम्' क्रिया के निषेध होने से मुझे में किसी प्रकार का कर्तृत्व नहीं है। 'न में' असंग होने के कारण किसी के साथ मेरा स्वस्वाभिभाव संबध नही है। इस प्रकार क्रियाहीनता, सगहीनता तथा कर्तृत्वहीनता का उदय मुक्त पुरुष में प्रकृति के व्यापार विरत होते ही होने लगता है।

यही है सांख्यानुयायी अपवर्ग की कल्पना। इस प्रक्रिया मे रस के लिए कही स्थान नही है। रस के लिये पार्थक्य तो यहाँ विद्यमान है, परतु तदनंतर संयोग की सत्ता कैवल्य संपन्न पुरुष में कहाँ। प्रकृति की लीला का ही जब अवसान हो गया है, तब पुरुष आनद का अनुभव ही किस प्रकार कर सकता है। रस के लिये उपयोगी विरहानंतर मिलन की कल्पना यहाँ नितात असंभव है। रस के लिए चाहिए प्रकृति पुरुष का ज्ञानपूर्वक ६३ का सबंध, परतु सांख्य मुक्ति मे विद्यमान रहता है पुरुष प्रकृति का ज्ञानपूर्वक ३६ का सबंध। अतः साख्य सिद्धात के अनुसार रस की यथार्थ निष्पत्ति सिद्ध नही की जा सकती।

वेदांत और रस——

जगत् में आनंद तीन प्रकार का होता है। १. विषयानंद, २ ब्रह्मानंद तथा ३. रसानंद ब्रह्म सच्चिदानद रूप है। वह स्वय आनंद रूप है। उसी आनंदमय ब्रह्म से प्राणी उत्पन्न होते है, जीते और अंत में उसीमें लीन हो जाते है[1]

आनंदाद्ध्येव खल्विमानि भूतानि जायन्ते।
आनदेन जातानि जीवन्ति।
आनदे प्रयत्यभिसंविशन्तीति।
आनदो ब्रह्मेति व्यजानात् तैत्तिरीय उपनिषद्॥ ३।६।१।

आनंद की उच्चतम कोटि ब्रह्मानद है जिसके अंतर्गत जगत् के समस्त आनद सिमिटकर एकत्र हो जाते है। इस आनदम्य ब्रह्म से ही आनद की मात्रा ग्रहण कर जगत् की वस्तुओं मे आनद उपलब्धि होती है। एतस्येव आनंदस्य अन्य आनंदा मात्रामुपजीवति। इन तीनो मे विषयानद हेय है तथा अन्य दोनों आनद उपादेय है। इन तीनों की स्थिति वासना या काम के ऊपर निर्भर है। विषयानंद की अपेक्षा रसानंद नितांत विलक्षण तथा उदात्त है, विषयानद लौकिक है, रसानंद अलौकिक। अशुद्ध वासना तथा सम भाव की सत्ता रहने पर ऐश्वर्य की प्राप्ति हो सकती है, परतु रस-उपलब्धि नही हो सकती।

---

१. एव तत्वाभ्यासान नास्मि न मे नाहमित्यपरिशेषम्।
अविपर्ययाद् विशुद्धं केवलमुत्पद्यते ज्ञानम्॥
सांख्य कारिका, ६४ का०।

ब्रह्मानद और रस

अब ब्रह्मानद तथा रसानद के परस्पर वलक्षण्य की मीमासा आवश्यक है। भट्टनायक ने रस को 'ब्रह्मानद सचिव' तथा विश्वनाथ कविराज ने 'ब्रह्मानद सहोदर' कहा है, 'ब्रह्मानदरूप' नही कहा। तथ्य बात यह है कि ब्रह्मानद तथा रसानद में आकाश पाताल का अतर विद्यमान है। ब्रह्मानद वासना या कामना के उच्छेद से उत्पन्न होता है। परतु रसानद वासना के विशोधन से साध्य होता है। सकाम भाव में वासना अवश्यमेव रहती है, परतु यह वासना होती है अशुद्ध जो विषय की ओर ही प्राणियो को ले जाती है। ब्रह्म प्राप्ति के अवसर पर इस वासना का सर्वथा उन्मूलन आवश्यक होता है, क्योकि वासना की कणिका के शेष रहते आत्मा कभी बधन से उन्मुक्त नही हो सकता, अत वासनाक्षय वेदात में मुक्ति के लिये नितात आवश्यक उपकरण होता है, साहित्यशास्त्र के अनुसार स्थायीभाव की ही तो रस रूप में परिणति होती है, परतु वेदातमत में वासनारूपी स्थायिभाव ही अविद्यमान रहता है तब रस का उन्मीलन किस प्रकार हो सकता है। वह भित्ति ही नहीं है जिस पर प्रासाद खडा किया जाय। वह बीज ही नही है जो वृक्ष के रूप में परिणत होकर आनद और छाया प्रदान करे। काम का सर्वथा उन्मूलन वेदातमत में वह प्रबल साधन है जो रसोन्मेष का नितान्त विरोधी है। रस की निष्पत्ति के लिये काम का उन्मूलन अभीष्ट नहीं है, प्रत्युत विशोधन आवश्यक है। वासना का विषम विषदत है सकाम भावना। इस विषदत को बिना उखाडे वासना का शोधन नही होता। रस की उपलब्धि के हेतु सकाम भाव को निष्काम भाव में परिणत होना ही होगा। इसी भावशुद्धि को बौद्ध लोग 'परावृत्ति' के नाम से तथा आधुनिक मनोवैज्ञानिक सब्लीमेशन आव इन्स्टिक्टस् के अभिधान से पुकारते है। आलोचना-शास्त्र साधारणीकरण व्यापार को भाव विशोधन का एकमात्र साधन अगीकार करता है। वैयक्तिक सबध की कल्पना ही भावो की अशुद्धि का कारण होता है। 'ममेय रति' यह मेरा प्रेम है कहनेवाला व्यक्ति व्यक्तिगत सबध की स्थापना कर अपने भाव को कलुषित तथा मलिन बना देता है। विभावादि व्यापार के द्वारा वैयक्तिक सबध के अपसारण से ही मलापनयन होता है और भाव अपने विशुद्ध रूप में चमक उठते है। इसका आशय यही है कि वासनाक्षय के ऊपर आश्रित ब्रह्मानद से वासना शुद्धि पर आधारित रसानद की तुलना कथमपि नही की जा सकती।

वेदात के अनुसार जाग्रत दशा में त्रिपुटी विद्यमान रहती है, पर ब्राह्मानद की दशा में त्रिपुटी का सर्वथा भग हो जाता है। यह त्रिपुटी है, ज्ञाता, ज्ञेय तथा ज्ञान। "आत्मा विषय को जानता है" यहा व्यवहारदशा में इन तीनो की सत्ता विद्यमान रहती है। तीनो वस्तुओ की सत्ता ससार दशा में पृथक रूप से रहती है, परतु मोक्षदशा में यह त्रिपुटी मिमिटकर ब्रह्म में ही लीन हो जाती है। एक सच्चिदानद, अखड न ज्ञेय की और न ज्ञान की ही सत्ता पार्थक्येन सिद्ध होती है। परतु रसोन्मेष की दशा में त्रिपुटी का भग नही होता, त्रिपुटी की सत्ता सिद्ध ही रहती है। इस प्रसग में मम्मट तथा विश्वनाथ के शब्द ध्यान से अवधारणीय है। उनका कथन "तत् काल विगलित परिमितप्रमातृभाववशोन्मिषित वेद्यान्तरसम्पर्क शून्यापरिमिति भावेन प्रमाणा वेद्यान्तरस्पर्श शून्य" अर्थात् रसदशा में अन्यवेद्य पदार्थ का स्पर्श तक नही रहता। वेद्यान्तर शब्द इस बात का स्पष्ट प्रमाण है कि दूसरी वेद्य वस्तु रसदशा में नही होती, वेद्यरूप रस ही विद्यमान रहता है। 'अपरप्रमाता परप्रमाता' के रूप में केवल बदल जाता है परतु उसके प्रमातृत्व का उपशम नहीं होता।

तात्पर्य यह है कि रस की उन्मीलन अवस्था मे प्रमाता सामाजिक विद्यमान रहता है, प्रमेव रस विद्यमान रहता है तथा तत्संबंधी प्रमा भी विद्यमान रहती है। अतः त्रिपुटी के सद्भाव के कारण इसे ब्रह्मानंद, प्रपंचातीत आनद होता है जिसे मुक्त पुरुष ही अपनी अनुभूति मे लाते है, परतु रसानंद प्रपंचगत आनंद है जिसके आस्वाद का अधिकार मुक्त पुरुष के समान वद्ध पुरुष को भी सर्व प्रकारेण सिद्ध है। इसी वैषम्य को लक्ष्य कर वेदांत के परम मर्मज्ञ महाकवि श्री हर्ष ने दमयती की रूपमाधुरी के वर्णनप्रसग मे वड़ी ही सुंदर उक्ति कही है:

ब्रह्माद्वयस्यान्वभवत् प्रमोद रोमाग्र एवाग्रनिरीक्षितेऽस्या.।
याचौचितीत्थं तदशेषदृष्टावथ स्मराद्वैत मुदं तथासौ ।।
नैषध ७।३

राजा नल ने दमयती के रोम के अग्रभाग को ही प्रथमत देखकर ब्रह्माद्वैत के आनद का अनुभव किया। अत उचित ही था कि दमयंती के समग्र शरीर के अवलोकन से वह कामाद्वैत के आनद का अनुभव करता। श्री हर्ष की दृष्टि मे रसानद, ब्रह्मानद की अपेक्षा बड़ी ही उत्कट कोटि की वस्तु ठहरता है। दमयती के विशेष अंग का नही वल्कि अग के विल्कुल ही छोटे अंश के स्वल्प भाग का अवलोकन नल के हृदय मे ब्रह्मानंद का उद्गम करता है, तो सपूर्ण शरीर का साक्षात्कार उससे कितनी अधिक मात्रा मे आनद उत्पन्न करेगा। अद्वैत वेदाती जो केवल ब्रह्माद्वैत से ही परिचित है, विल्कुल ही नही जानते कि साहित्य जगत का सर्वस्वभूत रसाद्वैत कितना सरस, आनदमय तथा रुचिरतम पदार्थ है। ब्रह्मानंद रसानद की तुलना मे एक नगण्य वस्तु है जिसकी अभिलाषा जगत् के कोमल कलित भावो से परांमुख विरक्तजनो के ही हृदय को उद्वेलित किया करती है। भावशोधन के ऊपर आश्रित रसानंद ससार के कमनीय पदार्थो मे अनुरक्त अथ च अनासक्त व्यक्तियों के चित्त को आकृष्ट करनेवाला अलौकिक पदार्थ है। इस प्रकार रागात्मिका अनुभूति का स्थान शुष्क ज्ञानात्मिका अनुभूति की अपेक्षा कही उच्चतर होता है। इसीलिये रस 'ब्रह्मानद सहोदर' माना जाता है, ब्रह्मानंद रूप नही।

आनंदः परमो रसः

विषय की सूक्ष्म समीक्षा करने से हम इसी निष्कर्ष पर पहुँचते है। पंडितराज जगन्नाथ का रस विवेचन नितांत मार्मिक और तलस्पर्शी है। उनका कथन है कि जिस प्रकार सविकल्पक समाधि मे, ज्ञाता ज्ञेय के पृथक् अनुसधान वाली समाधि मे, योगी की चित्तवृत्ति आनदमयी हो जाती है, उसी प्रकार रसास्वादन के अवसर पर सहृदय की चितवृत्ति स्थायीभाव से संवलित स्वस्वरूपानंदात्मिका हो जाती है अर्थात् उसकी चित्तवृत्तिको उस समय स्थायी भाव से युक्त आत्मानद के अतिरिक्त अन्य किसी पदार्थ का बोध नही होता[१]। समाधिस्थित योगी की उपमा सहृदय के अनुभव को निर्विकल्पक

१. विभावादिचर्वणमहिम्ना सहृदयस्य निज सहृदयतावशोन्मिलितेन तत्तत् स्थाय्युपहित स्वस्वरूपानंदाकारा समाधाविव योगिनश्चित्तवृत्ति रूपजायते, तन्मयीभवनमिति यावत्।
रस गंगाधर पृ० २२।

समाधौ सविकल्पक समाधौ, निर्विकल्पके तदनंगीकारादिति बोध्यम्—नागेशकृत व्याख्या।

समाधि में रमनेवाले योगी की अनुभूति से पृथक् सिद्ध करने के लिये यहाँ दी गई है। निर्विकल्पक समाधि में ज्ञाता और ज्ञेय का पृथक् पृथक् अनुसधान नहीं रहता, वहाँ किसी प्रकार का विकल्प रहता ही नहीं, योगी ब्रह्मानद म लीन हो जाता है। यह रसानद की अवस्था नहीं है। अत सहृदय की तुलना 'सविकल्पक योगी' के साथ निष्पन्न कर पडितराज पूर्वोक्त विवेचन की पुष्टि कर रहे हैं।[1] यह रसानद अन्य लौकिक सुखों के समान नहीं है, क्योकि वे सब सुख अन्त करण से युक्त चैतन्यरूप होते हैं अर्थात इनकी अनुभूति के समय चैतन्य का और अन्त करण की वृत्तियो का योग रहता है, परन्तु रस का आनद शुद्ध चैतन्य रूप, अन्त करण की वृत्तिया से युक्त चैतन्य नहीं होता। इस अनुभव के समय चित्तवृत्ति आनदमयी हो जाती है और यह आनद अनवच्छिन्न रहता है। अन्त करण की वृत्तिया के द्वारा इसका अवच्छेद नहीं होता। अत लौकिक आनद से रसानद की विशिष्टता दार्शनिक दृष्टि से स्फुटतर है।[2] पडितराज जगन्नाथ के शब्दों में रस का रूप है भग्नावरणाचिद्विशिष्टो रत्यादि स्थायी भावो रस। चैतन्य के ऊपर अज्ञान का आवरण पडा रहता है जिसका अपनयन विभावादि व्यापार के द्वारा सिद्ध होता है। उस दशा में अज्ञानरूप आवरण से रहित जो चैतन्य है उससे युक्त स्थायीभाव को 'रस' कहते हैं। अथवा 'रसो वै स' आदि ब्रह्म को रसरूप बतलानेवाली श्रुतिया के सारस्य से स्थायीभाव से युक्त तथा अज्ञान आवरण से विरहित चैतन्य का ही नाम 'रस' है। "रत्याद्यवच्छिन्न भग्नावरणा चिद् एव रस"। रस कोई इतर पदार्थ नहीं है, प्रत्युत वह चैतन्यरूप ही है जिसके ऊपर से अज्ञान का आवरण हट गया है तथा जिसम रति आदि स्थायीभाव विशेषतया भासित होते हैं।

पडितराज ने अभिनवगुप्त आदि ध्वनिवादियो की ही रस व्याख्या का दर्शन दृष्टि से परिष्कार किया है। अभिनवगुप्त की स्पष्ट उक्ति है "रसना च बोधरूपैव, किन्तु बोधान्तरेभ्यो लौकिकेभ्यो विलक्षणा, उपायाना विभावादीना लौकिक वैलक्षण्यात्" अभिनव भारती (पृ० २८६) रसना आस्वाद ज्ञानरूप ही होता है, परतु अन्य लौकिक ज्ञानो से यह विलक्षण होता है, क्योकि इसके उत्पादक साधन विभाव आदि स्वत लौकिक साधनो की अपेक्षा विलक्षण होते हैं। अभिनवगुप्त के इसी वाक्य की व्याख्या पण्डितराज ने दार्शनिक पद्धति से की है।

वस्तुत आनद ही रस है। रस एक है, अनेक नहीं। रस रस ही है। उसके लिये किसी पर्याय शब्द की आवश्यकता नहीं होती। रस ब्रह्म के समान है। रस स्फोट के सदृश है। ब्रह्म ही एकमात्र सत्य है। नानात्मक विकृतियाँ असत्य हैं। उसी प्रकार शृगार हास्य आदि रस की अनेकता तथा पार्थक्य वस्तुत असत्य है। रस ही एकमात्र सत्य है। रस अशी है। शृगारादि रस उसके अशमात्र हैं। अभिनवगुप्त के प्रामाण्य तथा भाष्य के अनुसार भरतमुनि का यही मत है। उन्होंने मूलस्थानीय रस के लिये 'महारस' शब्द का प्रयोग किया है तथा अशभूत रसो का केवल 'रस' शब्द से अभिहित किया है। रस की एक रूपता की सिद्धि के हेतु भरत ने इस विख्यात वाक्य में एकवचन का ही प्रयोग किया है।

---

१ इय च परमब्रह्मास्वादात समाधेर्विलक्षणा। विभावादिविषय सवलितचिदानदालम्बनत्वात्। वही, पृ० २३।

२ आनन्दोह्यय न लौकिकसुखान्तरसाधारण। अतःकरणवृत्तिरूपत्वात्। रसगगाधर पृ० २२,२३

न हि रसाद् ऋते कश्चिदर्थः प्रवर्तते।
नाट्यशास्त्र पृ० २७३,७४।

अभिनव की व्याख्या

एकएव तावत् परमार्थतो रसः सूत्र स्थानत्वेन रूपके प्रतिभाति।
तस्मैव पुनर्भागदशाविभागः। अभिनवभारती। पृ० २७३।

तथा च 'रसादृते' ६।३३ इत्यत्र एकवचनोपपत्ति। ततश्च मुख्यभूतात् महारसात् स्फोटदृशीव असत्यानि वा, अन्विताभिधानदृशीव उभयात्मकानि सत्यानि वा, अभिहितान्वयदशीव तत् समुदायरूपाणि वा, रसान्तराणि भागाभिनिवेश दृष्टानि रूप्यन्ते। अभिनवभारती, पृ० २६९।

कवि कर्णपूर ने अपने 'अलंकार कौस्तुभ' मे इस मत की वड़े परिष्कार के साथ व्याख्या की है। इन्होने महारस के निमित्त एक विलक्षण स्थायीभाव ही की कल्पना की है। इस स्थायी भाव का नाम है आस्वादाकुरकद, जो रसावस्था मे आस्वाद का अकुर उपजता है उसका यह भाव कद अर्थात् वीज है। जव चित्त रज तथा तम से हीन होकर शुद्ध सत्व मे प्रतिष्ठित होता है तव उसका जो विशिप्ट धर्म या स्वभाव होता है उसीका नाम है आस्वादाकुर कद। यह चित्त का ही गुण है। जव रज तथा तम गुणो की सत्ता से चित्त लुव्ध नही होता, प्रत्युत सत्वगुण के प्राचुर्य के कारण नितात शात रहता है और विश्रांति का अनुभव करता है, तव उसकी आनदमयी तथा शात स्थिति 'आस्वादाकुरकद' के अभिधान से पुकारी जाती है।

आस्वादाकुरकंदोस्ति धर्म. कश्चन् चेतसः।
रसस्तमोभ्या हीनस्य शुद्ध सत्त्वतया सतः॥
अलकार कौस्तुभ, का० ६३।

यह रसानद के उदय होने की पूर्वावस्था है। यह सव रसो की साम्यावस्था है। यही स्थायी विभावादि के साहाय्य से रसरूप में परिणत हो जाता है। 'आस्वादांकुर कदोसौ भावः स्थायी रसायते' कारिका ६२। आनंदधर्म होने से रस एक ही होता है। भाव उपाधिस्थानीय होते है। जिस प्रकार जपाकुसुम आदि उपाधि के सन्निधि मे शुद्धवर्ण स्फटिक नानावर्ण का प्रतीयमान होता है अथवा सूर्य का प्रतिविव एक होने पर भी जलगत् उपाधि भेद से नाना प्रतीत होता है उसी प्रकार यह स्थायी भाव रति, उत्साह, भय आदि भावो के कारण शृंगार, वीर, भयानक आदि रस के रूप मे भासित होता है। रसगत समस्त भेद उपाधिजन्य है, स्वगत जन्य कोई भी भेद नही है,

रसस्य आनन्दधर्मात् एकध्यं भाव एव हि।
उपाधिभेदान्नानात्व रत्यादय उपाधय ॥[1]
अल्कार कौस्तुभ, कारिका ७१।

अतः आनंदमय रस ही 'महा रस' है। अन्य रस उस मूल महारस के केवल विकार मात्र है। इसलिये रस वस्तुत. एक रूप ही है। भारतीय साहित्यशास्त्र का सर्वस्वभूत सिद्धांत है . एको रस।

---

१. रत्यादयः स्थायिनः यथा नानाविधशराव सलिल तारतम्येपि तरणि विम्वप्रतिविम्व एक एव। तथा उपाधिगत एवभेदो नानदकतो रसस्य। आनंदधर्मत्वात् चरमानंदरूपत्वात् एकध्यम् एक विधत्वंरसस्य। वृत्ति, पृ० १३०।

जय हो उन जलनेवालो की

रामऋषि

जय हो उन जलनेवालों की

लहरों में कम्पन भरने का जिनके उन्मद आवेश लिये
प्राणों के पंकज के जग में खिलने के नव संदेश लिये
शुचि रश्मिकला के प्रतिनिधि वे वसुधा पर नवल चरण धरते
मानव के अभिहित मंगल का केवल मग एक वरण करते
अभिशाप-गरल पी जाने को निर्व्याज मचलनेवालों की

उनके अभिनंदन में झुकता आकुल यह विश्व गरलवाला
चितवन में अविरल चल पड़ती सद्य मनुहार किरनमाला
सक्त नयन के कोरों के जड़ता हिमखण्ड गला देत
वे सम्मोहक संवेदन से प्रति उर के दुख सहला देत
आलोक-दान के व्रत अभिनव मृदु मोम पिघलनेवालों की

सब में आह्लाद जगा देती उनकी भोली मुस्कान मदिर
वे अपनी वाणी में कहते अब श्रेय देख लें मूक बधिर
उनके नयनों के पानी से समृति के कन-कन स्नात हुए
करुणा की धारा में कल्मष बह गए धवल शुभगात हुए
तन्मयता के साधक अपनी मधुगति में चलनेवालों की

वे रागातीत हृदय जिनमें करते सुरभित-सद्काम शयन
जीवन की समतल वेदी पर होता कल्याण-कला, प्रणयन
दीपित सुविचारों के मग में करते इच्छा के कुसुम-चयन
प्राणों में प्राणों के करते अस्तित्व व्याज से सहायजन
निष्कम्प दीप की लौ अपने प्रसाद में बलनेवालों की
जय हो उन जलनेवालों की

मथुरा-कला में ब्रह्मा

कृष्णदत्त वाजपेयी

हिंदू देवताओं में ब्रह्मा का स्थान बहुत ऊँचा है। ब्रह्मा, विष्णु और शिव—ये तीनों महान देवता 'त्रिदेव' या 'त्रिमूर्ति' के नाम से प्रसिद्ध है। वेदो मे ब्रह्मा की संज्ञा 'प्रजापति' मिलती है। वे यज्ञ या कर्मकाड के अधिष्ठातृ देवता माने गए हैं। वैदिक साहित्य, पुराणो और आगम ग्रंथो मे ब्रह्मा के आविर्भाव का तथा फिर उनके द्वारा सृष्टि की उत्पत्ति का विस्तृत वर्णन मिलता है। ससार की उत्पत्ति, स्थिति और संहार—इन तीन कार्यो मे से पहले के नियंता ब्रह्मा है, दूसरे के विष्णु और तीसरे के शिव। इस कार्य-विभाजन से ही ब्रह्मा के महत्त्व का पता चल सकता है।

ऐसा प्रतीत होता है कि आरंभ मे ब्रह्मा की पूजा का काफी प्रचार था और उनका गौरव विष्णु और शिव की अपेक्षा किसी प्रकार कम न था। परंतु धीरे-धीरे इन त्रिदेवो मे ब्रह्मा का महत्त्व कम होने लगा। इसके जो कारण मिलते है उनमे एक तो ब्रह्मा और शिव के बीच प्रतिस्पर्धा का बढना और दूसरे ब्रह्मा का चरित्र-दौर्बल्य मुख्य है। वैष्णव और शैव मतो के पारस्परिक सहयोग ने ब्रह्मा के प्रभाव को कम कर दिया। भारत मे या उसके बाहर ब्रह्मा की जो प्राचीन मूर्तियाँ मिलती है उनकी संख्या विष्णु या शिव की मूर्तियों की अपेक्षा बहुत कम है। ब्रह्मा के मदिर तो इने-गिने ही मिलते हैं। त्रिदेवो मे ब्रह्मा की परवर्ती स्थिति का पता उन त्रिमूर्ति प्रतिमाओं से चलता है जिनमें मध्यवर्ती स्थान या तो शिव को दिया गया है या विष्णु को, परंतु ब्रह्मा को नही। ऐसी प्रतिमाएँ दक्षिण भारत से बडी संख्या मे मिली है। इनमे शेष दो देव (ब्रह्मा और शिव अथवा ब्रह्मा और विष्णु) मध्यस्थ देवता के अगल-बगल से निकलते हुए दिखाए जाते है। इस प्रकार हम देखते है कि मूर्तिकला मे विष्णु और शिव—इन दोनो को तो प्रधानता दी गई पर ब्रह्मा को नही।

ब्रह्मा की मूर्ति-रचना के संबंध मे विष्णुपुराण, रूपमंडन, सुप्रभेदागम, शिल्परत्न आदि ग्रंथों से विस्तृत जानकारी प्राप्त होती है।[1] इन ग्रथों के अनुसार ब्रह्मा को चार मुखवाला[2] बनाना चाहिए।

---

१. देखिए गोपीनाथ राव कृत हिंदू आइकॉनोग्राफी, जिल्द २, भाग२, पृ० ५०३–६।

२. पहले ब्रह्मा पाँच मुख वाले थे। पाँचवाँ मुख, जो बिलकुल ऊपर था, शिव के द्वारा काट

ये चार मुख चारो वेद, चारो युग एव चारो वर्ण के सूचक हैं। प्रत्येक दिशा की ओर एक एक सिर होना चाहिए। ब्रह्मा के चार हाथ बनाने चाहिए। उन्हें या तो खड़ा हुआ या पद्मासन पर अथवा हंस के ऊपर बैठा हुआ अंकित करना चाहिए। उनके सिरों के ऊपर जटामुकुट होना चाहिए

मथुरा कला में ब्रह्मा — फलक १

कुषाण-कालीन ब्रह्मा की चतुर्मुखी मूर्ति

—मथुरा संग्रहालय

डाला गया। तब से चतुर्मुख ही रह गये। सभवत शिव की इस विजय के उपलक्ष्य में तथा ब्रह्मा के ऊपर उनका उत्कर्ष जताने के लिये ही शिव की पचमुखी प्रतिमाएँ बनाई गईं। ऐसी प्रतिमाओं की संख्या कम अवश्य है। इस प्रकार की सब से प्राचीन शिव की मूर्ति भीटा (जि० इलाहाबाद) से प्राप्त ई० पूर्व द्वितीय शती की है। (देखिए चित्र ८)।

और अंगों पर विविध आभूषण तथा वस्त्र। हाथों में अक्षमाला, कंमडलु, श्रुवा, पुस्तक (वेद) तथा कूर्च (कुशा) होना चाहिए। रूपमडन मे ब्रह्मा के दाढी दिखाना आवश्यक बताया गया है। विष्णुपुराण मे ब्रह्मा को सात हंसो के द्वारा खीचे जानेवाले रथ पर बैठाया जाना कहा गया है। अधिकतर उनके बाई ओर उनकी स्त्री सावित्री की प्रतिमा का बनाया जाना लिखा मिलता है, परतु कही-कही ब्रह्मा के अगल-बगल सरस्वती या सावित्री की प्रतिमा बनाने का उल्लेख मिलता है।

मथुरा-कला में ब्रह्मा फलक २

कुषाणकालीन ब्रह्म-मूर्ति का पृष्ठभाग

—मथुरा संग्रहालय

जिस प्रकार ब्राह्मणधर्म संबधी अन्य अनेक देवी देवताओ की प्रतिमाओं का सर्वप्रथम निर्माण मथुरा मे हुआ उसी प्रकार ब्रह्मा की भी सब से प्राचीन प्रतिमाएँ मथुरा कला मे ही मिली है।

ब्रह्मा की गुप्त तथा मध्यकालीन मूर्तियाँ तो अन्य स्थानों में भी मिलती हैं परन्तु कुषाण कालीन प्रतिमाएँ अन्यत्र नहीं मिली हैं। मथुरा में कुषाणकाल से लेकर मध्यकाल तक की ब्रह्मा की अनेक मूर्तियाँ अब तक प्राप्त हो चुकी हैं। प्राय सभी यहाँ के चित्तीदार लाल पत्थर की या मेंशाठा पत्थर

मथुरा कला में ब्रह्मा फलक ३

ब्रह्मा की खड़ी हुई मूर्ति, जिसके अब केवल दो सिर अवशिष्ट हैं, (कुषाण काल)

—मथुरा संग्रहालय

की बनी हुई हैं और मथुरा के पुरातत्त्व संग्रहालय में सुरक्षित हैं। इनमें से कुछ उल्लेखनीय मूर्तियों की चर्चा यहाँ की जाती है।

मथुरा-कला में ब्रह्मा की सब से प्राचीन मूर्ति संग्रहालय की ३८२ संख्यक मूर्ति है (चित्र १)। यह मूर्ति आरंभिक कुषाणकाल की है। इसमें ब्रह्मा के तीन मुखो को तो एक सीध मे दिखाया गया है और चौथा मुख बीच वाले सिर के ऊपर अर्धमूर्ति के रूप मे प्रदर्शित किया गया है। बीचवाले सिरमे कुंडल तथा एकावली दिखाई गई है। धड का कुछ भाग अवशिष्ट है, दोनो हाथ टूट गए हैं। बाएँ कधे पर पड़ा हुआ उत्तरीय का कुछ भाग दिखाई पड़ रहा है। ऊपरवाले चौथे सिर के चारो ओर एक प्रभामंडल है, जैसा कि मथुरा से मिली हुई कुषाणकालीन बुद्ध एव बोधिसत्त्व की प्रतिमाओ मे मिलता है। अभयमुद्रा मे उठा हुआ दाहिना हाथ तथा बाएँ कंधे पर पड़ा हुआ वस्त्र भी उक्त मूर्तियों की याद दिलाता है।

मथुरा कला में ब्रह्मा फैलक ४

गुप्तकालीन ब्रह्मा; बीचवाले मुख की दाढ़ी दर्शनीय है।

—मथुरा संग्रहालय

मूर्त्ति के पिछले भाग (चित्र ३) पर एक पुष्पित अशोक वृक्ष दिखाया गया है। रक्ताशोक का वृक्ष प्राचीन मथुरा मे बहुत होता था, परतु अब इसके दर्शन भी यहाँ दुर्लभ है। अशोक का वृक्ष इस मूर्ति मे शोभा के लिये प्रदर्शित किया गया है। इस प्रकार के अलकरण मथुरा से प्राप्त अन्य कितनी ही मूर्तियो पर भी मिले है। ब्रह्मा की यह मूर्ति अपने ढंग की अनोखी कृति है। इस

प्रकार की प्रतिमा का लक्षण, जिसमें चौथा सिर इस ढंग से ऊपर प्रदर्शित किया जाय[2], उपर्युक्त ग्रंथों में नहीं मिलता।

मथुरा कला में ब्रह्मा — फलक ५

पद्मासन पर खड़े हुए ब्रह्मा

उत्तर मध्यकाल

—मथुरा संग्रहालय

---

२ खजुराहो में मिली हुई कार्तिकेय की एक प्रतिमा में इसी प्रकार तीन सिरों को एक पंक्ति में दिखाया गया है और उनके ऊपर शेष तीन सिर दूसरी पंक्ति में दिखाए गए हैं। देखिए श्री बी० एल० धामा कृत "खजुराहो", फलक १२, चित्र स।

इसी प्रकार की एक दूसरी ब्रह्मा की मूर्त्ति भी मथुरा से मिली है (सग्रहालय स० २१३४)। यह पहलीवाली मूर्ति मे छोटी है। इसमे भी सिर उसी प्रकार दिखाए गए है, परतु इसमे विशेषता यह है कि नीचे के तीनो मुख दाढीयुक्त है तथा उनपर के जटाजूट भी अधिक अलकृत है। यह मूर्ति चित्र १ वाली मूर्ति से बाद की बनी हुई है। इसका रचना-काल तृतीय शती का अतिम भाग कहा

मथुरा कला मे ब्रह्मा फलक ६
ब्रह्मा और सावित्री
पूर्व मध्यकाल

—मथुरा संग्रहालय

जा सकता है। हाल मे ही लेखक को ब्रह्मा की दो नवीन मूर्तियाँ प्राप्त हुई है। इनमे से एक (संग्र० रा० ३३७६) वृंदावन के मदनमोहन मंदिर के समीप से मिली है और दूसरी (सं० ३४२३) मथुरा

शहर में चौबों की एक बगीची से। इन दोनों मूर्तियों का केवल ऊपरी भाग बचा है। दोनों में ब्रह्मा के तीन ही सिर दिखाए गए है, चार नहीं । तीनों सिर-दाढ़ी तथा जटाजूट से युक्त है। इन दोनों मूर्तियों की रचना, लगभग चौथी शती के प्रारंभ में हुई होगी।

ऐसा प्रतीत होता है कि लगभग ई० तीसरी शती के अंत में ब्रह्मा की मूर्तियों में दाढ़ी का दिखाना प्रचलित हो गया।[४] उनका चौथा सिर, जो कुषाण प्रतिमाओं में पाया जाता है, गुप्त तथा मध्यकालीन कला में बहुत कम मिलता है, क्योंकि उन प्रतिमाओं में जिन्हें चारों ओर से कोर कर नहीं बनाया जाता था चौथा सिर नहीं प्रदर्शित किया जा सकता था। उसके अस्तित्व की कल्पना मात्र कर ली जाती थी। कोर कर उत्कीर्ण की जाने वाली प्रतिमाओं में चौथा सिर भी मिलता है। ऐसी मूर्तियाँ जैन तीर्थंकरों की सर्वतोभद्रिका प्रतिमाओं के समान हैं, जिनमें किसी भी ओर से दर्शन किया जा सकता है।

मथुरा से ब्रह्मा की कुषाणकालीन एक अन्य महत्त्वपूर्ण मूर्ति उपलब्ध हुई है (चित्र ३)। यह मूर्ति यद्यपि कोर कर बनाई गई है पर इसमें विशेषता यह है कि पीछे की ओर सिर नहीं बनाया गया। इस प्रकार इसमें केवल तीन ही सिर दिखाए गए। तीसरा सिर (मूर्ति के दाईं ओर का) टूट गया है। बीचवाले सिर पर वैसा ही मुकुट है जैसा कि कुषाण कालीन बोधिसत्त्व प्रतिमाओं में मिलता है। वस्त्रों का ढंग भी वैसा ही है। धोती तथा कटि पर रखा हुआ बायाँ हाथ बोधिसत्त्व मूर्तियों से बिल्कुल मिलता-जुलता है। कान और गले के आभूषण भी वैसे ही है। दाहिना हाथ, जो टूट गया है, संभवतः अभयमुद्रा में था। मूर्ति का पिछला भाग बुरी तरह खराब हो गया है। इस मूर्ति का निर्माण काल ई० पहली या दूसरी शती है।

गुप्तकाल में निर्मित ब्रह्मा की कई मूर्तियाँ मथुरा से प्राप्त हो चुकी है। चित्र ४ में प्रदर्शित मूर्ति (मथ्रा० स० २४८१) में ब्रह्मा को तीन मुख तथा दो हाथों वाला दिखाया गया है। चौथा मुख पीछे नहीं दिखाया जा सका। बीचवाले मुख में घनी नोकदार दाढ़ी है। दाहिना हाथ अभयमुद्रा में उठा है। मूर्ति के पीछे प्रभामंडल का कुछ अंश अब भी दिखाई पड़ता है। यह मूर्ति प्रारंभिक गुप्तकाल की है और इस बात का सूचित करती है कि कुषाणकालीन बोधिसत्त्व प्रतिमाओं की रचना-शैली का प्रभाव गुप्तकाल में भी जीवित रहा। कुषाण और गुप्तकाल में निर्मित अनेक हिंदू देवी-देवताओं की प्रतिमाओं में यह प्रभाव परिलक्षित होता है।

ब्रह्मा की गुप्तकालीन प्रतिमाएँ दूसरे स्थानों से बहुत कम मिली हैं। परन्तु मध्यकाल में उनकी मूर्तियाँ उत्तर तथा दक्षिण भारत में बड़ी संख्या में निर्मित हुईं। मथुरा-कला में ब्रह्मा की मध्य-

---

४ परन्तु इससे यह न समझ लेना चाहिए कि गुप्त तथा मध्यकालीन ब्रह्मा की सभी प्रतिमाओं में दाढ़ी का दिखाना अनिवार्य हो गया। उक्त कालों की अनेक ऐसी मूर्तियाँ मिली है जिनमें दाढ़ी बिल्कुल नहीं है। परन्तु अधिकांश मूर्तियाँ ऐसी मिलती हैं जिनमें अगला, मध्य का सिर दढ़ियल होता है और कभी-कभी तीनों या चारों सिर। उदाहरणार्थ मद्रास संग्रहालय की मध्यकालीन एक प्रतिमा में ब्रह्मा के चारों मुख दाढ़ीयुक्त है (देखिए गोपीनाथ राव—वही, फलक १४५)।

कालीन अनेक सुदर मूर्तियाँ प्राप्त हुई हैं। मथुरा संग्रहालय की १०९८ संख्यक मूर्ति में ब्रह्मा ध्यान-मुद्रा मे बैठे हुए प्रदर्शित किए गए हैं। उनके तीनो प्रत्यक्ष मुख दाढ़ीदार है। इस मूर्ति मे ब्रह्मा को चार हाथोवाला दिखाया गया है। डी० २० सख्या मूर्ति (चित्र ५) में ब्रह्मा कमलासन पर खड़े हुए हैं। इस मूर्ति मे उनके तीन मुख और चार हाथ है। अंगो का निर्माण तथा उसपर का अलंकरण बड़ी सुदरता के साथ प्रदर्शित किया गया है। जटाजूट का प्रदर्शन विशेष दर्शनीय है। हाथों के टूट जाने के कारण यह बताना असभव है कि उनमें क्या वस्तुएँ थी। यह प्रतिमा उत्तर मध्य-काल की है। इसी प्रकार की एक दूसरी मूर्ति (स० २८५) है। परतु उसमे बीचवाला मुख दाढी सयुक्त है, जब कि डी० २० संख्यक मूर्ति के किसी भी मुख मे दाढी नही दिखाई गई है।

मथुरा कला मे ब्रह्मा फलक ७

ब्रह्मा और शिव के द्वारा स्वामि कार्तिकेय का अभिषेक (गुप्तकाल)

—मथुरा सग्रहालय

चित्र सं० ६ में ब्रह्मा की एक अत्यंत कलापूर्ण मूर्ति प्रदर्शित है। यह मूर्ति (स० डी० २२) मथुरानगर से ६ मील दूर महावन (प्राचीन गोकुल) से मिली थी। इसमे ब्रह्मा अपनी अर्धांगिनी सावित्री के साथ पद्मासन पर विराजमान है। ब्रह्मा का (टूटा हुआ) दाहिना पैर तथा सावित्री का बायाँ पैर हंसों की पीठ पर रखा हुआ है। ब्रह्मा का जटाजूट, दाढी, ग्रैवेयक, हार, यज्ञोपवीत तथा अन्य आभूषण बड़ी सुदरता के साथ अंकित किए गए हैं। उनके तीन हाथो में वेद, कमल और

स्रुवा है तथा चौथे स वे सावित्री का आलिगन कर रहे ह। सावित्री के विविध आभूषण तथा उनकी मुख-मुद्रा दर्शनीय है। मूर्ति के दानो कानो पर माला लिए हुए विद्याधर युगल चित्रित किए गए है। यह मूर्ति लगभग ई० आठवी शती की ह। सावित्री के साथ ब्रह्मा की पूर्व-मध्यकालीन मूर्तियाँ बहुत कम मिली है। इसके अतिरिक्त कला-सौष्ठव की दृष्टि से भी यह प्रतिमा महत्त्वपूर्ण है।

उपर्युक्त सभी मूर्तियाँ पत्थर की है। मिट्टी या धातु की बनी हुई ब्रह्मा की कोई प्राचीन मूर्ति अभी तक मथुरा से नही मिली है। धातु की मूर्तियो में सब से अधिक उल्लेखनीय ब्रह्मा की मूर्ति सिंध में मीरपुरखास नामक स्थान मे मिली थी।[५] यह कास्य प्रतिमा अब इस समय कराची के सग्रहालय में है। इसमें ब्रह्मा खडी हुई मुद्रा में दिखाए गए ह। उनके केवल दो हाथ है। दाहिना हाथ ऊपर उठा है परतु उसकी हथेली भीतर की ओर मुडी हुई है। बाएँ हाथ में एक (टूटा) कमण्डलु है। सिरा के ऊपर जटामुकुट बडे अलकृत ढग मे दिखाए गए है। यह प्रतिमा अपने ढग की उत्कृष्ट कृति है और अब तक मिली हुई ब्रह्मा की धातु प्रतिमाओ में सब से अधिक प्राचीन है।

ब्रह्मा की पूजा केवल भारत तक ही सीमित नही थी। उनकी अनेक प्रतिमाएँ बर्मा, हिंद, चीन और हिंदेशिया से प्राप्त हुई ह । इनमें मध्यकालीन मूर्तियो की ही सख्या अधिक है।[६]

ब्रह्मा की स्वतत्र प्रतिमाओ के अतिरिक्त उनकी ऐसी भी मूर्तिया मिली है जिनमें वे अन्य देवी-देवताओ के सहायक के रूप में चित्रित किए गए है। मथुरा, सारनाथ तथा गाधार से ऐसे अनेक शिलापट्ट प्राप्त हुए है जिन पर ब्रह्मा तथा इद्र आदि देवो को बुद्ध के अनुयोक्ता के रूप में दिखाया गया है। इसी प्रकार हिंदू प्रतिमाओ में भी ब्रह्मा का ऐसा ही चित्रण मिलता है, विशेषकर शिव तथा विष्णु की मूर्तियो में। कही-कही अलकरण के रूप में नवग्रहो तथा अन्य देवो के साथ ब्रह्मा भी बिठा दिए गए ह। शिव की परिणय सबधी प्राय सभी मूर्तियो में ब्रह्मा को प्रदर्शित किया गया है। मथुरा सग्रहालय में शिव-पार्वती के विवाह की एक मध्यकालीन मूर्ति (स० ३४३५) है, जिसमें पुरोहित के रूप में ब्रह्मा बैठे ह । भारतकला भवन, काशी में इस प्रकार की एक अत्यत सुदर मूर्ति है, जिसमें ब्रह्मा जी शिव-पार्वती के बीच में बठे हुए दिखाए गए है।[७]

मथुरा सग्रहालय में स्वामि कार्तिकेय की एक गुप्तकालीन प्रतिमा है (स० ४६६, चित्र ७)। इसमें वे अपने वाहन मयूर पर बैठे हुए दिखाए गए है। उनके अगल-बगल ब्रह्मा और शिव खडे है और उनका अभिषेक कर रह ह। यह प्रसिद्ध मूर्ति भी महावन से प्राप्त हुई थी।

अन्य स्थानो की तरह मथुरा की कला में भी ब्रह्मा का चित्रण उतना अधिक नही मिलता जितना विष्णु और शिव का। यह स्थान ब्रह्मा की पूजा का कभी केंद्र नहीं रहा। हो सकता है कि मथुरा म ब्रह्मा के कुछ मदिर पहले रहे हो, पर उनकी सख्या बहुत ही कम रही होगी। जैन, बौद्ध

---

५ देखिए कुमारस्वामी—हिस्ट्री ऑफ इडियन ऐंड इडोनेशियन आर्ट, चित्र १६८, तथा राव वही, फलक १४८।

६ देखिए निहार रजन रे—ब्रह्मैनिकल गाड्स इन बर्मा, पृ० ६६, चित्र २९–३०, तथा कुमारस्वामी—वही, पृ० २०२।

७ रायकृष्ण दास—भारतीय मूर्तिकला, फलक २३।

एवं वैष्णव धर्म के आगे यहाँ अन्य मतावलंबियो की नही चल सकी। शैव तथा शाक्त मत के मान`वाले भी प्राचीन मथुरा में नाममात्र को ही थे।

तो भी मथुरा की यह विशेषता है कि अन्य अनेक हिंदू देवी-देवताओं के साथ ब्रह्मा की प्रतिमाओं का निर्माण सर्वप्रथम यही हुआ। यहाँ से प्राप्त ब्रह्मा की कुषाण कालीन मूर्तियाँ हिंदू

मथुरा कला मे ब्रह्मा फलक ८

भीटा (इलाहाबाद) से प्राप्त पंचमुख शिवलिंग, शेष दो मुख पीछे की ओर बने है (ई० पू० द्वितीयशती)

--मथुरा संग्रहालय

मूर्तिकला में बड़ा महत्त्वपूर्ण स्थान रखती है, और मूर्ति-विज्ञान के अन्वेषणात्मक अध्ययन के लिये अनिवार्य हैं। यहाँ से प्राप्त गुप्त तथा मध्यकालीन ब्रह्मा की मूर्तियाँ भी इस दृष्टि से बहुत उपयोगी है।

पुराणों का चातुर्द्वीपिक भूगोल और आर्यों की आदि भूमि

राय कृष्णदास

१ निम्नलिखित ग्यारह पुराणो में पृथ्वी का भौगोलिक वर्णन आता है जिसे भुवन-विन्यास या भुवन-कोष भी कहते हैं—ब्रह्मा, विष्णु, भागवत, वायु, शिव, अग्नि, मारकडेय, कूर्म, मत्स्य, गरुड और लिंग। इनमें से इस लेख में वायु, मत्स्य, कूर्म तथा विष्णु—इन चार प्राचीनतर पुराणो से सहायता ली जायगी। वायु का वर्णन सब से विस्तृत एव सर्वांगपूर्ण है। वह है भी सब पुराणों से प्राचीन। इसी कारण उसके विवरण का आधार बनाया गया है। ब्रह्माडपुराण इसी वायु की एक दूसरी शाखा है, किंतु खेद है कि उसमें यह भूगोल वाला अग अत्यधिक खडित है। मत्स्य का वर्णन वायु का अनुसारी है, परतु वह बहुत ही थोडा है, तो भी उसमे कई महत्वपूर्ण पाठातर उपलब्ध हो जाते है। कूर्म के वर्णन में कुछ अधिक विस्तार है और उसमें वायु-सप्रदाय से कुछ अतर भी है, अतएव उससे भी काम की बातें मिलती हैं। विष्णु का वर्णन कूर्म-सप्रदाय का अनुयायी है—वह उसीका सक्षिप्त सस्करण है। अन्य पुराणो के वर्णन अपेक्षाकृत बहुत थोडे और पीछे के है, साथ ही वे इन्हीं दोनो—वायु और कूर्म-सप्रदायो पर अवलबित हैं, अत ऐतिहासिक दृष्टि से उक्त चारो पुराणो का वर्णन पर्याप्त एव उपादेय है।

२ उक्त पुराणों में जो भौगोलिक वर्णन आया है उसके बहुतेरे श्लोक समान हैं, अर्थात् वह एक ही मूल पर अवलबित है। इस प्रकार का मसाला बहुत पुराना होता है और इसी कारण उसके अनेक पाठ भेद हो जाते हैं। वस्तुत ये दो वर्णन थे—एक चतुर्द्वीपा पृथ्वी का दूसरा सप्तद्वीपा पृथ्वी का। वर्तमान रूप में ये दोनो वर्णन मिल गए हैं, इस कारण उनकी अद्भुत खिचडी पक गई है।

३ इन दो भूगोलो में से चार महाद्वीप वाला प्राचीन है और वह केवल वायु में बच रहा है। उसका अस्तित्व सभवत ऋग्वेद काल मे है, क्योंकि ऋग्वेद में चार समुद्रा का उल्लेख है। उन समुद्रो को लेकर यद्यपि आजकल कितने ही ऊहापोह किए जा रहे हैं, परतु वस्तुत ऋग्वेद के उक्त स्थलो में इन्हीं—चार द्वीपो से सबधित, चार दिशाओ के—चार समुद्रो का तात्पर्य है।[1] यदि ऐसा न होता तो चार द्वीपवाले भूगोल की परपरा न प्राप्त होती। प्राचीन बौद्ध साहित्य में

---

१ ज्योतिष में भी 'समुद्र' से चार ही समुद्र लिए जाते है।—जैन सिद्धात भास्कर, जून '४०

इसी चतुर्द्वीपी, भूगोल की मान्यता है, और इसीसे उन ग्रंथो में जवुद्वीप सुनिश्चित रूप से भारतवर्ष का पर्याय है; क्योंकि इसी चतुर्द्वीपी भूगोल में जवुद्वीप भारतवर्ष का नाम है। पिछले सप्तद्वीपवाले भूगोल में तो भारतवर्ष जंवुद्वीप के नौ 'वर्षो' में से एक 'वर्ष' मात्र है। ऐसा अनुमान होता है कि मेगास्थिने के समय में भी यही चार द्वीपवाला भूगोल चलता था, क्योकि वह लिखता है कि "भारतीय तत्त्वज्ञ और पदार्थ-विज्ञानवेत्ता भारत के सीमांत पर तीन और देश मानते है । . . ये तीन देश सीदिया, वैक्ट्रिया तथा एरियाना है" जो मोटे तौर पर चतुर्द्वीपी भूगोल के जंवु द्वीपेतर अन्य तीन द्वीपों से मिल जाते है। अर्थात् सीदिया से उसके भद्राश्व तथा उत्तर कुरु एवं वैक्ट्रिया तथा एरियाना से केतुमाल द्वीप अभिप्रेत है। अशोक के समय तक प्राचीन परंपरा के अनुसार चतुर्द्वीप भूगोल ही चलता था, क्योंकि उनके शिलालेखो में जंवुद्वीप भारतवर्ष की संज्ञा है।

४. किंतु महाभाष्य में सप्तद्वीपा पृथ्वी की चर्चा है[२]। अतः सप्तद्वीप भूगोल अशोक तथा महाभाष्य काल के वीच की कल्पना जान पडती है। इसी काल के बीच अशोक प्रचारित धर्म-विजय के अभियानों के कारण भारतीयों का विदेशी जातियों से अधिक संपर्क हुआ। अत भौमिक विस्तार के संवंध में भी उनको एक धुधला परिचय मिला। ऐसा अनुमान होता है कि चार द्वीप के वाद वाले भूभागो की जो अधूरी और धुधली सुनी-सुनाई, झूठी-सच्ची जानकारी उस समय थी उसीको काल्पनिक रूप देकर यह सप्तद्वीपा वसुधरा का भूगोल पल्लवित किया गया है ।

५. पुराणों के वर्तमान रूप ने इसी सप्तद्वीप भूगोल को प्रधानता दी है और चतुर्द्वीपी भूगोल को इसका अंग वना डालने की चेष्टा की है एवं उसे सप्तद्वीपांतर्गत जंवुद्वीप के 'वर्षो' के वर्णन में किसी प्रकार खपा देना चाहा है[३]। यद्यपि ऐसा करने में सफलता नही मिली है—क्योंकि चतुर्द्वीपी भूगोल का रूप इतना भिन्न है कि उसका अस्तित्व नष्ट नही किया जा सकता—तो भी उसे उन्होंने सप्तद्वीप में के जंवुद्वीप के वर्णन में इतना मसल डाला है कि यदि वायु पुराण में उस (चतुर्द्वीप भूगोल) का विस्तृत वर्णन न वच रहा होता तो यह समझ मे न आता कि जंवुद्वीप के नौ 'वर्षो' के वर्णन में ये अप्रासगिक वातें क्यों और कैसे आ रही है। वर्तमान निवंध तैयार करते समय भी, जब तक वायु वाले वर्णन का अध्ययन नही किया गया था, इन गुत्थियों ने लेखक को वहुत छकाया था। वारवार चेष्टा करने पर भी वे सुलझती ही न थी।

---

१ चातुर्द्वीपिक वृष्टि—वुद्धचर्या, राहुल; उम्मगजातक

२. सप्तद्वीपा वसुमती त्रयोलोका.—महाभाष्य पस्पशाह्निक

३ अर्थात् उक्त चारो द्वीपों में से दो—भारत तथा उत्तर कुरु के एव मेरु के अवातर भेदों को अलग अलग 'वर्ष' वनाकर और इस तरह उनकी सख्या सात करके तथा वाकी दो भद्राश्व एव केतुमाल को भी दो 'वर्ष' कायम करके, इन नौ 'वर्षो' की एक इकाई नियत कर दी गई। यह इकाई चतुर्द्वीपी भूगोल में के भारत के अपर नाम जंवुद्वीप को सात द्वीपों में का एक द्वीप वना के उसमें भर दी गई है

महाभारत में भी यह सप्तद्वीप भूगोल दिया है और उसमें वड़ी सतर्कता से चार द्वीप की वातें निकाल डाली गई है। अतएव वह सप्तद्वीप भूगोल का सव से पिछला संस्करण ठहरता है

६ सप्तद्वीप भूगोल में कल्पना का प्राधान्य है, यह बात उसके प्रारंभ में कह भी दी गई है—

> तेषां मनुष्यास्तर्केण प्रमाणानि प्रचक्षते ॥ ५ ॥
> अचिन्त्याः खलु ये भावास्तांस्तु तर्केण साधयेत् ॥ ६ ॥
>
> —मत्स्य, ११३।[1]

कल्पना की इस भूल-भुलैया में से भूगोल की वास्तविक बातों को, जिनका संबंध जंबुद्वीपेतर अन्य छ द्वीपों से है और जो बहुत ही थोड़ी हैं—यथा, शाकद्वीप (फारस), कुशद्वीप (मिस्र), मग (मीडिया) आदि की चर्चा—निकाल लेना जरा टेढ़ी खीर है। इसके विपरीत चार द्वीपवाले भूगोल का आधार प्राय वास्तविक है, अतएव उसका सामंजस्य आधुनिक भूगोल से हो जाता है। यीका ने जो लिखा है कि भारतीयों को अपने देश के भूगोल का बड़ा स्पष्ट ज्ञान है वह अक्षरश ब्योरा सहित चतुर्द्वीप-भू-वर्णन पर ही घटता है, किस्सा की भरमार वाले इस सप्तद्वीप भूगोल पर नहीं।

७ इन दोनों भूगोलों का सारांश इस प्रकार दिया जा सकता है—

चातुर्द्वीपिक भूगोल

पृथ्वी चार महाद्वीपों का बना है और एक पद्म की तरह है। मेरु उसके मध्य उसकी टोंडी है जो इलावृत में परिमंडित है और चारों महाद्वीप उसकी चार पखड़ियाँ हैं, यथा—पूर्व में भद्राश्व, दक्षिण में जंबुद्वीप वा भारतवर्ष, पश्चिम में केतुमाल और उत्तर में उत्तर कुरु। इन चारों का एक एक छोर मेरु से संबद्ध है, दूसरी ओर ये पूर्व, दक्षिण और उत्तर समुद्रों तक पहुँचते हैं।

इन चारों महाद्वीपों के अपने क्रीडा-कानन, केतु वृक्ष, सरोवर महाशैल तथा अन्य पर्वत हैं और इनमें से प्रत्येक में बहती हुई एक एक नदी अपनी अपनी दिशा के समुद्र में गिरती है—केवल उत्तरवाली नदी उत्तर समुद्र में न गिर कर पश्चिम समुद्र में गिरती है *(द्रष्टव्य—भूचित्र, १)*। इन नदियों की करद नदियाँ भी हैं।

सप्तद्वीप भूगोल

८ भूमंडल के ठीक मध्य जंबुद्वीप है जो चारों ओर लवण समुद्र से घिरा है। इस समुद्र के चारों ओर पृथ्वी का एक और वेष्ठन है जिसका नाम प्लक्ष द्वीप है। यह इक्षुरस समुद्र से

यह वर्षों का विकास कैसे हुआ, उसका एक नमूना लीजिए। मत्स्य में हैमवतवर्ष भारत का ही एक नाम है—

> इमं हैमवतं वर्षं भारतं नाम विश्रुतम्।—मत्स्य०, ११२।२८

वही सप्तद्वीप भूगोल में एक अलग वर्ष बन गया—

> इदं तु भारतं वर्षं ततो हैमवतं परम्। —भारत, भीष्म० ६।७

१ वायु, ब्रह्माण्ड और कूर्म, पुराणों में भी इसके अपपाठ हैं।

परिमंडित है। यों ही क्रमश: सुरा, घृत, क्षीर, दधि और शुद्ध समुद्रों के घेरे तथा शाल्मली, कुश, क्रौंच, शाक और पुष्कर द्वीप हैं। इस प्रकार पृथ्वी मे कुल सात द्वीप तथा सात समुद्र हैं।

उक्त मध्यवर्ती जंबुद्वीप के बीचोबीच मेरु पर्वत है जिसके चारो ओर इलावृत वर्ष है।[1] मेरु के दक्षिण तीन 'वर्ष' हैं। इनमे से सब से दक्षिणी भारतवर्ष है, इसका वर्ष-पर्वत हिमवान् है। इसके बाद किम्पुरुष वर्ष है, इसका वर्ष-पर्वत हिमकूट है। इसके उपरांत हरिवर्ष है, इसका वर्ष-पर्वत निषध है। इसी प्रकार मेरु के उत्तर भी तीन वर्ष हैं जिनका क्रम उत्तरोत्तर यों है—पहले रम्यक् वर्ष जिसका वर्ष-पर्वत नील है, फिर हिरण्मय वर्ष जिसका वर्ष-पर्वत श्वेत, उसके उपरात सब से उत्तरी वर्ष उत्तर कुरु है जिसका वर्ष-पर्वत शृंगवान् है। सब से दक्षिणी और उत्तरी वर्ष धनुषाकार हैं, इनके बाद के चार वर्ष लंबे हैं। इनके वर्ष-पर्वत जंबुद्वीप के विस्तार के बराबर, पूर्व से पश्चिम समुद्र तक पहुँच गए हैं। बीच का इलावृत चोकोर है। इसके पूर्व माल्यवान् वर्ष-पर्वत और भद्राश्व वर्ष है, तथा पश्चिम मे गंधमादन वर्ष-पर्वत और केतुमाल वर्ष है। ये दोनों वर्ष-पर्वत निषध से नील तक दंडायमान हैं और इस प्रकार इलावृत चतस्र की रचना करते हैं। शेष छ: वर्ष-पर्वत पूर्व से पश्चिम तक दंडायमान हैं और दोनों ओर समुद्र मे अवगाहन करते हैं। मध्यवर्ती इलावृत का पर्वत मेरु है। इस प्रकार जंबुद्वीप इन नौ वर्षों से संघटित है[1] (द्रष्ट०—भूचित्र २)। भारतवर्ष मे तो मनुष्य बसते ही हैं, शेष आठ वर्षों के वासी भी मनुष्य ही हैं।

१. चतुर्द्वीप भूगोल मे जंबुद्वीप पृथ्वी के चार महाद्वीपों में से एक है और भारतवर्ष का ही दूसरा नाम है। सप्तद्वीप भूगोल मे वही एक इतना बड़ा द्वीप बन जाता है कि चतुर्द्वीप भूगोल में के उसीके बराबरी वाले अन्य तीन द्वीप—भद्राश्व, केतुमाल और उत्तर कुरु—उसके वर्ष होकर उसके अंतर्गत हो जाते हैं, और भारतवर्ष नाम से वह स्वयं, अपना ही एक वर्ष मात्र रह जाता है। तथापि यह जंबुद्वीप का वर्णन इस दृष्टि से बड़े काम का है कि इसमे चतुर्द्वीप के संबंध मे बहुत से काम के ब्योरे मिल जाते हैं; क्योंकि वस्तुत सप्तद्वीपवाला जंबुद्वीप चतुर्द्वीपा पृथ्वी के ही अवांतर खंडों को प्रधानता देकर रचा गया है। यथा—चतुर्द्वीपी भूगोल का भारत-जंबुद्वीप जो मेरु तक पहुँचता है, सप्तद्वीप भूगोल मे के जंबुद्वीप मे तीन वर्षो मे बँट गया है। अर्थात् 'देस' के लिये भारतवर्ष, जिसका वर्ष-पर्वत हिमालय है. उसके उपरात हिमालय के उस भाग के लिये जिसमें पीले रग वाले मगोलो की बस्ती है, किम्पुरुषवर्ष[2]—जिसमें का प्लक्ष खंड पुरूरवा-आख्यान की प्लक्ष पुष्करिणी तथा वेदो का प्लक्ष प्रस्रवण है, जहाँ से सरस्वती का उद्गम है। तथा जिस वर्ष का नाम आज भी कनौर में अवशिष्ट है। यह वर्ष तिब्बत तक पहुँचता था क्योंकि वहाँ तक मंगोलो की बस्ती है तथा उसका वर्ष-पर्वत हेमकूट ही, जो कतिपय स्थानों मे हिमालयातर्गत वर्णित हुआ है, तिब्बत है जहाँ आज भी बहुतायत से सोना निकलता है। यही भारत (सभापर्व) के अर्जुनकृत उत्तर-दिग्विजय का हाटक प्रदेश है। हरिवर्ष से हिरात का तात्पर्य है जिसका पर्वत महामेरु शृंखला के अतर्गत निषध (अर्थात्, हिंदूकुश, जैसा कि हम आगे देखेंगे) है जो मेरु तक पहुँच जाता है। इसी हरिवर्ष का नाम अवेस्ता मे 'हरिवरजो' मिलता है जो उसमे आर्यों के बीजस्थान के मध्य माना गया है। वह एक प्रकार

१. वायु०, ३४।१–३५
२. तथा किम्पुरुषे विप्रा! मानवा हेमसन्निभाः
दशवर्षसहस्राणि जिवन्ति प्लक्ष भोजना॥८॥ कूर्म, ४६

चतुर्द्वीपा पृथिवी

स्वादुदसमुद्र
पुष्कर द्वीप
क्षीरसमुद्र
शाक द्वीप
दधिसमुद्र
क्रौंच द्वीप
घृत समुद्र
कुश द्वीप
सुरा समुद्र
शाल्मलि द्वीप
इक्षुरस समुद्र
प्लक्ष द्वीप
क्षार-समुद्र
उत्तर-कुरु
शृंगवान् प०
ज
हिरण्मय वर्ष
श्वेत प०
म्बू
रम्यक वर्ष
नील प०
निषध प०
हरिवर्ष
द्वी
हेमकूट प०
किंपुरुष वर्ष
प०
हिमवान् प०
भारतवर्ष
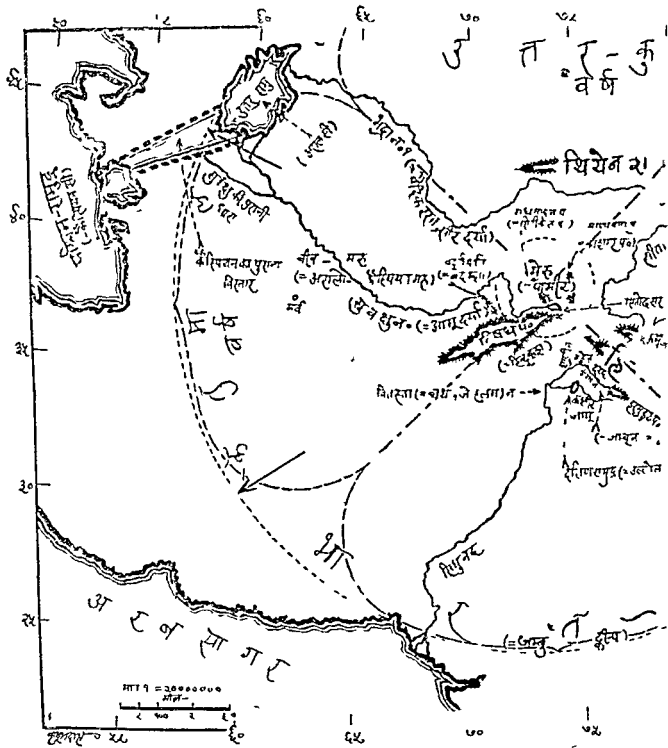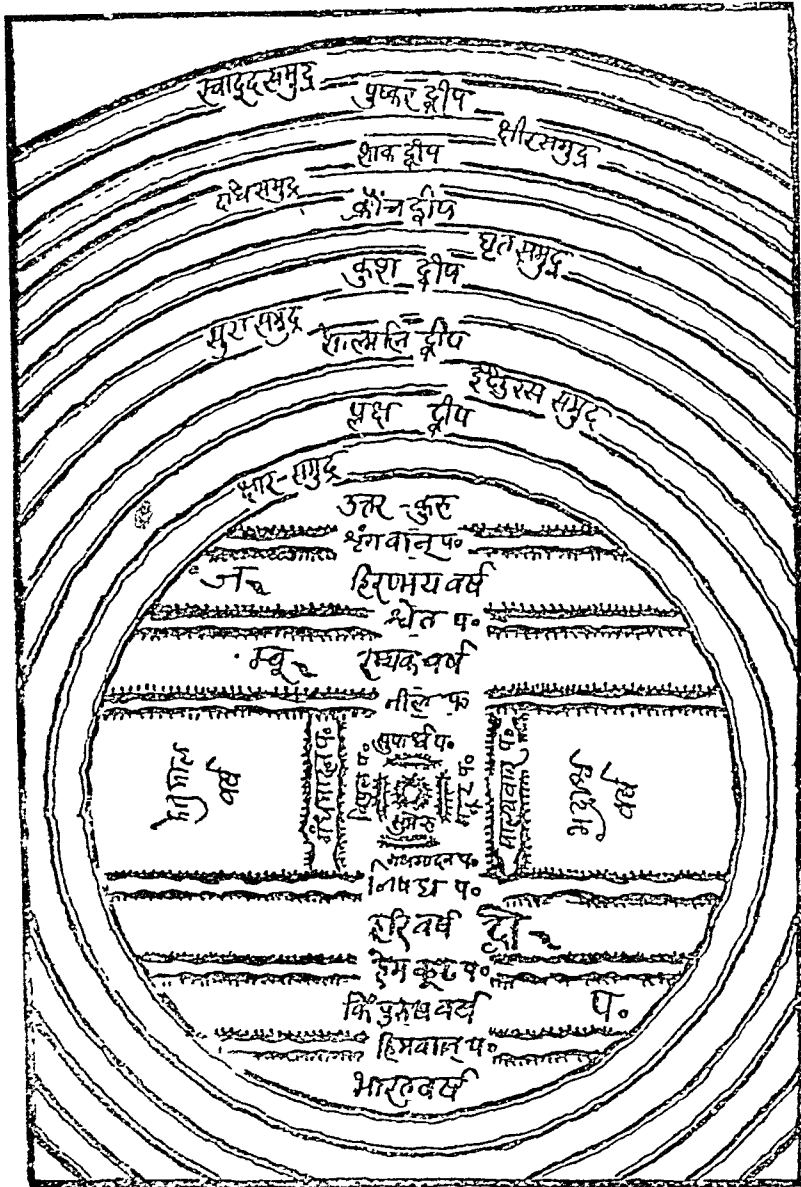
सप्तद्वीपा पृथिवी

से अपने यहाँ की कल्पना से मिल जाता है, क्योंकि यह स्थान अपने यहाँ के भू-केंद्र सुमेरु के चरण-तल में ही है। या जिस प्रकार चतुर्द्वीप का भारत-जंबुद्वीप तीन भागों में बँटकर महत्तर जंबुद्वीप के तीन 'वर्ष' बन गए, उसी प्रकार रम्यक, हिरण्मय तथा उत्तर कुरु नामक वर्षों में विभक्त होकर चतुर्द्वीप भूगोल वाले उत्तर कुरु महाद्वीप के तीन वर्ष बन गए हैं। किंतु पूर्व और पश्चिम के द्वीप भद्राश्व और केतुमाल यथापूर्व दो के दो ही रह गए हैं। अंतर केवल इतना है कि यहाँ वे दो महाद्वीप-नहीं एक महाद्वीप के अंतर्गत दो वर्ष हैं। साथ ही इन सब के केंद्रीय मेरु को मेखलित करनेवाला इलावृत भी एक स्वतंत्र वर्ष बन गया है। यों उक्त चार द्वीपों से परल्लवित तीन उत्तरी, तीन दक्षिणी दो पूर्वी पश्चिमी तथा एक केंद्रीय वर्ष इस जंबुद्वीप के नौ वर्षों की रचना कर रहा है।

१० पिछले समय में तो इस जंबुद्वीप का विस्तार इतना बढा कि भास्कराचार्य ने सारे पूर्वी गोलार्ध को जंबुद्वीप कहा, किंतु जंबुद्वीप का विकसित रूप बहुत इधर तक भी सार्वभौम रूप से गृहीत नहीं हुआ था। पाल काल तक के एक शिलालेख में वह भारत का ही पर्याय है। वस्तुत जिस प्रकार भारत के मानव द्वीप,[1] कुमारी द्वीप आदि और कई नाम थे उसी प्रकार दूसरा एक नाम जंबुद्वीप भी था। यह नाम अभी तक जम्मू (काश्मीर राज्य) के रूप में बच रहा है, जैसे कुमारी द्वीप आधुनिक कन्याकुमारी के नाम में। भारत का नामकरण जंबुद्वीप इसके उत्तरी सीमान्त को लेकर किया गया जान पडता है, क्योंकि जंबू नद (या नदी?) जिसके कारण यह नाम है, पामीर के दक्षिण तथा हिंदूकुश के उत्तर से निकलनेवाला अर्थात् भारत के ठेठ उत्तरी छोर का नद है,[2] जिसका सोना जंबूनद[3] कहलाता था। इसी प्रकार कुमारी द्वीप भारत के दक्षिणी सीमान्त (वर्तमान कन्याकुमारी) को लेकर किया गया नामकरण जान पडता है।

मेरु आदि आर्य भूमि

१० जहाँ तक मेरु का संबंध है दोनो ही भूगोलों के अनुसार उसका वर्णन तथा भौमिक स्थिति एक ही है, क्योंकि चातुर्द्वीपिक भूगोल के द्वीप सप्तद्वीप भूगोल में जंबुद्वीप के चार वर्ष बनकर अपने अवांतर भेदों सहित उसके चारों ओर यथास्थान बने रह जाते हैं, जैसा हम अभी देख चुके हैं (९)। किंतु मेरु के वर्णन में जो सब से मार्के की बात आती है वह यह है कि उसमें बडे जोरदार और असंदिग्ध शब्दों में बारबार कहा गया है कि इस मेरु की स्थिति भौमिक है, किंतु यही स्वर्ग है। इतना ही नहीं, स्वर्ग की पार्थिव स्थिति के संबंध में एक शंका समाधान के रूप में यही स्थिर किया गया है कि मेरु ही स्वर्ग है और वह इसी पृथ्वी पर है। जनमेजय व्यास से पूछते हैं कि आप बार बार राजाओं का मानुष शरीर से स्वर्ग जाना कहते हैं, किंतु सभी शास्त्रों में यह बात सुनिर्णीत है

---

१ मत्स्य, ११३।०-१७। वायु ४६।२३—

२ यह नद चित्राल दरदिस्तान में बहनेवाला होना चाहिए क्योंकि उसी प्रदेश में नदी का बालुआ सोना निकलता था और उक्त पौराणिक इंगित के अनुसार जंबूनद का वही ठिकाना पडता है।

३ इस सोने को निकालने वाले जबु (—सम्मूर, जो जंबु शब्द का ही ईरानी रूप है) की खाल ओढ कर काम करते थे, अत यूनानियों ने उन्हें लोमडी समझा भी था। हो सकता है कि जंबुद्वीप तथा जंबूनद के नामों का इसमें कुछ संबंध हो, जिस पर पीछे से गण प्रमाण जामुन की रंगत चढा दी गई।

कि स्वर्ग बिना मरे नही मिलता। फिर भला मनुष्य देह से स्वर्गगमन कैसा ? व्यास उसके उत्तर में कहते है कि राजन् ! मेरु के शिखर पर सब लोक स्थित है—इद्रलोक, वह्लिलोक, यमलोक इत्यादि। जिस प्रकार अर्जुन मनुष्य शरीर से इंद्रलोक गए थे और वहाँ पॉच वर्ष सुरराज के पास रहे थे उसी प्रकार ककुस्थ आदि अन्य राजा भी वहाँ जा चुके है। दैत्यों ने भी इंद्रलोक को जीतकर वहाँ निवास किया है।[1]

११. जैसा उक्त संवाद के आरंभ ही में कहा गया है, स्वर्ग के संबध में धार्मिक धारणा यही थी कि वह पृथ्वी से अन्यत्र है और पार्थिव शरीर का त्याग करके ही मनुष्य उस लोक में पहुँच सकता है। जिस देश और काल मे ऐसा धार्मिक विश्वास बद्धमूल हो वहाँ उन्ही शास्त्रो में स्वर्ग का पृथ्वी पर ही प्रतिपादन किसी बड़े ही महत्वपूर्ण कारण बिना असभव है।

वह कारण क्या हो सकता है ? ऐतिहासिक दृष्टि से तो इस प्रश्न का एकमात्र उत्तर यही है कि आर्यो का आदि निवास, आर्यो का मूलस्थान यह मेरु ही था, तभी वह इतना पवित्र और सर्वोत्कृष्ट लोक नियत किया गया। उसके संबंध मे यह परंपरा इतनी प्रबल और चिरतन थी कि अ–भौम स्वर्ग की कल्पना हो जाने पर भी उसका पद अक्षुण्ण बना रहा। मेरु को ब्रह्मा की पुरी कहने से भी यही ध्वनित होता है कि सृष्टि का आरंभ वही से माना जाता था।

१२. अब यह देखना चाहिए कि पौराणिक भूगोल के अनुसार उस पुरातन पुण्य प्रदेश—इस स्वर्गमहिम मेरु—का भौमिक ठिकाना कहाँ पड़ता है। इतना तो ध्रुव है कि पौराणिक मेरु उत्तरी ध्रुव नहीं है, चाहे और जो कुछ हो। मेरु के वर्णन में उसकी चार दिशाओ की नदियो और उनके उद्गम का उल्लेख हुआ है। नदियों का उद्गम एक ऐसी वस्तु है जिसकी भौमिक स्थिति मे अधिक हेरफेर नही हुआ करता। अतएव उनके द्वारा मेरु की स्थिति का पता ठीक ठीक लग सकता है। यह पकड़ पर्वतो से भी अधिक अचल और अटल है; क्योकि पर्वतो के सीमात के संबध में भिन्न-भिन्न काल में भिन्न भिन्न धारणाएँ हो भी सकती है, कितु नदी का सभव तो ऐसी घटना है जिसके स्थान में विशेष अतर नही पड़ा करता।

---

१. जनमेजय उवाच—

मृतः स्वर्गमवाप्नोति सर्वशास्त्रे सुनिर्णय ।
मानुषेन तु देहेन ब्रह्मलोके गतिःकथम् ॥ ४ ॥

व्यास उवाच—

मेरोस्तु शिखरे राजन् सर्वे लोकाः प्रतिष्ठिता ।
इन्द्रलोको वह्लिलोका या च संयमिनी पुरी ॥ ६ ॥
यथाऽर्जुनः शक्रलोके गतः पार्थो धनुर्धरः ।
पञ्चवर्षाणि कौन्तेयः स्थित. तत्र सुरालये ॥ ८ ॥
मानुषेनैव देहेन वासवस्य च सन्निधौ ।
तथैवान्येऽपि भूपाला. ककुत्स्थप्रमुखा किल ॥ ९ ॥
स्वर्लोकगतयः पश्चाद्दैत्याश्चापि महाबला. ।
जित्वेन्द्रसदनं प्राप्य संस्थितास्तत्र कामत ॥ १० ॥—देवी० ७।८

१३ पौराणिक मेरु वर्णन के अनुसार मेरु के पूर्व में सीता नदी है। इस सीता नदी के उद्गम का जो काल्पनिक वर्णन है उसके उपरान्त उसका निकास शीतान्त और कुमुज पर्वत से बताया गया है। यह वर्णन बिल्कुल यथार्थ है, क्योंकि सीता यारकंद नदी का नाम है 'जिसे चीनी लोग उसके प्राचीन संस्कृत नाम सीता के अनुसार अब तक सी-तो कहते हैं', यह काराकोरम के शीतान नामक स्कंध से निकल कर पामीर के पूर्व की ओर चीनी तुर्किस्तान में चली गई है। उक्त शीतान पुराणों का शीतान्त है एवं काराकोरम पुराणों का कुमुज या मुजवान, जिसका वैदिक नाम मूजवान था। आज भी उसीके अनुसार उसे मूज-ताग (ताग (तुर्की)—पर्वत) अर्थात् मूज पर्वत कहते हैं।

१४ सीता यारकंद नदी ही है, इस संबंध में पुराणों में कुछ और प्रमाण भी मिलते हैं। सीता मेरु के पूर्ववर्ती महाद्वीप भद्राश्व की नदी है। वायु में इस भद्राश्व के वर्णन में उसमें बसनेवाली जातियों की सूची भी दी है। खेद है कि इन नामों के रूप बहुत ही विकृत हो गए हैं, तो भी इनमें का एक नाम—शाकमुंड हमारे बहुत काम का है। यह नाम शाकमुरुंड का अपरूप है। शाकमुरुंड उस जाति का नाम है जिसे आजकल के ऐतिहासिक कुषाण कहते हैं। प्रसिद्ध बौद्ध सम्राट् कनिष्क इसी जाति का था। पहले तो पुरातत्वज्ञ इन्हें मंगोल मानते थे, किंतु अब यह कल्पना मिथ्या सिद्ध हो चुकी है। वास्तव में शाकमुरुंड आर्य थे,[1] जो शाद्वलिक दशा में इसी सीता नदी के अनुकूल चीनी तुर्किस्तान में रहा करते थे। वहीं से निकल कर कनिष्क ने उत्तरी भारत पर अपना अधिकार जमाया था।

भद्राश्व के प्रकरण में वायु उसकी अन्य नदियों के नाम भी देता है। इनमें से एक है हिरण्यवारि। यह हिरण्यवारि चीनी तुर्किस्तान की जरअफशाँ नदी प्रतीत होती है। जरअफशाँ (सोना छींटनेवाली) हिरण्यवारि (सोना वहन करनेवाली) का अनुवाद ही सा है। यह नदी सीता की करद है और इसका नाम जरअफशाँ इसमें सोने की रेत होने के कारण है।

१५ सीता नदी तकलामकान की विस्तीर्ण मरुभूमि में से होती हुई, एक आध और नदियों के मिल जाने के कारण तारीम नाम धारण करके लोपनूर नामक खारी झील में, पहले जिसका विस्तार आज से कहीं अधिक था, जा गिरती है। इसका वर्णन भी वायु में मिलता है—

कृत्वा द्विधा सिंधु मरुं सीताऽगात् पश्चिमोदधिम्[2]।

अर्थात् सिंधु मरु को दो भागों में बाटती हुई सीता पश्चिमोदधि को चली गई है। सिंधु मरु तकलामकान के लिये बहुत ही उपयुक्त नाम है क्योंकि इस मरुभूमि की एक विशेषता यह है कि इसका बालू देखने में ठीक समुद्र (सिंधु) जैसा जान पड़ता है। पश्चिमोदधि से लोपनूर झील का तात्पर्य है। इसमें पश्चिम शब्द देखकर चौंकना नहीं चाहिए। सीता के पूर्व समुद्र में जाने का इतना स्पष्ट उल्लेख है और उसकी भौमिक स्थिति भी ऐसी है कि वह पश्चिम ओर जा ही नहीं सकता। अतः यहाँ पश्चिम शब्द अवश्य किसी अन्य शब्द का अपपाठ है जो लोपनूर की नामवाचक संज्ञा रहा होगा[3]।

---

१ 'भारत भूमि और उसके निवासी' पृ० १७७, १८०

२ वायु० ४७।२३

३ तुलनीय—ब्रह्मांड० २।१८, ४१–४९, मत्स्य० १२०।४०–५०

इन सब बातो का निष्कर्ष यही है कि मेरु के पूर्व से निकलनेवाली सीता यारकंद के सिवा दूसरी नदी नहीं हो सकती।

१६. जिस प्रकार सीता मेरु के पूर्व की नदी है उसी प्रकार सुवक्षु मेरु के पश्चिम की नदी है। इस नाम के कई रूप मिलते हैं; यथा—सुचक्षु, सुपक्षु एव सुवक्षु। इसकी उत्पत्ति मेरु के पश्चिमी सर सितोद से कही गई है, जहाँ से निकल कर 'नाना म्लेच्छगणैर्युत' केतुमाल महाद्वीप से बहती हुई यह पश्चिम समुद्र में चली गई है[1]। वर्तमान आमू दरिया वा आवशरु ही सुवक्षु है, यह निर्विवाद है। इस नदी के मगोलियन नाम अक्शू और वक्शू, तिब्बती नाम पक्शू तथा चीनी नाम पो-त्सू वा फो-त्सू तथा आधुनिक स्थानिक नाम वखिश,[2] वखश, और वखाँ उक्त सस्कृत नामो से निकले हैं।

वक्षु-आमू का समीकरण इतना निर्विवाद है कि इसके अधिक ब्योरे में जाना व्यर्थ है। जायसवाल ने इस विषय का बड़ा इदमित्थ वर्णन किया है। उसमें के दो तीन हवाले यहाँ पर्याप्त होंगे। इस नदी की अनुकूल बस्तियो में पुराणों में 'चीन' वा 'वीर'-मरु तथा तुषारो एवं अभ्रको का नाम भी आता है। वीर-चीन मरु से आमूकाँठे के उस मरु प्रदेश का अभिप्राय है जिसे आजकल तुर्कोमान 'टर्कोमन डिजर्ट' कहते हैं। ई० पू० पहली शती मे वह चीन के अधिकार में था, अतः उसका नाम चीन मरु पडा जान पड़ता है। तुषार, तुखार शब्द का दूसरा रूप है। यह जाति भी वक्षु के काँठे में बसती थी। अभ्रकों की बस्ती का नाम आज भी वक्षु तटवर्ती अंधकुई में बना हुआ है।

प्राचीन काल से अभी थोडे दिन पहले तक पामीर के पश्चिमी भागवाली सिरीकोल झील (विक्टोरिया लेक) इसका उद्गम मानी जाती थी, जो पौराणिक सितोद सर हुई। इन दिनो यह अराल मे गिरती है किंतु पहले कैस्पियन सागर मे गिरती थी[3]। यही चतुर्द्वीपी भूगोल का पश्चिम समुद्र हुआ। उन दिनो अराल और कैस्पियन मिले हुए थे। दोनो ही दशाओ में यह अपने निकास से पश्चिम में गिरनेवाली नदी है।

१७ मेरु की दक्षिणी नदी के संबंध मे कुछ उलझन है। यह उलझन उसके नाम के कारण पैदा हुई जान पड़ती है। उसका नाम गगा है, अत. पुराणो मे ही उसका समीकरण अलकनंदा, अर्थात् हमारी भागीरथी से कर दिया गया है। किंतु गंगा पहले और भी नदियो का नाम था जिनसे भिन्न करने के लिये अपनी गगा को 'भागीरथी गंगा' कहा है। वस्तुत. मेरु के दक्षिणवाली गगा भी एक दूसरी नदी है जैसा उसके उपकंठ के निवासियो मे "दरदाश्च सकाश्मीरान्" के आने से असंदिग्ध है। ये नाम वायु में मेरु की चारों दिशाओं की नदियो के एक वर्णन मे आते हैं। यह वर्णन उसी पुराण में आए हुए इन नदियो के उस पल्लवित वर्णन से जिसका इंगित ऊपर किया गया है, अर्थात् जिसमें इस गंगा का अलकनदा से समीकरण है, अपेक्षाकृत छोटा एव वास्तविक है। फलतः यह अधिक पुराना, अतएव विशेष प्रामाणिक है।

---

१. वायु०, ४२।५७,७४
२. विश्वकोष, २६।९१०
३. भुवनकोषाक, पृ० ४३

१८ इस गगा के काँठे में दरद एव कश्मीर की गिनती होने के कारण यह कश्मीर के उत्तर की कृष्णगगा के सिवा दूसरा नदी नहीं हो सकती। यह हरमुकुट पर्वत की प्रसिद्ध गगाबल झील से निकलती ह जिस वहा के लोग आज भी गगा का उद्गम मानते है। इससे जान पडता है कि किसी समय कृष्णगगा गगा की गिनती में थी। उक्त लोकप्रवाद से मेरु के दक्षिणवाली गगा का स्पष्टीकरण हो जाता है। इसी गगा की रेत में सोना भी पाया जाता है जिसके कारण उसका नाम गागेय है। यह भी इस विषय म एक प्रमाण है। इसी नदी का नाम जबू भी ह, क्योकि जबू नदी को गगा के भेदो में गिना है—सोने का नाम गागेय के साथ साथ जाबूनद भी है। पौराणिक भूगोल में उसकी भौमिक स्थिति यही है। यही कारण है कि सप्तद्वीप भूगोल में जबुद्वीप की नदी गगा के बदले जबू है।

कालिदास के रघु दिग्विजय की, काबोज की दक्षिणवर्तिनी गगा भी यही है जिसे चीन्हने के लिये विद्वानो का कई प्रकार के अनुमान करने पडे हैं। उसकी इस अभिना से काबोज के दक्षिण, गगा के सबध में सब शकाएँ निवृत्त हो जाती है। इतना ही नही, इससे हमारे इस निरूपण को बल मिलता है कि चतुर्द्वीप भूगोल की दक्षिणी नदी गगा (जबू) आधुनिक कृष्णगगा ही है।

१९ मेरु की उत्तरी नदी भद्रा का समीकरण आपातत उसके निकास की पहिचान—अपेक्षाकृत कठिन है, किंतु उसके उत्तरी द्वीप उत्तर कुरु के चीन्हने में कमी अडचन नही है। अतएव हम उसे ही लेंगे।

ई० दूसरी शती के प्रसिद्ध रोमन इतिहासवेत्ता टालमी ने उत्तर कुरु की अवस्थिति पामीर प्रदेश में बतलाई है[1]। ऐतरेय ब्राह्मण के अनुसार उत्तर कुरु हिमवान् के परे था। हिमवान् बृहत्तर हिमालय का नाम ह। इस प्रकार टाल्मी और ऐतरेय दोना के हिसाब से उत्तर कुरु का प्रदेश एक ठहरता है। बौद्ध साहित्य तथा भारत (सभा०) से इसका अनुमोदन होता है। इण्डियन ऐंटिक्वेरी (१९१९, पृ० ६५ तथा आगे) के एक गवेषणापूर्ण निबध में प्रतिपादित किया गया है कि उत्तर कुरु शका और हूणा के सीमात पर थियानशान[2] पर्वत के तले था। इस मत का भी उक्त प्रमाणो से सामजस्य है। अतएव उत्तर कुरु की यह भौमिक स्थिति स्वीकार्य है।

'वायु के निम्नाकित वचन से भी उत्तर कुरु सबधी हमारे मत की पुष्टि होती ह—

उत्तराणा कुरूणा तु पार्श्वे ज्ञेय तु दक्षिणे।
समुद्रमूर्मिमालाढ्य नाना स्वर विभूषितम्[3] ॥

---

१ इडियन ऐंटिक्वेरी, जुलाई १९३३, पृ० १२०, नोट ९

२ थियानशान की प्रधान शाखा कुरुक्-ताग अर्थात कुरुक पर्वत का कुरुक शब्द कुरु का ही रूप लक्षित होता है, क्योकि जैसा हम ऊपर देखते आए ह, उधर के कितने ही नामो में हमारे यहा के प्राचीन रूप चले आते हैं। यथा—अक्षू इत्यादि=वक्षु सी-तो=सीता, मुजताग=मुज (ताग) एव शीतान=शीतान। अत इस सूची मे पँचवाँ कुरुक=कुरु भी बिना किसी सशय के जोडा जा सकता है।

३ वायु०, ४५।५१।

अर्थात् उत्तर कुरुओ के दाहिने पार्श्व में समुद्र लहराता था। भौमिक स्थिति के अनुसार यह बिलकुल यथार्थ है, क्योकि हमारी स्थापना के अनुसार उत्तरकुरु पश्चिमी तुर्किस्तान ठहरता है। उसका समुद्र अरल सागर जो प्राचीन काल में कैस्पियन से मिला हुआ था, वस्तुत. प्रकृत प्रदेश के दाहिने पार्श्व मे पड़ता है।

२०. जैसा हमने ऊपर कहा है, उत्तर कुरु की नदी भद्रा के चीन्हने का कोई ठीक साधन नही है। किंतु उसके संबंध में एक विलक्षण बात यह है कि उत्तर समुद्र के बदले पश्चिम समुद्र मे गिरनेवाली लिखी गई है। यदि हम भद्रा को वर्तमान सीर दरिया माने--क्योकि वही उस प्रदेश की प्रधान नदी है और वह अंततः उत्तराभिमुख बहती भी है--तो उक्त पौराणिक वर्णन उस पर सोलहो आने घट जाता है, क्योंकि वह उत्तरमें न गिर कर पश्चिम ओर अरल सागर में गिरती है।

२१. यदि मेरु की उत्तरी नदी की भौमिक स्थिति निर्णीत नही हो सकी तो क्या, उत्तर कुरु के स्थान-निर्देश से उसकी पूर्ति हो जाती है। अब लगे हाथ मेरु-संबंधी एक-आध पर्वतो की भौमिक स्थिति पर विचार कर लेना उपादेय होगा। इनमे से मुख्य निषध है जो कही मेरु का पश्चिमी और कहीं दक्षिणी पर्वत लिखा गया है।

२२. निषध-पर्वत से हिंदूकुश शृंखला का तात्पर्य है। हिंदूकुश का विस्तार वर्तमान भूगोल के अनुसार पामीर प्रदेश से, जहाँ से इसका मूल है, काबुल के पश्चिम कोहे-बाबा तक माना जाता है।[1] "कोहेबाबा और बंदे बाबा की परपरा ने पहाड़ो की उस ऊँची शृंखला को हेरात तक पहुँचा दिया है। पामीर से हेरात तक मानो एक ही शृंखला है।"[2] अपने प्रारभ से ही यह दक्षिण दाबे हुए पश्चिम की ओर बढता है।[3] यही पहाड़ ग्रीकों का परोपानिसस है।[4] और इसका पार्श्ववर्ती प्रदेश काबुल उनका परोपानिसदाय।[5] ये दोनों ही शब्द स्पष्टत. 'पर्वत निषध' के ग्रीक रूप है, जैसा कि जायसवाल ने प्रतिपादित किया है ।[6] इसके पहले संभवतः सर्वप्रथम परोपानिसस का निषध से समीकरण प्रसाद जी कर चुके थे[7]।

---

१. "थ्रू आउट इट्स लेग्थ, फ्रॉम इट्स रूट्स इन द पामीर रीजन्स टिल इट फेड्स इनटु द कोहेबाबा, टु द वेस्ट ऑव काबुल ...द हिंदूकुश स्ट्राइक्स वेस्टवर्ड्स ...।"--इन्साइक्लोपीडिया ब्रिटैनिका, १३, ५१३।

२. पृ० १२७।

३ देखिए ऊपर टि० १। ब्र

४. "द रेंज ऑव द हिंदूकुश माउंटेन्स नोन टु द ग्रीक्स ऐज परोपानिसस....।" वि० स्मिथ०, पृ०११९-२०।

इस शब्द के रूप परोपामिसस इत्यादि भी मिलते है जिनमे एन् के स्थान पर एम् है; किंतु विसेट स्मिथ के शब्दो मे--द स्पेलिंग परोपानिसस इज मोर करेक्ट दैन द फॉर्म्स विद एम --वही, पृ० १४९।

५ वही, पृष्ठ ११६

६. इंडियन ऐंटिक्वेरी, सितबर, '३३, पृ० १६९

७. कोशोत्सवस्मारक संग्रह, पृ० १६५

२३ इसी प्रात की कुनार शृखला का, जो हिंदूकुश का एक बढाव है, प्रसिद्ध शिखर कोह मोर बाजोर[1] में है जिसे इसके आदिम निवासी कामदश-काफिर जो अब निचले बशगोल में जा बसे ह, 'गिर निसा' (अर्थात् गिरिनिसा) कहते ह[2]। सिकदर के समय में भी इसका ही नाम था और सयोगवश ग्रीस में भी निसा नामक एक पवित्र पवत होने के कारण यहाँ के निवासियो ने उस पवित्र पहाड से अपना कात्पनिक सबध जोड कर सम्राट् से प्राणदान पाया था[3]। इसी प्रसग में इसका उल्लेख सिकदर-कालीन ग्रीक ऐतिहासिक साहित्य में भी आया है। अस्तु, यह गिर निसा तीन शिखरवाली चोटी है। इन तीन शिखरो का उल्लेख ग्रीको ने भी किया है[4] और वे आज भी पेशा-वर के दून से दिखाई देती हैं[5]। कहना न होगा कि यह 'गिर निसा' भी गिरि निषध का ही रूप है। इसमें का गिरि शब्द एक अथ रखता है। पौराणिक भूगोल में पहाड की शृखला को 'पवत' और एक पहाड को 'गिरि' कहते हैं[6]। अर्थात् अग्रेजी में क्रमश माउटन और हिल जिन अथा में आते ह, ठीक उन्ही अर्थों में ये शब्द आते थे। इस भाति गिरि निषध का अथ हुआ निषध शृखला का एक पहाड, और बात भी यही है। लोकपद्म के पश्चिमी पवत निषध के 'केशरायलो' में त्रिशृग नाम का भी एक पहाड आता है[7]। वह त्रिशृग अन्य नहीं, यही तीन शृगवाला 'गिर निसा' अर्थात् कोह मोर है।

२४ इन प्रमाणो से निर्विवाद रूप से सिद्ध होता ह कि हिंदूकुश ही अपने यहाँ का निषध पवत ह, हा, उसके प्राचीन और वर्तमान सिवानो में थोडा बहुत अतर हो सकता है। वेंदिदाद में जो 'निशय' आता है वह भी यही निषध होना चाहिए, क्योकि वहा इसके बाद ही मौर (मेरु) का उल्लेख ह[8]। अस्तु, पौराणिक वणना में कहीं तो इस निषध को मेरु के पश्चिम और कहीं दक्षिण कहने का अथ यह होता है कि इसकी स्थिति मेरु के पश्चिम-दक्षिण में है, वस्तुत ऐसा है भी।

---

१ ऐन इन्टरेस्टिग फीचर इन बाजोर टोपोग्राफी इज ए माउटन स्पर फ्राम द कुनार रेंज, व्हिच वर्किग ईस्टवडस् कल्मिनेट्स इन् द वेल नोन पीक आव काहमार। ब्रिटेनिका, ३,२२६।

२ इट इज आल्सो इन्टरेस्टिग टु फाइड दैट ए सेक्शन आव द काफरी कम्यूनिटी आँव कामदेश स्टिल चट्स हिम्स टु द गाश हू स्प्रग फ्राम गिर निसा (द माउटेन आव निसा), व्हाइस्ट दे मेनटेन दैट दे ओरिजिनली माग्रेटेड फ्राम द स्वात कट्री टु द प्रेजेंट हैबिटट इन द लोअर बशगोल। —वही।

३ ए फैसीड कनेक्शन विद डायोनिसस ऐंड द सैक्रेड माउट निसा आँव द ग्रीक लिजेंड गेव स्पशल इटरेस्ट टु द टाउन ऐंड हिल स्टेट काल्ड निसा, व्हिच वाज अमग द प्लेसेज नेक्स्ट अटैकड । द इनहैबिटट्स अल्लेजड टु हैव नेक्ड देअर क्लिमेंसी आन द ग्राउड दट दे वर ऐकिन टु डायोनिसस ऐंड द ग्रीक्स ऐंड द ट्राइप्ल-पीक्ड माउटन व्हिच आवर शैडोट देअर टाउन वाज अदर दन माउट मेरस।—विसेंट स्मिथ, पृ० ५२–३।

४ द काहमार हैज बीन आयडेंटिफाइड ऐज मेरस आव ऐरियस हिस्ट्री—द थ्री-पीक्ड माउटन । —ब्रिटेनिका, ३,२२६।

५ द थ्री पीक्स आर विजिब्ल फ्राम पेशावर।—विसेंट स्मिथ, पृ० ५८।

६ अपर्वाणस्तु गिरय पर्वभि पवता स्मृता।—वायु० ४९।१३२।

७ वायु० ३६।२७

८ वेंदिदाद, ५

इसी प्रकार मेरु के पश्चिमी पर्वतों में एक का नाम वैदूर्य पर्वत है। यह, जैसा कि श्री जयचंद्र ने स्थिर किया है[1], वदख्शाँ है जहाँ का वैदूर्य आज लाल वदख्शानी कहा जाता है।

२५ इस प्रकार, जिस मेरु के पूर्व से यारकंद नदी (—सीता) निकली हो, पश्चिमी अंग मे आमू (—सुवक्षु) का उद्गम हो, उत्तर में कोई ऐसी नदी हो जो पश्चिमी समुद्र में गिरती हो तथा दक्षिण में दरद-कश्मीर में वहनेवाली कृष्णगंगा नदी हो, जिसके उत्तर मे थियानशान के अंचल में बसा हुआ देश हो, जिसके पूर्व मे मूज-ताग (मुज) एवं शांतान (शीतात) पर्वत हों, जिसके पश्चिम में वदख्शाँ (वैदूर्य पर्वत) हो और पश्चिम-दक्षिण मे हिंदूकुश (निषध पर्वत) हो, उसके पहिचानने में अड़चन न पड़नी चाहिए।

२६. इन स्थानो के घिराव के कारण पुराणो की मेरु-विषयक यह कल्पना बड़ी यथार्थ और मार्मिक ठहरती है कि लोकपद्म की इस ढोंडी मे उसके ये पार्श्ववर्ती स्थान पखड़ियों और केसर की भाँति लगे हुए हैं। सचमुच मेरु को इन स्थानो ने ऐसा थाम रखा है जिस तरह किसी नगीने को उसके जडाव के काँटे पकड़े रहते है। फलतः यह डंके की चोट कहा जा सकता है कि पौराणिक मेरु वर्तमान भूगोल का 'पामीर' है। पामीर के सिवा वह दूसरा स्थान हो ही नहीं सकता।

२७. मेरु का जो भौमिक स्वरूप पुराणो में वर्णित है वह भी वर्तमान भूगोल के पामीर के चित्र से सर्वथा मिल जाता है। पुराणों के अनुसार इलावृत चतुरस्त्र है और मेरु शरावाकृति (सकोरे की आकृति का) है। इधर वर्तमान भूगोल में पामीर प्रदेश का मान १५०×१५० मील है[2], अर्थात् वह चतुरस्त्र है। इसी प्रकार वह चारों ओर हिंदूकुश, कराकोरम, काश्गर और अल्ताई पहाड़ो की ऊँची ऊँची चोटियों की पट्टी से परिमंडित है—यह ठीक सकोरे की आकृति हो गई, ऊँची चोटियों की शृंखला जिसकी दीवार हुई और बीच का चतुरस्त्र पेंदा हुआ। यहाँ यह उल्लेख कर देना अप्रासंगिक न होगा कि मेरु के इस आधुनिक नाम पामीर में हम मेरु शब्द को आश्लिष्ट पाते हैं; यह शब्द सपाद-मेरु का जन्य है। मेरु के सबंध में सपादमेरु एवं मेरु के महापाद का व्यवहार प्राय हुआ है, अत. यह व्युत्पत्ति अशंकनीय है। इसी प्रकार कश्मीर शब्द भी मेरु का एक अंग जान पड़ता है। जैसा विद्वानों का अनुमान है, अवश्य यह शब्द कश्यपमेरु का अपभ्रंश है। नीलमत पुराण के अनुसार भी कश्मीर कश्यप का क्षेत्र है। साथ ही तैत्तिरीय आरण्यक (१।७) में कहा गया है कि महामेरु को कश्यप नहीं छोड़ता। यद्यपि यह आरण्यक ई० पहली शती के लगभग का है किंतु इसमें उक्त उल्लेख का यह तात्पर्य हुआ कि उस समय यह बात इतनी मान्य और बद्धमूल थी कि उसे ऐसे प्रतिष्ठित वाङमय मे स्थान मिल सकता था। निदान तैत्तिरीय आरण्यक का महामेरु कश्यप की प्रियता के कारण यही कश्मीर जान पड़ता है।

२८. पुराणो ने जिस युग मे अपना वर्तमान रूप पाया उस युग में मेरु-मंडल (पामीर प्रदेश) का नाम कांबोज था। उस नाम की कहीं भनक तक न देकर पुराणो का मेरु भूगोल का

---

१. भारत भूमि और उसके निवासी, पृ० १६३

२. द टोटल एरिया आव द पामीर कंट्री मे वी एस्टिमेटेड ऐज अवाउट १५० एम—१५० एम।—ब्रिटैनिका २०।६५७

घाप करना और उमके इतने ब्योरे में जाना इस बात का एकात प्रमाण है कि उसकी परपरा बहुत प्राचीन थी, एव सवलोक मम्मत तथा समादृत थी।

२९ अस्तु। ऊपर दिए गए प्रमाणा से यह पूणतया निश्चित ह कि आया की आदिभूमि पुराण वर्णित मेरु (स्वग) ही है, उत्तरी ध्रुव या कोई अय प्रदेश नही, तथा वतमान भूगोल के अनुसार उमकी भामिक स्थिति असदिग्ध है। मेरु पामीर के अतिरिक्त अय कोई प्रदेश नहीं ह। सकता।

सूर्य का निर्माण, विकास तथा विनाश

उदित नारायण सिंह.

यह तो ठीक ठीक मालूम नही कि किस आर्य ऋषि के पुलकित कंठ से सूर्य का अमर महिमा-गान 'गायत्री' मंत्र के पावन स्वरो मे उच्छ्वसित हो उठा, पर इसमे संदेह नही कि सूर्य की जिस अक्षय ऊर्जा-स्रोत तथा प्राणदायिनी रश्मियों के दिव्य प्रभाव को दृष्टि मे रख सविता स्तवन के इस महामंत्र की रचना हुई उनका इसी प्रकार उदार-विकिरण 'सूर्य-देव' आर्य-सस्कृति के आविर्भाव के युगो पहले से करते आ रहे है। वैदिककाल से आज तक सूर्य के प्रकाश चमक तथा आकार प्रकार मे किसी तरह का ऐसा परिवर्त्तन नही हुआ है जो देखने पर आसानी से स्पष्ट हो जाय और इसलिये यह सोचना कि सूर्य पृथ्वी के प्राणियो के प्रति चिरकाल तक इसी प्रकार सदय और उदार वना रहेगा सर्वथा स्वाभाविक है। आर्यो ने सूर्य के महत्व को पहचाना और यह भली भाँति समझ लिया था कि सूर्य के विना पृथ्वी पर किसी प्रकार जीवन सभव नही, अत. सूर्य को वहुत वड़ा देवता मानकर उन्होने इसकी उपासना की। अव तो यह सर्व साधारण को मालूम है कि सूर्य के प्रकाश के ही कारण दिनरात होते है, ऋतुएँ वदलती हैं तथा ग्रह और उपग्रह चमकते रहते है। पर सभी को शायद इस तथ्य का पता नही है कि सूर्य के विकिरण मे उर्जा का एक अजस्र स्रोत निरंतर प्रवाहित होता रहता है, और सत्य तो यह है कि इस भूतल पर शायद ही ऐसा कोई वृत्त घटित होता हो जिसके मूल मे सूर्य के इस ऊर्जा-विकिरण का प्रभाव न हो। प्रकृति के जिन उप-करणो का शक्ति के रूप मे मानव-समाज ने उपयोग किया है उन सव के निर्माण मे सूर्य-रश्मियो का विकिरण सहायक रहा है। पृथ्वी पर शक्ति के उद्गम प्रधानत. अग्नि, जल तथा वायु हैं और इन तीनो को शक्ति प्रदान करना सूर्य का काम है। लकड़ी, कोयला और तेल जलाकर हम तरह तरह की शक्तियाँ उत्पन्न करते है तथा उनके द्वारा कल कारखाने और इजन आदि चलाते है। पर लकड़ी कोयला अथवा तेल को जलाने के क्रम मे हम केवल उनके भीतर सूर्य-रश्मियो द्वारा केंद्रीभूत ऊर्जा का ही उपयोग करते है। पेड़ो की हरी पत्तियों के ऊपर सूर्य की किरणें पड़ने से हवा की कार्वन-डाई-अक्साइड दो तत्वों—कार्वन और ऑक्सिजन—मे वॅट जाती है। ऑक्सिजन तो हवा में मिल जाती है और कार्बन पेड़ों के शरीर मे जमा होता रहता है। लकड़ी के सूख जाने पर यही कार्बन ऑक्सिजन के साथ संयोग होने से जलता है। कोयला और तेल के जलने का भी यही कारण है।

तो जिस सूर्य के ऊर्जा विकिरण के ऊपर मानव-समाज के सभी सुख-साधन तथा समस्त प्राणी-जगत का जीवन निर्भर है उसके विषय मे जानने का कुतूहल मानव-हृदय में होना बहुत स्वाभाविक है। सूर्य की उत्पत्ति कैसे हुई, उसमें इतनी गर्मी कहाँ से आई, उसके भीतर कौन-सा अलौकिक ईंधन युगो से जल रहा है, ऊर्जा का यह अक्षय भाडार उसे कहाँ से मिला और भविष्य मे उसका जीवन कैसा रहेगा, ये बहुत ही महत्वपूर्ण और मनोरजक प्रश्न है। शताब्दियो से मानव मस्तिष्क इन प्रश्नो के उचित उत्तर की अनवरत खोज करता रहा है, और प्राय उसके प्रयत्न निष्फल सिद्ध हुए है। परन्तु अन्तिम बीस पचीस वर्षो मे भौतिक-विज्ञान का जो मार्मिक विकास हुआ है उसके आधार पर आज हम इन प्रश्नो के सम्यक् समाधान की दृढतापूर्वक आशा कर सकते है। इसके पहले कि इन प्रश्नों की मीमासा की जाय यह अच्छा होगा कि हम सूर्य के आकार प्रकार तथा उसके बाह्यरूप का थोडा विवरण दे दें।

सूर्य का तापक्रम

हमारा सूर्य एक अत्यन्त गरम गैस का भीमाकार गोला है, वह इतना गरम है कि हम आसानी से सोच नही सकते। यह कहना कि सूर्य के भीतर एक प्रचड अग्नि जल रही है, गलत होगा, क्योकि जैसा हम आगे चलकर देखेंगे, सूर्य के भीतर की गर्मी किसी प्रकार के ईंधन के जलने अथवा रासायनिक ज्वाला के कारण नहीं है। सूर्य की किरणों से पृथ्वी पर जो गर्मी मिलती है उसके आधार पर हिसाब लगाने से ज्ञात हुआ है कि सूर्य की सतह का तापक्रम करीब ६००० सें० (सेंटीग्रेड) है। किसी भी प्रकार के रासायनिक अग्निकाड द्वारा पृथ्वी के ऊपर या वैज्ञानिक प्रयोग-शालाओ में इतनी प्रचड गर्मी उत्पन्न करना असभव है। बिजली द्वारा परिचालित भट्ठियो में अधिक से अधिक जो तापक्रम होता है वह सूर्य की सतह के तापक्रम से बहुत कम होता है। वस्तुत इतने अधिक तापक्रम में पृथ्वी पर उपलब्ध कोई भी पदार्थ (जिसकी सहायता से किसी भट्ठी का निर्माण किया जा सकता है—ऐसे भी ऊष्म-सह पदार्थ जैसे प्लैटिनम, कार्बन आदि) गलकर केवल द्रव ही नहीं बनेगा अपितु भाप बनकर उड जायगा। कोई भी पदार्थ इतने अधिक ताप में केवल गैस के ही रूप में रह सकता है और सूर्य के भीतर की द्रव्य-राशि गैस के ही रूप में है। सूर्य की सतह पर जब इतना प्रचड तापक्रम है तो सूर्य के भीतरी भाग की गर्मी तो और भी अधिक होनी चाहिए, क्योकि भीतर अधिक गर्मी होने के कारण ही भीतर से बाहर की ओर ताप का प्रवाह होगा और सूर्य के बाहर गर्मी बिखरती जायगी। सूर्य की सतह से केंद्र की ओर गर्मी उत्तरोत्तर बढती जाती है और सूर्य की आतरिक स्थिति का अध्ययन करने से पता चलता है कि कि केंद्रीय भाग का ताप-क्रम २ करोड अश सेंटीग्रेड है। इस तापक्रम की प्रचडता का अनुमान हम इस बात से कर सकते है कि यदि साधारण आकार वाले किसी स्टोव में इतनी गर्मी किसी प्रकार उत्पन्न की जा सके (और यदि स्टोव ऐसे पदार्थ का बना हो जो ऐसी गर्मी सह सके) तो उसके ताप के कारण सैकडो मील की दूरी तक सभी वस्तुएँ जल कर भस्म हो जायँगी।

सूर्य का घनत्व

जैसा ऊपर कहा जा चुका है, अत्यत अधिक गर्मी के कारण सूर्य की सतह पर अथवा उसके भीतर की वस्तुएँ केवल गैस रूप में है। लेकिन इस से यह नहीं समझ लेना चाहिए कि सूर्य के भीतर पृथ्वी की हवा की तरह हल्की गैस भरी हुई है। गैस और ठोस अथवा द्रव में मौलिक अतर

इस वात का है कि गैस का आयतन दवाव डालकर जितना चाहें उतना कम किया जा सकता है, ओर यदि वाहरी दवाव न हो तो गैस अपने आप वाहर की ओर अवाध फैलती जायगी। परंतु दबाव डालने से ठोस अथवा द्रव के आकार-प्रकार मे किसी प्रकार का अतर नही किया जा सकता। पृथ्वी के ऊपर पाई जानेवाली गैसे प्रायः वहुत विरल होती है और उनका घनत्व ठोस और द्रव की अपेक्षा वहुत कम होता है। पर सूर्य के भीतर की गैस वाहरी दवाव के कारण वहुत घनीभूत हो जाती है। ज्यों-ज्यो सूर्य के केद्र की ओर वढ़ते जॉय, गैस का दवाव वढ़ता जाता है और फल-स्वरूप उसका घनत्व भी वढ़ता जाता है। सूर्य का औसत घनत्व पानी से १ ४ गुना अधिक है और सूर्य के केंद्रीय भाग का घनत्व तो उसके औसत घनत्व से ५० गुना अधिक है, अर्थात् सूर्य का केंद्रीय भाग पारा की अपेक्षा छः गुना अधिक सघन है। केंद्रीय भाग का घनत्व इतना अधिक इस-लिये है कि वहाँ गैस का दवाव पृथ्वी के वायुमडल के दवाव से १० अरव गुना अधिक है। इसके विपरीत सूर्य का वाह्य-प्रदेश इतना विरल है कि वहॉ का दवाव हमारे वायुमंडल के दवाव का हजारवॉ भाग है। क्योकि सूर्य का औसत घनत्व पृथ्वी की अपेक्षा काफी कम है, इसीलिये सूर्य का आयतन पृथ्वी के आयतन से करीव १३ लाख गुना होते हुए भी उसका द्रव्य-पुज (मास) पृथ्वी के द्रव्यपुज से केवल ३,३३,४३४ गुना अधिक है।

सूर्य का आकार और दूरी

सूय का व्यास ८६४००० मील है और यह पृथ्वी के व्यास से करीव १०९ गुना अधिक है। चूँकि पृथ्वी सूर्य के चारो ओर एक दीर्घ-वृत्त मे घूमती रहती है, इस लिये सूर्य से उसकी दूरी प्रतिक्षण वदलती रहती है, लेकिन सूर्य से उसकी औसत दूरी करीव ९३० लाख मील है। यह दूरी कितनी अधिक है इसका अनुमान हम आसानी से इस वात से लगा सकते है कि यदि कोई हवाई जहाज प्रतिघंटा १८० मील की चाल से दिन-रात निरंतर उड़ता रहे तो उसे पृथ्वी से उड़कर सूर्य के पास पहुँचने मे करीव ६० वर्ष लगेगे। विश्व में प्रकाश-रश्मियॉ सव से अधिक वेग से चलती है। उनकी गति एक सेकेड में १,८६,२७१ मील है। इतने प्रचंड वेग से चलने पर भी सूर्य की किरणो को पृथ्वी तक पहुँचने मे ८ मिनट लगते है। इस लिये हम सूर्य को आकाश मे जव देखते है तो उस समय वह ठीक उसी स्थान पर नही रहता जहॉ दिखाई पड़ता है। वह तो हमें वहॉ दिखाई पड़ता है जहॉ वस्तुतः ८ मिनट पहले था।

सूर्य के विकिरण की ऊर्जा

यह जानने के लिये कि सूर्य अपनी रश्मियो द्वारा प्रतिक्षण कितनी ऊर्जा का विकिरण किया करता है यह आवश्यक है कि ऊर्जा के माप करने की विधि हम अच्छी तरह समझ ले। यह तो साधारणत. सभी जानते है कि गर्मी प्रकाश विजली आदि ऊर्जा के विभिन्न रूप है। पर शायद सव को यह नही मालूम है कि सापेक्षवाद के सिद्धात ने यह सिद्ध कर दिया है कि द्रव्य-पुज और ऊर्जा में कोई मौलिक विभेद नही है।

भौतिक विज्ञान मे ऊर्जा के नापने की इकाई 'अर्ग' है। वस्तुत. यह वड़ी छोटी इकाई है। एक ग्राम कोयला जलाने से जितनी ऊर्जा निकलेगी उसका परिमाण ३०० अरव अर्ग है। एक विजली का वल्व प्रति सेकड करीव २५ अरव अर्ग ऊर्जा खर्च करता है। पृथ्वी के धरातल के एक

सेंटीमीटर लम्बे तथा एक सेंटीमीटर चौडे भाग पर लबवत् पडनेवाली सूय की किरणें प्रति सेकड १३ लाख ५० हजार अग ऊर्जा का विकिरण करती रहती ह। इस प्रकार यदि हिसाब लगाया जाय तो मानव ससार में प्रति वष कोयला तथा अय प्रकार के ईंधन जलाकर हम जितनी ऊर्जा उपन्न करते ह उससे अरबो करोडो गुनी अधिक ऊर्जा प्रति वष सूय द्वारा हमारी पृथ्वी को मिलती है। और सूय प्रतिक्षण अपने भीतर से जितनी ऊर्जा विकिरण द्वारा बाहर बिखेरता है उसका बहुत ही थोडा अश हमारी पृथ्वी को मिलता है। विकिरण की ऊर्जा का अधिकाश तो शून्य में निरतर व्यय बिखरता रहता है। गणित द्वारा देखा गया है कि सूय की सतह का एक वग सेंटीमीटर प्रति सेकड ६२ अरब अग ऊर्जा बाहर प्रवाहित करता रहता है।

सूर्य का बाह्यरूप--सूर्य-कलक

दूरबीन से देखने पर (और कभी-कभी रगीन शीशे द्वारा केवल आखो से भी देखने पर) सूय की सतह पर काले काले धब्बे दिखाई देते हैं। इन धब्बो को 'सूय-कलक' कहा जाता है। इन धब्बो का वास्तविक परिमाण बहुत अधिक होता है। कभी-कभी तो इनके व्यास ५०,००० मील लम्बाई के होते ह। वास्तव में ये काले नहीं होते हैं, और हम को काले इसलिये दिखाई पडते है कि उनकी पृष्ठभूमि म सूय का अधिक प्रभापूण भाग रहता है तथा ये धब्बे अपने आसपास के भाग से अपेक्षाकृत कम चमकीले होते ह।

सूर्य का शरीर तो गैस का बना हुआ है, और उसके भीतर की गस निरतर घूमती रहती है। सूय के बाहरी भाग के भिन्न भिन्न प्रातो में इनके घूमने की गति एक ही न होने के कारण स्थान-स्थान पर गस पुज भँवर और आवत्त का रूप धारण कर लेते ह—ठीक उसी प्रकार जसे वर्षाकाल की तीव्रगामी नदियो में जगह जगह धाराओ की गति भिन्नता के कारण आवत्त और भँवर बन जाते ह। इन आवर्त्तों के बीच से चक्कर खाता हुआ गस पुज ऊपर उठता है तथा ऊपर उठने पर बाहर की ओर फैलता है। यही गैस-आवत्त सूय-कलक के रूप में दिखाई पडते ह। फैलने के कारण गैस का तापक्रम कम हो जाता ह, इसलिये देखने पर ये आवत्त काले धब्बे की तरह मालूम पडते ह। ये धब्बे सूय के मध्यभाग में ही अधिक दिखाई पडते ह। तथा कभी अधिक सख्या में रहते है और कभी कम। इन धब्बो के विषय में एक मनोरजक बात जिसका अभीतक कोई समाधान नहीं मिल सका है, यह है कि अधिकतम सख्या में ये प्राय एक नियत्रित अवधि के बाद ही दिखाई पडते है। अधिक से अधिक सख्या में उनके प्रकट होने की यह चक्रीय अवधि करीब-करीब ११॥ वष की होती है।

सूर्य-कलक के इस अवधि-क्रम का कुछ प्रभाव हमारी पृथ्वी के जीवन पर भी कई प्रकार से पडता है। जैसे अधिक सूय-कलक के साथ-साथ पृथ्वी पर चुम्बकीय उत्पात होते हैं। ध्रुव प्रदेश में 'अरोरा बोरियालिस' का चमत्कारपूण दृश्य दिखाई पडता है, और औसत वार्षिक तापक्रम तथा वर्षा परिमाण भी बढ जाया करते ह। ए० ई० डगलस महोदय ने पुराने वृक्षो के तना पर पडी हुई गोली धारियो का अध्ययन करने के बाद यह निष्कष निकाला है कि सूय-कलक की इस ११ वर्षीय चक्रीय अवधि का प्रभाव वृक्षो के विकास पर भी पडता है। इन घटनाओ के अतिरिक्त कुछ लोग मानव ससार में होनेवाली राजनीतिक तथा सामाजिक क्रातियो का सबध भी सूय-कलक की

अधिकतम संख्या के साथ जोड़ते हैं[1], परंतु ऐसे निष्कर्षों के लिये कोई वैज्ञानिक कारण नही दीखता। ये धव्वे सूर्य की सतह पर चारों ओर घूमते रहते हैं जिससे पता चलता है कि सूर्य अपनी धुरी पर चक्कर काटता है। धुरी के चारों ओर सूर्य के घूमने की अवधि इन धव्वों की गति का निरीक्षण कर निकाली गई है। सूर्य का मध्यवर्ती भाग धुरी के चारों ओर २५ दिन के भीतर एक चक्कर काटता है पर सूर्य के ध्रुव प्रदेश करीव ३४ दिन मे एक चक्कर पूरा करते है। सूर्य के भीतर गैस होने के कारण विभन्न भागों के चक्कर काटने की अवधि में अंतर हो गया है।

सूर्य का निर्माणकाल

सूर्य के संवंध में महत्वपूर्ण प्रश्नो का उचित उत्तर पाने के लिये उसका निर्माणकाल जानना आवश्यक है। इतना तो निश्चित है कि सूर्य का निर्माण पृथ्वी के निर्माण के पहले हुआ होगा, क्योंकि पृथ्वी आदि ग्रह सूर्य से निकल कर वने है। लेकिन पृथ्वी का निर्माणकाल भी अभी तक निश्चयपूर्वक नही निर्धारित किया जा सका है। भारत के प्रथम आर्य ने जव सूर्य को देखा और उसकी स्तुति की तव भी सूर्य अपने उसी रूप मे था जैसा आजकल है। तव से लेकर आजतक जितना समय वीता है वह सूर्य के जीवनकाल का एक क्षण मात्र है। पृथ्वी के ऊपर मानवता का जन्म होने के वहुत पहले से सूर्य अपने इसी रूप मे इस विराट् विश्व के भीतर गर्मी तथा प्रकाश विखेरता चला आ रहा है। इस वात का अत्यत मान्य प्रमाण हमें भूगर्भ मे स्थित चट्टानों तथा अन्य द्रव्यो द्वारा मिलता है। पृथ्वी के भीतर से जो कोयला निकलता है उसकी रचना से यह स्पष्ट मालूम होता है कि पृथ्वी को आजकल जिस परिमाण में गर्मी तथा प्रकाश मिल रहे है, ठीक उसी मात्रा में उस समय भी गर्मी और प्रकाश मिलते थे जव इन कोयलों का निर्माण हुआ। इसी तरह भूगर्भ में मिलने-वाले फॉसिल्स के अध्ययन से विश्वसनीय प्रमाण मिलता है। प्राणि-जगत के क्रमिक विकास में किसी प्रकार का व्यतिक्रम नही हुआ है। यदि सूर्य की गर्मी तथा उसके प्रकाश मे किसी प्रकार का उपगण्य अंतर हुआ होता तो निश्चय ही प्राणिजगत के विकास में व्यवधान उपस्थित होते, क्योंकि यदि सूर्य की विकिरण-ऊर्जा इस समय ही आधी ही रह जाय तो पृथ्वी जमकर वरफ हो जायगी और यदि विकिरण ऊर्जा आज से चौगुनी हो जाय तो पृथ्वी के समुद्र उवलने लग जायँगे। तो इस प्रकार हम इस निष्कर्ष पर पहुँचते है कि करोड़ों वर्ष पूर्व से, जव पृथ्वी पर जीवन का उद्भव हुआ, सूर्य के आकार-प्रकार मे किसी प्रकार का अंतर नही हुआ है।

पर पृथ्वी पर जीवन प्रारंभ होने के वहुत पहले से ही हमारी पृथ्वी वनी है। और पृथ्वी कम से कम कितने वर्ष पूर्व वनी होगी इस प्रश्न का प्रामाणिक उत्तर हमें भूगर्भ स्थित चट्टानों की पर्पटी में पड़े हुए यूरैनियम थोरियम आदि तेजोद्गर (रेडियो ऐक्टिव) तत्वों द्वारा मिलता है।

---

१ सूर्य-कलक की अधिकतम संख्या निम्नलिखित वर्षो में रही है। सन् १७७८ ई०, १७८८, १८०४, १८१६, १८३०, १८३७, १८४८ १८६०, १८७१, १८८३, १८९४, १९०५, १९१७, १९२८ और १९३८–३९। संयोग से अमेरिका की क्राति, फ्रास की क्राति, पेरिस-कम्यून, रूस की दोनों क्रांतियाँ, भारत का आंदोलन, द्वितीय महायुद्ध, आदि घटनाएँ इन्ही वर्षो के आसपास घटित हुई है।

इन तेजोद्गार तत्वा के कुछ अश अपने आप ही विघटित होते रहते है। पर इन तत्वों का ह्रास इतना धीरे-धीरे होता है कि अरबो वर्ष बाद ये बदलकर कुछ-कुछ सीसा के ढग के हो जाते है। पृथ्वी के भीतर-पुरानी चट्टानो की पर्त में पडे हुए इन द्रव्यों के विघटन के आधार पर गणना करने से पता चलता है कि पृथ्वी के—पिघले हुए लावा से—ठोस रूप में परिवर्तित होने का क्रम कम से कम १६ अरब वर्ष पूर्व प्रारम्भ हुआ होगा। पर पृथ्वी सूर्य के शरीर से निकलने के बाद शीघ्र ही ठोसरूप में बदलने लगी होगी। अत हमें इस प्रकार पृथ्वी के निर्माणकाल का काफी विश्वसनीय अनुमान हो जाता है। और सूर्य तो पृथ्वी के पहले ही बना होगा, अत हम कह सकते है कि सूर्य का निर्माण कम से कम १६ अरब वर्ष पूर्व तो हुआ ही होगा। विश्व म फैले हुए तारों और तारक-समूहों की गति का अध्ययन करने के बाद वैज्ञानिक इस निष्कर्ष पर पहुँचे है कि तारा का निर्माण आज से अधिक से अधिक २ अरब वर्ष पूर्व हुआ होगा तो हमारा सूर्य भी इसी अवधि के भीतर बना होगा। इस तरह सूर्य का निर्माण आज से पूर्व १॥ और २ अरब वर्षों के बीच में हुआ होगा। यदि हम यह मान लें कि सूर्य का निर्माण दो अरब वर्ष पूर्व हुआ है तो अपने जन्मकाल से आजतक सूर्य अपने विकिरण द्वारा करीब-करीब २४×१०४ (२४ के आगे ४९ शून्य) अर्ग ऊर्जा विश्व म बिखेर चुका है। अब प्रश्न उठता है कि सूर्य के भीतर इतनी प्रचड शक्ति कहा से आई? और इस प्रश्न के उत्तर म हम दूसरा प्रश्न पूछते है कि सूर्य के भीतर यह भयकर गर्मी कैसे उत्पन्न हुई और वह इतना खर्च होने पर भी किस प्रकार वर्तमान रूप में बनी हुई है?

सूर्य के भीतर क्या 'जलता' है?

प्रारम्भ में मनुष्य के मस्तिष्क ने यह सोचा कि सूर्य के भीतर कोई वस्तु जल रही है। और यह धारणा निकट अतीत तक बनी रही है। इसी विश्वास के आधार पर प्रामीथियस की कहानी बनाई गई कि उसने मनुष्यता के लाभ के लिये सूर्य के भीतर से आग चुराई थी। यदि वस्तुत सूर्य के भीतर कुछ जलता है तो स्वाभाविक प्रश्न उठता है कि कौनसी वस्तु जल रही है, और इस प्रश्न के समाधान के क्रम में हम ज्ञात हो जायगा कि सूर्य के भीतर कोई अग्नि नहीं जल रही है। क्योकि यदि हम यह मान लें कि सूर्य का सारा शरीर कोयले का बना था और जब आर्यों ने पहले पहल सूर्य का स्तवन किया तभी से यह कोयला जलना प्रारम्भ किया तो अबतक सारे के सारे सूर्य को जलकर राख हो जाना चाहिए था। इसके विपरीत हम ऊपर देख आए है कि मानव सस्कृति के उन्मेष के बहुत पहले से ही सूर्य इसी प्रकार चमकता चला आ रहा है। यदि सूर्य के भीतर कोयले के अतिरिक्त और किसी प्रकार का रासायनिक ईंधन जलता होता तो वह भी सूर्य के जीवन के लाखवे भाग के लिये पर्याप्त न होता।

सच तो यह है कि सूर्य इतना अधिक गरम है कि उसके भीतर जलने की क्रिया अथवा इस प्रकार की कोई और रासायनिक प्रतिक्रिया हो ही नहीं सकती। कोई वस्तु ऑक्सिजन के साथ सयोग होने पर जलती है। लकडी का कावन कुछ ताप म जब हवा की आक्सिजन स मिलता है तो लकडी जलने लगती है। जलने की क्रिया को प्रश्रय देनेवाले जितने भी मिश्र रासायनिक द्रव्य है वे सब सूर्य के भीतर के प्रचड ताप के कारण अपने मौलिक तत्वा में छिन्न भिन्न हो जाते है और सूर्य के भीतर की गैस इन्ही मौलिक तत्वा का एक अद्भुत मिश्रण मात्र है। सूर्य के भीतर का तापक्रम ६००० सें० ग्रे० से अधिक है। इतनी अधिक गर्मी में सभी सयुक्त द्रव्य (कम्प्लेक्स कम्पाउड्स)

छिन्नभिन्न हो अपने मौलिक अणुओं मे विखर जाते हैं और रासायनिक अग्नि-ज्वाल को प्रश्रय देने की उनकी क्षमता सर्वथा विनष्ट हो जाती है।

तो फिर सूर्य के भीतर इतनी प्रचड गर्मी आई कहाँ से और वह इस रूप में किस प्रकार वनी हुई है?

संकोचन का सिद्धांत

करीव एक शताव्दी पूर्व हेल्महोल्त्स नामक एक जर्मन वैज्ञानिक ने इस प्रश्न के समाधान का प्रयत्न किया कि सूर्य की गर्मी का क्या कारण है। उसने यह कल्पना की कि, प्रारभ मे हमारा सूर्य एक ठढी गैस का वृहदाकार गोला था। उस समय इसका व्यास इसके वर्त्तमान व्यास से वहुत वड़ा रहा होगा। गैस का यह विराट गोला अपने ही गुरुत्वाकर्षण के प्रभाव से धी-धीरे सकुचित होने लगा। इस सकोचन के कारण भीतर की गैस पर वाहर से दवाव पड़ा और परिणाम स्वरूप भीतर की गैस का तापक्रम वढ़ने लगा। दवाव के कारण गैस का तापक्रम वढ़ता है यह सत्य मोटर अथवा सायकिल मे हवा भरनेवाले साधारण पप के योग के समय देखा जा सकता है। पप के भीतर की हवा पर दवाव पडने के कारण उसका तापक्रम वढ जाता है और फलत. पप गरम हो जाता है साथ ही गरम होने पर गैस वाहर की ओर फैलती है और वाहर से अधिक दवाव पड़ने पर इसकी गर्मी उत्तरोत्तर वढती जाती है, तथा भीतर से वाहर की ओर इसका दवाव भी वढता जाता है। ठडी गैस का गोला जव सकुचित होने लगा, तो भीतर गैस का तापक्रम वढा और गुरुत्वाकर्षण के कारण गोले का सकोचन चलता रहा। इस क्रम मे उत्तरोत्तर भीतर की गैस का तापक्रम वढ़ता जायगा और फलस्वरूप उसका दवाव भी वढता जायगा तथा धीरे-धीरे ऐसी अवस्था आ जायगी कि भीतर की गैस का दवाव वाहर के द्रव्य के भार के वरावर हो जाय और संकोचन का क्रम रुक जाय। पर सूर्य के गोले के साथ एक वात यह थी कि ज्यो-ज्यो सकोचन के क्रम मे सूर्य गरम होता गया त्यो-त्यो इसकी गर्मी का कुछ अश वाहर के शून्य देश मे विखरता गया, अत भीतर की गैस का उतना दवाव नही वढ सका कि संकोचन वद हो जाय। हेल्महोल्त्स के मतानुसार इस समय हमारा सूर्य इसी सकोचन के क्रम मे है और उसका विकिरण किसी रासायनिक ज्वाला के कारण नही अपितु गुरुत्वाकर्षण द्वारा उन्मुक्त ऊर्जा के कारण है।

हेल्महोल्त्स का यह मत सूर्य के प्रारभिक विकास के लिये उपयुक्त मालूम होता है पर सूर्य की वर्त्तमान अवस्था और उसकी आजकल की गर्मी के स्रोत के लिये उसने जो समाधान दिया है वह ठीक नही जँचता। हेल्महोल्त्स के सिद्धात के आधार पर यदि सूर्य के ऊर्जा-विकिरण का हिसाव लगाया जाय तो पता चलेगा कि प्रारभ से सिकुडते-सिकुडते अपने वर्त्तमान रूप तक आने मे सूर्य विश्व मे जितना ऊर्जा-विकिरण कर सकता है वह उसके वास्तविक ऊर्जा विकिरण के हजारवे हिस्से से भी कम है। और इस प्रकार सूर्य का निर्माणकाल केवल २ करोड़ वर्ष से थोडा अधिक आयेगा। पर हमे भूगर्भ मे इस वात का निश्चित प्रमाण मिलता है कि पृथ्वी तथा सूर्य का जन्म-काल इससे कही अधिक पूर्व है। अत यह दुर्निवार निष्कर्ष निकलता है कि सूर्य की वर्त्तमान गर्मी संकोचन के क्रम के कारण नही है, वरन् इसका कोई दूसरा स्रोत है।

परमाणु और उसकी शक्ति

यह जानने के लिये कि सूय की प्रचड ऊर्जा का स्रोत क्या है, यह आवश्यक है कि यहाँ सक्षेप म पदाथ के मौलिक स्वभाव और गुण का विवेचन कर लिया जाय। ससार के सभी पदाथ छोटे छोटे कणो से मिलकर बने ह, ठीक वैसे ही जस कोई दीवार छोटी छोटी ईंटो को जोडकर खडी कर दी जाती है। इन सूक्ष्म कणो को अणु (मोलेक्यूल्स) कहा जाता है और वे इतने छोटे हैं कि आप से क्या अच्छी से अच्छी खुर्दबीन के सहारे भी नही दिखाई पड सकते। पानी की एक नन्ही सी बूँद अरबो करोडो अणुओ म मिलकर बनी है। ये अणु निरन्तर अधाधुध दौडते रहते ह। यदि पदाथ का तापक्रम धीरे-धीरे कम होता जाय तो इन अणुओ के दौडने की गति भी कम होती जाती है और यदि तापक्रम बढा जाय तो इनके दौडने की गति बढने लगती है। अत्यधिक ताप-क्रम बढ जाने से इनकी गति इतनी अधिक बढ जाती है कि इनको एक दूसरे से बाँध कर इकट्ठा रखने वाली शक्तियाँ क्षीण पड जाती हैं और ये मनमाना इधर-उधर भटकने लगते ह। इसीस यदि हम किसी ठोस द्रव्य को गरम करें तो वह पहले द्रव बन जाता है और उससे भी अधिक गरम करने पर जब उसके अणु बिल्कुल स्वतत्र हो जाते ह तो वह गैस बनकर उड जाता है।

ससार में जितने तरह के रासायनिक द्रव्य है उतने ही तरह के अणु भी ह, पर यदि किसी भी द्रव्य के अणु का विश्लेषण किया जाय तो पता चलेगा कि सभी अणु कुछ और सूक्ष्मतर कणो द्वारा विनिर्मित ह। इन सूक्ष्मतर कणो को परमाणु कहा जाता है। प्रत्येक अणु में परमाणुओ की एक सीमित सख्या रहती है, ससार के सभी पदार्थों को बनानेवाले परमाणुओ की अलग-अलग जाति भी होती है। उनकी जाति की सख्या भी सीमित है। विश्व में कुल ९२ प्रकार के परमाणु ह और ये ९२ परमाणु ९२ तत्वो के द्योतक हैं। इन्हीं ९२ तत्वो के अथवा ९२ प्रकार के परमाणुओ के विभिन्न मिश्रण से ससार के सभी पदाथ बने ह।

परमाणु भी केवल एक सूक्ष्म कण मात्र नहीं है, वरन परमाणु के भीतर एक बहुत ही रहस्यमय ससार है। परमाणु की प्राय सभी द्रव्य-मात्रा उसके केंद्र में निहित रहती है और उस स्थान को केंद्रक कहा जाता ह। केंद्रक के चारो ओर कुछ विद्युत्-कण जिन्हें विद्युदणु (एलेक्ट्रान) कहा जाता है, निरतर प्रचड वेग से घूमते रहते ह। इन विद्युदणुओ को एक प्रकार की विद्युत शक्ति परमाणु के भीतर केंद्रक से बाँधे रहती है।

रासायनिक प्रयोगो द्वारा भिन्न-भिन्न तत्वो की सहायता से तरह-तरह के द्रव्य बनाये जा सकते ह। पर सन १९१९ ई० तक यह प्राय असभव समझा जाने लगा था कि एक तत्व का रूपा तर दूसरे तत्व में किया जा सकता है। १९१९ में जब इगलैंड के प्रसिद्ध भौतिक विज्ञानवेत्ता लार्ड रदरफोड नाइट्रोजन के परमाणु को अल्फा-कणो की भयकर बमवर्षा से पहले पहल तोडने में सफल हुए तो इस सभावना को प्रश्रय मिला कि एक तत्व को दूसरे तत्व में बदला जा सकता है। सन् १९१९ के बाद से परमाणु-विज्ञान का बहुत ही तीव्र विकास हुआ है। एक तत्व के परमाणु के केंद्रक को तोडकर दूसरे तत्व के परमाणु के रूप में बदलने के सबध में दो प्रमुख बातें ह पहले तो तत्वो के रूपातर के क्रम में केंद्रक के भीतर से प्रचड ऊर्जा-स्रोत फूट पडता है। परमाणु

वम के भयकर विस्फोट के मूल मे केंद्रक का यही विकराल ऊर्जा-स्त्रोत है। दूसरे, परमाणु के केंद्रक का तोड़ना वहुत ही दुष्कर कार्य है। युरैनियम और थोरियम दो ऐसे तत्व हैं जिनके केंद्रक के कुछ विशेष गुण हैं। इनके केंद्रकों के भीतर से अपने आप तेजोद्गर रश्मियाँ प्रवाहित होती रहती ह, और ये अपेक्षाकृत सरलता से तोड़े जा सकते हैं। पर ये तत्व पृथ्वी पर वहुत कम परिमाण में पाये जाते हैं। हाँ, यदि किसी प्रकार कोई ऐसी भट्ठी वनाई जा सके जिसके भीतर वहुत प्रचंड गर्मी उत्पन्न करने के साधन हो तो उस भट्ठी मे सभी तत्वों के परमाणु अपने आप विघटित होने लगते हैं।

सूर्य की गर्मी और ऊर्जा का कारण

अंतिम २५–३० वर्षो मे परमाणु-विज्ञान का जो तीव्र विकास हुआ है उससे हमें सूर्य के भीतर के प्रचंड ऊर्जा-स्रोत का रहस्य समझने मे वड़ी सहायता मिली है अब हम चेम यह प्रायः निश्चय-पूर्वक कह सकते हैं कि हमने उस रहस्य का समाधान पा लिया है। सूर्य के केंद्र के समीप तापक्रम २ करोड सेंटीग्रेड है और इतने अधिक तापक्रम में सभी तत्वों के केंद्रक विघटित हो जाते है तथा तत्वों का रूपातर होने लगता है। इसी रूपातर के क्रम में केंद्रक के भीतर छिपी हुई ऊर्जा मुक्त होती है। सूर्य की विकिरण ऊर्जा तथा उसकी प्रचंड गर्मी इसी विघटन के परिणाम-स्वरूप है। हम यहाँ संक्षिप्त रूप से इस विघटन क्रम का विवरण दे देते है।

सूर्य के भीतर हाइड्रोजन, हीलियम, कार्वन तथा नाइट्रोजन आदि तत्व हैं, पर इनमें हाइड्रो-जन की मात्रा सव से अधिक है। सूर्य के द्रव्य-पुज का करीव ३५ प्रतिशत केवल हाइड्रोजन है। अत्यधिक तापक्रम के कारण इन सभी तत्वों के परमाणु छिन्न-भिन्न हो अपने मौलिक कणों के रूप मे इधर-उधर अंधा-धुध दौड़ रहे है। हाइड्रोजन के केंद्रकों पर कोटि-कोटि विद्युत्कणो के निरंतर प्रहार होने के कारण उनका विघटन प्रारंभ हो जाता है। इस प्रकार लगातार विघटित होकर हाइड्रोजन धीरे-धीरे हीलियम में रूपातरित हो रही है। हाइड्रोजन के इस रूपातर में कार्वन और नाइट्रोजन एक प्रकार से 'आवेजक' का काम करते हैं । यहाँ आवेजक' शव्द का अर्थ स्पष्ट कर देना अच्छा होगा। कुछ ऐसी रासायनिक प्रतिक्रियाएँ है जो द्रव्य-विशेष के सहयोग से सुगमतापूर्वक हो जाती है; जैसे यदि पोटैशियम क्लोरेट को गरम किया जाय तो ऑक्सिजन वनने लगती है, पर यदि पोटैशियम क्लोरेट थोड़ी मैंगनीज डाइ-अक्साइड मिलाकर गरम किया जाय तो अपेक्षाकृत कम तापक्रम में ही आक्सिजन वनने लगती है । मैंगनीज डाइ-अक्साइड यहाँ 'आवेजक' का काम करता है इसी प्रकार कार्वन और नाइट्रोजन के परमाणु 'आवेजक' वनकर सूर्य के प्रचंड ताप में हाइड्रोजन के परमाणुओं को हीलियम के परमाणुओं में रूपांतरित होने मे सहायता करते है। हाइ-ड्रोजन एक चक्र-क्रम से हीलियम में परिवर्तित हो रही है और परिवर्त्तन के इस क्रम में ऊर्जा का एक अखड स्रोत विकिरण के रूप में फूट पड़ता है। सूर्य के भीतर हाइड्रोजन की इतनी मात्रा है और साथ ही कार्वन और नाइट्रोजन के परिमाण भी इतने है कि यह रूपातर अरवों वर्ष तक इसी प्रकार चल सकता है।

हाइड्रोजन के इस रूपातरण मे एक मजेदार वात यह है कि ज्यों-ज्यो हाइड्रोजन हीलियम मे परिवर्तित होती जाती है तथा हाइड्रोजन की मात्रा कम होती जाती है, त्यों-त्यों सूर्य के भीतर का तापक्रम वढ़ता जाता है; और परिणामस्वरूप ऊर्जा-उत्पादन भी अधिक होने लगता है। वात दरअसल

यह है कि हाइड्रोजन और हीलियम की पर्त सूर्य के भीतर होनेवाली विकिरण को बाहर जाने से रोकती रहती है और हाइड्रोजन की अपेक्षा हीलियम विकिरण के मार्ग में अधिक अवरोध उपस्थित करती है। हीलियम हाइड्रोजन से अधिक पारांध होती है और विकिरण को अधिक आत्मसात कर लेती है। पृथ्वी के ऊपर तो हाइड्रोजन और हीलियम दोनों बहुत पारदर्शी होती हैं पर सूर्य के भीतर बाहरी दबाव के कारण इनका घनत्व बढ़ जाता है और हीलियम काफी पारांध हो जाती है। तत्वों के रूपांतर के क्रम में जो ऊर्जा मुक्त होती है उसे बाहर सूर्य की सतह की ओर जाने में हीलियम की मोटी पर्त के कारण बहुत कठिनाई होती है। जितनी ही अधिक हीलियम बनती जाती है, उतना ही अधिक अवरोध ऊर्जा-विकिरण के मार्ग में होता है, फलस्वरूप सूर्य के भीतर का तापक्रम बढ़ता जाता है और गर्मी के बढ़ने से ऊर्जा-उत्पादन में भी वृद्धि होती है।

सूर्य का भविष्य

अभीतक साधारण जनता में यह विश्वास फैला हुआ था कि सूर्य धीरे-धीरे ठंडा हो रहा है और एक दिन उसके अधिक ठंडा हो जाने पर पृथ्वी के ऊपर बर्फ ही बर्फ जम जायगा तथा सारा मानव-संसार इसी बर्फ की शीत में जमकर प्राणहीन हो जायगा। पर ऊपर के विश्लेषण से यह स्पष्ट हो गया होगा कि धीरे-धीरे सूर्य के भीतर की हाइड्रोजन खर्च होती जा रही है तथा उसके क्रमिक उपयोग के साथ ही सूर्य का तापक्रम भी बढ़ता जा रहा है। अमेरिका के प्रसिद्ध ज्योतिर्विद जार्ज गैमो ने यह हिसाब लगाया है कि जब हाइड्रोजन का भांडार समाप्त होने को आएगा तब सूर्य के विकिरण की गर्मी आज की अपेक्षा १०० गुना अधिक हो जायगी। साथ ही हाइड्रोजन के क्षय के साथ-साथ सूर्य का व्यास भी बढ़ता जायगा। आज से करीब १० अरब वर्ष बाद सूर्य का तापक्रम इतना अधिक हो जायगा कि पृथ्वी के समुद्र उबलने लगेंगे और उनका पानी भाप में बदलने लगेगा। ऐसी दशा में यह पूर्णतः असंभव है कि पृथ्वी पर आजकल जैसा प्राणि-संसार विद्यमान रहे। सूर्य का ताप ज्यों ज्यों बढ़ता जायगा त्यों-त्यों एक एक कर पृथ्वी के जीव समुदाय विनष्ट होते जायेंगे। अधिक तापक्रम में केवल कुछ जीवाणु ही रह जायगे और जब समुद्र का पानी खौलने लगेगा तब ये जीवाणु भी भस्म हो जायेंगे। इस प्रकार पृथ्वी पर प्रलय के, शीत के कारण नहीं वरन उत्कट गर्मी के कारण घटित होने की अधिक आशंका है। जो भी हो आज के मानव-संसार को इस संभावना से भग्न और विचलित नहीं होना चाहिए। पहले तो यह दुर्घटना अरबों वर्ष बाद घटेगी दूसरे हो सकता है मनुष्य का प्रकांड मस्तिष्क किसी उपाय द्वारा सूर्य से बहुत दूर स्थित नेप्च्यून आदि ग्रहों में जाकर नये उपनिवेश बनाए और सूर्य की विकट गर्मी से निरापद हो मानव-संसार वहीं निवास करे। यहाँ मनुष्य की विपत्ति भूलकर हम यह सोचें कि इतनी प्रचंड गर्मी का विकिरण करने के बाद सूर्य के ऊपर क्या बीतेगी।

हाइड्रोजन का भांडार जब पूर्णतया समाप्त हो जायगा तब सूर्य के पास ऊर्जा-उत्पादन का कोई अन्य साधन नहीं रह जायगा, क्योंकि हीलियम पुनः हाइड्रोजन में नहीं बदल सकती। तब सूर्य फिर संकुचित होने लगेगा और अपेक्षाकृत अधिक द्रुतगति से इसका प्रकाश तथा इसका व्यास कम होने लगेगा। सूर्य की गर्मी धीरे-धीरे कम होती जायगी और फिर एक बार ऐसा अवसर आएगा कि पृथ्वी का ताप आजकल जैसा हो जाय। उस दशा में पृथ्वी के ऊपर फिर प्राणि-जीवन प्रारंभ हो सकता है। यह तो निश्चयपूर्वक नहीं कहा जा सकता कि वह प्राणि संसार ठीक आज जैसा होगा

और उसके विकास का क्रम भी हमलोगों की ही तरह होगा। पर एकवार फिर जली हुई पृथ्वी के ऊपर जीवन-लीला प्रारंभ होगी और इस वार के प्राणि-संसार के ऊपर प्रलय शीत के रूप मे टूटेगा गुरुत्वाकर्षण की ऊर्जा तो वहुत दिनो तक चल नही सकती इसलिये सूर्य क्रमश. शीघ्रतापूर्वक ठढा होने लगेगा और उसके नितात गौरवपूर्ण जीवन का करुण अवसान प्रारभ हो जायगा।

सूर्य ठढा हो जायगा, जमकर वरफ वन जायगा। उसका व्यास अत्यधिक सकुचित हो जायगा तथा उसकी सारी द्रव्यमात्रा उसके अल्प-कलेवर मे केंद्रीभूत हो जायगी। उसके साथ ही साथ पृथ्वी भी ठढी होगी तथा अत मे जमकर वर्फ का एक पिड हो जायगी।

आज की पृथ्वी के ऊपर मानव-समाज का अवाध कोलाहल एक दिन सूर्य की अजस्र अग्नि-वर्षा मे विलीन हो जायगा—उसके वाद कालातर मे झुलसी हुई पृथ्वी पर फिर जव जीवन प्रारभ होगा तव उसका विनाश भयंकर शीत के कारण घटित होगा। और उसके वाद मनुष्य की यह अनत शोभाशालिनी पृथ्वी शीत से जमकर स्तव्ध हो जायगी। सूर्य के साथ-साथ पृथ्वी भी नीरव और निश्शव्द अपने अतीत गौरव की प्रेतात्मा सी शून्य मे खोई सी तिरती रहेगी।

यही कहना ठीक होगा कि अनेक भिन्न भिन्न कारणों से स्वतन्त्रतया सिद्ध और कई अंशों में वर्ण व्यवस्था से पूर्ववर्ती जातियों पर बाहरी रूढ वर्ण-व्यवस्था का आरोप कर दिया गया है।

सभ्यता के इतिहास में एक समय ऐसा आता है, जब अनेक कारणों से अनेक बिरादरियाँ या जातियाँ बन जाती है। अनेक कारणों में से एक कारण आर्थिक होता है। सभ्यता की उस अवस्था में जब कि मनुष्यों की आवश्यकताएँ बहुत अधिक न होकर नियत होती है, साथ ही दूर देशों के साथ गमनागमन भी कम होता है, भिन्न भिन्न पेशों के अनुसार भिन्न भिन्न मनुष्य-समूह अपना पृथक् समाज बना लेते है। उनको इसमें बड़ी सहूलियत होती है कि आपस में ही विवाहादि संबंध करें। उदाहरणार्थ, एक कुम्हार के लड़के को कुम्हार ही की लड़की से शादी करने में बड़ी सुविधा होती है। वह अपने बाल्यकाल में ही अपने पेशे में निपुण हो जाती है, और पति के घर जाते ही उसको उसके काम में सहायता देने लगती है। यही दशा चमकार आदि दूसरे पेशों के लोगों की है। जातियों का एक कारण वर्ण मूलक भी हो सकता है। यह स्पष्ट है कि इस प्रकार की जातियों का रूढिमूलक वर्ण भेद से कोई सम्बन्ध नहीं है।

जाति भेद का कारण वर्ण-सांकर्य बहुत कम है, इसका एक प्रमाण यजुर्वेद (माध्यंदिन-संहिता) अध्याय ३०) में मिलता है। इसमें सूत, रथकार, मागध, चमकार, चाडाल आदि अनेक ऐसी जातियों का वर्णन है, जो मनुस्मृति आदि के अनुसार वर्णसंकरता से ही उत्पन्न हुई है। मनुस्मृति आदि के कथन को माननेवाले लोगों से पूछना चाहिए कि जब वेद, वर्णों की तरह, सृष्टि के प्रारंभ में ही उत्पन्न हुए, तो उसी समय ये वर्ण-सांकर्य से उत्पन्न जातियाँ कहाँ से आ गई।

महाभाष्य, अष्टाध्यायी आदि में भी मनुस्मृति आदि ग्रंथों के वर्णसंकरमूलक सिद्धांत का विरोध प्रतीत होता है। उदाहरणार्थ मनुस्मृति आदि के अनुसार आम्बष्ठ, और मागध संकरमूलक जातियाँ है परन्तु पाणिनीय अष्टाध्यायी (देखो अध्याय ८, पाद ९, सूत्र १६९-१७१) व तथा महाभाष्य के अनुसार ये क्षत्रियों की विशेष जातियाँ था।

इस विरोध का कारण हमें निम्नलिखित प्रतीत होता है। प्रारंभ में ब्राह्मण, क्षत्रिय आदि वर्णवाची शब्द यौगिक समझे जाते थे। इसी कारण आर्यावर्त के अंदर तथा आसपास रहनेवाली अनेक आर्य तथा अनार्य जातियों को अनेक कर्म के अनुसार आर्य लोग ब्राह्मण, क्षत्रिय आदि शब्दों से पुकारते थे। पीछे से जब ये शब्द आर्यावर्त में रूढार्थक हो गए, तब उन आर्य या अनार्य जातियों को जिनमें आर्यावर्तीय आर्य-संस्कृति ठीक रूप में नहीं पाई जाती थी, यहां के शास्त्री लोग संकरज या शूद्र कहने लगे। यही कारण है कि जहाँ एक ओर अष्टाध्यायी (देखो काशिका ४।१।१७५-१७८) १७८) आदि के अनुसार कंबोज, चोल, केरल, शक आदि आर्य या अनार्य जातियाँ क्षत्रिय कही गई है, वहां दूसरी ओर मनुस्मृति (देखो १०।४३।४५) आदि के अनुसार ये या तो शूद्र कही गई है या संकरज बतलाई गई है। चीनी आदि अनार्य जातियों के विषय में मनुस्मृति का यह कहना कि ये 'ब्राह्मणानामदर्शनात्' अर्थात् पूर्ववर्ती आर्य-संस्कृति के छोड़ देने से शूद्रता को प्राप्त हो गई है, केवल उपहासास्पद ही है।

ऊपर के उदाहरणों से प्रतीत होता है कि सृष्टि के प्रारंभ से ही चार पृथक् पृथक् रूढिपरक वर्णों की स्थिति के सिद्धांत को माननेवालों ने जब अनेकानेक जातियाँ देखी विशेषकर भारतवर्ष

के उन प्रांतों मे जहाँ रूढ़िपरक वर्ण-व्यवस्था प्रचलित नही हुई थी, तो उनको संकरमूलक कहना प्रारंभ कर दिया। वास्तव में उनका वर्ण-भेद-व्यवस्था से कोई संवध उस समय तक नही हो पाया था, और वे स्वतंत्रतया सिद्ध जातियाँ थी।

जाति-भेद और वर्ण-भेद के संवंध को समझाने के लिये हम शूद्रो का उदाहरण लेते हैं। शूद्र कहलानेवाले लोगों के लिये जाति-भेद तो वास्तविक है। वे शूद्र है, इसको न तो वे कहते हैं, न जानते ही है। शूद्र शब्द उनकी वोली या भाषा में है ही नही। वास्तव में देखा जाय, तो यही कहना होगा कि शूद्र शब्द शास्त्री लोगो ने उनके ऊपर इसी तरह लाद (सुपरइंपोज़्ड) दिया है, जैसे 'नेटिव' शब्द का समारोप कुछ दिनो पूर्व हमारे ऊपर विदेशी लोग करने लगे थे।

हिंदू समाज मे इस समय भी अनेकानेक ऐसी जातियाँ है, जिनके विषय मे एक मत से यह नहीं कहा जा सकता कि उनका किस वर्ण से संबंध है। उदाहरणार्थ, कायस्थों, जाटो, कुर्मियो आदि को लीजिए। इनके उदाहरण से यह स्पष्ट है कि वर्ण-भेद जाति-भेद से वस्तुत. असंवद्ध है, और कई अशो मे उससे वाद का भी हो सकता है।

रूढ़िमूलक वर्ण-व्यवस्था को माननेवाले यह देखकर वहुत चिढते है कि आजकल अनेक जातियाँ कल्पित ऋषि या आदिपुरुष की कल्पना करके अपने को तत्तद्वर्ण का कहना चाहती है। आजकल वगाल के वैद्य जाति के लोग अपने नाम के साथ 'सेन', 'गुप्त', आदि उपनामों को रखते हुए भी 'शर्मा' लगाते है। हमारे विचार से तो रूढ़ि की दृष्टि से अनिश्चित-वर्ण किसी जाति के लोगो का भिन्न-भिन्न वर्णो मे घुसने का प्रयत्न विलकुल व्यर्थ है। इससे उनमे आत्मसम्मान की मात्रा की कमी और उनकी रूढ़ि के प्रति दास्य-वुद्धि ही द्योतित होती है।

वर्ण-भेद और जाति-भेद के परस्पर संवंध के विषय मे परपंरागत विचार ही उक्त प्रकार के प्रयत्न का कारण है। इस संवंध का यदि वास्तविक स्वरूप और इतिहास लिया जाय तव तो यही कहना ठीक होगा कि उन लोगों का रूढ़िपरक वर्णव्यवस्था से कोई संवंध नही है। परतु वायुमडल में फैले हुए विचार उनको विवश करते है। जो दशा आज है, वही प्राचीन समय मे रही होगी। अनेक भारतीय जातियाँ, जिनका रूढ़ वर्ण-भेद से कोई संवंध नही था, वर्ण-भेद को मानने वाली तथा राजनीतिक आदि कारणों से अपने से प्रवल जातियों की देखा-देखी अपने को भी उस उस वर्ण मे प्रवेश कर लेती होंगी। मुसलमानों में वर्ण-भेद के लगभग समानार्थक 'शेख', 'पठान' और 'सैयद', शब्दों की भी यही गति है। हिंदुओं की अनेक जातियाँ धर्म-परिवर्तन के वाद अपने को इन्ही नामों से पुकारने लगी है।

जाति-भेद और वर्ण-भेद के इतिहास का वास्तव में परस्पर कोई मौलिक संवध नही है। वहुत अंशों मे जातियाँ, किसी न किसी रूप मे, वर्ण-भेद से पूर्व भी रही होगी। हाँ, प्राचीन समय में वे आजकल के समान पक्की तौर पर एक दूसरे से विलकुल असंवद्ध न रही होगी। वैदिक 'पंचजना:' शब्द का अर्थ विद्वान यह समझते है कि उस समय मे आर्यो मे मुख्य पाँच कुल या जातियाँ थी। इसी प्रकार स्काटलैंड आदि दूसरे देशो मे भी प्राचीन समय मे लोगों मे अनेकानेक गण होते थे। जाति-भेद का एक वड़ा अच्छा उदाहरण अमेरिका के संयुक्तप्रदेश से मिलता है। वहाँ योरप

के भिन्न भिन्न देशो के लोग जाकर बसे ह। उनक इटलियन, रशियन, जमन आदि गण बन गये , यद्यपि वे ऐसे परस्पर सबद्ध नही हैं, जैसी आजकल की भारतवप की बिरादरियाँ।

साधारण रीति से यह कहा जा सकता है कि बहुत अशो में जाति भेद और वर्ण-भेद का इतिहास पृथक पृथक् है। ये दो स्वतत्र धाराएँ हैं। जाति-भेद की धारा को यदि ऐतिहासिक कहा जाय, तो वण भेद की धारा को रुढ या साकेतिक कह सकते हैं। प्रथम का कारण यदि ऐतिहासिक या वस्तुगत (ऑब्जेक्टिव) है, तो दूसरी का काल्पनिक या केवल विचार मूलक (सब्जेक्टिव)

यदि यह सिद्धात ठीक है, तब तो यही कहना होगा कि सामान्य रूप से चार वर्णों से विकृत या परिणत होकर ये आजकल की अनेकानेक जातियाँ नही बनी ह, किंतु इसके विपरीत अनेक अन्य कारणो से स्वतत्रतया सिद्ध अनेक जातियो को ही प्रथम आयभाषा के ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य, शूद्र इन चार शब्दो के द्वारा, इनके यौगिक अथ में, चार विभागो में बाटा गया। पीछे से ये शब्द रूढि-परक होकर प्रयुक्त होने लगेगा इसका समय वह ज्ञात होता है, जब कि आय लोग पजाब से आगे बढकर मध्यदेश में बस चुके थे। उसी समय प्रथम यौगिक और पीछे से रूढि-मूलक वण-व्यवस्था का प्रचार हुआ। रुढिमूलक वण-व्यवस्था के स्थिर हो जाने पर यह माना जाने लगा कि सृष्टि के प्रारभ से ही चारो वण एक दूसरे से पृथक् हैं। उस समय के पीछे जब आज पडितो ने दूसरी अनाय या आर्य होते हुए भी रूढि-वण-व्यवस्था को न माननेवाली जातियो को देखा, तब अपने उपर्युक्त सिद्धात के अनुसार विवशतया उन्हें सकर के सिद्धात की कल्पना करनी पडी। तब भी आर्यों के प्रभाव और भारतवप में विस्तार बढने के साथ-साथ वे जातियाँ भी अपने को उस-उस वण के साथ सबद्ध करने का प्रयत्न करती रही। अनेक जातियो में अपने-अपने वण के विषय में झगडा पाया जाता है, वह बहुत करके इसी प्रयत्न का लक्षण है। ऐसी जातियो में से अनेक, जिनका प्रभाव अधिक था, अपने पेशे आदि के अनुसार भिन्न भिन्न उच्च वर्णों की बन गई। परतु अनेक जातियो को शास्त्रीय पडित अब तक सकरज या शूद्र ही कहते हैं।

इस प्रकार की अनेक अनाय या अनाय-बहुल जातियाँ आजकल के प्रत्येक वण में मौजूद हैं। इसका प्रमाण, मनुष्य-जाति विज्ञान की सहायता के बिना भी, प्राचीन पुस्तको में पाया जाता है। अष्टाध्यायी में एक सूत्र है "आर्यो ब्राह्मणकुमारयो" (६।२।५८)। इसके उदाहरण और प्रत्युदाहरण ह—(आयब्राह्मण' और 'आर्यक्षत्रिय' दोनो में कमधारय समास है। दोनो जगह 'आय' शब्द मूलत मानव-जाति-परक या (रेशियल सेंस) में ही हो सकता है, क्योंकि उस समय के साहित्य में 'आर्य' शब्द, 'शूद्र' या 'दस्यु' शब्द के मुकाबले में प्रयुक्त होने से, यही अथ रख सकता है। इन उदाहरणो से अर्थापत्ति से यही सिद्ध होता है कि उस समय भी अनेक जातियाँ ब्राह्मणो और क्षत्रियो आदि की ऐसी रही होंगी, जो वास्तव में अनाय थी। शतपथ ब्राह्मण (१।१।४।१४) में 'असुर ब्राह्मणा' के वणन से भी यही सिद्ध होता है। धर्मशास्त्र के ग्रथो में श्राद्ध में जो द्राविडादि ब्राह्मणो के निमत्रण का निषेध पाया जाता है, उसके भी मूल में यही कारण प्रतीत होता है।

यदि यह ठीक है कि आजकल के स्थायक ब्राह्मण आदि वर्णों में अनेक अनाय जातियाँ भी सम्मिलित हैं, तब तो यही कहना होगा कि पजाब का एक ब्राह्मण, ऐतिहासिक दृष्टि से, पजाब के खत्री स जितना घनिष्ठ सबध रखता है, उतना मद्रास के अनेक ब्राह्मणो से नही। यही बात दूसरे वर्णों के विषय में भी ठीक है।

कोपिया

मदन मोहन नागर

संयुक्त प्रांत का वह प्रदेश जो आजकल तराई कहलाता है और जिसके अंतर्गत गोंडा, वस्ती, गोरखपुर, आदि जिले हैं, प्राचीन काल मे एक विशेष सभ्यता का केंद्र रहा। यह वही भूभाग है जहाँ शाक्य, मल्ल, कोलीय आदि राजाओ का साम्राज्य था। यह वही प्रदेश है जो गौतम वुद्ध, अनुरुद्ध, महानामन्, उपालि, आदि अनेक महान् विभूतियों की संचार भूमि थी, जिन्होंने सहस्रो वर्ष तक हमारे देश के निवासियो के जीवन को प्रभावित किया। भारतवर्ष का यह भूभाग अति प्राचीनकाल से उस महान् सभ्यता का केंद्र रहा, जिसने हमारे सांस्कृतिक जीवन को उन्नत करने मे वहुत सहायता दी। इस वात के प्रमाण वे प्राचीन ढूह हैं जिनसे यह प्रदेश भरा पड़ा है और जिनके गर्भ मे तत्कालीन प्राचीन कला, सभ्यता और संस्कृति के अवशेष पड़े है। इन्ही ढूहों मे से एक ढूह अनोमा नदी के किनारे पर कोपिया नामक गाँव मे है। यह ढूह वस्ती जिले की खलीलावाद तहसील की खलीलावाद-मेंहदावल सड़क के सातवे मील पर स्थित है। वस्ती शहर से यह स्थान लगभग ३१ मील की दूरी पर है। यहाँ पहुँचने का रास्ता सुगम है और लगभग दो घंटे में मोटर से यहाँ आसानी से पहुँचा जा सकता है।

प्राचीनकाल मे कोपिया जिसका पुराना नाम अनुपिया था एक अत्यंत समृद्धशाली नगर था। यह मल्ल राज्य की राजधानी थी। और अपने आम्रवनो के लिये विशेष रूप से प्रसिद्ध थी। कहा जाता है कि अभिनिष्क्रमण के पश्चात् भगवान् वुद्ध सर्वप्रथम इसी स्थान पर ठहरे थे और यही पर उन्होने अपने राजकीय ऐश्वर्य के चिह्नो का परित्याग करके भिक्षु के वस्त्र स्वीकार किए थे। तत्पश्चात् जैसा हमे वुद्धचर्या से पता चलता है महाश्रमण गौतम ने लगभग एक सप्ताह कोपिया के आम्रवन मे विश्राम कर के विताया था।

कोपिया का महत्व आज भी वहाँ के खंडहरों से भली-भाँति जाना जा सकता है। इसके ढूह का क्षेत्रफल लगभग ३.४ वर्गमील है। और इसकी ऊँचाई आसपास की सतह से लगभग ६० फुट होगी। सारा का सारा टीला ईंटों और उसके टुकड़ों से छाया पड़ा है। इनमें सव से वड़ी ईंट आकार में २४"×१८"×३" है। अन्य स्थानों की खुदाई से ज्ञात हुआ है कि इस नाप की ईंटे

मौयकालीन प्रासादो और घरो म लगाई जाती थी। इससे अनुमान किया जाता है कि इस स्थान पर भी निश्चय ही मौयकाल की कुछ इमारतें रही होगी। ढह के बीचोबीच में एक माग के चिह्न मिलते हैं जो कम से कम २० फुट चौडा है। पश्चिम की ओर एक वर्तुलाकार स्मारक दिखलाई पडता है जो सभवत स्तूप का अवशेष है। मकाना आदि के चिह्न भी स्पष्टरूप से दृष्टिगोचर होते हैं। ढूह से प्रतिवष बहुत से सिक्के मिट्टी की मूर्तियाँ आदि वस्तुएँ प्राप्त होती रहती ह। सब से प्राचीन सिक्के जो यहाँ से मिले है वे चाँदी की आहत मुद्राएँ ह। यह भारत की सब से प्राचीन मुद्राएँ हैं और इस्वी पूव की तीसरी शताब्दी तक प्रचलित थी। इनके अतिरिक्त अयोध्या, कोसल, पाचाल, आदि प्रदेशा के और कुषाण राजाओ के सिक्के भी बहुतायत से मिलते हैं (चित्र १)। इस स्थान से प्राप्त मिट्टी की मूर्तियाँ सिक्का की समकालीन ह। अर्थात् ई० पू० की तीसरी शताब्दी से ई० सन की चौथी पाँचवी शताब्दी की है। ये दोनो प्रकार से बनाई हुई अर्थात् हाथ से गढी हुई तथा ठप्पो में ढाली हुई मिलती हैं। मथुरा की भाति के भी कुम्हार शुग और कुषाण काल में वहाँ आकर बसे हुए विदेशियो की मूर्तियाँ बनाने में पटु थे। कारण इस प्रकार के विदशिया के बहुत से सिर हमें यहाँ से मिलते हैं। (चित्र २ से ७)।

ढूह के पूव की ओर एक आयताकार मैदान है जो आसपास की सतह से लगभग २० फुट ऊँचा है। यह अनक रग के छोटे-बडे शीशे के टुकडो, शीशे की गुरिया, क्वाटस् के टुकडों से (चित्र ८) आच्छादित है। इन सब वस्तुआ को देखकर अनुमान होता है कि इस स्थान पर प्राचीनकाल में शीशे का कारखाना था जहाँ शीशे की वस्तुएँ बनाई जाती थी। ऐसा प्रतीत होता है कि यहाँ के लोग क्वाटस को गलाकर और नदी के रेत से उसे छान कर शीशा बनाते थे। मिट्टी के बर्तना में जो घडियाँ नुमा होते थे, शीशा गलाया जाता था। इन बतना के ऐसे बहुत से टुकडे प्राप्त हुए ह जिनके साथ उनमें गलाया हुआ अनेक रग तथा अवस्था का शीशा भी (चित्र ९) चिपका हुआ है। शीशे के गल जानेपर उसमें रग मिलाया जाता था। कई टुकडा के निरीक्षण से पता चला है कि कभी-कभी यह रग सब जगह एक-सा नहीं मिल पाता था जिसके कारण कही तो हल्का और कही गहरा हो जाता था। कुछ ऐसे शीशे के पदक या लटकन भी मिले है जिनमें रग बाद में भरा गया है, अर्थात् बनाने के समय उनपर साचेदार नक्काशी की गई थी और बाद में वे सब ऊपरी रगो से (चित्र १०) अलकृत किए गए थे। थोडा-थोडा शीशा जमाकर झावे का पुट देकर यहाँ के लोग शीशे की मोटी-मोटी सिल्लियाँ भी तैयार करते थे। इस प्रकार की एक सिल्ली जो उस स्थान से प्राप्त हुई है, वजन में लगभग १॥ मन है। इसकी नाप लगभग १८"×१२"×१२" है। उसे सुदर रूप देने के लिये शीशे से अस्तर बट्टी (पालिश) कर दी गई है।

किंतु इन सारी वस्तुओ से भी अत्यधिक विचित्र वस्तु जो कोपिया के शीशा ढालनेवाले कारीगरो ने बनाई थी, वह एक प्रकार की अत्यत छोटी-छोटी गुरियाँ हैं (चित्र न० ११)। ये रग बिरगी ह और इनमें पिरोना के लिये छेद होता है। कभी-कभी यह छेद इतना छोटा होता है कि सरलता से दिखाई नही पडता। इनकी चमक-दमक, सुडौलपन, सुदर बनावट, आदि अवणनीय हैं। इनमें से बहुत सी तो ऐसी ह जो जापान और जमनी से इस देश में आनेवाले पोत से भी अधिक छोटी और सुदर हैं। उनकी सुदरता के अतिरिक्त इन झीनी गुरियो का विशेष महत्व इस बात में है कि इनसे हमको यहा से प्राप्त शीशे की सामग्री के काल का पता चलता है। सन् १९४८ में

वस्ती जिले मे ही कोपिया से ४० मील दूर पिपरहवा नामके गाँव में श्री देवी ने एक स्तूप खोज निकाला और उसकी खुदाई की। इस स्तूप की सतह से उनको एक वड़ी सी पत्थर की मंजूषा मिली थी। इस मे एक छोटा सेदाखड़ी का वर्तन रखा था जिसके भीतर मोती, चाँदी, सोने के अनेक प्रकार के छोटे-छोटे आभूषण तथा भगवान् वुद्ध के अस्थ्यवशेष रखे हुए थे। उन्ही वस्तुओं के साथ कुछ थोड़ी सी विल्कुल ऐसी वनी हुई झीनी गुरियाँ भी मिली थी जिनका वर्णन ऊपर किया गया है। सेदाखड़ी वर्तन के ऊपर पाली भाषा में तथा व्राह्मी लिपि मे एक लेख उत्कीर्ण है जो विद्वानों के अनुसार भारतीय भाषा का प्राचीनतम लेख है और जिसका काल लगभग ई० पू० ५वी शती है। पिपरहवा के स्तूप के तह से प्राप्त झीनी गुरियो को कोपिया से प्राप्त गुरियों से मिलान करने पर हमे दोनो के रूप-रंग, वनावट, आकार-प्रकर, आदि की अकथनीय समानता मिलती है, जिसके कारण हम निश्चयपूर्वक कह सकते है कि ये दोनों एक ही काल की होगी और इनके वनानेवाले भी एक रहे होगे। पिपरहवा से प्राप्त गुरियाँ उक्त लेख के अनुसार २५०० वर्ष प्राचीन है अत. उनकी समकालीन होने के नाते कोपिया की गुरियाँ भी उस काल की होनी चाहिए। वस्तुस्थिति यह है कि पिपरहवा की गुरियाँ भी कोपिया में ही वनी थी तथा उस काल और स्थान की अत्यत प्रसिद्ध वस्तु होने के कारण श्रद्धालु भक्तों ने उन्हे यहाँ से ले जाकर उसी प्रदेश मे केवल ४० मील की ही दूरी पर स्थित पिपरहवा के स्तूप मे भगवान् वुद्ध के शरीर-धातु के साथ स्थापित किया था। भारतवर्ष में अनेक प्राचीन स्थानो से हमे शीशे की गुरियाँ मिलती है किंतु अभी तक उनका काल किसी प्रकार निश्चित नही किया जा सकता है। कोपिया से प्राप्त शीशे की वस्तुओं की महत्ता इसी काल मे है कि हम इनके निर्माण का काल निश्चयपूर्वक निर्धारित कर सकते हैं। इसके अतिरिक्त भारतवर्ष मे इतनी प्राचीन शीशे की उद्योगशाला के अस्तित्व का प्रमाण भी पहली वार इन्ही वस्तुओं द्वारा हमे मिला है।

वापिया

फलक १

फलक २

फलक ३

कोपिया

फलक ४

फलक ५

फलक ६-क

फलक ६-ख

कोपिया
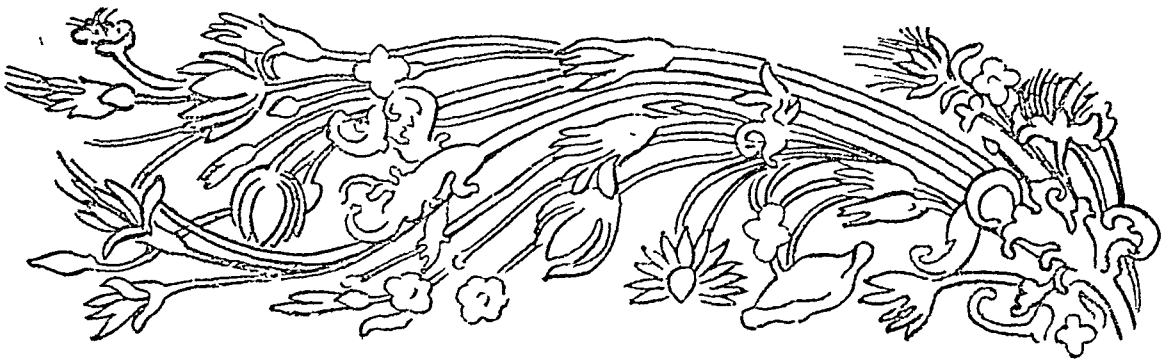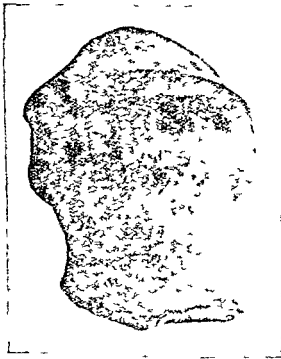
फलक ७
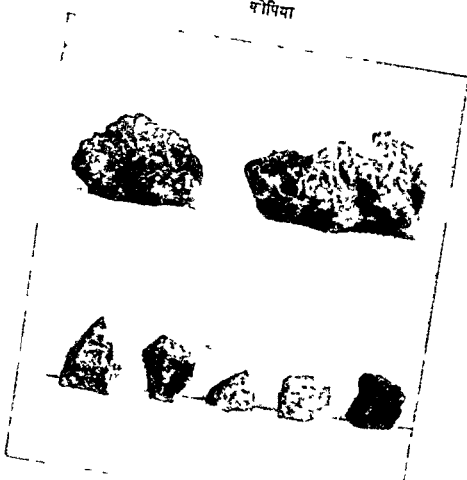
फलक ८

फलक ९
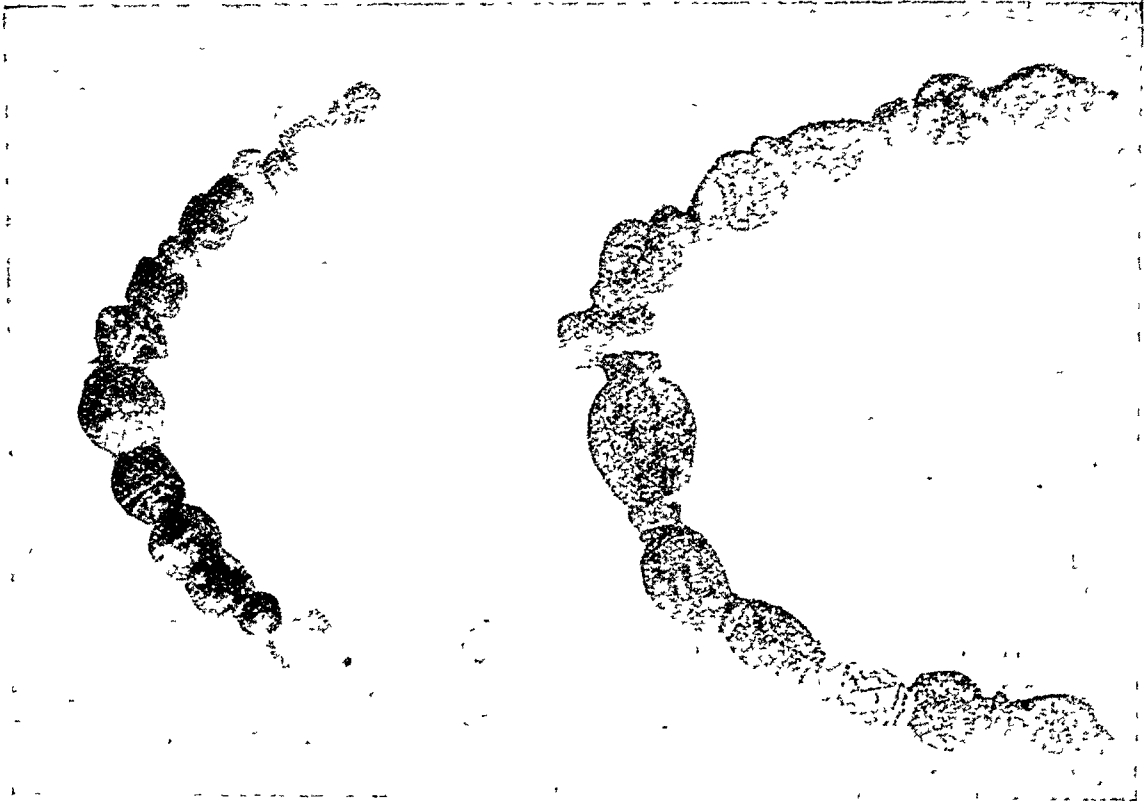
फलक १०
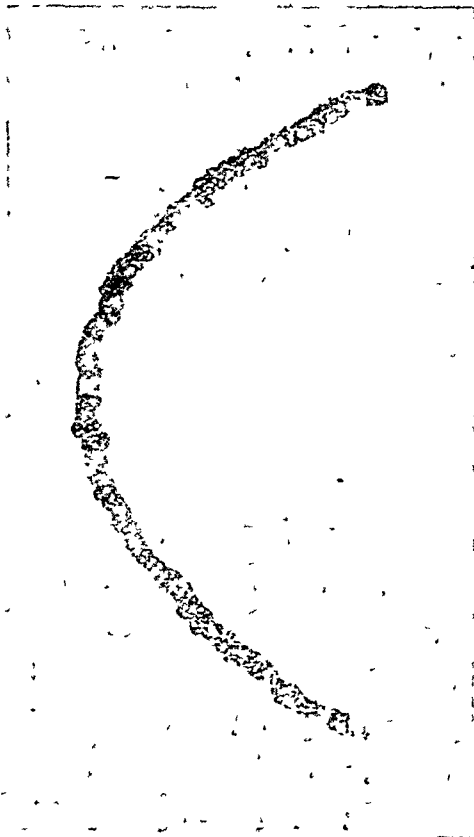
फलक ११

श्री संपूर्णानंद जी का चिद्विलास

रामेश्वर सहाय

यों तो श्री सम्पूर्णानंद जी राजनीतिज्ञ, साहित्यकार, पत्रकार, ज्योतिर्विद्, विज्ञानवेत्ता, अध्यापक तथा लेखक प्रभृति न जाने क्या-क्या हैं, पर हमारी दृष्टि में प्रकृत्या वे दार्शनिक हैं। उनकी रचनाओं के अध्ययन से पता चलता है कि उनका मन जितना दार्शनिक विषयों में रमता है, उतना अन्य विषयों में नहीं। दार्शनिक विषयों का विश्लेषण करते समय उनकी लेखनी अपने समृद्ध स्वाध्याय की समग्र शक्तिमत्ता से पाठक के मानस-मस्तिष्क पर छा जाती है। उनके निबंधों में प्रतीच्य दर्शन, बड़े स्वारस्य के साथ आर्य दर्शनों के मत का समर्थन करते हैं। अन्य शब्दों में यह बात ऐसे कही जा सकती है कि उनके दार्शनिक निबंध एवं ग्रंथ प्रतीच्य दर्शनों के सहयोग से लाभ उठाते हुए आर्य दर्शन विशेषतया शांकर मत को जीवन की निखिल समस्याओं का समाधान करनेवाला समग्रतम एवं पूर्णतम साधन सिद्ध करते हैं। यह है उनकी विशेषता। समीक्ष्य ग्रंथ पर कुछ लिखने के पूर्व हमें यह देखना है कि लोग सामान्यतः प्राच्य एवं प्रतीच्य दर्शनों का अध्ययन किस प्रवृत्ति से करते हैं? इस प्रश्न के उत्तर में यह बात बिना 'ननु' 'नच' के कही जा सकती है कि प्राच्य दर्शन विशेषतया भारतीय दर्शन का अध्ययन तो मोक्ष, पुरुषार्थ, शाश्वत शांति इत्यादि की उपलब्धि की प्रवृत्ति से किया जाता है और प्रतीच्य दर्शन का अध्ययन बुद्धि-परिमार्जन के लिये। यह उत्तर प्राच्य और प्रतीच्य दर्शनों के अध्येताओं की सामान्य अध्ययन प्रणाली को दृष्टि में रखकर दिया गया है। यदि कोई विशेष प्रवृत्ति लेकर उक्त दर्शनों का अध्ययन करता हो, तो यह बात अपवाद कोटि में ही ग्रहण की जायगी।

इस एकांगी अध्ययन-प्रणाली का श्री सम्पूर्णानंद जी ने घोर विरोध किया है। उनका कहना है कि दर्शनों के इसी एकांगी अध्ययन ने उनके पवित्र नाम को कलंकित किया है और डाल दिया है उनकी शुभ्र यश-कीर्ति पर अकर्मण्यता का आविल आवरण। "चिद्विलास' के पूर्व-पीठिका स्वरूप अपने 'जीवन और दर्शन" नामक ग्रंथ के संबंध में वे कहते हैं —'विचारशील मनुष्य के सामने ऐसी बहुत सी समस्याएँ आती हैं, जिनको सुलझाए बिना वैयक्तिक और सामूहिक जीवन का ठीक ठीक निर्वाह नहीं हो सकता। समस्याएँ नयी नहीं हैं इसलिये इनके संबंध में प्राचीन काल से लेकर इस समय तक बहुत से मत प्रतिपादित किए गए हैं। उपर्युक्त पुस्तक में इनमें से मुख्य-मुख्य मतों का

दिग्दर्शन करा दिया गया था। इनम से कौन-सा समीचीन है अर्थात व्यापक रूप से हमारे सव प्रश्नों का उत्तर दे सकता है इसका निर्णय पाठक पर छोड़ दिया गया था। यद्यपि कोई भी पाठक पुस्तक देखकर मेरे स्वारस्य का कुछ-कुछ अनुभव कर सकता है । ("चिद्विलास" की भूमिका पृष्ठ १)"।

इस उदाहरण को पढ़कर जैसा विद्वान् लेखक ने स्वयं लिखा है, प्रत्येक समझदार व्यक्ति विना किसी कठिनाई के यह अवश्य अनुमान कर सकता है कि उक्त ग्रथ का उद्देश्य जीवन और दर्शन में सामंजस्य स्थापित करना है। इन पक्तियों के लेखक को यह वात अच्छी तरह ज्ञात है कि साधारण लोग ही नही, बड़े-वड़े लोग, असाधारण विद्वान् तक दर्शनो को जीवन से असंपृक्त मानते हैं। लाख समझाने पर भी उनकी समझ में यह वात नहीं आती कि जीवन और दर्शन सहचर हैं।

हर्ष है, श्री संपूर्णानंद जी ने अपनी प्रौढ़ लेखनी से इस भ्रम के मूल को एकदम उखाड़ फेंका है। इसी उद्देश्य को लेकर "चिद्विलास" की रचना हुई है। इस वात को स्पप्ट करते हुए श्री संपूर्णानंद जी उक्त ग्रंथ की भूमिका में लिखते हैं:—"दर्शन का यह महत्त्व है कि वह ज्ञान और जीवन के सभी अगों पर प्रकाश डालता है। उसका संवंध विचार के ऊँचे से ऊँचे और व्यवहार के नीचे से नीचे स्तर से है। यह थोड़े से पंडितो के वाग्युद्ध की सामग्री नही है। दर्शन, जगत को समझने और उसको उन्नत वनाने का श्रेष्ठतम साधन है।"

इन वाक्यों पर थोड़ा विमर्श करना चाहिए। सभी विचारशील व्यक्ति इस वात को जानते है कि मानव-मस्तिष्क की सूक्ष्म गवेषणा के फलस्वरूप ही दर्शन का आविर्भाव हुआ है। यहाँ प्रश्न उठता है कि मानव-मस्तिष्क ने यह गवेषणा क्यों की? क्या वुद्धि के विनोद अथवा व्यायाम के लिये कदापि नही । यह कौन नही जानता कि जीवन विविध जटिल ग्रंथियों से जकड़ा हुआ है। जटिल ग्रंथियों की कोई इयत्ता नही। सामाजिक, राजनीतिक, आर्थिक, पारिवारिक आदि न जाने कितनी जटिल ग्रंथियाँ हैं, जो समष्टि एवं व्यक्ति-जीवन के अभ्युदय-पथ में पग-पग पर रोड़ा अटकाती हैं। कहना न होगा कि जीवन को यह तनिक भी प्रिय नही। अतः यह उनसे मुक्ति पाने के लिये चिरकाल से प्रयत्न करता आ रहा है। यही दर्शनो की उत्पत्ति का कारण है। जव जीवन के जटिल ग्रंथि-जाल को छिन्न-भिन्न करने के लिये ही दर्शनो का आविर्भाव हुआ है, तव उससे असंपृक्त कैसे है? यह वात कुछ और स्पप्ट रूप में ऐसे समझी जा सकती है कि जो जीवन के गर्भ से संभूत हुआ, उसकी गोद मे जिसका पालन-पोषण हुआ और अत में उसीकी विस्तृत कर्म-भूमि में जिसने तारुण्य पाया, वह उससे (जीवन से) पृथक् रह भी कैसे सकता है?

जो समाज, दर्शन को जीवन से पृथक् मानता है उसे उपालंभ देते हुए श्री संपूर्णानंद जी अपने "जीवन और दर्शन" नामक ग्रंथ में वहुत ही ओजस्वी शब्दों मे कहते हैं:—

"यदि कोई समाज दर्शन को केवल परीक्षार्थियों और श्मशान की ओर एक पाँव वढ़ाए हुए वुड्ढो का पाठ्य विषय वना देगा और वैयक्तिक तथा सामूहिक जीवन को राग, द्वेष और हित-संघर्ष के आधार पर चलने देगा, तो उसे एक दिन इसका दंड भोगना पड़ेगा। भारत को दर्शन ने नही गिराया—भारत के गिरने का कारण यह हुआ कि उसका दर्शन थोड़े-से पंडितों और

साधु-सन्यासियो के पढन-पढाने का विषय रह गया। उसका देश के जीवन से कोई सबध नही रह गया। इसलिये देश निष्प्राण शरीर की भाँति विदेशी रीति नीति और संस्कृति के सामने गिर गया और दर्शन भी हास्यास्पद बन गया। जो दार्शनिक विचार स्फूर्ति नही दे सकता, जो अकर्मण्यता को सतोष का नाम देकर अपनी इतिकर्तव्यता मानता है, वह शब्द-जाल मात्र है जो पैसा या प्राणो के डर से धर्म द्वेषियो के सामने सिर झुकाए खडा रहता है उसके मुह मे "अभय ब्रह्म" शोभा नही देता। जीवन को सुदृढ दार्शनिक आधारो पर न खडा करने का भीषण परिणाम आज पाश्चात्य जगत् मे देख पड रहा है।

उपर्युल्लिखित पक्तियाँ दर्शन और जीवन के सबध को अच्छी तरह स्पष्ट कर देती है। अन एतत्सबध मे अब और अधिक लिखना अनावश्यक है। यहाँ तक तो आलोच्य ग्रथ के उपोद्घात-स्वरूप उसकी बहिरग चर्चा हुई, अब उसका कुछ अतरग परीक्षण करना चाहिए।

आलोच्य पुस्तक तीन खडो मे विभक्त है —आधारखड, ज्ञानखड और धर्मखड।

आधारखड मे दर्शन शास्त्र का विषय, ज्ञान और सत्य, प्रमाण, ज्ञान मे तर्क का स्थान, दार्शनिक पद्धति, निदिध्यासन, दिक् और काल शीर्षको के अतर्गत बडी ही विद्वत्ता के साथ अपेक्षित विषयो का विवेचन किया गया है। द्वितीय खड अर्थात् ज्ञान खड, ग्रथ की आत्मा है। इसमे विकल्प-जाल, मन-प्रसूति, आत्मा, नानात्व का सूत्रपात, नानात्व का प्रसार, नानात्व का सकोच, शीर्षको मे बहुश्रुत विद्वान ने अपने गभीर पाण्डित्य का जो परिचय दिया है, वह दर्शन-जगत् की अमूल्य निधि है। भगवान् शकराचार्य ने निखिल प्रपच को मायिक सिद्ध किया है। उनके विचार के अनुसार सारा प्रपच मन-प्रसूति है। हम जिन वस्तुओ को नेत्रो से देखते है, वे सब मन-प्रसूति है—मन की कल्पना है। यही नही, स्वय मन ही मायिक एव अनृत है। उसके मिटते ही उसकी सारी सृष्टि स्वत ध्वस्त हो जाती है। इस बात को विद्वान् ग्रथ प्रणेता ने आधुनिक वैज्ञानिक अन्वेषणो से लाभ उठाते हुए ऐसे सिद्ध किया, जैसे कदाचित् पहले किसी भी विवेचक ने नहीं।

कहना न होगा कि आज का युग वैज्ञानिक है। अत यदि आज कोई बात प्राचीन पद्धति से समझाई जाती है, तो वह व्यर्थ सी समझी जाती है। अपने प्रसन्नता के साथ यह बात कहनी पडती है कि आज के विज्ञान प्रिय मस्तिष्क को श्री सपूर्णानद जी ने अपने तर्को से पूर्ण आप्यायित कर दिया है। प्राजल शैली मे शाकर मत को विज्ञान-सम्मत बनाने का श्रेय, निस्सदेह श्री सपूर्णानद जी को प्राप्त है, इसे दार्शनिक जगत् कदापि-कदापि विस्मृत नही कर सकता।

आलोच्य ग्रथ मे श्री सपूर्णानद जी ने शाकर मत के समस्त अगो का ऐसा व्यावहारिक और वैज्ञानिक रूप प्रस्तुत किया है, जिसकी उपादेयता की ओर कोई भी विचारशील व्यक्ति आकृष्ट हुए बिना नही रह सकता।

जगत् मे जितनी भी, क्रियाएँ ईक्षण की जाती है, उनका एक कर्त्ता होता है। इस सर्व-स्वीकृत सत्य के अनुसार हमारे मानस मे जो वासना, आकाक्षा एव भविष्-सबधी प्रचेष्टाएँ स्फुरित होती है, उनका एक कर्त्ता होना चाहिए। वह कौन हो सकता है? विवेक उत्तर देता है —"मै"। इसी प्रकार शरीर प्रभृति वस्तुओ को "मेरा" कहनेवाला कौन है? "मै"। यही आत्मा है।

इस संबंध मे श्री संपूर्णानंद जी कहते हैं :—"आत्मा" मै है, और सब कुछ वासना, संकल्प, संवित, प्रत्यक्ष, शरीर "मेरा" है। "मेरा" घटता-वढ़ता रहता है। शरीर छोटे से वड़ा होता है, उसका कभी-कभी अंगच्छेद हो जाता है। जगत् मे व्यवहार से, शिक्षा से, मनन से, ज्ञान में वृद्धि होती है वयो-भेद तथा वाहरी परिस्थितियों के भेद से वासनाओं के रूप वदलते रहते है, जाग्रत, स्वप्न और सुषुप्ति मे शरीर और चित्त की अवस्था एक सी नही रहती, परंतु इन सब परिवर्तनों के वीच मे "मै" ज्यो-का-त्यो रहता है, इसमें कोई वृद्धि-ह्रास या परिवर्तन नही होता।"

विश्व के अनेक दार्शनिकों ने अपने-अपने ढग से आत्म-स्वरूप को समझाने का प्रयत्न किया है, किंतु मेरी समझ में श्री संपूर्णानंद जी का ढग सरलतम एवं सुगमतम है। प्रायः देखा गया है कि वड़े-वड़े दार्शनिक भी गूढ़ विषयों का प्रतिपादन करते समय उलझ जाते हैं, किंतु चिद्विलासकार मे यह वात नही। उसके शब्द-प्रति-शब्द सुलझे हुए हैं।

हमारी समझ मे "चिद्विलास" की सब से वड़ी विलक्षणता है, कला और सौदर्य का दार्शनिक विश्लेषण। वैसे तो, जैसा हमने पहले कहा है, आलोच्य ग्रंथ नव्य शैली मे शांकर मत की सुवोध व्याख्या करता है। पर इस वात में वह उससे भी आगे जाता है। शंकराचार्य ने ही नही, विश्व के दूसरे दार्शनिकों ने भी कला और सौदर्य को दर्शन से पृथक् माना है, किंतु तत्त्वतः वात ऐसी नही है। कला अंतर की सरस अभिव्यजना है। सौदर्यानुभूति का यह तादात्म्य स्थायी नही होता, पर जितने समय तक रहता है उतने समय तक वह आध्यात्मिक साधना-जनित तादात्म्य का सवर्णी-सा रहता है। "सवर्णी-सा" कहने का स्पष्ट अभिप्राय यह है कि पूर्ण सवर्णी तो नही होता, किंतु प्रभूतांश में उससे मिलता-जुलता है।

विज्ञान-जगत् में अभिनव आविष्कारों के आविष्कर्ताओं का तादात्म्य भी सौदर्यानुभूति की कोटि का ही है। वे भी वहिरनुभूति से अपने को पृथक् करके ही 'अंतर-सागर' में डूबते हैं, और फलस्वरूप कोई रत्न साथ लाते हैं। इस प्रकार कलाकार, दार्शनिक एवं विज्ञानवेत्ता तीनों ही तादात्म्यानुभूति करते हैं। इस दृष्टि से तीनों की क्रियाओं मे सामंजस्य स्थापित हो जाता है।

विद्वान् ग्रथकार ने सौदर्यानुभूति पर अपना विचार व्यक्त करते हुए इस प्रकार लिखा है :—

"यहाँ तो सौदर्यानुभूति के विषय मे केवल इस वात पर जोर देना है कि उस अवस्था मे मनुष्य अपने को भूल जाता है। द्रष्टा की दृश्य के साथ तन्मयता हो जाती है और दर्शन मात्र रह जाता है। जितनी तन्मयता होती है, उतनी ही गहरी सौदर्यानुभूति होती है। सौदर्य की यही कसौटी है कि वह चित्त को एकाग्र कर सके। अनुभूति कुछ तो द्रष्टा पर निर्भर करती है, कुछ दृश्य पर। द्रष्टा अपने को जितना वासना-शून्य करता है उतनी ही उसको सौदर्य की अनुभूति होती है।"

सच्चे कवि और कलाकार की व्याख्या करते हुए विद्वान लेखक ने सौदर्यानुभूति के प्रकरण मे ही आगे जो अधोलिखित वाक्य लिखे है, वे विशेष मननीय हैं—

"देखने वाला अपने साधारण जीवन से ऊपर उठ जाता है, भौतिक जगत् का कुछ अंश पीछे छोड़ देता है, उसको ऋत और सत्य की कुछ झलक मिल जाती है, नानात्व का कुछ उपराम

हो जाता है, उस एक पदार्थ से थोड़ा-बहुत तादात्म्य प्राप्त हो जाता है जो सब का मूल है। वह लोग भाग्यवान हैं जिनको यह अनुभव प्राप्त होता है। एकाध बार स्यात् सब को ही ऐसा हो जाता है परंतु किसी किसी को जन्मना यह सिद्धि प्राप्त होती है। ऐसा अनुभव बहुत देर तक नहीं रहता, परंतु जब तक रहता है, तबतक चित्त एक अपूर्व उल्लासमय अवस्था में रहता है। जो लोग अपने इस अनुभव को दूसरों तक पहुँचाने की क्षमता रखते हैं, वही कवि, और कलाकार कहलाने के पात्र हैं।'

हमने ऊपर जो विचार व्यक्त किया है, उद्धृत पंक्तियाँ उसका स्पष्ट भाष्य करती है। प्रस्तुत सौंदर्यानुभूति के प्रसंग में हमें स्वभावतः गीता के विभूतियोग की स्मृति आती है। उस प्रसंग में भगवान् ने कहा है —

"यद्यद्विभूतिमत्सत्त्वं श्रीमदूर्जितमेव वा।
तत्तदेवावगच्छ त्वं मम तेजोंऽशसम्भवम्॥"
(गीता० अ० १० श्लोक ४१)।

अर्जुन, जो वस्तुएँ वैभव विशिष्ट श्री-युक्त या ओज पूर्ण हैं, उन्हें तुम मेरे तेज के अंश से उत्पन्न समझो। यह श्लोक "असाधारण सौंदर्य" की ओर ध्यान आकृष्ट करके सौंदर्य-स्रष्टा की स्मृति दिलाता है। हमारी समझ में गीता के विभूति-योग का कोई दूसरा तात्पर्य नहीं है, केवल सौंदर्यानुभूति द्वारा सौंदर्य-स्रष्टा का साक्षात्कार कराना है। इस संबंध में मननशील ग्रंथकार की निम्नलिखित पंक्तियाँ विशेष ध्यानस्थ हैं —

"जो किसी भी वस्तु के प्रति अपने को उस अवस्था में डाल देता है उसको उस वस्तु का यथावत् अनुभव तो होना ही है अर्थात् उसे वह सब संवित् तो प्राप्त होने ही है, जो अन्यथा व्यक्त रहते हैं, बुद्धि को उसमें वह शक्तियाँ भी मिलती देख पड़ती हैं जो जगत् को परिचालित करती प्रतीत हो रही है।'

इस प्रकार कला और सौंदर्य के दार्शनिक विश्लेषण के पश्चात् श्री संपूर्णानंद जी ने धर्म और शिक्षा के विषय में भी सारगर्भित विचार व्यक्त किए हैं। यथास्थान उनका उल्लेख नीचे दिया जायगा।

आज का प्रचलित धर्म को समाज के ह्रास एवं अधोगति का प्रमुख कारण मानता है उनकी दृष्टि में धर्म, भ्रम में फँसाने वाला एक जाल है। विद्वान् दार्शनिक ने इस भ्रांत धारणा का पूर्ण निराकरण कर दिया है। धर्म का लक्षण बतलाते हुए श्री संपूर्णानंद जी कहते हैं —"जो कर्म, निष्काम होकर यज्ञ-भावना से किया जाय, जिस कर्म से जीव-जीव में अभेद की वृद्धि हो, वह धर्म है। इसी प्रकार वे धर्म के अंग पर प्रकाश डालते हुए आगे कहते हैं —"पार्थक्य, विषमता, शोषण, उत्पीडन का निरंतर विरोध करना और सौहार्द, सहयोग, विश्व-संस्कृति तथा ऐक्य-मूलक सदिच्छा के लिये उद्योग करना धर्म का अंग है।"

ये पंक्तियाँ इतनी स्पष्ट हैं कि स्वतः अपनी व्याख्या कर रही है। यदि कोई भी विचारशील व्यक्ति इन पर शांत मन से विचार करेगा, तो वह इनकी तात्विकता एवं उपादेयता से अवश्य प्रभावा-

न्वित होगा। शिक्षा के सबंध मे प्रग लेखक ने ऐसी महत्त्वपूर्ण वात कही है, जो सर्वदा स्मरण रखने योग्य है। नानात्व और पार्थक्य को मिटाकर जो ज्ञान, एकत्व की ओर ले जाय, वस्तुतः वही शिक्षा है। इस सारगभित लक्षण के अनुसार धर्म और शिक्षा का जो उदार एव अनाविल रूप श्री संपूर्णानद जी ने हमारे समक्ष रक्खा है, उस पर हमे विशेष विचार करना चाहिए। क्या ही अच्छा हो कि शिक्षा-शास्त्री श्री संपूर्णानद जी के एतत्विषयक विचारों को लक्ष्य मे रखकर शिक्षा-साहित्य की रचना करे।

"चिद्विलास" में योग का अनुपम स्थान है। विद्वान् ग्रंथ-प्रणेता का यह ध्रुव मत है कि योग के विना आत्म-साक्षात्कार नही हो सकता। वस्तुतः है भी वात ऐसी ही। बिना अविद्यावरण के हो किसी प्रकार भी आत्म-साक्षात्कार सभव नही और अविद्यावरण तव हट सकता है, जव चित्त-वृत्तियो का निरोध हो जाता है। महान् साधक महर्षि पतंजलि ने अपने "योग दर्शन" मे "योगश्चित्तवृत्ति-निरोधः" अर्थात् चित्त-वृत्तियो के निरोध को योग कहा है। उन्होंने वृत्तियाँ, पाँच वतलाई है। प्रमाण, विपर्यय, विकल्प, निद्रा एव स्मृति। इन्ही वृत्तियो का निरोध योग है।

जव स्थूल कार्यो के संपादन मे भी चित्त की एकाग्रता की नितात आवश्यकता होती है तव सूक्ष्मतम आत्म-स्वरूप के साक्षात्कार के लिये तो वह अनिवार्यतः अपेक्षित है ही। योगियो ने चित्त की पाँच अवस्थाएँ वतलाई है:—क्षिप्त, विक्षिप्त, मूढ, एकाग्र, निरुद्ध।

साधक को चित्त की इन पाँचो अवस्थाओ के पथ से होकर गमन करना पड़ता है।

वेदात शास्त्र-प्रणेता महर्षि व्यास ने भी "तत्त्व-दर्शनाभ्युपायो योग" अर्थात् 'तत्त्व-दर्शन' के उपाय को योग कहा है। कुछ विवेचको का विचार है कि साख्य मार्ग अर्थात् ज्ञान-मार्ग मे योग की आवश्यकता नही है; केवल अविद्या को दूर करने की आवश्यकता है। किंतु यहाँ यह प्रश्न उठता है कि अतत अविद्या दूर कैसे होगी? विना किसी प्रयत्न, साधन अथवा अभ्यास के तो वह दूर होने से रही। इसी प्रयत्न या प्रक्रिया का ही नाम तो योग है। महर्षि पतजलि ने चित्त-निरोध के प्रकरण मे स्वयं कई उपाय वतलाए है। अत. यह वात निर्विवाद है कि अविद्या-आवरण हटाने के लिये जो भी क्रिया की जायगी, वह योग की व्यापक परिभाषा के अतर्गत अवश्य आ जायगी। कारण, उपर्युक्त परिभाषा के अनुसार चित्त-वृत्तियों के निरोध का ही नाम तो योग है। एक वात अवश्य है, "योग-दर्शन" मे चित्त-वृत्तियो के निरोध के जो उपाय वतलाए गए है, वे अत्यत उपादेय एव विधि-विशिष्ट है।

महर्षि शाडिल्य ने अपने प्रख्यात ग्रंथ "भक्ति दर्शन" मे भक्ति एव ज्ञान दोनो ही साधनों मे योग की अनिवार्य आवश्यकता वतलाई है।

कापिल सांख्य शास्त्र मे भी "अभ्यासाच्च वैराग्याच्च" अर्थात् "अभ्यास" और "वैराग्य" के द्वारा दु.खत्रय की "अत्यत निवृत्ति" मानी गई है।

यदि साख्य दर्शन के उपरिलिखित सूत्र पर ध्यान दिया जाय, तो उसमे प्रयुक्त "अभ्यास" एव "वैराग्य" दोनों ही योग-प्रक्रिया की व्यापक परिधि मे अंतर्भूत हो जायँगे।

इस प्रकार योग की महत्ता प्रदर्शनतम है।

योग के सबध में ग्रथकार ने अनतिविस्तृत वाक्यों में जो विचार व्यक्त किया है, वह विशेष ध्यातव्य है —

'नानात्व का प्रसार जगत् का प्रसव क्रम है, योगाभ्यास उसका प्रति प्रसव क्रम है। शुद्ध ब्रह्म पर अविद्या के कारण जो पर्दे पड गए हैं, उनको उत्तरोत्तर हटाकर पुन स्वरूप-प्रतिष्ठित होना ही योगी का उद्देश्य है।'

इन वाक्यो द्वारा योगाभ्यास और योगी के उद्देश्य पर जो प्रकाश डाला गया है, वह आज के नव प्रिय व्यक्ति के अन्दर के ध्वान्त को मिटाने में पूर्ण क्षम है। किमधिकमत परम्।

निबध, विस्तृत होता जा रहा है, अत जब हम इसका उपसहार करते हुए इतना और कहना चाहते है कि 'चिद्विलास' एक अमर दार्शनिक कृति है। वह जीवन के भौतिक एव आध्यात्मिक दोनो ही पक्षो पर देदीप्यमान प्रकाश डालता है। उसका अतरग श्री सपूर्णानद जी के निरन्तर गभीर एव व्यापक शास्त्रालोडन का अमृतोपम नवनीत है।

एक बात और। ग्रथ के उपोद्घात में श्री सपूर्णानद जी ने एक अनुच्छेद लिखा है —'लोग दार्शनिक से व्यक्तिक और सामाजिक धर्म, सदाचार का स्वरूप पूछते है। वह जानना चाहते है कि सत्कर्म क्या है? कर्म की अच्छाई की क्या परख है? धार्मिक आचरण के पक्ष में हेतु क्या है? आज दार्शनिक को राजनीति और अर्थनीति, दड-विधान और शिक्षा के सबध में सम्मति देनी होगी और मार्ग दिखलाना होगा।' हम निस्सकोच यह कह सकते है कि "चिद्विलास' में इस बात का पूर्ण निर्वाह किया गया है। हमारी समझ में दर्शन-वाङ्मय में श्री सपूर्णानद जी की यह अन्यतम देन है। 'चिद्विलास' के पढने के पश्चात् अन्त में मुख से यह बरबस निसृत हो जाता है —

'फिलासफी इज नाट ऐन इटेलेक्चुअल परसूट बट डेडिकेटेड लाइफ"

विश्वात्मा

राधाकमल मुकर्जी

मानव-समाज मे नैतिक नियमो की व्यवस्था तथा मर्यादा की स्थापना के लिये सकेतों और प्रतीकों का अवलंबन अनिवार्य है। भाषा, तर्क और सकेतो के अभाव में, मनुष्य इतनी नैतिक और वौद्धिक उन्नति कभी न कर सकता जितनी आज कर सका है। सूक्ष्म विचार तथा रचनात्मक कल्पना से उत्पन्न सामाजिक आदर्शो और प्रतीको से मनुष्य की जो विवेकवृत्ति वनती है उसीके द्वारा उसका नैतिक जीवन ढलता और नियंत्रित होता है और वही उसे समाज की मर्यादा के अनुसार अपनी परिस्थितियों पर नियत्रण रखने मे समर्थ वनाती है। सभ्यता की आदिम अवस्था में मनुष्य ने ऐसे आदर्शो और प्रतीकों की सृष्टि की थी जिन्हे वह स्वत पूर्ण मानकर उनमे श्रद्धा रखता था। वह भाग्य या नियति, अनत कारण-परपरा तथा कर्मफल मे विश्वास करता था जिससे सामाजिक वैपम्य एवं अत्याचार से उत्पन्न आतरिक द्वद्वो से उसे मुक्ति मिलती थी। इसी प्रकार दैव-दया तथा ईश्वरीय अवतारों मे विश्वास करने के कारण व्यापक सामाजिक उथल-पुथल के समय उसे वाछित नैतिक अवलंव प्राप्त होता था। आदर्श, रूढ़ि और धर्म की वाह्य कठोर सत्ता ही मनुष्य के हृदय में अंत-चेतना वनकर वैठ जाती है, किंतु पुन. जव अत चेतना से इनका विकास होता है तव लोग उसे दिव्यदर्शन अथवा अत प्रेरणा से प्रादुर्भूत मानते है। इसमें कोई सदेह नही कि किसी जाति में सतो या पैगवरो पर उतरी हुई मानवनीति या धर्म की इलहामी किताव अथवा स्वर्गीय विधान, भयानक परिस्थितियो मे भय, चिंता आदि के वीच उस जाति को दृढ नैतिक अवलव देता और उसका वौद्धिक परितोप भी करता है।

यह सत्य है कि फ्रायड का कहना था कि धर्म विज्ञानयुग के पूर्व का एक भारी भ्रम है और जव मनुष्य प्रकृति की शक्तियों और जीवन की परिस्थितियो को ठीक-ठीक समझकर जीवन को भय और चिंता से मुक्त वनाने में समर्थ होगा तव यह भ्रम दूर हो जायगा। परतु पीछे, उसके मानसिक क्रियाओं के एकमात्र नियामक के रूप में सुखदु ख के सिद्धात के त्याग तथा मृत्यु-भावना के सिद्धात के पोपण से, मानसोपचार पद्धति में धर्म और नीति की पुन प्रतिप्ठा हो गई। मानस-चिकित्सा में मनुष्य के आंतरिक निरोधो पर विजय पाना आवश्यक है और इसलिये सुखदुःख की भावना

मे आगे बढकर उसकी मृत्यु भावना को प्रभावित करना पडता है। यह एक नैतिक आवश्यकता है। इसके अतिरिक्त कभी-कभी रोगी की अहमन्यता की प्रबलता के कारण चतुर से चतुर मानस चिकित्सक भी उसे प्रभावित करने में असमर्थ हो जाता है। तब उसे प्रभावित करने के लिये उसकी उन्मत्त सुखलालसा को मद करना, उसके अहकार को नत करना—उसकी धर्मबुद्धि को जगाना पडता है। इस प्रकार मानस चिकित्सा में प्रतीक, आदर्श तथा धार्मिक और नैतिक प्रक्रियाएँ साथ-साथ चलती है और वे रोगी के स्वास्थ्य-लाभ के लिये अनिवार्य है। धार्मिक और नैतिक आदर्शों तथा उनके द्वारा बने हुए सस्कारो से प्रत्येक कार्यक्षेत्र में मनुष्य का दैनिक जीवन अधिक अर्थपूर्ण एव अनुभव की दृष्टि से अधिक समृद्ध हो जाता है। परतु आदर्शों और नियमो को सर्वथा निरपेक्ष एव पूर्ण मान लेने के कारण शीघ्र ही नैतिक भावना सकीर्ण हो जाती है। तब मनुष्य का विचारशील तार्किक मन केवल धार्मिक आदर्शों अथवा धर्म के दार्शनिक ढाँचे पर ही आक्रमण करके चुप नही बैठता, प्रत्युत वह इच्छा तृप्तिमय पूर्ण समृद्ध जीवन की कामना के साथ-साथ एक नवीन नैतिकता तथा उच्चतर गुणो एव अनुभवो की आकाक्षा करने लगता है।

मनुष्य ज्यो-ज्यो सभ्य होता जाता है त्यो-त्यो व्यक्तियो तथा भिन्न भिन्न वर्गों का वशिष्ट्य और महत्त्व बढता जाता है और उनके भिन्न-भिन्न उद्देश्यो और आदर्शों को अपना लेने के कारण पीढियो से आध्यात्मिक सस्कार के रूप में चले आते हुए पुराने सामाजिक आदर्श और प्रतीक छिन्न-भिन्न होकर भिन्न भिन्न अनेक आदर्शों और प्रतीको का रूप धारण कर लेते है। आधुनिक सभ्य ससार का मनुष्य देखता है कि न केवल उसके परपरागत वर्ग और सस्थाएँ तथा उनके उद्देश्य और मान तुलाएँ निरतर बदलती जा रही है, प्रत्युत उसके वे सामाजिक आदर्श और परपराए भी टूटती जा रही है जिन्हें वह पूर्ण, शाश्वत तथा विधि का विधान मानता था। इस प्रकार आधुनिक सभ्य मानव अपने व्यक्तिवाद और सामर्थ्य-वशिष्ट्य तथा जीवन के उच्चतर तत्त्वो के लिये अपनी आकुलता के बावजूद अपने परिवर्तनशील समाज में किसी नैतिक अवलब से सर्वथा वचित है।

कई प्रकार की सामाजिक प्रवृत्तियो ने आधुनिक सभ्य मनुष्य की नैतिक निरवलबता को बढा दिया है। एक दूसरे से निकट सबध रखनेवाले प्रारभिक वर्गों और सस्थाओ का स्थान अब ऐसे मिश्र और परोक्ष वर्गों और सस्थाओ ने ले लिया है, जिनमें व्यक्तिगत सबध दूर पड जाते है। जीवन की क्षिप्र गति ने प्राचीन आदर्श, प्रतीक, सदसद्विवेक तथा नैतिक भावना को नष्ट कर दिया है, परतु इनके स्थान पर अभीतक नए आदर्शों, प्रतीको आदि का विकास नही हो पाया है। दूसरे, यात्रिक, औद्योगिक और राजनीतिक क्रातियो के कारण व्यापारादि का विस्तार जगद्व्यापक हो गया है। एक महाद्वीप में दुर्भिक्ष, महामारी या राजनीतिक उथल-पुथल का प्रभाव दूसरे महाद्वीपो पर भी अनेक प्रकार के सकटो के रूप में पडता है। विश्व में खाद्य, खनिज और कच्चे माल की कमी तथा यातायात में वायुयान और रेडियो द्वारा होनेवाली क्राति के कारण राष्ट्रो में अश्रुतपूर्व अन्यायापेक्षिता आ गई है। मिश्र वर्गों का आकार विश्वविस्तृत हो गया है। फिर भी मनुष्य न अब तक सार्वभौम आर्थिक नियत्रण अथवा विश्व शासन-तत्र का निर्माण कर पाया है और न उस विश्व चेतना का विकास कर सका है जिसके बिना सपूर्ण विज्ञान शक्ति के होते हुए भी सभ्यता नष्ट हो जायगी। इस कारण पुनर्व्यवस्था के लिये आकुल मानव अपने उन मिश्र समूहो—आर्थिक या राजनीतिक दलो या स्वतत्र राज्यो—से अधिकाधिक चिपकता जाता है जिनका निर्माण औद्योगिक क्राति की प्रार-

भिक अवस्था मे हुआ था और जो आज की विस्तृत तथा अन्योन्याश्रित अर्थ-व्यवस्था एवं राजनीति मे उतने ही बेकार है जितने प्रारभिक मौलिक-वर्ग। वह अपनी पूर्वकालीन वर्ग-वृत्तियो एवं सामाजिक महत्त्वाकांक्षाओ को इतना कसकर पकड़े हुए है कि सामाजिक आदर्शो और प्रतीको मे कोई इस प्रकार का वडा परिवर्त्तन संभव ही नही होता जो किसी विश्व-व्यवस्था में व्यक्तिगत तथा सामाजिक शांति के लिये आवश्यक है।

एक ओर तो, मनुष्य मे अभूतपूर्व व्यक्तिवैशिष्टय प्रकट हुआ है। आज के औसत श्रेणी के मनुष्य तथा गेटे, गांधी या अइंस्टीना के वीच का अतर उससे कही अधिक है जितना विगत युगों मे औसत मनुष्य तथा सामत या मुखिया के वीच होता था। आधुनिक मनुष्य के विकास का क्षेत्र अत्यत विस्तृत एव सर्वथा उन्मुक्त है। परंतु प्रतिकूल सामाजिक और सास्कृतिक परिस्थितियाँ प्राय: उसके विशिष्ट गुणो और शक्तियो को कुचल देती, या फिर उसे समाजविरोधी अनुचित मार्गोपर लगा देती है। चाहे सदसद्विवेक हो या व्यापक प्रेम और दया की भावना अथवा सौंदर्य या पवित्रता की दृष्टि—मनुष्य के सभी विशिष्ट गुणों और शक्तियो का पोषण, पल्लवन और विकास समूह या समाज के ही द्वारा, हुआ करता है। परन्तु आज के युग मे, प्रतिभावानों की वात छोड़िए, औसत से कुछ ही ऊँचे मनुष्य को भी, अपनी व्यक्तिगत शांति और सफलता की उपलब्धि मे अपने वर्ग या समूह की सहायता नही मिलती। दूसरी ओर ऐसे मिश्र और परोक्ष वर्गो द्वारा जिनमें वैयक्तिक सवध छिन्न हो गए है, मानवीय वृत्तियो की केवल आशिक तुष्टि होती है। तिसपर भी वे वर्ग मनुष्य के व्यक्तिगत जीवन पर भी आघात करते है और अनेक के मन-स्वातन्त्र्य को भी नष्ट कर देते है जो मानवता के लिये आधुनिक विज्ञान तथा जनतंत्र की विशेष देन है।

वर्तमान सभ्यता का यह विश्वास प्रतीत होता है कि व्यक्ति के नैतिक आचरण की उपेक्षा कर के भी आदर्श समाज की रचना की जा सकती है। आज के समष्टि समाज में व्यक्ति की स्थिति केवल यंत्र के पुर्जे की-सी रह गई है। व्यक्ति केवल विचारहीन, विश्वासप्रवण एवं कलहप्रिय, समूह का प्राणिमात्र रह गया है। उसकी समझ में उसका समूह या वर्ग ही उसके आहार, मैथुन, आरोग्य, मुक्ति—उसकी सभी आवश्यकताओ की पूर्ति करेगा। आधुनिक पाश्चात्य वहु-जनतंत्र और सर्व-जनतंत्र दोनों ही व्यक्ति के अधिकारो की उपेक्षा करते है और व्यक्ति का स्थान वडे वड़े वर्गो, दलों और संस्थाओं को देते है। वरद्याव कहता है—"उन्नीसवी और वीसवी शती में मनुष्य का आदर्श अत्यत अस्पष्ट, प्राय. लुप्त हो गया है। जव यह मान लिया गया कि मनुष्य सामाजिक परिस्थितियों का परिणाम है, तव समाज का ही आदर्श उसका आदर्श हो गया।"

इधर प्राच्य संसार विचारशील, मुक्त और सामान्य विश्व-मानव का आदर्श उपस्थित करता है। भारत का आदर्श कर्मयोगी मुक्त पुरुष (जीवन्मुक्त और वोधिसत्व) है। मुक्त पुरुष अपने को विश्व के सुख, शांति और सौंदर्य के सूक्ष्म प्रतिरूप या प्रतिविंव के रूप में अनुभव करता है। उसका स्वपूर्णता का आदर्श वह पुरुषोत्तम है जिसे गीता में भगवान का विश्वरूप कहा है और जो संपूर्ण व्यक्त विश्व में व्यापक, सव जीवों की अंत.चेतना है। यह रूपक मात्र नही है। मनुष्य विश्व के चराचर समाज में अपना आत्मविस्तार करके, प्रेम और सेवा द्वारा समस्त प्राणियों मे आत्मवत् अनुभूति कर के ही सच्चा आत्मज्ञान प्राप्त कर सकता है। प्रेम, दया, सहानुभूति, विनय

इत्यादि श्रेष्ठ गुण निष्काम मनुष्य में अनायास और अहैतुक आते हैं। जीवन्मुक्त या बोधिसत्व समाज-त्यागी नहीं होता। वह प्रायः वस्तु-व्यवहार एवं जयाजय की भावना से रहित होकर ही कर्म में प्रवृत्त होता है। अतः जीवन और समाज के प्रति उसका भाव सर्वग्राही, पूर्ण और समन्वय होता है। जीवन्मुक्त गीता में कहा है—"मुक्त वही है जो अपने को जगत के समस्त प्राणियों के भीतर देखता है, अहिंसापर तथा सब जीवों के हित में रत है।" इसी प्रकार अरब का प्रसिद्ध दार्शनिक रहस्यवादी अल्गज़ाली ईश्वर तथा सब जीवों की एकता पर जोर देते हुए लिखता है—"ईश्वर ने कहा है कि मेरा सेवक इसलिये मेरे निकट आना चाहता है कि मैं उसे अपना मित्र बनाऊँ, और जब मैं उसे अपना मित्र बना लेता हूँ तब मैं उसका कान, नाक और जीभ बन जाता हूँ।" यह कथन ऋग्वेद के एक मंत्र की याद दिलाता है जो उपनिषदों और गीता में अनेक बार दोहराया गया है।

पूर्वीय जातियों में जीव-मुक्त विश्वपुरुष का आदर्श अहंकार के जाड्य को दूर कर मनुष्य की चेतना तथा भावसीमा के विस्तार में सहायक होता है। महायानी दार्शनिक कवि आसंग का वचन है—"प्राणियों के प्रति बोधिसत्व का प्रेम विश्व का एक महान् आश्चर्य है। अथवा, यह कहना ठीक नहीं, क्योंकि बोधिसत्व के लिये तो आत्म और पर अभिन्न हैं, सब जीव उसीके रूप हैं।" विश्व के सम्पूर्ण साहित्य में विश्व-प्लाविनी करुणा का वैसा स्तुतिगान कहीं न मिलेगा जैसा महायानी कवि समाजत्यागी राजकुमार शान्तिदेव की उक्तियों में मिलता है—"जिसके द्वारा हमारे भीतर बुद्ध के गुणों का उदय होता है वह तत्त्वतः प्रत्येक प्राणी के हृदय में विद्यमान है। इस कारण प्रत्येक प्राणी आदर का पात्र है। बुद्ध जीवों के हेतु अपने शरीर को यातना देते और नरक में भी जाते हैं। इस हेतु हमें अपने बुरे से बुरे शत्रु का भी हित ही करना चाहिए। बुद्धों के प्रसादार्थ आज से ही मैं सर्वभावेन विश्व का सेवक बनता हूँ। यदि विश्वरक्षक तो इसीमें प्रसन्न हों तो जनसमुदाय अपने पग से मेरा सिर कुचल कर मेरा अंत कर डाले।" इस प्रकार करुणावान पुरुष का आदर्श प्राच्य देशों में कई शताब्दियों से त्याग तथा दान-दया की भावना जगाता रहा है। चीन में आज दिन तक प्रतिवर्ष सैकड़ों नव-दीक्षित भिक्षु बोधिसत्व होने की प्रतिज्ञा करते हैं और उसके बाद से उनके शिष्य उन्हें 'ता-पुर' या महाबोधिसत्व कहकर सम्बोधित करते हैं।

यूरोपीय सभ्यता कई भिन्न भिन्न सभ्यताओं के मिश्रण से बनी है। यूनानी रोमी समाज में विवेकशील राजनीतिक पुरुष के आदर्श का प्राधान्य था। ईसाई मत ने मध्यकाल में वहाँ आश्रमवासी सन्त पुरुष तथा राज दरबारी वीर 'नाइट' का आदर्श प्रस्तुत किया, जिनमें से एक का प्रभाव सदा आ॰ गिर्जाघरों में था और दूसरे का जनता पर। नव-जागरण-काल में सुरुचि और सुबुद्धि सम्पन्न मनुष्य का आदर्श सामने आया जिसका जीवन यूनानी संस्कृति, तथा एशिया से व्यापार द्वारा प्राप्त धन, दोनों से सम्पन्न था। फिर उन्नीसवीं शती में पूँजीवादी उद्योगवाद की प्रथम अवस्था में अर्थवादी मनुष्य का आदर्श प्रस्तुत हुआ। हॉकिंग के शब्दों में इसके दो रूप हुए—एक तो स्वाधीन, स्वतन्त्र विचारशील अर्थवादी भद्रपुरुष जो मिल के दर्शन का सार तत्व है, और दूसरा पराधीन, विचार-स्वातंत्र्य रहित अर्थवादी श्रमिक, जो मार्क्स के दर्शन का सार है। हॉकिंग के ही मतानुसार पूर्ण मनुष्य के रूप में ये दोनों ही असफल हैं। इसके पश्चात् बीसवीं शती में पूँजीवादी उद्योगवाद की द्वितीय अवस्था में अर्थिक भद्रपुरुष के आदर्श का पीछे हटना पड़ा और श्रमिक का समूहपुरुष या वर्गपुरुष के रूप में

विशेष महत्त्व प्रदान किया गया। यह समाज के लिये एक नया जीव है जिसने अपनी परपरागत प्रकृति को त्याग दिया है तथा जो समाज और समार की शांति के लिये वहुत भयावह है।

यह लक्ष्य करने योग्य है कि वहुत वड़े मानवतावादी डॉस्टाएफ्स्की ने अपने "शिगालोविज्म" में समूह-मानव तथा समष्टि-(वर्गरहित) समाज के अत्याचार और भ्रष्टाचार का अनुमान इस प्रकार पहले ही कर लिया था कि "इसमें वुद्धि, विज्ञान और शिक्षा का स्तर नीचा कर दिया गया है। महान मस्तिष्कों की इसमें कोई आवश्यकता न रहेगी। या तो वे निर्वासित कर दिए जायँगे या मार डाले जायँगे। गुलामो मे समानता होनी अनिवार्य है। एकतत्र मे स्वतत्रता और समानता कभी नही रही, परंतु इस समूहतत्र मे तो समानता निश्चय रहेगी। यही "शिगालोविज्म" है। ससार मे जिस एक वस्तु का अभाव है वह है अनुशासन।" फासिज्म और नाजिज्म की पराजय के वाद भी इस शिगालोविज्म का आदर्श अभी जीवित है। इसका कारण यह है कि समूह-मानव संघर्ष, क्राति, अधिकार और अधिनायकत्व के आदर्श में ही उल्लास का अनुभव करता है।

जैसा समाज होता है वैसे ही उसके आदर्श होते है। श्रेणीरहित समूहवद्ध समाज के आदर्श सदा चिंता, भय, घृणा और आक्रमण की ही मूलवद्ध वृत्तियो को अभिव्यक्त करते है। धार्मिक तथा परंपरागत आदर्श इनसे भिन्न है। वे आदिम प्रवृत्तियो की नही, वरन् प्राकृतिक एव स्थायी भावो तथा एक जटिल प्रकार के भावविकास और भावतुष्टि की अभिव्यक्ति है, जिनका लक्ष्य शक्ति और अधिकार नही वरन् मानव-पूर्णता है। परंतु अव ये आदर्श अनुदिन वर्धमान वृहद् मानव-समुदायों की कल्पना तथा कर्मभावना को जगाने मे असमर्थ हो गए है।

यदि मानवजाति तथा उसकी संस्कृतियाँ ऐसे प्रतीको और आदर्शो का आधार लेकर जीती है जो केवल काव्यगत रूपक नही वरन् सर्वश्रेष्ठ नेतिक और आध्यात्मिक तत्त्वो से निर्मित होते है, तो आज के समूह-मानव का सामाजिक आदर्श निश्चय ही पूर्णपुरुष—नैतिक, आध्यात्मिक, दिव्य या विश्वपुरुष—का आदर्श होगा। आधुनिक मानव ने अपूर्ण प्रतीको और आदर्शो के अवलवन के फल स्वरूप जितना पतन देखा है उसका ध्यान कर वह आज अपेक्षाकृत अधिक पूर्ण आदर्श की खोज मे है। पूर्णमानव के आदर्श मे केवल अर्थपर मानव की स्वतत्रता और कर्मोत्साह के अथवा समूह-मानव की सहयोग-भावना तथा दृढ-संघटन-शक्ति के ही तत्त्वो का होना आवश्यक नही है; उसमे श्रेष्ठ नैतिक और आध्यात्मिक गुण भी होना चाहिए। प्राचीन ऋषि-मुनि या विश्वपुरुष या वुद्ध के आदर्श मे ये गुण निहित थे। परतु आज तो महासमाज या वृहत-समाज के प्रभाव, माया और आकर्षण ने पूर्ण-पुरुष के आदर्श को नष्ट कर दिया है।

आज यत्र तथा सघटन की वेदीपर समूह-मानव के व्यक्तित्व तथा श्रेष्ठ गुणो का जो वलि-दान हो रहा है उसे रोकने का एक ही उपाय है। वह यह कि मनुष्य का नित्य का आर्थिक जीवन और अनुभव, उसका नैतिक कार्यक्रम, शिक्षा और अनुशासन, सव उसके व्यक्तित्व को पूर्ण वनाएँ। उसका जटिल सामाजिक जीवन जो कृत्रिमवर्गो मे पृथक्-पृथक् विभक्त है उसे संयुक्त एवं सतुलित कर उसको गतिशील आध्यात्मिक पूर्णता एव स्वतंत्रता प्रदान की जाय। व्यक्तिगत और सामूहिक जीवन की कठोर और यात्रिक जड़ता और तदुत्पन्न भय, घृणा, चिंता और निराशा—ये

पूर्ण नैतिक जीवन के विकास के मार्ग में सब से बड़ी बाधाएँ हैं। इस कारण समूह-मानव का उद्धार उसके सामाजिक जीवन के प्रत्येक क्षेत्र—घर, पड़ोस, मंदिर, सभा, संस्था, राजनीतिक दल—में उसके संपूर्ण अंतःकरण के शोधन या पुनःशिक्षण द्वारा प्रारंभ करना होगा। परंतु ऐसा होना तब तक संभव नहीं है जब तक इसके अनुकूल समूह या वर्गों का पुनस्संगठन न हो, साथ ही जनता समूह अपनी सामाजिक दृढ़ता के लिए एकरूपता, विशिष्टता और व्यक्ति के कठोर नियंत्रण जैसे उपायों का अवलम्बन करने के बदले प्रेम और सेवा का मार्ग न अपनाए। समूह-मानव का आर्थिक और सामाजिक संघटन आकार तथा शक्ति में दिन-दूना रात-चौगुना बढ़ता ही जा रहा है, परंतु ध्यान रहे कि संकीर्ण दिशा में यह वृद्धि मानव के सर्वश्रेष्ठ गुणों का विनाश करनेवाली है। समूहरूपी यंत्र का उद्देश्य राजनीतिक और आर्थिक शक्ति-संग्रह होने के कारण उसके द्वारा केवल संगठित पुरुष का निर्माण हो सकता है सत्पुरुष का नहीं। आज अनेक उच्च-गुण-संपन्न व्यक्ति समाज में सहयोगपूर्ण समन्वित जीवन अथवा सदाचार एवं सद्गुणों के स्वरूप का अनुभव करने में अपने को असमर्थ पा रहे हैं। वे आज ही नैतिक और आध्यात्मिक बल के सहारे एकाकी सा जीवन व्यतीत कर रहे हैं। दूसरी ओर जो लोग समूहों और संस्थाओं के पुनस्संगठन के कार्य का भार उठाते हैं वे स्वयं किसी प्रकार के नैतिक या मानसिक परिवर्तन का अनुभव करने में असमर्थ रहे हैं। वे केवल इच्छा तृप्तिमय समूह मानव के ही विवर्धित प्रतिरूप या प्रतिनिधि मात्र हैं।

अतः, समूहमानव के उद्धार के लिये, उसे पूर्ण, नैतिक, आध्यात्मिक या दिव्यमानव के रूप में परिवर्तित करना होगा और स्वार्थवर्गों को सर्वांगपूर्ण समाज के स्तर तक उठना होगा। दोनों का यह विकास एक दूसरे का साधक होगा। परंतु चारित्रिक दृढ़ता, एवं नैतिक विकास की अविच्छिन्न सिद्धि के लिये संस्थाओं और समूहों के संघटन में अत्यधिक परिवर्तन अपेक्षित है।

इस प्रकार दो दिशाओं में विकास की आवश्यकता है। एक तो स्वार्थवर्गों का पूर्ण समाज के रूप में परिणति अर्थात् शक्तिसंघर्ष त्यागकर संस्कृति, सामाजिकता, आत्मपूर्णता और मानवता की ओर विकास। यह लक्ष्य हिंदू और ईसाई विश्वमानव के आदर्श में, जो आज के समूह-मानव का बिल्कुल उलटा है, अत्युत्तम रीति से चरितार्थ होता है। दूसरे, व्यक्तियों और वर्गों के परस्पर प्रेम, सामाजिकता और उत्तरदायित्व की भावना पर अवलंबित प्राकृतिक श्रेणी विभाग की ओर प्रगति। वर्ग-चेतना समाज की एकता और दृढ़ता को भंग करनेवाली है परंतु प्राकृतिक श्रेणी-विभाग की व्यवस्था वर्गों और समूहों को परस्पर आबद्ध करती है।

कर्मानुसार प्राकृतिक श्रेणी-विभाग वह नैतिक या सामाजिक आदर्श है जिसमें भिन्न भिन्न वर्ग अपनी संस्कृति और सामाजिक कर्मों के महत्त्व के अनुसार समाज के नियंत्रण और प्रबंध में सहभागी होते हैं। इस प्रकार की कर्मानुसारी स्वाभाविक वर्ग व्यवस्था (या वर्ण विभाग) का नियंत्रण करनेवाले होंगे—शिक्षक, उपदेशक, कलाकार, वैज्ञानिक, तत्त्वज्ञ। ये सभी सेवा और त्यागमय जीवन व्यतीत करेंगे। धर्म दर्शन और समाजशास्त्र का समाज में सब से अधिक महत्त्व होना चाहिए और शिक्षक, कलाकार, दार्शनिक, न्यायाधीश वकील आदि का स्थान शासनाधिकारियों से ऊँचा होना चाहिए। इनके बाद दूसरा स्थान होगा विशेषज्ञों, यंत्रविदों, डाक्टरों आदि का। बर्ट्रेंड रसेल का विचार है कि दैनिक जीवन में विज्ञान की वृद्धि के साथ-साथ भविष्य में विशेषज्ञों का महत्त्व

ज्यों-ज्यो बढ़ता जायगा त्यों-त्यों प्रजातंत्र शासन का स्थान विशेषज्ञों का शासन लेता जायगा—भले ही प्रजातंत्र का वाह्यरूप अखड बना रहे। ऐसे नेता और विशेषज्ञ जो प्रेम, सौजन्य और न्याय की मूर्ति हो और व्यक्तिगत सुखों के लिये लालायित न हों, समाज के शासन और सघटन के लिये तथा लोक को सामाजिक जीवन और कर्तव्य की शिक्षा देने के लिये सब से अधिक योग्य है। नित्शे के मतानुसार भी समाज के शिखरस्थ व्यक्तियों को कठोर तपस्यामय जीवन विताना चाहिए। इसका एक सुपरिणाम यह होगा कि सभी श्रेणियो के लोग ऊपर की ओर चढना पसद नही करेंगे। ऐसी व्यवस्था मे, उच्च वर्गो मे जीवन के उच्चस्तर की वेदी पर सतानों के बलिदान के कारण उत्पन्न होनेवाली कुल ह्रास की समस्या भी नही उठेगी। प्रत्युत, प्राकृतिक श्रेणी-विभाग मे उच्च वर्गो के विशिष्ट कुलाचार के कारण कृत्रिम जन्मनिरोध के बदले ब्रह्मचर्य द्वारा जनसख्या आर्थिक स्थिति के अनुकूल होगी।

उपर्युक्त दोनों श्रेणियो के नीचे दो और श्रेणियाँ होंगी, एक व्यापारियों की, दूसरी श्रमिको की। पंचमश्रेणी में अर्ध-सामाजिक या समाजविरोधी अपराधी, गुडे, वेश्याएँ आदि होंगी।

यूरप में प्लेटो और अरस्तू द्वारा भावित स्वाभाविक वर्ग-व्यवस्था के सपूर्ण सिद्धात का, जो कि ईरानी और भारतीय चतुवर्ण-व्यवस्था में भी निहित है, मूल स्वाभाविक वर्ग-निर्माण तथा कर्म-व्यवस्था में है। उसमें नैतिक दायित्व के अनुसार भिन्न नैतिक स्तरो की योजना है।

सर्वागपूर्ण समाज में न तो शक्ति, अधिकार और प्रतिष्ठा के लिये वर्ग-सघर्ष हुआ करता है और न समूहों या वर्गो के पारस्परिक स्वार्थमय उद्देश्यों और कर्मो सबंधी दुर्व्यवस्था ही होती है। समाज में प्रत्येक व्यक्ति अपना उचित कर्म और स्थान प्राप्त करता है। प्रत्येक वर्ग या समूह को शांति और स्थिरता प्राप्त होती है, क्योंकि उसकी शक्ति और उसके अधिकार उसके सामाजिक कर्त्तव्य तथा उत्तरदायित्व के अनुसार होते है। व्यक्ति अपने ही कर्मो के द्वारा आत्मपूर्णता प्राप्त करता है। यदि वह अपने वर्ग और कर्म को त्याग कर दूसरे वर्ग के कर्म को अपनाना चाहता है तो अपने ही नैतिक प्रतिष्ठा खोता है। उच्च वर्गो के व्यक्तियो की सामाजिक चेतना उन्हे निम्नवर्गो की सेवा मे तत्पर रखती है। स्वाभाविक वर्ग-व्यवस्था में प्रत्येक वर्ग के कर्मो का विभाग व्यक्तियो के गुण और स्वभाव के अनुसार होता है। प्राचीन भारतीय समाज-व्यवस्था मे प्रत्येक व्यक्ति और वर्ग का स्थान या मर्यादा नियत होती है। व्यक्तियो के स्वभावानुसार उनके कर्म द्वारा उनका वर्ण निश्चित होता है, न कि जाति या रग द्वारा। चतुर्वर्ण का सिद्धात ऋग्वेद जितना प्राचीन है और उसका संबंध विश्वपुरुष तथा विश्व-व्यवस्था (ऋत या धर्म) से है। ब्राह्मण ग्रथो मे वर्ण को एक देव कहा गया है "जो अपने स्वार्थ के लिये नही दूसरो के निमित्त कर्म करता है।" महाभारत मे भी कहा है कि वर्ण-व्यवस्था का कारण जन्म नही, प्रत्युत सत्कर्म है। अस्तु। स्वाभाविक वर्ण-विभाग मे प्रत्येक वर्ण सपूर्ण समाज के एक अग के रूप मे अन्य अगो का पूरक होता है और उसमें अधिकार से अधिक महत्व कर्तव्य का, भोग से अधिक सेवा का और पुरस्कार से अधिक त्याग का होता है।

वर्तमान सभ्यता मे शाति और व्यवस्था को भग करनेवाला सब से बड़ा कारण यह है कि प्रत्येक व्यक्ति सब से ऊपर की चोटी पर पहुँचने का प्रयास करता है, और प्रत्येक वर्ग भी उस शक्ति और अधिकार के लिये अन्य वर्गो से सघर्ष करता है जो ऊपर की चोटी पर ही सुलभ है।

वर्तमान मानव के नैतिक पतन का कारण यही अशांति तथा जीवन-पथ में बेतहाशा दौड़ है। सर्वांग पूर्ण समाज का दृष्टि वैज्ञानिक दृष्टि है, जिसमें वर्गों का भी स्वाभाविक विभाग होता है और व्यक्तियों के कर्म और मर्यादा का भी सविभाग होता है। उसमें कर्म के द्वारा ही व्यक्ति और समाज का पूर्ण विकास होता है। व्यक्ति अपने विशिष्ट गुण-स्वभाव के अनुसार अपने कर्म द्वारा ही सर्वोत्तम रीति से मानवता का हित कर सकता है। भगवद्गीता के अनुसार गुण-स्वभावानुसार नियत अपने अपने कर्म का अनासक्त होकर करना ही पूर्णता का मार्ग है। ब्रैडले, मयसनीगर तथा स्मा नियत विचारक डाक्टर सी० नार्ड के विचार भी इसी बात की पुष्टि करते हैं। यह वास्तविक तथ्य है कि प्रकृति द्वारा प्रस्तुत विश्व में कर्मों और लक्ष्यों की प्रभूत राशि में से मनुष्य केवल कुछ को ही अपना सकता है और यदि वह सारी-चारी से सब का आवश्यक समन्वय अपनाने का प्रयत्न करता है तो न केवल उसे असफलता मिलती है वरन् उसके जीवन में ऐसी अव्यवस्था उत्पन्न हो जाती है कि उसके अनेक मौलिक गुण नष्ट हो जाते हैं। अतः यह निर्धारित करना मनुष्य का प्रथम कर्तव्य है कि समाज के एक प्राणी के रूप में अपने परिमित सामर्थ्य के अनुसार तथा समाज में अपनी नियत मर्यादा के अनुसार उसका लक्ष्य क्या हो। कर्म के प्रेम का महत्व आर्थिक उपयोगिता से कहीं बढ़कर होता है। कर्म एक प्रतीक बन जाता है जिसके अवलंब से योग्य और पूर्ण जीवन व्यतीत किया जा सकता है।

क्या वर्तमान उत्पादन-पद्धति में, जब अधिकार और स्वामित्व का उत्पादन से और उत्पादन का मनुष्य की रचनात्मक प्रवृत्तियों से कोई संबंध ही नहीं रह गया है, उक्त प्रकार की नैतिक व्यवस्था हो सकना संभव है? ऐसे नैतिक परिवर्तन के पहिले संभवतः इस प्रकार की औद्योगिक क्रांति तथा विकेंद्रीकरण की आवश्यकता होगी। कर्मों और लक्ष्यों के व्यक्तिगत स्वाभाविक चुनाव की अपेक्षा वर्गों की परिस्थिति में परिवर्तन अधिक वांछनीय और आवश्यक होगा। क्या बड़े-बड़े आर्थिक वर्ग और राजनीतिक दल जो शक्ति और अधिकार के लिए परस्पर संघर्ष कर रहे हैं, अपने को एक ऐसे सुसंघटित समाज के रूप में परिवर्तित कर सकते हैं जिसमें प्रत्येक वर्ग का अधिकार उसकी सामाजिक उपयोगिता और उत्तरदायित्व पर निर्भर हो, और प्रत्येक व्यक्ति अपने उचित कर्म और स्थान पर आरूढ़ हो।

उन्नीसवीं शती के आर्थिक पुरुष का सामाजिक आदर्श लुप्त हुआ, तब उसका स्थान समूह मानव के आदर्श ने लिया, यह हम पहिले देख चुके हैं। अब वर्तमान युग में धीरे-धीरे सुसंघटित, संतुलित और विकसित व्यक्तित्व के नैतिक आदर्श पर जोर देनेवाला पूर्ण विश्वमानव का आदर्श उत्पन्न हो रहा है। इस विकासात्मक प्रगति में इसके बाद दूसरा कदम होगा—पूर्ण व्यक्ति पर आधृत मानव मात्र की हार्दिक और नैतिक एकता का दर्शन। विकासवादी, नीतिशास्त्र, मनोविज्ञान, अर्थशास्त्र और राजनीति सभी इसी आदर्श को दृढ़ कर रहे हैं। अब स्वाभाविक वर्ग व्यवस्था के रूप में परिणत एक पूर्ण मानव समाज की तात्त्विक एकता को भी स्वीकार किया जा रहा है।

समाज तथा कर्मानुसार चतुर्वर्ण की उत्पत्ति संबंधी प्राचीन हिंदू उपाख्यान के अनुसार आदि में प्रजापति ने यज्ञ द्वारा अपने को अनेक प्रजाओं के रूप में विभक्त किया। मनुष्य की सृष्टि के साथ साथ उसने वर्णों और उनके उचित कर्मों को भी नियत कर दिया। समाज तथा वर्णों की

उत्पत्ति यज्ञ से हुई। इस प्रकार प्रजापति के यज्ञ द्वारा ही सृष्टि चक्र चलता है। यज्ञ वास्तव मे एक प्रतीक है। "अपने कर्ता की ही तरह मनुष्य को यूप वद्ध यज्ञ-पशु की भाँति जीवन और मृत्यु को स्वीकार करना पड़ता है। उसे नाना सबधो मे बँधना पड़ता है और अपने भीतर के पशु को आत्मसयम के यूप में बाँधकर जीवन-यज्ञ में उसकी वलि देनी पड़ती है।" व्यक्ति का यज्ञ उसके तप स्वाध्याय आदि कर्मो का पालन है। ऐतरेय ब्राह्मण कहता है कि मनुष्य देवऋण पितृऋण और गुरुऋण इन तीन ऋणों के साथ जन्म लेता है। इन ऋणो का शोधन यज्ञ, संतानोत्पत्ति और स्वाध्याय द्वारा होता है। यज्ञहीन मनुष्य संपूर्ण विश्व-व्यवस्था को भंग करनेवाला होता है। वास्तव में वह चोर है, क्योकि बदले में विना कुछ दिए ही विश्व के पदार्थो का उपभोग करता है। यह तो ब्राह्मण धर्म हुआ। सामाजिक कर्तव्यों का पालन करने तथा संसार के दुख दूर करने के निमित्त निरतर कर्मारूढ़ रहना—यह महायान पंथ का बोधिसत्व को यज्ञ का आदर्श है। सर्वश्रेष्ठ महायान ग्रंथ 'सद्धर्म पुडरीक' में बुद्ध को विश्व के पद्म के रूप में माना गया है। विश्व मे अनासक्त होकर भी बुद्ध उसके सेवक है और वे प्रत्येक हृदय में उस पद्म को विकसित करते है।

संसार में मनुष्य सत्य, दया, और धर्म के पालन की प्रतिज्ञा करता और निर्वाण प्राप्त करने के बाद वह उसके फल का त्याग कर विज्ञानी के रूप में पृथ्वी पर रहता है। जो धर्म में दीक्षित नहीं है वे उसे नही देख पाते। परतु वह उन्हे देखता और उनकी रक्षा करता है। इस महायान महाकाव्य ने भारत, चीन, जापान और तिब्बत मे असंख्य कला-कृतियो को जन्म दिया जिनमें बुद्ध और बोधिसत्व की अद्भुत मूर्ति अकित है। यह है उस आदर्श की प्रेरणाशक्ति जिसने जन-साधारण के बीच से अनेक त्यागी और दयावान उत्पन्न किए।

भारत और यूरप के अतिरिक्त सर्वांगपूर्ण आध्यात्मिक वर्ण-व्यवस्था का दूसरा उदाहरण चीन में मिलता है, जहाँ छः श्रेणियाँ या छ कर्म-विभाग है—शिक्षक, विद्यार्थी, सैनिक, किसान, शिल्पी, व्यापारी, अभिनेता-दूत-दास इत्यादि। इनको परस्पर आवद्ध करनेवाला सिंगफ़ेन का कनफ्यूशियन आदर्श है जिसके अनुसार यदि प्रत्येक व्यक्ति अपना अन्य से सबध-सूचक नाम जान ले तो वह तदनुसार कर्म करता है और समाज-व्यवस्था दृढ़ बनी रहती है। सिंगफ़ेन नैतिक व्यवस्था द्वारा समाज को एक सूत्र मे बाँधता है। वह सम्राट् को दया और जनसाधारण को विनय सिखलाता है। उसके अनुसार प्रत्येक व्यक्ति को अपना ही कर्म करना चाहिए। प्रत्येक के लिये समाज में अपना नाम या पद जानना आवश्यक है जिसके अनुसार न केवल उसके अधिकार और कर्तव्य निश्चित होते है, वरन आचार और व्यवहार भी। चीनी नीति-सिद्धात मे जेन अर्थात् पारस्परिक सद्व्यवहार का भारी महत्व है। पिता-पुत्र, राजा-प्रजा, अग्रज-अनुज सभी के लिये जेन का पालन अनिवार्य धर्म है। चीनी नीति-सिद्धात सामाजिक व्यवहार को विशेष नैतिक नियम का रूप देने का सर्वोत्तम उदाहरण है। परंतु उसमे पारिवारिक सत् संबंध पर जोर अधिक है। भारत में कुटुम्ब की अपेक्षा विश्व-परिवार पर जोर देने का एक विशेष कारण है। यह है दिव्य या ईश्वरीय यज्ञ का तथा प्रत्येक प्राणी में स्थित विश्वात्मा का आदर्श और प्रतीक, जिनके लिये जनता ने अनेक वार महान त्याग किए है। इनकी प्रतिष्ठा आश्रम-धर्म के रूप में हुई—अर्थात् वर्ण या कर्म चाहे जो हो पर वृद्धावस्था में मुनिवृत्ति धारण करने की व्यवस्था की गई, जिसमें समस्त कर्मो का लय सामान्य विश्वधर्म में होता है। तथापि चीनी नीति-विधान में भी नाम के परिवर्तन के साथ नामी और उसके

सरणा में भी परिवर्तन के सिद्धांत द्वारा विश्ववाद के लिये मार्ग खुला रखा गया है। वस्तुत उसमें समाज और विश्व एक दूसरे से पृथक नहीं है।

ईरानी नीतिशास्त्र को अधार्मिक भी कहा जाता है परन्तु उपर्युक्त आदर्श के द्वारा वह हिंदू ऋत या धर्म अथवा ईरानी अश की श्रेणी में आ जाता है। ईरानी अश भी ऋत या धर्म (विश्व-व्यवस्था) ही है। संस्कृत शब्द ऋत ऋ (नियमन) धातु से निकला है। लैटिन रितस या ओर्डो इसीसे सबधित तथा विश्व-व्यवस्था के नियामक दिव्य यत्र के सूचक है।

भारतीय सृष्टि-व्यवस्था में विकास, पशु से मनुष्य और मनुष्य से अवतार, अर्थात् नीचे से ऊपर की ओर होता है और प्रत्येक अवस्था में जीवन और मन पर दिव्य यत्र की नियामक शक्ति काम करती है। वैदिक कर्म-काड साहित्य में ऐसे यज्ञ-दर्शन का विकास हुआ जिसमें यत्र को आदि कारण तथा सपूर्ण विश्व-व्यवस्था का प्रतीक माना गया। बाद के धार्मिक सिद्धांतो में कर्म की अपेक्षा नीतिपर अधिक जोर दिया गया। हिंदू विचारों के अनुसार धर्म केवल विश्व-व्यवस्था ही नही सामाजिक और नैतिक व्यवस्था का भी प्रतिष्ठापक है। वह वर्ण, धर्म और आश्रम को मर्यादित रखने वाली शक्ति तथा जन्म-जन्मांतर में भटकते हुए जीव के लिये न्याय और शांति का सिद्धात है। जब तक मनुष्य को कोई ऐसे साभिप्राय तथा परिपक्व ऐतिहासिक प्रतीक न प्राप्त हो जिनमें वह बुद्धि या अबुद्धिपूर्वक प्रवृत्त किया जा सके—जबतक उसकी जीवन, सत्य, प्रेम आदि की धारणा में एतत्सबधी कोई ज्ञात या अज्ञात प्रतीक न सम्मिलित हो, तबतक उसके सभी व्यक्तिगत कर्म और सामाजिक व्यवहार निरर्थक होंगे। उद्योग-प्रथा के बीच पडनेवाले आधुनिक मनुष्य का किसी मानस प्रतीक या आदर्श के अभाव में कोई नैतिक जीवन ही नहीं है जो उसे निरन्तर होनेवाली चिंता, निराशा और पराजय से उसकी रक्षा करे।

क्या विश्वकर्मा या विश्वपुरुष के यत्र का प्राचीन हिंदू प्रकार या दिव्य यत्र का ईसाई प्रतीक विज्ञान धर्म और कला में, जो कि आज परस्पर विरुद्ध हो रहे है, फिर से एकता और समन्वय स्थापित कर सकते है? क्या वर्णो के सविभाग की व्यवस्था द्वारा वह परस्पर विरोधी वर्गो और जातियों में एक सूत्रता ला सकता है? और क्या वह पिछडी जातियो से हाथ मिलाकर चलने के इच्छुक देशों के नेतृत्व के आधार पर विश्व-शासन और विश्व-सहयोग की स्थापना में सहायक हो सकता है? प्राकृतिक वर्ग-व्यवस्था के विरोधी अत्याचारी रावण प्रत्येक युग और समाज में हुआ करते है। परंतु किसी भी युग में प्राकृतिक वर्ण-व्यवस्था पर मानव चरित्र को भ्रष्ट करनेवाली और सामाजिक सुख-शांति को नष्ट करनेवाली आज की-सी विपत्ति नही आई। समूह-मानव की उच्छृखलता और अबुद्धि तथा समाज का समष्टिगत अहकार, ये संस्कृति को पशु की अवस्था में लिए जा रहे है। केवल सामाजिक धर्म या विश्वास ही इतिहास और समाज में परिवर्तन कर सकता है। हृदय को उद्-बुद्धि करनेवाले धार्मिक प्रतीक या आदर्श इतिहास की अपेक्षा अधिक सत्य होते है। ये हृदय में ऐसी सबल प्रवृत्तिया और अद्भुत शक्तियो को जगा देते है, जो जीवन से हताश असहाय मानव-बुद्धि का पथ प्रदर्शन करती है।

मानव समाज की दृढता के आदर्श के रूप में वर्गरहित समूह-समाज उतना ही असफल है

जितना समूह-मानव का आदर्श, जो व्यक्ति को नीचे की ओर घसीटता है। आज के मनुष्य को त्याग-मय पूर्ण समाज के आदर्श तक ऊपर उठना है जिसमें वर्ग या समूह प्राकृतिक कर्म-विभाग के आश्रित हों और जिसमें शक्ति और अधिकार का वितरण प्रेम और सेवा के अनुसार हो। आध्यात्मिक वर्ण-विभाग मे "सब से बड़ा पद सेवक का होता है; उसीका सब से बड़ा कर्तव्य और उत्तरदायित्व भी होता है।" वर्गरहित समाज के साम्यवादी आदर्श में सर्वश्रेष्ठ की लोक के प्रति सेवाभावना का वैसा निश्चय कदापि नही, जैसा यज्ञ के हिंदू प्रतीक या बोधिसत्व के बौद्ध आदर्श अथवा दान के ईसाई आदर्श में। प्राकृतिक वर्ण-व्यवस्था में त्याग और सेवा का आधार नर मे नारायण की भावना है। मनुष्य कर्मयज्ञ करता है, अर्थात् वह समाज की सेवा द्वारा अपने भीतर की ईश्वर प्रदत्त शक्तियों की ही पूर्णता को चरितार्थ करता है। उसमे वर्णो की मर्यादा उनके समाजिक या नैतिक उत्तरदायित्व के अनुसार होती है। इस प्रकार वर्ग अपने स्वार्थो के लिये परस्पर सघर्ष नही करते, वरन् अपने कर्मो की पूर्णता के लिये यत्नशील होते और इस प्रकार रामराज्य-सुलभ व्यक्तिगत और सामाजिक शाति स्थापित करते है। प्राचीन हिंदू, बौद्ध, ईरानी और ईसाई, सब के प्रेम और त्याग के आदर्श ऐसे ही हैं।

नीति और धर्मशास्त्र का कर्तव्य है कि मनुष्य और समाज के भाग्य-निर्माण के लिये प्रतीको का उपयोग रचनात्मक मार्गो मे करें। आज जब विज्ञान और मनो-विज्ञान प्रतीको का त्याग कर रहे है, यही उपयुक्त अवसर है कि नीतिशास्त्र मानव के कल्याण तथा सभ्यता की रक्षा के लिये विश्व-पुरुष और उसके विराट् यज्ञ का महत्व स्थापित करे। भाषा, धर्म, नीति, कला आदर्श और प्रतीक ये सब सस्कृति के भिन्न-भिन्न रूप है। ये ही वे साधन है जिनके द्वारा मानव-समाज मनुष्य और मनुष्य तथा मनुष्य ओर विश्व के बीच निरतर बढ़नेवाली एकता स्थापित करता है। गभीर और व्यापक प्रेम ओर सहयोग की भावना के लिये मनुष्य का प्रथम साधन प्रतीको और उपाख्यानो की रचना है। ये मनुष्य-जीवन का संबध अतीत तथा भविष्य से जोड़ते है। यह मानी हुई बात है कि मस्तिष्क वाले प्राणी केवल भविष्य का ज्ञान ही नहीं रखते, भविष्य का निर्माण भी कर सकते है। समस्त देहधारियों में मनुष्य को भविष्य का सब से अधिक स्पष्ट ज्ञान होता है और यह ज्ञान उसे भावी पीढ़ियो के हित के लिये त्याग मे प्रवृत्त करता है, जैसा अन्य प्राणियों मे नही पाया जाता।

अपनी प्रतीक और आदर्श निर्माण करनेवाली शक्ति के ही कारण मनुष्य अतीत और भविष्य दोनो की ओर अपनी दृष्टि पसार सकता है। अपनी इस शक्ति द्वारा वह भविष्य द्रष्टा बन जाता और अपनी देश-काल-विशिष्ट प्राणिसुलभ त्रुटियो पर विजय प्राप्त करता है। जब हिंदू 'ओम् नमो नारायणाय' मत्र का जप करता है या बौद्ध 'बुद्ध धम्म संघं शरणं गच्छामि' का उच्चारण करता है तब इस जप और उच्चारण के द्वारा वह केवल एक मत्र या मत का अगीकार नहीं करता, वरन् मनसा और कर्मणा सत्य, सौजन्य दया और विश्व प्रेम के प्रति आत्मसमर्पण के पथ पर अग्रसर होता है। मनुष्य आत्मशरण (आत्त सरण) तथा आत्म-प्रकार (आत्त दीप) के लिये ही बुद्ध की शरण जाता है। वास्तव में वह किसी अन्य की शरण न जाकर आत्म पौरुष द्वारा आत्मोद्धार के लिये यत्नशील होता है।

यदि मनुष्य की सामाजिक स्थिति उसे अपने मौलिक गुणो के विकास तथा आदर्शो की की उपलब्धि का अवसर नही देती तो वह स्वभावत धर्म, दर्शन, कला आदर्श और प्रतीको का आश्रय लेता है, और अपने प्रेम, सौजन्य और दया द्वारा अपनी सकीर्ण आर अव्यवस्थित परिस्थितियो का पुनर्निर्माण करता है। पूर्ण आत्म विस्मृत होकर विश्वात्मा से युक्त होना ही परम शान्ति तथा चरम सत्य है। यह योग बुद्धि, प्रेम तथा कर्म के ऐक्य या समन्वय के आश्रित है। विश्वपुरुष या विश्वात्मा के ज्ञान, भक्ति और कर्म के मार्ग विश्व की ही एकता के—एक में अनेक और अनेक में एक के लय के—मार्ग है। व्यक्तिगत तथा सामाजिक संस्कृति के समन्वय का यह चरम उत्कर्ष है।

"शात और स्थिर भाव से पथिक निर्वाण के पथ पर बढता जाता है। वह जानता है जितना ही अधिक उसके चरण क्षत विक्षत होगे उतना ही अधिक उसका आत्मा शुद्ध होगा।

"उसकी सुख लालसा सदा के लिये नष्ट हो जाती है। इच्छाएँ निर्मूल हो जाती है। परन्तु ठहरो शिष्य, अभी एक बात और है। क्या तुम दिव्य करुणा को नष्ट कर सकते हो? करुणा गुण नही है। वह सब विधानो का विधान तथा शाश्वत शाति है। वह अनत विश्वात्मा, समस्त पदार्थो के नित्य धर्म का प्रकाश तथा शाश्वत प्रेम का विधान है।

"जितना ही अधिक तुम उसमें अपने अस्तित्व का लय कर उससे एकात्म होगे उतना ही अधिक शुद्ध करुणारूप बनोगे।

"यही है आर्य मार्ग, पूर्ण बुद्धो का मार्ग।"
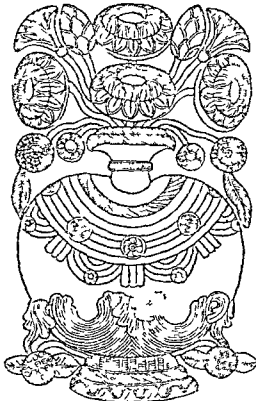
काल तथा कालमान

अवधेश नारायण सिंह

काल की प्रकृति

देश और काल को लक्ष्य करने की शक्ति प्रत्येक मानव मे है। यद्यपि हम सभी लोग काल के अतिक्रमण तथा देश के प्रसार से परिचित है तथापि अभीतक न तो काल और न देश ही का कोई ऐसी परिभाषा की गई है जो सामान्य रूप से स्वीकार हो। सभी युगो के दार्शनिको ने इनकी प्रकृति के सबध मे विचार किया है, किंतु उनमें मतैक्य नही है। सूर्यसिद्धांत हिंदुओ के प्राचीनतम ज्योतिष ग्रथों में से एक है, उसके अनुसार काल के दो भेद है—

लोकानामन्तकृत्काल. कालोन्य. कलनात्मक.।

अर्थात् "काल लोगो का अंत करनेवाला है, दूसरा काल कलनात्मक है।" वेदातियो की दृष्टि से काल चैतन्य का ही एक रूप है। शब्दरूप में उसका व्यवहार एक भूमिका के अर्थ मे होता है जो हमारे अन्य पदार्थो के ज्ञान का आधार है। उनके मत से चैतन्य से अतिरिक्त काल की कोई पृथक् सत्ता नही है।

आइंस्टीन ने यह मत उपस्थित किया है कि काल उसी अर्थ में 'मान' है जिस अर्थ मे लबाई, चौड़ाई और मोटाई। भौतिक विश्व मे, जब किसी घटना या तथ्य का देश (स्थान) और काल (उससे सबद्ध समय) दोनों दिए हो तो वह घटना या तथ्य पूर्णतया विनिर्दिष्ट हो जाता है। देश और काल के इस परस्पर सबध के विषय में आइस्टीन के पहले के चितकों के विचार बहुत अस्पष्ट है। केवल देश ही सत्य का रूप उपस्थित करने के लिये पर्याप्त नही है, इस तथ्य को क्लार्क मैक्सवेल ने बहुत पहले स्वीकार किया था जब उसने कहा था—"देश (स्थान) मे विभाजक चिह्न नही है। देश का कोई भी एक भाग किसी भी दूसरे भाग के ठीक समान है, जिसके कारण हम यह नही जान सकते कि हम कहाँ है।"

आइस्टीन को प्रधान श्रेय केवल इस बात का नही कि उन्होंने काल मे मान का गुण होने का अनुभव किया, वरन इस बात का भी है कि उन्होंने एक पूर्ण या निरपेक्ष मान—प्रकाश की गति—की स्थापना की, जो उनके अनुसार सभी परिस्थितियों में अप्रभावित रहता है और जो इस

परिवर्तनशील विश्व में अपरिमेय है। उन्होंने अपने विचार गणित के द्वारा व्यक्त किए और सूत्र निकाले, जिनकी सत्यता का पिछले दशक में काफी परख हो चुकी है। आज के भौतिक विज्ञान वादियों का यह सामान्य मत है कि आइन्स्टीन की स्थापना पूर्ण सत्य न हो, तो भी उसके अति निकट अवश्य है।

परन्तु आधुनिक दर्शनवेत्ता आइन्स्टीन के विचारों से सहमत नहीं है। हेनरी बर्गसन का कथन है कि 'देश केवल वर्णन और व्याख्या का साधन है जो स्वयं अज्ञेय है और जगत का भी ज्ञान कराने में असमर्थ है। दूसरी ओर, काल न केवल सत्य है, प्रत्युत केवल काल ही सत्य है।" अलेक्जेंडर का विचार है कि देश और काल दोनों ही सत्य के रूप हैं जिनमें देश का स्थान गौण है।" उनके मत से "देश-काल का शरीर देश और आत्मा काल है।" देश को काल में काल के द्वारा उत्पन्न मानना चाहिए। काल चतुर्थमान नहीं वरन अन्य तीनों की ही पुनरावृत्ति है।" बर्ट्रांड रसल का उक्त विचारों से तीव्र मतभेद है। उनका कहना है कि "दार्शनिक विचारों के लिये एक निश्चित हद तक काल के बंधन से मुक्त होना आवश्यक है। विचार तथा भाव में काल की तुच्छता का अनुभव करना ज्ञान का द्वार है।" इस प्रकार हम देखते हैं कि समय (काल) की प्रकृति के विषय में दार्शनिकों का मतैक्य नहीं है, यद्यपि इसके लिये उनके पास पर्याप्त समय था।

कालमान

व्यावहारिक दृष्टि से काल मापन करने और शुद्धकाल का ज्ञान रखने की रीति जानना अतीव आवश्यक है। परिवर्तन, स्थिति, स्थायित्व, वरन अस्तित्व के भी संबंध में हमारे विचारों में काल का अतिक्रमण पूर्वकल्पित रहता है। इन सब के संबंध में हमारी धारणाएँ अनुभव की पुनरावृत्ति की संभावना पर आधृत होती है। आकाशचारी पिंडों की गति के विषय में यह अनुभव की पुनरावृत्ति होता है। यथा सूर्य उदित होता है, अस्त होता है, फिर उदित होता है और यह क्रम चलता रहता है। सूर्य के दो उदयों के मध्य के काल को हिंदू ज्योतिषियों ने सावन दिन कहा है। दो सूर्योदयों के मध्य का काल सदा समान नहीं रहता, दिन प्रति दिन उसमें थोड़ा अंतर पड़ता है। आज हम जिस २४ घंटे के दिन का व्यवहार करते हैं वह एक वर्ष भर के सावन दिनों का निकाला हुआ मध्यमान है।

काल का दूसरा मान ऋतुचक्र द्वारा प्राप्त होता है। जब हम 'सोलह ग्रीष्म की कन्या' कहें तो उसका अर्थ होगा 'सोलह वर्ष की कन्या'। उत्तरभारत में वर्ष वसंत ऋतु के आगमन के साथ आरंभ होता है। दाक्षिणात्य के कुछ भागों में वह वर्षा के अंत में आरंभ होता है। इस वर्ष को अयन (ट्रापिकल) वर्ष कहते हैं।

हम सभी ने लक्ष्य किया है कि सूर्य वर्ष भर में एक बार उत्तर से दक्षिण, फिर दक्षिण से उत्तर को जाता हुआ मालूम होता है। सूर्य की इसी गति के कारण ऋतुएँ होती हैं? इस उत्तरायण और दक्षिणायन गति का एक चक्र पूरा करने में सूर्य को जो समय लगता है वही अयन वर्ष है और ज्योतिर्विद्या द्वारा उसका शुद्ध मान निकाला जा सकता है। दूसरा वर्ष, जिसका ज्योतिषी लोग प्रायः व्यवहार करते हैं, सौर (साइडीरियल) वर्ष है। यह स्थिर नक्षत्रों के योग में पृथ्वी द्वारा सूर्य की एक पूर्ण परिक्रमा में लगा हुआ काल है।

काल एक पूर्ण मात्रा अथवा निरपेक्ष मान माना गया है और पृथ्वी तथा अन्य आकाशीय पिंडों की गति से उसकी माप की गई है। परतु अभीतक इन गतियों के सबंध मे जो ज्ञान प्राप्त है उसके अनुसार ये पूर्णत. समान या एकरूप नही है। सौरवर्ष धीरे धीरे यद्यपि वहुत अल्प परिमाण में, वड़ा होता जा रहा है। पृथ्वी के आकार मे ह्रास तथा ज्वार-भाटा की क्रिया के कारण पृथ्वी के अपनी धुरी पर एकबार घूमने के काल मे, अर्थात् दिन की लंबाई मे, थोड़ा-वहुत परिवर्तन हुआ पाया गया है। ई० १८९७ में दिन .००४ सेकड वढ गया था और १९१८ में यकायक इतना ही छोटा हो गया था। इससे हम यह निष्कर्ष निकालने को वाध्य है कि समान या एकरूप स्थिति केवल वौद्ध पदार्थ है,। ज्योतिर्विद्या हमे कोई ऐसा समय-सूचक नही प्रदान कर सकती जो सर्वथा पूर्ण अथवा कम से कम समान स्थिति वाला है।।

यूरोपीय पंचांग

काल के, दिन से छोटे मान के लिये हम घंटे, मिनट और सेकंड का उपयोग करते है। काल की इन इकाइयों के लिये हम चाल्डियावालों के ऋणी है जिनसे यूरप वालों ने पचाग ज्ञान लिया। जव जुलियस सीजर रोम का अधिनायक हुआ तो उसने चाल्डियावालो के पचाग मे सुधार किया। उसने वारह महीनो का फिर से नामकरण किया और यह निश्चित कर दिया कि विषम सख्यावाले महीनों में ३१ दिन रहें और शेष मे—फरवरी को छोड़कर, जिसमें केवल प्रति चौथे वर्ष ३० दिन हों,—३० दिन हुआ करें। उसके उत्तराधिकारी आगस्टस ने यह निश्चित किया कि अगस्त मे, जिसका नाम उसीके नाम पर पड़ा, ३१ दिन रहे। अत. फरवरी मे से एक दिन निकाल कर अगस्त में जोड़ दिया गया। उसके वाद के सितवर और नववर महीनो मे ३० दिन कर दिए गए और अक्टूवर और दिसंवर में ३१ दिन। यह वर्ष ई० १५८२ तक उद्योग में रहा जव कि यह पाया गया कि जुलियन वर्ष वास्तविक वर्ष से ११ मिनट १४ सेकंड वड़ा है। पोप वारहवें ग्रेगरी ने उसमें आवश्यक सुधार किए और यह व्यवस्था दी कि शताब्दी का अंतिम वर्ष उसी अवस्था में 'लीप' वर्ष माना जाय जव उसकी संख्या ४०० से विभाज्य हो। इस समय यूरप तथा उससे प्रभावित सभी देशों मे ग्रेगरी पंचाग का ही सामान्यतया उपयोग होता है।

हिंदू पंचांग

हम देख चुके है कि यूरप में प्रचलित वर्ष मे १५८२ ई० तक ११ मिनट से अधिक का अंतर पड़ता था। हिंदू ज्योतिषियों को ई० पाँचवी शती में ही वर्षगणना की अधिक शुद्ध रीति ज्ञात थी। उनका पंचाग सूर्य और चंद्रमा की वास्तविक स्थितियों पर आधृत था। हिंदू पंचाग के अनुसार मास की गणना शुक्ल प्रतिपदा अथवा पूर्णिमा से होती है। मास के दिनों को 'तिथि' कहते है और वे हिंदू मध्याह्न-रेखा पर सूर्योदय के समय चद्रमा की वास्तविक स्थिति के अनुसार होते है। आकाश में सूर्य का पथ वारह भागों मे विभाजित है। इनमे से एक को पार करने में सूर्य का जितना समय लगता है उसे सौर-मास कहते हैं। जिस समय सूर्य एक भाग से दूसरे भाग में सक्रमण करता है उसे संक्राति कहते है। इस प्रकार वर्ष मे वारह सक्रातियाँ होती है। प्रत्येक चाद्र मास का नाम उस मास मे पड़ी हुई सक्राति के नामपर होता है। कभी-कभी किसी मास में सक्राति पड़ती ही नही, तव उस मास को अधिमास कहते है। सौर-मास तथा सौर-पचाग का उपयोग वगाल में होता है। भारत के अन्य भागों में चाद्र-सौर पद्धति का प्रयोग होता है। लगभग प्रति

३)। वर्ष के बाद वर्ष में एक चांद्र-मास जोड दिया जाता है जिससे ऋतुएँ प्रतिवर्ष लगभग एक ही चांद्र-मास में पड़ा करें। कभी-कभी एक ही मास में दो सक्रान्तियाँ हो जाती है, तब वर्ष में से एक मास निकाल दिया जाता है और ग्यारह ही चांद्र महीना का एक वर्ष होता है। परतु ऐसा बहुत कम होता था। सूर्य सिद्धात के अनुसार अगला क्षयमास शक सवत १८८५ अर्थात् ई० १९८३ में पड़ेगा। इस प्रकार हम देखते है कि हिंदू पचाग इस अर्थ में अधिक वैज्ञानिक है कि उसमें तिथि, मास और वर्ष की गणना सूर्य और चद्रमा की वास्तविक स्थितियों के अनुसार होती है। उससे हमें चद्रमा की वास्तविक स्थितियों के अतिरिक्त दिनमान, सूर्योदय-काल तथा योग का भी ज्ञान होता है। ग्रेगरी पचाग इसकी अपेक्षा कहीं सरल है किंतु उससे हमें कोई ग्रह-नक्षत्रादि सबधी ज्ञान नहीं होता।

घडियाँ

हिंदू पचांग में व्यवहृत काल की छोटी इकाइयाँ घटी, पल और विपल है। घटी दिन का साठवाँ भाग है, पल घटी का साठवाँ भाग और विपल पल का साठवाँ भाग। घटा, मिनट, सेकड की अपेक्षा ये इकाइयाँ अधिक स्वाभाविक और वैज्ञानिक हैं, क्योंकि विपल ठीक उतना समय है जितना पृथ्वी को चाप का साठवाँ भाग घूमने में लगता है।

मनुष्य द्वारा सर्वप्रथम प्रयुक्त कालमापक यंत्र धूपघडी है। ईसा के जन्म के बहुत पहले सभी प्राचीन देशों में इसका सामान्य रूप से उपयोग होता था। इसका सब से सरल रूप वह है जिसमें एक छड धरती में लबरूप गाड दिया जाता है। उसकी छाया की लबाई से दिन के समय का निश्चय होता है। सस्कृत में धूपघडी को शकु कहते हैं। रात में या बदली के दिन धूपघडी का कोई उपयोग नहीं हो सकता। धूपघडी के बाद व्यवहार में आनेवाले कालमापक यंत्र सभवत जलघडी और बालू घडी थे। जलघडी का सरलतम रूप है—एक घडा जिसकी पेंदी में एक छोटा-सा छिद्र हो। घडे को पानी से भर देते है जो छिद्र द्वारा धीरे धीरे बाहर निकल जाता है। घडे में पानी के तल से समय की सूचना मिलती है। बालूघडी में दो घडे होते हैं। ऊपरवाले घडे में बालू रहती है जो एक छोटे छिद्र द्वारा धीरे धीरे नीचेवाले घडे में गिरती है। बालू इस हिसाब से रखा जाता है कि ऊपर के घडे से नीचे के घडे में सपूर्ण बालू एक घटे में गिर जाय। भारत में अग्रेजों द्वारा आधुनिक घडियों के प्रचार के पहले इन्ही आदिम यत्रों का उपयोग होता था।

मध्यकाल में भार अथवा कमानी द्वारा चलनेवाली यात्रिक घडियाँ बनाने का प्रयत्न किया गया। इनमें सब से प्रसिद्ध घडी वह थी जिसे फ्रास के राजा पचम चार्ल्स के लिये वर्टेम्बर्ग के हेनरी डि विक ने बनाया था। १३७९ ई० में बनी हुई यह घडी १८५० ई० तक, अर्थात् लगभग ५०० वर्षों तक बराबर काम करती रही। डि-विक की घडी यात्रिक थी और आजकल की श्रेष्ठ घडियों की तुलना में अच्छी समय-सूचक नहीं थी।

१५१८ ई० में गोलिलियो द्वारा लोलक (पेंडुलम) का आविष्कार हो जाने से घडी निर्माण के सिद्धात में बहुत परिवर्तन हो गया। पहली लोलक घडी १६६५ में डच ज्योतिषी हाइगेंस ने बनाई। लोलक घडियाँ जलघडी अथवा यत्रघडी की अपेक्षा कहीं अधिक शुद्ध समयसूचक पाई गईं। परतु उनपर तापमान के परिवर्तन का प्रभाव पडता था और वे लोलक के तार के सकोच

और प्रसार के कारण जाड़ों में तेज और गर्मियों में धीमी चलती थी। इस दोष के परिहार के लिये उनमें पीतल और लोहे के तार इस प्रकार से लगाए गए कि पीतल के तार के फैलने से लोलक का चक्का ऊपर उठ जाय और लोहे के तार के फैलने से वह नीचा हो जाय। इस प्रकार लोलक का चक्का, जहाँ से वह लटकता है उस जगह से एक ही अंतर पर रहता है, सर्दी गर्मी के असर से वह घटता बढ़ता नही। इस प्रकार का लोलक, जिसे 'ग्रिड्-आयर्न' लोलक कहते है, सभी उत्तम घड़ियों मे लगा रहता है।

बड़ी घड़ी के साथ ही साथ जेब घड़ी का निर्माण भी होने लगा। छोटी घड़ी के निर्माण-क्षेत्र में स्विस लोग सर्वप्रथम थे और आज भी वे इस क्षेत्र मे ससार में सब से आगे हं।

१७२५ ई० में जब जॉन हरिसन नामक अंग्रेज अपना पहला 'कालमापक' (क्रानोमीटर) बनाने मे सफल हो गया तब तो शुद्ध घड़ियों के निर्माण का कार्य बहुत आगे बढा। कालमापक एक प्रकार की घड़ी है। जो इस युक्ति के साथ बनाई जाती है कि तापमान के परिवर्तन या हिलने-डुलने से उसकी चाल मे अतर नही पड़ता।

खुले समुद्र मे जहाज की ठीक स्थिति का पता लगाने के लिये देशातर का ज्ञान, अत. शुद्ध ग्रीनविच काल का ज्ञान होना आवश्यक है। १७१४ ई० में ब्रिटेन की सरकार ने आधे अश के भीतर देशांतर का निश्चय करने की रीति निकालने के लिये २५००० पौ० का पुरस्कार घोषित किया। ई० १७२५ में एक युद्धपोत के अधिकारियों ने हरिसन के कालमापक की जॉच की। वापसी यात्रा में कप्तान को भूमि दिखाई पड़ी जिसे उसने वही स्थान समझा जहाँ से जहाज चला था। किंतु हरिसन ने कालमापक द्वारा हिसाब करके बतलाया कि वह 'लिजार्ड' है। उसकी बात ठीक निकली। कप्तान के हिसाब में ९० मील का अतर था।

हरिसन के यत्र को शुद्धता की इस प्रकार जॉच हो जाने के बाद भी उसे २५००० पौंड का पुरस्कार नही मिला। उससे दूसरा यत्र बनाने को कहा गया जिसे उसने १० वर्ष में तैयार किया। इस नए कालमापक को जॉंच के लिये उसने रायल सोसाइटी को दिया। पूरी जॉच हो जाने के बाद रायल सोसाइटी ने हरिसन को अपना स्वर्णपदक दिया जो उसका सब से बड़ा पुरस्कार था। इसपर भी अग्रेज बनियों की देशातर परिषद् ने उसे उक्त घोपित पुरस्कार नही दिया हरिसन ने तब पार्लमेंट में आवेदनपत्र दिया, फलत. आविष्कर्ता को २५००० पौ० दिलाने के लिये एक विधान स्वीकृत हुआ। यद्यपि परिषद् ने १७६४ में एक निश्चय द्वारा स्वीकार किया था कि वह पूरा पुरस्कार पाने का अधिकारी है, तथापि वह पुरस्कार उसे १७७३ ई० तक अर्थात् उसकी मृत्यु के तीन वर्ष पूर्व तक नही दिया गया, जब कि न उसे धन की आवश्यकता थी और न संभवत. पुरस्कार की परवाह।

हरिसन के नमूने पर बने हुए हमारे आजकल के कालमापक इतने निर्दोष बनाए गए है कि वे वर्षो तक बिना एक सेकंड के घट-बढ के शुद्ध समय देते रहते है। घड़ियों को चलाने तथा रेडियो द्वारा समय की सूचना देने के लिये विद्युत् के उपयोग से शुद्ध समय रखने की समस्या कार्यत.

सुलझ गई हैं। सभी कालमापक, चाहे वे जहाज में हों या स्थल पर, संसार की बड़ी-बड़ी वेधशालाओं से रेडियो द्वारा दी गई समय-सूचना से मिलाकर शुद्ध रखे जाते हैं।

हाल में अणुघड़ी नाम की एक नए प्रकार की घड़ी बनाई गई है। कहा जाता है कि यह घड़ी सर्वथा निर्दोष होगी और पूर्णतः शुद्ध समय देगी। अभी तक यह प्रयोगावस्था में है, किंतु इसके विषय में जो कुछ ज्ञात है उससे अनुमान होता है कि कुछ ही वर्षों में कालमापन की समस्या पूर्ण संतोषजनक रीति से दूर हो जायगा।

हमारा विस्मृत संगीत

प्रह्लाद शास्त्री जोशी

महाकाल की कृपा से हमने कई चीजे पाई वैसी कई चीजे खोई भी। उन्ही में एक हमारा संगीत भी है। वर्तमान भारतीय सगीत, प्राचीन संगीत का प्रतिनिधि नही कहा जा सकता, न उसका परिष्कृत या विकसित रूप ही। वर्तमान संगीत के प्रचार या प्रयोग का उद्देश किसी न किसी रूप में क्षुद्र अर्थ-प्राप्ति से अधिक महान् है ऐसा कहना सत्य-संगत नही होगा।

प्राचीन संगीत के उपलब्ध ग्रथों में नाद या सगीत के उद्देश संबंध में विस्तार से कहा गया है। उसका सार थोडे शब्दों में कहे तो संगीत चतुर्विध पुरुषार्थ-प्राप्ति का और अंत में मुक्ति का प्रधान साधन है। आज के सौ दोसौ वर्षो से प्रचारित सगीत में, उसके हेतु के संवध मे, तीन पुरु-षार्थ या मुक्ति का प्रश्न ही नही। वादशाही जमाने से तो संगीत का प्रयोग मनोरजन में और वह भी हीन मनोरंजन मे होता आया है। यह बडे खेद का विषय है।

सगीत से चार पुरुषार्थ कैसे प्राप्त हो सकते है इसके उदाहरण भी प्राचीन संगीत के ग्रंथों में मिलते है। जैसे —

धर्मार्थ-काम-मोक्षाणां साधनं गीतमुच्यते।
यतस्तत प्रयत्नेन गेयं श्रोतव्यमेव च॥

धर्म :—

गुरुदेवद्विजातीना यत्पुरो गीयते नरै।
तद्धर्माय भवेत्तेषा पूर्णाय विजयाय च॥

अर्थ .—

भूमिपार्थ च यद्गीत तदर्थं जनयेत्स्फुटम्।
सन्मान भोगसंप्राप्ति प्रसिद्धिं च धरातले॥

काम .—

यद्गीत रमणीकर्णे मधुर याति कृत्स्नशः।
तेन काममवाप्नोति यद्यपि स्याद्विरूपक॥

मोक्ष —

निष्कल बद्धमानादि गीयते यन्च भक्तित ।
त मोक्षाय भवेत्पुसा निष्कामानामसशयम् ॥

उदाहरण —

वेणुराज —

कृत्वा पापसहस्राणि वेणुनामा महीपति ।
धर्मगीताद्विपाम्मासौ सप्राप्तस्त्रिदशालयम् ।

रावण —

रावणो भगमाराध्य गीतेनैश्वयता गत ।

केवल्ऽश्वतरनाग —केवलाश्वतरौ नागौ विभूति परमा गतौ ॥

वृक शूद्र —

कुष्ठी शूद्रो वको नाम वद्धमाने पुरे पुरा ।
हृत्वा वात स्वरूपाढ्य गतिलील्याश्रियावृत ॥

नारद पर्वत रैभ्य

हाहाहूहू जनक आदि —

नारद पर्वतो रैभ्यो गवर्वो च हाहाहूहू ।
एते गीतादगता मोक्ष तथान्ये जनकादय ॥
—(गीतालङ्कार)

हमलोग ऊपर के इतिहास को हँसी में उडा सकते ह । अतिशयोक्तिपूर्ण की छाप भी मार सकते हैं। पर प्राचीन पुरुषो को शुद्ध सगीत के प्रभाव में पूर्ण विश्वास था इसमें सदेह नही। वर्तमान युगमें भाव प्रधान हल्के गीतो को छोडकर जनता में शास्त्रशुद्ध सगीत का आकर्षण नही के बराबर ही है। प्राचीन ग्रथकार सगीत की मोहिनी से भलीभाँति परिचित थे। देखिये —

तृणादाऽपि पशुर्मूर्खो वनवृद्धोऽपि य पशु ।
सोऽपि गीताद्वश याति मगो भूपेषु का कथा ॥

आज की दशा तो ऐसी है कि जबतक मादक गीत चालू है तबतक महफिल जमा रहती है और जैसे ही कहीं स शास्त्रीय गीत की लकीर या तान आती है गडबडी मच जाती है। इस प्रकार सगीत के स्वरूप के साथ उसके आकर्षण से हम वचित हो गए है।

वदिक वाड्मय के तत्रवाडमय तक में सगीतगेय को उदात्त विज्ञान के प्रचार में सहयोगी माना जाता था इसके प्रमाण मिलते ह । वदिक छद प्रस्तार एव प्रात सवन, माध्यदिनसवन और साय सवन आदि के द्वारा वेद मत्रो के गभीर भावो को श्रुतिमधुर बनाने में भी यही दृष्टि थी। इससे अधिक विचार इस लेख में होना सभव नही है।

तत्रयुग में सप्त स्वरो से षट्चक्र (योग) एव कुडलिनी जागरण में सहयोग लिया जाता था। नाभि, मोड हृदय, दोनो पार्श्व, मस्तक से षडज—का सबध कहा गया और वर्ण-कमल के समान। नाभिमूल कुक्षिमध्य से ऋषभ—राका, और वर्ण हरित माना गया।

नाभिमूल, नासिका, श्रोत्र से गांधार— ग् का संबंध और वर्ण सुनहला
मध्यस्थान से गंभीर एव किंचित्तार मध्यम—म का संबंध और वर्ण काला
प्राणादि पंचप्राणों से पञ्चम—प की उत्पत्ति का संबंध और वर्ण काला
नाभि के अधोभाग से कंठदेश से—धैवत— ध का सबंध और वर्ण पीला
सभी स्वरों के आश्रय से निषाद—नि का संबंध और वर्ण सभी वर्ण वाला तात्पर्य

योगानुभूति अर्थात् नादानुसधान में भी संगीत का अटूट सवध था। ऋषियो की यही धारणा थी कि संसार में जितनी ध्वनि है सव में सगीत के सप्तस्वरों का तारतम्य है और यह अखिल विश्व ही संगीतमय है। सप्तस्वरों को निश्चित करते समय प्रकृति (सृष्टी) के विविध जीवों के स्वरों का ही अनुकरण किया गया था।

मयूर. षड्जमाख्याति गावो रंभति चर्षभम्।
आजाविके तु गाधार क्रौंचो वदति मध्यमम्॥
वसंते किल सप्राप्ते पचम. कोकिलोऽब्रवीत्।
अश्वस्तु धैवत प्राह निषाद कुंजर. स्वरम्॥
एते सप्तस्वराः प्रोक्ता यैर्व्याप्त सकल जगत्।
विज्ञातव्या बुधै. सम्यग्गीतशास्त्रविशारदैः॥

मोर के शब्द से सा, गाय के शब्द से रे, वकरी से ग,
क्रौंच के शब्द से म, वसंत ऋतु में कोयल के शब्द से प,
घोड़े के शब्द से ध, हाथी के चिंघाड़ने से नि लिए गए है।

यह स्पष्ट हो गया कि प्रकृति से सगीत का कितना अभिन्न सवध पूर्वकाल से माना गया है।

अवतक के विवेचन से ऋषिकाल की विचारधारा से कुछ परिचित कराने का प्रयास किया गया। इस विचारधारा से अपरिचित रहने के कारण आधुनिक सगीत अन्यान्य शारीरिक एक्सरसाइज् की तरह कठ की एक्सरसाइज् मात्र हो गया और क्रमशः हम उस उदात्त संगीत को विस्मृति के गर्त में अनजाने ढकेल चुके। आज के अच्छे मार्मिक संगीतज्ञ भी खानदानी गायन को छोडकर प्राचीन भारतीय संगीत की ओर दृष्टि डालने अथवा अनुशीलन करने का प्रयास नही करते, अत. आज के युग में यह आवश्यक है कि सशोधक प्राचीन संगीत के ग्रथोक्त स्वरूप को ही कम से कम समाज के सामने प्रस्तुत करें। इस लेख को लिखने में भी यही प्रधान हेतु है। इस कार्य में कई प्राचीन उपलब्ध ग्रथों का सहयोग लिया गया है।

प्राचीन-संगीत के हस्तलिखित ग्रंथ मुख्यत. तजौर मैसूर, त्रिवेंद्रम् और वीकानेर के प्राच्य पुस्तकालयों में संगृहीत है। ऐतिहासिक दृष्टि से उनके दो विभाग किए जाते है। प्रथम कालखण्ड को हम प्राचीन कह सकते है और दूसरे को मध्ययुगीन। उन्हीका यहाँ सक्षेप में परिचय कराना कई दृष्टि से आवश्यक प्रतीत होता है।

मध्यकालीन ग्रथो में प्राचीन (कालीन) ग्रथ के ग्राम, मूर्च्छना, जाति आदि विषयो का विशेष आभास नही मिलता। इन ग्रंथों में राग एव रागिनियों का ही विशेष विचार मिलता है। इस काल को थाट-राग (जन्य-जनक) व्यवस्था एवं राग-रागिनियों की व्यवस्था का काल कह सकते है।

यद्यपि आज के प्रचलित रागों का मध्यकालीन ग्रंथोक्त रागों से क्या संबंध है यह निश्चित नहीं हो सका है तथापि मध्यकाल के शुद्धस्वर ही कर्नाटक के 'कनकांगी' अथवा "मेचकी" अर्थात् काफी नाम से आज प्रचार में है। इससे यह आशा है कि अब रागों की शृंखला बाँधने में हम समर्थ हो सकेंगे।

आधुनिक ग्रंथ	ग्रंथकार	विषय
अभिनवराग-मञ्जरी	श्रीनिवास	१२५ रागों की संक्षेप में।
लक्ष्य सङ्गीतम्	श्री चतुर	पर व्यवस्थित व्यवस्था।

उपर्युक्त दो ही ग्रंथ आज के राग रागिनियों के प्रमाण ग्रंथ कहे जाते हैं।

तीनों कालखंडों के ग्रंथों में प्रत्येक कालखंड के अपने अलग विषय और विशेष हैं। उन सब का परामर्श इस छोटे लेख में करना संभव नहीं। कालमहिमा ही नवनिर्माण की जननी होती है। मौलिक सिद्धांतों में परिवर्तन संभव न होने पर भी बाह्यरूप परिवर्तन होता गया और एक समय ऐसा आया कि हमारा संगीत अन्ततः अपढ़ व्यक्तियों के हाथ में चला गया। इससे जो हानि हुई वह सब के सामने है।

भारतीय संगीत ग्रंथोंकी लेखन-शैली

प्राचीन एवं मध्यकालीन ग्रंथकार प्राय एक ही सुनिश्चित एवं सुदृढ मार्ग में ग्रंथ-निर्माण करते आए हैं। जो कुछ दोनों कालखंडों में भेद है वह केवल काल निदर्शक नवीन विषयों के चयन और संकलन में है।

यहाँतक कि अभिनव रागमंजरी, जो आधुनिकतम संगीत ग्रंथ है, विषय, परिभाषा और अनुक्रम में प्राचीन परंपरा का ही पक्षपाती है। जैसे —

> संगीतं ध्वनिसंभूतिं श्रुतयस्तद्व्यवस्थितिः ।
> शुद्धा स्वरा विकाराद्या स्वरस्थानानि तत्त्वतः ॥
> संवाद्यादि स्वराणां च लक्षणानि सविस्तरम् ।
> वर्गालंकारनामानि यथोक्तानि पूर्वसूरिभिः ॥
> ग्रामस्य लक्षणं तद्वन्मूर्छनालक्षणं तथा ।
> रागभेदाश्च सर्वेऽपि संपूर्णत्वादिभेदतः ॥
> तत्तन्मेलस्थरागाणां भेदकारणलक्षणम् ।
> आलापलक्षणं गातृगुणदोषानुदाहृतम् ॥
> नाना उदग्राहमूर्ताश्च स्वयं रागाणदारा ।
> एतावन्ति च वस्तूनि ग्रंथेऽस्मिन्नकिंतानि हि ॥

श्रुतिस्वर आदि का विस्तार से वर्णन करने के उपरान्त मेल एवं राग आदि वर्णन करना ही पूर्व-सूरि-प्रयुक्त मार्ग है। और यह सर्वथा युक्तिसंगत भी है।

भरताचार्य से आरंभ कर आजतक के संगीतशास्त्र के विवेचन करनेवाले प्राय ध्वनि के बाद ही श्रुति का विवेचन करते हैं। श्रुति शब्द श्रु श्रवणे धातु से बना है और सप्तस्वरों के अति-

सूक्ष्म नाद का व्यंजक है। उसका श्रूयते इति श्रुति. यही स्पष्ट व्याख्या है। सगीतोपयोगी प्रत्येक नाद श्रुति के अंदर आ जाता है। इन नादो की सख्या एकमुख से २२ मानी गई है। इन अतिसूक्ष्म नादों का उच्चारण कंठ से उतना स्पष्ट नही हो सकता जैसे किसी ततवाद्य से (वीणा आदि से) "वीणायामेब संग्रह." ऐसा भरत का मत है। रत्नाकर के टीकाकार कल्लिनाथ पडित भी "शरीरे उक्त सख्याकनाडीसनिवेशस्य प्रतिस्थानं तत्तच्छ्रुत्या नादस्य परोक्षत्वात्तत्तत्सद्भावे संदेह: स्यादिति तन्निरासार्थ प्रत्यक्षत. संपादयितु प्रतिज्ञाय निर्दिशति।' सिंह भूपाल कहते है:—तदुक्तं संगतिसमयसारे ते तु द्वाविंशतिर्नादा न कंठेन परिस्फुटाः शक्या दर्शयितु तस्माद्वीणाया तन्निदर्शनम् । पहिले ही लिख चुके है कि श्रुतियों की २२ सख्या सर्वसंमत है। इन वाईस श्रुतियोमें ही शुद्ध एव विकृत स्वरों की स्थापना की जाती थी। सप्तस्वरो को २२ सख्या में बाँटने मे दो मत अवश्य थे। भरत और शांर्गधर जैसे प्राचीन ग्रंथकार श्रुति की एक निश्चित मर्यादा को मानकर, २२ श्रुतियों को सप्त स्वरों में समसंख्या में विभाजित करते थे। मध्यकाल के ग्रंथकार इस नियम को न मानकर एक दूसरे ही मत को स्वीकार करते थे और उसे अधिक विज्ञान समत मानते थे। उनका कहना था कि श्रुतियों को विषम संख्या में ही विभाजित करना युक्तिसगत है, जैसे:—

उत्तरोत्तरसकोचस्त्वाकाशे भवति ध्रुवम् ।
समभागप्रकल्पोऽत्र न साधु मन्यते बुधै ॥
तस्माद्भागास्तु विषमा. कल्पिता भरतादिभि. ।

—भावभट्ट

उक्त श्लोक में जिस भरत का उल्लेख किया गया है उसे नाट्यशास्त्रकार भरत से भिन्न होना चाहिए। क्योंकि, जैसा पहिले कहा गया है, नाट्यशास्त्रकार भरत समविभाग के ही माननेवालो में है। अधिक सूक्ष्मता से विचार किया जाय तो श्रुतियों को वाईस संख्या मे ही विभाजित करने का हेतु केवल व्यवहार ही हो सकता है। अन्यथा:—

आनन्त्यं हि श्रुतीना तु सूचयन्ति विपश्चित ।
यथा ध्वनिविशेषाणामभानं गगनोदरे ॥

—गीतालकार

ध्वनि या शब्द आकाश का गुण है और वह आकाश अनत अपरिमेय माना गया है। श्रुतियों को विषम संख्या में विभाजित करनेवाले एक नियम बड़े आदर से स्वीकारते थे।

चतुश्चतुश्चतुश्चैव षडजमध्यमपञ्चमा ॥
द्वे द्वे निषाद गाधारौ त्रिस्त्री ऋषभ धैवतौ ॥

भावार्थ:—षड्ज—सा, मध्यम—म, पचम—प के मध्य मे ४।४ श्रुतियाँ है। गाधार—ग, निषाद—नि में दो-दो श्रुतियाँ और ऋषभ—रे, धैवत—ध मे तीन-तीन श्रुतियाँ होती है। यह प्राचीन नियम आज भी मान्य है। एक भेद है और वह है श्रुतियो पर शुद्ध या विकृत स्वरो के निवेश में प्राचीन (मध्ययुग) मत —

स्वर:—सा, रे, ग, म, प, ध, नि,
श्रुति.—४, ७, ९, १३, १७, २०, २२,
वर्तमान मत स्वर:—सा, रे, ग, म, प, ध, नि,
श्रुति:—१, ५, ८, १०, १४, १८, २१,

इन मतभेदा का यहा विवचन अस्थान में होनेपर भी प्राचीन व मध्ययुगीन विद्वानों की पद्धति के परिचय के लिये एक उदाहरण के रूप में रखा है। ग्राम, मूर्च्छना आदि विषयो का परिशीलन यहा आवश्यक होनेपर भी सभव न होने से पाठको को इसके लिये प्राचीन ग्रथो के ही देखने का अनुरोध करते है। प्राचीन सगीत ग्रथो का परिशीलन एक अन्य दृष्टि से भी अत्यत आवश्यक है। लेखक के मन में यह मत रखते हुए तनिक भी हिचकिचाहट नही होती, क्योकि वर्तमान सगीत की दशा को सुधारने में उसको सुव्यवस्थित रूप देने से प्राचीन मेल और तज्जन्य राग विवेचन वाली प्राचीन पडितो की पद्धति का अनुकरण करना ही श्रेयस्कर होगा।

आगे चलकर सगीत का १२ स्वरो पर ही आश्रित रहना अनिवार्य है। अन्य श्रुतियो का विचार विमर्श अनावश्यक होता गया।

आजकल के शास्त्रीय सगीत (क्लैसिकल) में १००, २०० राग ही गाए जाते है। पर हमारा विस्मृत-सगीत इससे अधिक समृद्ध था। अनत-श्रुति-भेदो से अगणित मूर्च्छना या मेलो का सृजन करके असख्य रजक राग गाना प्राचीन सगीत का मूलाधार था। राग क्या है, किसे कहते है, उसकी व्याख्या तो ऐसी ही कायम है।

योऽय ध्वनिविशेषस्तु स्वरवर्णविभूषित।
रञ्जको जनचित्ताना स राग कथ्यते बुधै ॥

१५वीं शताब्दी के ग्रथकार अहोबल पडित ने प्रथम २९ स्वरो का विचार करते हुए एक एक के श्रुतिभेद से असख्य मूर्च्छना और कूटनानो का विचार किया है। पर रागाध्याय में घटाते घटाते १२ स्वरो पर ही राग रागिनियो को सुस्थिर बना लिया। इसका कारण 'अनुपयोगित्वात्' बतलाया है। एक समय जो चीज उपयोगी होती है, कालक्रम से वही चीज अनुपयुक्त होती जाती है। इसका कारण एकमात्र व्यवहार होता है। जो चीज व्यवहार में किसी कारण नही रहती। वह क्रमश अनुपयुक्त बनती जाती है। यही दशा सगीत के विस्तार में हुई। अहोबल के समय से ही सभवत —विस्तृत सगीत-सकोच में पड गया। उसके बाद के ५०० वर्ष हमारी दृष्टि में अनत सगीत सात बनने के है। गायन सीमित, गेय सीमित, गान-परिभाषा-सीमित, जाननेवाले सीमित, प्रचार-सीमित, दृष्टि सीमित यहातक कि स्वर और वर्ग भी सीमित बनते गए। आज की दशा में गान और सीमित का नाता-सा जुड गया है। कुछ गायको को छोडकर सभा और पैसों के पीछे पडनेवाले गायक गली-गली में अवश्य दिखने लगे है।

विस्मृत सगीत के विशेष

उपवेदो में गांधर्व वेद भी एक है। गधर्वों से गायन का सबध क्या था इसके लिये यहाँ विशेष न कहकर इतना ही कहना पर्याप्त है कि, गधर्व और किन्नर की जीवनलीलाएँ सगीत से ही आरभ होती थी और सगीत में समाप्त होती थी। पुराणो में यक्ष, गधर्व किन्नर आदि जातियाँ गायनशास्त्र उपासिकाएँ मानी गई है। विद्यमान भारत में जब कि जन्मजात प्रवृत्ति और कर्म का मूल्य कुछ भी आका नही जाता तब भी कई ऐसी जातियाँ वर्तमान है जिनका जीवन, जन्म से, और परपरा से सगीत, नृत्य आदि कलाओ की उपासना में ही सर्वात्मभाव से समर्पित होता आया है। युगो ने करवटें बदली, आँधी और तूफानो ने ससार को कुछ का कुछ कर दिया। फिर भी ये

भारतमाता के लाडले सपूत कलाओं की मूकसेवा में वलि चढ़ने में ही अपने को कृतार्थ मानते आए हैं। फिर भी उनको हम अशिक्षित अपढ आदि कोटियों में समाविष्ट करने मे ही व्यवहार की सार्थकता मानते है। क्या इस मुक्तिकाल में भी इन कलाकारों की मूककरुणा को निहारा जायगा। हाँ, तो आजकल की इन जातियों से प्राचीन गधर्वो आदि का कुछ नाता जुड सकता है, आदि प्रश्न वंशतिहास या मानव इतिहास के विद्वानों को सौपकर प्रस्तुत विषय पर ही कुछ कहना उपयुक्त होगा।

गीत के प्राचीनकाल में दो प्रमुख भेद :—

रंजक स्वरसंदर्भो गीतमित्यभिधीयते।
गांधर्वगानमित्यस्य भेदद्वयमुदीरितम्॥

आकर्षक स्वर-संदर्भ का नाम गीत है। उसके गांधर्व और गान, इस प्रकार दो प्रमुख भेद होते हैं।

गांधर्व गीत :—

अनादिसंप्रदाय यद्गंधर्वै संप्रयुज्यते।
नियत श्रेयसो हेतुस्तद्गांधर्व जगुर्बुधा.॥

रत्नाकर

अनादिकाल और परंपरा से चला आया और श्रेयस् अर्थात् परम कल्याण को देनेवाला गीत गाधर्व कहलाता है। गान :—

यत्तुवाग्गेयकारेण रचितं लक्षणाचितम्।
देशी रागादिषु प्रोक्तं तद्गानं जनरजनम्॥

वाग्येयकारमे (२८ गुणों से युक्त इन गुणों की चर्चा आगे होगी) वनाया हुआ, लक्षणों से युक्त, जनता का रंजन करनेवाला रागादि में प्रयुक्त होने योग्य गीत, गान नाम से व्यवहृत होता था। गाँधर्व, श्रेयस् अर्थात् मुक्ति के उद्देश से गाया जाता था और गान जनता के मनोरजन को महत्त्व देते हुए भुक्ति या ऐश्वर्य आदि पदार्थो को प्राप्त करानेवाला होता था। टीकाकार कल्लिनाथ ने अपनी तरफ से गाँधर्व को मार्ग और गान को देशी नाम से कहा है। गाँधर्व या मार्ग सगीत क्या था, उसका स्वरूप किस प्रकार का था। उसमें स्वरों का किस प्रकार प्रयोग होता था कि जिससे श्रोताओ के मन मे भौतिक पर अतिप्रिय वंधनों को लगाने की असभव प्रवृत्ति जाग उठती थी। अनत अथवा नादब्रह्म को लक्षित करनेवाला यह संगीत हमारे दुर्भाग्य के प्रचार से हट गया। उसको हम सर्वथा विस्मृत कर चुके है।

सर्वेषामेव लोकाना दु खशोक विनाशनम्।
यस्मात्संदृश्यते गीत सुखद व्यसनेष्वपि॥

—भरत.

संगीत दु.खशोक का नाशक आपत्तिकाल में भी सुख देनेवाला होता है।

गान :—

देशे देशे जनाना यद्रुच्या हृदयरंजकम्।
गानं च वादन नृत्य तद्देशीत्यभिधीयते॥

—बलाकर

शुक्ल जी के निबंध

जगन्नाथ प्रसाद शर्मा

प्रधानतया शुक्लजी आलोचक हैं इसलिये उनकी रचनाओं में विचार-वितर्क और विश्लेषण-विवेचन ही मुख्य है। उनके लिखे हुए विचारात्मक निबंधों में भी इसी सूक्ष्मेक्षिका का प्रसार दिखाई पड़ता है। विषय के आग्रह से मनोवैज्ञानिक चिंतन-पद्धति का प्रयोग सर्वत्र मिलता रहता है। इस पद्धति का मूल रहस्य न समझनेवाले पाठक प्रायः शुक्ल जी के इन निबंधों को निबंध रूप में स्वीकार करने में कुछ हिचकते हैं, पर इस हिचक अथवा संकोच का कोई बुद्धिसंगत कारण नहीं दिखाई पड़ता क्योंकि यथार्थ में ये विचारात्मक निबंध मनोविज्ञान के तात्त्विक अनुशीलन अथवा शास्त्रीय स्वरूपबोध के परिचायक नहीं हैं। उनमें अनुभूतिमूलक कथन ही विशेष रूप में पाए जाते हैं। किसी मनोविकार के जो परिस्थितिजन्य अनेक प्रकार के भेद-वर्ग और अवांतर अवस्थाएँ गिनाई या समझाई गई हैं उनमें मनस्तत्व संबंधी विवेचना उतनी नहीं की गई मिलती जितनी लोकगत व्यवहार की चर्चा। ऐसी अवस्था में इनकी निरापत्ति संज्ञा निबंध ही इनके लिये उपयुक्त है।

शुक्लजी ने निबंध के विषय में स्वयं कहा है कि—

'आधुनिक पाश्चात्य लक्षणों के अनुसार निबंध उसी को कहना चाहिए जिसमें व्यक्तित्व अर्थात् व्यक्तिगत विशेषता हो। बात तो ठीक है यदि ठीक तरह से समझी जाय। व्यक्तिगत विशेषता का यह मतलब नहीं कि उसके प्रदर्शन के लिये विचारों की शृंखला रखी ही न जाय या जानबूझ कर जगह-जगह से तोड़ दी जाय, भावों की विचित्रता दिखाने के लिये ऐसी अर्थयोजना की जाय जो उनकी अनुभूति के प्रकृत या लोकसामान्य स्वरूप से कोई संबंध ही न रखे अथवा भाषा से सरकसवालों की-सी कसरतें या हठयोगियों के से आसन कराए जायें जिनका लक्ष्य तमाशा दिखाने के सिवा और कुछ न हो।

संसार की हरएक बात और सब बातों से संबद्ध है। अपने-अपने मानसिक संघटन के अनुसार किसी का मन किसी संबंध सूत्रपर दौड़ता है, किसी का किसी पर। ये संबंधसूत्र एक दूसरे से नथे हुए, पत्ते के भीतर नसों के समान, चारों ओर एक जाल के रूप में फैले हैं। तत्त्वचिंतक या दार्शनिक केवल अपने व्यापक सिद्धांतों के प्रतिपादन के लिये उपयोगी कुछ संबंध सूत्रों को पकड़-

कर किसी ओर सीधा चलता है और बीच के ब्योरों में कहीं नहीं फँसता। पर निबंध लेखक अपने मन की प्रवृत्ति के अनुसार स्वच्छंद गति से इधर-उधर फूटी हुई सूत्र शाखाओं पर विचरता चलता है। यही उसकी अर्थ संबंधी व्यक्तिगत विशेषता है।[1]

'विचारों की वह गूढ़ गुंफित परंपरा उनमें (पं० महावीर प्रसाद द्विवेदी) नहीं मिलती जिससे पाठक की बुद्धि उत्तेजित होकर किसी नई विचार-पद्धति पर दौड़ पड़े। शुद्ध विचारात्मक निबंधों का चरम उत्कर्ष वहीं कहा जा सकता है जहाँ एक-एक पैराग्राफ में विचार दबा-दबाकर कसे गए हों और एक एक वाक्य किसी संबद्ध विचार खंड को लिए हों।[2]

शुक्ल जी द्वारा स्थापित उक्त मान्यता पर्याप्त मात्रा में स्पष्ट तथा स्फुट है। इसमें उन्होंने दो विशेषताओं की ओर ध्यान आकर्षित किया है। निबंध में व्यक्तित्व की पूरी झलक हो और वह सुगठित हो—आदि से अंत तक। अब जिन्हें शुक्लजी के अध्ययन-अध्यापन की पद्धति और प्रकृति का ज्ञान होगा उन्हें तो इन मान्यताओं का यथार्थ परिचय मिल जायगा। अन्य मीमांसकों को इस क्षेत्र की जानकारी प्राप्त करनी पड़ेगी। उनके लिये यह कहना पड़ेगा कि शुक्लजी के अध्ययन की परिपाटी ही निराली थी, व्यक्तिगत थी—व्यक्तित्व से भरी थी। शुक्लजी पढ़ते कम थे पर अध्ययन और चिंतन अधिक करते थे। वे किसी की रचना अथवा विचार-विमर्शपर स्वयं बहुत तर्क-वितर्क करते रहते थे और अपनी व्यक्तिगत विचार परंपरा में अपने ढंग से या तो उसका समाहार कर लेते थे अथवा स्थिर रूप से शुद्ध अलग्योझा ही स्वीकार कर लेते थे। उनकी अपनी विचार परंपरा में शास्त्र, जीवन और जगत् का समन्वय रहता था। अपने शास्त्रीय ज्ञान अथवा प्राप्ति को कहीं तो वे जीवन और जगत् के व्यावहारिक रूपों में ढालकर उसकी सच्ची प्रकृति को समझने की चेष्टा करते थे या सूक्ष्म विश्लेषण के द्वारा संधि ढूढ़कर जीवन के अनुरूप शास्त्र की ही व्यवस्था कर लेते थे। इसी तरह विवेचना-क्रम को शास्त्रों से लेकर अपनी विचारमयी अनुभूतियों की पूरी छानबीन करते थे। विचार, प्रवृत्ति और भावनाओं की सैद्धांतिक सत्ता को समझकर काव्य, पुराण और इतिहास के साक्ष्यपर उसका शोधन करने के पश्चात् जीवन के साथ उसका संतुलन करते थे। इस प्रकार सार्वदेशिक सुस्पष्टता के वे बहुत कायल थे।

यह अर्जित और अनुभूतिमूलक बोधवृत्ति शुक्लजी की समस्त रचनाओं मे दिखाई पड़ती है। निबंधों और अन्य स्थलों पर उनके बात कहने में जो एक प्रकार की सफाई मिलती है उसका रहस्य यही है। उनके सिद्धांत प्रतिपादन अथवा अनुभूति प्रकाशन में भी कोई अंधकार नहीं मिलेगा भले ही कोई उस सिद्धांत अथवा उसकी विवेचना से सहमत न हो, पर कोई उनकी कही अथवा लिखी हुई बात को अन्यथा रूप में समझे ऐसा नहीं हो सकता। इसी विभ्रांत विचार-परिष्कार का सीधा प्रभाव उनकी भाषाशैली पर लक्षित होता है। विषय जितना स्पष्ट उनके अंत.करण में रहता था उतना ही उनकी लेखनी से निकलकर भी दिखाई पड़ता था। ठीक इसी अर्थ में भाषाशैली अंत-करण की प्रतिच्छाया कही जाती है।

---

१. हिंदी साहित्य का इतिहास, १९९७ संस्करण, पृ० ६०५–६।

२. वही, पृ० ६०९–१०।

स्वच्छ चिंतन और व्यवहारमध्य पग्ग के कारण शुक्लजी की रुचि-अरुचि सुनिश्चित आधार-पर खडी दिखाई पडती थी। इसीलिये निबध लिखते समय जहा उनकी रुचि के अनुकूल विषय एव प्रसग मिल जाता था वहाँ की सारी विचार-योजना और विवेचना पद्धति में भावुकता का पर्याप्त योग प्राप्त होता था। इसी तरह जहा विषय की लपेट में ऐसा प्रसग आ जाता था जिसके लिये उनके मन में अरुचि रहती थी वहाँ आक्षेप, व्यग और आक्रोश का भी रूप स्पष्ट प्रकट हो जाता था। यह वैयक्तिक विशेषता उनकी सब प्रकार की कृतियो में समान रूप से दिखाई पडती थी। रूप रुचि-अरुचि सबधी कठोर ऋजुता के अतिरिक्त शुक्ल जी स्वभाव से ही गभीर थे, पर विनोद परिहास के भी पूरे पडित थे। उनका सपूर्ण बाल्य और यौवनकाल खेत-खलिहानो तथा प्राकृतिक सुषमा के बीच व्यतीत हुआ था। इसलिये सवत्र सात्त्विक गाभीर्य के बीच उनकी प्रकृति-प्रियता और विनोदशीलता सुगन्धित मिलती है।

अध्ययन-अध्यापन के क्षेत्र में शुक्लजी के निबधो का प्रचार उनके जीवनकाल में ही हो गया था। उनके सबध में भिन्न भिन्न प्रकार की आलोचनाएँ भी होती थी और उनके कानो तक पहुँचती थी। कुछ लोग ऐसे भी मिले जो यह समझते थे कि उनके निबध प्राय विषय प्रधान थे। उनमें व्यक्ति की प्रधानता न होने से वे अपनी परिभाषा परिधि के बाहर हो गए है। इसपर शुक्लजी ने अपनी ओर से आक्षेप का उत्तर देते हुए लिखा है—

'इस पुस्तक में मेरी अतर्यात्रा में पडनेवाले कुछ प्रदेश है। यात्रा के लिये निकलती रही है बुद्धि, पर हृदय को भी साथ लेकर। अपना रास्ता निकालती हुई बुद्धि जहा कहीं भी मार्मिक या भावाकर्षक स्थलो पर पहुँची है वहा हृदय थोडा बहुत रमता और अपनी प्रवृत्ति के अनुसार कुछ कहता गया है। इस प्रकार यात्रा के श्रम का परिहार होता रहा है। बुद्धिपथ पर हृदय भी अपने लिए कुछ न कुछ पाता रहा है।

'बस, इतना ही निवेदन कर के इस बात का निर्णय मै विज्ञ पाठको पर ही छोडता हूँ कि ये निबध विषय प्रधान है या व्यक्ति प्रधान।'[1]

आमुख रूप में इतना कह चुकने पर अब प्रश्न यह उत्पन्न होता है कि निबध की जो परिभाषा स्वय शुक्लजी ने उपस्थित की है और अपने आलोचको को जो उन्होंने उत्तर दिया है उसके विचार से उनके निबधो की परीक्षा करने पर क्या परिणाम निकलता है? इसके लिये साक्षी रूप मे एक निबध लेकर विवेचना की जा सकती है। 'लोभ और प्रीति' शीर्षक निबध स्वय लेखक को पसद था और अन्य आलोचको को भी प्रिय है। उसमें कृतिकार की सभी प्रवृत्तियाँ स्फुट है और सरलता से उनका दिग्दर्शन सभव है। विचार विमर्श के लिये लक्ष्य केवल एक है निबध की उक्त परिभाषा के अनुरूप रचना में क्या विशेषताएँ मिलती है, कहाँतक वह विषय प्रधान है और कहाँ कितनी लेखक के व्यक्तित्व की छाप है।

जहाँतक वस्तु अथवा विषय की प्रधानता का प्रश्न है इतना तो आरभ में स्पष्ट रूप से कहा जा सकता है कि शुक्लजी के निबध विचारात्मक अवश्य है पर विषय-प्रधान किसी भी अथ

१ चिंतामणि, प्रथम भाग, 'निवेदन'।

मे नही है। मनोविकारो अथवा विभिन्न भावो की, जिस ढंग से तद्विषयक शास्त्रीय ग्रथो मे विवेचना की जाती है वह परिपाटी किसी भी निबंध में गृहीत नहीं हुई है। मनस्तत्व अथवा मनो-विज्ञान के ग्रथों की योजना ही भिन्न आधार पर होती है। वहाँ विचार-योजना का क्रम मूल आधार को आद्यत इस प्रकार पकड़े रहता है कि विकास का उतार-चढाव सुसबद्ध तो बना ही रहता है पर उसकी एकोन्मुखता तर्कमयी दिखाई पड़ती है। विषय का प्रसार सर्वत्र शास्त्र की मान्य गतिविधि के अनुसार नियंत्रित होता है और अंगागी सभी छोरो की व्यवस्था मे एकसूत्रता सदैव परिव्याप्त रहती है। सैद्धांतिक विषय की विवेचना मे विवेचक सर्वथा तटस्थ एव रूक्ष ढग से बुद्धि-प्रधान रूप धारण किए रहता है। यहाँ उसका रागात्मक तत्व मुखर नही होने पाता। अपनी व्यक्तिगत रुचि-अरुचि के अनुरूप वह न तो कही मात्रा से अधिक रम सकता और न वैधानिक अथवा आवश्यक अंग की उपेक्षा कर शीघ्रता से आगे बढ़ जा सकता है। शुद्ध विषय-प्रधान मीमासा मे मीमासक का स्वरूप जितना अधिक प्रच्छन्न अथवा ऊपरी भूमि से दूर रहेगा वस्तु अथवा विषय का बोध उतना ही अधिक स्फुट एव शास्त्रीय सिद्ध होगा। उसके दृष्टात भी विषय की प्रकृति के ही मेल मे रहते है। उनमें भी मीमासक का व्यक्तित्व खुलता नही।

इस प्रकार की कोई बात शुक्ल जी के किसी निबध मे कही नही प्राप्त होती—विशेषकर 'लोभ-और प्रीति' में। जहाँतक सामान्य रूप से लिखने-पढने मे देखा गया है सिद्धात की दृष्टि से इस प्रकार लोभ और प्रीति का निवेदन ही नही किया गया है। जहाँ किसी मनोविकार का आरंभिक परिचय शुक्लजी उपस्थित करते हैं वही वे मनस्तत्व के रूक्ष स्तर को छोड़कर अनुभूतिमूलक व्यवहार भूमिपर खड़े दिखाई पडते है। फिर दो असमान लक्षित होनेवाले भावो के मूल मे बैठी हुई एक ही मनोवृत्ति, परिस्थिति और दृष्टिभेद से कैसे दो भिन्न स्वरूप धारण कर व्यवहार जगत् और जीवन मे विभिन्न रगरूप प्रगट करती है इसको भी जिस प्रकार व्यावहारिक उदाहरणो से शुक्लजी ने समझाया है वह भी सिद्धांत-विवेचना की पद्धति पर नही है। यदि विषय के प्रसार-क्रम को देखा जाय तो वह भी न तो वैज्ञानिक ढंग से सजाया गया है न उसके भीतर आनेवाले विविध अवातर भेदों का मनस्तत्व संबंधी स्वरूप स्थिर किया गया है। ऐसी दशा मे विषय-प्रधान रचनाओ अथवा ग्रथो मे प्राप्त होनेवाले कोई लक्षण इस निबंध मे नही दिखाई पडते। तर्काश्रयी तत्व-चितन अथवा शुष्क वस्तु-प्रधान कथन मे निम्नलिखित पदावली कही भी व्यवहृत नही मिलेगी, और न व्यक्तिगत आक्रोश एवं उद्वेग ही इतनी छूट के साथ व्यक्त होंगे।

'बेचारा बहुत अच्छा था' प्रिय के मुख से इस प्रकार के कुछ शब्दो की संभावना पर ही आशिक लोग अपने मर जाने की कल्पना बड़े आनद से किया करते है।

'जब एक ही को चाहनेवाले बहुत से हो गए तब एक की चाह को दूसरे कहातक पसद करते। लक्ष्मी की मूर्ति धातुमयी हो गई, उपासक सब पत्थर के हो गए। धीरे-धीरे यह दशा आई कि जो बातें पारस्परिक प्रेम की दृष्टि से, धर्म की दृष्टि से की जाती थी वह भी रुपए पैसे की दृष्टि से होने लगी। आजकल तो बहुत सी बाते धातु के ठीकरों पर ठहरा दी गई है। पैसे से राज-संमान की प्राप्ति, विद्या की प्राप्ति और न्याय की प्राप्ति होती है। जिनके पास कुछ रुपया है, बड़े-बड़े विद्यालयों में अपने लड़कों को भेज सकते है, न्यायालयों में फीस देकर अपने मुकदमे

दाखिल कर सकते हैं और सहगे वकील बैरिस्टर कर के बढ़िया माल, निर्णय करा सकते हैं, अत्यंत भीरु और कायर होकर बहादुर कहला सकते हैं। राजधर्म, आचार्यधर्म, वीरधर्म, सब पर सोने का पानी फिर गया, सब टकाधर्म हो गए। धन की पैठ मनुष्य के सब कार्यक्षेत्रों में करा देने से, उसके प्रभाव का इतना विस्तार कर देने से, ब्राह्मणधर्म और क्षात्रधर्म का लोप हो गया, केवल वणिक्धर्म रह गया।

इसी प्रकार की भाषाशैली में आगे-पीछे लेखक ने बहुत कुछ लिखा है। आजकल के जीवन पर धन का प्रभाव कितना छाया हुआ है इस विषयांतर पर इतना जमकर, और वह भी ऐसी पद्धति से अपने हृदय की संचित भावनाओं को आक्षेपयुक्त ढंग से प्रकट करना इस बात का प्रमाणित करता है कि कृतिकार के लिये विषय का उतना आकर्षण नहीं है जितना वैयक्तिक विचार अनुभूति के प्रकाशन का। मनस्तत्व संबंधी शास्त्रीय विवेचना में ऐसे प्रासंगिक अंगों का इतना उग्र कथन अथवा विस्तार से प्रतिपादन नहीं हो सकता। पैसे का मुँह ताकनेवाले समाज से लेखक कितना क्षुब्ध और असंतुष्ट है इसकी विस्तृत व्यंजना उसके व्यक्तित्व का ही उद्घोष कर रहा है। किसी विषय का सामान्य एवं व्यावहारिक वर्गीकरण करके तुरंत अपनी रुचि-प्रवृत्ति के अनुरूप क्षेत्र चुनकर उसी ओर झुक पड़ना विषय की प्रधानता नहीं है, वह तो कृतिकार के व्यक्तित्व का प्रकाशन है। इसी प्रणाली को लक्ष्य करके शुक्लजी ने कहा था—'निबंध लेखक अपने मन की प्रवृत्ति के अनुसार स्वच्छंद गति से इधर उधर फूटी हुई सूत्र शाखाओं पर विचरता चलता है। यही उसकी अर्थ संबंधी व्यक्तिगत विशेषता है।' आगे चलकर प्रेम की विविधता के प्रसंग में आए हुए देशप्रेम का उल्लेख करते-करते लेखक रुक जाता है और अपने को देशप्रेमी कहनेवालों के स्वार्थ की आलोचना करने लगता है। तबतक के लिये विवेचना क्रम में अवरोध पड़ जाता है।

'जन्मभूमि का प्रेम, स्वदेश प्रेम यदि वास्तव में अंतःकरण का कोई भाव है तो स्थान के लोभ के अतिरिक्त और कुछ नहीं है। इस लोभ के लक्षणों से शून्य देशप्रेम कोरी बकवाद या फैशन के लिये गढ़ा हुआ शब्द है। यदि किसी को अपने देश से प्रेम है तो उसे अपने देश के मनुष्य, पशु, पक्षी, लता, गुल्म, पेड़, पत्ते, वन, पर्वत, नदी, निर्झर सब से प्रेम होगा, सब को वह चाहभरी दृष्टि से देखेगा, सब की सुध कर के वह विदेश में आँसू बहाएगा। जो यह भी नहीं जानते कि कोयल किस चिड़िया का नाम है, जो यह भी नहीं सुनते कि चातक कहाँ चिल्लाता है, जो आँख भर यह भी नहीं देखते कि आम प्रणय सौरभपूर्ण मंजरियों से कैसे लदे हुए हैं, जो यह भी नहीं झाँकते कि आमों आमदनी का परचा बनाकर देशप्रेम का दावा करें, तो उनसे पूछना चाहिए कि, भाइयो! बिना परिचय के यह प्रेम कैसा। जिनके सुखदुःख के तुम कभी साथी न हुए उन्हें तुम सुखी देखना चाहते हो, यह समझते नहीं बनता। उनसे कोसों दूर बैठे-बैठे, पड़े-पड़े, या खड़े-खड़े तुम विलायती बातों में अर्थशास्त्र की दुहाई दिया करो, पर प्रेम का नाम उसके साथ न घसीटो। प्रेम हिसाब-किताब की बात नहीं है। हिसाब किताब करनेवाले भाड़े पर भी मिल सकते हैं पर प्रेम करनेवाले नहीं।' रसखान तो किसी की लकुटी और कामरिया पर तीनों पुरों का राजसिंहासन तक त्यागने को तैयार थे पर देशप्रेम की दुहाई देनेवालों में से कितने अपने किसी थके माँदे भाई के फटे पुराने कपड़ों और धूल भरे पैरों पर रीझकर या कम से कम न खीझकर, बिना मन मैला किए कमरे की

फर्श भी मैली होने देंगे। मोटे आदमियो! तुम जरा दुबले हो जाते।—अपने अंदेशे से ही सही—तो न जाने कितनी ठठरियों पर मांस चढ जाता।'

इस प्रकार की व्यक्तिमूलक और अनुभूतिमयी व्यजना देखकर भी और प्रासगिक सूत्र पकड़-कर विषयातर की ओर खिचाव पाकर भी जो शुक्लजी के निबंधों को विषय प्रधान कहे उनकी अक्ल मारी गई है, यही स्वीकार करना पडेगा। किसी भी तत्वमूलक विषय के प्रसार मे इस प्रकार बीच के ब्योरों को लेकर अपनी रुचि–अरुचि के अनुसार रुककर उग्र रूप में आक्षेप और व्यंग-कथन, सिद्धात निदर्शन की पद्धति नहीं है। इसी प्रकार का दूसरा उदाहरण भी है। 'लोभियो! तुम्हारा अक्रोध, तुम्हारा इद्रियनिग्रह, तुम्हारी मानापमान समता, तुम्हारा तप अनुकरणीय है, तुम्हारी निष्ठुरता, तुम्हारी निर्लज्जता, तुम्हारा अविवेक, तुम्हारा अन्याय विगर्हणीय है। तुम धन्य हो! तुम्हें धिक्कार है! एक किसी पक्के लोभी के सच्चे रूप का यही यथार्थ निर्णय है, पर इस प्रसग मे जो कुछ भी कहा गया है वह उसके व्यावहारिक क्रिया-कलाप का स्थूल निवेदन है न कि उसके विभिन्न व्यक्त कर्मो के भीतर बैठी मनःस्थिति की सूक्ष्म विवेचना। ऐसे स्थल अनेक है, और इनमें कृतिकार का व्यक्तित्व जितना अधिक स्फुट है उतना बुद्धिपरक विश्लेषण नहीं।

उदाहरण एवं दृष्टात भी शास्त्रीय गाभीर्य के साथ नही उपस्थित किए गए है। उनमें या तो विचार-क्रम को अधिक सुबोध और व्यापक बनाने की आकाक्षा प्रकट होती है अथवा अवसर एव सधि पाकर लेखक की अपनी परिहास-प्रियता झलकती है। ऐसे उदाहरणो के कारण विवेचना भी व्यक्ति प्रधान बनी दिखाई पड़ती है। उसकी विषयगत रुक्षता भी बच गई है और अभिव्यजना शैली भी सरल हो सकी है,—'भूखे रहने पर सब को पेडा अच्छा लगता है पर चौबेजी पेटभर भोजन के ऊपर भी पेड़ेपर हाथ फेरते है।' 'रुपए के रूप, रस, गंध आदि मे कोई आकर्षण नही होता पर जिस वेग से मनुष्य उसपर टूटते है उस वेग से भौरे कमलपर और कौए मॉस पर न टूटते होंगे।' 'सीता-हरण होनेपर राम का जो वियोग सामने आता है वह भी चारपाई पर करवटें बदलानेवाला नही है, समुद्र पार कराकर पृथ्वी का भार उतरवानेवाला है।' इस प्रकार के स्थलो के अतिरिक्त जहाँ लेखक आप-बीती निवेदन करने लगता है वहाँ तो खुलकर उसका व्यक्तित्व सामने आ जाता है। सभी निबधों में शुक्लजी अपने और पाठकों के बीच ऐसी आत्मीयता स्थापित करते मिलते है। अपनी निजी अनुभूति प्रकट करने से कथन को बल मिल जाता है। यह प्रणाली अधिक नही प्रयुक्त हुई है फिर भी उसकी रूपरेखा एक ही प्रमाण से स्पष्ट हो जायगी।

'पर आजकल इस प्रकार का परिचय बाबुओं की लज्जा का एक विषय बन रहा है। वे देश के स्वरूप से अनजान रहने या बनने में अपनी बडी शान समझते है। मै अपने एक लखनवी दोस्त के साथ साँची का स्तूप देखने गया। यह स्तूप एक बहुत छोटी-सी पहाड़ी के ऊपर है। नीचे एक छोटा-सा जगल है जिसमे महुए के पेड़ भी बहुत-से है। संयोग से उन दिनों पुरातत्व विभाग का कैंप पड़ा हुआ था। रात हो जाने से हमलोग उस दिन स्तूप नही देख सके। सवेरे देखने का विचार कर के नीचे उतर रहे थे। बसत का समय था। महुए चारों तरफ टपक रहे थे। मेरे मुँह से निकला—'महुओं की कैसी मीठी महक आ रही है।' इसपर लखनवी महाशय ने मुझे रोककर कहा यहाँ महुए का नाम न लीजिए, लोग देहाती समझेंगे। मै चुप हो गया, समझ गया कि महुए का नाम जानने से बाबूपन में बड़ा भारी बट्टा लगता है।

उदाहरण उपस्थित करने का एक दूसरा रूप भी है। उसमें भी शुक्लजी की व्यक्तिगत अभिरुचि ही अधिक स्पष्ट होती है। तथ्य के स्पष्टीकरण के लिए उन्होंने आवश्यकतानुसार बड़े विस्तार के साथ प्रचलित काव्य ग्रंथों में प्राप्त प्रसंगों की ओर ध्यान आकर्षित किया है। लोभ के तारतम्य में प्रेम के विविध स्वरूपों और प्रभावों का विचार करते समय विस्तार के साथ कहीं उर्दू की शायरी या प्रेम-गाथाओं का, कहीं सूर की गोपियों अथवा बंकिमबाबू की आयशा और जगतसिंह का, कहीं साहित्य के अपने पुराने आचार्यों या योरपीय साहित्य के युद्ध और प्रेमवाले युग का, कहीं भारतीय प्रबंध-काव्यों या तुलसी और ठाकुर की कविताओं का विवरण और साक्षी देकर अपनी इच्छा के अनुरूप विषय का विचार किया है। ऐसे स्थलों पर विचार तो अवश्य ही बहुत स्पष्ट हो गए हैं पर विवेचना की पद्धति विषयोन्मुख न होकर व्यक्तिप्रधान हो गई है।

इतना होते हुए भी शुक्लजी के निबंध हैं विचार प्रधान। शास्त्रीय अर्थ में नहीं, व्यवहार की दृष्टि से। जीवन क्षेत्र में प्रमुख मनोविकारों का क्या रूप प्राप्त होता है और विविध परिस्थितियों के घात प्रतिघात में पड़कर वे किस प्रकार रूपांतरित हो उठते हैं अथवा मनुष्य को भिन्न भिन्न क्रिया व्यापारों की ओर प्रेरित करने में सहायक होते हैं इसी का विचार इनमें मिलता है। आवश्यकतानुसार इन मनोवेगों की उत्पत्ति, विकास और परिणाम का विचार करके उनके भेद-प्रभेद भी निरूपित हुए हैं। इस आधार पर वर्गीकरण करते समय उन्हें विचार प्रधान ही कहा जायगा इसमें दो मत हो ही नहीं सकते। यही विवेचनाक्रम और परिणाम उन निबंधों का भी समझना चाहिए जिनका संबंध सैद्धांतिक अथवा व्यावहारिक समालोचना से है।

पाणिनि के समय की शिष्ट-भाषा

राधारमण

सौभाग्य से भारत की राष्ट्रभाषा हिंदी उद्घोषित हुई है। उसकी सर्वांगीण उन्नति के लिये कुछ अवधि भी निर्धारित की गई है। किसी भी भाषा की उन्नति के लिये उसके शब्द-भांडार को आवश्यकतानुसार निरंतर परिवर्द्धित होते रहना चाहिए। अतः प्रत्येक उदयोन्मुखी भाषा के लिये एक न एक धात्री अथवा पोषिका भाषा अपेक्षित रहती है। इस प्रकार हमारी भाषा को उस दिशा में सहायता पहुँचाने में समर्थ केवल संस्कृत ही उपयुक्त हो सकती है। इसके अनेक कारण हैं। सर्वप्रथम हमारी राष्ट्रभाषा की अथच भारतीय अनेक भाषाओ की जन्मदात्री संस्कृत ही है, भारतीय भाषाओं मे प्राचीनतम है, इसका शब्द-भांडार अगाध है तथा इसमें नवीनतम भावाभिव्यंजन के लिये शब्द-निर्माण की अद्‌भुत क्षमता है। इसके द्वारा जो पोषकतत्व हमारी भाषा को उपलब्ध होंगे वे सर्वथा इसकी प्रकृति के अनुकूल होंगे।

प्राचीनकाल में अथवा तथाकथित प्रागैतिहासिक-काल में भारत की मातृ-भाषा संस्कृत थी। यद्यपि कतिपय पाश्चात्य भाषा-शास्त्री तथा कुछ उन्हीं के अनुयायी लब्ध-प्रतिष्ठ भारतीय विद्वान कहते हैं कि संस्कृत भारत की प्रचलित मातृभाषा कभी नही थी। यह केवल परिमित ब्राह्मणवर्ग द्वारा साहित्य में प्रयुक्त की जानेवाली कृत्रिम भाषा रही---इस विषय का विवेचन इस लेख मे नही किया जा सकता, तथापि संस्कृत वाङ्मय के मर्मज्ञ इस विषय को अच्छी तरह जानते हैं कि संस्कृत का इस देश तथा समाज में क्या स्थान था। पाणिनि के अष्टाध्यायी पर विचार करने से यह स्पष्ट प्रतीत होता है कि उस समय शिष्टवर्ग में व्यवहृत होनेवाली भाषा संस्कृत ही थी। आखिर शिक्षा का माध्यम, राष्ट्रसंसद् में प्रयुक्त तथा लौकिक व्यवहार में सहायिका कोई न कोई भाषा तो रही ही होगी। तो वह संस्कृत के अतिरिक्त क्या हो सकती है क्योंकि उस समय प्राकृत, पाली तथा अप-भ्रंश के प्रचार का कोई आधार अनुपलब्ध है।

उस युग मे भारतवर्ष प्राच्य तथा उदीच्य (दक्षिण-पूर्व तथा पश्चिमोत्तर) भागों में विभक्त था। दोनो भागो में एक प्रकार की शुद्ध संस्कृत का प्रयोग किया जाता था। पतंजलि के महाभाष्य से विदित होता है कि शिष्टवर्ग की भाषा बड़ी परिमार्जित तथा ओजस्विनी थी। यह ध्यान रखना

चाहिए कि पाणिनि का काल ईसा पूर्व सातवीं शताब्दी तथा पतजलि का काल ईसा पूर्व पहिली अथवा दूसरी शताब्दी माना जाता है। पतजलि के समय पाली तथा प्राकृत का प्रचार द्रुतगति से हो रहा था। फिर भी उनके समय में भी शिष्टजगत् की मातृभाषा संस्कृत ही थी। उनके शिष्य आर्यावर्त के निवासी थे। उन्होंने आर्यावर्त आदर्श (सरस्वती का विनशन स्थान, राजपूताना) के पूर्व, कालकवन (विन्ध्यवन का पूर्वोत्तरीय भाग गया) से पश्चिम, हिमालय से दक्षिण तथा पारियात्र (विन्ध्य पर्वत का पश्चिमोत्तरीय भाग) के उत्तर के भूभाग को स्वीकृत किया है। प्रागादर्शात्प्रत्यक्कालकवनाद्दक्षिणेन हिमवन्तमुत्तरेण पारियात्रम् आर्यावर्त । ६-३-१०९ महाभाष्य। यदि भारत का प्रचलित मातृभाषा संस्कृत न होती तो पाणिनि को क्या आवश्यकता थी कि वह (दूराद्धूते च ८।२।८४) लिखते। अर्थात् सम्बोधन सूचक वाक्य का अतिम स्वर प्लुत हो जाता है—सक्तून पिब देवदत्त ३। देवदत्त का अतिम अकार ह्रस्व है परन्तु उपर्युक्त वाक्य में प्लुत हो गया है। दूसरे सूत्र ८।२।८९ में उन्होंने कहा है कि सबोधन सूचक वाक्य के अत में यदि गुरु अक्षर न हो तो भी वह लुप्त हो ही जाता है। व्यवहार में भी यदि हम राम नामके किसी व्यक्ति को पुकारते है तो राम का अतिम अकार स्वत प्लुत ही उच्चरित होता है।

एक पाश्चात्य भाषाशास्त्री ने सेनार्त का संस्कृत की कृत्रिमता का यह भी एक प्रमाण है कि इस भाषा में स्वर (एक्सेंट) है ही नहीं। यदि यह व्यवहृत भाषा रही होती तो इसमें स्वरों का अस्तित्व अनिवार्य होता। परतु खेद है कि ऐसे सम्मानित व्यक्ति होते हुए भी उन्होंने अष्टाध्यायी देखने का कष्ट नहीं किया। वैदिक वाङ्मय में तो प्रत्यक्षर सस्वर होते ही है। पाणिनि ने उसके अतिरिक्त लौकिक भाषा के लिये भी अनेक सूत्रों में भाषायाम्, अन्यतरस्याम् विभाषा आदि (१।१।२१६, ६।१।११७, ६।२।१८७, ८।१।१८१, ६।१।१८४) द्वारा स्वर नियमों का स्पष्टत उल्लेख किया है। यदि संस्कृत बोलचाल की भाषा न होती तो उसके लिये स्वर नियमों की क्या आवश्यकता थी।

संस्कृत में धातुओं के दो रूप होते है, परस्मैपदी और आत्मनेपदी। कुछ धातु परस्मैपदी कुछ आत्मनेपदी तथा कुछ उभयपदी निश्चित है। परतु बोलचाल में कुछ निश्चित रूपवाली धातुओं के रूप भी विशेष अर्थों में भिन्न भिन्न हो जाते थे। इसके लिये पाणिनि के बहुसख्यक नियम है।

गम् धातु परस्मैपदी है परन्तु सम उपसर्ग के साथ अकर्मक प्रयोग होने पर यह आत्मनेपदी हो जाती है। 'वाक्य सङ्गच्छते'—वाक्य संगत होता है। 'सखीभि सङ्गच्छते'—सखियों से मिलती है। (१।३।२९)।

ह्वे धातु उभयपदी है परन्तु आ उपसर्ग के साथ पुकारने अर्थ में परस्मैपदी तथा ललकारने अर्थ में आत्मनेपदी रूप होता है। जननी पुत्रम् आह्वयति—माता पुत्र को पुकारती है। आह्वयेती चेदिराण्मुरारिम् (शिशु०) २१।१० शिशुपालने श्रीकृष्ण को ललकारा।

स्था धातु परस्मैपदी है परतु आशय प्रकट करने के अर्थ में यह आत्मनेपदी हो जाती है। गोपी कृष्णाय तिष्ठते—गोपी कृष्ण से अपना आशय प्रकट करती है। 'सशय्य कर्णादिषु तिष्ठते य' (किरात ३।१४) दुर्योधन सदेह होने पर कर्णादि पर भरोसा करता था। उद् उपसर्ग के साथ उठना अथवा अधिकार द्वारा प्राप्त करना अर्थ से भिन्न अर्थों में इसका रूप आत्मनेपदी होता था। शतादुद्-

स्थित (शिशु० १४।१७।) युधिष्ठिर यज्ञ करने के लिये उत्सुक हुए। परंतु पीठादुत्तिष्ठति--आसन से उठता है। ग्रामाच्छतमुत्तिष्ठति--ग्राम से सौ रुपए उठते हैं अर्थात् कर रूपमें प्राप्त होते हैं।

प्रेरणार्थक गृध् धातु धोखा देने के अर्थ में आत्मनेपदी तथा ललचाने के अर्थ में परस्मैपदी होता है। शिशुम् गर्द्धयते--बच्चे को धोखा देता है। श्वान गर्द्धयति--कुत्ते को ललचाता है।

प्रेरणार्थक वञ्च् धातु धोखा देने के अर्थ में आत्मनेपदी तथा अन्य अर्थों मे परस्मैपदी होता है। बालकम् वञ्चयते--बालक को धोखा देता है। सर्पम् वञ्चयति साँप को बचाता है अर्थात् साँप से बचता है।

दा धातु उभयपदी है, परतु आ उपसर्ग के साथ जब इसका प्रयोग मुँह खोलने के अर्थ मे न हो तब केवल परस्मैपदी रूप होता है। धनम् आदत्ते, विद्याम् आदत्ते--धन स्वीकार करता है, विद्या ग्रहण करता है। जलाभिलाषी जलमाददानाम् (रघु २।१६) नादत्ते प्रियमण्डनापि भवता स्नेहेन या पल्लवम् (अभि० शा०।) मुखम् व्याददाति--अपना मुँह खोलता है। विपादिका व्याददाति शल्य-चिकित्सक--डाक्टर बिवाई को चीरता है।

उपर्युक्त उदाहरणों से स्पष्टतया विदित होता है कि यदि संस्कृत बोलचाल की भाषा न रही होती तो एक ही धातु के भिन्न-भिन्न अर्थों में भिन्न-भिन्न रूप न होते और पाणिनि अनावश्यक नियम ही क्यो बनाते। उन्होंने तो प्रचलित रूपो के आधार पर ही नियम बनाए होंगे। ये उदाहरण तो क्रियाओ के हुए, अब भिन्न-भिन्न सांसारिक कार्यों के लिये प्रयुक्त होनेवाले धातुओ पर भी जरा विचार कीजिए।

कृषि--साधारण जुताई के लिये कृष् धातु तो है ही। कृषकवर्ग खेतों को प्राय. सीधे-सीधे कई बार जोतता है जिसको वह बाँह करना कहता है। जिस खेत में जितने अधिक बाँह किए जाते हैं उसमें उतनी ही अच्छी फसल होती है। समर्थ कृषक अपने खेतो में यथाशक्ति दो, चार या और भी अधिक बाँह करता है, इसके लिये द्वितीया करोति, तृतीया करोति, द्वितीयाकरण, तृतीयाकरण (दुबही, तिबही) शब्द प्रचलित थे। प्रति बाँह के अंत मे खेत को किसी कोने की ओर से जोता जाता है जिसे कोन करना कहते हैं। कोन के लिये शम्बा करोति--शम्बाकरण (कोन) शब्द प्रचलित था। बोने के लिये साधारणतया वप् धातु प्रयुक्त होता था ही। परतु जब किसी जलाशय के समीप के खेत जलाधिक्य के कारण कच्चे (अधिक आर्द्र) रहते हैं और उन्हें जोत कर बोने का अवसर नही रहता तब कृषक बिना जोते ही उसमें बीज डालकर हलकी जुताई कर देता है। कुछ बीज पर्ती (बिना जुते) खेतो में ही बोए जाते हैं। इस प्रक्रिया को बिदहना कहते हैं। पाणिनि-काल मे इसको बीजाकरण कहते थे। सहबीजेन विलेखनं करोति (५।४।४९।)

खेतो का नामकरण भी कृषको मे प्रचलित है। जिस खेत मे प्राय. जो अन्न अधिक उत्पन्न होता है उसके आधार पर उसका नामकरण हो जाता है। जैसे धनहाँ, उखाव आदि। प्राचीन काल मे मूग के खेतों को मौद्गीन (५।२।१) साधारण तया उत्तम प्रकार के धान के खेतो को व्रैहेय, शालेय (५।२।२) जौ तथा बड़जई के खेतो को यव्य तथा यवक्य (५।२।३) और तिल, उड़द, अलसी, सनई और

सीता के साथ जो श्रमिक हल्य, सैरीन, साप्य, सार्गीण, दम्य, आगीत, सहचर, साहचीन, तथा अन्य अगवीन (५।२।१८) कहते थे।

कृषि के उपयोगी उपकरणों का विवरण। हल के मुख्य तीन भाग होते हैं। (१) बीचवाली सीधी लंबी लकड़ी को ईषा, हलीषा, लांगलीषा (हरिस), (२) जिसे हाथ से पकड़कर हल चलाया जाता है उसे पोत्र (नगरा) तथा (३) जिसमें फाल या लोहे का फल लगा रहता है उसे अयस्मुख (नाभी २।४।४८) कहते हैं। जुते हुए खेत को समतल करने के लिये हेंगा चलाया जाता है उसके लिये जित्या (३।१।११७) का प्रयोग होता था। कुदाल तथा फावड़े के लिये खनित्र (३।३।१२५) शब्द था। फसल काटने के लिये दात्र तथा दात्र (३।२।१८२) और लवित्र का प्रयोग किया जाता था। खलिहान कोखल्या (४।२।५०) कहते थे। जिस मकान में गाँवभर का खलिहान होता है उसको खलिनी (४।२।५१) कहते थे। डंठल को चूर्ण कर भूसा और अन्न पृथक करने के लिये उसपर कई बैल एक साथ निरंतर चलाए जाते हैं। इस प्रक्रिया को निष्पाव (३।३।२८) शब्द से प्रकट करते थे। डंठल को नीचे ऊपर करने के लिये उस समय भी उत्तान या आखन (३।३।१२८) (अखाइन) नाम में लाया जाता था। भूसा को हटाने-बढ़ाने के लिये पञ्चाङ्गुल (पाँचा) (५।४।११६) भी था।

जिन कृषकों के पास निजी हल नहीं रहता ऐसे अहल, अथवा अहलि (५।४।१२१) कृषक भी थे ही। जुते हुए खेत केदार कहे जाते थे। अन्न दो प्रकार के होते थे, कृष्टपच्य (बोने से पैदा होनेवाले) तथा अकृष्टपच्य (बिना बोए पैदा होनेवाले—जंगली अन्न)।

उस समय भी भिन्न भिन्न गुण तथा वयवाले पशुओं के वाचक शब्द व्यवहृत होते थे। हाल की ब्याई गाय गोधेनु, एक ब्यान की गाय, गोगृष्टि, वंध्या गाय गोवशा, गर्भपातिनी गाय गोवेहत् (बहिला), अधिक दिन की ब्याई गाय गोबष्कयणी (बकेना) (२।१।६५) कही जाती थी। बहुत बड़े थनवाली गाएँ (कुण्डोध्नी) (४।१।२५) भी होती थीं। जबतक बछड़ा बड़ा नहीं हो जाता था अर्थात उसकी पीठपर डिल्ल नहीं निकल आता था तबतक वह अजातककुत् और युवा हो जाने पर पूर्णककुत् (५।४।१४६) कहलाता था। बछड़े के लिये जातोक्ष, युवा के लिये महोक्ष तथा बुड्ढे बैल के लिये वृद्धोक्ष (५।४।७७) शब्द प्रचलित थे। छ दाँतवाले बैल को षोडन् (५।४।१४४), घास खाने योग्य बछिया को तृणजम्भा (५।४।१२४), सींग निकलते हुए बछड़े को उद्गतशृंग तथा दो अंगुल सींगवाले को द्व्यंगुलशृंग (६।२।१२५) कहते थे।

शाबर भाष्य के तिर्यगधिकरण में चर्चा है कि कुछ कुत्ते (कौलेयक) प्रतिमास की कृष्ण चतुर्दशी का उपवास करते हैं। वर्तमानकाल में भी यत्र तत्र इस प्रकार के कुत्ते सुने गए हैं जो उक्त तिथि को कुछ नहीं खाते। उस तिथि के लिये श्वनिश तथा श्वनिशा (२।४।२५) शब्द प्रचलित थे। जो सूकर अपनी द्रुतगति से कुत्तों को बहुत पीछे छोड़ देते थे वे अतिश्व (२।४।१२७) पदवी के अधिकारी होते थे। सर्वश्रेष्ठ घोड़ा अश्वोत्तम कहा जाता था। घोड़े और घोड़ियाँ प्राय दो रस्सियों से बाँधे जाते हैं। दो रस्सियों से बँधी हुई घोड़ी द्विदामा तथा खुली हुई घोड़ी उद्दामा कही जाती थी।

भिन्न भिन्न पशुओं के समूह के लिये एक शब्द व्यवहृत होता था। बैलों के झुण्ड के लिये औक्षक, ऊँटों के लिये औष्ट्रक, भेड़ों के लिये औरभ्रक, (४।२।३९) हाथियों के झुंड के लिये हास्तिक,

गायों के लिये धैनुक, (४।२।४७) गव्य।, (४।२।५०) गोत्र (४।२।५१) और घोडों के लिये आश्व (४।२।४८) शब्द प्रचलित थे।

व्यापार के लिये अनेक मुहाविरे प्रचलित थे। खरीदने तथा बेचने के लिये क्रय और विक्रय तो थे ही। किराये पर किसी वस्तु के लेने की प्रथा भी थी। शतेन शताय वा परिक्रीतोऽय गृह—यह घर सौ रुपए किराए पर लिया गया है (१।४।४४।) ऋण लेने वाला अधमर्ण तथा ऋण देनेवाला उत्तमर्ण कहा जाता था (१।४।३५।) देवदत्ताय शत धारयति यज्ञदत्त.—यज्ञदत्त देवदत्त का सौ रुपए का देनदार है। शताद्बद्ध यज्ञदत्तः—यज्ञदत्त सौ रुपये ऋण के कारण बँधा है। आजकल भी कृषक-वर्ग मे ऋण लेने की एक यह प्रथा प्रचलित है कि ऋण लेने के समय वह निश्चित समय पर ऋण चुकाने के लिये वचन-बद्ध हो जाता है। कोई ऋण एक मास मे, कोई फसल तैयार होनेपर, कोई सालभर मे, कोई दो साल मे चुकाना पडता है। एकमास मे चुकाया जानेवाला ऋण मासिक (४।३-४७।) पीपल मे फल लगने के समय अदा किया जानेवाला अश्वत्थक, मयूरो के गर्भाधान-काल में चुकाया जानेवाला कलापक, फसल तैयार होनेपर चुकाया जानेवाला यवबुस, ग्रीष्मकाल मे चुकाया जानेवाला ग्रैष्मिक, वर्षभर मे चुकाया जाने वाला साम्वत्सरिक, साम्वत्सरक, अगले वर्ष चुकाया जाने-वाला आवरसमिक और अगहन मे चुकाया जानेवाला ऋण आग्रहायणिक तथा अग्रहायणक (४।३।४८, ४९. ५०) कहा जाता था।

श्रमिकवर्ग मे भी संस्कृत प्रचलित थी। घरेलू काम करनेवाले भृत्यो को बहुधा आंशिक भोजन दिया जाता था। जिन भृत्यो को केवल भाजी दी जाती थी उसे श्राणिक, माँस पानेवाले को मासिक केवल भात पानेवाले को ओदनिक तथा माँस और भात पानेवाले को मांसौदनिक कहते थे।

भोज्य पदार्थों के लिये भी पाणिनि की अष्टाध्यायी मे बहुसंख्यक शब्द उपलब्ध होते है। भोजनोपयोगी पात्र अमत्र कहे जाते थे (४।२।१४), मिट्टी की तश्तरी या सकोरा (शराव) भी था ही। हलुआ खाने की भी प्रथा रही। नखम्पचा (३।२।३४) उसी के लिये प्रचलित था। मध्यमवर्ग यवागू (४।२।१३६ लप्सी) भी खाता था। इसी का दूसरा नाम उष्णिका (५।२।७१) था। गेहूँ अथवा जौ के आँटे मे घी, दूध, और गुड डालकर सयाव (३।३।२३) बनाते थे। सभवत आजकल हमलोग उसीको चूरमा कहते है। किसी भी अन्न के आँटे को पिष्ट (४।३।१४६) कहते थे। पिष्ट से पिष्टक (पूआ या मालपूआ ४।३।१४७) प्रस्तुत किया जाता था। गेहूँ अथवा जौ के आँटे की बाटी (कुल्माष ५।२।८३) भी बनाई जाती थी— चक्रपाणि ने चरक सूत्र स्थान (२७।२६०) मे लिखा है कि यव-पिष्टम् उष्णोदकसिक्तम् ईषत्स्विन्नम् अपूपीकृतम् कुल्माषमाहु। आज भी कुछ प्रातो मे कुल्माषी नाम का पर्व मनाया जाता है। इसीको कही कही बटकिनी पर्व कहते है। काशी प्रात मे यह लोटा-भटा के नाम से मार्गशीर्ष मे मनाया जाता है। अन्य प्रातो मे कार्तिक अथवा चैत्र मे। रुग्णअथवा शक्तिहीन व्यक्ति को निस्तुष जौ अथवा गेहूँ को कुचलकर जल अथवा दूध मे पकाकर नमक या शक्कर डालकर यवक (दलिया ५।४।९) बनाकर खिलाया जाता था। माँस दो प्रकार से पकाया जाता था। कड़ाही मे पके माँस को उख्य तथा काँटेपर पके माँस को शूल्य (कबाब), (४।२।१७) कहते थे। धान के लावे को गुड मे पागकर गुड़धान (२।१।३४) बना लिया जाता था। ये सब पदार्थ भ्राष्ट्र (चूल्हा या भट्टी) पर प्रस्तुत किए जाते थे।

यदि प्राचीन भारत की मातृभाषा सस्कृत न होती तो बच्चे "उद्दालकपुष्पभञ्जिका" में लिसोडे का फल तोडा या कुचला जाता है, कैसे समझते। दूसरे खेल "वीरणपुष्पप्रचायिका" में गाँडर के फूल कैसे इकट्ठे किए जाते। "जीवपुत्रप्रचायिका" में जीआपूता (इगुदी) के फल का कोई बच्चा कम समझ सकता। गिल्ली डडा के लिये दाडा तथा गणेश खोपी के लिये माष्टा (८।२।५७) शब्द प्रचलित थे।

पतजलि के समय प्राकृत, पाली आदि भाषाओं का प्रादुर्भाव हो चला था फिर भी सस्कृत बोलचाल की भाषा बनी रही। पाणिनि के अजेर्व्यघञपोः (२।४।५६) के भाष्य में पतजलि ने एक वैयाकरण तथा कोचवान के वार्तालाप का उल्लेख किया है। किसी वैयाकरण ने रथ देखकर पूछा कि इस रथ का प्रवेता (कोचवान) कौन है। कोचवान ने उत्तर दिया कि भगवन् इस रथ का प्राजिता (कोचवान) मैं ही हूँ। इस विषय में यह स्मरण रखना चाहिए कि पाणिनि के व्याकरण के अनुसार कोचवान के लिये प्रवेता का प्रयोग समीचीन है, परतु बोलचाल में प्राजिता का पर्याप्त प्रचलन था। कोचवान के उत्तर-वाक्य में प्रयुक्त प्राजिता को देखकर वैयाकरण ने कहा कि यह अप शब्द है, इसपर कोचवान ने उत्तर दिया कि महाराज, आप व्याकरण के सूत्र की प्राप्ति पर ध्यान दे रहे है, बोलचाल में यह शब्द प्रयुक्त होता है अथवा नहीं, इस पर नहीं। कोचवान की पाडित्य पूर्ण उक्ति से अप्रसन्न होकर वैयाकरण गालीगलौज पर उतारू हो गया। उसने कहा कि इस दुरुत (दुष्टसूत) से मुझको बडा कष्ट हुआ। फिर भी चूक गए। कोचवान ने कहा कि भगवन् यदि आप का अभिप्राय मुझको दुष्टसूत कहने का हो तो दुःसूत (बुरा कोचवान) कहिए दुरुत नहीं। बोलचाल में यह प्रचलित नहीं है। इस प्रत्युत्तर से अवाक् होकर वैयाकरण चला गया।

एओड्, ऐऔच् (१।१।३,४) के भाष्य मे भाष्यकार ने एक प्रसग में प्रश्न किया है कि सात्य मुग्रिराणायनीय लोग ह्रस्व एकार तथा ओकार का उच्चारण करते है। इससे विदित होता है कि एकार तथा ओकार ह्रस्व भी होते है। इसका समाधान भी उन्होने ही किया है कि आदरणीय सात्यमुग्रिराणायनीय सगीत मे ह्रस्व एकार तथा ओकार का उच्चारण करते है। वास्तव में ह्रस्व एकार तथा ओकार का प्रयोग न तो लोक में (लौकिक सस्कृत में, अर्थात् बोलचाल की सस्कृत मे और न किसी वेद में ही उपलब्ध होता है।

व्याकरण-शास्त्र-रचना के आवश्यकता निरूपण-प्रकरण मे उन्होने ही लिखा है कि कबोज देश (हिंदुकुश के उत्तर बदख्शा से पामीरतक का गल्चाभाषी प्रदेश) में शव धातु गत्यर्थ में बोला जाता है जब कि आर्य लोग इसका प्रयोग विकार अर्थ (मरना शव मृतक शरीर) में करते हैं। इसी प्रकार गति के अर्थ में सुराष्ट्र देश (गुजरात काठियावाड) में हम्म् धातु, प्राच्य भारत के मध्यदेश में रह् धातु तथा आर्यों में गम् धातु प्रयुक्त होता है। हँसिया के लिये प्राच्य भारत में दाति तथा उदीच्य भारत मे दात्र का प्रयोग किया जाता है। क्या उपर्युक्त उद्धरणो से यह सिद्ध नहीं होता कि किसी समय समस्त भारत में बोलचाल तथा व्यवहार्य भाषा सस्कृत ही थी।

साहित्य की सामाजिकता

विश्वनाथ प्रसाद मिश्र

रस-प्रक्रिया मे 'सामाजिक' शब्द का प्रयोग बारबार हुआ है। अभिनव गुप्त 'नाट्यशास्त्र' की टीका मे लिखते है—

यो मूलबीजस्थानीयात् कविगतो रस । कविर्हि सामाजिकतुल्य एव। ततो वृत्तस्थानीय काव्यम्। तत्र पुष्पादिस्थानीयोऽभिनयादिनटव्यापार । तत्र फलस्थानीय सामाजिकरसास्वाद. । तेन रसमयमेव विश्वम्।

—अभिनवभारती, पृष्ठ २९५।

दशरूपकार धनजय लिखते है—

भावाननुभावयन्त. सामाजिकान् सभ्रूविक्षेपकटाक्षादयो रसपोपकारिणोऽनुभावाः।

—दशरूपक, ४—३ ।

अन्यत्र, नाट्यशास्त्र ही नही काव्यशास्त्र के आचार्य भी कहते है—

स्थायिव्यभिचारिलक्षणं चित्तवृत्तिविशेष सामाजिकजन अनुभवन् अनुभाव्यते साक्षात्कार्यते यैः ते अनुभावा.।

—काव्यानुशासन, २

सामाजिकेषु तदभावे तत्र चमत्कारानुभवविरोधात्। न च तज्ज्ञानमेव चमत्कारहेतुः।

—काव्यप्रदीप।

लक्षण-ग्रथो मे ही नही, लक्ष्य-ग्रथो मे भी इसकी चर्चा है—

तेन हि तत्प्रयोगादेवात्रभवतः सामाजिकानुपास्महे।

—मालतीमाधव १ इत्यादि।

संप्रति रस-प्रक्रिया की आधुनिक मीमासा होने लगी है, पर 'सामाजिक' की ओर किसी की दृष्टि नहीं गई, समाजवादियो की भी नही। अच्छा तो 'सामाजिक' कौन! रस का आस्वाद लेने-वाला। ऊपर अभिनव गुप्तपादाचार्य ने 'रसमयं विश्वम्' कहते हुए फल-रूप मे रस का आस्वाद लेने-

वाले को 'सामाजिक' नाम से अभिहित किया है। यही क्या ! उन्होंने 'कविर्हि सामाजिकतुल्य एव' कहकर कवि और सामाजिक की भी एकवाक्यता कर दी है, उन्हें समानरूपी कह दिया है। कवि में रस बीज रूप में रहता है, सामाजिक के पास वह फलरूप आता है। रस की सफलता सामाजिक के कारण है, यह भी कहा जा सकता है। रस सफल होता है सामाजिक के निकट। रस प्रक्रिया को आचार्यपाद ने सर्वत्र व्याप्त तो कह दिया, पर उसकी परिपूर्णता सामाजिक में ही होती है। उसके विराम या परिपाक का चरम अधिष्ठान सामाजिक का हृदय है। अस्तु। यह 'सामाजिक' पद बना कैसे ? समाज ही से न ! 'समाज' क्या है। अमरकोश कहता है—

वृन्दभेदा समवर्ग सघसार्थो तु जन्तुभि ।
सजातीयै कुल यूथ तिरश्चा पुनपुसकम् ॥
पशूना समज अन्येषा समाज अथ सधर्मिणाम् ।
स्यान्निकाय ॥

जतुओ के वृद का नाम सघ-साथ, तिर्यक्‌वृद का नाम यूथ, पशुओ का समाज और अन्यो का समाज होता है। अन्यो में मनुष्य आदि है। तात्पर्य यह कि मनुष्य का समूह 'समाज' कहलाता है। इस समूह का ही, इस समाज का ही अग 'सामाजिक' है। रस का आस्वाद लेनेवाला, समाज का प्राणी सामाजिक है। जो समाज का न होगा वह सामाजिक नही हो सकता। समाज की भावना मे जो ओतप्रोत न हो, वह सामाजिक कैसा।

इस सामाजिक के लिये ग्रथो में एक शब्द और आता है—सहृदय।

इत्युपदेश कवे सहृदयस्य च करोति।

—काव्यप्रकाश, १

परिष्कुर्वन्त्वेव सहृदयधुरीणा कतिपये।

—रसगगाधर।

इत्यादिकाव्येषु सहृदयहृदयसागरमसुचन्द्रायमाणात्तमप्रतिबिम्बेषु।

—अभिनवभारती, पृ० २२२, आदि आदि।

अच्छा तो यह 'सहृदय' कौन है ? श्रीभानुजी दीक्षित लिखते है—

'सहृदय सह हृदयेन।' जो हृदय के साथ हो। हृदय तो प्राणिमात्र में होता है अत वे फिर लिखते है 'प्राणिमात्रस्य तथात्वादत्र प्रशस्तहृदयपरत्व हृदयशब्दस्य'। 'सहृदय' शब्द की व्याख्या में यह प्राशस्त्य या तो कामचलाऊ है अथवा प्राशस्त्य का अर्थ समानहृदयता मे है। 'प्रशस्तहृदयपरत्व' के बदले 'समानहृदयत्व' क्यो न माना जाय और 'प्रशस्तहृदयमस्य' के बदले 'समान हृदयमस्य' कहा जाय। सहृदय वही न होगा जो कवि के हृदय से अपना हृदय मिला ले। जो आश्रय के हृदय से अपना हृदय मिला सके। जो अपने हृदय को दूसरे के हृदय से मिला सके। उसके हृदय की समानुभूति कर सके। समानुभूति के बिना सहृदयता किस काम की ? इस प्रकार रस का आस्वाद लेनेवाले, फल चखनेवाले के दो नाम हुए—सामाजिक और सहृदय। समाज की भावना के अनुरूप आस्वाद

लेनेवाला। दूसरे के हृदय मे अपना हृदय डालकर समानुभूति करनेवाला। एक नाम वाह्यविषयत्व के कारण है, दूसरा आभ्यंतरिक गुण के कारण। दोनो की विशेषताएँ दो भिन्न दृष्टियो से है और दोनो के अर्थ एक दूसरे के पूरक हैं। 'सामाजिक' को 'सहृदय' होना चाहिए और 'सहृदय' को 'सामाजिक' होना चाहिए। कहाँ? रसचर्वणा मे। सक्षेप मे इसका तात्पर्य यह हुआ कि समाजगत भावना का तथा हृदयगत भावना का ग्राहक ही सहृदय-सामाजिक है। इसको विश्लिष्ट करके यो भी कह सकते है कि यदि काव्य मे समाजगत अनुभूति की अभिव्यक्ति न हो, सर्वसामान्य अनुभूति की व्यजना न हो तो सामाजिक के लिये वह अग्राह्य हो सकती है, उद्वेगजनक चाहे न हो। 'अग्राह्य' कहने मे भी वाधा हो तो कह सकते है कि पूर्णतया ग्राह्य नही हो सकती। व्यक्तिगत अनुभूति सामाजिक के आस्वाद मे विघ्न नही तो अपरिपूर्णता तो ला ही सकती है। काव्य मे कुछ ऐसे प्रसग भी आया करते है जिन्हे 'रसाभास' कहा गया है। यह रसाभास और कुछ नहीं है, जहाँ सामाजिक अनुभूति के विपरीत या अननुकूल वैयक्तिक अनुभूति काव्य मे आ जाती है वहाँ रसाभास हो जाता है। जैसे समाज की मर्यादा के अनुसार किसी का पिता या गुरु आदर का भाजन होता है। यदि कहीं पिता या गुरु के प्रति अनादरव्यजक आचरण हो तो वह रसाभास का हेतु होगा। यदि कोई पुत्र अपने पिता को पीट रहा हो और कवि इसका वर्णन करके पुत्र के क्रोध से रौद्र रस की व्यजना कराना चाहे तो उसे सफलता न होगी। यहाँ रौद्र रस न होगा, उसका 'आभास' हो सकता है। इस वाधा का कारण क्या है? यही न कि पिता के प्रति पुत्र का क्रोध उचित नही है। क्रोध के औचित्य मे हेतु क्या है? समाज की मर्यादा। 'समाज' ही वस्तुत. रस-विधान का, उसके औचित्य का साधक है। रस-भग का कारण अनौचित्य होता है, असामाजिकता होती है। इसीसे सामाजिक रस का पूर्ण या ठीक अनुभव नहीं कर पाता। तो यह क्यो न कहा जाय कि रस-प्रक्रिया मे सामाजिकता ही प्रमुख है। 'औचित्यविचार' का दूसरा नाम 'सामाजिकता-विचार' है। केवल किसी की चित्तवृत्ति का प्रतिपादन ही काव्य नही है, वस्तुत काव्य मे सामाजिकता-विधायक निर्माण अपेक्षित है। यदि यह न माना जायगा तो सभी वक्ता कवि हो जायगे। अभिनवगुप्त पादाचार्य कहते है—

न तु सर्वो वक्ता कविरित्यतिप्रसगलक्ष्यमाणप्रवन्धवन्धुर काव्यनिर्मातृत्वं हि कवित्वं, न चित्तवृत्तिप्रतिपादकत्वम्।

—अभिनवभारती, २, पृ० २२।

औचित्यानौचित्य का सारा विचार उन्होने सामाजिकता की ही दृष्टि से किया है। रीति-वद्ध कविता रचनेवाले कितने ही कृतियो ने औचित्य का विचार किए विना ही अलकारो की योजना कर दी है। यदि कोई करुण प्रसग मे यमक की कारीगरी दिखाने वैठे तो क्या कहा जायगा? यही न कि कविजी सामाजिकता से कोसो दूर है! 'यम' के प्रसंग मे 'यमक' न लाना ही वुद्धिमानी है, यथार्थ से, सामाजिक व्यवहार से, इसका मेल नही। इसी से अभिनवगुप्त जी कहते है—

अनौचित्यनिवन्धस्तु करुणविप्रलम्भादौ यमकस्य।

—अभिनवभारती, २, २९९।

कोई अद्यतन समाजसेवी यदि कहे—'माना कि रस मे सामाजिकता है, पर संप्रति समाज-सेवा का जो उदात्त भाव चारो ओर फैला है, क्या उसकी भी समाई रस-प्रक्रिया मे है? शृगारादि

के साथ शान की चर्चा कर के जगद्विराग‌विषयक शान की स्थापना तो रसाचार्यों ने कर दी, पर इस उदात्त सामाजिकता, राष्ट्रीयता आदि का भी कोई विचार हुआ या हो सकता है?' तो उन्हें भी निराश न होना चाहिए। महामहिम आचार्यों ने उसकी भी चर्चा की है। रसतरंगिणीकार भानुदत्त बड़े ही तात्विक और स्वच्छदृष्टि-सपन्न रसविमर्शक हो गए हैं। उन्होंने शान की प्रतिद्वंद्विता में एक रस की विलक्षण कल्पना की है, उसमें अद्यतन सामाजिक व्यवहार की पूरी समाई हो सकती है। वे कहते हैं कि जिस प्रकार निवृत्तिमूलक शान्तरस होता है उसी प्रकार प्रवृत्तिमूलक रस भी हो सकता है—

चित्तवृत्तिर्द्वेधा प्रवृत्तिर्निवृत्तिश्च। निवृत्तौ यथा शान्तरसस्तथा प्रवृत्तौ मायारस इति प्रतिभाति। एवञ्च रसोत्पत्तिरपरस्त न इति वस्तुमनाक्यत्वात्।

यदि कोई कहे कि अन्य रसों में ही इसका अंतर्भाव क्यों नहीं कर देते, तो उसका उत्तर देते हुए वे कहते हैं—

न च स रतिरेव। नहि स कस्यास्तु व्यभिचारी।
न शृंगारस्य। तद्वैरिणो बीभत्सस्यापि।

न हास्यस्य। तद्वैरिणः करुणस्यापि तत्र सत्त्वात्। अतएव न करुणस्यापि। न भयानकस्यापि रौद्रस्य। तद्वैरिणोऽद्भुतस्यापि तत्र सत्त्वात्। अतएव नाद्भुतस्यापि। न वीरस्य। तद्वैरिणो तत्र सत्त्वात्। अतएव न भयानकस्यापि। नापि शान्तस्य तद्विरोधित्वात्।

यदि यह कहा जाय कि रस सामान्य नाम है, शृंगार आदि उसके विशेष रूप हैं। तो वे कहते हैं कि यह भी ठीक नहीं—

न च सामान्य एव रसस्तद्विशेषा इतरे भवन्तीति। शान्तरसस्य तर्हि रसाभासत्वापत्तेः। किंतु विरुद्ध एव। रतिहासशोकक्रोधोत्साह भयजुगुप्साविस्मयास्तत्रोत्पद्यन्ते विलीयन्ते च। तेन तत्र ते व्यभिचारिभावा इति।

मायारस का पेटा बहुत बड़ा है, शृंगारादि रसों के स्थायीभाव उसमें सचारी का काम करते हैं। वस्तुत शृंगारादि अन्य रसों में विभावादि व्यक्तिरूप में रहते हैं। आश्रय का आलंबन व्यक्ति बद्ध भूमिपर स्थिर रहता है, पर माया रस में सारा समाज आलंबन हो जाता है, अत उसकी परिसीमा बृहत है। इसके अन्य अंगों का भी उन्होंने उल्लेख किया है—

लक्षण च प्रवुद्धमिथ्याज्ञानवासना मायारस इति। मिथ्याज्ञानमस्य स्थायिभाव। विभावा सासारिकभोगाजक धर्माधर्मौ। अनुभावा पुत्र कलत्रविजयसाम्राज्यादय।

इसमें 'विजयसाम्राज्यादय' विशेष ध्यान देने योग्य है। इससे 'मायारस' की स्थिति स्पष्ट हो जाती है। सप्रति दल, सप्रदायादि के रूप में जो समाज-सेवापर लोकसघ चल रहे हैं वे 'मायारस' की सीमा के भीतर आते हैं। आधुनिक समाज-सेवियों को इसमें दो बातें अच्छी न लगेंगी। एक तो इस रस को 'माया' कहना तथा इसके 'स्थायिभाव' को मिथ्याज्ञान मानना। यह नाम किसी को न

रुचे तो वह रस का नाम 'समाज-रस' रख ले। स्थायी भाव 'लोकज्ञान' कह ले। समझना तो यह है कि पुराने आचार्यो ने समाज और लोक-भावनात्मक अनुभूति को भी रस की सीमातक जानेवाला माना है, उसकी महत्ता, उसकी व्याप्ति स्वीकार की है।

शृंगारादि रसों का आस्वाद लेनेवाला 'सामाजिक' ही था, साथ ही सामाजिक प्रवृत्ति की अनुभूति भी रसात्मक मानी गई। प्रगतिवादी-बंधु आलोचना के क्षेत्र मे चाहें तो 'समाज-रस' की घोषणा करके नूतन आलोचना को रस की पुरानी दृष्टि से भी पोषित कर सकते हैं। भारतीय आचार्यो की परपरा नवीनोद्भावना, नवीन स्थापना में साहसपूर्वक अग्रसर होती रही है। उसमें सांप्रतिक समाजोन्मुखी वृत्ति के बीज आरभ से ही थे। जनता की दृष्टि से ही साहित्य की अवतारणा हुई। साहित्य-साधना रूढ़ि से बँधकर चलनेवाली न थी। उसे बाँध दिया कुछ रूढिप्रेमियो ने। स्वच्छंदता का मार्ग किस प्रकार साहित्य ने पकड़ा या आधुनिक शब्दावली में कहे तो कह सकते है कि 'कैसी क्रांति की' इसका सकेत भरत मुनि के नाट्य-वेद की उद्भावना से ही मिल जाता है—

न वेदव्यवहारोऽयं श्राव्यः शूद्रजातिषु।
तस्यात् सृजापरं वेदं पञ्चमं सार्ववर्णिकम्॥

'शूद्रजातिषु' का पक्ष लेकर साहित्य-सर्जना की गई, पर 'सार्ववर्णिक'। साहित्य एकांगदर्शी नही माना गया। भारत रूढियों का त्याग सामाजिक-सार्वभौम दृष्टि से निरतर करता आया, अन्यत्र चाहे जो हो साहित्य न वर्गभेद मानता है, न स्त्रीपुनपुसकादि का लिंग-भेद, जहाँ तक उसकी रस-प्रक्रिया का सबध है; क्योंकि वह सामाजिकता के साधारणीकरण के साम्यभाव पर टिकी है। जो अपने अज्ञान, अशक्ति, आलस्य, स्वार्थ आदि से उसका आलोड़न-मंथन करना ही त्याग दे उनकी 'प्रगति' 'सद्गति' नही कही जा सकती। 'नवनव' की पुकार बहुत मच रही है, पर प्राचीन' में क्या 'नव' है इसे देखने का साहस भी कोई नहीं करता।

यहाँ एक बात और कह देनी है। साहित्य की सामाजिकता की व्याप्ति कुछ अधिक दूर तक है। समाज में रहनेवाले मानववृंद तक ही नहीं, वह पशुओं के 'समाज' और 'पक्षियो' के 'यूथ' तक जाती है। आदिकवि महर्षि वाल्मीकि का 'शोक' 'श्लोकत्व' में परिणत हुआक्‍ यों ? क्रौंच-वध से। जो अपने 'मद' में केवल व्याध और वाल्मीकि को देख पाते है, और अपने अज्ञान से व्याध तथा वाल्मीकि को विभिन्न वर्गो का प्रतीक कह बैठते है उन्हें ऐतिह्य का मनन करना चाहिए। वाल्मीकि भी पहले व्याध ही थे। उन्होंने शूद्रक-वध के पूर्व रावण-वध भी कराया था। क्यों? सामाजिकता की साधना के लिये। सीता-त्याग भी इसीलिये। भवभूति का 'आराधनाय लोकस्य' का स्मरण कर लीजिए। वह सामाजिकता किसी को आदर्श न जान पडे, यह दूसरी बात है। पर हुआ सब सामाजिकता की ही दृष्टि से। 'स्व' के स्थान पर 'पर' का विशेष ध्यान रखनेवाली सामाजिकता की नीति से।

निष्कर्ष यह कि जो रस-प्रक्रिया को आत्मपर्यवसायी मानते है उन्हें उसकी विश्वविषयता या सामाजिकता का ध्यान करना चाहिए। जो कहते हैं कि प्राचीन रस-प्रक्रिया समाज के काम की नहीं उन्हें उसको समझने का अभ्यास डालना चाहिए। साहित्य में 'बाल-वचन' नहीं, 'बुध वचन' साधना

जैन तीर्थंकर पार्श्वनाथ की कायोत्सर्ग मुद्रा मे मूर्ति
उत्तर गुप्तकाल, (ई० ६ठी शती)
राजघाट (काशी) से प्राप्त

कवि-कोटियाँ

भगीरथ मिश्र

भारतीय काव्यशास्त्र के अंतर्गत काव्यात्मा की खोज में उद्भूत विभिन्न सिद्धांतों का प्रतिपादन हुआ है और काव्य के विविध रूपों पर भी विचार किया गया है, किंतु कवि-कोटियों पर प्रकाश डालनेवाले ग्रंथों की संख्या अधिक नहीं है। इस संबंध में निश्चित एवं तथ्यपूर्ण विवरण देनेवाले प्रमुखतया दो ही ग्रंथ हैं—राजशेखर-कृत काव्यमीमांसा और क्षेमेंद्र कृत कविकंठाभरण। कविशिक्षा और सिद्धांतपरक विवेचना करनेवाले अनेक ग्रंथों, जैसे नाट्यशास्त्र, काव्यालंकार, काव्यादर्श, वक्रोक्तिजीवितम्, ध्वन्यालोक, अलंकार-शेखर, काव्यालंकारसूत्र वृत्ति, काव्यप्रकाश, साहित्यदर्पण, रसगंगाधर आदि में इस विषय पर कोई महत्वपूर्ण उल्लेख नहीं। हिंदी में लिखे गए काव्यशास्त्रीय ग्रंथों में भी कोई उल्लेखनीय सामग्री उपलब्ध नहीं। महत्वपूर्ण ग्रंथों में कवि-कोटियों अर्थात् कवियों के वर्गों, जातियों और प्रकारों पर कोई उल्लेख न होने का एक कारण तो इस प्रकार के वर्गीकरण के आधार की विवादग्रस्तता हो सकती है। एक व्यक्ति यदि किसी एक आधार पर एक प्रकार के कवि को उत्कृष्ट ठहराता है तो दूसरा व्यक्ति दूसरे आधार पर दूसरे प्रकार के कवि को। इस प्रकार प्रत्येक के निर्णय में अंतर हो सकता है।

दूसरा कारण यह भी है कि काव्य की कोटियों के निर्धारण में तो सरलता है, क्योंकि कोई व्यक्तिगत आक्षेप का अवसर नहीं किंतु कवि-कोटियों पर अधिक विचार एवं उनका अधिक प्रचार होने से कवि के प्रति कुछ असम्मान का भाव भी जाग्रत हो सकता है। तीसरा कारण यह भी जान पड़ता है कि कवि-कोटियों को निश्चित करने या प्रामाणिक माननेवाले भावक या आलोचक यदि कवित्वशक्ति की उत्कृष्टता से संपन्न न हुए, तो स्वयं अपनी ही कसौटी पर कस जाकर सम्मान के भाजन नहीं हो सकते। अतः इस प्रकार का प्रयत्न अधिक श्रेयस्कर नहीं समझा गया। इसके अतिरिक्त चौथा कारण यह भी जान पड़ता है कि यह विषय अधिक महत्वपूर्ण नहीं समझा गया और काव्य की कोटियों पर प्रकाश डाल देने पर अवांतर रूप से कवि-कोटियों पर भी प्रकाश पड़ ही जाता है। अतः लोगों का अधिक ध्यान इस विषय पर नहीं गया। परंपरागत काव्य-शास्त्रीय ग्रंथों में प्रमुख समस्या दूसरी होने के कारण, परवर्ती आचार्यों ने इस प्रसंग को नए सिरे से अपने ग्रंथों में जोड़ने की कोई आवश्यकता नहीं समझी। अतः यह उन ग्रंथों के सामान्य विवेचन का विषय न बन सका।

कारण कुछ भी हो, किंतु पक्षपातहीन एवं निष्पक्ष दृष्टि से कवि-कोटि-निर्धारण काव्य और कवि—दोनों की ही उत्कृष्टता-वृद्धि मे सहायक अवश्य हो सकता है। इसी विश्वास को लेकर इस विषय पर कुछ सामग्री प्रस्तुत करने का प्रयत्न इन पंक्तियो में किया गया है। इस विषयपर सब से महत्वपूर्ण प्रकाश राजशेखर की 'काव्य-मीमांसा' मे डाला गया है । राजशेखर ने अनेक प्रसंगों मे कवि-कोटियों का निर्देश किया है और विभिन्न आधारों पर उनका निर्धारण किया है।

कवि का उपकार करनेवाली कारयित्री या रचनात्मक प्रतिभा तीन प्रकार की होती है—सहजा, आहार्या और औपदेशिकी। इसीके आधार पर कवियों की तीन कोटियाँ निश्चित की जा सकती है—सारस्वत, आभ्यासिक और औपदेशिक[१]।

सारस्वत—कोटि में वे कवि आते है जिनकी कवित्वशक्ति सहजा प्रतिभा के द्वारा पूर्वजन्म के संस्कारवश कविकर्म में प्रवृत्त होती है।

आभ्यासिक—कोटि के कवि वे है जिनकी कवित्वशक्ति आहार्य बुद्धि के द्वारा इसी जन्म के अभ्यास से जाग्रत होती है।

औपदेशिक—कोटि मे वे कवि है जिनकी काव्यरचना उपदेश के सहारे होती है।

काव्य-सेवन के आधार पर भावक या समालोचक के चार भेद माने गए है—अरोचकी, सतृणाभ्यवहारी, मत्सरी और तत्वाभिनिवेशी[२]। ये भेद वास्तव मे आलोचक के ही माने जाने चाहिए; किन्तु कुछ लोगों ने कवि के भी यही भेद माने है। इनमें **अरोचकी** वह है जिसे अन्य किसी का काव्य अच्छा नही लगता। **सतृणाभ्यवहारी** वह है जो समस्त कविता कही जानेवाली छदोबद्ध रचना को पढ़ता है। **मत्सरी**—वह है जो दूसरों के उत्तम काव्य को भी न पढता है और न सुनकर प्रशसा करता है, केवल दोषों को देखता है। और **तत्वाभिनिवेशी** वह है जो काव्य के तत्व मे प्रवेशकर उसे पहिचान लेता है और उसे ही ग्रहण करता है । सूक्ष्मतया यदि हम विचार करे तो ये भेद वास्तव मे, आलोचक के ही हो सकते है, क्योकि कविप्रतिभा का इससे संबध नही। इनका संबध भावयित्री प्रतिभा से विशेष है, कारयित्री से नही।

केवल प्रतिभा के आधार पर किए गए वर्गीकरण में उत्तरोत्तर निम्न श्रेणी के वर्ग आए है और इस दृष्टि से यह कहा जा सकता है कि सारस्वत उत्तम कवि है, आभ्यासिक मध्यम कवि और औपदेशिक अधम। किंतु इसके उपरात प्रतिभा और व्युत्पत्ति दोनों ही को आधार मानकर जो वर्गीकरण किया गया है उसमें इसप्रकार ऊँचाई-निचाई के संबंध में मतभेद है। राजशेखर ने इस आधारपर तीन भेद किए है—शास्त्र-कवि, काव्य-कवि और उभय-कवि । श्यामदेव के विचार से ये उत्तरोत्तर एक दूसरे से बढकर है। किंतु राजशेखर का मत भिन्न है। उनकी दृष्टि से प्रत्येक अपने-

१. काव्यमीमांसा, चतु० अध्याय, पृ० १३।

२. "ते च द्विधाऽरोचकिन., सतृणाभ्यवहारिणश्च।" इति मंगलः। "कवयोऽपि भवन्ति" इति वामनीयाः चतुर्थ इति यायावरीय. मत्सरिणस्तत्त्वाभिनिवेशिनश्च।—काव्य मीमांसा, चतु, पृ० १४।

अपने विषय में महत्वपूर्ण है और कोई किसी से घट बढ़कर नहीं। काव्य कवि में कवित्व-अधिक रहता है। अध्ययन और ज्ञान उतना नहीं, शास्त्रकवि में अध्ययन और ज्ञान अधिक रहता है किन्तु उसमें रस और भाव की सम्पत्ति अधिक नहीं रहती और उभय-कवि में दोनों ही बातों का समान महत्व रहता है। यद्यपि राजशेखर का मत भिन्न है, किन्तु जब हम कवित्व की दृष्टि से विचार करते हैं, तो वास्तव में सर्वोत्तम कवि उभयकवि है और शास्त्रकवि इन सब में निम्नतम।

राजशेखर की दृष्टि से शास्त्र-कवि तीन प्रकार के होते हैं। प्रथम जो शास्त्र का निर्माण करता है, द्वितीय जो शास्त्र में काव्य का सन्निवेश करता है और तृतीय जो काव्य में शास्त्रीय अर्थ या शास्त्र के तत्वों को समाविष्ट करता है। इनमें कौन किससे बढ़कर या घटकर है इस संबंध में काव्यमीमांसा के लेखक ने अपना कोई मत प्रकट नहीं किया। किन्तु काव्य की रसोटीपर कसने से द्वितीय ही सर्वोत्तम समझा जाना चाहिए, क्योंकि कवि-कर्म का सब से अधिक संबंध उसीसे है। कुछ के मत से तृतीय ही सर्वश्रेष्ठ हो सकता है। वास्तव में इन कोटियों के संबंध में उत्कृष्टता संबंधी निर्णय देना प्रत्यक्ष काव्य पर ही निर्भर करता है।

काव्य-कवि के प्रभेद काव्य मीमांसा में आठ कहे गए हैं—रचना-कवि, शब्द-कवि, अर्थ-कवि, अलंकार-कवि, उक्ति-कवि, रस-कवि, मार्ग-कवि और शास्त्रार्थ-कवि। ये भेद काव्य की आत्मा या तत्व के आधार पर किए गए हैं। संस्कृत साहित्य में काव्य की आत्मा की खोज में विभिन्न तत्वों के आधार पर अनेक काव्य सिद्धान्त प्रचलित हुए। कुछ विद्वानों ने अलंकार को ही काव्य में सब कुछ माना, जिसके आधार पर अलंकार सिद्धांत चला। अलंकार कवि ऐसे कवि को कहा जाता है जिसकी रचना में अलंकार की ही प्रधानता होती है। इसीप्रकार 'वक्रोक्ति' या उक्ति-वैचित्र्य ही काव्य में सबकुछ माननेवाला का वक्रोक्ति सिद्धांत बना। इसीके आधारपर जिसकी रचना में उक्ति चमत्कार ही प्रधान हो उसे उक्ति कवि कहना चाहिए। इसी भांति रस सिद्धांत के आधार पर रस की अभिव्यक्ति जिसके काव्य में प्रधानतया होती है उसे रस कवि कहा गया। रीति सिद्धान्त के अनुसार रीति, मार्ग या शैली ही काव्य की आत्मा है। अतः इस सिद्धांत के अनुसार जिस कवि की रचना में रीति, मार्ग या शैली की विशेषता हो उसे 'मार्ग कवि' कहना चाहिए। ऐसा जान पड़ता है कि राजशेखर के समय तक 'ध्वनि' और 'औचित्य' के सिद्धांत प्रचलित नहीं थे। इसीसे उन्होंने ध्वनि और औचित्य के आधारपर कवियों के नामकरण नहीं किए।

शास्त्रार्थ कवि वह है जो अपनी रचना में बड़ी सरसतापूर्वक शास्त्र के तत्वों का निरूपण करता है। रचना कवि वह है जिसके काव्य में, वाक्य, शब्द या वर्ण के सगुंफन का चमत्कार हो। अर्थ-कवि के काव्य में अर्थ का चमत्कार प्रधानरूप से पाया जाता है और शब्द कवि में शब्द का। शब्द-कवि के राजशेखर ने तीन प्रभेद किए हैं—नाम-कवि, आख्यात कवि, और नामाख्यात कवि। नाम कवि वह है जिनकी रचना में नाम अर्थात संज्ञा शब्दों की प्रधानता रहती है। आख्यात कवि की रचना में क्रिया शब्दों की प्रधानता और चमत्कार रहता है और नामाख्यात-कवि की रचना में दोनों ही प्रकार के शब्दों का। यहांपर यदि हम ध्यान से देखें तो शब्द-कवि के सभी प्रभेद, रचना-कवि के अन्तर्गत आ सकते हैं और रचना-कवि स्वयं मार्ग-कवि का एक प्रभेद हो सकता है। इस प्रकार से मुख्यतः छः भेद ही रह जाते हैं। उनमें यदि ध्वनि कवि और औचित्य-कवि नाम के दो भेदों को

और जोड़ दिया जाय, तब आठ भेद आज भी माने जा सकते हैं। इस वर्गीकरण के आधार काव्य-सिद्धात है। राजशेखर के मत से उपर्युक्त कवियो के दो-तीन गुण, जिन कवियों की रचना मे पाए जाते है, वे साधारण है, जिनमे पाँच-छ गुण पाए जाते हो, वे मध्यम और जिसकी रचना उपर्युक्त सर्वगुण-सपन्न हो, उसे महाकवि कहना चाहिए।

पूर्वोक्त, प्रतिभा के आधारपर किए गए सारस्वत, आभ्यासिक और औपदेशिक कवियो मे राजशेखर ने दश अवस्थाएँ मानी है, उनमे प्रथम दो अर्थात् सारस्वत और आभ्यासिक मे सात और औपदेशिक में तीन अवस्थाएँ है। इन अवस्थाओ के अनुसार कवि निम्नलिखित है—

१ काव्य-विद्यास्नातक—वह है जो काव्य करने की इच्छा से काव्य की विद्या और अविद्याओ को ग्रहण करने के लिए गुरुकुल मे रहता है।

२ हृदय-कवि—वह है जो हृदय मे ही कविता करता है, उसे किसी पर प्रकट नही करता।

३ अन्यापदेशी-कवि—वह है जो दोषभय के कारण अपनी रचना को दूसरे की कहकर व्यक्त करता है।

४ सेविता—वह है जो काव्य का अभ्यास हो जानेपर किसी प्राचीन उत्तम कवि की छाया के रूप मे कविता करता है।

५ घटमान—जो निर्दोष, भावपूर्ण किंतु प्रबंधहीन मुक्तक रचनाएँ करता है, वह घटमान है।

६ महाकवि—वह है जो किसी भी प्रकार की प्रबंध-रचना कर सकता है।

७ कविराज—वह है जो अनेक भाषाओ मे अनेक रसो मे विविध प्रबंधो की रचना कर सकता है। ससार मे ऐसे कवि विरले ही होते है।[१]

८. आवेशिक—कवि वह है जो मत्रादि के बल से काव्य करने की सिद्धि प्राप्तकर आवेश की अवस्था मे ही कविता कर सकता है।

९. अविच्छेदी—वह है जो किसी प्रतिबंध के बिना, जब इच्छा हो तभी कविता कर सकता है।

१० सक्रामयिता—वह सिद्धमत्र कवि है जो अपने मत्रबल से कुमार-कुमारियो मे कवित्व-शक्ति का सचार कर सकता है।

उपर्युक्त अवस्थाओ से यह प्रकट है कि अभ्यास के द्वारा कवि एक अवस्था से दूसरी अवस्था प्राप्त कर सकता है। राजशेखर का भी मत है कि अभ्यास द्वारा सुकवि के वाक्य परिपक्व होते है।[२]

चार प्रकार के कवि कविता-काल के विचार से कहे गए है।[३] प्रथम असूर्यम्पश्य-कवि है, जो किसी गुफा के भीतर या घर मे बैठकर निष्ठापूर्वक काव्य रचना करता है। उसका कविता-

---

१ यस्तु तत्र तत्र भाषा विशेषे, तेषु तेषु प्रबंधेषु तस्मिंस्तस्मिंश्च रसे स्वतत्र, स कविराज। ते यदि जगत्यपि कतिपय।—काव्य०, अ० ५, पृ० १९।

२ सततमभ्यासवशत सुकवे. वाक्यं पाकमायाति—का० मी०, अ० ५, पृ० २०।

३. काव्य० मी०, अ० १०, पृ० ५३।

प्रथम समय है। द्वितीय निषण्ण कवि है जो काव्य क्रिया के लिये बैठकर रचना करता है। इसमें उतनी निष्ठा नहीं होती। इसकी रचना के ये सभी काल हैं जिनमें वह दत्तचित्त है। तृतीय दत्ता-वसर कवि है जो अपना अन्य सेवादि का कार्य समाप्त करके, समय प्राप्त होनेपर कविता करता है। इसके लिये ब्राह्म मुहूर्त या सारस्वत मुहूर्त उत्तम काल है। चतुर्थ प्रायोजनिक कवि है जो किसी प्रयोजन का लक्ष्य कर काव्य रचना करता है। उसके लिए जब कोई ऐसा प्रयोजन प्रस्तुत होता है, वही कविता-काल है।

रचना की मौलिकता के आधारपर कवि के चार भेद हैं—उत्पादक, परिवर्तक, आच्छादक एवं संवर्गक। उत्पादक कवि अपनी नवीन उद्भावना के आधारपर मौलिक रचना प्रस्तुत करता है, परिवर्तक दूसरे कवियों की रचना में कुछ उलटफेर और परिवर्तन करके अपनी छाप डाल उसे अपनी रचना बना लेता है, आच्छादक कवि कुछ साधारण हेर-फेर से ही दूसरों की रचना छिपाकर अपनी कर प्रसिद्ध कर देता है और संवर्गक कवि प्रगट रूप से, खुल्लमखुल्ला दूसरे के काव्य को अपना करके प्रकाशित करता है। इन कवियों में वास्तव में उत्पादक को ही कवि मानना चाहिए, अन्य तो नकलची, चोर या डाकू हैं, कवि नहीं।

दूसरों की उक्ति हरण करनेवाले कवि चार[1] प्रकार के हैं। इनकी दशा अयस्कान्त या चुम्बक के समान है। ये कवि दूसरों का आधार तो लेते हैं, पर उनमें अपने गुणों का समावेश कर देते हैं। इन चारों के नाम हैं—भ्रामक, चुम्बक, कर्षक और द्रावक।

भ्रामक कवि—पुराणादि की अप्रसिद्ध अथवा दूसरों के द्वारा अदृष्ट वस्तुओं का वर्णन करके दूसरों को अपनी मौलिकता के भ्रम में डाल देता है।

चुम्बक-कवि—वह है जो दूसरों के अर्थ का ग्रहण कर उसमें, अपनी मनोहारी उक्तियों द्वारा अपना रंग प्रदान कर देता है।

कर्षक-कवि—वह है जो दूसरों के वाक्यों और अर्थों को उनकी रचना से खींचकर अपनी रचना में स्थान देता है।

द्रावक-कवि—वह है जिसकी रचना में उसके बिना जाने ही दूसरों के अर्थ आकर एक मनोहारी नवता ग्रहण करते हैं।

काव्यमीमांसाकार ने इन चारों प्रकारों को लौकिक कहा है। इसके साथ ही उन्होंने अदृष्ट-जगद्दर्शी 'चिन्तामणि' नाम के अलौकिक कवि का भी वर्णन किया है। उनका कथन है—

चिन्ता सम यस्य रसैकसूतिरुदेति चित्राकृतिरर्थसार्थः।
अदृष्टपूर्वो निपुणैः पुराणैः कविः स चिन्तामणिरद्वितीयः॥[2]

जिसमें एक साथ अर्थ, रस, चित्र आदि की विचित्र प्रभा रहती है जैसी पूर्ववर्ती निपुण कवियों में भी देखने को नहीं मिलती, वह चिंतामणि कवि है।

---

१ का० मी०, १२ अ०, पृ० ६४।
२ का० मी०, १२ अ०, पृ० ६५।

जिनके भाव नवीन हैं उनके विषय-वर्णन के आधार पर लौकिक, अलौकिक और मिश्र तीन भेद हैं। अर्थ-ग्रहण करनेवाले ऊपर वर्णित चार कवि-भेदों की भावापहरण करनेवाली आठ-आठ क्रियाएँ नीचे लिखी जाती हैं—

व्यस्तक—किसी अन्य कवि की उक्ति के पहले और पीछे आनेवाले क्रम को वदलकर ग्रहण करना व्यवस्तक है। किसी विस्तृत उक्ति के किसी एक खड को ग्रहण कर लेना खड है। किसी संक्षिप्त उक्ति को खूब वढ़ाकर ग्रहण करना तैलविंदु कहा गया है। दूसरी भाषा की उक्ति को अपनी भाषा मे ग्रहण करना नटनेपथ्य है। किसी काव्य के छद को वदलकर उसे ग्रहण करना छंदोविनिमय है। किसी उक्ति के कारण को वदल देना हेतुव्यत्यय है। देखी हुई वस्तु को अपने स्थान से दूसरे स्थान मे ले जाकर वर्णन करना सक्रातक है। किसी की उक्ति से वाक्य और अर्थ दोनो ही का ग्रहण सपुट है। इस प्रकार का भावापहरण 'प्रतिवित-काव्य' कहा गया है। राजशेखर की दृष्टि से इस प्रकार का परोक्ति-हरण कवि को अकवि वना देता है, अत. इसका त्याग कर देना चाहिए।

राजशेखर ने दूसरे प्रकार के भावापहरण का भी वर्णन किया है जो 'आलेख्य प्रख्य' कहलाता है। यह मार्ग अनुचित नही है। इसके प्रकार ये हैं :—समक्रम—किसी उक्ति के समान रचना करना, विभूषण मोष—सालकार उक्ति को अलकाररहित बनाकर कहना; व्युत्क्रम—किसी की उक्ति के क्रम को वदल देना, विशेषोक्ति—पूर्ववर्ती सामान्य उक्ति को विशेष रूप मे कहना; उत्तस—गौण भाव से कही उक्ति को प्रधानता देना; नटनेपथ्य—उसी उक्ति को कुछ वदल कर ग्रहण करना, एक परिकार्य—पूर्ववर्ती उक्ति के कारण-भाग को ग्रहण करना किंतु कार्यभाग वदल देना; प्रत्यापत्ति—विकृत रूप से कहे भाग को स्वाभाविक वनाकर कहना। यह हुआ 'आलेख्य अख्य' रीति से भावापहरण। तीसरा 'तुल्यदेहितुल्य' मार्ग है जिसके भेद ये हैं :—

विषय परिवर्त—किसी विषय मे विषयांतर का समावेश कर उस विषय को दूसरा रूप दे देना।

द्वंद्वविच्छित्ति—दो प्रकार से वर्णित विषय के एक प्रकार को ग्रहण कर लेना।

रत्नमाला—पूर्ववर्ती काव्य के अर्थो को दूसरे अर्थो मे प्रयुक्त करना।

संख्योल्लेख—पूर्वोक्त सख्या को वदल देना।

चूलिका—विषम को सम और सम को विषम रूप मे वर्णित करना। इसमे प्रथम सवादिनी और द्वितीय विषवादिनी रीति कहजाती है।

विधानापहार—विधान को वदल देना अर्थात् निषेध को विधि रूप मे कहना।

माणिक्यपुज—वहुत से अर्थो को एक स्थानपर सगठित करना।

कद—कद रूप अर्थात् सहित अर्थ को कंदल (अकुर) अर्थात् व्यवहित या व्यष्टिगत रूप मे व्यक्त करना।

यह मार्ग राजशेखर की दृष्टि में ग्राह्य मार्ग है।

भावापहरण का एक अन्य 'परपुरप्रवेश' नामक रीति है, जिसके भेद निम्नलिखित है —

हुल्युद्धम्—एक प्रबन्ध में निहित अर्थ को युक्तिपूर्वक बदलकर दूसरे प्रबन्ध का कर देना।

प्रतिकंचुक—दूसरे प्रसंग में एक प्रकार की वस्तु को दूसरे प्रकार से प्रकट करना।

वस्तु-संचार—एक उपमान का स्थान पर दूसरे उपमान का प्रयोग करना।

सानुवाद—शब्दालंकार को अर्थालंकार में बदल देना।

सवार—किसी वस्तु के साधारण वर्णन को उत्कृष्ट रूप में वर्णन करना।

जीवजीवक—पूर्ववर्ती सादृश्य को असादृश्य रूप में प्रकट करना।

भावमुद्रा—प्राचीन वाक्य के अभिप्राय को लेकर प्रबंध लिखना।

तद्विरोधी—प्राचीन उक्ति की विरोधी उक्ति करना।

इस प्रकार काव्य-मीमांसा में, भावापहरण करनेवाले कवियों के विविध रूपों का वर्णन किया गया है। उनमें से अधिकांश जैसे तब थे वैसे अब भी है।

'कवि-कण्ठाभरण' में क्षेमेन्द्र ने भावापहरण करनेवाले छः प्रकार के कवियों का वर्णन किया है—

छायोपजीवी पदकोपजीवी पादोपजीवी सकलोपजीवी।
भवेत्प्राप्तकवित्वजीवी स्वोन्मेषतो वा भुवनोपजीव्य ॥

इनमें से छायोपजीवी कवि वह है जो दूसरे कवियों के काव्य की छायामात्र लेकर काव्य करता है। पदकोपजीवी—दूसरे कवियों के एकाध पद को लेकर अपनी रचना सजाता है, पादोपजीवी—छंद का एकाध चरण लेकर अपने छंद की पूर्ति करता है, सकलोपजीवी—समस्त रचना को ग्रहण कर अपनी कह देता है, प्राप्तकवित्वजीवी—कवि शिक्षा को प्राप्त करके कविता करता है और भुवनोपजीवी—अपने उन्मेष, आगम या प्रतिभा के कारण समस्त विश्व से अपने विषय का ग्रहण करता है। इनमें अंतिम दो तो वास्तव में कवि है, किंतु प्रथम चार तो परोक्षित मात्र है। क्षेमेंद्र ने इसके बाद कवि शिक्षापक्ष ही विशेष रूप से अपने ग्रंथ 'कविकण्ठाभरण' में प्रकाश डाला है, किंतु कवि कोटियों पर अधिक विवरण उपलब्ध नहीं। अन्य ग्रंथों में यद्यपि अधिक विवरण नहीं मिलता, पर राजशेखर-कृत 'काव्यमीमांसा' में जो विस्तृत विवरण कवि-कोटियों का है, वह बड़ा ही पूर्ण है जिसके अंतर्गत लगभग सभी प्रकार के कवि आ जाते हैं।

ज्योतिरीश्वर कवि शेखराचार्य ने अपने ग्रंथ 'वर्णरत्नाकर'[2] के अंतर्गत राज-दरबार के वर्णन-प्रसंग में कवियों का उल्लेख किया है। उसमें कवि, सुकवि, सत्कवि और महाकवि नामों का संकेत

काव्यमीमांसा, १३ अ०, ७५ पृ०।

१ कविकण्ठाभरण, द्वितीय संधि, १

२ वर्णरत्नाकर, पृ० १०, (डॉ० सुनीति कुमार चटर्जी की भूमिका सहित)।

है, किंतु इनके लक्षण नही दिए। भाट-वर्णन-प्रसग मे भी कविगुण का उल्लेख मात्र है। अतः इससे कुछ अधिक स्पष्ट नही होता।

हिंदी के ग्रथो मे भी कवि-कोटियो पर कोई महत्वपूर्ण विचार नही मिलता। एकाध ग्रथ ही ऐसे है जिनमे इस विषयपर प्रकाश डाला गया है। केशवदास की कविप्रिया मे, कवि के तीन भेदो का उल्लेख है—उत्तम, मध्यम और अधम। उनका यह वर्गीकरण, वर्ण्यविषय के आधार पर है जैसा हम उनके निम्नांकित दोहे मे देख सकते है:—

उत्तम मध्यम अधम कवि, उत्तम हरि-रस-लीन।
मध्यम वरनत मानुपनि, दोपनि अधम अधीन॥१

इस प्रकार केशव की दृष्टि से ईश्वर का गुणगान करनेवाले उत्तम कवि, मनुष्यो का गुण वर्णन करनेवाले मध्यम-कवि और दोषयुक्त रचना करनेवाले या गुणो को छोडकर दोषो का दिग्दर्शन करानेवाले अधम कवि है। तुलसी की दृष्टि से भी यह वर्गीकरण उचित जान पडता है। भिखारी-दास के काव्य-प्रयोजन या फल के आधार पर किए गए वर्गीकरण का भी उल्लेख यहाँपर किया जा सकता है। उनकी दृष्टि से तीन प्रकार के कवि है—एक तो वे है जो कि अपने तप और साधना के वल से ससार में पूज्य कवि होते है, दूसरे जो अपने काव्य के द्वारा वहुत अधिक धन-सपत्ति और वडाई प्राप्त करते है और तीसरे वे है जो कविरूप मे प्रसिद्धि प्राप्तकर केवल यश के भागी होत है। इसप्रकार काव्य का सेवन लाभप्रद ही है।

कविजाति और कविभेद पर कुछ सामान्य उल्लेख जगन्नाथ प्रसाद 'भानु' के 'काव्यप्रभाकर' ग्रथ मे भी हुए है। रस-रुच्यनुसार कवियो की चार जातियाँ उन्होने वताई है जो हिंदू-समाज मे प्रचलित वर्ण-व्यवस्था का आधार लिए हुए है। इनमे उनके मनोवैज्ञानिक स्तर, रुचि और प्रवृत्ति की ओर सकेत है। 'भानुजी' के अनुसार जिस कवि की रुचि शृंगार, हास्य, अद्भुद और शात रस पर रहती है, वह ब्राह्मण कवि है, जिसकी रुचि रौद्र, वीर पर रहती है, वह क्षत्री-कवि है, जिसकी रुचि करुण रस पर हो वह वैश्य कवि और जिसकी रुचि वीभत्स और भयानक रस-वर्णन की हो, वह शूद्र-कवि है।[३] इस प्रकार की कवि–जाति–निश्चय से कोई लाभ नही, क्योकि एक तो रस सभी समान महत्व के है और इस वर्ण-व्यवस्था से तुलना करने पर विषमता का भाव उत्पन्न होता है, दूसरे रससिद्ध कवि सभी रसो के वर्णन मे समर्थ होते है और शृंगारादि तो सभी को प्रिय है, तीसरे इस वर्गीकरण पर ध्यान देने से फिर करुणा, वीभत्स और भयानक रसो पर लेखनी-

---

१ कविप्रिया, प्रभाव ४, छंद २।

२ एक लहै तपपुजन्ह के फल ज्यो तुलसी अरु सूर गोसाईं।
एक लहै वहु सपति केशव भूषन ज्यो वरवीर वड़ाई।
एकन्ह को जस ही सो प्रयोजन है रसखानि रहीम की नाईं।
'दास' कवित्तन की रचना वुधिवेतन को सुखदै सव थाईं॥१०॥
—भिखारीदास-कृत काव्य-निर्णय, मगलाचरण।

३ काव्य-प्रभाकर, पृ० ६९१।

सचालन कर कौन अपने को घटकर सिद्ध करेगा? अधम काव्य लिखनेवाले न हो, तो बात ठीक है, पर इन रसो पर लिखनेवाले कवि न हो, यह ठीक नहीं। अत यह जातिभेद जिसकी आज समाज में ही अधिक आवश्यकता नहीं' काव्य में तथापि समीचीन नहीं कहा जा सकता।

इसी प्रकार 'भानु' जी ने समस्या पूर्ति करनेवाले कवियो के भी भेदो का निर्देश किया है। समस्या पूर्ति करनेवाले कवियो की एक अलग कोटि अवश्य मानी जा सकती है क्योंकि उनकी कल्पनाशक्ति एक निश्चित विषय, पद या छद की लय का आश्रय लेकर काम करती है, जब स्वच्छद कवि स्वतन्त्र अपने भीतर की अनुभूति का वणन करता है। प्रथम मे कलात्मकता अधिक भावात्मकता कम। 'भानु' जी ने इन समस्या पूर्ति करनेवाले कवियों के चार प्रकार माने है — प्रथम वे है जो अपने इष्टदेव की सहायता से किसी विषय या समस्या का तथ्य समझकर उसपर लिखते है। द्वितीय वे ह जो किसी सामयिक घटना पर ध्यान देकर छद की रचना करते ह। तृतीय वे ह जो आश्रयदाता की रुचि देखकर उसके अनुसार समस्या पूर्ति करते ह और चतुर्थ वे ह जो समस्या लगत अर्थ के अनुकूल अपना छद ढालते है। इसप्रकार प्रबध-कवि और मनमौजी कवियों के अतिरिक्त इन समस्यापूरक कवियो की भी एक अलग कोटि समझनी चाहिए।

हिंदी-काव्य को सामने रखकर विभिन्न आधारो पर कवि-कोटियाँ निश्चित की जा सकती हैं, जिनका विवरण अति विस्तृत हो सकता है अत विस्तारभय से यहाँ पर उनका सक्षिप्त निर्देशन किया जाएगा। इनमें से अधिकाश राजशेखर की कवि कोटियो में भी आ सकते हैं, पर हिंदी-काव्य के प्रसग म उनका अलग ही वणन होना अपेक्षित है।

कथासूत्र या बध के आधार पर काव्य-कोटि के अनुसार कवि की भी दो कोटिया हो सकती है—एक प्रबध-कवि और दूसरे मुक्तक कवि। मुक्तक कवि किसी भी कथासूत्र को नही अपनाता, जब प्रबध-कवि कथा या चरित्र को लेकर ही चलता है। प्रबध कवि के दो आधारो पर भेद किए जा सकते ह। यदि चरित्र या कथानक बहुत विस्तृत और पूर्ण हुआ और कवि उसमें विभिन्न भावो और रसो का वणन करने में समर्थ हुआ तो उसे महाकवि कहते है और यदि वह कथानक समस्त वृत्त या चरित्र का एक अश मात्र ही है तो उसे खड कवि कह सकते है। कथानक में यदि लौकिक या प्राकृत चरित्र का वणन है तो उसे प्राकृत-कवि और यदि दिव्य या अलौकिक चरित्र का वणन ह, तो उसे अप्राकृत कवि कहेंगे।

छदो के आधार पर कवियो के तीन भेद किए जा सकते ह—छदकवि, स्वच्छद-कवि और गीति-कवि। जो अपनी रचना में नियमित छदो का ही प्रयोग करते ह वे छद कवि, जो मुक्त या स्वच्छद छदो का प्रयोग करते ह वे स्वच्छद कवि और जो गीतो का प्रयोग करते ह, उन्हें गीतिकवि कहना चाहिए।

अभिव्यक्ति या प्रकाशन की प्रकृति के आधार पर कवि की दो कोटिया है—प्रथम मौन कवि, द्वितीय मुखर कवि। मौन कवि की रचना पाठक को केवल लिपिबद्ध रूप में पढने के लिये ही मिलती है, जब मुखरकवि स्वय ही अपनी वाणी से काव्य का आस्वादन श्रोताओ को कराता है। मुखर-

कवि के दो प्रमुख भेद हैं—एक गोष्ठी कवि और दूसरा समेलनी कवि। गोष्ठी-कवि—दस-पाँच रसिकों की गोष्ठी मे ही अपनी रचना सुनाता है जब समेलनी कवि—बड़े बड़े समारोहों, समाजों और कवि संमेलनों में अपनी रचना सुनाते ह। समेलनी-कवियों के अनेक प्रभेद हैं जिनमे से प्रमुख हैं—समस्यापूरक-कवि, कठ-कवि, अभिनय-कवि, आशु-कवि, एक-छदोपजीवी-कवि, भाव-कवि और भाषा-कवि। समस्या-कवि किसी समस्या को लेकर ही अपना चमत्कार दिखा सकता ह। कठकवि वह है जो अपने सुरीले और मधुर कठ से साधारण कविता इस प्रकार पढता है कि सभी पर प्रभाव पडता है, किंतु जब कोई अपने आप एकात मे उसे पढ़ता है तब कोई विशेष सार नही मिलता। अभिनय-कवि कवि-समेलन में पठित कविता के साथ-साथ अपने अगसंचालन आदि से भावों का अभिनय भी करता जाता है। आशुकवि-वह है जो किसी विषय या समस्या पर किसी समय तुरत कविता बनाता और कहता चला जाता है। यह राजशेखर के आवेशिक या अविच्छेदी कवि के समान ही है। एक छदोपजीवी कवि-वह है जो किसी एक छद को ही प्रत्येक कवि-समेलन मे सुनाया करता है। भाव-कवि-वह है जो अपने किसी विशिष्ट भाव चमत्कार के कारण श्रोताओं पर प्रभाव डालता है। भाषा-कवि-वह है जो अपने भाषा-चमत्कार के द्वारा जन-समुदाय को मुग्ध करता है। इन कवियों मे ऐसे भी कवि हो सकते है जिनमें एक से अधिक विशेषताएँ विद्यमान हों। जिनमे अधिक विशेषताएँ हों उन्हे ही सिद्ध-कवि कहना चाहिए। इनमें दूसरे और तीसरे प्रभेद को छोड़कर लगभग सभी प्रभेद मौन-कवि के भी हो सकते है।

हिंदी कवियों की कोटियो का निर्धारण एक और आधार पर करना आवश्यक है, वह है काव्यगत प्रवृत्तियो का आधार। इस आधारपर कवियो के अनेक भेद-प्रभेद देखे जा सकते है जिनमे से प्रमुख भेदो का ही उल्लेख यहाँ किया जाएगा जो ये हैं—भक्त-कवि, नीति-कवि, रीति-कवि, राष्ट्र-कवि, छायावादी-कवि, प्रगतिवादी कवि आदि। भक्त-कवि वे हैं जिनका प्रमुख विषय भक्ति है, इन्हे हम तीन रूपों मे देख सकते है—सतकवि, अवतारवादी-कवि और रहस्यवादी-कवि संत-कवि निर्गुणोपासक और ज्ञानचर्चा करनेवाले है। अवतारवादी—सगुणोपासक और विविध भावों में भक्ति करनेवाले है। रहस्यवादी कवि वे है जो रहस्यभावना के द्वारा अपने और जगत के भीतर एक दिव्य-रूप और शक्ति का अनुभव करते है। नीति-कवि—अपने अनुभव के आधार पर जो लोक-व्यवहार की नीति का वर्णन करते है वे ही नीति कवि है। रीति-कवि—वे है जिन्होने लक्षण ग्रथों के उदाहरण-रूप अपनी रचना की है इनके अलकार, रस, रीति, वक्रोक्ति, ध्वनि आदि के आधार पर अनेक प्रभेद हैं। राष्ट्र-कवि वे हैं जो देश-प्रेम और राष्ट्रीयता की भावना को लेकर प्रमुखतया कविता करते है। छायावादी-कवि नए प्रतीक, उपमान, और लक्ष्यार्थों को लेकर अस्पष्ट आलवन के प्रति कवित: लिखनेवाले कवि है। ये हिंदी की आधुनिक मधुर शैली के प्रयोगवादी कवि माने जा सकते हैं। प्रगतिवादी कवि काव्य-द्वारा लोक की प्रगति का सिद्धात लेकर रचना करनेवाले कवि है। इनके दो भेद हैं—प्रचारवादी और प्रगतिशील। प्रचारवादी-कवि वे है जो अपनी रचनाओं द्वारा मार्क्सवाद या साम्यवाद का प्रचार करते है और प्रगतिशील कवि अपनी रचनाओ द्वारा हमारी समस्याओंपर प्रकाश डालते और यथार्थ जीवन का चित्रण कर प्रगति का आदर्श समुपस्थित करते है। इन्हे भी हम दो वर्गो में देख सकते है—एक तो जनकवि है जो सामान्य जनता के जीवन और समस्याओं पर प्रकाश डालते है और दूसरे समाजकवि है—जो समाज की प्रगति का उद्देश्य रखकर अपनी कविता करते हैं। इनके

भी अनेक भेद प्रभेद हैं जिनका वर्णन विषय को अति विस्तृत कर देगा अतः यहाँ उनकी कोई विशेष आवश्यकता नहीं।

इसप्रकार ऊपर की पंक्तियों में, अति संक्षेप रूप में भारतीय काव्य में प्राप्त कवि-कोटियों का निर्देश किया गया है। इन सब के उदाहरण भी जुटाये जा सकते हैं। यदि कवि-कोटि निश्चय करने के उपरान्त हम उनकी रचना के उदाहरण भी देने का प्रयत्न करें, तो अन्य अनेक भेद प्रभेद हो जा सकते हैं। प्रस्तुत लेख के अंतर्गत हिंदी काव्य की कवि-कोटियों में इस सम्बन्ध में कुछ नहीं कहा गया कि कौन घटकर और कौन बढ़कर है। उसे संस्कृत के वर्गीकरण के आधार पर ही जानना चाहिए। वैसे इसका निर्णय सभी कर सकते हैं। निष्पक्ष विवेचन में तो स्मरण मात्र देने का प्रयत्न करना ही अलम् है, क्योंकि तुलसी के शब्दों[1] में कौन बड़ा और कौन छोटा है, इसका निर्णय देना अपराध है।

१ को बड़ छोट कहत अपराधू।
गुनि गुन दोष समुझिहहिं साधू॥
—रामचरितमानस, बालकाण्ड

आनंदघन की एक हस्तलिखित प्रति

केशरी नारायण शुक्ल

आनंदघन या घन-आनंद का विषय हिंदी काव्य मे जितना मनोरंजक और महत्वपूर्ण है उतना ही विवादग्रस्त भी रहा है। अभी थोड़े समय पहले तक इतना भी नही निश्चित हो सका था कि आनंदघन और घन-आनद एक ही व्यक्ति के दो नाम है या दो भिन्न व्यक्तियों के नाम है। इसीप्रकार इनका समय, तथा इनके संप्रदाय आदि के विषय में भी कुछ न कुछ शका बनी हुई है। अभी इस 'व्रजभाषा प्रवीन" कवि के सब ग्रंथ भी नही उपलब्ध हो सके है। लेखक के पास आनंदघन की जो हस्तलिखित प्रति है उससे उपर्युक्त समस्याओ के सुलझाने मे कुछ सहायता मिलेगी ऐसा लेखक का विश्वास है।

आनंदघन की कविता मुझे लंदन मे हिंदी के एक हस्तलिखित सग्रह-ग्रंथ में देखने को मिली। इस सग्रह ग्रथ का इतिहास और उसकी विलायत-यात्रा भी बड़ी रोचक है। यह सग्रह ग्रंथ बहुत बड़ा है (१५॥ इंच ऊँचा––१२ इं० चौड़ा) और इसमे छोटे बडे उनतालीस हस्तलेख संकलित है। इसकी जिल्द लाल मखमल की है जिसपर बडी सुदर कढाई है। एक ओर तो फूल आदि कढ़े है और दूसरी ओर (जहाँतक स्मरण है) महावीर हनुमान की मूर्त्ति कढ़ी है। भरतपुर के राजा (दुर्जनसाल) के पुस्तकालय से यह ग्रंथ लार्ड कोम्बरमियर ने ले लिया और बाद मे उसे डब्ल्यू विलियम्स विन को भेट कर दिया। इस प्रकार यह वृहत ग्रंथ भरतपुर के पुस्तकालय से चलकर विलायत पहुँच गया। मैंने इसमें संगृहीत आनदघन की समस्त कृतियों की "माइक्रोफिल्म" फोटो प्रतिलिपि ले ली है। लडन में मैंने इस संबंध में जो "नोट" लिये थे उन्ही के आधारपर और इस 'माइक्रोफिल्म' फोटो प्रतिलिपि के आधारपर प्रस्तुत लेख लिख रहा हूं।

इस संग्रह ग्रंथ मे पाए जानेवाले अधिकांश कृतियों का लिपिकाल नही दिया है। तीन ग्रंथों का लिपिकाल संवत् १८३९ से लेकर १८४३ तक है। रंग कवि के हिंदी पद्य बद्ध भागवत पुराण के के तृतीय स्कंध के लिपिकर्त्ता भास्कर पंडित है। अंतलेख इसप्रकार है: "लिपिकृतं काश्मीरी पडित भास्करेण। श्रीमतं श्रीमहाराजाधिराज श्री व्रजेंद्र श्री रणजीत सिंह पठनार्थं। सवत् १९३९ पौष कृष्णाष्टम्यां लिषितं।" इसीप्रकार अंतलेख संग्राम सार का है। लिपि कर्त्ता भास्कर पंडित है। लिपि-

काल संवत् १८२९ फागुन वदी ११ गुरुवार है। मानस के भागवत प्रदान दास स्वरूप उल्गार के लिपिकर्ता भी वहा काश्मीरी पडित हैं लिपिकाल स० १८८१ है। तुलसी के रामचरितमानस का अतलेख नुच गया है किंतु लिपिकाल बच गया है 'स० १८६३ श्रावण शुक्लेति ८ सनिवासर "

घनानंद की कृतिया में केवल 'ब्रजस्वरूप, का अतलेख मिलता है। उसमें कोई लिपिकाल नही दिया है और उसे आनद कृत बताया गया है "इति श्री आनदकृत ब्रज स्वरूप सपूर्ण।"

जिन दो तीन कृतिया का अतलेख मिलता है उनके आधार पर यदि हम कहना चाहे तो यह कह सकते है कि घनानद की इन कृतियों का लिपिकाल भी इन्ही ग्रथो के आस-पास होगा। किंतु किसी स्पष्ट प्रमाण के अभाव में यह अनुमान मात्र ही होगा।

घनानद के छोटे बडे सब मिलाकर कुल तेईस ग्रथ मिले हैं। इनका अत्यत सक्षिप्त विवरण नीचे दिया जा रहा है। एक दो प्रासगिक छद भी उद्धृत किए जा रहे हैं। उद्धृत छद सख्या उन्ही ग्रथो की है।

(१) प्रिया प्रसाद प्रबध —इसमें राधा की वदना है। आनदघन की छाप मिलती है। छद सख्या ८८ है।

या प्रबध को नाम हू पायौ प्रिया प्रसाद॥८७॥"

(२) व्रज व्योहार —कृष्ण की व्रज क्रीडा का वर्णन है। दोहा में 'आनदघन' आया है। छद सख्या २३३।

"आनदघन व्रज की कथा कहिये कहा बखानि।
मगन होत मन बचन हू परम प्रेम पहिचानि॥७७॥"
चेटक चटक रूप चित चोरन, देखत देखत ही मन भोरन॥३२॥
कौन भाति की पगनि पगे हो, जित जित लोचन सग लगे हो॥२३३॥"

(३) वियोगबेली —इसमें छाप में 'आनद' के घन आया है। छद सख्या ८० है।
"अनाखी पीर प्यारे कौन पावै, पुकारौ मौन में कहिबे न आवै॥१५॥
रसिक सिरमौर हो रसरासि रीजै, तनक मन नाम के गुन बीच दीजै॥७२॥
सदा आनद के घन स्याम सगी, जियौ ज्यावौ सुधा प्यावौ अभगी॥८०॥"

(४) कृपाकद निबध—कवित्त, दोहा, सोरठा, सवैया, आदि छदो का प्रयोग, घन आनद, आनदघन, आनद के घन की छाप मिलती है। छद सख्या ५७।

'नैन उर आए ही बहुत दुख दूरि जात ताप जिन ताहि आप चदन कृपा करै।
रागनि दै रागनि दै पाग अनुरागनि दै जागनि जगाइ जै र मद न कृपा करै।
बानी के बिलास वर मावै घनआनद ह्वै मूल हू प्रगट गूढ छदन कृपा करै।
आरति निकदा मिटावै नद नदन सु आनद न मेरी मति बदन कृपा करै॥१॥"

(५) गिरि गाथा —गोवर्धन पर्वत का वर्णन। छद सख्या ५४।
"सुख समाज गिरिराज को रह्यौ दृगनि दरसाय।
मन तन रस भीजे लसौ आनँद घन बरसाय॥५४॥"

(६) भावना प्रकास —व्रजरज तथा व्रजभूमि का महत्त्व। दो एक छंदों में आनंद घन नाम आया है। छंद संख्या २१९।

"व्रजरस परस प्रसाद हि पाय, रहै महा आनंदघन छाय ॥१००॥
विवस दस (ा) गति कही न परई, दरस प्यास नैननि जल भरई॥ ९५।'
चटक चाँप चेटक चित चढ़ई, नाम रूप गुन अनुछिन ढरई ॥ ९६ ॥

(७) गोकुल विनोद :—गोकुल मे कृष्ण-विनोद का वर्णन। छद संख्या ६४।

नंद गोकुल वरनि वानी विसद जोति निवास
जहाँ नित्यानंदघन अद्भुत-अखड विलास ॥ १ ॥
रसिक नटवर वेस परम सुदेस रूप अपार।
व्रजवधू आनंदघन लीला सरस आसार ॥२१॥"

(८) व्रज प्रसाद.—व्रज की महिमा। छद संख्या १६०।

"व्रज की भेट सहेट सुहाय, रह्यौ सदा आनंदघन छाय ॥ ३ ॥
भरयौ पपीहा चौपनि सो है, व्रजरस व्रजमोहन मन मोहै ॥२४॥
प्रान पले या व्रज प्रसाद तैं, गिरा रसवती या सवाद तैं ॥४९॥

(९) धाम चमत्कार :—व्रज की महिमा, छद सख्या ७०। आनदघन आया है।

"अति अगाध रस सागर व्रज वन, नित बरसत प्यासनि आनदघन ॥ ६ ॥
व्रज सुरूप कछु मन मै आयो, सो हठ कै व्रजनाथ कहायो ॥४४॥
वृज वृंदावन सौ हितपन है नितही वरसत आनदघन है ॥७०॥"

(१०) कृष्ण कौमुदी.—कृष्ण के रूप-माधुरी का वर्णन। छद सख्या ८५। ४१ छद आधा।

"रसिक पपीहा पन गहे राधा आनँद कद।
चॉपतु चौप चकोर की वदन देपि व्रजचद ॥४०॥
नई चौप नित ही रहै, सुरस चाह रसरीति।
निपट चटपटी सौ भरी, व्रज मंडन की प्रीति ॥६६॥"
कृष्ण कौमुदी नाम यह मोहन मधुर प्रवध।
सरस भाव कुमुदावली प्रफुलित परम सुगध ॥८५॥"

(११) नाम माधुरी —राधा की प्रशसा, छंद संख्या ४१ या ८३ चरण।

"वृंदावन रानी श्रीराधा, मोहनमन मॉनी श्रीराधा।
श्रीकृष्णा कर्पणि श्रीराधा, आनँदघन वर्पणि श्रीराधा।"

(१२) वृंदावन मुद्रा —राधा की महत्ता और वृ दावन की महिमा तथा युगलमूर्त्ति की कीड़ा। छंद सख्या ५५ के वाद पाँच कवित्त वृ दावन के सवध में है। इन कवित्तो मे पहले मे 'घनआनद' आया है। २, ३ मे कोई छाप नहीं है। ४ मे "आनद कौ घन' और ५ मे 'आनंद के अवुद' छाप है।

"राधा कौ वृंदावन गाऊँ, गाय गाय वृ दावन पाऊँ ॥ १ ॥
रसनापन चातकी भई है, वृ दावन गुन गोभ छई है ॥१३॥
केलि संपदा दरसि वपाँनौ, मौन धरै अनुपम गुन गाँनौ ॥३४॥"

(१३) पदावली—राद नीपक नहीं ह। पदा का सग्रह। पजाबी भाषा के पद भी हैं। आनद क घन, आनदघन, आनद के अबुद, आनद पयोद (और एक स्थलपर आनद मेहु) प्रयुक्त हुआ ह। राग का नाम दिया ह किंतु विषय का निर्देश नहीं है। अतिम छद सख्या १०८८ है किंतु उसका क्रम ठीक नहीं है। कहीं-कहीं एक ही पद के चरणो की सख्या भी इसीम गिन ली गई ह। ९७९ के बाद १००० लिखा है। इसके बाद केवल ४८ छद और ह। इस प्रकार अतिम छद की सख्या १०८८ लिखी ह।

> आँखिन गही, अनि अनखानि।
> पीठि दै मानन नरचि तारि निलज लौ कानि ॥८२॥
> हौं गई और रिसौं हूँ चलल निग्रहगानि।
> मन सपन हैं कहूँ नन को नहीं पहचानि ॥८३॥
> जगति पुनि जर लगति धरति न धीर पीर पिरानि।
> दरस अजन लखि रहे आनँदघन सियरानि ॥८४॥
> हमारी सुरति कर धौं तुम लै हौ।
> आनँदघन पिय चातक कूक कक पछितायौ ई पैहौ ॥५२॥
> यह सुख जनम जनम ए ही माहि देहु।
> गुन गाऊँ ब्रजनाथ रावरे ब्रज परिकनि पारनि म गेहु।
> दीन पपीहा पै ढुरि ढुरि बरसौ कृपा दृष्टि आनँद मेहु ॥१०८२॥

(१४) सग्रह—शीर्षक नहीं दिया ह। कवित्त, सवैया, दोहा, चौपाई, छप्पय का सग्रह। छद सख्या भी कहीं कहीं छट गई है। आरभ के ५६ छदो के बाद सख्या नहीं लिखी गई। ५७ छद का अतिम चरण गायब है। छद सख्या ११३। यमुना आदि का वणन।

> 'आँखिनि कौं जा सुख निहार जमुना के होतु मो मुख बखानें न बनतु देखिबेई ह।
> गौर स्याम रग-आदरस ह दरस जा को गुनन प्रगट भावना विसेखिबे ईह।
> जुग कूल सरस मल्हार। डीठि परस ही, अजन सिगार रेख, अरु रखिव ई है।
> आनद के घन माधुरी को धारागि रह नरर तरगनि की गनि लेख वैई ह ॥

(१५) प्रमपत्रिका। —विरह वर्णन, छद सख्या २१ से लेकर ५३ तक। इसके बाद विविध विषय पर सवय हैं। सवैया की छद सख्या ५८ से लेकर १२३ तक ह।

> "काह तिहारी पाती तुम्हहि सुनाइ हौं, हाइ हाइ फिर हाइ कहूँ जो पाइ हौ।
> या पाती को देस पथिक प्रान लहै, आसा निगड समेत चलन उनयो रहै ॥

(१६) रस वसत—वसत ऋतु में वृंदावन की शोभा और राधा कृष्ण विहार। छद सख्या ७७।

> 'वृदावन आनदघन राजित जमुना कूल।
> सदा सुखद सुदर सरस, सब रितु रुचि अनुकूल ॥ १ ॥
> पेल चुहल रुचि रचनि मची है, दुरी चाँप अब उघरि नची है ॥२१॥

(१७) अनुभवचद्रिका—ब्रज की महिमा का गान, छद सख्या ५८। कवि के नाम की छाप बहुत कम है। एक स्थल पर आनदघन भी आया ह और मादघन भी प्रयुक्त हुआ है।

"अद्भुद प्रेमसुधा झर सरसै कृष्णचद आनँदघन वरसै ॥ ६ ॥
प्रगटी अनुभव चद्रिका भ्रम तम गयो बिलाय।
व्रजमंडन की कृपा तै, रह्यो मोदघन छाय ॥५३॥

(१८) रगवधाई—कृष्ण जन्मपर वधाई और उनका यशोगान। छद सख्या ५१।

"आनँद कौ म्र घन रस जस वरसौ, हित हरियारी नित ही सरसौ ॥४५॥
लीला ललित गुपाल की, अति अद्भुद रस कद।
आनँदघन वरस्यौ उदै पूरन गोकुल चंद ॥ ३ ॥

(१९) परमहस बसावली :—आनदघन की गुरु परंपरा का वर्णन हरिबंस तक। छद सख्या ५३।

"नारद हारद रुप धरि भरि आवेस अपार।
सप्रदाय थापन प्रगट निबादित्य उदार ॥ ८ ॥
तिनके पाट लसे वसे मुनिवर श्री हरिबस।
अति विवेक विज्ञानघन जसनिधि परम प्रसस ॥३९॥
विसे बीस महिमा तिन्है ताहि कोस है बीस
सदा बसौ नीकै लसौ कृपा ईस मो सीस ॥४१॥
परम हस बंसावली रची सची इँहि भाय।
कठ धारि है गुरुमुषी सुषदाई समुदाय ॥४६॥

(२०) मुरलिका मोद—मुरलीधर का वर्णन। छंद संख्या ४८।

"मुरलीधर चिर जियौ प्रॉनघन, नित सरसै वरसै आनँदघन ॥४४॥
पूरनि मै सुख-सुखमा पूरै, चेटक चटक चौप चित चूरै ॥ ५ ॥
ढिग तै टरै न पूरन पनँ की, भई चातकी ऑनँद घन की ॥४८॥

(२१) गोकुल गीत :—गोकुल वर्णन। छंद संख्या २३। छंद २१ के वाद दोहो की संख्या नही लिखी गई है।

"चहू ओर अति चुहल चैन की, पोषै चितवनि कमलनैन की ॥१७॥
ऑनँदघन विनोद झर वरसै, कॉन्ह, कॉन्ही सव कौ दरसै ॥१८॥"

(२२) व्रजविलास प्रबंध—व्रज का वर्णन। छंद संख्या (५८ से ११८ अर्थात्) ६८।

"रहि न सकै व्रज रस विनाँ, रसनै परयो सवाद।
कहि रहि सकै न फिरि बकै, मौन मह्यौ उन्माद ॥१०३॥
श्रीव्रज मडल माधुरी रही नैन मन छाय।
अद्भुद रस ऑनँदघन प्यासै वढ़ति अघाय ॥११८॥"

(२३) व्रजस्वरूप—व्रज वर्णन। छद सख्या १२२।

"कहौ कहा धौ व्रजकौ मोद, वरसत नित आनद पयोद ॥ १० ॥
उघरि उघरि वरसै, ऑनँदघन, या रस भीजे राजत व्रजजन ॥ ४६ ॥
कही परति क्यौ इतकी आरति, वृदावन घन मीन पुकारति ॥ ७५ ॥
व्रजभाषा रसनै अपनावै, तौ व्रजभाषा तया कहि आवै ॥१०८॥"

आनदघन क उपर्युक्त तईस ग्रथ इस सग्रह-ग्रथ में मिले हैं। आनदघन के ग्रथा का उल्लेख तो कई विद्वानो और अनुसधायको ने किया है किंतु कदाचित् ही किसी को ये सब ग्रथ उपलब्ध हुए है और (कतिपय ग्रथो का छोडकर) इन सब कृतियो का प्रकाशन तो अबतक हुआ ही नही है। इन सब कारणा से इस हस्तलेख का महत्त्व बहुत बढ जाता है। वैसे तो आनदघन की इन सभी कृतिया का अपना महत्त्व है—काई इनि कवि की उपासना पद्धति का सकेत देती है। तो काई उसके सप्रदाय का, कोई उसकी तन्मयता की झलक दिखाती है तो कोई उसके कवित्व शक्ति और शैली का परिचय देती है। अत इन सब ग्रथा के महत्त्व को स्वीकार करते हुए भी लेखक दो ग्रथो की ओर पाठको का ध्यान विशेषरूप से आकृष्ट करना चाहता है, क्योकि उनसे आनदघन के सबध मे कई बातो का पता चलता है।

पहला ग्रथ 'मुरलिका मोद' है। इसमें ग्रथकार ने रचनाकाल दिया है जिससे कम से कम इतना निश्चित हो जाता है कि वह उस समय विद्यमान था। 'मुरलिका मोद' के परिचय में उसकी छद सख्या ८८ लिखी गई है। छद ८८ के बाद लिखा है "इति श्री मुरलिका मोद सपूर्ण।— इसके बाद निम्नलिखित छद बिना सख्या के लिखे है—

"श्री वृदावन श्री यमुनातट, जुगलघाट सब विधि सुख सघट।
गोप मास श्रीकृष्ण पक्षसुचि, सवत्सर अठानवे अतिरुचि॥
मुरली सुरसुख कहत न आवै, सो जानै जो मुनि गुन गावै॥"

उपर्युक्त उद्धरण इस महत्त्वपूर्ण तथ्य की सूचना दे रहा है कि आनदघन ('मुरलिकामोद' की रचना के समय) सवत्सर अठानवे मे वृदावन में वर्तमान थे। आनदघन के जन्म तथा निधन की निश्चित सूचना के अभाव मे मुरलिका मोद का यह उल्लेख अत्यत महत्त्वपूर्ण बन जाता है। यह तो स्पष्ट ही है कि सवत्सर अठानवे सवत् १७९८ है। इससे इस प्रवाद का भी निराकरण हो जाता है कि यह नादिरशाह के आक्रमण मे मारे गए। नादिरशाह का आक्रमण सवत १७९६ में हुआ था, 'मुरलिका मोद' की रचना उसके दो वर्ष बाद हुई।

दूसरा महत्त्वपूर्ण ग्रथ "परमहस बसावली" है। इसमें आनदघन ने अपनी गुरु परपरा का वर्णन किया है। और अपने सप्रदाय का स्पष्ट उल्लेख किया है। इस ग्रथ में दी हुई गुरु परपरा इस प्रकार है—

परमगुरु श्री निकेत श्रीनारायण—सनकादिक—नारद—सप्रदायस्थापक—निबादित्य—आचार्य श्रीनिवास—विश्वाचार्य—पुरुषोत्तम आचार्य—विलासाचार्य—स्वरूपाचार्य—माधवाचार्य—बलभद्र—आचार्य—पद्माचार्य—श्यामाचार्य—गोपालाचार्य—कृपाचार्य—श्री देवाचार्य—सुदर भट्ट—पद्मनाभ भट्ट—उपेद्र भट्ट—रामचद्र भट्ट—वावन भट्ट—कृष्ण भट्ट—पद्माकर भट्ट—श्रवन भट्ट—भूरि भट्ट—माधवभट्ट—श्याम भट्ट—गोपाल भट्ट—बलभद्र भट्ट (द्वितीय)—गोपीनाथ भट्ट—केशव भट्ट—मगल भट्ट—श्री केशव (ख्याति काश्मीरी)—श्री भट्ट—हरिव्यास—परमानिधि—हरिवस।

इस गुरु परंपरा से दो बाते स्पष्ट रूप से सिद्ध हो जाती है। पहली बात तो यह मालूम हो जाती है कि आनदघन निंबार्क संप्रदाय मे दीक्षित थे। 'परमहंस बसावली' के विवरण मे जो दोहा आरंभ मे (८) ऊपर उद्धृत किया गया है वह कवि के निंबार्क संप्रदाय मे दीक्षित होने का स्पष्ट सकेत दे रहा है। इसी प्रकार अन्य दोहो मे भी निंबार्क और उनके सप्रदाय का बड़ी श्रद्धा और आदर के साथ वर्णन किया गया है। निम्नलिखित दोहा कवि की इस संप्रदाय विषयक आस्था को और भी पुष्ट करता है—

"कासी वासी सेवगन निगमागमनि प्रवीन।
"निवादित्य अनुगम सवै परम पुनीतकुलीन ॥४७॥"

दूसरी बात यह ज्ञात होती है कि आनदघन के गुरु का नाम हरिबस है। यह सूचना भी अत्यत महत्त्वपूर्ण है। यो तो हरिबस नाम के कई महात्मा हुए है किंतु यदि निम्बार्क-संप्रदाय के हरिवंस का वृत्त कुछ अधिक विस्तार से ज्ञात हो सके तो आनदघन का समय और भी निश्चय के साथ स्थिर किया जा सकता है। फिर भी 'परमहस बसावली' से जिन ज्ञातव्य बातो का पता मिलता ह उनका महत्त्व कम नही है। यहाँपर गुरु की चरण कृपा की प्रशसा मे लिखा आनदघन के एक पद की कुछ पंक्तियाँ उद्धृत करना अप्रासगिक न होगा।

"जिनके मन सुविचार परे।
गुरु पद परम पुनीत प्रसादहि पाइ प्रेम आनदभरे।
तिनके पद पावन की रज मैं अषिल लोक उपकार धरे।
तत्ववोध की वलक छलक बस ढकी गाँस व्योरनि उघरे।
कवधौ मिलै हाइ हम हूँ वे सत कलपतरु कृपा करे।
आनँदघन अमोघ रसदायक प्राँन रहत अभिलाष अरे॥ (पदावृत्ति वृ० २३, ८५–९१)

अब एक प्रश्न यह रह जाता है कि घनआनँद और आनँदघन एक ही व्यक्ति है या दो अलग-अलग व्यक्ति। निश्चित प्रमाण के अभाव मे अनुमान का सहारा लेना पड़ता है और अनुमान यही होता है कि एक ही व्यक्ति के ये दो उपनाम है। आनदघन के ग्रथो का विवरण उपस्थित करते हुए यह भी बताया गया है कि किस ग्रथ मे कवि ने अपने नाम की कौन छाप रखी है, और यह भी बताया गया है कि कहीं-कही कोई भी छाप नही मिलती। इसप्रकार यदि कोई कवि आनंद पयोद, आनद मोद, आनद मेदु, मोद घन आनदमुदीर आदि की छाप डाल सकता है तो क्या वह घनआनद की छाप अपनी रचनाओ मे नही रख सकता। यह हो सकता है कि यौवन का प्रेमी कवि घनानद अवस्था ढलनेपर भक्तकवि 'आनदघन' बन गया हो। फिर भी प्रमाण के अभाव मे यह भी कोरा अनुमान रहेगा।

दोनो के एक होने का अनुमान दोनो की कृतियो की शैली की विशिष्टता और भावसाम्य से भी पुष्ट होता है। विरोध की प्रवृत्ति, भाषा का लाक्षणिक चमत्कार घनानद की शैली की विशि-

ष्टता मानी जाती है। आनंदघन की रचनाओं के ऊपर दिए हुए अत्यंत संक्षिप्त उद्धरणों के अवलोकन से भी यह स्पष्ट हो जाता है कि यह विरोधमूलक चमत्कार उनमें भी है। इतना ही नहीं। एक ही प्रकार के रूपक, उपमान, और शब्दावली, भी दोनों की रचनाओं में मिलती है, जैसे अटपटी चाह चटपटी, चटक चटक, चोप चाह, ढरकाहीं बानि,'कौध कहूं कर घर', मौन ग कूर' 'ढके उघरे, 'उजारि बसायो' इस शब्दावली का प्रयोग इतना अधिक हुआ है कि ऐसा भास होता है कि ये रूपक आदि कवि को इतने प्रिय हैं कि वह इनका प्रयोग सब प्रकार की (शृंगार तथा भक्ति) रचनाओं में करता है चाहे उनमें घनानंद की छाप हो चाहे आनंदघन की, चाहे आनंद सुदीर की।

अब भावसाम्य के दो एक उदाहरण देखिए। आनंदघन का निम्नलिखित पद विरह का होली खेलनेवाले के रूप में प्रस्तुत कर रहा है —

"विरहा होरी खेलन आयौ
रहा हो ब्रजमोहनजू जसो इन सीस उठायौ।
रंग लियौ अबलानि अंग त धीर अबीर उड़ायौ।
प्रान अरगजा राखि रही हैं तुम हित याग बनायौ।
नव बौंनी कीर नाक नचावत चौचेंद महामचायौ।
चौवा चन न रहन देत है जतन काइ घर चायौ।
तुम्हरी ठौर ठौर पारी इन कैं तुम प्रेरि पठायौ
मुखर स्याम आनंदघन पिय तिन छाए इन यह छायौ॥

अब घनानंद का सवैया पढ़िए और देखिए कि कितना साम्य है,

'रंग लियौ अबलानि के अंग तें च्वाय किरौ चित चैन को चोवा।
आग मरै सुख साधि सबै गि मचाय दियौ घनआनंद ढोवा।
प्रान अबीरहि फूट भरे अति छाकयौ फिर मति की गति खोवा।
स्याम सुजान बिना सजनी ब्रज यौं बिरहा भयौ फाग बिगोवा॥"
"घर ही घर चौचेंद चांचरि बहु भांतिन रंग रचाय रह्यौ।
भरि नैन हिय हरि सूधि सम्हार सब करि नाक नचाय रह्यौ।
घनआनँद पै ब्रजगोरिन को नग ते सिर लौं चरचाय रह्यौ।
लखि मनो सक चित रावरा ह्वै बिरहा नित फाग मचाय रह्यौ॥"

भावसाम्य का एक दूसरा उदाहरण देखिए—

"हरि चरननि की रज आविन जाऊं मोहि यहै अभिलाष रहै नित।
कहा धो पाऊं कहा जतन करनाऊं पाय बिना तरफो इत।
का पाव यह परि अटपटी चाह चटपटी चूरि करै चित।
परन बीर तेरे पाइ परन हौ आनँद घन पिय तन न ढरकि जादु हा हा करि हित॥"
(आनंदघन)

"ऐरे वीर पौन तेरो सबै ओर गौन वौरे
तोसो और कौन, मनै ढरकौही वानि दै।
जगत के प्रान, ओछे वड़े सो समान
आनँद निधान सुखदान दुखियानि दै।
जान उजियारे गुन भारे अंत मोही प्यारे
अव ह्वै अमोही वैठे पीठि पहिचानि दै।
विरहि वियाहि मूरि, आँखिन मैं राखौ पूरि,
धूरि तिन पायन को हा हा नेकु आनि दै॥ (घनानंद)

इसी प्रकार के दो एक उदाहरण और लीजिए—

"पाथर हियौ, उड़चौही डोले हरि के दुसह वियोग
अचरज महा कहा कहियै अव वन्यौ नवल सयोग
निपटै जड पै एक चेतना चिंता चोट सहै।
आनदघन पिय हिय सियरो परि औरै दहनि दहै।" (आनदघन)
"जियरा उडयौ सो डोलै हियरा धक्योई करै
पियराई छाई तन, सियराई दी दहै" (घनानंद)
"अहो प्यारे कितै गई तिहारी वह ढरकौही वानि
पहिले चौप चॉड सुधि करि देखौ परेवौ यह अव सव छाड़ पहिचानि" (आनंदघन)
"कित को ढ़रि गौ वह ढार अहो जिहि मोतन आँखिन ढोरत हे
अरसानि गही उहि वानि कछू सरसानि सों आनि निहारति हे।" (घनानद)

आनंदघन की पदावली मे ऐसे वहुत से स्थल मिलते है जहाँ पर उनकी भाव की गूढ़ता और अभिव्यक्ति की वक्रता यह सोचने को वाध्य करती है कि इनका घनानंद की उक्तियों से घनिष्ठ संवंध है। आनंदघन की ऐसी ही दो चार उक्तियाँ नीचे उद्धृत की जाती है जिनसे मिलते जुलते भावो की व्यंजना घनानद मे अनेक स्थलों मे हुई है।

"म्रग पारधी की गति कहा कीनी नाद रस प्याइ वान मारचौ तानि।
आनंदघन पन राषि प्रान तजि सनमुष हो रह्यो वडोई लाभ वड़ी हानि॥"
"अतर मै वैठे कहा दुष देत निकसि क्यौ न आवत, अँषियनि आगै।
ये दुपहॉई सुप देषन कौ जागि जागि अनुरागै
इनकी दसा वन गहनिति देषै ई गहै पल पल जल त्यागै
आनंदघन पिय चातक चौपनि प्यास भरी पन पागै॥"
"विसवासी हौ भए वातनि भोरि भोरि मन मेरौ।
ऑना कानी दै रहे हाइ अव कोऊ कूकनि टेरौ॥"
"कौन देस वसायौ है निरमोही कान्ह हमारी अँषियनि अैसै उजारि
आस वढ़ाइ उदास भए विसवास कियौ घन आँनँद प्रान पपीहनि प्यासनि मारि॥"

"जाय, आदर्के निरखि जान हौ मोहन मन की गहत।
अति अटपटी चटपटी जातें वनति नाहि कछु कहत।
जोगी की गति गहे वियागी मूरति मौन आधार।
जब दरसौ तब की तुम जानौं निरमोही निरधार॥"
"इहि अभिलाष लाप लापनि विधि प्राननाथ गहि गौन पुरारा।
सुचित उचित अब मो कीजै आनँदघन चातक वृत धारा॥"

'इत ढके अर उघरे केते।
कैसे कै कहि सकौ गवर मनमोहन अगनित गुन जेते।
निकट दूरि रहि परत नहीं कछु आनँद घन रस मगन सचेते॥"

उपर्युक्त उद्धरण स्पष्ट वता रहे हैं कि आनदघन और घनानद का भाव प्रवाह और उनमें उठनेवाली तरगो का रग ढग एक-सा है।

आनद तथा आनदघन के विषय म भी पहले काफी भ्रम था। पहले आनद और आनदघन एक समझ जाते थे। बाद मे इसका निराकरण हुआ। बाद में यह भी मालूम हुआ कि आनदघन भी एक नहीं दो हैं। एक आनदघन जैनी हैं और दूसरे प्रसिद्ध आनदघन कृष्ण सप्रदाय के हैं।

लेखक को लदन में जो सामग्री मिली है उसके आधार पर वह कहना चाहता है कि इन दो के अतिरिक्त एक आनदघन और हैं। इन्होंने नानक के जप जी की टीका गद्य म लिखी है। यह टीका गुरुमुखी लिपि म है और इसकी भी माइक्रोफिल्म प्रस्तुत लेख के लेखक के पास है। इस टीका के आरभ और अत म पद्य हैं जिसम कवि ने अपने गुरु का नामोल्लेख किया है। ये सिक्खो के दसवे गुरु की शिष्य परपरा में रामदयाल के शिष्य थे। निम्नलिखित सोरठा यही वता रहा है

श्री गुरु रामदयाल चिदानद करुणा रवण।
ता चरनन उरधार आनद घन बरनन करे॥

टीका का विवरण तथा रचनाकाल (सवत् १८५४) निम्नलिखित दोहे दे रहे हैं —

"गुरु नानक जप जी कीओ निजमत का निरधार।
आनदघन टीका करै ताको अर्थ विचार॥"
"ससित पुराण सति अर्थ सति युगम अधिक है जसु।
मीनु मास मधु पुरी कीन्हया लिखन बिलासु॥"

इस टीका का गद्य खडी बोली है किंतु उसका आधार व्रजभाषा है। इसलिये यदि टीका की भाषा को पछाही कहा जाय तो अधिक उपयुक्त होगा?

इसप्रकार हिंदी साहित्य में दो नहीं, प्रत्युत तीन आनदघन है। एक जैनी, दूसरे कृष्णभक्त व्रजभाषा प्रेमी, तीसरे सिक्खो मे दीक्षित, पजाबी के (हिंदी म) टीकाकार। इनका सविस्तार वर्णन

यहाँपर अप्रासंगिक होगा, इसलिये इस विषय को सम्प्रति यही पर समाप्त किया जाता है। केवल एक बात कहनी है।

आनंदघन की पदावली मे पंजाबी के पद काफी मिलते हैं। इश्क-लता की भाषा भी पंजाबी है। यद्यपि कृष्णभक्त कवियो मे सभी भाषा मे कृष्ण-लीला के गान की परम्परा और प्रश्न है फिर भी कहीं ऐसा तो नहीं हुआ कि वास्तव मे ये पद और 'इश्कलता' पंजाबी आनंदघन के हों किंतु नाम साम्य के कारण लोगों ने इन कृतियों को ब्रजभाषा के आनंदघन का समझ लिया और उनकी रचनाओ मे संकलित कर दिया।
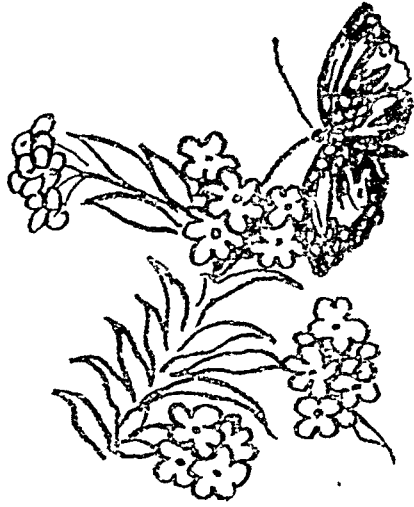
संगीत की उत्पत्ति

कृष्ण नारायण रतनजानकर

संगीत एवं साहित्य का बीज नाद में है। नाद का वास्तविक अर्थ ध्वनि है। परब्रह्म, उसको परमात्मा परमेश्वर आदिपुरुष जो कुछ कहिए, नाद युक्त है। अतएव मंत्रोच्चार की शुद्धता पर हमारे यहाँ विशेष ध्यान दिया जाता है। मंत्रों के अक्षर एवं ध्वनि में महान् शक्ति होती है। इन अक्षरों और ध्वनियों की उच्चार शुद्धता से ही वह शक्ति प्रगट होती है और मनुष्यसाम-थ्यातीत कार्य करती है। वैदिक ऋचाओं में ह्रस्व दीर्घ एवं अल्पप्राण महाप्राण, विवार संवार, बाह्य आभ्यन्तर प्रयत्नादिक अक्षरोच्चारों की एवं उदात्तानुदात्त स्वरितादिक स्वरोच्चारों की शुद्धता कितनी महत्वपूर्ण मानी जाती थी उसका प्रत्यक्ष प्रमाण शिक्षा ग्रंथों में मिलता है।

> मन्त्रोहीन स्वरतो वर्णतो वा मिथ्याप्रयुक्तो न तमर्थमाह।
> वाग्वज्रो यजमान हिनस्ति यथेन्द्रशत्रु स्वरतोऽपराधात्॥

तात्पर्य ध्वनि के यथायोग्य उच्चारण का महत्व हमारे यहाँ प्राचीनकाल से ही माना जाता था। कंठस्वर का उद्गार मुख से द्वारा होता है। हृदयस्थ वायु कंठ अथवा नासिका के द्वारा किसी प्रकार की ध्वनि किए बिना बाहर पड़ता है, तब वह केवल उच्छ्वास होता है। पर यदि उसको कंठ में अथवा मुख में किसी प्रकार की अटक हो कर बाहर पड़ना होता है तब वह बलात् स्फोट करके बाहर आता है और उसीके फलस्वरूप नाद अर्थात् ध्वनि प्रगट होती है। मुख बंद करके कंठस्वर का उद्गार नासिका के मार्ग से होता है। खुले कंठस्वर का स्वरूप होठों के बीच की पोलाई की लम्बाई चौड़ाई के अनुसार "अ" अथवा "आ" होता है। इसी खुले कंठस्वर के मार्ग में जिह्वा अटकाव करे तो इ ए ऐ ई, होठ अटकाव करें तो आ, ओ, औ, ऊ ये स्वर, सामने के दांतों के ऊपर मसूड़े पर जिह्वाग्र का स्पर्श करते हुए ऋकार, जिह्वा के प्रांत का चारों ओर स्पर्श मसूड़ों से करते हुए लृकार, ये स्वर उत्पन्न होते हैं। मुख को बंद करके नासिका के द्वारा कंठस्वर का उद्गार करने पर "अं" और प्रथम कंठस्वर का उच्चारण करके तुरंत कंठ में की हुई अटक को जोरदार वायु को मुक्त करनेपर "अः"। इन अक्षरों को "स्वर" यह संज्ञा देने का कारण यह है कि इन सब का उच्चारण जब तक श्वास चल सके तब तक दीर्घकाल अटूट चालू रखा जा सकता है, जैसे अऽऽऽ, आऽऽऽ, ईऽऽऽ इत्यादि। ऋकार के दीर्घ

उच्चारण में जिह्वाग्र को मसोड़े से लगातार टकराते हुए स्फूरणात्मक ध्वनि करते हुए कंठस्वर वाहर पड़ता है, जैसे र्र्र्र्। लृकार के दीर्घ उच्चारण मे जिह्वा को मसोड़ो से चारो ओर लगाना होता है। इसमे कठस्वर जिह्वा एव कठ के वीच ही वीच गूजता रहता है, ल् ल् ल् ल्। इसी-प्रकार अनुनासिक भी स्वरो का ही एक प्रकार है क्योकि इसको भी दीर्घकाल तक चालू रखा जा सकता है। य, व, र, ल ये चार अक्षर, इ, उ, ऋ, लृ, के साथ अकार जोड़कर बनते है, जैसे इ×-अ=य, उ×अ=व, ऋ×अ=र, लृ×अ=ल। श, ष, स, ह ये चार अक्षर ऐसे है कि इनका उच्चारण दीर्घकाल चालू रखनेपर केवल श्वास उन अक्षरो की ध्वनि मे वाहर पड़ता है। कठ स्वर वंद हो जाता है, जैसे श् .. , स् . ...., ष्.... .., और ह्. ....। अनुनासिक अक्षर ङ, ण, न्, म इनको क्रमश. कठ, मूर्द्धा, तालू दत्य एवं ओष्ठ पर ही कंठस्वर को अटकाव करके उच्चारण किया जाता है। कंठस्वर अदर ही अंदर गूजता रहता है, जैसे अङ, अम्, अण्, अञ्। "क्ष" यह एक संयुक्त अक्षर है। यह प्राकृत की वर्णमाला मे क्यो आया यह एक ऐतिहासिक मनोरंजक प्रश्न होगा। संस्कृत की वर्णमाला मे इसको स्थान नही है। अस्तु।

शेष अक्षर ऐसे है कि कठस्वर के मार्ग मे ये पक्की भित्तियाँ है। बिना फोड़ के हटाए कंठ-स्वर वाहर ही नही आ सकता। जैसे, जिह्वा के मूलपर ही कंठस्वर को अटककर क्कार, तालू मे जिह्वा लगाकर अटक करनेपर च्कार, जिह्वाग्र को मूर्द्धापर लगाकर अटकानेपर ट्कार, दाँतोपर जिह्वाग्र लगाकर अटकाने से त्कार एव होठो को ही बंद करके अटकाने से प्कार। इनका उच्चार तो बिना किसी स्वर को उनके साथ जोड़े हुए हो ही नही सकता। निरे क्कार का, निरे प्कार का उच्चार हो ही नही सकता। इमे कोई स्वर अ, आ, उ मे से जोड़ ही लेना होगा। इन्ही पाँच अक्षरों मे हकार मिलानेपर क्रमश. ख्. छ्, ठ्, थ्, फ् बनते है। इन्ही का ढीला उच्चार करने से ग्, ज्, ड्, द्, व् और इन ढीले अक्षरो मे ह्कार मिला देनेपर घ्, झ्, ढ्, ध्, भ् वन जाते है।

इस सव विस्तृत वर्णन से यह सिद्ध होता है कि वर्णमाला का वीज कंठस्वर मे ही है।

वर्णमाला मे स्वर तथा व्यंजन ऐसे दो प्रकार है। पहले प्रकार मे कंठस्वर अपने आप दीर्घ-कालतक वढ़ाया जा सकता है। व्यंजन कंठस्वर को वंद करनेवाले अक्षर है। उनका स्फोट करके कठस्वर वाहर निकलता है। अ, इ, उ, इत्यादि स्वरो के दो-दो भेद-ह्रस्व एव दीर्घ-देशी भाषाओ मे एव तीन-तीन भेद-ह्रस्व, दीर्घ तथा प्लुत-सस्कृत मे होते है। ये स्वर अपनी मूल अवस्था मे ह्रस्व ही होते है। "अ" की दीर्घ अवस्था "आ"- करके समझी जाती है। वास्तव मे "अ" अपने ही मूल स्वरूप मे वढ़ाया जा सकता है। गाने मे कभी-कभी यह उच्चार किया जाता है। उदाहरणार्थ, "वक्रनिरोहण" अर्थात् "जिसके आरोह मे निषाद स्वर वक्र होता है।" इसमे "व" का "वा" न होगा, उसका "वक्र निरोहण।" अर्थात् व अ क्र नि। रो ओ ह ण" ऐसा उच्चार किया जाता है। भाषा मे "अ" को कभी लवा नही किया जाता। वरन् शब्द के अत मे "अ" हो तो कभी-कभी उसको दवाया भी जाता है, जैसे राम, भरत, विचार इत्यादि। अस्तु। शेष सव स्वरो को उनके मूल स्वरूप मे ही वढ़ाया जाता है जव उनको दीर्घ या वड़े कहा जाता है। व्यंजनो को ही ये ह्रस्व दीर्घ दोनो प्रकार के स्वर जोड़ कर उनके प्रकार क का की, प पी इत्यादि हो जाते है।

ससार में अगणित वस्तु दिखाई देती है अनेक सुनाई देती है, कुछ का केवल स्पर्श होता है, इन सब के नाम एव उनके चरित्र इन्ही अक्षरो से बने हुए शब्दो से कहे जाते है । इनको शब्द इसलिये कहते है कि ये ध्वनि की अर्थात् कठस्वर की ही रचनाएँ होती है ।

यहाँतक तो उच्छवास का कठ मे होते हुए अटकाव के कारण कठस्वर में परिवर्तन उसका वर्णो के स्वरूप मे मुख से उदगार, एव उसकी ह्रस्व दीर्घ कालावधि का विचार हुआ ।

अब देखना है कि भाषा व्यवहार मे कठस्वर क्या कार्य करता है । भाषा मे शब्दो में आते हुए अक्षरो की ह्रस्व दीर्घ कालावधि के अतिरिक्त कठस्वर के उतार चढाव का भी महत्व बहुत है । कठस्वर की निरी एक ही एक ऊँचाईपर कोई वाक्य कहा जाय तो उसका परिणाम सुननेवाले पर ऐसा होगा कि कोई पाठ पढ रहा है । जबतक वाक्य मे आनेवाले महत्वपूर्ण शब्दो के उच्चारण ऊँचे कठस्वर में एव जोर से, गौण शब्द नीचे कठस्वर में और धीरे एव इतर शब्दो के उच्चारण साधारण ऊँचाई में न किए जायगे, तबतक भाषा में जान न आएगी । यही नही वरन कठस्वर के उतार चढाव लगातार जोडते हुए उसका प्रवाह, योग्य स्थान के अतिरिक्त अयत, न तोडते हुए भाषा बोली जाती है । मेरे विचार मे वेदोक्त उदात्त, अनुदात्त एव स्वरित ये कठस्वर के चढाव उतार एव उसके जोड के ही विशिष्ट नाम है । ऋग्वेद का पाठ मे गायन नही था । केवल पठण था । अतएव उसमें कठस्वर की इन तीन अवस्थाओ के स्थूल स्वरूपो के अतिरिक्त गायनोपयोगी स्वरो का नाम निर्देश नही है । और, मेरे विचार मे, उदात्तानुदात्त स्वरित केवल उतार चढाव एव उनके जोड के नाम थे । इस उतार चढाव मे कोई निश्चित प्रमाण न था । साधारण भाषा व्यवहार मे कठस्वर के उतार चढाव का प्रमाण नही होता । उसी प्रकार ऋग्वेद के पठण में उतार चढाव प्रामाणिक न होगे । प्रत्येक मनुष्य अपने-अपने कठस्वर के स्वभाव धर्म के अनुसार उतार चढाव करता होगा । हा, यह हो सकता है कि प्राचीनकाल से वेद मत्रो की शिक्षा गुरुमुख से होती थी जिसके कारण उतार चढाव की मर्यादाएँ परपरागत रूढि के बल स्थूल मान से निश्चित हो गई होगी । जैसे पूजा, पाठ, जप इत्यादि की एक विशेष गूज मत्र के कानो मे भरी हुई होती है और हर कोई उसी गूज के साथ पूजा पाठ करता रहता है, उसी प्रकार वेद मत्रो में कठस्वर के उतार चढाव स्थूल मान से निश्चित हो गए है ।

प्राचीनकाल में लिपि अस्तित्व मे थी ही नही । उसका प्रचार होनेपर भी वदिक वाङमय जैसा शब्दसागर लिख डालना वर्षो का काम था । कागज भी उस समय थे नही । लिखी हुई प्रतिया यदि हो तो भी वे सारे देशभर में दस पाच की अधिक न होगी । इन्ही कारणो से सब विद्याएँ गुरुमुख से सुनकर मुखपाठ ही करनी पडती थी ।

हमारे वेद प्राचीन समय के बडे-बडे विद्वान ऋषि मुनियो के महत्वपूर्ण वाक्यो के भडार है । इद्र, अग्नि, वायु, उषा, सरस्वती, वरुण इत्यादि देवताओ की स्तुति करते हुए उन्होने उनके स्वभाव धर्म, उनसे होनेवाले कार्य, और हानियो का स्पष्टीकरण किया है जिसमे वैज्ञानिक सशोधन का भाग भी दिखाई देता है । केवल वैज्ञानिक ही नही, आधिदैविक, आधिभौतिक, धार्मिक, सामाजिक, राजनीतिक, आयुर्वेदिक इत्यादि सब शास्त्र एव काव्य, नाट्य, सगीत चित्रकलादि शिल्पकलाओ का विचार भी इन

छोटे-छोटे वाक्यों में उन प्राचीन महापुरुषों ने किया है। इन्हीं वाक्यों के संग्रह को संहिता कहते हैं। ये वाक्य शिष्यों को पढ़ाकर उनसे मुखपाठ कराए जाते थे। परंपरागत पठण कराते हुए उनको किसी लय में बांधना आवश्यक हुआ अथवा ऐसा कहिए कि वे वाक्य लय की जिन-जिन रचनाओं में बने उनपर विचार हुआ और वैदिक छंदों की उत्पत्ति हुई। इधर मन्त्राक्षरों की कालावधि, अर्थात् लय के साथ-साथ कंठस्वर के उतार चढ़ाव पर भी विचार हुआ और उदात्तानुदात्त स्वरित के द्वारा वे वेदमंत्रों की गूंज भी निश्चित हुई। किसी पाठ को मुखोद्गत करने में लय एवं स्वरों की गूंज की आवश्यकता होती है। क्योंकि ये स्मरणशक्ति को बहुत सहायता देते हैं। लय एवं स्वर मनुष्य में स्वभावतः उपस्थित रहने के कारण उनकी सहायता होती है। साधारण अंक भी पाठ करना हो तो छोटा बच्चा भी स्वभावतः कहिए अथवा सुनकर कहिए स्वर एवं लय की गूंज से उसको कहता रहता है। तब वे पाठ होते हैं। वेदमंत्रों के छंद एवं स्वर रचना के मूल-तत्व ये ही हैं।

इस प्रकार वैदिक ऋचाओं से काव्यछंद एवं गेयच्छंद तथा स्वर रचना की उत्पत्ति हुई।

ऋग्वेद के ही मंत्र स्वरालाप में जब गाए जाते हैं तब उसे सामवेद कहते हैं। सामवेद में लगभग सब मंत्र ऋग्वेद के ही हैं। बहुत थोड़े स्वतंत्र हैं। साम का अर्थ ही गाना है। संगीत की उत्पत्ति इसीमें से हुई।
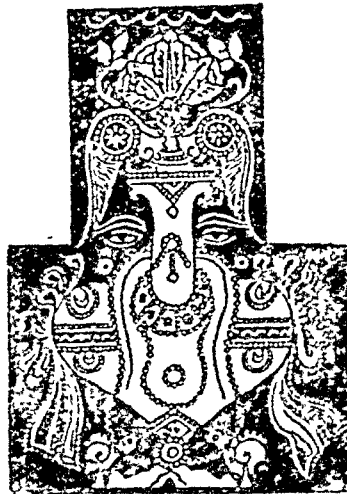
कालिदास और उनका काव्य वैभव

गुर्ती सुब्रह्मण्य

(१)

पुष्पेषु चम्पा नगरीषु लङ्का।
नदीषु गङ्गा च नृपेषु राम ॥
योषित्सु रम्भा पुरुषेषु विष्णु ।
काव्येषु माघ कवि कालिदास ॥

जिस प्रकार फूलों में चंपा, नगरों में लंका, नदियों में गंगा, राजाओं में श्रीरामचंद्र जी, पुरुषों में विष्णु, काव्यों में माघ काव्य सब से श्रेष्ठ है उसी प्रकार कवियों में महाकवि कालिदास का स्थान सब से ऊँचा है।

(२)

कुछ वर्ष पूर्व, वाराणसी नगरी में 'कालिदास-जयंती मनाई गई थी। उसमें समस्त भारतवर्ष के विद्वान् उपस्थित हुए थे। वहां के आयोजन में एक 'दीपदान' का भी उत्सव था। उसमें कालिदास का एक दीप स्तंभ रखा गया था जिसके चतुर्दिक् समस्त भारत के अन्य कवियों को अपने अपने दीप प्रज्वलित करने का आदेश मिला। सब सहर्ष उस आयोजन में भाग ले रहे थे। वह बड़ा ही मनोरम दृश्य था। उसे देखकर ऐसा प्रतीत होता था कि कालिदासरूपी प्रचंड सूर्य के सम्मुख अन्य कविगण जुगनू के समान टिमटिमा रहे हों। इससे बढ़कर कालिदास की महत्ता का द्योतक और कौन-सा दृश्य हो सकता है ?

कालिदास ने भारतीय साहित्य भांडागार को सदियों पूर्व के कविहृदय की जो उच्च कल्पना, जो मधुर भावधारा, जो मनोरम प्राकृतिक चित्र, जो भाषा का प्रसादगुण, जो आख्यानों का प्रवाह, जो रसों का पूर्ण परिपाक, जो उपमाओं की छटा प्रदान की है वह अन्यत्र कहां प्राप्य है। क्या कविता में, क्या नाटक में, क्या पद्य, क्या गद्य, क्या भाषा, क्या भावधारा, सभी में कालिदास की इस अमूल्य देन के कारण भारतीय साहित्य ही नहीं वरन् संपूर्ण विश्व का साहित्य शताब्दियों

तक ऋणी रहेगा। यह कालिदास ही के प्रभाव का फल है कि अठारहवी शताब्दी का सब से महान् कवि गेटे शकुतला को आदर्श मानकर अपने फास्ट नामक महाकाव्य को सुखात बनाता है और स्वय बड़े गर्व के साथ इस बात को स्वीकार करता है।भारतीय साहित्यकारो के लिये कालिदास केवल कवि न रहकर सतत-स्फूर्तिदायिनी शक्ति के रूप मे परिणत हो गए। भवभूति और हर्ष के नाटको की रचना कालिदास के नाट्यसाहित्य को सामने रखकर हुई थी। ऋतुसहार की देखादेखी कई तुक्कड कवियो ने षड्ऋतु वर्णन किए। मेघदूत की शैली को आधार मानकर सैकड़ो दूतकाव्यो का निर्माण हुआ। यहाँ तक कि आज भी प्रियप्रवास मे हरिऔध जी अपने 'पवनदूत' वाले अश के लिये कालिदास के ऋण से वचित नही है।

(३)

गत दो सौ वर्षो के अथक परिश्रम और अनुसंधान के पश्चात् भी आज महाकवि कालिदास का व्यक्तिगत चरित्र गाढाधकार मे निमग्न है। कालिदास किस शताब्दी मे उत्पन्न हुए थे, उनकी प्रारंभिक शिक्षा किस प्रकार की थी, इन सब बातो का अभीतक पूर्णतया अनुसधान नहीं हो सका है कुछ विद्वानो का मत है कि कालिदास ईसा से छठवी शताब्दी मे हुए थे जो भारतीय पुनर्जागृति का युग था। दूसरे[२] लोग मदसोर शिलालेख के आधारपर चौथी शताब्दी मे उनका समय निश्चित करते है। भारतीय संस्कृति के परिपोषक विद्वानो[३] की यह निश्चित धारणा है कि कालिदास प्रथम शताब्दी मे हुए थे और विक्रम की सभा को सुशोभित करते थे। संभव है कि कुछ दिनो बाद शेक्सपियर के समान कालिदास के अस्तित्व के सबध मे भी संदेह होने लगे। उनके जन्मस्थान तथा जाति के संबंध मे भी काफी विवाद है। 'कालिदास' नामकरण से ही कुछ विद्वानो की धारणा है कि वे काली के दास होने के कारण बगाली रहे होगे। अलका और हिमालय के वर्णन पढकर कई विद्वान्[४] उन्हे कश्मीर देशस्थ कहते है। दूसरे विद्वान्[५] उनको उज्जैन निवासी मानते है। उनकी शिक्षा और अध्ययन के संबध मे किवदती प्रसिद्ध है कि वे पढ़ेलिखे बिलकुल नही थे। निरक्षर भट्टाचार्य थे। यह केवल सरस्वती का प्रसाद था जिसके कारण उनको सारी विद्याएँ अकस्मात् प्राप्त हुई। अस्तु

कालिदास के वैयक्तिक जीवन के सबध मे कम सामग्री उपलब्ध है। जो है। उसमेभी विवादास्पद होने के कारण हमे विवश होकर कालिदास का चित्रण उनके काव्य-वैभव को लेकर करना होगा। कालिदास की मृत्यु हुए लगभग पंद्रह सौ वर्ष व्यतीत हुए होगे। पर महाकवि कालिदास आज भी अमर है और सदा रहेगे। ज्यो-ज्यो उनके इह लौकिक नश्वर शरीर के सबंध मे विवाद उत्पन्न होते रहेगे त्यो-त्यो उनका काव्य शरीर अत्यधिक उन्नति और अमरत्व की ओर अग्रसर होता जायगा। महाकवि का जीवन उसके काव्य मे अतर्हित रहता है। कालिदास का चित्रण

---

१ मैक्समूलर, हरप्रसाद शास्त्री आदि।

२ पाठक, कीथ आदि।

३ आप्टे, एस० के० राय०, सी० वी० वैध आदि।

४ पं० लक्ष्मीधर कल्ला।

५. पं० हरप्रसाद शास्त्री और

उनकी रचनाओं म अवलोकन से ही सभव है। हमारे सामने यह प्रश्न है कि उनमें कौन-कौन से ऐसे गुण थे जिनके कारण उनका प्रभाव चिरस्थायी रहा है। हमें उनके साहित्य भाडागार में उन विश्वव्यापी गुणों की खोज करनी है जिनके कारण उनकी ख्याति उत्तरोत्तर द्विगुणित होती रही है।

(४)

कालिदास के काव्यवैभव के मूलाधार के जो उपकरण है उनकी ओर यदि हम ध्यान दें तो हमें उनके बाहुल्य का देखकर अत्यत आश्चर्य होगा। श्रव्य और दृश्यकाव्य, प्रबध और मुक्तक सब प्रकार की रचना कालिदास ने की है। ऋतुसहार कवि का स्फुट मुक्तक काव्य है। मेघदूत खडकाव्य है। कुमारसभव और रघुवश महाकाव्य है। विक्रमोर्वशीय, मालविकाग्निमित्र और शकुतला नाटक है। ये सात कवि की प्रामाणिक कृतियाँ है। इन्ही को लेकर कवि का मूल्याकन करना है।

(५)

महाकाव्यों का स्थान विश्वसाहित्य में सदा से ऊँचा रहा है और रहेगा। अन्य काव्यों की अपेक्षा यह कवि की अमर कृति समझी जाती है। महाकाव्य कई सर्गों मे होता है। इसमें एक नायक होता है जो देवता हो, उच्च कुल का हो या धीरोदात्त गुणो से युक्त क्षत्रिय हो। अथवा एक ही वश के कई राजा हो सकते है। शृगार, वीर या शान्त में एक प्रधान रस होता है। कालिदास ने दोनो प्रकार के महाकाव्य लिखे है। कुमारसभव प्रथम प्रकार का है जिसमें शिव और पार्वती का विवाह, कुमार की उत्पत्ति और उसके द्वारा तारकासुर के वध की रोचक कथा बडे सुदर ढग से कही गई है।

पर कवि की अभिलाषा इस प्रकार की रचना से सतुष्ट न हुई। उसने जगत् के माता पिता शकर और पार्वती जी की रति-क्रीडा कुमारसभव के आठवे सर्ग म दिखलाकर घोर पाप किया था। उसकी सरस्वती तभी सार्थक हो सकती थी जब कि उसकी वाणी में कोई विशेषता होती। छोटे-छोटे कथानको का लेकर विश्व साहित्य में असख्य महाकाव्यो की रचना हुई है। प्रौढ कालिदास को कथानकरूपी कृत्रिम आवरण से अपने एक महान् कृति को हटाना था। उसे महाकाव्य को वास्तव में एक महाकाव्य बनाना था। उसने महाकाव्य के अनुकूल एक छोटा-सा सुसगठित कथानक न लेकर रघुवशियो का पूरा चरित्र लिया और सरस वर्णनो से भरकर उसमें रोचकता ला दी। विश्व-साहित्य में 'टेकनीक' या 'रचना प्रणाली' की दृष्टि से यह महाकाव्य अपने टक्कर का एक ही है।

कवि विनम्र होकर कहता है कि "मै मद किंतु कवियश का प्रार्थी होने के कारण उपहासास्पद होऊँगा, क्योकि मेरी दशा उसी प्रकार है जिस प्रकार एक बौना ऊँचे पेड से फल तोडने की इच्छा करता है"। महाकाव्यो के पूर्व में इस प्रकार की विनम्रता ही पूर्ण सफलता का द्योतक है।

कुमारसभव के निर्माण के पश्चात् रघुवश की रचना म कवि की वह दशा थी जो नदी से होकर समुद्र में जानेवाले नाविक की होती है। जहाँ कुमारसभव मे कवि एक कथानक को लेकर उसीको सुचारु रूप से सजाकर हमारे सामने रखता है वहाँ रघुवश में वह कई कथानको, कई वर्णनो,

कई चरित्रों का भाडार खोल देता है। मेघदूत की रचना मे कवि ने अलकापुरी, पर्वत, नदी, महल, तालाब, वृक्ष आदि के वर्णनो मे कुशलता प्राप्त की थी। ऋतुसंहार मे ऋतुओ के वर्णन का चमत्कार दिखलाया, कुमारसंभव मे एक कथानक को लेकर उसका सुंदर ढग से वर्णन किया । रघुवश मे कथानकों[1] और वर्णनों[2] दोनो का सुदर संमिश्रण और बाहुल्य है।

(६)

महाकाव्यो के समान् दृश्यकाव्यो की रचना प्रणाली मे कवि ने नूतनता ला दी है। मालविकाग्निमित्र मे अग्निमित्र और मालविका की प्रेम कथा का वर्णन है। दोनो इसी लोक के प्राणी है और दोनो का प्रेम भी इहलौकिक है। इस प्रेम मे दैवी हस्तक्षेप के लिये कोई स्थान भी नही है। राजा की दूसरी राजमहिषी धारिणी और इरावती प्रेम मे बाधा डालने के लिये काफी है।

विक्रमोर्वशीय मे कवि ने विक्रम और उर्वशी नाम की अप्सरा का प्रेम दिखलाया। विक्रम इस लोक का राजा है और उर्वशी स्वर्गलोक की अप्सरा है। दोनो का प्रेम, आकर्षण और अत मे विवाह हो जाता है। इसमे मर्त्य और दैवी व्यक्तियो का इसी लोक मे समिलन होता है।

अभिज्ञान-शाकुतल मे राजा दुष्यत और शकुंतला दोनो इसी लोक के निवासी होते हुए भी विभिन्न वातावरण में पले है। दोनो का प्रेम भी लौकिकता से आरंभ होता है और अत मे अलौकिक हो जाता है। यही कलाकार की महत्ता है। मातलि महर्षि के आश्रम मे दुष्यत का, इद्र के शत्रु को मारकर लौटते हुए, शकुंतला के साथ संमेलन होना क्या ही उक्त लौकिक प्रसग है! महाकवि गेटे ने ठीक ही कहा है कि यदि कही पृथ्वी और स्वर्ग का समेलन जिसे देखना हो तो वह शकुतला अवश्य पढे।

ऐसा प्रतीत होता है कि कालिदास उत्कृष्ट महाकाव्य और उत्कृष्ट नाटक के निर्माण के लिये और उसमे सार्वभौमता लाने के लिये निरंतर अभ्यास करते रहे और अत मे जाकर उन्हे सफलता मिली रघुवश और शकुतला मे हमे उसमे टेकनीक का पूर्ण परिपाक मिलता है जिसके निर्माण मे कवि को वर्षो बीत गए और जिसका प्रयोग वह डरते डरते अत्यंत विनम्रतापूर्वक करता है।

(७)

टेकनीक के पश्चात् यदि हम चरित्र-चित्रण को लें तो हमे कालिदास के चरित्रों की विभिन्नता देखकर कम आश्चर्य न होगा। शेक्सपियर इसी विभिन्न चरित्र-निर्माण के लिये समस्त यूरोप मे पूजा जाता है। कालिदास किसी तरह इस विषय मे शेक्सपियर से कम नही है। कालिदास की चरित्र-सृष्टि मे नरपति, राजमहिषी, मुनि-योगी, गुरुपुत्र, देवता, विदूषक कञ्चुकी, देवकन्या, अप्सरा सारथि, योद्धा, मछुआ, गायनाचार्य सभी के लिये स्थान है। इनमे से प्रत्येक वर्ग के भी अतर्गत प्रत्येक व्यक्ति के अपने विशेष गुण है जिनकी समता औरों से नही की जा सकती। राजा अग्निमित्र

---

१. दिलीप और सिंह की कथा, रघु और विश्वामित्र की कथा, रामायण की कथा, लवकुश की कथा इत्यादि।

२. रघुवंशियो का वर्णन, समुद्र वर्णन, पर्वत वर्णन, संगम का वर्णन इत्यादि।

धीरोदात्त नायक हैं और मालविका से प्रेम रखते हुए भी सदा अपनी अन्य राजमहिषियों का ध्यान रखते हैं। राजा विक्रम धीर ललित नायक हैं। वे उर्वशी के प्रेम में इतने प्रमत्त हो जाते हैं कि न मालूम क्या क्या बकने लगते हैं। राजा दुष्यंत आखेटप्रिय किंतु प्रेमोन्मत्त हैं। रघुवंश में तो विभिन्न प्रकार के राजाओं की मानो पंक्ति खड़ी कर दी गई है। रघुवंश के प्रथम सर्ग में स्वयं कवि का कथन है कि "मैं जन्म से निषेकादि संस्कारों से शुद्ध, फल की सिद्धिपर्यंत कर्म को करने वाले, समुद्र पर्यंत पृथ्वी का शासन करनेवाले, स्वर्ग तक रथ के मार्गवाले, विधिपूर्वक अग्नि में आहुति देनेवाले, इच्छानुसार याचकों का सम्मान करनेवाले, अपराध के अनुसार दंड देनेवाले, उचित समयपर सावधान रहनेवाले, सत्पात्र को दान देने के लिये धन को इकट्ठा करनेवाले, यश लिए के विजय चाहनेवाले, संतान के अर्थ विवाह करनेवाले, बाल्यपन में विद्या सीखनेवाले, युवावस्था में भोग की अभिलाषा रखनेवाले, वृद्धावस्था में मुनियों के समान जीवन व्यतीत करनेवाले, अंत में योग से शरीर त्याग करनेवाले, रघुवंशियों के वंश का वर्णन करने लिये मुझ उन्हीं रघुवंशियों के यशोगानकी प्रसिद्धि के श्रवणने प्रेरित किया है। यद्यपि मेरी वाणीका वैभव, मेरी काव्य रचना-क्षमता स्वल्प ही है" दिलीप की तरह दूसरों के लिये जीनेवाले, रघु के समान दानशील, अज के समान सुंदर, दशरथ के समान दृढव्रती, और राम के समान सर्वगुणसंपन्न नृपति, कालिदास-काव्यको छोड़कर कहां एकत्र मिलेंगे पावना और सीता के समान पतिव्रता पत्नी, शकुंतला की तरह सुंदर अबाध प्रकृतिपुत्री, धारिणी के सदृश दाक्षिण्ययुक्ता राजमहिषी, सुदक्षिणा के समान सेवापरा नारी, कालिदास के काव्य भांडागार में ही प्राप्त हो सकती है।

कालिदास ने केवल वर्गों का वर्णन नहीं किया वरन् प्रत्येक वर्ग के अंतर्गत अपवादों का भी उल्लेख किया है। कण्व, मारीच, दुर्वासा, नारद, वशिष्ठ, विश्वामित्र वाल्मीकि, सभी वीतराग हैं। पर सब में अंतर है। कण्व कुलपति हैं, मारीच योगी हैं, दुर्वासा क्रोध की मूर्ति हैं। नारद उद्धर्षी हैं वशिष्ठ शांतिप्रिय हैं, विश्वामित्र राजर्षि हैं, वाल्मीकि आश्रमवासी हैं। मुनिवर्ग के होते हुए भी सब में अलग-अलग विशेषताएँ हैं। तारकापुर के समान बलशाली असुर, इरावती के समान ईर्ष्यालु रमणी, गणदास के समान गायनाचार्य, भरत (सर्वदमन्) के समान वीर बालक कालिदास की सृष्टि को छोड़कर और कहाँ मिलेंगे। कालिदास की चरित्र सृष्टि में सभी वर्ग के और सभी जाति के लोग हैं।

(८)

यह तो हुई मानव-समाज के चरित्र चित्रण की कथा। पर कालिदास की कला मानव-समाज के चरित्र चित्रण तक सीमित न रही। वह प्रकृति वर्णन की ओर अग्रसर हुई। प्रकृति का वर्णन कवियों ने दो प्रकार से किया है। एक तो प्रकृति का वर्णन प्रसंगवशात् किया जाता है, जैसे वाल्मीकि ने किष्किंधाकांड में शरद ऋतु का वर्णन किया है। दूसरे प्रकृति का वर्णन प्रकृति-वर्णन की दृष्टि से ही किया जाता है। कालिदास में दोनों प्रकार के वर्णन मिलते हैं। भारतीय साहित्य में दूसरे प्रकार के प्रकृति वर्णन का मूलस्रोत कालिदास को ही कहना पड़ेगा।

ऋतुसंहार और मेघदूत की रचना प्रकृति-वर्णन की दृष्टि से ही हुई है। ऋतुसंहार का प्रारंभिक श्लोक ही ग्रीष्मऋतु का कैसा मूर्तिमान् चित्र सामने लाकर खड़ा कर देता है। "हे प्रिये, ग्रीष्म ऋतु आ गई है जिसमें कि सूर्य बड़ा ही प्रचंड रहता है, सदा चंद्रमा की अभिलाषा (शीतलता के लिये) रहती है, जल नित्य स्नान से कम हो चला है। सायंकाल बड़ा ही रमणीय प्रतीत होता
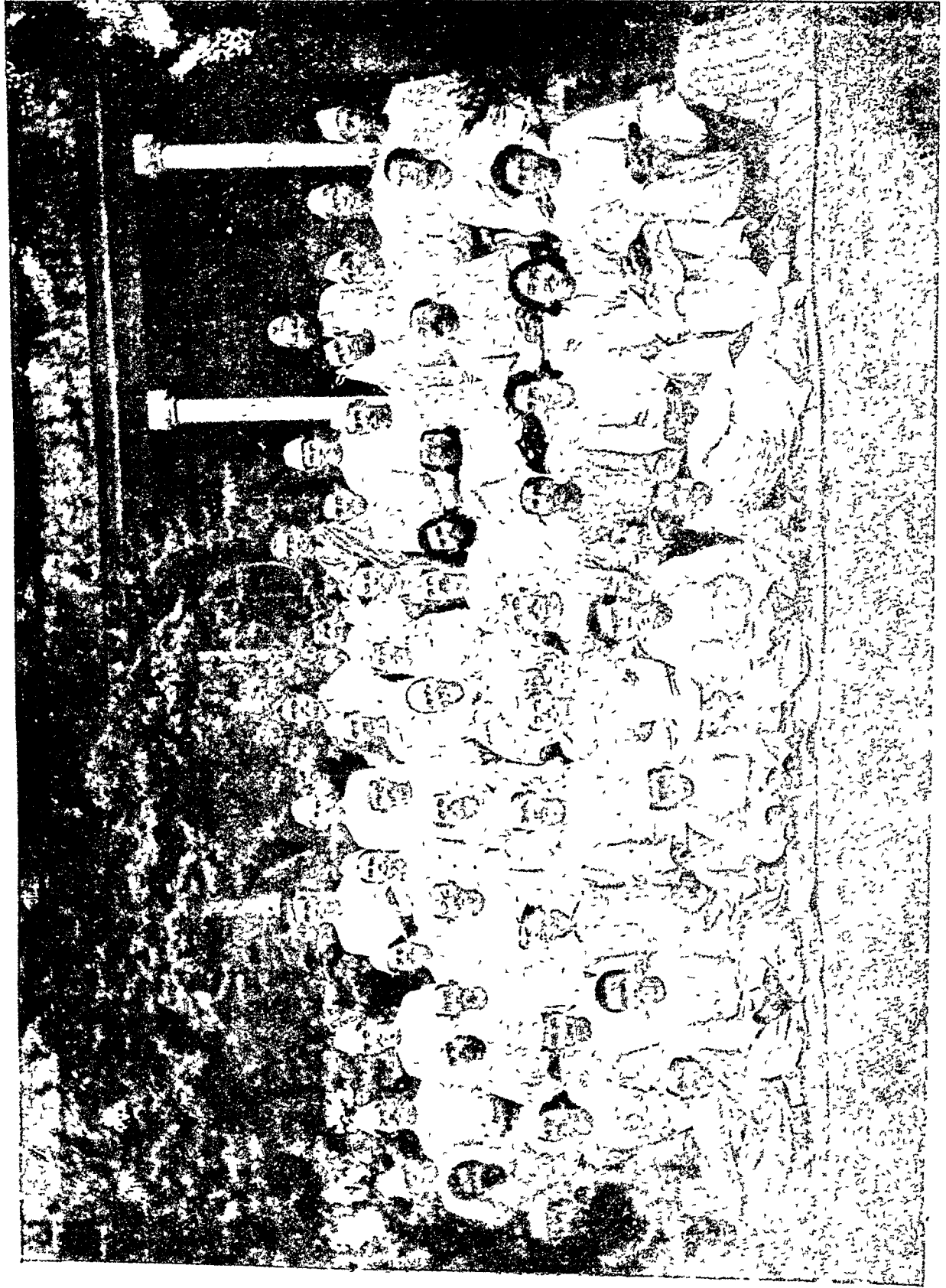
श्रीसंपूर्णानंद जी काशी विद्यापीठ के विद्यापीठ परिवार में सन् १९२६

है और कामदेव का प्रभाव शांत हो चुका है।" एक चित्रकार जिस प्रकार अपनी तूलिका से चित्र को चित्रित करता है उसी प्रकार ग्रीष्मऋतु का बड़ा ही सुंदर चित्र खींचा गया है। कालिदास ने ग्रीष्म, वर्षा, शरद, हेमंत, शिशिर और योद्धा ऋतुराज वसंत—षड्ऋतु का वर्णन प्रिया को संबोधित कर बड़े सुंदर ढंग से किया है।

मेघदूत में प्रकृति-वर्णन के साथ-साथ एक और विशेषता है। एक यक्ष को अपने अधिकार में प्रमत्त होने से अलका से एक वर्ष के लिये मृत्युलोक जाने का दंड मिलता है। वह रामगिरि पर्वत पर एक आश्रम बनाकर रहने लगता है। वह अपनी स्त्री के वियोग से दुखी होकर मेघ से अपना संदेश ले जाने के लिये प्रार्थना करता है। यही इसकी कथा है। यहाँ कवि प्रकृति के जड़ तथा क्रूर रूप को देखना नहीं चाहता वरन् उससे सहानुभूति की अपेक्षा करता है। प्रकृति केवल जड़ नहीं है वरन् चेतन भी है। जान और पीड़िता के लिये वह शरणदायक है। हमें स्मरण रखना चाहिए कि श्रीरामचंद्रजी को किष्किंधा पर्वत पर प्रियावियोग में इसी मेघ ने दुखित कर दिया था। वाल्मीकि ने उसके कष्टदायक स्वरूप को हमारे सामने रखा था पर कालिदास उसके सहानुभूति प्रदायक स्वरूप को सामने रखते हैं।

कुमारसंभव के प्रथम सर्ग के प्रारंभ में ही हिमालय का वर्णन सोलह श्लोकों में किया गया है। रघुवंश में प्रकृति-वर्णन के कई प्रसंग हैं। पंचम सर्ग में प्रातःकाल जब बंदीजन अज को जगाना चाहते हैं तब प्रभात का वर्णन, बड़ा ही सुंदर किया गया है। रघुवंश का त्रयोदश सर्ग तो प्रकृति-वर्णन के लिये प्रसिद्ध है ही। समुद्र, गंगा-यमुना का संगम, चित्रकूट आदि के वर्णन, विशेष उल्लेखनीय हैं।

कालिदास की कला ज्यों-ज्यों उत्तरोत्तर वृद्धि को प्राप्त होती गई त्यों-त्यों प्रथम प्रकार का प्रकृति-वर्णन अधिकाधिक पाया जाने लगा। शाकुंतल के छठे अंक में राजा के दुख से दुखी होकर प्रकृति ने अपने साज त्याग दिए थे। "आम्रमंजरी में पराग का लगना बंद हो गया, कुरबक की कली पनपने न पाई, शीतकाल जानेपर भी कामदेव ने डर के मारे अपने तरकस से बाण नहीं निकाले।"[१] विक्रमोर्वशीय में राजा विक्रम, मयूर, कोकिल, हंस चक्रवाक, भ्रमर, गज, पवन, नदी और कुरंग, सब से अपनी प्रेयसी के संबंध में पूछता हुआ उनकी सहानुभूति को प्राप्त करता है।"

कालिदास ने प्रकृति-वर्णन में किसी को नहीं छोड़ा। पवन, ऋतु, नदी, तालाब, दिन, प्रातःकाल, मध्याह्न,[२] सायंकाल,[३] रात्रि सब का वर्णन किया और जिसका भी वर्णन किया उसका एक चित्र, सफल कलाकार के समान सामने खींच दिया है।

(९)

उपर्युक्त काव्य-वैभव के दिग्दर्शन से जो सारांश निकलता है वह है कालिदास का जीवन दर्शन। कालिदास का जीवन-दर्शन क्या था? कहा जाता है कि कालिदास ने अपनी रचनाओं में

---

१ विक्रमोर्वशीय अंक ४, श्लोक ११।
२ मालविकाग्निमित्र अंक २, श्लोक १२।
३ शाकुंतल अंक ३, श्लोक २५।

शृगार को अत्यधिक स्थान दिया है। इससे क्या यह निष्कर्ष निकलता है कि कालिदास का उद्देश यही था कि मनुष्य के जीवन का लक्ष्य खाना-पीना, सुख से रहना और मर जाना है।

डा० विटेडेल कीथ महोदय लिखते है[१]—"कालिदास की कृति सुदर होनेपर भी उसमे जीवन और नियति के ऊँचे विषयोपर प्रकाश नही डाला गया है। . . . गेटे और विलियम जोन्स की प्रशसा मान्य अवश्य है पर हमे इस बात को न भूल जाना चाहिए कि उसका दर्शन ब्राह्मण धर्म से आवद्ध है उसके विचार मे मनुष्य नियति से शासित होता है जो उसके कर्मो के परिणाम है। पर उसे संसार एक दुख का समुद्र है—इस बात का आभास न था, न उसे जनता की भयकर दशा से सहानुभूति थी, न वह अन्याय को समझ सकता था।"

कीथ साहव का यह कथन कि कालिदास का दर्शन वहुत सकीर्ण था हमे ठीक नही मालूम होता। माना कि कालिदास ब्राह्मण धर्म के अनुयायी थे। पर उस समय के ब्राह्मणधर्म के समान आज भी कोई व्यापक धर्म नहीं है। 'जन्मना जायते शूद्र.' सस्काराद्द्विज उच्यते'—जन्म से प्रत्येक पुरुष शूद्र होता है और सस्कार से ब्राह्मण कहलाता है। इससे वढ़कर व्यापक कौन-सा धर्म होगा। संस्कार चाहे पूर्व जन्म के हो या इस जन्म के। कारण और फल—संस्कार और उनके फल—दोनो का सबध तो आदिकाल से चला आ रहा है।

अव रही वात जनता के दुःख के साथ सहानुभूति प्रदर्शन आक्षेप की। कालिदास कवि थे, इतिहासकार नही। कालिदास का कथन था कि भाग्य या दैवी शक्ति के प्रभाव से वडे-वड़े देवता और राजपि तक वचे नही है तव हम ऐसे लोगो की क्या गिनती है। भगवान् शकर के नेत्र की ज्वाला से कामदेव भस्म हो गया, दुर्वासा के शाप से शकुतला को कष्ट झेलने पडे, और भाग्य का ही खेल था जिसके कारण श्रीरामचद्रजी को चौदह वर्ष का वनवास सहना पड़ा। सीताजी को दूसरे वनवास की तैयारी करनी पडी। अज की स्त्री की मृत्यु जव नारद की माला के पड़ने से हो जाती है तव अज उस दुख मे प्रजापालन के आदर्श को सामने रखकर अपने शरीर को जला नही देता। इसका निष्कर्ष यही निकलता है कि संसार मे कर्तव्य का महत्व सव से ऊँचा है। मनुष्य जीवन मे यदि कही संतोष लभ्य है तो वह कर्तव्यपालन मे है। यदि वह दुख के भार से आक्रात होता है तो उसके जीने के लिये कोई जगह न रहेगी। क्या जीवनदर्शन के लिये कालिदास की यह वहुत वड़ी देन नही है ?

(१०)

अव हम लेख के उस सोपानपर आते है जिसमे कालिदास के कवित्व का निष्कर्ष स्पष्ट प्रकट होता है।

मस्तिष्क और हृदय के विकास की चरम सीमा मे ही कवित्व की पराकाष्ठा है। जिसमे दोनो का संतुलित समिश्रण हो उससे वढकर ससार मे कौनसा महाकवि हो सकता है। मस्तिष्क का चरम विकास उच्च कल्पना मे है और हृदय का चरम विकास हृदयोद्गारो की प्रवलता मे। कालिदास

१. सस्कृत साहित्य का इतिहास, पृष्ठ २६०।

में दोनों का सुन्दर सम्मिश्रण है। रघुवंश के त्रयोदश सर्ग में गंगा-यमुना के संगम वर्णन में मस्तिष्क के विकास की पराकाष्ठा है। कवि का कथन है —

"श्री रामचन्द्रजी श्री सीताजी को सम्बोधित करके कहते हैं कि "हे प्रिये, यमुना की लहरों से मिश्रित गंगा के लहरों को देखो जो कहीं इन्द्र नीलमणियों से गुथी हुई मोती की लड़ी के समान है कहीं नील कमलों से युक्त श्वेतकमलों की माला के समान है, कहीं काले हंसों से मिली हुई मानसरोवर के श्वेत हंसों की पंक्ति सी है, कहीं सफेद चंदन में मिले हुए काले अगर के सदृश है, कहीं काली छाया से युक्त चन्द्रमा की स्वच्छ प्रभा के सदृश है। कहीं शरद् ऋतु के सफेद बादलों के समान है जिसके अन्तर्गत नीलाकाश स्पष्ट परिलक्षित होता है, और कहीं काले सर्पों से लिपटे हुए सफेद भस्म के अंगराग से अंजित श्री शंकर के शरीर के सदृश है।"

यहां उपमाओं की लड़ी लगा दी गई है। एक के बाद दूसरी उपमा ऐसी प्रतीत होती है मानो कल्पना रूपी वायुयान में बैठकर कविता रूपी पक्षी स्वर्ग में विहार करने जा रहा हो।

हृदय के भावनाओं का क्षेत्र शकुन्तला नाटक के उन चार श्लोकों में मिलता है जिसमें महर्षि कण्व शकुन्तला की विदाई के अवसर पर अपने हृदयोद्गारों को व्यक्त करते हैं। कालिदास के मतानुसार जब एक तपस्वी के हृदय को पुत्री का ससुराल जाना इतना पीड़ा देता है तो गृहस्थों का क्या हाल होता होगा। इस श्लोक चतुष्टय में कालिदास की भाषा भावों की अनुचरी होकर हृदयोद्गार के क्षेत्र में विचरण करने लगी।

क्या भाषा का प्रवाह, क्या भावनाओं की अभिव्यक्ति क्या हृदयोद्गार की मार्मिकता प्रत्येक क्षेत्र में कालिदास का काव्य वैभव इतना प्रशस्त है कि उन का स्थान केवल भारतवर्ष के महाकवियों में ही सर्वोच्च नहीं है वरन् संसार के महाकवियों की श्रेणी में भी किसी से पीछे नहीं है।

धर्म और दर्शन

शुकदेव चौबे

धार्मिक अनुभवो मे दार्शनिक मीमासा की भी कोई संभावना है यह धर्म के दर्शन के अध्येता के समुख प्राथमिक प्रश्न उपस्थित होता है। दार्शनिक अनुसंधान न तो अनुभव की प्रसूति करता है और न उसके अभाव का ही निर्देश करता है। उसे तो जीवन किंवा अनुभव की स्थिति मूलत: अपेक्षित है क्योंकि दार्शनिक मीमांसा तो अनुभव का ही युक्ति संगत विश्लेषण है। इसप्रकार दार्शनिक का कार्य अनुभव-विशेष द्वारा व्यक्त नियमो और सिद्धातो का सम्यक् स्पष्टीकरण है। ऐसा करने म वह अनुभव-मात्र का विश्लेषण और उसमे सन्निहित सिद्धातो का स्पष्टीकरण कर देता है। निस्सन्देह इस व्यापार में उसे अनुभव के विषय मे मूल्यांकन करना पड़ता है। यहीपर विचार-कार्य की उपयोगिता और आवश्यकता का प्रश्न उठता है और यह निश्चित किया जाता है कि सत्यासत्य म मे क्या भेद है, शिव एवं अशिव मे क्या अंतर है। इस मूल्याकन मे तर्क-बुद्धि अपने समक्ष एक एसा निकष अथवा मापदड स्थिर कर लेती है जिसके आधारपर मूल्याकन होता है एव अनुभवो की एक क्रमिक परंपरा बन जाती है। यह प्रणाली मूलत. मानसिक नही, तार्किक है; और यदि तर्कबुद्धि से प्राप्त (संमत) विश्लेषण किंवा मूल्याकन का महत्व हम न स्वीकार करे तो धर्मक्षेत्र में अथवा अनुभव के किसी क्षेत्र मे दार्शनिक मीमासा की चर्चा असंगत हो जायगी। तर्क-बुद्धि की क्षमता में संदेह करनेवाला व्यक्ति बडा द्रष्टा भले ही हो किंतु वह दार्शनिक नही हो सकता।

यहाँ जो दृष्टिकोण लिया गया है वह इतना स्पष्ट है कि सामान्यत इसका निरूपण अनावश्यक प्रतीत होगा। किंतु दर्शन साहित्य का इतिहास बहुत अंशो मे प्राय: तर्कबुद्धि और अनुभव के बीच विरोध की मीमासा का इतिहास रहा है। सच तो यह है कि तर्कवाद और अनुभववाद मे प्रातिभासिक विरोध के कारण धर्मगत क्षेत्रों मे दार्शनिक मीमासा की चर्चा अनर्गल हो जाती है। प्राच्य दार्शनिक प्रणाली एव पाश्चात्य दार्शनिक विचार धाराओ को देखने से यह बात और स्पष्ट हो जाती है। बड़े-बडे दार्शनिक और धर्मविद् भी इस विरोध बुद्धि से अछूते नही रहे है। अतएव धर्मशास्त्र (फिलास्फी आफ रिलीजन) के अध्येता के लिये इस विरोध का निराकरण आवश्यक हो जाता है और जबतक इस विरोध का मूल कारण वह व्यामोह जो. द्वैतमात्र का आधार है दूर नही होता तबतक हमे यथार्थ की झाँकी भी नही प्राप्त हो सकती चाहे हम उसे सुंदर और आनंद-

सब समस्वर कितना भी लाञ्छित हो उठें। अतएव धर्मशास्त्र की सगति के विरुद्ध आपत्तियो का सामना करना होता है। ये आपत्तियाँ तीन दिशाओ से उद्भूत होती है। प्रथमत ऐसे लोगो की ओर से जो धर्म को अपौरुषेय मानते है, दूसरे रहस्यवादियो की ओर से। धर्म और धर्मशास्त्र का अतर तो स्पष्ट है। एक एक घटना का निर्देश करता है और दूसरा उस घटना के आधारभूत सिद्धान्तो का विश्लेषण एव मूल्याकन करता है। यदि ससार के रहस्य-साधको के अनुभवो पर दृष्टि डाली जाय तो दिखाई पड़ता है कि चाहे उनमें देशकाल परपरा और वर्णगत सबधी कितने भी और कम भी अतर क्यो न हो उनकी 'वाणियो' (वाणी) एव सिद्धियो मे एक आतरिक साम्य है जिससे हम चमत्कृत हो जाते है और जो इस बात की ओर सकेत करते है, कि धर्म न तो कुछ सिद्धान्तो का स्वीकरण है और न रूढियो किंवा पूजाविधियो का अनुसरण। यद्यपि इन सब का ससार की विभिन्न धर्म परपराओ में महत्त्वपूर्ण स्थान रहा है और इसके द्वारा साधको को प्रारंभिक अवस्था मे प्रेरणा और साहाय्य प्राप्त होता रहा है। धर्म तो जीवन-सबधी एक जीवन व्यापी अनुभव है—यथार्थ के स्वभाव का दर्शन और उसका अनुभव। प्रत्यक्ष ज्ञान की भाँति वह बिना किसी माध्यम के सीधा प्राप्त होता है और इसीलिये हिंदू धर्मशास्त्र मे उसे स्वत सिद्ध माना जाता है जबतक कि वह किसी अपर घटना (अनुभव) के द्वारा बाधित न हो।

आज विज्ञान की अभिवृद्धि ने मानव प्राणी के समक्ष अपनी अनेक देशीय सिद्धियो के द्वारा जो चकाचौंध उपस्थित कर दी है और उस विमूढता के फलस्वरूप उसकी अज्ञात मन स्थिति, मनोगति और मनोदशा के कारण रहस्यपूर्ण अनुभवो में विजातीय बातो का जो समावेश सभव हो गया है उसके कारण स्वत सिद्धि अनुभूतियो का महत्त्व कम हो गया है। अज्ञात मन की प्रतिक्रियाएँ चेतन-व्यापार की विभिन्न प्रकारो के साथ उस तरह सम्मिश्रित मिलती है कि सत्य का असत्य से वास्तविक का मिथ्या से और ऊँच का नीच से पृथक्करण असभव-सा हो गया है। हमें प्रत्यक्ष साक्षात् के ज्ञान की जो प्रतीति होती है उसे सत्य साक्षात के रूप में स्वत सिद्ध मानकर स्वीकार नहीं किया सकता। कहीं भावना मात्र की वेदी पर सत्य और सगति का बलिदान न हो जाय इस हेतु यह देखना चाहिए कि हमारे अनुभव में किंवा तज्जनित ज्ञान में कहीं किसी प्रकार की त्रुटि की सभावना तो नहीं थी। यह सभावना धर्मगत रहस्यपूर्ण अनुभूतियो के सबध में अधिक हो जाती है क्योंकि ऐसी दशा में दैव साक्षात की आनद भावना ही हमारे लिए आवरण और निम्न कोटि की सामान्य घटनाओ के लिये अवगुठन बन जायगी। मनोविश्लेषण के प्रसिद्ध प्रवर्तक 'फ्रायड' ने इस प्रसग में बड़ा चुभता हुआ परिहास किया है। उसने कहा है कि ऐसी स्थिति में साधको के समक्ष उनके अज्ञात मन क्षेत्र से स कोई परिदर्शित ग्रथि उसी प्रकार प्रस्फुटित हो जाती है जैसे बच्चे अपने मन की बातें बाह्य जगत में देखने लग जाते है। धर्मगत अनुभूतियो के क्षेत्र में इस प्रकार की अनीप्सित सभावना अपेक्षाकृत अधिक सभव होती है। अतएव तर्कबुद्धि के लिये यहाँ सब से आवश्यक क्रिया-क्षेत्र है।

मीमासा बुद्धि की आवश्यकता के साथ-साथ उसकी महिमा भी प्रतिपादित हो जाती है। धर्मक्षेत्र में प्रयुक्त दृष्टिकोण एक मन स्थिति है न कि केवल भावमयी स्फुरण किंवा कल्पनागत आनन्दस्थिति। वह तो है हमारी आत्मा, हमारे सच्चे और पुजीभूत व्यक्तित्व की केंद्रीय सत्ता यथार्थ के समक्ष उसके साक्षात् से उद्भूत सपूर्ण उमग, सबकुछ न्योछावर करती हुई प्रतिक्रिया। व्यक्ति

और यथार्थ के बीच किसी माध्यम के व्यवहृत होने की चर्चा करना ही असंगत कल्पना है। यह सत्य है कि व्यक्ति की यह दशा असाधारण है और इसी हेतु सत्यासत्य के विवेक के लिये इस दशा का परीक्षण आवश्यक है। इस परीक्षण कार्य के लिये तर्क-बुद्धि का माध्यम आवश्यक हो जाता है। स्पष्टत. धर्म और धर्मशास्त्र के दृष्टिकोणों की भिन्नता भी स्थापित हो जाती है। यह भद मौलिक है और धर्मशास्त्र के अध्येता का दृष्टिकोण यह परीक्षण वाला दृष्टिकोण है। इस विमर्श से यह बात सिद्ध हो जायगी कि जागरूक प्राणी को अपनी भक्ति श्रद्धा और विश्वास में समालोचक बुद्धि को समाविष्ट रखना चाहिए।

धर्म और धर्मशास्त्र के भेद के स्पष्टीकरण के बाद धर्मशास्त्र की उपादेयता प्रतिपादित हो जानेपर धर्मशास्त्र की विरोधी धाराओ का विश्लेषण एव निराकरण शेष रह जाता है। ऊपर कहा जा चुका है कि विरोध के तीन उद्गम है। प्रथम विरोधी धर्म के अपौरुषेय होने के सिद्धात की शरण लेते है। उनका कहना है कि धर्मतत्व स्वय भगवान् द्वारा प्रतिपादित होते है। अतएव उसके विषय मे सशयात्मिका बुद्धि के लिये न कोई गुजाइश है और न कर्तव्य है। ऊपरी तौरपर यह दुर्ग अभेद्य प्रतीत होता है, क्योकि पूर्वपक्ष की प्रतिज्ञा ही के अनुसार वाणी और बुद्धिपर ताला लग जाता है। किंतु यह दुर्ग परीक्षण के समक्ष नही टिक सकता। ससार के विभिन्न धर्मो की आस्थाएँ किंवा आधार (और ये सब अपौरुषेय सवाद रहते है) परस्पर विरुद्ध पाए जाते है। फिर तो परीक्षण-बुद्धि का कार्यक्षेत्र प्रशस्त हो जाता है और धर्मशास्त्र की उपादेयता के सबध मे दो मत नही हो सकते।

जब द्रष्टा (ऋषि) देवत्वसिंधु मे अपने को (अपनी सत्ता को) खो बैठता है तब उसका स्वानंद-स्थिति-विषयक जो वाक्-प्रस्फुटन हो पड़ता है वही धर्म के इस अपौरुषेयत्व का आधार होता है। अनंत-सत्य-सबंधी यह अनुभूति जहाँ ऋषि के स्वय अपने आनन्त्य की बोधिका है वही वह व्यवहारिक सीमाओ से परिबद्ध वाणी का आश्रय लेती है जब महात्मा भव-सागर के अन्य प्राणियो के कल्याण के लिये उन्हे अपनी अनुभूति की क्रोड़ मे प्रश्रय देना चाहता है। भाषा की सकेतात्मक कोटियाँ ही ये सीमाएँ बन जाती है। यहाँ विचारणीय बात यह है कि विभिन्न देशो के विभिन्न द्रष्टाओ ने एक ही सत्य के विषय मे विभिन्न प्रकार के संकेतो का प्रयोग किया है। एक तो द्रष्टा स्वयं अपने मनोविकारो के अनुसार ही संकेतो का प्रयोग करेगा, दूसरे उसके श्रोता अपनी-अपनी मन शक्ति के आधारपर उन सकेतो का अर्थ समझने का प्रयत्न करेगे। इस प्रकार किसी एक सर्वमान्य मापदंड के अभाव मे वचनारण्य से त्राण देने के निमित्त बुद्धि और मीमासा की आवश्यकता प्राय: स्वत.सिद्ध हो जाती है। व्यक्ति की मन शक्ति सास्कृतिक परपरा और सामाजिक वातावरण के उस अग से पैदा होती है जिसे वह अपना लिए रहता है और उसे अपने अनुभव की बात कहने के लिये जिन सकेतो का आश्रय लेना पडता है उनका श्रोता अपनी मन शक्ति के अनुसार अर्थ लगाता है। जो कुछ "वचनामृत" मे महात्माओ से प्राप्त होता है उस पर हमारी मानसिक स्थिति का मुलम्मा अवश्य लग जाया करता है। गोस्वामी तुलसीदास ने कहा है—'जाकी रही भावना जैसी। हरिमूरति देखी तिन तैसी।' स्वय भगवान् ने गीता मे घोषणा की है—'ये यथा मा प्रपद्यन्ते तांस्त थैव भजाम्यहम्।

ऐसी परिस्थिति मे हमें इस अन्य-भावना से मुक्ति लेनी है कि धर्म के सबंध मे जो अपौरु-

पेय है वह स्वय प्रकाश है और मानव की पहुच के परे की बात है। मानव बुद्धि यह स्वीकार ही नही कर सकती कि भगवान् कही बैठे बैठ अपने उपासको को दर्शन देकर उन्हे अभिभूत कर देते हैं और उनके राग हो जाने पर विशेष प्रकार की भाषा निस्सरित होती है तथा इस प्रकार के निस्सरणो को सग्रहीत करके जो धर्म-प्रवचन किया जाता है वह श्रद्धा होकर मान लेने की चीज है। कि साधक के रूप की कथा को अमान्य नही कहा जा सकता। जैसे हम उसकी बात मानने में स्वतत्र है वैसे ही वह भी हमारे खडन मडन की परवाह नही करेगा। अनुभूति तो ससार भर के लोगो के तर्कों के समक्ष अडिग रहती है किंतु यह तो सबमान्य है कि धर्म के अपौरुषेय होने पर भी उसका ज्ञान कोई स्थिर वस्तु नही हो सकता। ऐसा मान लेने पर तो असीम भगवान् के ज्ञान को सीमित मानना पड जायगा और इसप्रकार स्वय भगवान् की अनतता को ठेस लगेगी। यहा पर प्रोफेसर राधाकृष्णन् का एक वाक्य बहुत ही सगत होगा—'यद्यपि अतीत के युगो में ऋषियो की आत्माओ म जो भगवान् की वाणी की प्रतिध्वनियाँ हुई है वे अत्यत बहुमूल्य है तथापि हमें यह ध्यान रखना चाहिए कि भगवान् ने कभी अपनी बुद्धिमत्ता (ज्ञान) और प्रेम का सदेश देना समाप्त नही किया और इस विचार स उन प्रतिध्वनियो के लिये हमारे आदर की भावना कुछ सयत हो जायगी।'

एक बात और है। हिंदू धर्म श्रुतियो तक को विशेषणो के साथ मानने का आदेश है। अर्वाचीन युग मे भामतीकार श्री वाचस्पति मिश्र ने घोषणा की है—'तात्पर्यवतीश्रुतीप्रत्यक्षात् बलवती न श्रुतिमात्रम।' तर्कसगति की महत्ता के प्रतिपादन में इससे बढकर साहसपूर्ण उक्ति किसी आस्तिक विद्वान की लेखनी स कदाचित् ही निकली हो। बात भी सच है। द्रष्टा अपनी अनुभूति के विषय म जो कुछ कहता है उसे सत्य का, जीवन का, प्रतिरूप मात्र समझना चाहिए। इन उक्तियो द्वारा हमें विशिष्ट आत्माओ के विशिष्ट आध्यात्मिक अनुभव मिलते है। जिनमे सत्य एव यथार्थ का पुट अधिक रहता है इस दृष्टिकोण का परिहार असगत है। अतएव धर्म के विषय म शास्त्रीय बुद्धि तर्कशास्त्र की सभावना ही नहीं उसकी उपादेयता भी सिद्ध हो जाती है।

इससे आपत्ति (विरोध) रहस्यवादियो की ओर से उठती है। इनका कहना है कि अनुभव-व्यक्ति का धार्मिक अनुभव—एक अनुपम, अद्वितीय बात है। यथार्थ, जिसका रहस्य साधक का साक्षात होना है और जिसके साथ वह अपनी आनद स्थिति में तादात्म्य का भान करता है किसी भी प्रकार के विकल्प-सकल्प के परे है। इसके विषय में कुछ भी नही कहा जा सकता वह अनिर्वचनीय है। 'यतो वाचा निवर्तन्ते अप्राप्यमनसासह' किंवा 'शान्तोऽयमात्मा'। ये साधक चाहे जो कहें, इनके विषय म यदि मीमासा को चुप कर दिया जाता है तब तो कुछ भी कहा जा सकता है। तर्कशील बुद्धि का चुप कर देने के लिये इतना ही पर्याप्त हो जायगा कि वहाँ बुद्धि की कोई गति ही नहीं। फिर तो मनमानी उक्तियो के अव्यवस्थित जगल से त्राण का मार्ग ही नही रह जायगा। किंतु रोना तो यह है कि साधक को साक्षात् के अवसर पर उसके पश्चात् जो एक छाया रूप सज्ञा सी रह जाती है उसी को सकेतो द्वारा भाषा-बद्ध कर दिया जाता है और यह दावा किया जाता है कि सत्य की व्याख्या हो गई। इसके अतिरिक्त दूसरी व्याख्या अथवा इस व्याख्या के विषय में किसी प्रकार की छानबीन करना ही अनगल चर्चाएँ है। तथापि धर्म-तत्त्वो के विषय में शास्त्रीय विवेचन के विरुद्ध यह कोई आपत्ति नहीं जचती। यहा जो हेत्वाभास घटित होता है उसे यदि गाडी को घोडे के

आगे रखना कहा जाय तो अनुचित न होगा। यदि यह अनुभव और इसे प्राप्त करनेवाली इंद्रिय-विशेष कोई ऐसे पदार्थ है जो परिमित साधन-संपन्न व्यक्ति होने के कारण हमारी ज्ञान-क्षमता के परे है तो हम उन्हे स्पष्ट जान ही नहीं सकते और यदि वे जीवनव्यापी नियमो का विरोध करते है तो उनकी सत्ता स्वीकार करना स्वय बाधित स्थिति है। साथ ही यह भी ध्यान रखने की बात है कि रहस्यानुभूति और तज्जनित आनंद–स्थिति की वास्तविकता से आँख नहीं मूदी जा सकती। ऊपर निर्देश किया जा चुका है कि अनुभव अपने अधिकरण के लिये अडिग होते है। ससार का सारा वाक्चातुर्य अथवा तर्क-विचक्षणता व्यक्ति को उसके अनुभव से विचलित करने के लिये अपर्याप्त सिद्ध होगी। आवश्यक केवल यह है कि यह बात सर्वथा मान्य रहे कि किसी भी दशा मे अनुभव, जीवन अथवा ज्ञान के नियमो द्वारा बाधित होने पर, मान्य नही हो सकता। स्पष्ट ही है कि यहाँ बुद्धि और उसके नियमो की सगति के अतिरिक्त इसका निरूपण करने के लिये हमारे पास कोई अन्य साधन नही है। रहस्य साधक की उक्तियाँ केवल इसलिये मान्य नही हो जाती कि वे रहस्योक्तियाँ है। हमे उन्हे मानवीय सपत्तियो मे सर्वश्रेष्ठ बुद्धि, की कसौटीपर उतरने पर ही स्वीकार करना चाहिए।

धर्म के अतर्गत आनेवाले सच्चे अनुभव का मर्म यही है कि हमारे जीवन मे एकरूपता स्थापित हो जाय और व्यक्ति की सर्वांगीण एवं सामजस्य पूर्ण अभिवृद्धि और उसके व्यक्तित्व का सम्यक् विकास हो न कि उसकी किसी शक्ति का ह्रास किंवा परिदलन हो जाय और तब कोई अन्य शक्ति विकसित हो। इस प्रकार तो परस्पर विरोधी दशाओ का प्रादुर्भाव होगा और साधक के जीवन मे असामंजस्य और अव्यवस्था हो जायगी। स्वय रहस्यवादी का दावा होता है कि रहस्यानुभूति पूर्ण शातिमयी होती है। 'शान्तोऽयमात्मा।' इस 'शांतात्मा' का परिणाम यह कदापि नही हो सकता कि साधक की कुछ वृत्तियाँ नष्ट हो जायं। इसका फल तो उसके व्यक्तित्व की सर्वांगीण, सम्यक्, सब ओर से भरपूर अभिव्यक्ति और विकास होगा। इस पक्ष की प्रतिज्ञा तो यह है कि ऐसी स्थिति प्राप्त होने पर व्यक्ति उपास्यदेव के व्यक्तित्व मे समाविष्ट होकर भगवान् के साथ ही पूर्णैश्वर्य का भागी होता है और फिर मानव की बुद्धि का चरम विकास एवं सार्थकता या चरितार्थता भी इस स्थिति के प्राप्त होने पर निष्पन्न होगी। मीमांसा इस स्थिति के प्राप्त होने पर अपने सच्चे से सच्चे रूप मे और ऊँचे से ऊँचे पदपर प्रतिष्ठित होगी। उसे अनर्गल कहना अथवा उसकी चर्चा को असगत बतलाना तो सत्य को वाष्प छाया के मिथ्या आवरण मे प्रकोष्ठित करने का व्यर्थ प्रयास है।

तीसरी आपत्ति अज्ञेयवादियो की ओर से उठती है। अज्ञेयवाद का बहुत ही घातक दुरुपयोग हुआ है। ओछी उक्तियाँ देकर मीमासा-पिशाचो ने बुद्धि को चुप करने के व्यर्थ प्रयास किए है। इस प्रकार अनेक अंधविश्वास पैदा हो गए है। इतना ही नही, तर्कशील बुद्धि ऐसे विचारो के कारण शिथिल हो जाया करती है और प्राय नीतिवाक्यो की शरण लेना चाहती है। उदाहरण के लिये 'महाजनो येन गत स पन्था' जैसे वाक्यो की व्यावहारिक उपादेयता पर्याप्त होगी। धर्मतत्व के संबध मे ज्ञान की अपौरुषेयता अथवा धर्म-ज्ञान के रहस्यानुभूतियो से उद्भूत होने के सिद्धात से भी अज्ञेयवाद को बल प्राप्त होता है क्योकि इन सिद्धातो के समक्ष मानवबुद्धि को व्यर्थ कहने का मर्म यह भी होता है कि ईश्वर—वास्तविक सत्य—का ज्ञान हमे अप्राप्य नही है। इन विचारो से बुद्धि मे एक प्रकार की हीन भावना और आलस्य ही अधिक आता है। उसे अपने से श्रेष्ठ किसी

अन्य साधन का ध्यान नहीं आता। ऐसी स्थिति में एक प्रकार का विचार-कार्पण्य पैदा होता है। परंतु अज्ञेयवाद का केवल इन ओछे विचारवाले लोगों ने ही नहीं प्रतिपादित किया है। अनेक दार्शनिकों ने यही मत निर्धारित किया है कि वास्तविक सत्य जिसे ब्रह्म किंवा ईश्वर की संज्ञा भी दी गई है, ज्ञान-अप्राप्य नहीं है। ये लोग अपने सिद्धांत में बड़े से बड़े दार्शनिकों की भाँति ही आदरणीय एवं अटल हैं। इनका दृष्टिकोण मान लेने पर धर्मशास्त्र एक विडंबना मात्र प्रतीत होगा। अतएव इन मीमांसा-धुरंधरों के सिद्धांतों का निरूपण और निराकरण आवश्यक हो जाता है।

इस संबंध में आधुनिक दर्शनशास्त्र के क्षेत्र में जो मतशास्त्रीय वितंडा प्रचलित है उसे यहाँ दुहराया जायगा। इस झगड़े से हमें कोई प्रयोजन नहीं कि सत्य की प्राप्ति सीधे हो जाती है या कैसे? अथवा यदि किसी प्रातिनिधिक मानसिक क्रिया द्वारा होता है तो इस व्यापार की क्या प्रणाली घटित होती है? हमारे सामने तो स्पष्ट प्रश्न है। सत्य ऐसा है कि वह किसी प्रकार जाना ही नहीं जा सकता तो उसके विषय में उसके अज्ञेय होने की बात भी निर्विवाद रूप से किस प्रकार मान्य हो सकती है। यदि सत्य किंवा यथार्थ के विषय में हमारे ज्ञान-साधन-अनुभव के विभिन्न प्रकार—नितांत व्यर्थ हैं तो धर्मचर्चा ही अनर्गल हो जाती है, धर्मशास्त्र की चर्चा की तो बात ही क्या! अज्ञेयवाद तो स्वतः बाधित हो जाता है क्योंकि ईश्वर अथवा सत्य को अज्ञेय कहना भी उसके विषय में ज्ञान की ही बात कहना है। साथ ही दार्शनिकों का धर्मशास्त्र की चर्चा करना इतना आवश्यक जँचा है कि उन्होंने सगुणरूप ब्रह्म से ईश्वर की प्रतिष्ठापना के प्रयास में कम पसीना नहीं बहाया है। इन दार्शनिकों ने जो गहन विश्लेषण प्रस्तुत किए हैं उनके निरूपण के लिये यह भी निबंध उपयुक्त नहीं है और न तो उन विश्लेषणों की तर्कसंगति की समीक्षा ही अभिप्रेत है। ऊपर संकेत किया जा चुका है कि अज्ञेयवाद धर्मशास्त्र के विषय में कोई बाधा नहीं उपस्थित करता जो उल्लेख्य हो, स्वयं उसकी भित्ति ही निराधार है।

धर्मशास्त्र की प्रतिपत्ति कर लेने के बाद एक दो बातों की ओर निर्देश करना आवश्यक हो जाता है। धर्मशास्त्र का सब से बड़ा प्रश्न 'ईश्वर' से संबंध रखता है। 'ईश्वर' शब्द का यहाँ व्यापक अर्थ में प्रयोग किया गया है। हम सत्य-परमसत्य के लिये इस शब्द का प्रयोग कर रहे हैं। अतएव 'धर्म का ईश्वर' अथवा 'धर्म विशेष का ईश्वर' इस संज्ञा के अंतर्गत आ भी सकता है और नहीं भी आ सकता है। भारतीय दर्शन परंपरा में अनेक कल्पनाएँ किंवा सिद्धांत इस प्रश्न को लेकर उठे हैं और उनके प्रवर्तकों द्वारा 'परम सत्य' वाचक ईश्वर की, तथा धर्म के ईश्वर की, कम छीछालेदर मीमांसा के क्रम से नहीं हुई है। इस संबंध की वितंडा के समक्ष बुद्धि इसलिये भी संकोच में पड़ जाती है कि मनुष्य में उसके दार्शनिक सिद्धांत किंवा अनिश्चय के होते हुए भी ईश्वर के प्रति एक आदर भावना रहती है, जिसे उसके पक्षापक्ष में दिए गए तर्कजाल और विश्व के नियमों के क्रम में उसके महत्त्व अथवा उसके भाग के बोध के समक्ष एक प्रकार की ठेस लगता है।

साधारणतः धर्म का ईश्वर और दर्शन का परम सत्य पृथक्-पृथक् सत्ताएँ भी समझे गए हैं और यद्यपि धार्मिक व्यक्ति के लिये उसके अपने अनुभव में प्राप्त ईश्वर के अतिरिक्त किंवा उसके पर कोई अन्य सत्ता परम सत्य के रूप में भी ग्राह्य नहीं है तथापि अनेक दार्शनिकों का धर्म के

ईश्वर से संतोष नही हो सका है। धर्म के ईश्वर को ये लोग अस्वीकार भी नही कर सके है और इसके लिये उन्हे ऐसी कल्पनाओ की शरण लेनी पड़ी है जो युक्ति के स्तरपर सर्वथा मान्य नही उतर सकी। साथ ही ऐसे दार्शनिक भी हुए है जिन्होने धर्म के ईश्वर के परे किसी सत्ता के अस्तित्व का विचार भी असगत समझा। विशिष्टाद्वैत का ईश्वर (सगुण-ब्रह्म और ईसाई धर्मनिष्ठ दार्शनिको का स्वय विकास करता हुआ, वढता हुआ (सगुण ब्रह्म) ईश्वर ऐसे दार्शनिको की पद्धति के उदाहरण है। एक ओर भगवत्पाद श्री शकराचार्य, वैडले और अन्य ब्रह्मवादी दार्शनिको का दुर्ग है तो दूसरी ओर श्रीरामानुजाचार्य, हेनी जोन्स, प्रिंगिलपैटिरक प्रभृति सगुणोपासको का दल है और इन दोनों के बीच दर्शन किवा धर्मशास्त्र के अध्येता को झूलना पड जाया करता है और प्रायः उसकी वुद्धि विमूढ़ हो जाया करती है। ऐसी परिस्थिति मे वह सशय मे पड जाया करता है और उसे उपर्युक्त प्रश्नो का सामना करना पड़ता है। युक्ति के स्तर से तो उचित यह था कि एक वर्ग धर्म की आवश्यकताओ को छोड देता और दूसरा परम सत्य की खोज के फेर मे न पड़ता। किंतु इन दोनो ही वर्गो के लोगो को निश्शेष रूप से सब कुछ कह देने की धुन थी। जो प्राप्त किया था उसकी परिधि इतनी वडी जची और उसके आलोक से सव को प्रकाशित (लाभान्वित) करने की लिप्सा इतनी वड़ी हो गई कि यह ध्यान हीन रहा कि लोक-कल्याण की उनकी भावना से लाभ उठाने के निमित्त कौन 'अधिकार' की दृष्टि से उपयुक्त है और कौन अपनी तर्क वुद्धि के आगे उनकी सद्‌भावना की भी अवहेलना कर सकता है। यहाँ जो एक प्रकार के परिहास का प्रकरण छिड गया वह अभिप्रेत नही था। कम से कम यह तो वता ही देना है लेखक के मन मे इन दोनो ही वर्गो के प्रवर्तको के प्रति (अनुयायियो के प्रति) अपार श्रद्धा है। उसने इन महापुरुषो के समक्ष अपनी लघुता की असलीयत और परिणाम समझने के प्रयास मे ही यह निवंध लिखने का साहस किया है।

ईश्वर अथवा ब्रह्म का प्रश्न संस्कृति की महिमा के प्रसंग मे ही छिडता है। इसके अतिरिक्त वाग्वितंडा से हमे कोई सरोकार नही। ससार के विषय मे हमारे जो अनुभव है चमत्कृत हो जाते है। उन्हीके प्रसंग मे हमारी मीमासा का, हमारी धर्म-भावना का, ईश्वर को, भगवान् को, परब्रह्म को, और परम सत्य को भी समझने का प्रयास कर लिया जा सकता है।

ईश्वर अथवा ब्रह्म के विषय मे प्रचलित मान्यताओ के अनुसार ही ससृति के सबध मे, उसके महत्त्व के विषय मे, दार्शनिको किवा उपासको की आस्थाएँ भी भिन्न है। यद्यपि इस सबध मे भी अपरिमेद साहित्य की सृष्टि और अतुल शक्ति का व्यय हुआ है तथापि हम यहाँ केवल भारतीय मान्यता की सिद्धि के लिये कुछ वातो की चर्चा करेगे। जिन संप्रदायों की द्वैत अथवा इससे अधिक सत्ताओ का अस्तित्व मान्य है उनके विषय मे हम केवल इतना ही कहेगे कि इनका ईश्वर ससार के नियमन से एक ब्रह्म पद का अधिकारी ही रह जाता है। ऐसे ईश्वर से हमारे नैतिक और आध्यात्मिक जीवन अथच अनुभूतियो की पूर्णता की प्रतिष्ठा नही होती चाहे वह रामानुज का 'किंचिद शरीरी' भगवान् हो, चाहे हीगेल का संश्लेषक ब्रह्म, चाहे स्पिनोजा का मन और शरीर-रूपधारी सर्वव्यापक ईश्वर (पदार्थ) हो, जो इसी ससार मे अपने को खतम कर देता है, चाहे वैशेषिकों के ईश्वर हो जो दुनिया के वाहर उनके सिरपर ही क्यों न हो—सिंहासनासीन ऐसे लगते है जैसे अनंत छोटी-छोटी सीकरो के बीच एक विशाल चट्टान। चाहे वादरायणाचार्य के ब्रह्म हो जो संसार मे व्यक्त होकर उसमे व्याप्त होकर भी उसके परे रहे है अथवा शंकर के ब्रह्म हो जिनमे अविद्योपा-

कुछ दर्शनीय इटों के मदिर बने। इन इटों की चिनाई में, यत्रतत्र पत्थरों पर चित्तापकर्षक बेलबूटे, अप्सराओं तथा देवी-देवताओं की मूर्तियाँ निर्मित हुई। निरंतर जलवायु के प्रहारों से इन मूर्तियों को गहरी क्षति पहुँची। उनकी वास्तविक रूपरेखा लुप्त हो चुकी है।

भारतीय मृण्मूर्तियों का इतिहास मोहनजोदड़ो काल से प्रारंभ होकर वर्तमान सदी तक बराबर पहुँचा है। मथुरा, अहिच्छत्रा, भीटा, बक्सर, तक्षशिला, हड़प्पा, मीरपुर (सिंध), सहेत, महेत, सारनाथ, राजघाट बसाढ़, पाटलिपुत्र, बनगढ़, लौरिया नदनगढ़, आदि से प्राचीन स्थानों से गत ५० वर्षों में कई मृण्मूर्तियाँ प्राप्त हुई हैं। यह निर्विवाद है कि कौशाम्बी प्राचीन भारत में मूर्तिकला का सर्वोत्कृष्ट केंद्र था। विविधता, अनुपमता, अभिरुचिरता तथा विपुलता में कौन अन्य केंद्र कौशाम्बी से समता करने की सामर्थ्य रखता है? प्रयाग म्यूनिसिपल सग्रहालय में कौशाम्बी की मृण्मूर्तियों का विलक्षण सग्रह है। यह सपूर्ण सामग्री, खनिज शास्त्र या वैज्ञानिक रीति की खुदाई से प्राप्त नहीं हुई है। कौशाम्बी के धूल-समाधिस्थ खडहर के ऊपर आज दिन खेती होती है। और इसी के द्वारा प्रायः बहुत वस्तुएँ ऊपर निकल आया करती है।

मातृदेवी की मूर्त्तियाँ

कौशाम्बी में स्त्रियों की अनेक मृण्मूर्तियाँ तथा वक्ष प्राप्त हुए है। इनमें अधिकाश को मातृदेवी की मूर्त्ति माना गया है। परपरा है कि मातृदेवी की पूजा एकबार भूमध्यसागर से लेकर भारत तक प्रचलित थी। प्रत्येक देश में इस देवी के भिन्न भिन्न नाम रहे। कौशाम्बी की मातृदेवी की मृण्मूर्तियाँ दो वर्गों में विभाजित की जा सकती है। इनमें एक प्रकार की तो वह है जो कि सीधे हाथ से बनाई गई है। दूसरे वर्ग की मूर्तियाँ प्रायः ठप्पों से निकाली गई है। प्रथम वर्ग में कम से कम १५ शैली के विभिन्न उदाहरण है। इनमें कर्णाभूषण, मेखला आदि अलग से चिपकी मिट्टी की पट्टियों से दिखलाई गई है। इनमें मथुरा शैली का एक भी उदाहरण नहीं। इस वर्ग में एक मूर्ति का उल्लेख करना तो अत्यावश्यक है। कुछ वर्ष पूर्व उत्तर पश्चिम सीमाप्रांत में सरडेरी नामक स्थल पर डाक्टर मार्टिन को एक ऐसी शैली की मूर्तियाँ मिली थी जिनमें आँखें अलग मिट्टी की पट्टियों से जो बीच में किसी तेज औजार से काटी गई थी, दिखलाई गई थी। इस शैली की कोई मूर्ति किसी अन्य भारतीय स्थान से नहीं मिली। कौशाम्बी ने इस शैली का एक उदाहरण प्रस्तुत किया है। इसी वर्ग के अतर्गत वे मूर्तियाँ है जिनमें स्त्री दोनों हाथों से स्तनों को दबाती दीख पड़ती है। इस शैली की मृण्मूर्तियाँ भी कौशाम्बी के अतिरिक्त अन्य स्थलों में अप्राप्य है। विद्वानों की धारणा है कि इस विषय की मृण्मूर्तियों की उत्पत्ति अति प्राचीन है।

हाथ से बनी मूर्तियों में ऊँचे स्तन तथा चौड़े नितंब उत्पादन शक्ति के द्योतक है। बड़े आकार की मूर्तियों में तो कभी कभी एक बालक को गोद में दिखलाने की चेष्टा की गई है।

ठाचों से निकाली गई मृण्मूर्तियों में जिनमें शुगकालीन प्रधान है, कला को प्रधानता दी गई है। स्त्रियों के चेहरे भरे तथा सौंदर्ययुक्त है। उनके हाथों, कठ, वक्ष तथा पैरों में भारी आभूषण पड़े है। किंतु इनकी सब से बड़ी विशेषता विचित्र शिरोभूषा में है। बालों को गुच्छा सवार कर उनके ऊपर नाना प्रकार का अलकरण किया जाता था। शिरोभूषा में एक ओर पाँच पवित्र चिह्न, अकुश, त्रिशूल, कटार आदि गड़े होते है। दूसरी ओर पाँच या छ आम बौर दिखलाए गए है।

कुछ मूर्त्तियो मे तो सिर के ऊपर आम्रवौरो के अतिरिक्त कुछ और है ही नही। इस शैली की मूर्त्तियो का सवंध निश्चय उपज की देवी से है। कुछ उदाहरणो मे शिरोभूषा पर कमल पुष्प भी जड़े है।

लक्ष्मी का चित्रण

कौशावी की जनसख्या मे व्यवसायी तथा वणिको का एक वहुत वड़ा भाग था। इसलिये यह आश्चर्य नहीं कि इस नगर मे लक्ष्मी की घर घर मे पूजा होती रही हो। एक उदाहरण में वेदिका से घिरे एक सरोवर मे कमल तथा अन्य लतिकाएँ दिखलाई गई हैं। वीच से उत्पन्न पुष्प के ऊपर लक्ष्मी खड़ी है। अन्य एक दूसरे खडित पट्टक मे लक्ष्मी के दोनो ओर चामरग्राहिणी स्त्रियाँ चंवर डुला रही है। तीसरी मूर्त्ति का केवल कमर से नीचे का भाग वच सका है। इसमे देवी एक सुदर परतोंवाली साड़ी पहिने एक कमल के ऊपर खडी है।

यहाँ पर इस वात का उल्लेख करना भी आवश्यक है कि कौशावी से ब्राह्मण-धर्म-सवंधी वहुत थोड़ी मूर्त्तियाँ प्राप्त हुई हैं। इनमे दो तो एकमुख शिवलिंग हैं और एक गणेश जी की मूर्त्ति। एकमुख शिवलिग जिसका एक चित्र इस लेख के साथ है, एक अनूठा उदाहरण है। लिग वर्तुलाकार मे पीछे की ओर वना है। आगे शिवजी का त्रिनयन चेहरा है। इसके ऊपर लाल रग भी चढा है। स्मरण रहे कि कौशावी से पत्थर के अनेक एकमुख, त्रिमुख तथा चौमुख शिवलिग पाषाण मे भी प्राप्त हुए हैं।

उक्त देवी-देवताओ के साथ साथ कौशावी समाज के कुछ व्यक्ति ग्रामीण नाग पूजा में भी विश्वास रखते थे। यहाँ कई नागो के फण वड़े आकारो मे प्राप्त हुए हैं। नाग देवी तो स्त्री के रुप मे पूजित होती थी। एक पट्टक में नागदेवी वाएँ हाथ को सिर के ऊपर उठाए हुए हैं। उसके दोनो ओर से नाग ऊपर उठते दिखाए गए हैं।

वौद्ध तथा जैन-धर्म की मृण्मूर्त्तियाँ तो नही के वरावर हैं। ऐसे एक निम्न कला के उदाहरण मे धोती पहने पुरुष एक हाथ मे एक पात्र लिए है। दूसरा हाथ अभय मुद्रा मे उठा है। क्या यह वोधिसत्व मैत्रेय का रूप हो सकता है? दूसरे उदाहरण मे भी कुषाण शैली मे अकित वोधिसत्व? है एक हाथ तो अभय मुद्रा मे उठाए है। दूसरे हाथ मे वह वर्छे की तरह एक वस्तु पकड़े है। वोधिसत्व का यह चित्रण वड़ा अस्वाभाविक है।

लौकिक दृश्य

मृत्पट्टको मे अनेक ऐसे दृश्य है जिनको निश्चित रूप से पहचानना कठिन है। प्रायः सभी खडितावस्था मे है, किंतु अलग-अलग टुकड़ो को मिलाकर कुछ दृश्य तो निकल आए है। कुछ पट्टको मे स्त्री व पुरुष (दंपति) खड़े हैं। स्व० श्री राखाल दास वनर्जी, इन्हे शिव पार्वती की मूर्त्ति मानते है किंतु यह मानना सहसा उचित नही। एक पट्टक मे दपति खड़े हैं। दायी ओर पुरुष खडा है। उसके हाथ मे एक पशु संभवत विल्ली? है हाँ! हो सकता है यह दंपति का पालतू पशु हो। शुक-क्रीड़ा के दृश्यो की तो कौशावी मे भरमार है। मथुरा के शिल्प मे यक्षणियाँ प्रायः शुक के साथ क्रीड़ा करती दीख पडती है किंतु विविधता मे कौशावी का स्थान इस दिशा मे उच्चतर है। इन मृण्मूर्त्तियो मे कही स्त्रियाँ तोते को आम्र फल देती, कही कंधे पर और कही हाथ पर वैठाए अकित

लक्ष्मी, ई० पू० १००

कौशाम्बी से प्राप्त स्त्री की मूर्ति,
ई० पू० १५०

कौशांवी के मृत्कारो ने अवती के 'नलागिरि'' नामक पागल हाथी का भी चित्रण किया है। इस मस्त हाथी को उदयन ने अपनी वीणा से मुग्ध कर पकड़ा था। कुछ पट्टको मे इसके पैर जंजीरो से वंधे है। अन्य पट्टको मे वह वड़े वेग से एक वृक्ष के तने से टक्कर लेकर उखाड़ने का प्रयत्न कर रहा है।

एक ठप्पे मे सूक्ष्म परिधान धारण किए, स्त्री पीठिका पर खड़ी है। उसके गले मे एकावली है पीछे एक परिचारिका छत्र थामे है। सभव है यह स्त्री उदयन की कोई रानी है।

सपक्ष मानव तथा पशु

कौशावी के कुछ पट्टकों मे पुरुष पंख धारण किए हुए है। जबसे वसाढ़ (वैशाली) मे सपक्ष लक्ष्मी की मृन्मूर्त्ति प्राप्त हुई तभी से ऐसे अकन के सवंध मे नाना प्रकार की धारणाएँ प्रस्तुत की गईं। विद्वानो ने सपक्ष चित्रण को पश्चिमी एशिया की देन घोषित किया है। किंतु हमारे देश मे यक्ष, गंधर्व तथा देवपुत्रो की जो परंपरा है, वह भी इसीके निकट आती है।

१९२९ ई० मे (अव स्वर्गीय) डा० आनंद कुमार स्वामी ने एक लेख मे कहा था कि सपक्ष चित्रण के केवल दो ही उदाहरण उनके ज्ञान पे आए है। पुरातत्व के पिछले २२ वर्षो मे कई क्रांतिकारी परिवर्त्तन हुए और सुप्त कौशावी की उच्छ्वासों मे भी विद्वानो को कुछ तत्त्व प्राप्त हुए। इन खडहरो से प्राप्त पट्टको मे दो प्रकार के सपक्ष-मानव दृष्टिगत हुए है। एक पट्टक मे तो उनके पंख नोक पर घुमा दिए गए है। मानव अच्छे आभूषण पहिने तथा हाथों मे लतिकाएँ पकड़े है। दूसरे उदाहरण मे मानव के पंख सीधे ऊपर की ओर दिखलाए गए है।

सपक्ष सिहो का चित्रण भी कौशावी मे हुआ है। ऐसे पशु साँची की वेदिका से प्रमुख द्वार स्तंभो के सिरों पर भी दीख पडते है। मृत्कला मे ऐसा चित्रण मथुरा मे भी पाया जाता है। कौशावी के सपक्ष सिह पुरुषो के साथ युद्ध करते दीख पड़ते है।

यक्ष

भारतीय कला मे यक्षो को विशेष महत्व प्राप्त हुआ है। केवल पाषाण शिल्प मे ही नही। मृत्कला मे भी यक्षो का अंकन किया गया। कौशावी के मृद् यक्षो का काल ई० पू० प्रथम सदी से तृतीय सदी तक है। इनकी वेशभूषा वडी विचित्र है और भावमयी विदेशीय लगती है। यक्ष प्राय. घुटनो के वल वैठे है। उनके हाथ मे पशु या पक्षी प्राय. दीख पड़ता है। एक मूर्त्ति मे यक्ष दाढी पहने तथा एक हाथ से अपने भारी पेट को दवाते चित्रित किया गया है। चेहरे से दुख या घृणा का अनुपम भाव प्रत्यक्ष है।

स्त्री पुरुषों के सिर

कौशावी से सैकडो स्त्री-पुरुषो के सिर भी मिले है। जान पड़ता है कि इस माध्यम मे जीवित प्रतिलिपियाँ उतारने की चेष्टा की गई थी। ईसा के वाद की प्रथम कुछ सदियो मे भारत मे कई विदेशी जातियो ने उत्तर पश्चिमी सीमाप्रात के द्वार से प्रवेश किया। इनका प्रभुत्व कालातर में मध्यदेश तक भी पहुंचा। तत्कालीन कलाकार इनकी अद्भुत वेशभूषा तथा आकृति से प्रभावित हुए। इन सिरो मे मोटे ओठ, उभड़े हुए नेत्र, लंबी नाक, नुकीली टोपी, कई परतों मे वधी पगड़ी

आदि आदि तत्त्व अद्वितीय है। विदेशियों के सिरों को पहचानने में कोई कठिनाई नहीं होती। अन्य सिरों की सुघड़ता तथा सौष्ठव देखते ही बनता है।

मृच्छकटिक

आधुनिक काल की तरह, प्राचीन काल में भी बच्चों को खिलौनों से प्रगाढ़ प्रीति थी। मृच्छकटिक (खिलौने के रूप की गाड़ियों) की विशेष माँग जान पड़ती है। इनमें गाड़ी का शरीर पशु (भेड़ा, हाथी आदि) तथा मानव आकृति का होता था। दोनों ओर सुंदर गोल चक्र (पहिए) लगा दिए जाते थे। इनके अतिरिक्त कुछ ऐसी भी गाड़ियाँ थीं, जिनके तीनों ओर तीन दीवारें थीं, और जिनपर ठप्पे द्वारा पशु, आकृतियाँ, पुष्प आदि छपे रहते थे। इनके अतिरिक्त कई खिलौनों में धड़ तो मनुष्य आकृति का होता था और पूँछ पक्षियों या मछली जैसी।

विदेशी तत्वों से प्रभावित मूर्तियों में बाजा बजाती हुई आकृतियाँ उल्लेखनीय हैं। इनमें कुछ तो बैठकर किसी बाजे को बगल में दबाकर लकड़ी से बजाती दीख पड़ती हैं। इनकी शिरोभूषा तथा शैली इंडो पारथियन है।

एक उदाहरण में सुंदर पूर्णघट का भी चित्रण है। पाषाण में तो पूर्णघट का प्रयोग साँची से लेकर मध्यकाल तक की कला में हुआ है, किंतु मृत्कला में संभवतः यही एक सर्वप्रथम उदाहरण है।

बक्सर तथा पाटलिपुत्र शैली की मृण्मूर्तियाँ भी कौशाम्बी में प्राप्त हुई हैं। बक्सर की मूर्तियों की अपनी विशेषता है और इस शैली की मूर्तियाँ भारत में अन्यत्र कहीं नहीं पाई जातीं। किंतु अब बक्सर का प्राचीन नाम तथा इतिहास लुप्त हो गया है। ऐसा प्रतीत होता है कि प्राचीनकाल में इन दोनों स्थानों का कौशाम्बी से दृढ़ संपर्क था। आश्चर्य यही है कि कौशाम्बी शैली की मूर्तियाँ न तो बक्सर और न पाटलिपुत्र में ही प्राप्त हुई हैं।

इस संक्षिप्त इतिहास से ज्ञात हो सकता है कि कौशाम्बी मृत्कला के विषय कितने व्यापक थे। अपने सीमित दायरे के अंतर्गत मृत्कार ने तत्कालीन समाज के धर्म, स्त्री-पुरुषों, उनकी वेशभूषा, आभूषण आदि का निरूपण करने का प्रयत्न किया है। अमूर्त पदार्थ को मूर्त रूप देने में ही वह सार्थक हुआ।

भक्ति क्या रस है ?

करुणापति त्रिपाठी

रसों की संख्या

रसो की सख्या के संबंध गें अवतक मतभेद बना हुआ हैं। भरत मुनि ने अपने नाट्यशास्त्र मे 'अष्टौ नाट्यरसा' द्वारा नाटक मे आठ रसो की सत्ता स्थापित की है। आगे चलकर साहित्य-शास्त्र के अन्य आचार्यो ने नाट्य मे आठ रसो को मानते हुए भी, काव्य-सामान्य मे नव रसो का, शृंगार वीर, करुण, हास्य, अद्भुत, भयानक, वीभत्स और रौद्र के साथ-साथ शात रस का भी, अस्तित्व स्वीकार किया हैं। काव्य-प्रकाशकार मंमट ने तो कवि-भारती का अभिनंदन करते हुए, उसे 'नवरस-रुचिर' विशेपण से विशिष्ट स्वीकार किया हैं।

काव्यरसो की संख्या मे निरतर अभिवृद्धि होती चली। आगे चलकर यह संख्या पंद्रह-सोलह तक पहुँची।

भोजराज ने सरस्वती कंठाभरण मे उदात्त, उद्धत, प्रेयस् आदि को रस मानकर रसोकी संख्या वारह तक पहुँचा दी। इतना ही नही, उनके अनुसार व्यभिचारी भाव भी अहकार-भावना के पूर्ण परिपाक होनेपर स्थायी भाव के समान रसावस्था तक पहुँच सकते है—

एतेन रूढ़ाहङ्कारता रसस्य पूर्वा कोटिः। रत्यादीनामेकोनपचाशतोऽपि विभावानुभावव्यभिचारिसयोगात् परप्रकर्षाधिगमे रसव्यपदेशार्हता रसस्यैव मध्यमावस्था (शृगारप्रकाश—भा० २ पृ० ३०१)

आगे चलकर वे कहते हे —

रत्यादयो यदि रसास्स्युरतिप्रकर्षे हर्षादिभिः किमपराद्धमतद्विभिन्नैः।
अस्थायिनस्त इति चेद् भयहासशोकक्रोधादयो वद, कियच्चिरमुल्लसति।

—वही

रसतरंगिणीकार भानुदत्त ने भी भक्ति आदि को रसो मे मानकर शास्त्रीय प्रणाली से उनके विभावानुभावादि की विवेचना की है।

डा० भगवान् दास ने भी 'द्विवेदी-अभिनंदन ग्रंथ' में 'रसो वै सः' शीर्षक अपने लेख में रसों की मनोवैज्ञानिक चर्चा की है। इसी प्रसंग में भोजराज के समान ही मनोवैज्ञानिक आधार पर उन्होंने यह सिद्ध करने की चेष्टा की है कि सभी भाव प्रकृष्ट और प्रवृद्ध होनेपर—चाहे वे स्थायि-भाव हों, व्यभिचारिभाव हों अथवा अन्य भाव—'रस' हो सकते हैं। हिंदी के भी कुछ आचार्यों ने शांत, भक्ति, वात्सल्य आदि को रस माना है।

एक ओर तो रसों में यह संख्या वृद्धि है, दूसरी ओर अनेक आचार्यों ने सभी रसों का मूल किसी एक रस को माना है। 'शृंगार' को 'रसराज' कहनेवाले उसे रसों का राजा ही नहीं कहते, वरन् उसीको समस्त रसों का मूल कहते हैं। भोजराज ने अपने शृंगार-प्रकाश में यही दिखाने की चेष्टा की है कि सभी रसों का मूल 'शृंगार' है। अहंकार, अभिमान या शृंगार की भावना ही समस्त रसों का आविर्भावक है।

विरक्तिमार्ग को, मोक्ष को, जीवन का परमपुरुषार्थ माननेवाले आचार्यों ने 'शांत' रस को मुख्य रस माना है। उनकी दृष्टि में अन्य सभी रसों का पर्यवसान शांत में ही होता है। वहीं सभी रसों का आविर्भाव तिरोभाव होता रहता है।

भवभूति की घोषणा, 'एको रसः करुण एव' संस्कृत काव्य-जगत् में सभी को विदित है। उनके मतानुसार निमित्त भेद के कारण करुण का ही विवर्त—विपरिणाम अन्य रसों के रूप में होता है। पर सभी रस तत्त्वतः करुण ही हैं। जैसे जल भिन्न भिन्न परिस्थितियों के कारण भिन्न भिन्न रूप धारण करने पर भी, आवर्त्त (भौंरी), बुद्बुद और तरंगादि नामों से व्यवहृत होनेपर भी, तत्त्वतः जल ही है, उसी प्रकार शृंगारादिरूप प्राप्त करनेपर भी सभी रस तत्त्वतः करुण ही हैं।

इसीप्रकार एक वर्ग उन भक्त आचार्यों का भी है जो 'भक्ति' को ही प्रेमा भक्ति को ही, मधुरा भक्ति को ही, परम रस, शाश्वत, चिरंतन और नित्य रस मानते हैं।

हमें यहाँ केवल इतना विचार करना है कि भक्तिरस का क्या स्वरूप है और कहाँतक उसमें 'रसत्व', साधारणीकरणता, रहती है।

भक्तिरस

वैष्णव भक्त साहित्याचार्यों ने भक्तिरस का अनेक विशाल ग्रन्थों में सांगोपांग विवेचन किया है। आदरणीय यति मधुसूदन सरस्वती ने 'श्रीहरिभक्तिरसामृतसिंधु तथा 'श्रीभगवद्भक्तिरसायन'' नामक दो ग्रंथों में भक्ति के विविध भेदों की, भुक्ति और मुक्ति की तुलना में भक्ति के महत्त्व तथा रसत्व की, सांगोपांग विवेचना की है और अति प्रौढ प्रेमा अथवा मधुरा भक्ति को सर्वोत्कृष्ट बतलाया है। इसी प्रेमा या मधुरा भक्तिस्वरूपा कृष्णविषयिणी भक्ति को मधुर रस का स्थायिभाव सिद्ध किया है। इन दो ग्रंथों में भक्ति की विवेचना के साथ साथ भक्तिरस की शास्त्रीय स्थापना भी की गई है।

भगवद्भक्तिरसायन में बताया गया है कि भगवान् के गुणों का निरंतर श्रवण, मनन, चिंतन आदि करते रहने से सर्वेश के प्रति जो धारावाहिकी वृत्ति होती है, रागात्मक होकर उसी

वृत्ति का जो भगवदाकार हो जाना है, वही 'भक्ति' या 'मधुरा रति' है और फिर विभावादि के योग से आनदास्वादरूप उसकी अभिव्यक्ति ही उसका रसत्व है—

द्रुतस्य भगवद्धधर्माद्धारावाहिकता गता ।
सर्वेशे मनसो वृत्तिर्भक्तिरित्यभिधीयते ।
स्थायिभावगिराऽतोऽसौ वस्त्वाकारोऽभिधीयते ।
व्यक्तश्च रसतामेति परानन्दतया पुन. ।
भगवान् परमानंदस्वरूपः स्वयमेव हि ।
मनोगतस्तदाकाररसतामेति पुष्कलम् ।

श्रीहरिभक्तरसामृतसिन्धु मे भक्ति के तीन भेदों की, अथवा दूसरे शब्दों मे कह सकते हैं—तीन अवस्थाओंकी—साधन भक्ति, भावभक्ति और प्रेमा भक्ति की चर्चा की गई है तथा इनका विशद परिचय भी दिया गया है।

इस प्रेमा भक्ति अथवा मधुरा भक्ति के विभावानुभाविदि का अतिविस्तृत सागोपांग विवेचन रूपगोस्वामी के 'उज्ज्वलनीलमणि' नामक ग्रंथ में हुआ है। तात्पर्य यह कि कृष्ण की मधुरोपासना करनेवाले वैष्णव भक्त साहित्याचार्यो ने शास्त्रीय विवेचना के द्वारा भक्ति का रसत्व प्रतिष्ठित किया है।

क्या भक्ति में रसत्व है ?

किंतु इस विशद और भव्य विवेचना द्वारा भक्ति का रसत्व प्रतिपादित और निरूपित होनपर भी सभी शकाओं का समाधान नही करता।

किसी भी स्थायिभाव मे रसदशा तक पहुँचने के लिये कुछ बातों का होना आवश्यक है।

सब से प्रथम आवश्यकता है, सहृदय सामाजिक के हृदय मे स्थायिभाव का वासना रूप में वर्त्तमान होना। जबतक काव्य-भावना-परिकलित सहृदय सामाजिक का हृदय स्थायिभाव की वासना से वासित नही होगा तबतक वह भाव, भावमात्र रह जायगा। उस भाव को न तो स्थायिभाव की प्रतिष्ठा ही प्राप्त होगी और न रसरूप मे उसका विपरिणाम होगा।

दूसरी बात आवश्यक है उस स्थायिभाव का साधारणीकरण। साधारणीकरण भी तभी हो सकता है जब भाव, स्थायिभावत्व की प्रतिष्ठा के लिये आवश्यक धर्मवाले हों और सहृदय के हृदय मे उसकी पूर्ववासना वर्त्तमान हो।

इसके पश्चात् साहित्यादि के पुन-पुन. अनुशीलन द्वारा उस भाव का, वासनात्मक सूक्ष्मभाव का उद्बुद्ध होकर, सजग होकर, इतना शक्तिशाली होना भी आवश्यक है जिससे कि समस्त अन्य ज्ञानो को दबाकर तथा रजस्तमोगुणो को अभिभूत करके स्वयप्रकाश आनदस्वरूप सत्वगुण के उद्रेचन मे वह समर्थ हो।

'भक्ति' रस की रसात्मकता मे ये सब आवश्यक बाते दिखाई नही पडती।

यदि भक्ति को हम रस माने तो सब से पहले उसका क्षेत्र अत्यत परिमित हो जाता है।

उस रसानुभूति के योग्य उदार हृदय भेदवाला सामाजिक मुरली मनोहर मधुराकृति गोपाल का सच्चा भक्त अनुरागी ही हो सकता है।

क्योंकि भक्ति स्वयं ब्रह्मानंद से भी अनन्त गुण महनीय और अभिलषणीय है—

ब्रह्मानन्दो भवेदेष चेत्परार्द्धगुणीकृतः।
नैति भक्तिसुखाम्भोधेः परमाणुतुलामपि॥

वही भक्त रस की अनुभूति के लिये सहृदय सामाजिक हो सकता है जो चारों पुरुषार्थों को तृणवत् माने—

त्वत्कथामृतपाथोधौ विहरन्तो महामुदः।
कुर्वन्ति कृतिनः केचिच्चतुर्वर्गं तृणोपमम्॥

जबतक भोग अथवा मोक्ष की भी स्पृहा (जिसे पिशाची तुल्य बताया है) हृदय में है, तबतक भक्ति नहीं रह सकती—

भुक्तिमुक्तिस्पृहा यावत् पिशाची हृदि वर्तते।
तावद्भक्तिसुखस्यात्र कथमभ्युदयो भवेत्॥

और यह तभी हो सकता है जब हृदय में उस परम स्पृहणीय सर्वोत्कृष्ट भक्तिभाव का श्रीकृष्णचरणों की सेवा द्वारा आविर्भाव हो चुका हो।

साधारणतः इस प्रेमा का उदयक्रम यह है—पहले श्रद्धा, तदनंतर सत्संग, तत्पश्चात भजन, उसके बाद अनर्थ निवृत्ति, फिर निष्ठा, उसके अनंतर रुचि, तब आसक्ति, उसके पश्चात् भाव और तब अंत में प्रेमा का उदय होता है। साधकों का यही क्रम है, पर पूर्वजन्म के संस्कारी भक्तों के हृदय में अकस्मात् ही प्रेम का स्फुरण हो जाता है। (श्रीहरिभक्ति० पूर्व वि०, लहरी ४, श्लो० ६–८)।

स्वयमेव श्रीमधुसूदन सरस्वती ने इस रसानुभूति के लिए सामाजिक की विशेषताओं का निर्देश करते हुए बताया है कि जिनका हृदय भक्तिभाव से धौत होकर परमोज्ज्वल हो चुका है, भगवच्चरणों में जिसका मन सदा आसक्त रहता है, उसीको इस रस का आस्वादानुभव संभव है—

एष भक्तिरसास्वादस्तस्यैव हृदि जायते।
प्राक्तन्याधुनिकी चास्ति यस्य सद्भक्तिवासना।
भक्तिनिर्धूतदोषाणां प्रसन्नोज्ज्वलचेतसाम्।
श्रीभागवतरक्तानां रसिकासङ्गरङ्गिणाम्।
जीवनीभूतगोविन्दपादभक्तिसुखश्रियाम्।

इत्यादि।

अस्तु, ऐसे भक्त आज के विज्ञानयुग में इने गिने ही मिल सकते हैं। और जबतक ऐसे भक्त न मिलेंगे, जिनके हृदय में भक्ति हो, उसकी वासना हो, तब तक कृष्णविषयक रतिभाव 'स्थायी' न कहा जा सकेगा और न उस स्थायी का बारबार काव्यानुशीलन द्वारा रज और तम का अभिभव करनेवाला प्रतिबोधन ही हो सकेगा और न साधारणीकरण ही हो सकेगा।

अत: भक्तिरस को हम सायारणतया रस ही नही कह सकते। यदि कहना भी चाहे तो इसका क्षेत्र अत्यंत संकुचित होगा। भुक्ति और मुक्ति को तृणवत् देखनेवाले, कृष्णकी मधुर मूर्त्ति के उपासक ही इसके आस्वादयिता हो सकते है।

अन्य संप्रदायवालों की चर्चा तो वड़ी दूर है। भारतीयो मे और कृष्णोपासको मे भी मधुरोपासक ही इसका अनुभव कर सकते हैं। शैव, सत, रामभक्त अथवा अन्य धर्म या सप्रदाय का अनुयायी अनुभव नही कर सकता।

अन्यों को जो अनुभूति होगी वह बहुधा 'श्रृंगार' के समान होगी। क्योकि विभावानुभावादि बहुत दूरतक श्रृंगार के ही अनुरूप-से आभासित होते है। इसका परिणाम भी वही होगा जिसे बहुधा अनेक श्रृंगारी कवियो ने कृष्ण के बहाने अपनी रचना मे प्रकट किया है।

अत: सामान्यत. हम या तो 'भक्ति' को रस ही नही कह सकते और यदि कहना ही चाहे तो साप्रदायिक रस ही कह सकते हैं। अन्य स्थायिभावों के समान भक्ति के स्थायिभाव की स्थिति सामान्यत. समस्त सहृदयजनों के हृदय मे नही मानी जा सकती।

इसी कारण प्राचीन आचार्यो ने आठ स्थायिभावो की जो संख्या निर्धारित की है, उसका मनोवैज्ञानिक आधार अत्यत प्रौढ और तर्कपुष्ट है। नवीन रसो की उद्भावना के पूर्व हमे स्थायिभावों के स्थायिभावत्व, सहृदयहृदयमात्रवेद्यत्व, सवेदनीयत्व साधारणीकरणीयत्व आदि का विचार अत्यंत आवश्यक है।
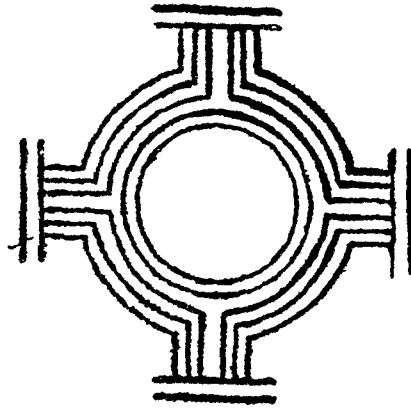
विनोद-विमर्श

कृष्णदेव प्रसाद गौड

हँसी आती है सब को, किन्तु क्यों आती है इसका विश्लेषण प्राचीनकाल में किसी ने नहीं किया। हमारे देश में रसों का वर्णन और उसका निरूपण पहले भरत ने किया। किन्तु हास्य का कारण क्या है इसपर उस समय किसी ने ध्यान देने का कष्ट नहीं उठाया। विचित्रता की बात है कि शिशु की मधुर मुसकान, यौवन का उल्लासपूर्ण अट्टहास, जरावस्था की निग्रहीन हँसी अनन्तकाल से लोग देखते चले आए हैं किन्तु उसका दार्शनिक विवेचन पहले नहीं हुआ। केवल इतनेपर ही संतोष कर लिया गया कि इतने प्रकार की हँसी होती है। इसके आलम्बन, युग के अनुसार अमुक होते हैं, इन-इन वस्तुओं से इसे उद्दीपन मिलता है। आश्चर्य की बात है कि व्यक्ति तथा समाज के सूक्ष्म से सूक्ष्म कृत्योंपर विचार करनेवाले महान् विद्वानों ने भी इसकी समीक्षा नहीं की।

विदेशों में पहले-पहल फ्रेंच दार्शनिक बर्गसाँ ने इसपर नियमित तथा वैज्ञानिक रूप से विचार किया। इसके पहले जो कुछ भी विचार इंगलैंड तथा दूसरे देशों में हुआ वह अव्यवस्थित ढंग से बिखरा सा था। इसके पश्चात क्रोचे तथा और भी सौंदर्य विज्ञान (एस्थेटिक्स) के पंडितों ने इसकी मीमांसा की है।

इस बात से तो सभी सहमत हैं कि किसी बात में, वस्तु में, चरित्र में कोई बात उपहास्य हो, हास्यकर हो तभी हँसी आती है। किन्तु इस बातपर सब लोगों का मतैक्य न होगा कि अमुक प्रकार की बात अथवा अमुक ढंग की चरित्र हास्यकर है। मान लीजिए किसीसे पूछा जाय 'आनंद सदैव कहाँ पाया जाता है' और कोई व्यक्ति उत्तर दे—'कोश में'। कुछ लोग इसपर नहीं हँसेंगे, और कुछ लोगों के अधर खुल जायेंगे। कोश शब्द में कोई विनोद नहीं है, सैकड़ों बार आपने देखा होगा किन्तु हँसी तो नहीं आती। इसलिये हँसी के लिये पहली आवश्यक बात परिस्थिति है। सिगरेट पीते सबको लोग देखते हैं। सिगरेट भी दूकानोंपर ढेर के ढेर रखे देखते हैं। किन्तु यदि घोड़े को सिगरेट पीते आप देखें तो हँसी आ जायगी। एक बात और सोचने की है। अभी एक पत्र में 'डाक्टर सुन्दर लाल दर्शन के अध्यापक होंगे' के स्थानपर छप गया डाकू सुदर्शन लाल अध्यापक होंगे। पढ़नेवालों को हँसी आई होगी। क्यों हँसी आई। सुदर्शन लाल के व्यक्तित्व में हँसी की कोई बात नहीं है।

डाकू उपहास्य प्राणी नही भयद भले ही हो। हंसी आनेका कारण हमारी मन.स्थिति है। इसीप्रकार कोई कविता लीजिए। हास्य रस की दो पंक्तिया है :—

"अभिलाषा यह है प्रिये मरने के पश्चात्,
तुम डाइन, हम भूत बन, लूका खेलें रात"

इसके प्रत्येक शब्द पर विचार कीजिए। मरण, डाइन, भूत, लूका, हसी की वस्तुएँ नही हैं; शायद भयानक रस ही का उद्रेक करनेवाली हैं। तब हसी आने का क्या कारण है। हसी सुननेवाले की बुद्धि मे, मन मे होती है, किसी वस्तु मे नही। यह हसी का दूसरा कारण है? शेक्सपियर ने लिखा है "विनोद की सफलता सुननेवालो के कान मे है, कहनेवालो की जिह्वा पर नहीं[1]" शेक्सपियर आलोचक नही था फिर भी उसकी प्रतिभा ने जो कहला दिया वह जन्म-मृत्यु की भाँति सत्य है।

एक और दृष्टात आवश्यक है। कहा जाता है कि एक विश्वविद्यालय थे हिंदी विभाग को एक बहुत धनी सेठ देखने गए। वहाँ पहुँचते ही अध्यक्ष ने परिचय कराया, आप डाक्टर क है, आप डाक्टर ख है, आप डाक्टर ग है—इत्यादि, कई बार सुननेपर उन्होने अपने विविक्त मंत्री की ओर देखा और कहा—"मैने विश्वविद्यालय चलने को कहा था, आप अस्पताल मे क्यो लाये।' यह घटना सुननेपर उन आध्यापको को छोड़कर जिनपर यह बीती होगी सभी हसेगे। क्यो? असगति के कारण। जो वस्तु जिस स्थानपर होनी चाहिए, वहाँ न होकर अनुपयुक्त स्थान पर हो जाय तो देखने वाला हसे बिना नही रह सकता। असंगति तीसरा गुण है जो हास्य के लिये आवश्यक है। जितनी हास्य की सामग्री है, कहानी, कविता या नाटक के पात्र, यदि वह साधारण व्यक्तियो की भाँति आचरण करते है तो हास्यकर नही है। साधारण रेखा से परे ही जब कोई जाता है तभी हास्यास्पद बनता है वह अनायास हो अथवा जानबूझकर। एक प्रोफेसर के संबध मे कहा जाता है कि वह सब कार्य वैज्ञानिक ढंग से करते थे। उनका नौकर एकदिन छुट्टीपर था। उन्हे प्रात काल जलपान के लिये अंडा उबालना था। वह किसी विचार मे निमग्न थे। उन्होने घडी पानी मे डाल दी उबलने के लिये और हाथ मे अंडा लेकर देखने लगे समय। इस ढग की एक कविता भी कभी पढी थी कि कृष्णजी राधिका को देखकर इतने आत्मविस्मृत हो गये कि गाय का थन अलग हट गया और राधिका की उंगली पकडकर दोनो हाथो से दूहने लगे। भक्तो को इसमे जो आनद आए किंतु है यह असंगत बात और हंसी आए बिना नही रह सकती।

एक और बात हास्य के लिये आवश्यक है जिसके बिना और बाते निरर्थक हो जाती है। तीक्ष्णमति अथवा तीव्र बुद्धि हास्य समझने के लिये आवश्यक है। जितना ही बढिया हास्य होगा उसे समझने के लिये उतनी ही विचक्षणता आवश्यक है। साहित्यिक विनोद की बात तो अलग है। उसके लिये तो अनेक प्रकार के ज्ञान की भी आवश्यकता है किंतु साधारणतः विनोद समझने के लिये भी बुद्धि की आवश्यकता है। विनोद प्रियता जिसे अग्रेजी मे 'सेस आव ह्यमर' कहते है सब लोगो के पास नही होता। यह अभ्यास से नही आती। इसका संस्कार जन्मजात होता है। अभ्यास वाली विनोदप्रियता कृत्रिम होती है और ठीक वैसी ही मालूम पडती है जैसे मेजपर क़ागज के फूल।

---

१. जेस्ट्स प्रासपेरिटी लाइज इन द इयर आव हिम दैट हियर्स; नेवर इन द टंग आव हिम दैट मेक्स इट!"

संपूर्णानंद का प्रमाण-दर्शन

राजाराम शास्त्री

भिन्न भिन्न दार्शनिकों ने प्रमाणों की भिन्न भिन्न संख्या मानी है। हम यहाँपर केवल दो प्रमाणों को अर्थात् प्रत्यक्ष और अनुमान को लेते हैं। साधारण भाषा में इन्हें अनुभव और तर्क कहा जाता है और बहुधा तर्क के विरुद्ध अनुभव को खड़ा किया जाता है। दार्शनिक लोग भी प्रत्यक्ष को ही मूल प्रमाण मानते हैं और अनुमान को उसपर आश्रित। किन्तु फिर भी वे इनको अलग अलग मानसिक वृत्ति मानते हैं और इन्हें एक दूसरे से व्यावृत्त करने का प्रयत्न करते हैं, इनकी ऐसी परिभाषा करना चाहते हैं कि दोनों एक दूसरे से सर्वथा पृथक् हो जायं। यद्यपि यह चेष्टा व्यावहारिक दृष्टि से अपना मूल्य रखती है किंतु इससे तात्त्विक वास्तविकता पर पर्दा पड़ जाता है। इस संबंध में संपूर्णानन्द के दृष्टिकोण की विशेषता यह है कि वे इनका नितांत पार्थक्य नहीं करते। उनका कहना है कि "प्रमाणों में सब से महत्व का स्थान प्रत्यक्ष का है, शेष प्रमाण इसीपर निर्भर करते हैं। विषय और इंद्रिय के सन्निकर्ष से प्रत्यक्ष होता है। प्रमाण का दूसरा साधन अनुमान है। यदि अनुमानपर विश्वास न किया जाय तो जगत् का बहुत-सा व्यवहार बंद हो जाय। पर उसकी सचाई की कसौटी प्रत्यक्ष ही है। अनुमान स्वतंत्र प्रमाण नहीं है। वह प्रत्यक्षमूलक है।"

बहुधा जिसे तर्क कहते हैं वह अनुमान का ही दूसरा नाम है। दूर पर धुआँ देखकर आग की सत्ता का निश्चय करने का पारिभाषिक नाम अनुमान है, इसको तर्क भी कहा जाता है। यह बुद्धि का धर्म है। 'कई प्रत्यक्षज प्रत्यय अध्यवसाय की सामग्री बनते हैं। उनको एक दूसरे से मिलाने से ऐसी बातें निष्पन्न हो सकती हैं जो पहिले ज्ञात नहीं थीं, परंतु अज्ञात होते हुए भी यह बातें पुराने प्रत्ययों के भीतर निहित थीं। अध्यवसाय केवल उनको प्रकट करता है। मेरे सामने एक ज्यामितिक चित्र बना है। इस बात का पता तो मुझको प्रत्यक्ष रूप से होता है कि यह त्रिभुज है। अध्यवसाय या तर्क द्वारा मैं त्रिभुज के कई गुणों का ज्ञान सकता हूँ। बिना नाप ही तर्क मुझे यह बतलाता है कि इस त्रिभुज के तीनों कोणों का योग दो समकोणों के बराबर है। यह मेरे लिए नया ज्ञान है। ऐसा ज्ञान तर्क से प्राप्त होता है। मनुष्य के ज्ञान का बहुत बड़ा अंश तर्क के द्वारा ही प्राप्त हुआ है। मनुष्य की यही महत्ता है कि वह तर्क कर सकता है। परंतु तर्क स्वतंत्र प्रमाण नहीं है।

"जिस व्याप्ति के आधारपर अनुमान किया जाता है वह पिछले प्रत्यक्षों का ही निष्कर्ष होगी और इस अनुमान-काल मे भी अनुमेय के लिंग का प्रत्यक्ष होना चाहिए। तभी अनुमान हो सकता है। हमने पहले कई वार यह देखा है कि जहाँ धुआ था वहाँ आग भी थी। यह हमारा अन्वयी प्रत्यक्ष रहा है। यह भी देखा गया कि जहाँ आग नही थी वहाँ धुआ नहीं था। यह व्यतिरेकी अनुभव रहा है। इससे हमने इस व्याप्ति, व्यापक नियम का ग्रहण किया कि जहाँ-जहाँ धुआँ होता है वहाँ आग अवश्य होती है। हमने सारे जगत् की छानवीन तो की नही, दस-पाँच जगहो मे ऐसा अनुभव किया। जितनी अधिक सख्या मे धुएँ के साथ आग का प्रत्यक्ष हुआ होगा उतनी ही अधिक संभावना व्याप्ति के ठीक होने की होगी। ऐसे कई स्थल है जहाँ आग के साथ धुआँ होता है। परतु ऐसी व्याप्ति नहीं है कि जहाँ-जहाँ आग हो वहाँ धुआँ भी हो। प्रत्यक्ष के आधारपर कोई भी व्यापक नियम वनाया जाय, इस वात की सभावना वरावर वनी होगी कि स्यात् कोई एसा दृग्विषय मिल जाय जिसमे वह नियम न घटता हो। यदि ऐसा एक भी उदाहरण मिला तो नियम न रह जायगा।

हम तर्क की अवहेलना नही कर सकते। वहुत-सा ज्ञान जो अन्यथा अप्रकट रह जाता तर्क द्वारा ही प्रकट होता है। तर्क के अभाव मे हमको प्रत्येक वस्तु, प्रत्येक घटना का पृथक् अनुभव करना पड़ता, सवके लिये अलग-अलग प्रमाण ढूंढ़ना पड़ता। तर्क हमको इस श्रम से वचाता है और ज्ञान को प्रगतिशील वनाता है। 'वह पर्वत धूमयुत है' इस वाक्य मे 'वह पर्वत' नाम और 'धूमयुत है' आख्यात है। आख्यातमे नाम के संवध मे जो कहा गया है वह अतर्क्य है। हमको धुएं का प्रत्यक्ष हो रहा है, ऐसा संवित् हो रहा है। परतु तर्क के द्वारा हमको यह विदित होता है कि पर्वतपर आग है, क्योंकि जहाँ धुआँ होता है, वहाँ आग होती है। यह ज्ञान हमको वहाँ जानेपर प्राप्त हो सकता था, परतु तर्क ने इस श्रम से वचा दिया। पुराने आख्यात के भीतर से नया आख्यात निकला और हम यह कह सकते है, 'वह पर्वत अग्निमान् है।' ऐसा जानने से हम यह निर्णय कर सकते है कि कैसा व्यवहार किया जाय। यदि हमको भोजन पकाना है या सर्दी लग रही है तो हम पर्वत की ओर जायगे, अन्यथा दूसरे काम मे प्रवृत्त होगे। तर्क के अभाव मे केवल धूम-दर्शन व्यवहार के लिये मार्ग-प्रदर्शक नही हो सकता था। जो प्रत्यक्ष हो रहा था वह चित्त का विकार मात्र होकर रह जाता। अत यह स्पष्ट है कि तर्क की सहायता से ही हम अपने ज्ञान का उपयोग कर सकते हैं।" इसके अतिरिक्त कुछ अनुभवो के आधार पर अनुमान एक वार सिद्ध हो जानेपर दूसरे अनुभवो का सशोधन भी करता है।

"हमको सामने एक फूल देख पडता है। हम पिछले अनुभवो के आधारपर एतत्कालीन अनुभव के सवध मे यह तर्क तो कर सकते है कि ऐसा अनुभव न होना चाहिए—यह युक्तिसगत नही है; इस तर्क के फलस्वरूप हमको अपने प्रमाणो (प्रत्यक्ष) के सवध मे शका उत्पन्न हो सकती है। दोपहर को आकाश मे सूर्य देख पड़ता है। यदि किसी दिन किसी को चद्रमा देख पड़ जाय तो उसको यह शका होनी चाहिए कि यह भ्राति-दर्शन है। ज्यौतिष के अमुक-अमुक नियमो के अनुसार इस समय चद्रमा दृष्टिगोचर नही हो सकता। मेरी आँखो मे कोई दोष आ गया है या किसी अन्य कारण से यथार्थ प्रत्यक्ष नही हो रहा है। वह यह सव तर्क कर सकता है। प्रत्येक प्रतीयमान सत्ता अतर्क्य होती है। परतु यदि उसका हमारे दूसरे अनुभवों से सामंजस्य न हो तो हमको यह शंका करने का स्थल रहता है कि जिस प्रमाण द्वारा उसका ज्ञान हुआ था उसका ठीक प्रयोग नही हुआ।"

इससे स्पष्ट हो जाता है कि अनुमान प्रत्यक्ष का विकास है। वह प्रत्यक्ष का सशोधन और सवर्धन करता है और उसमें निहित सभावनाओ को प्रस्फुटित करता है। प्रत्यक्ष ज्ञान का पहला कदम है और अनुमान ज्ञान की प्रगति में उससे अगला कदम है। वह ज्ञान को व्यवहारोपयोगी बनाता है।

किंतु ज्ञान की प्रगति यही समाप्त नही हो जाती। इसमें सदेह नही कि अध्यवसाय की परिणति व्यवहार में होती है, किंतु इस व्यवहार के फल का प्रत्यक्ष पुन इस अध्यवसाय का सशोधन करता है।

"तर्क में यह दोष है कि वह अप्रतिष्ठित है, अर्थात् उसके द्वारा जो ज्ञान प्राप्त होता है वह अतिम और निर्णायक नही होता। तर्क को प्रत्यक्ष से पदे-पदे मिलाना और सुधारना पडता है। छोटी बातो में, ऐसी बातो में जो थोडी देर या थोडे क्षेत्र में समाप्त हो जाती है, तर्क वस्तुस्थिति के अनुकूल होगा, परतु बडी बातो में वस्तुस्थिति उससे दूर जा पड सकती है। प्राणधारियो के सबध में तर्क बहुत धोखा देता है। यदि १० श्रमिक किसी काम को ८ दिन में करते है तो तर्क के अनुसार २० श्रमिक उसे ४ दिन में करेंगे। स्यात् ऐसा हो भी जाय, पर तर्क यह भी कहता है कि १,१५,२०० श्रमिक उसे एक मिनट में पूरा कर देंगे। वस्तुत ऐसा कदापि नही हो सकता। एक सीमा के उपरात श्रमिको की बढती हुई सख्या काम मे बाधक होने लग जायगी। किसी मनुष्य को सीधा समझकर लोग नित्य चिढाया करते है। उसका स्वाय भी स्यात् इसीमें है कि चिढानवालो की बात सहता जाय। परतु एक दिन न जाने क्या हो जाता है कि वह भडक उठता है और ऐसे काम कर बैठता है जो हमारे सारे तर्क और उसके सारे हितो को तोड-फोड डालते है। ऐसा मानने की आवश्यकता नही है कि कोई दवी या दानवी शक्ति तर्क को झूठा सिद्ध करनेपर तुली बैठी है। बात यह है कि बुद्धि को जैसी और जितनी सामग्री मिलेगी वैसा ही व्यापक और ग्राहक उसका अध्यवसाय होगा। यदि कोई सर्वज्ञ हो अर्थात् किसी को समस्त विश्व का युगपत् प्रत्यक्ष हो रहा हो तो उसका तर्क भी असदिग्ध परिणामवाला होगा। साधारणत हमको किसी भी परिस्थिति के सब पहलुओं का ज्ञान नही होता। थोडी सामग्री के बलपर अध्यवसाय करते है, इसलिए उसका परिणाम भी यथार्थ नही निकलता। प्रत्यक्ष द्वारा उसको बराबर ठीक करना पडता है। यदि कोई नया अनुभव, नया हेतु मिला तो नया अध्यवसाय करना पडता है। सैकडो वर्षों तक मगलादि ग्रहो की नाक्षत्र गतिविधि देखकर विद्वानो ने उनकी चाल के सबध में नियम बनाये। इन नियमो के आधारपर तर्क से यह निश्चय किया जा सकता है कि अमुक तिथि को अमुक काल में अमुक ग्रह आकाश में अमुक स्थानपर होगा। देखने पर ग्रह ठीक उसी स्थानपर नही मिलता, जितनी ही लबी अवधि के लिये गणना की जाती है उतनी ही बडी भूल मिलती है। कारण स्पष्ट है। यदि किसी समीपस्थ पिंड के आकर्षण या किसी ऐसी ही अन्य बात के सबध में रत्ती भर भी भूल रह गयी तो वह काल पाकर बढती जाती है। ऐसी भूल को बराबर प्रत्यक्ष से मिलाकर साधना पडता है। एक समय था जब विद्वान लोग स्वर्गीय पिंडो की गतिविधि देखकर यह मानते थे कि सूर्यादि पृथिवी की परिक्रमा करते है। नये हेतुओ के मिलनेपर यह मत पलट गया और ऐसा माना गया कि पृथिवी आदि ग्रह सूर्य की परिक्रमा करते है। आजकल यह कहना अधिक ठीक जँचता है कि प्रत्येक ग्रह सूर्य और अपने सयुक्त गुरुत्व-केंद्र की परिक्रमा करता है, पर यह केंद्र सूर्य के पिंड के भीतर है इसलिए ऐसा प्रतीत होता है कि सूर्य का परिक्रमण हो रहा है। सब सभव हेतु सामने उपस्थित नही होते इसलिए तर्क पूर्णतया सत्यप्रतिष्ठ नही हो सकता।'

अनुमान अथवा तर्क ही के द्वारा अनेक विशेष अनुभवों से सामान्य सिद्धात (व्याप्तियाँ) निर्णीत होते है और सामान्य सिद्धांतों की सहायता से विशेष निर्णय किये जाते हैं। अतएव जब तर्क अप्रतिष्ठित है, जब उसमें ज्ञान की चरम परिणति नहीं है। तो उसके द्वारा प्राप्त सिद्धात भी कोई चरम सत्य नहीं हो सकते। तर्क व्यवहार मे आनेपर उस व्यवहार के परिणामस्वरूप प्राप्त नये अनुभवों से संशोधित और परिवर्धित होता रहता है और सिद्धांत नये व्यवहार के प्रकाश में अधिकाधिक सत्य और सग्राहक होते जाते हैं। अभिसिद्धांतों और सिद्धांतो का सबंध इसी प्रक्रिया का एक उदाहरण है।

"मनुष्य निरतर दृग्विषयो के बीच रहता है, प्रत्येक भीतरी-बाहरी घटना एक दृग्विषय है। दृग्विषयो का साक्षी मात्र बनकर रहने से उसको तृप्ति नही होती। वह दृग्विषयो में, विशेषत ऐसे दृग्विषयों मे जो नियतरूप से एक दूसरे के पीछे आते हैं या जो एक दूसरे के सदृश प्रतीत होते हैं, संबंध ढूढता है। जब संबंध निश्चित रूप से मिल जाता है तब उसे सिद्धांत कहते है। सिद्धात सत्य मानकर प्रतिपादित किया जाता है। जो उसको उपस्थित करता है उसको यह विश्वास होता है कि जगत् में वस्तुतः ऐसा ही हो रहा है। परतु कभी-कभी ऐसा भी होता है कि दृग्विषयो के सबध मे जो बात समझ मे आती है वह निश्चय कोटितक नही पहुँची होती। ऐसा विश्वास होता है कि इसके सत्य होने की बहुत सभावना है, फिर भी उसको सिद्धात मानने के पहिले और परीक्षा करने की आवश्यकता प्रतीत होती है। ऐसी अवस्था में उसको अभिसिद्धात कहते है। विद्या की उन्नति में अभिसिद्धांतो से बहुत सहायता मिलती है। विद्युत् और प्रकाश की गति समझने में इस अभिसिद्धांत से बडी सहायता मिली कि दिक् मे एक बहुत ही सूक्ष्म गुरुत्वहीन पदार्थ सर्वत्र फैला हुआ है जो विद्युत्, प्रकाश और ताप की तरंगो का माध्यम बन जाता है। इसको आकाश तत्त्व कहा गया। ज्यौतिषियों को सूर्य, चद्र, मगल, गुरु जैसे खवर्ती पिंडों की गतिविधि समझने मे इस अभिसिद्धांत से सहायता मिली कि यह सब पृथिवी की, जो खमध्य में निश्चल खडी है, परिक्रमा करते हैं। अभिसिद्धात को अभ्युपगत करके, उसको सत्य मानकर यह परीक्षा की जाती है कि वह सब सप्रकरण दृग्विषयों को समझाने मे कहाँतक समर्थ होता है। यदि वह इस परीक्षण में निर्दोष उतरता है तो सिद्धात पदवीपर पहुँचता है, अन्यथा उसका परित्याग कर दिया जाता है।

"यहाँतक तो कोई आपत्ति नही है। बुराई तब आती है जब प्रमाद के कारण पूरा परीक्षण नही किया जाता और अभिसिद्धात झट से सिद्धांत मान लिया जाता है।"

किंतु इसी विचार से यह भी स्पष्ट है कि समय विशेष की स्वाभाविक सीमाओ का उल्लंघन न कर पाने के कारण मानव-समाज के लिये आज जो सिद्धांत होता है वही कलके विस्तृत अनुभव के प्रकाश मे अभिसिद्धात बन जाता है। प्रगतिशील इतिहास नयी-नयी परिस्थितियाँ और नये-नये अनुभव उत्पन्न करता रहता है और फिर उन सब दृग्विषयो को घेरने के लिये सिद्धातो के दायरे को बड़ा करना पड़ता है। इसी प्रकार नये सिद्धातों का निर्माण होता रहता है जो कि अधिकाधिक सत्य और पूर्ण होते जाते हैं। ज्ञान का इसी तरह अपूर्ण सत्य से पूर्ण सत्य की ओर अनवरत विकास होता रहता है और ज्ञान की उन्नति के साथ व्यवहार भी अधिकाधिक उन्नत होता जाता है। साथ ही व्यक्ति अथवा समाज के ज्ञान और कर्म के प्रभाव से उसकी परिस्थिति भी उसके अधिकाधिक अनुकूल परिणत होती जाती है। क्योकि ज्ञान और कर्म वास्तव में प्रकृतिपर मनुष्य की क्रिया के ही दो अग है। यह क्रिया प्रकृति में यदि नया परिणाम उत्पन्न न करे तो ज्ञान और कर्म के

उन्नति के नये स्तर पर जाने का कोई कारण न रह। बिना नये-नये दृष्टिकोणों के, नयी-नयी परिस्थितियों के, नये-नये अनुभव कहाँ से आते ? यदि प्रकृति परिणाम न होती तो हमारे ज्ञान और कर्म एक ही स्थिर चक्र में घूमते रहते, उसमें भी कोई परिवर्तन अथवा उन्नति होने की संभावना न होती। अतएव ज्ञान और कर्म का विकासमान चक्र वास्तव में मानव और प्रकृति की क्रिया और प्रतिक्रिया का चक्र है।

अब यदि हम ज्ञान के विकास की कुछ मंजिलों को उपर्युक्त विचार के प्रकाश में चित्रित करना चाहें तो कुछ इस प्रकार कर सकते हैं —

अनुभव → तर्क (सिद्धान्त) प्रयोग (व्यवहार) → परिणाम → अनुभव → तर्क (सिद्धान्त) – प्रयोग (व्यवहार)

ज्ञान — कर्म — परिणाम — ज्ञान — कर्म

व्यक्ति — परिस्थिति — व्यक्ति

अथवा —

→ अनुभव ——→ सिद्धान्त ——
—— परिणाम ←—— व्यवहार ←——

अथवा —

→ ज्ञान ——→ कर्म ——
—— परिणाम ←——

अथवा —

मनुष्य —— परिस्थिति
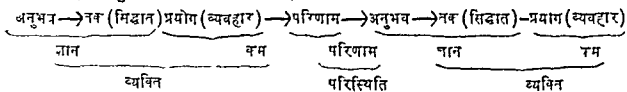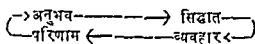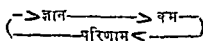
किंतु इन चित्रों से यह भ्रम न हो कि जिस ज्ञान से जो कर्म तथा परिणाम होता है वह कर्म और परिणाम फिर उसी (अपने पूर्ववर्ती) ज्ञान को और वह ज्ञान फिर उसी कर्म और परिणाम को उत्पन्न करता है और इस प्रकार हम बिना आगे बढ़े हुए उसी चक्र में घूमते रहते हैं, इसलिए ज्ञान और कर्म तथा परिणाम के सतत वर्धमान चक्र को इस प्रकार चित्रित करना अच्छा होगा —
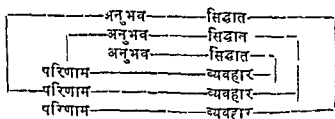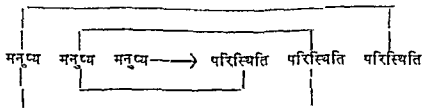
सारांश यह कि सपूर्णानंद प्रत्यक्षादि प्रमाणों को पृथक्-पृथक् स्थिर वस्तुओं के रूप में न देखकर उन्हे कालक्रम मे आगे वढती हुई क्रिया की अनेक मजिलों के रूप मे देखते है जिसकी शृंखला आगे वढकर क्रिया तक पहुँचती है और क्रिया द्वारा मनुष्य परिस्थिति तक पहुँचता है जिस प्रकार परिस्थिति ज्ञान द्वारा मनुष्य तक पहुँचती है।

इस गत्यात्मक दृष्टि से ज्ञान और कर्म के सवध की सारी समस्याएँ अत्यत सहज रूप से सुलझ जाती है। उदाहरण के लिये यह प्रश्न वरावर उठता रहा है कि दर्शन का प्रयोजन ज्ञान है या कर्म? किंतु ज्ञान और कर्म को सिद्ध वस्तुओ के रूप मे नितात व्यावृत ओर पृथक् समझ लेने के स्थान पर यदि इन दोनों को कालक्रम मे एक दूसरे के आश्रय से गतिमान प्रवाह के रूप में समझा जाय तो यह प्रश्न ही निरर्थक हो जाता है। फिर तो यह व्यावहारिक सुविधा और व्यक्तिगत रूचि की वात रह जाती है कि कोई व्यक्ति सामाजिक श्रम-विभाजन मे अपनी योग्यतानुसार कौन-सी वृत्ति ग्रहण करे और अपने जीवन का लक्ष्य ज्ञान को या कर्म को वनाये। इस दृष्टि से स्पष्ट है कि यदि किसी कर्मयोगी का लक्ष्य कर्म है तो भी उसके कर्मनिष्ठ जीवन के द्वारा उसके ज्ञान में विकास हुए विना नही रह सकता। इसी प्रकार दार्शनिक का लक्ष्य ज्ञान है। किंतु इस ज्ञान से उसके कर्मपर प्रभाव पडे विना नही रह सकता।

इसके अतिरिक्त यह लक्ष्य भी, कालक्रम मे विकसित होता है, न कि प्रारभ से ही किसी व्यक्ति को एक पृथक् लक्ष्य सिद्ध होता है। दर्शनके ज्ञान का लक्ष्य भी विकास की एक विशेष मंजिल पर और वह भी कर्म जिज्ञासा के सहारे ही प्राप्त होता है।

"मनुष्य चाहे अर्थ और काम को ही लक्ष्य मानकर चला हो, परंतु ज्यों-ज्यों उसकी वुद्धि में यह वात वैठती जाती है कि धर्म के विना अर्थ और काम सिद्ध नही हो सकते, त्यों-त्यो उसका ध्यान इनकी ओर से हटकर धर्म की ओर लग जाता है और क्रमश धर्म साधन न रहकर साध्य वन जाता है। संस्कृत वुद्धि की यह पहचान है। इसी प्रकार जव यह वात समझ मे वैठ जाती है कि अज्ञान से छुटकारा पाये विना धर्म का सपादन संभव नही है तो क्रमश: अज्ञान-निवृत्ति स्वय साध्य हो जाती है। इस स्थिति के उत्पन्न होने मे और वाते भी सहायक होती है। जिज्ञासा हमारे चित्त का स्वाभाविक धर्म है। मै क्या हूँ? जगत् क्या है? मेरे सिवाय अन्य भी चेतन व्यक्ति है या नही? इस प्रकार के प्रश्न चित्त मे उठते है। इनके उत्तर जानने की उत्कट इच्छा होती है। वैयक्तिक और सामूहिक धर्म का पालन उसका व्यावहारिक परिणाम है। परतु अज्ञान-निवृत्ति अर्थात् ज्ञान से जो एक अपूर्व आनंद और शाति की प्राप्ति होती है वह उसका सव से वडा फल है। जिस किसी को विज्ञान के अध्ययन के द्वारा कभी जगत् के रहस्य का थोडा-सा भी परिचय मिला होगा उसको इस आनद और शांति की एक झलक देख पड़ी होगी। अत अज्ञान से छुटकारा पाना और ज्ञान के द्वारा जगत् के स्वरूप और अपने स्वरूप को पहिचानना मनुष्य का श्रेष्ठतम लक्ष्य होना चाहिए।

"दार्शनिक ज्ञान—विश्व के सत्य स्वरूप का ज्ञान—धर्मज्ञान का साधन होगा। हमको उससे ज्ञात होगा कि जगत् में हमारा क्या स्थान है, किस-किस के साथ कैसा सवध है, इस सबंध से हमारे कैसे कर्तव्य उत्पन्न होते हैं और इन कर्तव्यों का किस प्रकार पालन किया जा सकता है।

इसके साथ ही अज्ञान के कारण जो इच्छाभिघात होता है वह नष्ट हो जायगा। कर्तव्य-पालन करने की क्षमता आ जायगी। इस प्रकार का ज्ञान व्यक्ति-विशेष को हो, पर उसका लाभ उस व्यक्ति तक ही परिसीमित नहीं रह सकता। वह जो सत्य घोषित करेगा उसको और लोग भी ग्रहण करेंगे। इतना ऊँचा अनुभव न होने के कारण सब लोगों के लिये वह साक्षात्कृत न हो तब भी स्वीकार्य हो सकता है क्योंकि उसके प्रकाश में वह अपने ज्ञान, अपनी अनुभूतियों, अपने साक्षात्कृत सत्यों के सामंजस्य को देख सकेंगे और अपने धर्मों को न्यूनाधिक पहिचान सकेंगे, उसके आधार पर समाज की व्यवस्था प्रतिष्ठित की जा सकती है जिसमें अधिकाधिक मनुष्य अपने अर्थ और काम का उपभोग कर सकें और अपने धर्म का पालन कर सकें। पूर्ण ज्ञान की नींव पर समाज का जो संघटन होगा वह निर्दोष होगा। काल की गति में जगत् के विस्तार के संबंध में ज्ञान की वृद्धि हो सकती है, प्राकृतिक शक्तियों के उपयोग के नये प्रकार आविष्कृत हो सकते हैं, इसलिए समुदाय के राजनीतिक या आर्थिक या सामाजिक जीवन की नयी व्यवस्थाएँ आवश्यक प्रतीत हो सकती हैं। यह निस्संदेह आवश्यक है कि देश-काल-पात्र के अनुसार उनकी मीमांसा और उनका प्रयोग करनेवाले भी धर्मज्ञ अर्थात् सच्चे दार्शनिक हों।

"ज्ञान का यह बहुत बड़ा विनियोग है, परन्तु ज्ञानी के लिये सब से बड़ा उपयोग अज्ञान की निवृत्ति है।"

विज्ञानवाद

नरेंद्रदेव

(चीनी पर्यटक युआन च्वांग की विज्ञप्ति-मात्रता-सिद्धि के अनुसार)

प्रथम शताव्दी के लगभग वौद्ध धर्म मे एक गहरा परिवर्तन हुआ। वौद्ध-शासन कई निकायों में विभक्त हो चुका था। शासन के दो प्रधान विभाग महायान और हीनयान के नाम से प्रसिद्ध है। वौद्ध धर्म के पूर्वरूप को हीनयान की आख्या दी गयी। हीनयान को श्रावकयान भी कहते है। हीनयान के अंतर्गत सर्वास्तिवाद और सौत्रातिकवाद, यह दो दर्शन है। हीनयान वहु-स्वभाव-वादो है। इसके अनुसार विज्ञान और वाह्यार्थ (विज्ञेय) दोनो द्रव्य सत् है। महायान का हीनयान से मौलिक भेद है। इसके आगम ग्रथ, इसकी चर्या, इसका दर्शन, इसका वुद्धवाद, सव कुछ भिन्न है। महायान के अंतर्गत भी दो दर्शन है—माध्यमिक (अथवा शून्यवाद) और विज्ञानवाद। महायान दर्शन का पूर्वरूप माध्यमिक है। माध्यमिक के प्रतिष्ठाता नागार्जुन थे। इनका समय द्वितीय शताव्दी है। इनका मुख्य ग्रंथ माध्यमिक शास्त्र है। माध्यमिक के अन्य प्रसिद्ध आचार्य देव या आर्यदेव, वुद्धपालित, चद्रकीर्ति और शातिदेव है। देव तीसरी शताव्दी के है, यह शतशास्त्र और चतुःशतक के रचयिता है। चद्रकीर्ति छठी शताव्दी के है और इनके प्रसिद्ध ग्रंथ माध्यमिकावतार और प्रसन्नपदा है। शातिदेव सातवी शताव्दी के है। वोधिचर्यावतार और शिक्षा समुच्चय इनके प्रसिद्ध ग्रंथ है।

माध्यमिक शास्त्र का प्रयोजन शून्यता की प्रतिष्ठा करना है। इस शून्यता का क्या अर्थ है? पूसे इसके लिये 'वैकुइटी' शव्द का प्रयोग करते है, शर्वात्स्की इसे 'रिलेटिविटी' वताते है और यामागुची इसके लिये 'नान-सव्सटेन्स' शव्द का व्यवहार करते है। माध्यमिक मतवाद में विज्ञान और विज्ञेय दोनों का वस्तुतः अभाव है; दोनों केवल लोकसंवृतिसत् है।

महायान के अंतर्गत दूसरा दर्शन विज्ञानवाद है। इसे योगाचार भी कहते है। यह दशभूमक शास्त्र को अपना आधार मानता है। दशभूमक में कहा है कि त्रैधातुक चित्तमात्र है अर्थात् चित्त-विज्ञान ही द्रव्यसत् है, विज्ञेय अर्थात् वाह्यार्थ वस्तुसत् नही है। तथापि इस वाद का आरभ वस्तुतः आचार्य असंग से होता है। असंग पेशावर के रहनेवाले थे। अपने जीवन का एक भाग इन्होने अयोध्या में व्यतीत किया था। इनका समय चौथी या पाँचवी शती है। असंग के ग्रंथ महायान सूत्रालंकार,

मध्यमता विभाग, उत्तरतंत्र और महायान संपरिग्रह शास्त्र हैं तथा योगाचार-भूमि शास्त्र भी जिसके रचयिता वास्तव में मैत्रेय बताये जाते हैं आचार्य असंग ही हैं। असंग के भाई वसुबंधु भी एक प्रसिद्ध शास्त्रकार थे। पहले वह सौत्रांतिक थे, पीछे से अपने भाई असंग के प्रभाव के कारण विज्ञानवादी हो गये। विज्ञानवाद पर इनके दो प्रसिद्ध ग्रंथ हैं—विंशक कारिका प्रकरण और त्रिंशिका। इन दो आचार्यों के दो प्रधान शिष्य दिङ्नाग (या दिग्नाग) और स्थिरमति हुए। स्थिरमति का कार्य-क्षेत्र गुजरात का वल्भी था। यह माध्यमिक और विज्ञानवाद के बीच की कड़ी है। विज्ञानवाद की दूसरी शाखा के प्रतिष्ठापक दिङ्नाग हैं। इस शाखा का माध्यमिक से सर्वथा विच्छेद हो गया। दिङ्नाग के शिष्य धर्मपाल तथा उनके शिष्य शीलभद्र नालंदा संघाराम में थे। युआन च्वांग शील-भद्र के शिष्य थे। नालंदा ही इस शाखा का केंद्र था। विज्ञानवाद के अन्य आचार्य जयसेन, चंद्र-गोमिन (सातवीं शती) तथा धर्मकीर्ति (ई० ६५५–७००) थे। इनमें से बहुत से नालंदा में थे। यह असंदिग्ध है कि सातवीं शती में विज्ञानवाद का बड़ा प्रभाव था।

आचार्य असंग का दर्शन समन्वयात्मक था। इसमें सौत्रांतिकों का क्षणिकवाद, सर्वास्तिवादियों का पुद्गल नैरात्म्य और नागार्जुन की शून्यता का प्रतिपादन है। किंतु असंग इस समन्वय को पारमार्थिक विज्ञानवाद की परिधि में संपन्न करना चाहते हैं। वस्तुतः असंग का दर्शन विज्ञानवादी अद्वयवाद है जिसमें द्रव्य का अभाव है। यह एक नवीन मतवाद है। धीरे धीरे विज्ञानवाद माध्यमिक से व्यावृत्त होने लगा और अंत में इसका स्वतंत्र आधार हो गया। विज्ञानवाद का यह रूप युआन-च्वांग के चीनी ग्रंथ में पूर्ण रूप से पाया जाता है।

चीनी यात्री युआन च्वांग ने भारत में ई० सन् ६३० से ६४४ तक यात्रा की थी। वह नालंदा के संघाराम में कई बार रहे थे। वह शीलभद्र तथा विज्ञानवाद के अन्य आचार्यों के शिष्य थे। ईसवी सन ६४५ में वह चीन वापिस गये और विज्ञानवाद पर उन्होंने कई ग्रंथों की रचना की। इनमें से सबसे मुख्य ग्रंथ 'सिद्धि' है। इसका फ्रेंच अनुवाद पूसें ने किया है। यह लेख इसी ग्रंथ के आधार पर लिखा गया है।

इस ग्रंथ का महत्व इस दृष्टि से भी है कि यह नालंदा संघाराम के आचार्यों के विचारों से परिचय कराता है। असंग के महायान सूत्रालंकार के विज्ञानवाद का आधार माध्यमिक विचार था और उस ग्रंथ में इस सिद्धांत का विरोध नहीं किया गया। इसके विपरीत सिद्धि के विज्ञानवाद का स्वतंत्र आधार है। यह माध्यमिक सिद्धांत से सर्वथा व्यावृत्त हो गया है और यह अपने को ही महायान का एकमात्र सच्चा प्रतिनिधि मानता है।

जैसा कि ग्रंथ का नाम सूचित करता है, 'सिद्धि' विज्ञप्ति-मात्रता के सिद्धांत का निरूपण है। जो लोग पुद्गल नैरात्म्य और धर्म नैरात्म्य में अप्रतिपन्न या विप्रतिपन्न हैं उनको इनका अविपरीत ज्ञान कराना इस ग्रंथ का उद्देश्य है। इन दो नैरात्म्यों के साक्षात्कार से आत्मग्राह और धर्मग्राह का नाश होता है और इसके फलस्वरूप क्लेशावरण और ज्ञेयावरण (अक्लिष्ट अज्ञान जो ज्ञेय अर्थात् भूततथता के दर्शन में प्रतिबंध है) का प्रहाण होता है। रागादि क्लेश आत्मदृष्टि से प्रभूत होते हैं। पुद्गल नैरात्म्य का अवबोध सत्काय दृष्टि का प्रतिपक्ष है। इस अवबोध से सब क्लेशों का प्रहाण होता है। क्लेश प्रहाण से प्रतिसंधि नहीं होती और मोक्ष का लाभ होता है। धर्मनैरात्म्य के ज्ञान से

ज्ञेयावरण प्रहीण होता है और इससे महाबोधि (सर्वज्ञता) का अधिगम होता है और सर्वाकार-ज्ञेय में ज्ञान असक्त और अप्रतिहत प्रवर्तित होता है।

विज्ञप्तिमात्रता दो प्रकार के एकातवाद का प्रतिषेध करती है। सर्वास्तिवादी मानते है कि विज्ञान के तुल्य विज्ञेय (बाह्यार्थ) भी द्रव्यसत् है और दूसरे (भावविवेक) जो शून्यवादी है, मानते है कि विज्ञेय (बाह्यार्थ) के सदृश विज्ञान का भी परमार्थतः अस्तित्व नही है, केवल सवृतितः है। यह दोनों मत अयथार्थ है। युआन च्वॉग इन दोनो अयथार्थ मतवादो से व्यावृत्त होते है और अपने विज्ञानवाद को सिद्ध करते है। वह वसुबधु के इस वचन को उद्धृत करते है: "जो विविध आत्मोपचार और धर्मोपचार प्रचलित है, वह मुख्य आत्मा और मुख्य धर्मो से सबध नही रखते। वह मिथ्योपचार है। विज्ञान का जो परिणाम होता है उसके लिये इन प्रज्ञप्तियो का व्यवहार होता है।" दूसरे शब्दों में आत्मा और धर्म द्रव्यसत् स्वभाव नही है। वह केवल विकल्प मात्र है। परिकल्पित आत्मा और धर्म-विज्ञान और विज्ञप्ति (ज्ञान) के परिणाममात्र है। चित्त-चैत्त एकमात्र वस्तुसत् है।

युआन च्वांग इस "विज्ञान परिणाम' का विवेचन विज्ञानवाद के अतर्गत विविध मतवादों के अनुसार करते है। धर्मपाल और स्थिरमति के अनुसार मूल-विज्ञान (विज्ञान-स्वभाव, सवित्ति, संवित्तिभाग) दो भागों के सदृश परिणत होता है। यह आत्मा और धर्म है। इन्हें दर्शन भाग और निमित्तभाग कहते है। यही ग्राहक और ग्राह्य के आयतन है। यह दो भाग संवित्तिभाग का आश्रय लेकर वृषभ के दो शृगों के तुल्य संभूत होते है। नंद और बधुश्री के अनुसार आध्यात्मिक विज्ञान बाह्यार्थ के सदृश परिणत होता है। धर्मपाल के मत से यह दो भाग सवित्तिभाग के सदृश प्रतीत्यज, परतंत्र है, किंतु मूढ पुरुष इनमें आत्मा और धर्म का, ग्राहक-ग्राह्य का, उपचार करते है। यह दो विकल्प (कल्पना) परिकल्पित है। किंतु स्थिरमति के अनुसार यह दो भाग परतंत्र नही है, क्योंकि विज्ञप्तिमात्रता का प्रतिषेध किये बिना इनकी वस्तुत. विद्यमानता नही होती। अत यह परिकल्पित है। नद और बंधुश्री केवल दो ही भाग (दर्शन, निमित्त) स्वीकार करते हैं और यह दोनों परतत्र है। निमित्तभाग परतंत्र है किंतु यह दर्शनभाग का परिणाम है। इस नय मे विज्ञप्ति-मात्र का सिद्धात आदृत है। निमित्तभाग विज्ञान से पृथक् नही है, किंतु मिथ्या रुचि उसे बहिर्वत् गृहीत करती है। यद्यपि यह परतत्र है तथापि परिकल्पित के सदृश है। लोक और शास्त्र बाह्यार्थ सदृश इस निमित्तभाग को आत्मा और धर्म प्रज्ञप्त करते है। दर्शनभाग ग्राहक के रूप में निमित्तभाग में संगृहीत है।

इस प्रकार स्थिरमति एक ही भाग को परतत्र मानते है। उनके दर्शनभाग और निमित्तभाग परिकल्पित है। धर्मपाल, जैसा हम आगे देखेंगे, चार भाग मानते है। वह एक स्वसंवित्ति-सवित्ति-भाग भी मानते है। उनके चारों भाग परतंत्र है। नंद और बंधुश्री के अनुसार दो भाग है और दोनों परतंत्र है।

इन विविध मतों के बीच जो भेद है वह अति स्वल्प है। युआन च्वांग इन मतों का उल्लेख करके उनमें सामंजस्य स्थापित करते है। उनका वाक्य यह है—आत्म-धर्म के विकल्पों से चित्त में जिस वासना का परिपोष होता है उसके बल से विज्ञान उत्पन्न होते ही आत्मधर्माकार में परिणत होता

है। आत्मधर्म — यह निभास यद्यपि विज्ञान से अभिन्न है तथापि मिथ्या विकल्प के बल से यह बाह्यवत् अवभासित होते हैं। यही कारण है कि अनादिकाल से आत्मोपचार और धर्मोपचार प्रवर्तित है। सत्व सदा से आत्मनिर्भास और धर्मनिर्भास को वस्तुसत् आत्मधर्म अवधारित करते हैं। किंतु यह आत्मा और धर्म, जिनमें मूढ पुरुष प्रतिपन्न हैं, परमार्थत नहीं हैं। यह प्रज्ञप्तिमात्र है। मिथ्या रुचि (मन) से यह प्रवृत्त होते हैं। अत यह आत्मधर्म संवृतित ही है। पश्चिम की भाषा में यदि कहें तो कहना होगा कि एक पूर्ववर्ती अभ्यासवश, सहज स्वभाव के फलस्वरूप, विज्ञान अवधारित करता है कि उसका एक भाग ग्राहक है और दूसरा (बाह्यजगत्) ग्राह्य।

किंतु यदि आत्मा और धर्म (ग्राहक और ग्राह्य) केवल संवृति सत्य हैं तो इनका उत्पादक विज्ञान क्या सा सत्य है? युआन च्वाग कहते हैं कि विज्ञान आत्मा और धर्म से अन्यथा है, क्योंकि इसका परिणाम आत्मधर्माकार होता है। विज्ञान का अस्तित्व है क्योंकि यह हेतु-प्रत्यय से उत्पन्न होता है (यह परतन्त्र है) किंतु यह वस्तुत सर्वदा आत्मधर्मस्वभाव नहीं होता। किंतु इसका निर्भास आत्मधर्म के आकार में होता है। अत इसको भी संवृति सत्य कहते हैं। दूसरे शब्दों में बाह्यार्थ केवल प्रज्ञप्ति है और इनका प्रवर्तन मिथ्या रुचि से होता है। अत उनका अस्तित्व विज्ञान सदृश नहीं है। जैसे बाह्यार्थ का अभाव है वैसे विज्ञान का अभाव नहीं है। विज्ञान ही इन प्रज्ञप्तियों का, इन उपचारों का, उपादान है क्योंकि उपचार निराधार नहीं होता। विज्ञान परतंत्र है किंतु द्रव्यत है।

हम देखते हैं कि प्राचीन माध्यमिक मतवाद में और युआन-च्वाग के काल के विज्ञानवाद में कितना अंतर है। माध्यमिक के मत में वस्तुत विज्ञान और विज्ञेय दोनों का समान रूप से अभाव है। यह केवल लोकसंवृतिसत् है। विज्ञानवाद के मत में यदि विज्ञेय मृग-मरीचिका है तो विज्ञान अपने स्वरूप में पूर्णत द्रव्यसत् है। यह ऐसी प्रतिज्ञा है जिसके करने का साहस असंग ने भी स्पष्ट रीति से नहीं किया। कम से कम उन्होंने ऐसा सकोच के साथ ही किया। किंतु युआन च्वाग स्पष्ट है। "बाह्यार्थ केवल विज्ञान की प्रज्ञप्ति है। यह केवल लोकसंवृतिसत् है। इसके विपरीत विज्ञान, जो इन प्रज्ञप्तियों का उपादान है, परमार्थसत् है।" (पृ० ११)

यह कैसे ज्ञात होता है कि बाह्यार्थ के बिना विज्ञान ही अर्थाकार उत्पन्न होता है? क्योंकि आत्मा और धर्म परिकल्पित हैं। अब युआन च्वाग क्रम से आत्मग्राह और धर्मग्राह की परीक्षा करते हैं।

आत्मग्राह

पहले वह आत्मग्राह को लेते हैं। सांख्य और वैशेषिक के मत में आत्मा नित्य, व्यापक (या सर्वगत) और आकाशवत् अनंत है। युआन च्वाग कहते हैं कि नित्य, व्यापक और अनंत आत्मा सेंद्रियक काय में, जो वेदना से प्रभावित है, परिच्छिन्न नहीं हो सकता। क्या आत्मा, जैसा कि उपनिषद् कहते हैं, सब जीवों में एक है, अथवा जैसा सांख्य-वैशेषिक कहते हैं, अनेक है? पहले विकल्प में जब एक जीव कर्म करता है, कर्म-फल भोगता है, मोक्ष का लाभ करता है, तब सब जीव कर्म करते हैं, कर्म-फल का भोग करते हैं, मोक्ष का लाभ करते हैं, इत्यादि। दूसरे विकल्प में (सांख्य) सब सत्वों की व्यापक आत्माएं अन्योन्य प्रतिवेध करती हैं। अत आत्मा का स्वभाव मिश्र है। इसलिये यह नहीं कहा जा सकता कि अमुक कर्म अमुक आत्मा का है, अन्य का नहीं है।

जब एक मोक्ष का लाभ करता है तब सब उसका लाभ करेंगे क्योंकि जिन धर्मों की भावना और जिनका साक्षात्कार एक करता है वह सब आत्माओं से संबद्ध है।

इसके पश्चात् हमारे ग्रंथकार निर्ग्रंथों के मत का खंडन करते हैं। निर्ग्रंथ आत्मा को नित्यस्थ (कूटस्थ) मानते हैं, किंतु कहते हैं कि इसका परिमाण शरीर के अनुसार दीर्घ या ह्रस्व होता है। यह युक्तिक्षम नहीं है क्योंकि इस कूटस्थ आत्मा का स्व-शरीर के अनुसार विकास-संकोच नहीं हो सकता। यदि वंशी की वायु के समान इसका विकास-संकोच हो तो यह कूटस्थ नहीं है। पुनः शरीरों के बहुत्व से छिन्न होने के कारण इसकी एकता कहाँ है? (पृ० १३)

अब हीनयान के अंतर्गत कतिपय मतवाद रह जाते हैं जिनके अनुसार आत्मा पंचस्कंधात्मक है या स्कंधों से व्यतिरिक्त है (व्यतिरेकी) या न स्कंधों से अन्य है और न अनन्य।

पहले पक्ष में एकता और नित्यता के बिना यह आत्मा क्या है? पुनः आध्यात्मिक रूप अर्थात् पचेंद्रिय आत्मा नहीं है, क्योंकि यह बाह्यरूप के सदृश परिमाणवाला और सावरण है। चित्त-चैत्त भी आत्मा नहीं है। चित्त-चैत्त जो अविच्छिन्न संतान में भी अवस्थित नहीं होते और जो हेतुप्रत्ययाधीन हैं, कैसे आत्मा अवधारित हो सकते हैं? अन्य संस्कृत अर्थात् विप्रयुक्त संस्कार और अविज्ञप्ति-रूप भी आत्मा नहीं है क्योंकि वह बोधस्वरूप नहीं है।

पुन. आत्मा स्कंधव्यतिरेकी भी नहीं है, क्योंकि स्कंधों से व्यतिरिक्त आत्मा, आकाश के तुल्य, कारक-वेदक नहीं हो सकता।

पुनः वात्सीपुत्रीयों का मत कि पुद्गल न स्कंधों से अन्य है और न अनन्य, युक्तियुक्त नहीं है। इस कल्पित द्रव्य में—जो स्कंधों का उपादान लेकर (उपादाय) न पंचस्कंध से व्यतिरिक्त है और न पंचस्कंध है, जिस प्रकार घट मृत्तिका से न भिन्न है, न अभिन्न—हम आत्मा को नहीं पाते। आत्मा प्रज्ञप्तिसत् है। (पृ० १४)।

अब केवल विज्ञान का प्रश्न रह जाता है। युआन च्वाँग वात्सीपुत्रीयों से पूछते हैं कि क्या यह आत्मा है जो आत्म-प्रत्यय का विषय है? आत्मदृष्टि का आलंबन है? यदि आत्मा आत्मदृष्टि का विषय नहीं है तो आप कैसे जानते हैं कि आत्मा है? यदि यह इसका विषय है तो आत्मदृष्टि को विपर्यास न होना चाहिए, जैसे चित्त जो रूपादि वस्तुसत् को आलंबन बनाता है, विपर्यास में संगृहीत नहीं है। बौद्ध आत्मा के अस्तित्व को कैसे स्वीकार कर सकता है? आप्तागम आत्मदृष्टि का प्रतिषेध करता है, नैरात्म्य का आशंसा करता है और कहता है कि आत्माभिनिवेश संसार का पोषण करता है। क्या यह माना जा सकता है कि मिथ्यादृष्टि निर्वाण का आवाहक हो सकती है? अथवा सम्यग्दृष्टि संसार में हेतु है?

आत्मदृष्टि का आलंबन निश्चय ही द्रव्यसत् आत्मा नहीं है किंतु स्कंधमात्र है जो आध्यात्मिक विज्ञान का परिणाम है।

पुनः युआन च्वाँग तीर्थिकों से पूछते हैं कि आत्मा सक्रिय है अथवा निष्क्रिय। यदि सक्रिय है तो यह आत्मा नहीं है, धर्म (फेनामेनल) है। यदि निष्क्रिय है तो यह स्पष्ट ही असत्

ह। पुद्गलवादी कहते हैं कि आत्मा स्वय चैतन्यात्मक है और वैशेषिक कहते है कि यह अचेतन है, चेतनायोग से चेतन होता है (बोधिचर्यावतार, ९।६०)। पहले विकल्प में यह नित्य नहीं है क्योंकि यह सदा नहीं जानता (यथा जब गुण सक्रिय नहीं है)। दूसरे विकल्प में आकाशवत् वह कर्ता, भोक्ता नहीं है।

इस आत्म-ग्राह की उत्पत्ति कैसे होती है ? आत्म-ग्राह सहज या विकल्पित है। प्रथम आत्म ग्राह आभ्यतर हेतुवश अनादिकालिक वितथ वासना है जो काय (या आश्रय) के साथ (सह) सदा होता है। यह सहज आत्मग्राह (सत्कायदृष्टि) मिथ्या देशना या मिथ्या विकल्प पर आश्रित नहीं है। मनस् स्वमन आलय विज्ञान (अष्टम विज्ञान) अर्थात् मूल विज्ञान को आलबन के रूप में ग्रहण करता है (प्रत्येति, आलबते)। यह स्वचित्त निमित्त का उत्पाद करता है और इस निमित्त को द्रव्यत आत्मा अवधारित करता है। यह निमित्त मनस् का साक्षात् आलबन है। इसका मूलप्रतिभू (बिम्ब, ओरिजिनल) स्वय आलय है। मनस प्रतिबिंब का उत्पाद करता है। आलय के इस निमित्त का उपगम कर मनस् को प्रतीति होती है कि वह अपनी आत्मा को उपगत होता है। छठा मनोविज्ञान पच उपादानस्कन्धो को (विज्ञान-परिणाम) आलबन के रूप में गृहीत करता है और स्वचित्त निमित्त का उत्पाद करता है जिसको वह आत्मा अवधारित करता है।

दोनो अवस्थाओ में यह चित्त का निमित्तभाग है जिसे चित्त आत्मा के रूप में गृहीत करता है। यह चित्त मायावत् है। किंतु यह अनादिकालिक माया है क्योकि अनादिकाल से इसकी प्रवृत्ति है।

यह दो प्रकार के आत्मग्राह सूक्ष्म है और इसलिये उनका उपच्छेद दुष्कर है। भावनामार्ग में ही पुद्गल शून्यता की अभीक्ष्ण परम भावना कर बोधिसत्व इनका विष्कभन—प्रहाण करता है।

दूसरा आत्मग्राह विकल्पित है। यह केवल आभ्यतरहेतुवश प्रवृत्त नहीं होता। यह बाह्य प्रत्ययो पर भी निर्भर है। यह मिथ्या देशना और मिथ्या विकल्प से ही उत्पन्न होता है। इसलिये यह विकल्पित है। यह केवल मनोविज्ञान से ही सबद्ध है। यह आत्मग्राह भी दो प्रकार का है। एक वह आत्मग्राह है जिसमें आत्मा को स्कधो के रूप में अवधारित करते है। यह सत्कायदृष्टि है। मिथ्यादेशनावश स्कधो को आलबन बना मनोविज्ञान स्वचित्त-निमित्त का उत्पाद करता है, इस निमित्त का वितीरण, निरूपण करता है और उसे द्रव्यत आत्मा अवधारित करता है। दूसरा वह आत्मग्राह है जिसमें आत्मा को स्कधव्यतिरेकी अवधारित करते है। तीर्थिको से उपदिष्ट विविध लक्षण के आत्मा को आलबन बना मनोविज्ञान स्वचित्त निमित्त का उत्पाद करता है, इस निमित्त का वितीरण, निरूपण करता है और उसे द्रव्यत आत्मा अवधारित करता है।

यह दो प्रकार के आत्मग्राह स्थूल है। अतएव इनका उपच्छेद सुगम है। दर्शनमार्ग में बोधिसत्व सब धर्म की पुद्गलशून्यता भूततथता की भावना करता है और आत्मग्राह का विष्कभन और प्रहाण करता है।

पुन युआन च्वाग आत्मवादी के इस आक्षेप का विचार करते है कि 'यदि आत्मा द्रव्यत नहीं है तो स्मृति और पुद्गल प्रबध के अनुपच्छेद का आप क्या विवेचन करते है ?' (पृ० २०) युआन च्वाग उत्तर में कहते हैं कि यदि आत्मा नित्यस्थ है तो चित्त की विविधावस्था कैसे होगी ?

वह यह नही स्वीकार करते कि आत्मा का कारित्र विविध है किंतु उसका स्वभाव नित्यस्थ है। कारित्र स्वभाव से पृथक् नही किया जा सकता। अतः यह नित्यस्थ है। स्वभाव कारित्र से पृथक् नही किया जा सकता। अतः यह विविध है।

अनुभवसिद्ध आध्यात्मिक नित्यत्व (स्पिरिचुअल कान्स्टेण्ट) का विवेचन करने के लिये युआन च्वाँग आत्मा के स्थान मे मूल विज्ञान का प्रस्ताव करते है जो सव सत्वो में होता है और जो एक अव्याकृत सभाग संतान है। इसमें सव सास्रव और अनास्रव समुदाचरित धर्मो के वीज होते है। इस मूलविज्ञान की क्रिया के कारण और विना किसी आत्मा के सप्रधारण के सव धर्मो की उत्पत्ति पूर्व वीज अर्थात् वासना के वल से होती है। यह धर्म पर्याय से अन्य वीजों को उत्पादित करते है और इस प्रकार आध्यात्मिक सतान अनत काल तक प्रवाहित होता है।

किंतु यह आक्षेप होगा कि आपका लोकधातु केवल सदाकालीन मनस्-कर्म है। कारक कहाँ है? एक द्रव्यसत् आत्मा के अभाव मे कर्म कौन करता है? कर्म का फल कौन भोगता है? युआन च्वाँग उत्तर देते है कि जिसे कारक कहते है वह कर्म है, परिवर्तन है। किंतु तीर्थिकों का आत्मा आकाश के तुल्य नित्यस्थ है। अतः यह कारक नही हो सकता। चित्त-चैत्त-हेतु-प्रत्ययवश प्रवध का अनुपच्छेद, कर्म-क्रिया और फलभोग होते है। आत्मवादी पुनः कहते है, कि आत्मा के विना, एक आध्यात्मिक नित्य वस्तु के अभाव में, आप वौद्ध जो हमारे सदृश संसार मानते है, ससार का निरूपण किस प्रकार करते है। यदि आत्मा द्रव्यत. नही है तो एक गति से दूसरी गति मे कौन संसरण करता है, कौन दुख का भोग करता है, कौन निर्वाण के लिये प्रयत्नशील होता है और किसका निर्वाण होता है? युआन च्वाँग का उत्तर है कि आप किस प्रकार आत्मा को मानते हुए. संसार का निरूपण करते है। जव आत्मा का लक्षण यह है कि यह नित्य और जन्म-मरण से विनिर्मुक्त है तव इसका ससरण कैसे हो सकता है। ससार का निरूपण एकमात्र वौद्धो के सतान' के सिद्धात से हो सकता है। सत्व चित्त-संतान है और यह क्लेश तथा सास्रव कर्मो के वल से गतियो में संसरण करते है। अतः आत्मा द्रव्यसत् स्वभाव नही है। केवल विज्ञान का अस्तित्व है। पर विज्ञान पूर्व विज्ञान के तिरोहित होनेपर उत्पन्न होता है और अनादिकाल से इनकी हेतु-फल-परपरा, इनका संतान होता है।

धर्मग्राह

ब्राह्मणों के आत्मवाद का निराकरण करके युआन च्वाँग वहु-पदार्थवादी साख्य-वैशेषिक तथा हीनयान का खडन करते है। यह मतवाद धर्मो की सत्ता मानते है (धर्मग्राह)। युआन च्वाँग कहते है कि युक्तितः धर्मो का अस्तित्व नही है। चित्त-व्यतिरेकी धर्मो की द्रव्यतः उपलब्धि नही होती।

सांख्य

पहले वह सांख्य मतवाद का विचार करते है। सांख्य के अनुसार पुरुष से पृथक् २३ तत्त्व (या पदार्थ)—महत्-अहंकारादि—है। पुरुष चैतन्यस्वरूप है। वह इनका उपभोग करता है। यह धर्म त्रिगुणात्मक है, तथापि यह तत्त्व है, व्यावहारिक (कल्पित) नही है। अत. इनका प्रत्यक्ष होता है।

युआन च्वाग उत्तर देते है कि जव धर्म अनेकात्मक (गुणत्रय के समुदाय). है तव वह द्रव्य-

मन नहीं ह, किंतु सेना और वन के तुल्य प्रज्ञप्ति ह। यह तत्व विकृति ह, अत नित्य नहीं ह। पुन इन तत्वों म के वस्तुओं के (तीन गुणों के) अनेक कारित्र ह। अत इनके स्वभाव और लक्षण भिन्न ह। तब यह समुदाय के रूप में एक तत्व कैसे ह?

वैशेषिक

वैशेषिकवाद का विचार करते हुए युआन च्वाग कहते ह कि इसके अनुसार द्रव्य, गुण, कर्मादि पदार्थ द्रव्यसत्स्वभाव हैं और प्रत्यक्षगम्य हैं। इस वाद में पदार्थ या तो नित्य और अविपरिणामी ह अथवा अनित्य हैं। परमाणु-द्रव्य नित्य हैं और परमाणु-संघात अनित्य हैं।

युआन च्वाग कहते ह कि यह विचित्र है कि एक ओर परमाणु नित्य हैं और दूसरी ओर उनमें परमाणु-संघात के उत्पादन का सामर्थ्य भी है। यदि परमाणु त्रसरेणु आदि फल का उत्पादन करते ह तो फल के सदृश वह नित्य नहीं हैं क्योंकि वह कारित्र से समन्वागत हैं। और यदि वह फलोत्पादन नहीं करते तो विज्ञान से व्यतिरिक्त शशशृंगवत् उनका कोई द्रव्यसत्स्वभाव नहीं है।

यदि अनित्य पदार्थ (परमाणु-संघात) सावरण ह तो वह परिमाण वाले हैं। अत वह सेना और वन के समान विभजनीय हैं। अत वह द्रव्यसत्स्वभाव नहीं हैं। यदि वह सावरण नहीं हैं तो चित्त-चैत्त से व्यतिरिक्त उनका कोई द्रव्यसत् स्वभाव नहीं है। जो परमाणु के लिये सत्य है वह समुदाय संघात के लिये भी सत्य है। अत वैशेषिकों के विविध द्रव्य प्रज्ञप्तिमात्र हैं। गुणों का विज्ञान से पृथक् स्वभाव नहीं है। पृथ्वी-जल-तेज वायु सावरण पदार्थों में संगृहीत नहीं हैं, क्योंकि वह स्नेह खरस्पर्शत्व उदीरणत्व गुण के समान कायेंद्रिय से स्पृष्ट होते हैं। इसके विपरीत चार पूर्वोक्त गुण अनावरण पदार्थों में संगृहीत नहीं ह, क्योंकि पृथ्वी-जल-तेज-वायु के समान वह कायेंद्रिय से स्पष्ट होते हैं।

अत यह सिद्ध होता है कि खरस्पर्शत्वादि गुणों से व्यतिरिक्त पृथ्वी-जल-तेज-वायु का द्रव्यसत् स्वभाव नहीं है।

इसी प्रकार कर्मादि अन्य पदार्थों का भी विज्ञान से पृथक् स्वभाव नहीं है। वैशेषिक कहते ह कि पदार्थों का प्रत्यक्ष ज्ञान होता है जैसा विज्ञान से व्यतिरिक्त द्रव्यसत् स्वभाव का होना चाहिए। किंतु यह यथार्थ नहीं है। यही बात कि द्रव्य ज्ञेय (ज्ञान के विषय) है, यह सिद्ध करता है कि यह विज्ञान के आभ्यंतर में है।

अत सिद्धांत यह है कि वैशेषिकों के पदार्थ प्रज्ञप्तिमात्र हैं।

महेश्वर

युआन च्वाग महेश्वर के अस्तित्व का भी प्रतिषेध करते ह। उनकी युक्ति यह है कि जो लोक का उत्पाद करता ह वह नित्य नहीं है, जो नित्य नहीं है वह विभु नहीं है, जो विभु नहीं है वह प्रत्यन्त नहीं है। पुन जो सर्वशक्तिमान् है वह सब धर्मों की सृष्टि सकृत् करेगा, न कि क्रमश। यदि सृष्टि के कार्य में वह छंद के अधीन है तो वह स्वतंत्र नहीं है और यदि वह हेतु प्रत्यय की अपेक्षा करता है तो वह सृष्टि का एकमात्र कारण नहीं है।

युआन च्वाँग काल, दिक्, आकाशादि पदार्थों की भी सत्ता नही मानते।

लोकायतिक—

तदनंतर वह लोकायतिकों के मत का खंडन करते है। इनके अनुसार पृथिवी-सलिल-तेज-वायु इन चार महाभूतों के परमाणु, जो वस्तुओं के सूक्ष्म रूप है, कारण रूप है, नित्य है और इनकी परमार्थ सत्ता है। इनसे पश्चात् स्थूलरूप (कार्यरूप) का उत्पाद होता है। जनित स्थूलरूप का कारण से व्यतिरेक नही होता।

युआन च्वाँग इस वाद का इस प्रकार खंडन करते है। यदि सूक्ष्मरूप (परमाणु) का दिग्विभाग है जैसा पिपीलिका-पंक्ति का होता है तो उनका एकत्व केवल प्रज्ञप्ति है, सज्ञामात्र है। यदि उनका चित्त-चैत्त के सदृश दिग्विभाग नही होता तो उनसे स्थूलरूप का उत्पाद नही हो सकता। अंतत: यदि उनसे कार्य जनित होता है तो वह नित्य और अविपरिणामी नही है।

तीर्थिकों के अनेक प्रकार है। किंतु इन सब का समावेश चार आकारों में हो सकता है। जहाँतक सद् धर्म का संबंध है, पहला आकार साख्यादिका है। इनके अनुसार सद्धर्मो का तादात्म्य **सत्ता** या **महासत्ता** से है। किंतु इस विकल्प में सत्ता होने के कारण इन सब का परस्पर तादात्म्य होगा, यह एक स्वभाव के होगे और निर्विशेष होंगे जैसे **सत्ता** निर्विशेष है। सांख्य मे आंतरिक विरोध है, क्योंकि वह प्रकृति के अतिरिक्त तीन गुण और आत्मा को द्रव्यत: मानता है। यदि सर्व रूप रूपता है अर्थात् यदि सब वर्ण वर्ण है तो नील और पीत का मिश्रण होता है।

दूसरा आकार वैशेषिकादि का है। इनका मत है कि सद्धर्म सत्ता से भिन्न है। किंतु इस विकल्प मे सर्व धर्म की उपलब्धि प्रध्वंसाभाव के सदृश नहीं होती। इससे यह गमित होता है कि वैशेषिक द्रव्यादि पदार्थो का प्रतिषेध करता है। यह लोकविरुद्ध है, क्योकि लोक प्रत्यक्ष देखता है कि वस्तुओं का अस्तित्व है। यदि वर्ण **वर्ण** नही है तो उनका ग्रहण चक्षु से नही होगा, जैसे शब्द का ग्रहण चक्षु से नही होता।

तीसरा आकार निर्ग्रंथ आदि का है जो मानते है कि सद्धर्म सत्ता से अभिन्न और भिन्न दोनो है। यह मत युक्त नही है। पूर्वोक्त दो आकारो के सब दोष इसमे पाए जाते है। अभेद-भेद सुख-दु:ख के समान परस्परविरुद्ध है और एक ही वस्तु मे आरोपित नही हो सकते। पुन. अभेद और भेद दोनों व्यवस्थापित नहीं हो सकते।

सब धर्म एक ही स्वभाव के होंगे, क्योकि यह व्यवस्था है कि विरुद्ध धर्म एक स्वभाव के है। अथवा आपका धर्म जो सत्ता से अभिन्न और भिन्न दोनो है प्रज्ञप्ति सत् होगा, तात्त्विक न होगा।

चतुर्थ आकार आजीविकादि का है जिनके अनुसार सद्धर्म सत्ता से न अभिन्न है, न भिन्न। किंतु यह वाद पूर्व वर्णित भेदाभेद वाद से मिला-जुला है। क्या यह वाद प्रतिज्ञात्मक है? क्या इस वाद का निषेधद्वय युक्त नही है? क्या यह वाद शुद्ध निषेध है? उस अवस्था मे वाणी का अभिप्राय विलुप्त हो जाता है। क्या यह प्रतिज्ञात्मक और निषेधात्मक दोनों है? यह विरुद्ध है। क्या यह इनमे से कोई नहीं है? शब्दाडम्बर मात्र है।

अन्य वादों की कठिनाइयों के परिहार के लिये यह वृथा प्रयास है।

हीनयान

इसके पश्चात् युआन च्वांग हीनयान के धर्मों की परीक्षा करते है। हीनयान में चार प्रकार के धर्म है जो द्रव्य सत् है —चित्तचैत्त, रूप, विप्रयुक्त, असस्कृत। युआन च्वांग कहते है कि अत के तीन धर्म विज्ञान से व्यतिरिक्त नहीं है।

रूप

हीनयान में दो प्रकार के रूप है—सप्रतिघ (पहले १० आयतन) और अप्रतिघ (यह धर्मायतन का एक प्रदेश है। यह परमाणुमय नहीं है)। सप्रतिघ रूप परमाणुमय है। सौत्रान्तिक मत से परमाणु का दिग्विभाग है, किंतु सर्वास्तिवादी और वैभाषिक परमाणु का सूक्ष्म रूप (बिन्दु) मानते है। दोनो मानते है कि आवरण-प्रतिघातवश परमाणु सप्रतिघ है। किंतु दिग्भागभेद के सम्बन्ध में इनका मतैक्य न होने से आवरण-प्रतिघात के अर्थ में भी एक मत नहीं है। सौत्रान्तिक मानते है कि परमाणु स्पृष्ट होते है और दिग्देश-भेदवश उनका प्रतिघात होता है। सर्वास्तिवादी नहीं स्वीकार कर सकते कि उनके परमाणु स्पृष्ट होते है क्योंकि यह सूक्ष्म (बिन्दु) है।

युआन च्वांग कहते है कि सूक्ष्म परमाणु सावृत है और उनका सघात नहीं हो सकता तथा जिनका दिग्विभाग है वह विभजनीय है और इसलिये वह परमाणु नहीं है। यदि परमाणु अति सूक्ष्म, अविभजनीय और वस्तुत सत्ी है तो वह परस्पर स्थूल, सहत रूप जनित नहीं करते। दोनों अवस्थाओं में परमाणु की सत्ता नहीं है और इसलिये परमाणुमय रूप भी विलुप्त हो जाता है। किसी यक्ति से भी परमाणु द्रव्य सत् नहीं सिद्ध होता। पुन हीनयानवादी स्वीकार करते है कि पंच विज्ञान काय का आश्रय इंद्रिय है और उनका आलंबन बाह्यार्थ है तथा इंद्रिय और अर्थ रूप है। युआन च्वांग का मत है कि इंद्रिय और अर्थ विज्ञान का परिणाममात्र है। इंद्रिय शक्ति है। यह 'उपादाय रूप' नहीं है। एक सप्रतिघ रूप जो विज्ञान से बहिरवस्थित है युक्तियुक्त नहीं है। इंद्रिय विज्ञान का परिणाम निभाग है। इसी प्रकार आलंबन प्रत्यय भी विज्ञान से बहिर्भूत नहीं है। यह विज्ञान का परिणाम (निमित्तभाग) है। युआन च्वांग सौत्रान्तिक और सर्वास्तिवादिन्-वैभाषिक मत का प्रतिषेध करते है जिनके अनुसार विज्ञान का आलंबन प्रत्यय वह है जो स्वाकार (स्वाभास) विज्ञान का निवर्तन करता है। यह कहते है कि बाह्य अर्थ स्वाभास विज्ञान का जनक होता है। इसलिये उनको विज्ञान का आलंबन प्रत्यय इष्ट है।

सौत्रान्तिको के अनुसार आलंबन प्रत्यय सचित (सहत) परमाणु है। जब चक्षुर्विज्ञान रूप की उत्पत्ति करता है तब यह परमाणुओं को प्राप्त नहीं होता, किंतु केवल सचित को ही प्राप्त होता है, क्योंकि यह विज्ञान सचिताकार होता है (तदाकारत्वात हम सचित नील देखते है, नील के परमाणु नहीं देखते)। अत पंच विज्ञान-काय का आलंबन सचित है।

युआन च्वांग के लिये सघात द्रव्य सत् नहीं है। वह सावृत है। इस कारण वह विज्ञप्ति का अर्थ नहीं हो सकता और इसलिये वह आलंबन प्रत्यय नहीं है। बाह्यार्थ के बिना ही सचिताकार विज्ञान उत्पन्न होता है। वैभाषिक मत के अनुसार विज्ञान का आलंबन प्रत्यय एक एक परमाणु है। प्रत्येक परमाणु असनिरपेक्ष और अतींद्रिय होता है, किंतु बहुत से परस्परापेक्ष्य और इंद्रिय-ग्राह्य

होते हैं। जब वह परमाणु एक दूसरे की अपेक्षा करते हैं तब स्थूल लक्षण की उत्पत्ति होती है जो पच विज्ञान-काय का विषय है। यह द्रव्य सत् है। अतः यह आलबन प्रत्यय है।

इसका खडन करते हुए स्थिरमति कहते हैं कि सापेक्ष और निरपेक्ष अवस्था में परमाणु के आत्मातिशय का अभाव है। इसलिये या तो परमाणु अतीन्द्रिय हैं या इद्रियग्राह्य हैं। यदि परमाणु परस्पर अपेक्षा कर विज्ञान के विषय होते हैं तो यह जो घटकुड्यादि आकार-भेद होता है वह विज्ञान मे न होगा क्योकि परमाणु तदाकार नही है। पुनः यह भी युक्त नही है कि विज्ञान का अन्य निर्भास हो और विषय का अन्य आकार हो क्योंकि इसमे अतिप्रसंग का दोष होगा।

पुन. परमाणु स्तंभादिवत् परमार्थत नही हैं। उनका अर्वाक्-मध्य-पर भाग होता है। अथवा उसके अनभ्युपगम मे पूर्वदक्षिणादि दिग्भेद परमाणु का न होगा। अत. विज्ञानवत् परमाणु का अमूर्तत्व और अदेशस्थत्व होगा। इस प्रकार बाह्यार्थ के अभाव मे विज्ञान ही अर्थाकार उत्पन्न होता है। (त्रिंशिका, पृ० १६)।

सर्वास्तिवादिन् के अनुसार एक-एक परमाणु समस्तावस्थामे विज्ञान का आलबन प्रत्यय है। परमाणु अतीन्द्रिय हैं किंतु समस्तों का प्रत्यक्षत्व है। (कोश, ३। पृ० २१३)।

इसके उत्तर मे विज्ञानवादी कहते हैं कि परमाणु का लक्षण या आकार विज्ञान मे प्रतिबिंबित नही होता। संहत का लक्षण परमाणुओ मे नही होता, क्योकि असहतावस्था मे यह लक्षण उनमे नही पाया जाता। असंहतावस्था से सहतावस्था मे परमाणुओं का कोई आत्मातिशय नही होता। दोनो अवस्थाओं मे परमाणु पच विज्ञान के आलबन नही होते। (दिग्नाग)।

इस प्रकार विविध वादो का निराकरण करके युआन च्वॉग परमाणु पर विज्ञानवाद का सिद्धात वर्णित करते हैं :

योगाचार, शस्त्र से नही, किंतु चित्त से, स्थूलरूप का विभाग पुन. पुन करते है, यहॉतक कि वह अविभजनीय हो जाता है। रूप के इस पर्यन्त को जो सावृत है, वह परमाणु की सज्ञा देते हैं। किंतु यदि हम रूप का विभजन करते रहे तो परमाणु आकाशवत् प्रतीत होगा और रूप न रहेगा। अतः हमारा यह निष्कर्ष है कि रूप विज्ञान का परिणाम है और परमाणुमय नही है।

पूर्वोक्त विवेचन **सप्रतिघ** रूप के संबध मे है। जब सप्रतिघ रूप का द्रव्यत्व नही है और यह विज्ञान का परिणाम है तो **अप्रतिघ** रूप तो और भी अधिक सद्धर्म नही हैं।

सर्वास्तिवादिन् के **अप्रतिघ** रूप काय विज्ञप्ति-रूप, वाग्-विज्ञप्ति-रूप, और अविज्ञप्ति-रूप हैं। उनका काय विज्ञप्ति-रूप 'संस्थान' है। किंतु 'संस्थान' विभजनीय है और दीर्घादि के परमाणु नही होते (कोश, ४। पृ० ४,९)। अत. संस्थान रूप द्रव्यतः नही है। वाग्विज्ञप्ति शब्दस्वभाव नही है। एक शब्द-क्षण विज्ञापित नही करता और शब्द-क्षणों की सतान द्रव्यसत् नही है। वस्तुत. विज्ञान शब्द-सतान मे परिणत होता है। उपचार से इस सतान को वाग्विज्ञप्ति कहते हैं।

जब विज्ञप्ति द्रव्यसत् नही है तो अविज्ञप्ति कैसे द्रव्यसत् होगी ?

चेतना (ध्यानभूमि की) या प्रणिधि (प्रातिमोक्षसवर या असवर) का उपचार मे अविज्ञप्ति कहा है। दूसरे शब्दो में यह या तो एक चेतना है जो अकुशल काय-वाग्विज्ञप्ति कर्म का निरोध करती है या यह उपचयावस्था मे एक प्रधान चेतना के बीज है जो काय वाक् कर्म के जनक हैं। अत अविज्ञप्ति प्रज्ञप्तिसत् है।

विप्रयुक्त भी द्रव्यसत् नही है। प्राप्ति, अप्राप्ति तथा अन्य विप्रयुक्तो की स्वरूपत उपलब्धि नही होता। पुन रूप तथा चित्त-चैत्त मे पृथक् इनका कोई कारित्र नही दीख पडता। अत यह रूप चित्त-चैत्त के अवस्था विशेष के प्रज्ञप्तिमात्र है। सभागता भी द्रव्यसत् नही है। सर्वास्तिवादी कहते है कि सत्वो में सामान्य बुद्धि और प्रज्ञप्ति का कारण सभागता नामक द्रव्य है। यह विप्रयुक्त है। यथा कहते है अमुक मनुष्यो की सभागता का प्रतिलाभ करता है, अमुक देवो की सभागता का प्रतिलाभ करता है। युआन च्वाग कहते है कि यदि सत्वो की सभागता है तो वृक्षादि की भी सभागता मानना चाहिए। पुन सभागताओ की भी एक सभागता होनी चाहिए। हम यह भी कह सकते है कि समान कर्मात के मनुष्य और समान छद के देव सभागता-वश है। वस्तुत सभागता नामक किसी द्रव्य विशेष के कारण सत्वो के विविध प्रकारो में सादृश्य नही होता। अमुक अमुक प्रकार के सत्वो का जो कायिक और चैतसिक धर्म सामान्य है उनको आगम 'सभागता' सज्ञा से प्रज्ञप्त करता है। जीवितेंद्रिय के सबध में युआन च्वाग कहते है कि यह कर्मजनित शक्ति विशेष है और यह उन बीजो पर आश्रित है जो आलय-विज्ञान के हेतु-प्रत्यय है। इस सामर्थ्य-विशेष के कारण भवविशेष के रूप चित्त चैत्त एक काल तक अवस्थान करते है। आलय विज्ञान एक अविच्छिन्न सतान है। एक भव से दूसरे भव में इसका निरतर प्रवर्तन होता है। हेतु-प्रत्यय-वश इसका परिपोष होता है। उदाहरण के लिये हम नील (प्रत्युत्पन्न धर्म) का चितन करते है, नील के सबध में हमारी वाग्विज्ञप्ति होती है। यह वाक्, यह चित्त, अर्थात् यह व्यवहार बीजो को उत्पन्न करता है जो नील के अनुभव चित्तो का उत्पाद करेंगे। उक्त हेतु प्रत्यय के अतिरिक्त एक अधिपति प्रत्यय भी है। यह कर्म है। यह कर्म जो शुभ या अशुभ है अव्याकृत फल का जनक होता है अर्थात दुख, आलय विज्ञान का जनक होता है। इसलिये कर्म विपाक-हेतु है। यह विपाक बीज का उत्पाद करता है। जीवितेंद्रिय मे प्रथम प्रकार के बीज, न कि विपाक-बीज, इष्ट है। यह बीज (नाम वाक्) जो हेतु प्रत्यय है आलय का पोषण करते हैं जब कि दूसरे प्रकार के बीज अर्थात् विपाक-बीज आलय की गति, अवस्था आदि को निधारित करते हैं।

युआन च्वाग असंज्ञि समापत्ति, निरोधसमापत्ति (दो समापत्ति) अचित्तक और आसज्ञिक को द्रव्यसत नहीं मानते। वह कहते है कि यदि असंज्ञि अवस्था का व्याख्यान करने के लिये इन धर्मों की व्यवस्था आवश्यक है, जिनके विषय में कहा जाता है कि यह चित्त का प्रतिबंध करते हैं तो एक आरूप्य समापत्ति नामक धर्म भी मानना पडेगा जो रूप का प्रतिबधक हो। चित्त का प्रतिबध करने के लिये किसी सद्धर्म की कल्पना की आवश्यकता नहीं है। जब योगी इन समापत्तियो की भावना करता है तब वह औदारिक और चल चित्त चैत्त की विदूषणा से प्रयोग का आरभ करता है। इस विदूषणा के योग से वह एक प्रणीत अवधि-प्रणिधान का उत्पाद करता है, वह अपने चित्त चैत्तो को उत्तरोत्तर सूक्ष्म और अणु बनाता है। यह प्रयोगावस्था है। जब चित्त सूक्ष्म सूक्ष्म हो जाता है तब वह आलय विज्ञान को भावित करता है और इस विज्ञान में विदूषणा चित्त के अधिमात्रतम बीज का उत्पाद करता है। इस बीज के योग से जो चित्त-चैत्त का विष्कभन करता है सब औदारिक और चचल

चित्त-चैत्त का काल-विशेष के लिये समुदाचार नही होता। इस अवस्था को उपचार से समापत्ति कहते हैं। असंज्ञि-समापत्ति में यह वीज सास्रव होता है और निरोध-समापत्ति मे अनास्रव होता है। आसंज्ञिक के संबंध मे इनका यह मत है कि असंज्ञिदेवो के प्रवृत्ति-विज्ञानो के असमुदाचार को उपचार से **आसंज्ञिक** कहते हैं।

हीनयानवादी जाति, स्थिति, जरा, निरोध इन संस्कृत धर्मो को भी द्रव्यसत् मानते हैं। यह संस्कृत के संस्कृत लक्षण हैं। युआन च्वाग इसके विरोध मे नागार्जुन की दी हुई आलोचना देते हैं। अतीत और अनागत अध्व द्रव्यसत् नही हैं। वह अभाव हैं। अतः यह चार लक्षण प्रज्ञप्तिसत् हैं। पूर्वनय के अनुसार अन्य विप्रयुक्तों का भी प्रतिषेध होता है।

संस्कृत धर्मो के अभाव को सिद्धकर युआन च्वाग हीनयान के असंस्कृतो का विचार करते हैं। आकाश, प्रतिसंख्यानिरोध, अप्रतिसख्या, निरोध असस्कृत प्रत्यक्षज्ञेय नही हैं और न उनके कारित्र तथा व्यापार से उनका अनुमान होता है। पुन. यदि वह व्यापारशील हैं तो वह नित्य नही हैं। अतः विज्ञान से व्यतिरिक्त असंस्कृत कोई द्रव्यसत् नही है।

आकाश एक है या अनेक ? यदि स्वभाव मे यह एक है और सव स्थानों मे प्रतिवेध करता है तो रूपादि धर्मों को अवकाश प्रदान करने के कारण यह अनेक हो जाता है क्योकि एक वस्तु से आवृत स्थान वस्तुओं के अन्योन्य प्रतिवेध के बिना दूसरी वस्तु से आवृत नही होता।

यदि निरोध एक है तो जव प्रज्ञा से ९ प्रकार में से एक प्रकार का प्रहाण होता है, पाँच सयोजनों में से एक संयोजन का उपच्छेद होता है, तो वह अन्य प्रकार का भी प्रहाण करता है, अन्य सयोजनों का भी उपच्छेद करता है। यदि निरोध अनेक है तो वह रूप के सदृश असंस्कृत नही है। अत. निरोध भी सिद्ध नहीं होते। यह विज्ञान के परिणाम-विशेष हैं। हाँ ! यदि आप चाहे तो असंस्कृतों को धर्मता, तथता का प्रज्ञप्तिसत् मान सकते हैं।

हम तथता का पूर्व उल्लेख कर चुके हैं। युआन च्वाग **तथता** की एक नवीन व्याख्या करते हैं : "यह अवाच्य है, यह शून्यता से, नैरात्म्य से अवभासित होती है। यह चित्त और वाक्-पथ के ऊपर है जिनका संचार भाव, अभाव, भावाभाव और न भाव तथा न अभाव में होता है। यह न धर्मो से अनन्य है, न अन्य, न दोनों है और न अनन्य है तथा न अन्य। क्योंकि यह धर्मो का तत्त्व है, इसलिये इसे **धर्मता** कहते हैं। इस धर्मता (वस्तुओं का विशुद्ध स्वभाव) के एक आकार को आकाश कहते हैं और निर्वाण के आकार में योगी इसीका साक्षात्कार, इसीका प्रतिवेध करता है। किंतु यह समझ लेना चाहिए कि तथता स्वतः या अपने इन दो आकारों मे वस्तु सत् नही है। युआन च्वाग नि.सकोच ही प्रतिज्ञा करते हैं कि यह प्रज्ञप्तिमात्र है। "इस संज्ञा को व्यावृत्त करने के लिये कि यह असत्व है, कहते हैं कि यह है (इस प्रकार शून्यता के विपर्यास और मिथ्यादृष्टि का प्रतिषेध करते हैं)। इस सज्ञा को व्यावृत्त करने के लिये कि यह है, (महीशासक) कहते हैं कि यह शून्य है। इस संज्ञा को व्यावृत्त करने के लिये कि यह मायावत् है, कहते हैं कि यह वस्तुसत् हैं। किंतु यह न वस्तुसत् है, न अवस्तु। क्योंकि यह न अभूत है (यथापरिकल्पित), न वितथ (यथापरतत्र), इसलिये इसे भूततथता कहते हैं।" (पृ० ७७)

इस प्रकार से युआन च्वांग ग्राह्य-ग्राहक का विचार करते हैं।

जिन धर्मों को तार्किक और हीनयानवादी चित्त चैत्त से भिन्न मानते हैं वह द्रव्यसत्स्वभाव नहीं हैं क्योंकि वह ग्राह्य हैं, जैसे चित्त चैत्त हैं, जिनका ग्रहण पर-चित्त ज्ञान से होता है। बुद्धि जो आत्मादि का ग्रहण करती है उनका आलंबन नहीं बनाती क्योंकि यह ग्राहक है, जैसे पर-चित्त ज्ञान है, जो परचित्त का ग्रहण करता है और उसको आलंबन नहीं बनाता, क्योंकि वह इस चित्त के केवल 'सादृश्य'-आकृति (सबजेक्टिव इमीटेशन) को आलंबन बनाता है। चित्त चैत्त भूतद्रव्यसत् नहीं हैं क्योंकि इनका उद्भव मायावत् परतन्त्र है (प्रतीत्य समुत्पन्न)। यहाँ युआन च्वांग अपने विज्ञानवाद की आत्मवाद-द्रव्यवाद से रक्षा करने में सचेष्ट हैं। "इस मिथ्यावाद का प्रतिषेध करने के लिये कि चित्त चैत्त-व्यतिरिक्त बाह्य विषय द्रव्यसत् हैं, यह कहा जाता है कि विज्ञप्तिमात्र है। किंतु इस विज्ञान को और विज्ञान-व्यतिरिक्त बाह्य विषयों को परमार्थतः द्रव्यसत्स्वभाव मानना धर्मग्राह है।"

इस धर्मग्राह की उत्पत्ति कैसे होती है, इसकी परीक्षा युआन च्वांग करते हैं। वह कहते हैं कि धर्मग्राह (धर्माभिनिवेश) दो प्रकार का है सहज और विकल्पित। प्रथम अभूत (=वितथ) वासना से प्रवृत्त होता है। अनादिकाल से धर्माभिनिवेश का जो अभ्यास होता है और इस अभ्यासवश जो बीज चित्त में संचित होते हैं, उसे वासना कहते हैं। यह धर्मग्राह सदा आश्रय-सहगत होता है। इसकी उत्पत्ति का परिणाम स्वरसेन होता है। मिथ्या देशना या मिथ्या उपनिध्यान से यह स्वतन्त्र है। इसलिये इसे सहज कहते हैं।

विकल्पित धर्मग्राह बाह्य प्रत्ययवश उत्पन्न होता है। इसकी उत्पत्ति के लिये मिथ्या देशना और मिथ्या उपनिध्यान का होना आवश्यक है। अतः यह विकल्पित कहलाता है। यह मनोविज्ञान में अवस्थित है।

सर्वधर्मग्राह का विषय धर्माभास है जो स्वचित्तनिर्भास है। यह धर्माभास हेतुजनित है। अतः इसका अस्तित्व है किंतु यह मायावत् परतन्त्र है। इसीलिये इन्हें हम धर्माभास कहते हैं।

भगवत् ने कहा है: 'हे मैत्रेय! विज्ञान का विषय विज्ञाननिर्भासमात्र है। यह मायादिवत् परतन्त्रस्वभाव है।' (सन्धिनिर्मोचन)।

सिद्धान्त यह है कि आत्म-धर्म द्रव्यसत् नहीं है। अतः चित्त चैत्त का रूपादि बाह्यरूप आलंबन-प्रत्यय नहीं है। "कोई बाह्यार्थ नहीं है। यह मूढों की कल्पना है। वासनाओं से लुंठित चित्त अर्थाभास में प्रवृत्त होता है।"

उपचार

वैशेषिक आक्षेप करते हैं कि यदि मुख्य आत्मा और मुख्य धर्म नहीं है तो विज्ञानपरिणाम में आत्मधर्मोपचार युक्त नहीं है। तीन के होनेपर उपचार होता है। इनमें से किसी एक के अभाव में नहीं होता। यह तीन इस प्रकार है—१ मुख्य पदार्थ, २ तत्सदृश अन्य विषय, ३ इन दोनों का सादृश्य। यथा मुख्य अग्नि, तत्सदृश माणवक और इन दोनों के साधारण धर्म कपिलत्व या तीक्ष्णत्व

के होनेपर यह उपचार होता है कि अग्नि माणवक है। किंतु यदि आत्मा और धर्म नही है तो कौन द्रव्यसत् सादृश्य का आश्रय होगा? जब उसका अभाव है तो उसके नाम का उपचार कैसे हो सकता है? यह कैसे कह सकते है कि चित्त बाह्यार्थ के रूप में अवभासित होता है?

यह आक्षेप दुर्बल है, क्योकि हमने यह सिद्ध किया है कि चित्त से व्यतिरिक्त आत्मधर्म नही है। आइए हम उपचार की परीक्षा करे। 'अग्नि माणवक है' इसमे जाति या द्रव्य का उपचार होना बताते है। माणवक का **जाति**–अग्नि से सादृश्य दिखाना 'जात्युपचार' है। माणवक का एक द्रव्य से सादृश्य दिखाना 'द्रव्योपचार' है।

दोनों प्रकार से उपचार का अभाव है।

जात्युपचार—कपिलत्व और तीक्ष्णत्व अग्नि–**जाति** के साधारण गुण नही है। साधारण धर्मो के अभाव मे माणवक मे जात्युपचार युक्त नही है, क्योंकि अतिप्रसग का दोप होता है। तब तो आप यह भी कह सकेंगे कि उपचार से जल अग्नि है।

किंतु आप कहेंगे कि यद्यपि जाति का तद्धर्मत्व नही है तथापि तीक्ष्णत्व और कपिलत्व का का अग्नि-जाति से अविनाभाव है और इसलिये माणवक मे जात्युपचार होगा। इसके उत्तर मे हमारा यह कथन है कि जाति के अभाव मे भी तीक्ष्णत्व और कपिलत्व माणवक मे देखा जाता है और इसलिये अविनाभावित्व अयुक्त है। और अविनाभावित्व में उपचार का अभाव है, क्योंकि अग्नि के सदृश माणवक मे भी जाति का सद्भाव है। अतः माणवक मे जात्युपचार संभव नही है।

द्रव्योपचार—द्रव्योपचार भी संभव नही है, क्योकि सामान्य धर्म का अभाव है। अग्नि का जो तीक्ष्ण या कपिल गुण है वही गुण माणवक में नही है। विशेष स्वाश्रय मे प्रतिबद्ध होता है। अतः अग्नि-गुण के विना अग्नि का माणवक मे उपचार युक्त नही है। यदि यह कहो कि अग्नि-गुण के सादृश्य से युक्त है तो इस अवस्था मे भी अग्नि-गुण का ही माणवक-गुण मे उपचार सादृश्य के कारण युक्त है, किंतु माणवक मे अग्नि का नही। इसलिये द्रव्योपचार भी युक्त नही है।

यह यथार्थ नही है कि तीन भूतवस्तु पर उपचार आश्रित है। भूतवस्तु (स्वलक्षण) सावृत ज्ञान और अभिधान का विषय नही है। यह ज्ञान और अभिधान सामान्य लक्षण को आलंबन बनाते है।

ज्ञान और अभिधान की प्रधान मे प्रवृत्ति गुणरूप मे ही होती है, क्योकि वह प्रधान अर्थात् मुख्य पदार्थ के स्वरूप का संस्पर्श नही करते। अन्यथा गुण की व्यर्थता का प्रसंग होगा। किंतु ज्ञान और अभिधान के व्यतिरिक्त पदार्थ-स्वरूप को परिच्छिन्न करने का अन्य उपाय नही है। अतः यह मानना होगा कि मुख्य पदार्थ नही है। इसी प्रकार संबंध के अभाव से शब्द मे ज्ञान और अभिधान का अभाव है, इसी प्रकार अभिधान और अभिधेय के अभाव से मुख्य पदार्थ नहीं है। अतः सब गौण ही है, मुख्य नही है। गौण उसे कहते है जो वहाँ अविद्यमान रूप से प्रवृत्त होता है। सब शब्द प्रधान मे अविद्यमान गुण-रूप में प्रवृत्त होता है। अतः मुख्य नही है। अतः यह अयुक्त है कि मुख्य आत्मा और मुख्य धर्म के न होनेपर उपचार युक्त नही है।

नायन् उदाहरणत आत्मा और धम, इन शब्दो का प्रयोग करते ह। इससे यह परिणाम न निकालना चाहिए कि मुख्य आत्मा और मुख्य धम ह। वह आत्मधम में प्रतिपन्न पुद्गलो को विनाश करना चाहते ह। अत वह उन मिथ्या सज्ञाओ का प्रयोग करते ह जिनसे लोग विज्ञान-परिणाम को प्राप्त करते ह।

आलयविज्ञान—

विज्ञान परिणाम तीन प्रकार का है विपाकाख्य, मननाख्य, विषय-विज्ञप्त्याख्य। अष्टम विज्ञान 'विपाक' कहलाता है। शुभाशुभ कम की वासना के परिपाक से जो फल की अभिनिवृत्ति होती है वह विपाक है। मनस् (सप्तम विज्ञान) 'मनना' (स्थिरमति का पाठ है किंतु पूर्व का पाठ 'मन्यना' है) कहलाता है, क्योंकि क्लिष्ट मनस नित्य मनन (कोजिटेशन) करता है। (पालि, मञ्ञना, व्युत्पत्ति, २८५, ६७७ में मन्यना है) ६ प्रकार का चक्षुरादिविज्ञान 'विषय विज्ञप्ति' कहलाता है क्योंकि इनमें विषय का प्रत्यवभास होता है। यह तीन परिणामि-विज्ञान कहलाते ह।

यह विज्ञान—परिणाम हेतुभाव और फलभाव से होता है। हेतुपरिणाम अष्टम विज्ञान की निष्यदवासना और विपाकवासना है। कुशल, अकुशल, अव्याकृत सात विज्ञानो से बीजो की जो उत्पत्ति और वृद्धि होती है वह 'निष्यदवासना' है। सास्रव कुशल और अकुशल छ विज्ञानो से बीजो की जो उत्पत्ति और वद्धि होती है वह 'विपाक-वासना' है। इन दो वासनाओ के बल से विज्ञानो की उत्पत्ति होती है और उनके विविध लक्षण प्रकट होते है। यह फलपरिणाम है।

जब निष्यदवासना हेतु—प्रत्यय होती है तब आठ विज्ञान अपने विविध स्वभाव और लक्षणो में उत्पन्न होते है। यह निष्यद फल ह क्योंकि फल हेतु के सदृश है। जब विपाकवासना अधिपति प्रत्यय होती है तब अष्टम विज्ञान की उत्पत्ति होती है। इसे विपाक कहते है क्योंकि यह आक्षेपक कम के अनुसार है और इसका निरतर सतान है। प्रथम छ विज्ञान जो परिपूरक कम के अनुरूप है, विपाक से उत्पन्न होते है। इन्हें विपाकज कहते है (विपाक नही) क्योंकि इनका उपच्छेद होता है। विपाकज और विपाक विपाकफल कहलाते है क्योंकि यह स्वहेतु से विसदृश है। 'विपाक' 'फल-परिणाम-विज्ञान' इष्ट है। यह प्रत्युत्पन्न अष्टम विज्ञान है। यह आत्म-प्रेम का आस्पद है। यह सक्लेश के बीजो का धारक है। किंतु युआन च्वाग यह कहना नही चाहते कि केवल अष्टम विज्ञान विपाक-फल है।

केवल अष्टम विज्ञान 'हेतुपरिणाम' है। यही बीजो का (शक्तियो का) सग्रह करता है। इसलिये इसे 'बीज विज्ञान', 'आलय विज्ञान' कहते है। यही बीज वासना कहलाते है क्योंकि बीजो की उत्पत्ति 'भावना', 'वासना' से होती है। अन्य सात प्रवृत्ति विज्ञान अष्टम विज्ञान को वासित करते है। यह बीजो को उत्पन्न करते है। यह नवीन बीजो का आधान करते है या वतमान बीजो की वृद्धि करते है। बीज दो प्रकार के है। १ सात प्रवृत्ति विज्ञान (कुशल, अकुशल, अव्याकृत, सास्रव, अनास्रव) निष्यन्द-बीजो को उत्पन्न करते है और उनकी वृद्धि करते है। २ सप्तम विज्ञान 'मनस्' को वर्जित कर शेष ६ प्रवृत्ति-विज्ञान (अकुशल, सास्रव-कुशल) बीजो का उत्पाद करते है और उनकी वृद्धि करते ह। इन बीजो को कमबीज, विपाकबीज कहते है। कम हेतु बीज द्वारा फल की अभिनिवृत्ति करता है। यह फल स्वहेतु से विसदृश होता है। इसलिये इसे विपाक (विसदृश पाक) कहते है। हेतु, यथा प्राणातिपात की चेतना, स्वर्ग प्राप्ति के लिये दान, व्याकृत है, फल

(नरकोपपत्ति या स्वर्गोपपत्ति) अव्याकृत है। **फलपरिणाम** प्रवृत्ति-विज्ञान और संवित्तिभाग है जो बीजद्वय का फल है अर्थात् बीज-विज्ञान का फल है । इसका परिणाम दर्शन और निमित्त मे होता है। प्रथम प्रकार के बीज इस फल के हेतु-प्रत्यय है। यह अनेक और विविध है। यह आठ विज्ञान, इन आठ के **भागसमुदय** और उनके संप्रयुक्त चैत्त को उत्पन्न करते है। द्वितीय प्रकार के बीज 'अधिपति -प्रत्यय' है। यह मुख्य विपाक अर्थात् अष्टम विज्ञान का निर्वर्तन करते है। अष्टम विज्ञान आक्षेपक कर्म से उत्पादित होता है। इसका अविच्छिन्न स्रोत है। यह सदा अव्याकृत होता है। परि-पूरक कर्म से प्रथम षड्विज्ञान की प्रवृत्ति होती है। यह विपाक नही है किंतु विपाकज है, क्योंकि इनका उपच्छेद होता है और इनकी उत्पत्ति अष्टम विज्ञान से होती है।

स्थिरमति का मत इस संबंध मे भिन्न है। उनके अनुसार हेतु-परिणाम आलय के परिपुष्ट विपाक-बीज और निष्यंद-बीज है तथा फल-परिणाम (१) विपाक-बीजो के वृत्तिलाभ से आक्षेपक कर्म की परिसमाप्ति पर अन्य निकायसभाग मे आलय-विज्ञान की अभिनिर्वृत्ति है, (२) निष्यंद-बीजों के वृत्तिलाभ से प्रवृत्ति-विज्ञान और क्लिष्ट मनस् की आलय से अभिनिर्वृत्ति है ।

यहाँ प्रवृत्ति-विज्ञान (कुशल-अकुशल) आलय-विज्ञान में दोनो प्रकार के बीजो का आधान करता है। अव्याकृत प्रवृत्ति-विज्ञान और क्लिष्ट मनस् निष्यद-बीजो का आधान करता है।

हमने ऊपर त्रिविध परिणाम का उल्लेख किया है। किंतु अभी उनका स्वरूप निर्देश नही किया है। स्वरूप-निर्देश के विना प्रतीति नही होती। अतः जिसका जो स्वरूप है उसको यथाक्रम दिखाते है। पहले आलयविज्ञान का जो विपाक है उसका स्वरूप निर्दिष्ट करते है। यह अष्टम विज्ञान है।

आलय-विज्ञान—

आलय-विज्ञान विज्ञानो का आलय, संग्रह-स्थान है। अथवा यह वह विज्ञान है जो आलय है। आलय का अर्थ 'स्थान' है । यह सर्व सांक्लेशिक बीजो का संग्रह-स्थान है। अथवा सर्व धर्म इसमे कार्यभाव से आलीन होते है (आलीयन्ते) अर्थात् उपनिबद्ध होते है। अथवा यह सब धर्मो मे कारणभाव से आलीन होता है। अतः इसे आलय कहते है (स्थिरमति)। इसे मूलविज्ञान भी कहते है। युआन च्वांग कहते है: "धर्म आलय मे बीजो का उत्पाद करते है। यह आलय विज्ञान को संग्रह-स्थान बनाते है और उसमे संगृहीत होते है।" पुनः "मनस् का आलय मे अभिनिवेश आत्मतुल्य होता है। सत्वो की कल्पना होती है कि आलय-विज्ञान उनकी आत्मा है।" इसका अर्थ यह है कि विज्ञानवाद मे आलय विज्ञान का वही स्थान है जो आत्मा और जीवितेंद्रिय, दोनो का मिलकर अन्य वादो मे है। पुन आलय-विज्ञान कार्यस्वभाव भी है, अत इसे विपाक-विज्ञान भी कहते है। जिन कुशल-अकुशल कर्मो को एक भव धातु-गति-योनि-विशेष मे आक्षिप्त करता है उनका यह आलय 'विपाकफल' है। इसके बाहर कोई जीवितेंद्रिय, कोई सभागता नही है और न कोई ऐसा धर्म है जो सर्वदा अनुप्रबद्ध हो और वस्तुतः विपाक-फल हो। आलय-विज्ञान कारणस्वभाव भी है। इस दृष्टि से यह सर्वबीजक है। यह बीजो का आदान करता है और उनका परिपाक करता है। यह उनका प्रणाश नही होने देता। युआन च्वांग कहते है कि इस मूल विज्ञान मे शक्तियाँ (सामर्थ्य) होती है जो फल का प्रत्यक्ष उत्पाद करती है, अर्थात् प्रवृत्ति-धर्म का उत्पाद करती है। दूसरे शब्दों मे बीज, जो शक्ति की अवस्था मे आलय में संगृहीत धर्म है, पश्चात् फलवत् साक्षात्कृत धर्मो का

उत्पाद करते हैं। युआन च्वांग बीज के संबंध में विविध आचार्यों के मत का उल्लेख कर अंत में अपना सिद्धांत व्यवस्थापित करते हैं। चंद्रपाल सब बीजों को प्रकृतिस्थ मानते हैं और नंद सब को भावनामय मानते हैं। धर्मपाल का मत है कि सास्रव और अनास्रव बीज अनादि प्रकृतिस्थ होते हैं और अनंत धर्मों की वासना से भावित विज्ञान का फल हैं। पहले बीज प्रकृतिस्थ और दूसरे भावनामय कहलाते हैं। प्रकृतिस्थ बीज विपाक-विज्ञान में धर्मतावश अनादिकाल से पाए जाते हैं। भावनामय बीज अभ्यासमिद्ध हैं। भगवद्वचन है कि 'सत्वों का विज्ञान क्लिष्ट और अनास्रव धर्मों से वासित होता है। यह असंख्य बीजों का संचय भी है। इस नय में आलय विज्ञान और धर्म अन्योन्य का उत्पाद करते हैं और इनका सदा कार्य-कारणभाव है। हम यह कहते हैं कि आलय विज्ञान में बीजों का निरंतर स्वरूप-विशेष (म्यूटेफिकेशन) होता है और आलय विज्ञान नवीन रूप आक्षिप्त करता रहता है। यह नित्य व्यापार है। बीज अनादिकाल से प्रकृतिस्थ हैं किन्तु क्लिष्ट और अक्लिष्ट धर्मों से पुनः पुनः भावित हो उनसे वासित होते हैं और मानो उत्पन्न होते हैं। दूसरे शब्दों में द्रव्यसत् एक शक्ति है जो निरंतर जीवन की सृष्टि करती है और इस सृष्टि से अपना पोषण करती है। युआन च्वांग धर्मपाल के मत को स्वीकार करते हैं।

बीजों के इस सिद्धांत के अनुसार युआन च्वांग विविध गोत्रों को व्यवस्थापित करते हैं। प्रत्येक के शुद्ध-अशुद्ध बीजों की मात्रा और गुण के अनुसार यह गोत्र व्यवस्थापित होते हैं। जिनमें अनास्रव बीजों का सर्वथा अभाव होता है वह अपरिनिर्वाणधर्मक या अगोत्रक कहलाते हैं। इसके विपरीत जो बोधि के बीज से समन्वागत हैं वह तथागत-गोत्रक हैं। इस प्रकार यह बीज शक्ति पूर्व से विनियत होती है।

बीज क्षणिक हैं और समुदाचार करनेवाले धर्म या अन्य शक्ति का उत्पाद कर विनष्ट होते हैं। यह सदा अनुप्रबद्ध हैं। बीज प्रत्यय सामग्री की अपेक्षा करते हैं। बीज और धर्म की अन्योन्य हेतुप्रत्ययता है, बीजों का उत्तरोत्तर उत्पाद होता है। बीज आलय-विज्ञान के बल पर धर्मों का उत्पाद करते हैं और धर्म आलय-विज्ञान के गर्भ में बीज का संग्रह करते हैं। अथवा हम प्रबंध का संप्रधारण कर सकते हैं। तीन धर्म हैं १ जनक बीज, २ विज्ञान, जो समुदाचार करता है और बीज से जनित है, ३ पूर्वोक्त विज्ञान की भावना से संभृत नवीन बीज। यह तीन क्रम से हेतु और फल हैं किंतु यह सहभू हैं। यह नडकलाप के समान अन्योन्याश्रित हैं।

युआन च्वांग आलय के आकार और आलंबन का विचार करते हैं। यदि प्रवृत्ति विज्ञान से अतिरिक्त आलय-विज्ञान है तो उसका आलंबन और आकार बताना चाहिए। निरालंबन या निराकार विज्ञान युक्त नहीं हैं। इसलिये आलय विज्ञान भी निरालंबन या निराकार नहीं हो सकता।

आलय का आकार, यथा सर्वविज्ञान का आकार, विज्ञप्ति (विज्ञप्ति क्रिया) है। विज्ञप्ति को दर्शनभाग कहते हैं।

आलय का आलंबन द्विविध है स्थान और उपादि। स्थान भाजनलोक है, क्योंकि यह सत्वों का सन्निश्रय है। उपादि (इंटिरियर आब्जेक्ट) बीज और सेंद्रियक काय है। इन्हें 'उपादि' कहते हैं

क्योंकि यह आलय से उपात्त है, आलय में परिगृहीत है और इनका एक योगक्षेम है। बीज से वासनात्रय इष्ट है: निमित्त, नाम और विकल्प। सेंद्रियक काय, रूपींद्रिय और उनका अधिष्ठान है।

इस सिद्धांत के अनुसार लोक की उत्पत्ति इस प्रकार है:—आलय-विज्ञान या मूलविज्ञान का अध्यात्म परिणाम बीज और सेंद्रियक काय के रूप में (उपादि) होता है और बहिर्वा परिणाम भाजनलोक के रूप में (स्थान) होता है। यह विविध धर्म उसके 'निमित्त भाग' हैं। यह निमित्त भाग उसका आलंबन है। आलंबनवश उसकी विज्ञप्ति क्रिया है। यह उसका आकार है। यह विज्ञप्ति क्रिया आलय-विज्ञान का दर्शनभाग है। इस प्रकार ज्यो ही सर्वसास्रव विज्ञान (जो प्रसाद से निर्मल नही हुआ है) उत्पन्न होता है त्यो ही वह आलंबक (सालंबन) और आलबन इन दो लक्षणो से उपेत होता है। एक दर्शनभाग है, दूसरा निमित्तभाग है। युआन च्वाँग कहते है कि दर्शनभाग के बिना निमित्तभाग असंभव था।

"यदि चित्त-चैत्त मे आलंबन का लक्षण न होता तो वह स्वविषय को आलंबन नही बनाते अथवा वह सर्वविषय को—स्वविषय तथा अन्य विषय को—अस्पष्टतया आलबन बनाते। और यदि उनमें सालंबन (आलंबक) का लक्षण न होता तो वह किसी को आलबन न बनाते, किसी विषय का ग्रहण न करते। अतः चित्त-चैत्त के दो भाग (मुख) है—दर्शन, निमित्त"। किंतु वस्तुतः "सब वेदक-बोधकमात्र है, वेद्य का अस्तित्व नही है। अथवा यों कहिए कि वेदकभाग और वेद्यभाग का प्रवर्तन पृथक् स्वयं होता है। यह स्वयंभू है क्योंकि यह स्वहेतु-प्रत्यय-सामग्रीवश उत्पन्न होते है और चित्त से बहिर्भूत किसी वस्तु पर आश्रित नही है।

(रेने ग्रूसे, पृ १०० का पाठ इस प्रकार है—अथवा यों कहिए कि 'वेदकभाग और वेद्यभाग का अस्तित्व स्वतः नही है।)

अत: युआन च्वाँग हीनयान के इस वाद का विरोध करते है कि विज्ञान के लिये (१) बाह्यार्थ (आलंबन) (२) अध्यात्मनिमित्त (जो हमारा निमित्तभाग है), जो विज्ञान का आकार है, (३) दर्शन, द्रष्टा (हमारा दर्शनभाग), जो स्वयं विज्ञान है, चाहिए। युआन च्वाँग के मत में इसके विपरीत चित्त-व्यतिरेकी अर्थो का अस्तित्व नही है। उनके अनुसार विज्ञान का आलंबन निमित्तभाग है और विज्ञान का आकार दर्शनभाग है। वह हीनयान के लक्षणो को नही स्वीकार करते। इन दो भागों का एक आश्रय चाहिए और यह आश्रय विज्ञान का एक आकार है जिसे स्वसंवित्ति भाग कहते हैं। तीन भाग इस प्रकार है:—१. प्रमेय अर्थात् निमित्तभाग; २ प्रमाण अर्थात् विज्ञप्तिक्रिया यह दर्शनभाग है; ३. प्रमाणफल: यह संवित्तिभाग अथवा स्वाभाविक भाग है।

इनको प्रमाण-समुच्चय में ग्राह्यभाग, ग्राहकभाग, स्वसंवित्तिभाग कहा है। यह तीन विज्ञान से पृथक् नही है।

युआन च्वाँग कहते है कि यदि चित्त-चैत्त धर्मो का सूक्ष्म विभजन किया जाय तो चार भाग होते है। पूर्वोक्त तीन भागों के अतिरिक्त एक चौथा भाग है। इसे स्वसंवित्ति-संवित्तिभाग कहते है।

नील प्रतिबिंब (निमित्तभाग) दर्शन का (दर्शनभाग का) प्रमेय है। दर्शनभाग प्रमाण है। यह विज्ञप्ति-क्रिया है: "यह नील देखता है।" इस दर्शन का फल 'स्वसंवित्ति' कहलाता है। 'यह

जानता कि मैं नील देखता हूँ' 'स्वसंवित्ति' है। स्वसंवित्ति दर्शन का फल है। यह दर्शन को आलंबन के रूप में गृहीत करता है। क्योंकि यह आलंबन को गृहीत करता है इसका एक फल होना चाहिए जिसे 'स्वसंवित्ति संवित्ति' कहते हैं—"यह जानना कि मैं जानता हूँ कि मैं नील देखता हूँ।" यह स्व-संवित्ति को जानता है, जैसे स्वसंवित्ति दर्शन को जानता है। किंतु यह चार चित्तमात्र हैं। यथा लंकावतार (१०, १०१) में कहा है—"क्योंकि चित्त अपने में अभिनिविष्ट है अतः बाह्यार्थ के सदृश चित्त का प्रवर्तन होता है। दृश्य नहीं है, चित्तमात्र है।"

युआन च्वांग आलंबनवाद का वर्णन करते हैं। आलंबन द्विविध है—स्थान और उपादि। १ स्थान—साधारण बीजों के परिपाक के बल से विपाक विज्ञान भाजनलोक के आभास में अर्थात् महाभूत और भौतिक के आभास में परिणत होता है।" युआन च्वांग स्वयं एक आक्षेप के परिहार की चेष्टा करते हैं। वह कहते हैं कि "प्रत्येक सत्व के विज्ञान का परिणाम उसके लिये इस प्रकार होता है, किंतु इस परिणाम का फल सर्वसाधारण है। इस कारण भाजनलोक सब सत्वों को एक-सा दीखता है। यथा दीपसमूह में प्रत्येक दीप का प्रकाश पृथक् होता है। किंतु दीपसमूह का प्रकाश एक ही प्रकाश प्रतीत होता है।" अतः भिन्न सत्वों के विज्ञान के बीज साधारण बीज कहलाते हैं क्योंकि भिन्नसत्व उन वस्तुओं के उत्पादन में सहयोग करते हैं जिनका आभास सब सत्वों को होता है। लोकधातु की सृष्टि का हेतु बहुत कुछ वैशेषिक और जैन-दर्शन से मिलता है।

दूसरी ओर युआन च्वांग कहते हैं कि यदि (साधारण) विज्ञान भाजनलोक में परिणत होता है तो इसका कारण यह है कि भाजनलोक उस सेंद्रियक काय का आश्रय या भोग होगा जिसमें यह विज्ञान परिणत होता है। अतः विज्ञान का परिणाम उस भाजनलोक में होता है जो उस काय के अनुरूप है, जिसमें यह परिणत होता है। यहाँ हमको एक सर्वसाधारण या सार्वभौमिक विज्ञान की वार्ता मिलती है। यह एक लोकधातु की सृष्टि इसलिये करता है जिसमें प्रत्येक चित्त-संतान काय विशेष का उत्पाद कर सके।

एक आक्षेप यह है कि जो लोकधातु सत्वों का अभी आवास नहीं है या जो निर्जन हो गया है, उसमें विज्ञानवाद कैसे युक्तियुक्त है? किस विज्ञान का यह लोकधातु परिणाम है? युआन च्वांग इस आक्षेप के उत्तर में कहते हैं कि यह अन्य लोकधातुओं में निवास करनेवाले सत्वों का परिणाम है।

हमसे कहा गया है कि लोकधातु सत्वों का साधारण भोग है। किंतु प्रेत, मनुष्य, देव (विंशतिका ३) एक ही वस्तु का दर्शन नहीं करते अर्थात् वस्तुओं को एक ही आकार में नहीं देखते।

युआन च्वांग कहते हैं कि इन्हीं सिद्धांतों के अनुसार इस प्रश्न का भी विवेचन होना चाहिए।

२ उपादि—बीज और सेंद्रियक काय।

बीज—यह सास्रव धर्मों के सब बीज हैं जिनका धारक विपाक-विज्ञान है, जो इस विज्ञान के स्वभाव में ही संगृहीत हैं और जो इसलिये उसके आलंबन हैं।

अनास्रव धर्मों के वीज विज्ञान पर संकुचित रूप में आश्रित है । किंतु क्योंकि वह उसके स्वभाव में संगृहीत नही है इसलिये वह उसके आलंबन नही है। यह नही है कि वह विज्ञान से विप्रयुक्त हैं क्योंकि भूततथता के तुल्य वह विज्ञान से पृथक् नही है। अत. उनके अस्तित्व की प्रतिज्ञा कर हम विज्ञप्ति मात्रता के सिद्धात का विरोध नही करते।

सेंद्रियककाय

मेरा विपाक-विज्ञान अपने वीज-विशेष के वल से (१) रूपीन्द्रिय में परिणत होता है जो हम जानते है, सूक्ष्म और अतीद्रिय रूप है, (२) काय में परिणत होता है जो इद्रियों का आश्रयायतन है। किंतु अन्य सत्वो के वीज—वह सत्व जो मेरे काय को देखते है—मेरे काय में उसी समय परिणत होते हैं जब मेरे अपने वीज परिणत होते है। यह साधारण वीज (शक्ति) है।

साधारण वीज के परिपाक के वल से मेरा विपाक-विज्ञान दूसरों के इंद्रियाश्रयायतन में परिणत होता है। यदि ऐसा न होता तो मुझे दूसरों का दर्शन, दूसरों का भोग न होता । स्थिरमति और दूर जाते हैं। उनका मत है कि किसी सत्व विशेप का विपाक-विज्ञान दूसरों के इद्रियों में परिणत होता है । उनका कहना है कि यह मत युक्त है, क्योंकि असंग के मध्यात में कहा है कि विज्ञान स्व-पर-आश्रय के पंचेंद्रियो के सदृश अवभासित होता है।"

एक आश्रय का विज्ञान दूसरे के इंद्रियाश्रयायतन में इसलिये परिणत होता है कि निर्वाण-प्रविष्ट सत्व का शव अथवा अन्य भूमि में संचार करनेवाले सत्व का शव दृश्यमान रहता है। निर्वृत के विज्ञान के तिरोहित होनेपर उसके शव में परिणाम नहीं होगा। अतः यह कुछ काल तक अन्य सत्वों के विज्ञान-परिणाम के रूप में अवस्थान करता है।

हमने देखा है कि विज्ञान का परिणाम सेंद्रियक काय और भाजनलोक (असत्व रूप) मे होता है। इनका साधारणतः सर्वदा संतान होता है।

प्रश्न है कि अष्टम विज्ञान का परिणाम चित्त-चैत्त में, विप्रयुक्त में, असस्कृत में, अभाव धर्मो में क्यों नही होता और इन विविध प्रकारों को वह आलंवन क्यो नही वनाता।

विज्ञानो का परिणाम दो प्रकार का है।

सास्रव विज्ञान का सामान्यत. द्विविध परिणाम होता है :—(१) हेतु-प्रत्यय-वश परिणाम, (२) विकल्प या मनस्कार के वल से परिणाम। पहले परिणाम के धर्मो मे क्रिया और वास्तविकता होती है। दूसरे परिणाम के धर्म केवल ज्ञान के विपय है।

किंतु अष्टम विज्ञान का पहला परिणाम ही हो सकता है, दूसरा नही। अतः रूपादि धर्मो मे, जो अष्टम विज्ञान से प्रवृत्त होते है क्रिया होनी चाहिए और उनमे क्रिया होती है।

यह नही माना जा सकता कि चित्त-चैत्त इसके परिणाम है। इसका कारण यह है कि चित्त-चैत्त, जो अष्टम विज्ञान के केवल निमित्तभाग है, आलंवन का ग्रहण न करेगे और इसलिये उनमे वास्तविक क्रिया न होगी।

आक्षेप—

आप कहते ह कि चित्त चैत्त की उत्पत्ति अष्टम विज्ञान मे होती है। अत इसका चित्त-चैत्त से परिणत होना आवश्यक है।

उत्तर—

विज्ञान-सन्तति और उनके सप्रयुक्त की वास्तविक क्रिया की उत्पत्ति अष्टम विज्ञान से होती है, क्योंकि यह उसके निमित्तभाग का उपभोग करते हैं अर्थात् उन अर्थों का उपभोग करते ह जिनका इनका परिणाम होता है।

अष्टम का परिणाम असस्कृतादि में भी नही होता, क्योंकि उनका कोई कारित्र नहीं है।

हमने जो कुछ पूर्व कहा है वह सास्रव विज्ञान के लिये है।

जब अष्टम विज्ञान की अनास्रव अवस्था (बुद्धावस्था) होती है तब यह प्रधान प्रज्ञा से सप्रयुक्त होता है। यह अविकल्पक किंतु प्रसन्न होता है। अत यह असस्कृत, तथा चित्तादि के इन सब निमित्तो को अवभासित करता है, चाहे यह धर्म क्रिया वियुक्त हो। विपर्य में बुद्ध सर्वज्ञ न होगे।

किंतु जबतक अष्टम विज्ञान सास्रव है तबतक यह कामधातु और रूपधातु में केवल भाजनलोक, सेंद्रियक काय और सास्रव बीजो का आलबन के रूप में ग्रहण करता है। आरूप्यस्थ विज्ञान केवल सास्रव बीजो का ग्रहण करता है। इस धातु के देव रूप से विरक्त ह। किंतु समाधिज रूप के आलबन बनाने में विरोध नही है। अष्टम विज्ञान का आकार (दर्शन भाग, विज्ञप्ति) अतिसूक्ष्म, अणु होता है। अत वह असविदित है। अथवा अष्टम विज्ञान इसलिये असविदित है, क्योंकि उसका अध्यात्म-आलबन अति सूक्ष्म है और उसका बाह्य आलबन (भाजनलोक) अपने सनिवेश में अपरिच्छिन्न है।

किंतु सौत्रातिक और सर्वास्तिवादी प्रश्न करते हैं कि यदि अष्टम विज्ञान का आकार असविदित है अर्थात् उसका प्रति-सवेदन करना अशक्य है तो अष्टम 'विज्ञान' कैसे है? हमारा सौत्रातिको को, जो स्थविरवादियो के समान एक सूक्ष्म विज्ञान में प्रतिपन्न है, यह उत्तर है कि आप मानते ह कि निरोध समापत्ति आदि की अवस्था में एक विज्ञान विशेष होता है जिसका आकार असविदित है। अत आप मानते हैं कि अष्टम विज्ञान सदा असविदित होता है। सर्वास्तिवादियो से जो निरोध-समापत्ति आदि की अवस्था में विज्ञान के अस्तित्व का प्रतिषेध करते ह हमारा यह कहना है कि उक्त समापत्तियो की अवस्था में विज्ञान अवश्य होता है, क्योंकि जो योगी उसमें समापन्न होता है उसे सब मानते ह। आपके मत में भी सत्व सचित्त होता है।

सप्रयुक्त

यह आलय विज्ञान सदा से आश्रय-परावृत्ति पर्यंत अपनी सब अवस्थाओ में पाँच सर्वग (सर्वत्रग) चैत्तो से सप्रयुक्त होता है। यह पाच चैत्त इस प्रकार हैं —स्पर्श, मनस्कार, वेदना, सज्ञा और चेतना।

यह पाच आकार में आलय-विज्ञान से भिन्न हैं किंतु यह आलय के सहभू हैं—इनका वही आश्रय है जो आलय का है और इनका आलबन (=निमित्तभाग) तथा द्रव्य (सवित्तिभाग) आलय के आलबन और द्रव्य के सदृश हैं। अत यह आलय से सप्रयुक्त हैं।

१. स्पर्श

स्पर्श का लक्षण इस प्रकार है :—स्पर्श त्रिकसंनिपात है जो विकार-परिच्छेद है और जिसके कारण चित्त-चैत्त विषय का स्पर्श करते हैं।

इंद्रिय, विषय और विज्ञान यह तीन 'त्रिक' है। इनका समवस्थान 'त्रिक-संनिपात' है। यथा-चक्षु, नील, चक्षुर्विज्ञान, यह तीन बीजावस्था मे पहले से रहते हैं। स्पर्श भी बीजावस्था मे पहले से रहता है। अपनी उत्पत्ति के लिये स्पर्श इन तीन पर आश्रित है। इसकी उत्पत्ति होने पर इन तीनका सनिपात होता है। अतः स्पर्श को त्रिक-संनिपात कहते है।

संनिपात के पूर्व त्रिक मे चित्त-चैत्त के उत्पाद का सामर्थ्य नही होता। किंतु सनिपात के क्षण मे वह इस सामर्थ्य से समन्वागत होते है। इस परिवर्तन, इस प्राप्त सामर्थ्य को **विकार** कहते है।

स्पर्श इस विकार के सदृश होता है। अर्थात् चित्त-चैत्तों के उत्पाद के लिये इसमें उस सामर्थ के सदृश सामर्थ्य होता है जिससे त्रिक विकारावस्था मे समन्वागत होता है। अतः स्पर्श को विकार-परिच्छेद कहते है क्योंकि यह विकार का परिच्छेद[1] (सदृश, कलम) है। स्पर्श-क्षण मे त्रिक म विकार होता है। किंतु स्पर्श के उत्पाद मे इद्रिय-विकार की प्रधानता है। इसीलिये स्थिरमति स्पर्श को 'इंद्रियविकार-परिच्छेद' कहते है (पृ० २०)।

स्पर्श का स्वभाव है कि यह चित्त-चैत्त का संनिपात इस तरह करता है जिसमे विना विसरण के वह विषय का स्पर्श करते है।

स्थिरमति का व्याख्यान भिन्न है। "त्रिक का कार्यकारणभाव से समवस्थान त्रिक-संनिपात ह। जब त्रिक-सनिपात होता है तब उसी समय इद्रिय मे विकार उत्पन्न होता है। यह विकार सुख-दु.खादि वेदना के अनुकूल होता है। इस विकार के सदृश विषय का सुखादि वेदनीयाकार परिच्छेद (ज्ञान) होता है। इस परिच्छेद को स्पर्श कहते है। यह 'स्पर्श' इद्रिय का स्पर्श करता है, क्योंकि यह इद्रिय विकार के सदृश है। अथवा यो कहिए कि यह इद्रिय से स्पृष्ट होता है। इसीलिये इसे **स्पर्श** कहते है।

'स्पर्श' का कर्म मनस्कारादि अन्य चार चैत्तों का सनिश्रयत्व है। सूत्र मे कहा है कि वेदना, संज्ञा, संस्कार का प्रत्यय स्पर्श है। इसीलिये सूत्र में उक्त है कि इद्रिय-विषय द्विक के सनिपात से विज्ञान की उत्पत्ति होती है, स्पर्श की उत्पत्ति त्रिक-संनिपात से होती है और अन्य चैत्तो की उत्पत्ति इद्रिय-विषय-विज्ञान-स्पर्श-चतुष्क से होती है।

अभिधर्मसमुच्चय (स्थिरमति इसका अनुसरण करते है) की शिक्षा है कि स्पर्श वेदना का सनिश्रय है। सुखवेदनीय स्पर्श के प्रत्ययवश सुखा वेदना उत्पन्न होती है।

२. मनस्कार

मनस्कार चित्त का आभोग (आभुजन) है। इसका कर्म आलंबन में चित्त का आवर्जन

---

१. यथा, पुत्र पिता का परिच्छेद है।

४४

है। संघभद्र के अनुसार मनस्कार चित्त का आलम्बन के अभिमुख करता है। अभिधर्म-समुच्चय के अनुसार (संघभद्र के भी) मनस्कार आलम्बन में चित्त का धारण करता है। युआन च्वांग इस व्याख्या को नहीं स्वीकार करते। उनका कहना है कि पहले को स्वीकार करने से मनस्कार स्मृति हो जाता और दूसरा व्याख्यान मनस्कार और समाधि को मिला देता है।

३ वेदना

वेदना का स्वभाव विषय के आह्लादक, परितापक और इन दोनों आकारों से विविक्त स्वरूप का अनुभव करना है। वेदना का कर्म तृष्णा का उत्पाद करना है क्योंकि यह संयोग, वियोग तथा न संयोग-न वियोग की इच्छा उत्पन्न करती है। संघभद्र के अनुसार वेदना दो प्रकार की है, विषय वेदना, स्वभाव-वेदना। पहली वेदना स्वालम्बन विषय का अनुभव है, दूसरी वेदना तत्सहगत स्पर्श का अनुभव है। इसीलिये भगवान् सुखवेदनीय स्पर्श आदि का उल्लेख करते हैं। केवल द्वितीय वेदना वेदना-स्वलक्षण' है क्योंकि प्रथम सामान्य चैत्त से विशिष्ट नहीं है। सभी चैत्त विषय निमित्त का अनुभव हैं यह मत अयथार्थ है। १ वेदना सहज स्पर्श को आलंबन नहीं बनाती। २ इस आधार पर कि यह स्पर्शवश उत्पन्न होता है, हम नहीं कह सकते कि वेदना स्पर्श का अनुभव करती है क्योंकि उस अवस्था में सब निष्पद फल वेदनास्वभाव होगा। ३ यदि वेदना स्वहेतु अर्थात् स्पर्श का अनुभव करती है तो इसे 'हेतुवेदना' कहना चाहिए 'स्वभाववेदना' नहीं। ४ आप नहीं कह सकते कि जिस प्रकार राजा अपने राज्य का उपभोग करता है उसी प्रकार वेदना स्पर्शज वेदना के स्वभाव का अनुभव करती है और इसलिये इसे (वेदना) स्वभाववेदना कहते हैं। ऐसा करने से आपको अपने इस सिद्धान्त का परित्याग करना पड़ेगा कि स्वसंवेदन नहीं होता। ५ यदि आप उसे इसलिये स्वभाववेदना की संज्ञा देते हैं क्योंकि यह कभी अपने स्वभाव का परित्याग नहीं करती तो सब धर्म को स्वभाववेदना कह सकते हैं।

वस्तुतः विषय-वेदना अन्य चैत्तों से पृथक् है। क्योंकि यदि अन्य चैत्त विषय का अनुभव करते हैं तो केवल वेदना विषय का अनुभव आह्लादक, परितापक आकार में करती है।

४ संज्ञा

संज्ञा का स्वभाव 'विषयनिमित्त का उद्ग्रहण' है। विषय आलंबन है। निमित्त आलंबन का विशेष है यथा नील-पीतादि। इससे आलंबन की व्यवस्था होती है। 'उद्ग्रहण' का अर्थ निरूपण है यथा जब हम यह निरूपित करते हैं कि यह नील है, पीत नहीं है। संज्ञा का कर्म (जब यह मानसी है) नाना अभिधान और प्रज्ञप्ति का उत्पाद है। जब विषय के निमित्त व्यवस्थित होते हैं—यथा, यह नील है, नील से अन्य नहीं है—तभी इन निमित्तों के अनुरूप अभिधान का उत्पाद हो सकता है।

५ चेतना

चेतना का स्वभाव चित्त का अभिसंस्कार करना है। इसका कर्म चित्त का कुशलादि में नियोजन है। अर्थात् चेतना कुशलादि संबंध में विषय का ग्रहण करती है, विषय के इस निमित्त का ग्रहण कर वह कर्म करती है। वह चित्त का इस प्रकार नियोजन करती है कि चित्त कुशल अकुशल, अव्याकृत का उत्पाद करता है।

आलय विज्ञान की वेदना—

यह आलय विज्ञान स्पष्ट वेदनाओं का न प्रभव है, न आलंबन। वसुबंधु कहते हैं: उपेक्षा वेदना तत्र। यहाँ की वेदना उपेक्षा है। आलय उपेक्षा-वेदना से संप्रयुक्त है। आलय विज्ञान और अन्य दो वेदनाओं मे अनुकूलता नही है। इस विज्ञान का आकार (=दर्शनभाग) अपटुतम है और इसलिये उपेक्षा-वेदना से इसकी अनुकूलता है। यह विज्ञान विषय के अनुकूल-प्रतिकूल निमित्तो का परिच्छेद नही करता। यह सूक्ष्म है और अन्य वेदनाए औदारिक है। यह एकजातीय, अविकारी है और अन्य वेदनाएं विकारशील हैं। यह अविच्छिन्न सतान है और अन्य वेदनाओ का विच्छेद होता है।

आलय विज्ञान से संप्रयुक्त वेदना **विपाक**, है क्योंकि यह प्रत्यय का आश्रय न लेकर केवल आक्षेपक कर्म से अभिनिर्वृत्त होती है। यह वेदना कुशलाकुशल कर्म के बल से स्वरसवाहिनी है। अतः यह केवल उपेक्षा हो सकती है। अन्य वेदनाएँ **विपाक** नही हैं, किंतु विपाकज है क्योकि वह प्रत्यय पर, अनुकूल-प्रतिकूल विषयपर, आश्रित हैं।

आलय की यह वेदना आत्म-प्रत्यय का प्रभव है। यदि सत्व अपने आलय को स्वकीय अभ्यंतर आत्मा अवधारित करते है तो इसका कारण यह है कि आलय विज्ञान सदाकालीन और सभाग है। यदि यह सुखा और दुखा वेदनाओं से सप्रयुक्त होता तो यह असभाग होता और इसमे आत्मसज्ञा का उदय न होता।

यदि आलय उपेक्षा से संप्रयुक्त है तो यह अकुशल कर्म का विपाक कैसे हो सकता है? आप स्वीकार करते है कि शुभ कर्म उपेक्षा-वेदना का उत्पाद करते हैं (कोश,४।पृ० १०९)। इसी प्रकार अकुशल कर्म को समझना चाहिए। वस्तुत. यथा अव्याकृत कुशल-अकुशल के विरुद्ध नही है (कुशल-अकुशल कर्म अव्याकृत धर्म का उत्पाद करते हैं), उसी प्रकार उपेक्षा-वेदना सुख-दुख के विरुद्ध नही है।

आलय-विज्ञान **विनियत चैत्तों** से संप्रयुक्त नही है। वस्तुतः 'छंद' अभिप्रेत वस्तु की अभिलाषा है। आलय कर्मबल से स्वरसेन प्रवर्तित होता है और अभिलाष से अपरिचित है। 'अधिमोक्ष' निश्चित वस्तु का अवधारण है। आलय विज्ञान अपटु है और अवधारण से वियुक्त है। 'स्मृति' संस्कृत वस्तु का अभिस्मरण है। आलय दुर्वल है और अभिस्मरण से रहित है। 'समाधि' चित्त का एक अर्थ में आसंग है। आलय का स्वरसेन प्रवर्तन होता है और यह प्रतिक्षण नवीन विषय का ग्रहण करता है। 'प्रज्ञा' वस्तु के गुण आदि का प्रविचय है। आलय सूक्ष्म, अस्पष्ट और प्रविचय मे असमर्थ है। विपाक होने से आलय कुशल या क्लिष्ट चैत्तों से संप्रयुक्त नही होता। कौकृत्यादि चार अनियत (या अव्याकृत) धर्म विच्छिन्न है। यह विपाक नही है।

आलय और उसके चैत्तों का प्रकार—

वसुबन्धु कहते है कि आलय-विज्ञान अनिवृत-अव्याकृत है।

धर्म तीन प्रकार के है—कुशल, अकुशल, अव्याकृत। अव्याकृत दो प्रकार का है—निवृत,

अनिवृत। जो सतानुमिक आगन्तुक उपक्लेश से आवृत है वह निवृत है। इसका विपर्यय अनिवृत है। अनिवृत के चार प्रकार हैं, जिनमें एक विपाक है। (भाग २। पृ० ३१५)

आलय-विज्ञान एकान्तेन अनिवृताव्याकृत है और इसका प्रकार विपाक है। यदि यह कुशल होता तो प्रवृत्ति (समुदय दुःख) असंभव होती। यदि यह क्लिष्ट अर्थात् अकुशल या निवृताव्याकृत होता तो निवृत्ति (निरोध-मार्ग) असंभव होती। कुशल या क्लिष्ट होने से यह वासित न हो सकता। अतः आलय अनिवृताव्याकृत है। इसी प्रकार आलय से संप्रयुक्त स्पर्शादि अनिवृताव्याकृत है। विपाक से संप्रयुक्त स्पर्शादि भी विपाक है। उनके आकार और आलंबन भी आलय के समान अपरिच्छिन्न है। अन्य चार आर आलय विज्ञान से यह नित्य अनुगत है।

प्रतीत्य समुत्पाद—

क्या यह आलय-विज्ञान एक और अभिन्न आसंसार रहता है? अथवा संतान में इसका प्रवर्तन होता है? क्षणिक होने से यह एक और अभिन्न नहीं है। यह आलय-विज्ञान प्रवाहवत् स्रोत में वर्तमान होता है। वसुबन्धु कहते हैं 'तच्च वर्तते स्रोतसौघवत्'। अतः यह न शाश्वत है, न उच्छिन्न। अनादिकाल से यह संतान विना उच्छेद के अभ्युपगत प्रवाहित होता है। यह संतान बीजों को धारण करता है और उनको सुरक्षित रखता है। यह प्रतिक्षण उत्पन्न और निरुद्ध होता है। यह पूर्व से अपर में प्रवर्तित होता है। इसका हेतु-फलभाव है। यह उत्पाद और निरोध है। अतः यह आत्मवत् एक नहीं है, प्रधानवत् (सांख्य) शाश्वत नहीं है। 'तच्च वर्तते' इससे शाश्वत सत्ता व्यावृत्त होती है। 'स्रोत' शब्द से उच्छेद सत्ता व्यावृत्त होती है।

आलय विज्ञान के संबंध में युआन च्वांग जो कुछ यहाँ कहते हैं, वह प्रतीत्य समुत्पाद को भी लागू होता है। प्रतीत्य समुत्पाद हेतु-फल भाव की धर्मता है। यह स्रोत के ओघ के तुल्य शाश्वतत्व और उच्छेद से अपरिचित है। आलय-विज्ञान के लिये भी यही दृष्टान्त है। यथा स्रोत का प्रवाह विना शाश्वतत्व या उच्छेद के संतान रूप में सदा प्रवाहित होता है और अपने साथ तृण-काष्ठ-गोमयादि को ले जाता है उसी प्रकार आलय विज्ञान भी सदा उत्पन्न और निरुद्ध हो संतान के रूप में न शाश्वत, न उच्छिन्न हो, क्लेश-कर्म का आवाहन कर सत्व को सुगति या दुर्गति में ले जाता है और उसका संसार से निःसरण नहीं होने देता। और जिस प्रकार एक नदी वायु से विताडित हो तरंगों को उत्पन्न करती है किंतु उसका प्रवाह उच्छिन्न नहीं होता उसी प्रकार आलय विज्ञान हेतु प्रत्ययवश प्रत्युत्पन्न विज्ञान का उत्पाद करता है, किंतु उसके प्रवाह का विच्छेद नहीं होता। और जिस प्रकार जल के तल पर पत्ते और भीतर मछलियाँ होती हैं और नदी का प्रवाह प्रवर्तित रहता है उसी प्रकार आलय-विज्ञान आभ्यंतर बीज और बाह्य चैत्त के सहित सदा प्रवाहित होता है। यह दृष्टान्त प्रदर्शित करता है कि आलय-विज्ञान हेतु-फल-भाव है जो अनादि, अशाश्वत अनुच्छिन्न है। स्रोत का यहाँ अर्थ हेतु-फल की निरंतर प्रवृत्ति है। इस विज्ञान की सदा से यह धर्मता रही है कि प्रतिक्षण फलोत्पत्ति होती है और हेतु का विनाश होता है। कोई विच्छेद नहीं है, क्योंकि फल की उत्पत्ति होती है। कोई शाश्वतत्व नहीं है, क्योंकि हेतु का विनाश होता है। अशाश्वतत्व, अनुच्छेद प्रतीत्य समुत्पाद का नय है। इसीलिये वसुबंधु कहते हैं कि आलय विज्ञान स्रोत के रूप में अभ्युपगत प्रवर्तित होता है।

मध्यमक (१,१) में प्रतीत्य समुत्पाद का यह लक्षण दिया है :—अनिरोधं अनुत्पादं अनुच्छेदं अशाश्वतम्। नागार्जुन ने प्रतीत्य समुत्पाद को शून्यता का समानार्थक माना है और उनके अनुसार यह प्रकारांतर से निर्वाण का दूसरा मुख (आवर्स) है। युआन च्वांग का लक्षण इस प्रकार होगा : सोत्पाद सनिरोधम् अनच्छेदम्. . . । वह प्रतीत्य समुत्पाद को सस्वभाव मानते हैं क्योंकि वह आलय विज्ञान का स्वभाव बताया गया है। आलय समुत्पाद का स्वभाव अनादिकालिक प्रतीत्य समुत्पाद अर्थात् हेतु-फल की निरतर प्रवृत्ति है।

जो दृष्टात हम नीचे देते है उससे बढकर कौन दृष्टात होगा जो आलय के विविध आकारो को प्रदर्शित करे? यह दृष्टात लकावतार से उद्धृत किया गया है। युआन च्वाग पृ० १७५ मे इसका उल्लेख करते हैं—यथा समुद्र पवन-प्रत्यय से अभ्याहत हो तरग उत्पादित करता है किंतु शक्तियों का (जो तरग को उत्पन्न करती हैं) प्रवर्तन होता रहता है और विच्छेद नही होता उसी प्रकार विषय-पवन से ईरित हो आलयौघ नित्य विचित्र तरग-विज्ञान (प्रवृत्ति-विज्ञान) उत्पन्न करता है और शक्ति (जो विज्ञान का उत्पाद करती है) प्रवर्तित रहती है। इस दृष्टात मे प्रवृत्ति विज्ञानो की तुलना तरंगो से दी गयी हैं, जो सार्वलौकिक विज्ञानरूपी नित्य स्रोत के तल पर उदित होते हैं।

यह विचार करने की वात है कि यदि इस दृष्टि से देखा जाय तो विज्ञानवाद विज्ञानवाद न ठहरेगा किंतु अद्वयवाद हो जायगा। अन्यत्र (पृ० १९७–१९८) युआन च्वांग कहते हैं कि उनका आलय-विज्ञान एक जातीय और सर्वगत सदाकालीन सतान है। सक्षेप मे यह एक प्रकार का ब्रह्म है।

एक कठिन प्रश्न यह है कि आलय की व्यावृत्ति होती है या नही। निर्वाण के लाभ के लिये, सर्व धर्म का सुखनिरोध करने के लिये, इस अव्युच्छिन्न प्रवाह को व्यावृत्त करना होता है। प्रश्न यह है कि आलय विज्ञान की व्यावृत्ति अर्हत्व मे होती है या केवल महाबोधिसत्व मे होती है।

वसुबंधु 'अर्हत्व' शब्द का प्रयोग कहते हैं (त्रिंशिका, ५)। स्थिरमति के अनुसार क्षयज्ञान और अनुत्पाद ज्ञान के लाभ से अर्हत्व होता है और उस अवस्था मे आलयाश्रित दौष्ठुल्य का निरवशेष प्रहाण होता है। इससे आलय-विज्ञान व्यावृत्त होता है। यही अर्हत् की अवस्था है। प्रथम आचार्यो के अनुसार 'अर्हत्' से तीन यानो के उन आर्यो से आशय है जिन्होने अशैक्ष फलका लाभ किया है। यह आचार्य प्रमाण मे योगशास्त्र के इस वाक्य को उद्धृत करते है : "अर्हत्, प्रत्येक बुद्ध और तथागत आलय-विज्ञान से और समन्वागत नही होते।" यहाँ युआन च्वांग कहते हैं कि योगशास्त्र मे इसी स्थल मे यह भी कहा है कि अवैवर्तिक बोधिसत्व मे भी आलय नही होता।

धर्मपाल के अनुसार अचला भूमि से बोधिसत्व की 'अवैवर्तिक' संज्ञा हो जाती है। इस भूमि से उनमे आलय-विज्ञान नही होता और वह भी वसुबन्धु के 'अर्हत्' में परिगणित होते है। इसमें सन्देह नही कि इन बोधिसत्वो ने विपाक-विज्ञान के क्लेश-बीजों का अभी सर्वथा प्रहाण नही किया है। किन्तु इनका समुदाचरित चित्त-सन्तान सर्व विशुद्ध है और इसलिये आत्म दृष्टि आदि मनस् के क्लेश इस विपाक-विज्ञान में आत्मवत् आलीन नही होते। अतः इन बोधिसत्वों की गणना अर्हत् मे की गयी है।

नंद के अनुसार प्रथम भूमि से ही बोधिसत्व अवैवर्तिक होता है। प्रथम आचार्य और धर्मपाल इससे सहमत नही है।

जो कुछ हो, बोधिसत्व की ऊर्ध्व भूमियों में सब क्लेश-बीज का प्रहाण होता है। विज्ञान-संतान के अनास्रव होने से मनस् का इस विज्ञान में आत्मवत् आग्रह अभिनिवेश नहीं होता। अतः बोधिसत्व का विज्ञान आलय नाम की सत्ता को खो देता है।

युआन च्वांग कहते हैं कि हम नहीं मानते कि आलय विज्ञान की व्यावृत्ति से सर्वप्रकार के अष्टम विज्ञान का प्रहाण होता है।

वस्तुतः सब सत्वों में अष्टम विज्ञान होता है। किन्तु भिन्न दृष्टियों के कारण इस अष्टम के भिन्न नाम होते हैं। इसे चित्त ('चि' धातु से) कहते हैं, क्योंकि यह विविध धर्मों से भावित, वासना से आचित होता है। यह आदान-विज्ञान है। क्योंकि यह बीज तथा रूपीन्द्रियों का आदान करता है और उनका नाश नहीं होने देता। यह ज्ञेयाश्रय है क्योंकि अष्टम विज्ञान क्लिष्ट और अनास्रव, सब धर्मों का जो ज्ञेय के विषय हैं, आश्रय देता है। यह बीज-विज्ञान है क्योंकि यह सब लौकिक और लोकोत्तर बीजों का वहन करता है। यह नाम तथा अन्य नाम (मूल, भवाग, समारकोटिनिष्ठस्कन्ध) अष्टम-विज्ञान की सब अवस्थाओं के अनुकूल हैं। किन्तु इसे आलय, विपाक विज्ञान विमल विज्ञान भी कहते हैं। इसे आलय इसलिये कहते हैं कि इसमें सब सांक्लेशिक धर्म संगृहीत हैं, और उनको वह निरुद्ध होने से रोकता है, क्योंकि आत्मदृष्टि आदि आत्मवत इसमें आलीन हैं। केवल पृथग्जन और शैक्ष के अष्टम विज्ञान के लिये आलय-संज्ञा उपयुक्त है, क्योंकि अर्हत और अवैवर्तिक बोधिसत्व में सांक्लेशिक धर्म नहीं होते। अष्टम विज्ञान विपाक विज्ञान है क्योंकि संसार के आक्षेपक शुभ-अशुभ कर्मों के विपाक का यह फल है। यह संज्ञा पृथग्जन, यानद्वय के आर्य तथा सब बोधिसत्वों के लिये उपयुक्त है, क्योंकि इन सब सत्वों में विपाकभूत अव्याकृत धर्म होते हैं। किंतु तथागतभूमि में इस संज्ञा का प्रयोग नहीं होता। अष्टम-विज्ञान विमल विज्ञान है, क्योंकि यह अति विशुद्ध और अनास्रव धर्मों का आश्रय है। यह नाम केवल तथागत-भूमि के लिये उपयुक्त है।

वसुबंधु केवल आलय की व्यावृत्ति का उल्लेख करते हैं, क्योंकि सक्लेशालय के दोष गुरु होते हैं, क्योंकि दो सास्रव अवस्थाओं में से यह पहली अवस्था है जिसका आर्य प्रहाण करता है। अष्टम विज्ञान की दो अवस्थाओं में विशेष करना चाहिए। एक सास्रव अवस्था है, दूसरी अनास्रव। सास्रव को आलय या विपाक कहते हैं। इसका व्याख्यान ऊपर हो चुका है। अनास्रव एकांत कुशल है। यह ५ सर्वग, ५ प्रतिनियत विषय और ११ कुशलचैत्त से संप्रयुक्त होता है। यह अकुशल और अनियत चैत्तों से संप्रयुक्त नहीं होता। यह सदा उपेक्षा वेदना से सहगत होता है। सब धर्म इसका विषय हैं, क्योंकि आदर्शज्ञान सब धर्म को आलंबन बनाता है।

आलय-विज्ञान के प्रवर्तन की व्यावृत्त कर अर्थात् हेतु-फल-भाव और धर्मों के नित्य प्रवाह को व्यावृत्त कर बोधिसत्व हेतु प्रत्यय और धर्मों की क्रूरता से अपने को स्वतंत्र करते हैं और यह केवल विमल विज्ञान से होता है।

अष्टम विज्ञान के पक्ष में आगम का प्रमाण और युक्ति—

हीनयान में केवल सात विज्ञान माने गए हैं किंतु हम दोनों यानों के आगम से तथा युक्ति से अष्टम विज्ञान को सिद्ध करते हैं।

महायान—

महायान के शास्त्रों में आलय की वड़ी महिमा है। महायानाभिधर्म सूत्र में कहा है कि आलय-विज्ञान सूक्ष्म-स्वभाव है और इसकी क्रिया से ही इसकी अभिव्यक्ति होती है। यह अनादिकालिक है, सब धर्मों का समाश्रय है। वीज-विज्ञान होने से यह हेतु (धातु) है। शक्तियों का अविच्छिन्न संतान होने से वह सब धर्मों का उत्पाद करता है। समाश्रय होने से यह आदान-विज्ञान है, क्योंकि यह वीजों का आदान करता है और प्रत्युत्पन्न धर्मों का आश्रय है। इस विज्ञान के होनेपर प्रवृत्ति और निवृत्ति दोनों होती है। इस विज्ञान के कारण ही प्रवृत्तिभागीय धर्मों का आदान होता है और इसीके कारण निर्वाण का अधिगम भी होता है। वस्तुतः यही विज्ञान निवृत्ति के अनुकूल धर्मों का, निर्वाण के वीजों का, आदान करता है। संधिनिर्मोचन में कहा है कि आदान-विज्ञान गंभीर और सूक्ष्म है। वह सब वीजो को धारण करता है और ओघ के समान प्रवर्तित होता है। इस भय से कि कहीं मूढ़ पुरुष इसमें आत्मा की कल्पना न करें, मैंने मूढ पुरुषो के प्रति इसे प्रकाशित नही किया है। लंकावतार में भी आलयं को 'ओघ' कहा है, जिसका विच्छेद नही है और जो सदा प्रवर्तित होता है।

अन्य निकायों के सूत्रों में भी छिपे तौर से आलयविज्ञान को स्वीकार किया है। महासांघिक निकाय के आगम में इसे मूलविज्ञान कहते हैं। चक्षुर्विज्ञानादि को मूल की संज्ञा नहीं दी जा सकती। आलयविज्ञान ही इन अन्य विज्ञानों का मूल है। स्थविर और विभज्यवादी इसे 'भवांग-विज्ञान' कहते हैं। 'भव' 'धातुत्रय' है; 'अंग' का अर्थ 'हेतु' है। अतः यह विज्ञान धातुत्रय का हेतु है। एक आलयविज्ञान ही जो सर्वगत और अव्युच्छिन्न है, यह विज्ञान हो सकता है। 'बुद्धघोस' के अनुसार यह भवांग ही अंगुत्तर, १, १० का 'प्रभास्वर चित्त' है। (अत्थसालिनी, १४०)। महीशासक आलय को 'संसारकोटिनिष्ठस्कन्ध' (कोश, ६।१२) कहते है। यह वह स्कंधधर्म है जो संसार के अपरांत तक अवस्थान करता है। (व्युत्पत्ति मे अपरांतकोटिनिष्ठ है) वस्तुतः आलय-विज्ञान का अवस्थान वज्रोपम पर्यंत है। रूप का उपरम आरूप्य में होता है। आलय-विज्ञान के व्यतिरिक्त अन्य सर्व विज्ञान का उपरम असंज्ञिदेवा में तथा अन्यत्र होता है। विप्रयुक्त संस्कार रूप तथा चित्त-चैत से पृथक् नही है। अतः जिस स्कन्ध का उल्लेख महीशासक करते हैं वह आलय विज्ञान के अतिरिक्त कुछ और नहीं हो सकता।

सर्वास्तिवादियों के एकोत्तरागम मे भी 'आलय' का उल्लेख है। इस सूत्र में कहा है कि सत्व आलय में रत होते है। उसमें उनको संमोद होता है (अंगुत्तर, २।१३ आलयारामा भिक्खवे पजा आलयरता आलयस(मु)मुदिता)। इस वचन से स्पष्ट है कि आलय राग का आलंवन है। इसमें सत्वों का तवतक आसंग होता है जवतक वज्रोपम समाधि द्वारा आलय का विच्छेद नही होता। इसे वह अपनी आध्यात्मिक आत्मा अवधारित करते हैं।

कामवीतराग योगी और आर्य में भी आत्मस्नेह होता है, यद्यपि वह पंच कामगुणों से विरक्त होते हैं। पृथग्जन और शैक्ष दोनो का अभिष्वंग आलय-विज्ञान में होता है, चाहे अन्य उपादानस्कंधों में उनकी रति हो या न हो। इसलिये एकोत्तरागम को आलय शब्द से 'आलय-विज्ञान' इष्ट है।

आलय विज्ञान की सिद्धि में युक्ति

१ बीजधारक चित्त --

आलय का सिद्ध करने में युक्ति यह है कि यह चित्त बीजा का धारक है। यदि यह न हो तो कोई अन्य चित्त नहीं है जो साक्लेशिक और व्यावदानिक धर्मों के बीजो का धारण करे। सौत्रान्तिक (मत) कहते है कि स्कध वासित होते है और बीजो को धारण करते है। दार्ष्टान्तिकों के अनुसार पूर्व क्षण अपर क्षण को वासित करता है। अन्य सौत्रान्तिक कहते है कि विज्ञानजाति वासित होती है। युआन च्वाग कहते है कि यह तीनो मत अयुक्त है। पच-स्कध बीजों को धारण नहीं करते। प्रवृत्ति विज्ञानो का विच्छेद निरोधसमापत्ति में तथा अन्य चार असज्ञिक अवस्थाओ (निद्रा, मूर्छा, असज्ञिसमापत्ति, असज्ञिदेव) में होता है। अत यह निरतर बीजो को धारण नहीं कर सकते। विज्ञानो की उत्पत्ति इद्रिय-अर्थ-मनस्कार से होती है और यह कुशल-अकुशल-अव्याकृत इन विजातीय स्वभावों के होते है। अत यह एक दूसरे को वासित नहीं कर सकते।

अत यह स्पष्ट है कि सूत्र का इन प्रवृत्ति विज्ञानो से आशय नहीं है, क्योंकि यह बीजोका आदान नहीं करते। यह इस अर्थ में चित्त नहीं है कि यह धर्मों के बीजो का सचय करते है। इसके विपरीत आलय विज्ञान, जो सदा अव्युच्छिन्न रहता है, एक जातीय है और तिलपुष्पवत् है, वासित होता है। एक सर्व-बीजक चित्त के अभाव में क्लिष्ट और अनास्रव चित्त, जो प्रवृत्तिधर्म है, बीजो का उत्पाद नहीं करेंगे और पूर्व बीजोकी वृद्धि न करेंगे। अत उनका कोई सामर्थ्य न होगा। पुन यदि प्रवृत्तिधर्मो की उत्पत्ति बीजो से नहीं होती तो फिर उनकी उत्पत्ति कैसे होगी? क्या आप उनको स्वयभू मानते है? रूप और विप्रयुक्त भी सर्वबीजक नहीं है। यह चित्तस्वभाव नहीं है। यह बीजो का आदान कैसे करेंगे? चैत्त उच्छिन्न होते है। इनकी विकल्पोत्पत्ति है। यह स्वतत्र नहीं है। यह चित्तस्वभाव नहीं है। अत यह बीजो का धारण नहीं करते। इसलिये हमको प्रवृत्ति विज्ञान से भिन्न एक चित्त मानना होगा जो सर्वबीजक है।

एक सौत्रान्तिक मानते है कि छ प्रवृत्ति-विज्ञानो का सदा उत्तरोत्तर उदय-व्यय होता है और यह इद्रिय-अर्थादि का सनिश्रय लेते है। प्रवृत्ति विज्ञान के क्षणो को द्रव्यत्व में अयथात्व होता है किंतु यह सब क्षण समान रूप से विज्ञप्ति है। विज्ञान-जाति का अयथात्व नहीं होता। यह अवस्थान करती है। यह वासित होती है। यह जाति सर्वबीजक है। अत इनके मत में साक्लेशिक और व्यावदानिक धर्मों के हेतु-फल भाव का निरूपण करने के लिये अष्टम विज्ञान की कल्पना अनावश्यक है।

इस मत का खडन करने के लिये युआन च्वाग चार युक्तिया देते है —

१ यदि आपकी विज्ञानजाति एक द्रव्य है तो आप वैशेषिको के समान 'सामान्य-विशेष' को द्रव्य मानते है। यदि यह प्रज्ञप्तिसत् है तो जाति बीजो की धारक नहीं हो सकती, क्योंकि प्रज्ञप्तिसत होने से यह सामर्थ्य-विशेष से रहित है।

२ आपकी विज्ञानजाति कुशल है या अकुशल? क्योंकि यह अव्याकृत नहीं है इसलिये यह वासित नहीं हो सकती। क्या यह अव्याकृत है? किंतु यदि चित्त कुशल या अकुशल है तो कोई अव्याकृत चित्त नहीं है। आपकी विज्ञानजाति यदि अव्याकृत और स्थिर है तो यह व्युच्छिन्न होगी। वस्तुत यदि द्रव्य कुशल-अकुशल है तो जाति अव्याकृत नहीं हो सकती। महासत्ता के विपक्ष में विशेष सत्ता का वही स्वभाव होगा जो द्रव्यों का है।

३ आपकी विज्ञान-जाति संज्ञाहीन अवस्थाओं में तिरोहित होती है। यह स्थिर नहीं है। इसका नैरंतर्य नहीं है। अत यह वासित नहीं हो सकती और सबीजक नहीं है।

४. अंतत. जब अर्हत् और पृथग्जन के चित्त की एक ही विज्ञान-जाति है तो क्लिष्ट और अनास्रव धर्म एक दूसरे को वासित करेंगे। क्या आप इस निरर्थक वाद को स्वीकार करते हैं? इसी प्रकार विविध इंद्रियों की एक ही जाति होने से वह एक दूसरे को वासित करेंगी। किंतु इसका आप प्रतिषेध करते हैं। अत. आप यह नहीं कह सकते कि विज्ञान-जाति वासित होती है। दार्ष्टांतिक कहता है कि चाहे हम द्रव्य का विचार करें या जाति का, प्रवृत्ति विज्ञानों के दो समनंतर क्षण सहभू नहीं हैं। अत. यह वासित नहीं हो सकते, क्योंकि वासित करनेवाले और वासित होनेवाले को सहभू होना होगा।

सौत्रांतिक मतों की परीक्षा समाप्त होती है। अब हम अन्य निकायों की परीक्षा करेंगे।

महासांघिक—

महासांघिक विज्ञान-जाति को विचार-कोटि में नहीं लेते। यह मानते हैं कि प्रवृत्ति-विज्ञान सहभू हो सकते हैं। किंतु यह वासना के वाद को नहीं मानते। अतः प्रवृत्ति-विज्ञान सबीजक नहीं हैं।

स्थविर—

यह बीज-द्रव्य के अस्तित्व को स्वीकार नहीं करते। इनके अनुसार रूप या चित्त का पूर्व-क्षण स्वजाति के अनुसार उत्तर क्षण का बीज होता है। इस प्रकार हेतु-फल-परंपरा व्यवस्थापित होती है। यह वाद अयुक्त है क्योंकि—

१. यहाँ वासना का कोई कृत्य नहीं है। पूर्व क्षण वासित नहीं करता अर्थात् बीज की उत्पत्ति नहीं करता। यह उत्तर क्षण का बीज कैसे होगा, क्योंकि यह उसका सहभू नहीं है?

२. एकबार व्युच्छिन्न होनेपर रूप या चित्त की पुनरुत्पत्ति न हो सकेगी। (जब ऊर्ध्व धातु में उपपत्ति होती है तब रूप-संतान व्युच्छिन्न होता है।)

३. दो यानों के अशैक्षों का कोई अंत्य स्कंध न होगा। उनके स्कंधों का संतान निर्वाण में निरुद्ध न होगा क्योंकि मरणासन्न अशैक्ष के रूप और चित्त अनागत रूप और चित्त के बीज हैं।

४. यदि दूसरे आक्षेप के उत्तर में स्थविर कहते हैं कि रूप और चित्त एक दूसरे के बीज हैं, (जिससे ऊर्ध्व धातु के भव के पश्चात् रूप की पुनरुत्पत्ति होती है) तो हम कहेंगे कि न रूप और न प्रवृत्ति-विज्ञान वासित हो सकते हैं।

सर्वास्तिवादिन्—

त्रैयध्विक धर्मों का अस्तित्व है। हेतु से फल की उत्पत्ति है, जो पर्याय से हेतु है। फिर क्यों

अवस्था में उनका समुदाचार नहीं होता। क्योंकि यदि प्रतिसंधि-चित्त और मरण-चित्त, जैसा कि आपका कहना है, प्रवृत्ति-विज्ञान है, तो उनकी विज्ञप्ति-क्रिया और उनका आलंबन संविदित होना चाहिए।

इसके विरुद्ध अष्टम विज्ञान अति सूक्ष्म और असंविदित होता है। यह आक्षेपक कर्म का फल है। अतः यह वस्तुतः विपाक है। एक नियतकाल के लिये यह एक अव्युच्छिन्न और एकजातीय संतान है। इसीको प्रतिसंधि-चित्त और मरण-चित्त कहते हैं। इसीके कारण इन दो क्षणो में सत्व अचित्तक नहीं होता और विक्षिप्त चित्त होता है।

२ स्थविरों के अनुसार इन दो क्षणो मे एक सूक्ष्म मनोविज्ञान होता है जिसकी विज्ञप्ति-क्रिया और आलंबन असंविदित है।

यह सूक्ष्म विज्ञान अष्टम विज्ञान ही हो सकता है, क्योंकि कोई परिचित मनोविज्ञान असंविदित नहीं है।

३. मरण के समीप 'शीत' स्प्रष्टव्य काय मे ईषत् ईषत् उत्पन्न होता है। यदि कोई अष्टम विज्ञान न हो जो काय को स्वीकृत करता है तो शनै. शनैः शीत का उत्पाद न हो। यह अष्टम विज्ञान काय के सब भागो को उपात्त करता है। जहाँ से यह अपना उपग्रहण छोड़ता है वहाँ शीत उत्पन्न होता है। क्योंकि जीवित, उष्म और विज्ञान असंप्रयुक्त नहीं हैं। जिस भाग मे शीतोत्पाद होता है वह सत्वाख्य नहीं रहता।

पहले पाँच विज्ञानों के विशेष आश्रय हैं। यह समस्त काय को उपगृहीत नहीं करते। शेष रहा छठा विज्ञान—मनोविज्ञान। यह काय में सदा नहीं पाया जाता। यह प्राय. व्युच्छिन्न होता है और हम नहीं देखते कि तत्र शीतोत्पाद होता है। इसका आलंबन स्थिर नहीं है।

अत अष्टम विज्ञान सिद्ध है।

७. विज्ञान और नामरूप—

सूत्र के अनुसार नामरूप-प्रत्ययवश विज्ञान होता है और विज्ञान प्रत्ययवश नामरूप होता है। यह दो धर्म नड़कलाप के सदृश अन्योन्याश्रित हैं और एकसाथ प्रवर्तित होते हैं।

प्रश्न यह है कि यह कौन-सा विज्ञान है।

इसी सूत्र मे नामरूप का व्याख्यान है: "नामन् से चार अरूपी स्कंध और रूपसे कललादि समझना चाहिए। यह द्विक नामरूप (पंचस्कंध) और विज्ञान नड़कलाप के समान अन्योन्याश्रय से अवस्थित है। यह एक दूसरे के प्रत्यय हैं, यह सहभू हैं और एक दूसरे से पृथक् नहीं होते।

क्या आपका यह कहना है कि इस नामन् से पंच विज्ञानकाय इष्ट हैं और जो विज्ञान इस नामन् (और रूप) का आश्रय है वह मनोविज्ञान है? किंतु आप भूल जाते हैं कि कललादि अवस्था में यह पाँच विज्ञान नहीं होते और इसलिये उन्हे नामन् की संज्ञा नहीं दी जा सकती।

पुनः छः प्रवृत्ति-विज्ञान का नैरंतर्य नहीं है। वह नामरूप के उपादान का सामर्थ्य नहीं रखते। यह नहीं कहा जा सकता कि वह नामरूप के प्रत्यय हैं।

अत 'विज्ञान' से सूत्र का अष्टम विज्ञान इष्ट है।

८ आहार—

भगवान् है कि सब सत्त्व आहार स्थितिक है। सूत्र वचन है कि आहार चार है — कवडीकार, स्पर्श, मन सचेतन और विज्ञान। मन सचेतन छन्दसहवर्तिनी सास्रव चेतना है जो मनाप वस्तु की अभिलाषा करती है। यह चेतना विज्ञान सम्प्रयुक्त है किन्तु इस आहार की सज्ञा तभी मिलती है जब यह मनोविज्ञान से प्रयुक्त होती है।

विज्ञानाहार का लक्षण आदान है। यह सास्रव विज्ञान है। पहले तीन आहारो से उपचित होकर यह इन्द्रियो के महाभूतो का पोषण करता है।

इसमे छठा विज्ञान सगृहीत है, किंतु यह अष्टम है जो आहार की सज्ञा प्राप्त करता है। यह एकजातीय है यह सदा सतानात्मक है।

इन चारो को 'आहार' इसलिये कहते है कि यह सत्त्वो के काय और जीवित के आधार है। कवडीकार केवल कामधातु मे होता है, अन्य तीन धातुओ मे होते है। यह तीन चौथेपर आश्रित है। चौथे के रहनेपर ही इनका अस्तित्व है।

प्रवृत्ति विज्ञानो के अतिरिक्त एक और विज्ञान विपाक विज्ञान है। यह एकजातीय (सदा अव्याकृत), निरतर, त्रैधातुक है और काय-जीवित का धारक है। भगवत् जब कहते है कि सब सत्त्व आहार स्थितिक है तब उनका अभिप्राय इस मूल विज्ञान से है।

९ निरोध समापत्ति

सूत्र के अनुसार "जो सज्ञा वेदित निरोध-समापत्ति मे विहार करता है उसके काय-वाक् चित्त सस्कार का निरोध होता है किंतु उसका आयु परिक्षीण नही होता, उष्म व्युपशात नही होता, इन्द्रिया परिभिन्न नही होती और विज्ञान काय का परित्याग नही करता।" यह विज्ञान अष्टम विज्ञान ही हो सकता है। अन्य विज्ञान के आकार औदारिक और चचल है। सूत्र को एक सूक्ष्म, अचल, एकजातीय, सर्वगत विज्ञान इष्ट है जो जीवितादि का आदान करता है।

सर्वास्तिवादिन् के अनुसार यदि सूत्र वचन है कि विज्ञान काय का परित्याग नही करता तो इसका यह कारण है कि समापत्ति से व्युत्थान होने पर विज्ञान की पुनरुत्पत्ति होती है। वह नहीं कहते कि चित्त-सस्कारों का इस समापत्ति में निरोध होता है, क्योकि चित्त या विज्ञान का उत्पाद और निरोध उसके सस्कारो के साथ होता है। या तो सस्कार काय का त्याग नही करते या विज्ञान काय का त्याग करता है।

जीवित, उष्म, इन्द्रिय का वही हाल होगा जो विज्ञान का। अत जीवितादि के समान विज्ञान काय का त्याग नही करता।

यदि वह काय का त्याग करता है तो यह और सत्वारय नही है। कोई कैसे कहेगा कि निरोध-समापत्ति मे पुद्गल निवास करता है?

यदि यह काय का त्याग करता है तो कौन इंद्रिय, जीवित, उष्म का आदान करता है? आदान के अभाव में यह धर्म निरुद्ध होंगे।

यदि यह काय का त्याग करता है तो प्रतिसंधान कैसे होगा? व्युत्थान-चित्त कहाँ से आएगा?

वस्तुतः जव विपाक-विज्ञान काय का परित्याग करता है तो इसकी पुनरुत्पत्ति पुनर्भव के लिये ही होती है।

सौत्रांतिक (दार्ष्टांतिक) मानते हैं कि निरोध-समापत्ति में चित्त नहीं होता। वह कहते हैं कि दो धर्म अन्योन्य बीजक हैं—चित्त और सेंद्रियक काय। चित्त उस काय का बीज है जो आरूप्यभव के पश्चात् प्रतिसंधि ग्रहण करता है और काय (रूप) उस चित्त का बीज है जो अचित्तक-समापत्ति के पश्चात् होता है।

यदि समापत्ति की अवस्था में बीजधारक विज्ञान नहीं है तो अबीजक व्युत्थान-चित्त की कैसे उत्पत्ति होगी? हमने यह सिद्ध किया है कि अतीत, अनागत, विप्रयुक्त वस्तुसत् नहीं है और रूप वासित नहीं होता तथा बीज का धारक नहीं होता। पुन. विज्ञान अचित्तक अवस्थाओं में रहता है, क्योंकि इन अवस्थाओं में इंद्रिय-जीवित-उष्म होते हैं, क्योंकि यह अवस्थाएँ सत्वाख्य की अवस्थाएँ हैं। अतः एक विज्ञान है जो काय का त्याग करता है।

अन्य सौत्रांतिकों का मत है कि निरोध-समापत्ति में मनोविज्ञान होता है। किंतु इस समापत्ति को **अचित्तक** कहते हैं। सौत्रांतिक उत्तर देते हैं कि यह इसलिये है, कि पंच-विज्ञान का वहाँ अभाव होता है। हमारा कथन है कि इस दृष्टि से सभी समापत्ति को 'अचित्तक' कहना चाहिए। पुनः मनोविज्ञान एक प्रवृत्ति-विज्ञान है। इसलिये इस समापत्ति में इसका अभाव होता है जैसे अन्य पाँच का होता है।

यदि इसमें मनोविज्ञान है तो तत्संप्रयुक्त चैत्त भी होना चाहिए। यदि वह है तो सूत्र-वचन क्यों है कि वहाँ चित्त-संस्कार (वेदना और संज्ञा) का निरोध होता है? इसे संज्ञा-वेदित-निरोध-समापत्ति क्यों कहते हैं?

जब सौत्रांतिक यह मानते है कि निरोध-समापत्ति में चेतना और अन्य चैत्त होते हैं तो उन्हें यह भी मानना पड़ेगा कि इसमें वेदना और संज्ञा भी होती है। किंतु यह सूत्र-वचन के विरुद्ध है। अतः इस समापत्ति में चैत्त नहीं होते।

एक सौत्रांतिक (भदंत वसुमित्र) कहते हैं कि समापत्ति में एक सूक्ष्म चित्त होता है किंतु चैत्त नहीं होते।

यदि चैत्त नहीं हैं तो चित्त भी नहीं है। यह नियम है कि धर्म नहीं होता जब उसके संस्कारों का अभाव होता है।

यह सौत्रांतिक मानते हैं कि निरोध-समापत्ति में चैत्तों से असहगत मनोविज्ञान होता है। इसके विरोध में हम यह सूत्र उद्धृत करते है: "मनस् और धर्मों के प्रत्ययवश मनोविज्ञान उत्पन्न होता है। त्रिक का संनिपात स्पर्श है। स्पर्श के साथ ही वेदना, संज्ञा और चेतना होती है।" यदि

मनोविज्ञान है तो चित्त सनिपातवश स्पर्श भी होगा और वेदनादि जो स्पर्श के साथ उत्पन्न होती हैं, वह भी होगा। हम बस यह मानते हैं कि निरोध-समापत्ति में चैत्तों से असहगत मनोविज्ञान होता है? पुन यदि निरोध-समापत्ति चैत्तों से वियुक्त है तो उसे चैत्त-निरोध-समापत्ति कहना चाहिए।

हमारा सिद्धान्त यह है कि निरोध-समापत्ति में प्रवृत्ति विज्ञान काय का परित्याग करते हैं और जब सूत्र कहता है कि विज्ञान काय का त्याग नहीं करता तो उसका अभिप्राय अष्टम विज्ञान से है। जब योगी निरोध-समापत्ति में समापन्न होता है तब उसका आशय शान्त शिव आदान-विज्ञान को निरुद्ध करने का नहीं होता।

यही युक्तियाँ असंज्ञि-समापत्ति और असंज्ञिदेवों के लिये हैं।

१० संक्लेश-व्यवदान—

सूत्र में उक्त है कि "चित्त के संक्लेश से सत्व संक्लिष्ट होता है। चित्त के व्यवदान से सत्व विशुद्ध होता है।"

इस लक्षण का चित्त अष्टम विज्ञान ही हो सकता है।

सांक्लेशिक धर्म तीन प्रकार के हैं १ त्रैधातुक क्लेश जो दर्शन-हेय और भावना-हेय हैं, २ अकुशल, कुशल सास्रव कर्म, ३ आक्षेपक कर्म का फल, परिपूरक कर्म का फल।

(१) क्लेश बीजों के धारक अष्टम विज्ञान के अभाव में क्लेशोत्पत्ति असम्भव हो जाती है। जब (क) धातु का भूमि-सचार होता है, (ख) जब अक्लिष्ट चित्त की उत्पत्ति होती है।

(२) कर्म और फल के बीजों के धारक अष्टम विज्ञान के अभाव में कर्म और फल की उत्पत्ति अहेतुक होगी, चाहे यह धातु-भूमि-सचार के पश्चात हो या निरुद्ध स्वभाव के धर्म की उत्पत्ति के पश्चात हो।

हम जानते हैं कि रूप और अन्य धर्म सर्वबीजक नहीं हैं। हम जानते हैं कि अतीत धर्म हेतु नहीं हैं।

किंतु यदि कर्म और फल की उत्पत्ति अहेतुक है तो त्रैधातुक कर्म और फल उन योगी के के लिये क्यों न होंगे, जो निरुपधिशेष निर्वाण में प्रवेश कर गया है? और क्लेश भी हेतु के बिना उत्पन्न होंगे।

प्रवृत्ति (प्रतीत्य समुत्पाद, संस्कार) तभी संभव है जब संस्कार प्रत्ययवश विज्ञान हो। यदि अष्टम विज्ञान न हो तो यह हेतु प्रत्ययता संभव नहीं है। यदि संस्कार से उत्पन्न विज्ञान 'नामरूप' में संगृहीत विज्ञान होता तो सूत्र में यह उक्त होता कि संस्कार प्रत्ययवश नामरूप होता है।

स्थिरमति (पृ० ३७–३८) कहते हैं कि आलय विज्ञान के बिना संसार-प्रवृत्ति युक्त नहीं है। आलय विज्ञान से अन्य संस्कार-प्रत्यय विज्ञान युक्त नहीं है। संस्कार प्रत्यय-विज्ञान के अभाव में प्रवृत्ति का भी अभाव है। यदि आलय विज्ञान नहीं है तो संस्कार प्रत्यय-प्रतिसंधि विज्ञान की कल्पना या संस्कारभावित षड्विज्ञान काय की कल्पना हो सकती है। किंतु पहले विकल्प में जो संस्कार प्रति-

संधिक-विज्ञान के प्रत्यय इष्ट हैं वह चिरकाल हुआ निरुद्ध हो चुके। जो निरुद्ध है वह असत् है और जो असत् है उसका प्रत्ययत्व नहीं है। अतः यह युक्त नहीं है कि संस्कार-प्रत्यय प्रतिसंधि-विज्ञान है। पुनः प्रतिसंधि के समय नामरूप भी होता है, केवल विज्ञान नहीं होता। किंतु सूत्र में है कि संस्कार-प्रत्यय विज्ञान होता है। सूत्र-वचन में 'नामरूप' शब्द नहीं हैं। इसलिये कहना चाहिए कि संस्कार-प्रत्यय नामरूप है, विज्ञान नहीं। और विज्ञान-प्रत्यय नामरूप कहाँ मिलेगा? क्या आप कहेंगे कि उत्तरकाल का नामरूप इष्ट है? तो प्रातिसंधिक नामरूप से इसमें क्या आत्मातिशय है जो वही विज्ञान-प्रत्यय हो, पूर्व विज्ञान-प्रत्यय न हो, पूर्व संस्कार प्रत्यय हो, उत्तर न हो? अतः संस्कार-प्रत्यय नामरूप ही हो। प्रतिसंधि-विज्ञान की कल्पना से क्या लाभ? अत. संस्कार-प्रत्यय प्रतिसंधि-विज्ञान युक्त नहीं है। संस्कार-परिभावित षड्-विज्ञान भी संस्कार-प्रत्यय विज्ञान नहीं है। इसका कारण यह है कि यह विज्ञान विपाक-वासना या निठचढ वासना का अपने में आधान नहीं कर सकते, क्योंकि इनमें कारित्र का निरोध है। यह अनागत में भी नहीं कर सकते क्योंकि उस समय अनागत उत्पन्न नहीं है, और जो अनुत्पन्न है वह असत् है। उत्पन्न पूर्व भी असत् है क्योंकि उस समय वह निरुद्ध हो चुका है। पुनः निरोध-समापत्ति आदि अचित्तक अवस्थाओं में संस्कार-परिभावित चित्त की उत्पत्ति संभव नहीं है। विज्ञान-प्रत्यय नामरूप न हो, षड़ायतन न हो, एव यावत् जातिप्रत्यय जरा-मरण न हो। इससे संसार-प्रवृत्ति ही न हो। इसलिये अविद्या-प्रत्यय संस्कार, संस्कार-प्रत्यय आलय-विज्ञान और विज्ञान-प्रत्यय प्रतिसंधि में नामरूप होता है। यह नीति निर्दोष है।

३. व्यवदान—

व्यावदानिक धर्म तीन प्रकार के है—लौकिक मार्ग, लोकोत्तर मार्ग, क्लेशच्छेद का फल।

इन दो मार्गों के बीजों का धारण करनेवाले अष्टम विज्ञान के अभाव में इन दो मार्गों का पश्चात् उत्पाद असंभव है। क्या आप कहेंगे कि इनकी उत्पत्ति अहेतुक है? तो आपको मानना होगा कि निर्वाण में वही आश्रय पुनरुत्पन्न हो सकता है। यदि अष्टम विज्ञान न हो, जो सर्वदा लोकोत्तर मार्ग के धर्मता-बीज का धारण करता है, तो हम नहीं समझ सकते कि कैसे दर्शन-मार्ग के प्रथम क्षण की उत्पत्ति संभव है। वस्तुत. सास्रव धर्म (लौकिकाग्रधर्म) भिन्न स्वभाव के है और इस मार्ग के हेतु नहीं हो सकते। यह मानना कि प्रथम लोकोत्तर-मार्ग अहेतुक है, बौद्ध-धर्म का प्रत्याख्यान करना है। यदि प्रथम की उत्पत्ति नहीं होती तो अन्य भी उत्पन्न नहीं होंगे। अत. तीन यानो के मार्ग और फल का अभाव होगा।

अष्टम के अभाव में क्लेश-प्रहाण फल असंभव होगा।

स्थिरमति कहते है कि आलय-विज्ञान के न होनेपर निवृत्ति भी न होगी। कर्म और क्लेश संसार के कारण है। इनमें क्लेश प्रधान हैं। क्लेशों के आधिपत्य से कर्म पुनर्भव के आक्षेप में समर्थ होते है, अन्यथा नहीं। इस प्रकार क्लेश ही प्रवृत्ति के प्रधानत मूल है। अत इनके प्रहीण होनेपर संस्कार का विनिवर्तन होता है, अन्यथा नहीं। किंतु आलय के विना यह प्रहाण युक्त नहीं हैं। क्यों युक्त नहीं है? संमुख होनेपर क्लेश का प्रहाण हो सकता है या जब उसकी बीजावस्था होती है। यह इष्ट नहीं है कि संमुख होनेपर क्लेश का प्रहाण हो। प्रहाणमार्ग में स्थित सत्वों का क्लेश, जो बीजावस्था ही में है नहीं प्रहीण होता। क्लेश-बीज अपने प्रतिपक्ष से ही प्रहीण होता है। और प्रतिपक्ष-चित्त भी क्लेश-बीज से अनुषक्त इष्ट है। किंतु क्लेशबीजानुषक्त चित्त क्लेश का प्रतिपक्ष नहीं हो सकता और क्लेश-बीज के प्रहाण के विना संसार-निवृत्ति संभव नहीं है। अतः यह मानना

होता कि आलय-विज्ञान अवश्य है जो अन्य विज्ञानों के सहभू क्लेश तथा उपक्लेश से भावित होता है क्योंकि यह अपने बीज से पुष्टि का आदान करता है। जब वासना वृत्ति का लाभ करती है तब सन्तति के परिणाम विशेष से जिन से ही क्लेश उपक्लेश प्रवर्तित होते है। इनका बीज आलय में आश्रित है। यह न सहभू क्लेश प्रतिपक्ष-मार्ग से अपनीत होता है। इसके अपनीत होनेपर इसके अभाव से क्लेशों की पुनरुत्पत्ति नहीं होती। इस प्रकार सोपधिशेष निर्वाण का लाभ होता है तथा पूर्व कर्म से आक्षिप्त जन्म के निरुद्ध होने पर जब अन्य जन्म का प्रतिसंधान नहीं होता तब निरुपधिशेष निर्वाण होता है। इस प्रकार आलय विज्ञान के होनेपर ही प्रवृत्ति और निवृत्ति होती है अन्यथा नहीं।

इन विविध युक्तियों और आगम के वचनों के आधारपर युआन च्वाङ सिद्ध करते है कि आलय विज्ञान वस्तुसत् है। बौद्धों के धर्मता-वाद (फेनामनलिज्म) को आत्मा के सदृश किसी वस्तु के आधार की आवश्यकता थी। हम यह भी देखते है कि क्षणिक हेतुफल भाव का यह अव्यवच्छिन्न आद्य प्राचीन प्रतीत्यसमुत्पाद का समुचित रूप था।

युआन च्वाङ कहते है कि आलय-विज्ञान के अभाव में जो धर्मों के बीजों का धारण करता है हेतुफल भाव असिद्ध हो जायगा। जैसा हमने ऊपर देखा है, क्षणिक होने के कारण विज्ञान निरन्तर व्युच्छिन्न होते है और इसलिये वह स्वतः मिलने की सामर्थ्य नहीं रखते जिसमें वह सूत्र बन सकें जो धर्मों के बीजों का धारण करे और इस प्रकार नैरंतर्य व्यवस्थापित करे। धर्मों को जोड़नेवाली यह कड़ी और यह नैरंतर्य आलय विज्ञान से ही हो सकता है।

आलय विज्ञान के बिना कर्म और फल की उत्पत्ति अहेतुक होगी। वस्तुतः आलय के बिना धर्म स्वतः बीज के वहन में समर्थ नहीं है क्योंकि अतीत धर्म का अस्तित्व नहीं है और वह हेतु नहीं हो सकते। आलय के बिना हेतुप्रत्ययता असंभव है।

यह कहा जायगा कि आलय विज्ञान का सिद्धान्त बौद्धों के मूल धर्मवाद का प्रत्याख्यान है। नागार्जुन ने सर्वप्रथम इसका प्रत्याख्यान किया था। उन्होंने धर्म-नैरात्म्य, धर्मों की निःस्वभावता का वाद प्रतिष्ठापित किया था। उन्होंने धर्मता का विवेचन किया और तत्त्ववाद का निराकरण किया। उन्होंने सिद्ध किया कि धर्म शून्य है। युआन च्वाङ एक दूसरे विचार से आरंभ करते है, किंतु वह भी धर्मवाद के कुछ कम विरुद्ध नहीं है। क्षणिक धर्मों और चैत्तों का निरंतर उत्पाद एक नित्य अधिष्ठान चाहता है। किंतु बौद्ध धर्म के मूल विचार इस कल्पना के विरुद्ध है।

युआन च्वाङ आलय विज्ञान की नितान्त आवश्यकता मानते है, क्योंकि इसके बिना सत्व गति-योनि में संसरण नहीं कर सकते। विज्ञानवाद तथा उपनिषद्-वेदान्त-सांख्य-वैशेषिक के विचारों में भेद इतना ही है कि यह मानते है कि अधिष्ठान (जिसे यह आत्मा या पुरुष कहते है) नित्य और स्थिर द्रव्य है जब कि विज्ञानवादी मानते है कि यह आश्रय उन्हीं धर्मों का समुदाय है जो अनादि है और जो अनन्तकाल तक उत्पन्न होते रहेंगे। एक उसको अचल पर्वत की तरह देखता है, दूसरा जलौघ की तरह। विज्ञानवादी ने द्रव्य को अपना पुराना स्थान देना चाहा, किंतु यह सत्य है कि इस द्रव्य को उन्होंने एक जलौघ के सदृश माना। पुनः इनके अनुसार यह आश्रय स्वयं धर्म है और पूर्व धर्मों की वासनाओं से बना है।

युआन च्वाग कहते हैं कि यह आलय-विज्ञान अत्यंत सूक्ष्म है और विज्ञप्ति-क्रिया तथा आलवन मे यह असंविदित है। यह मरण के उत्तर तथा प्रतिसंधि के पूर्व रहता है। पुन: यह प्रतिसंधि-चित्त और मरण-चित्त है। यह विज्ञान का आलय जो अनियत और असविदित है, जो प्रति-संधि-काल से विद्यमान है, जो अस्वप्निका निद्रा मे ही प्रकट होता है, यदि आत्मा का रूपान्तर नहीं है तो क्या है ?

यहाँ आलय-विज्ञान के वही लक्षण हैं जो आत्मा के हैं और इसके सिद्ध करने के लिये युआन च्वाग ने जो प्रमाण दिए हैं वही प्रमाण कुछ वेदाती ब्रह्मन्-आत्मन् को सिद्ध करने के लिये देंगे। कलल में, सुषुप्ति मे, मरणासन्न पुरुष मे, नामरूप के अभाव मे, जब विज्ञान-विशेष नहीं होते, केवल यह अस्पष्ट, सर्वगत विज्ञान शेष रह जाता है। इसके बिना इन क्षणो मे स्थिति नही होती। आलय-विज्ञान की सिद्धि इससे भी होती है कि काय-जीवित को धारण करने के लिये विज्ञानाहार की आवश्यकता है। यह आलय एकजातीय, सतानात्मक और निरतर है। यह काय-जीवित का धारक है। काय के लिये यह जीवितेंद्रिय के समान है। चित्त का यह आवश्यक धारक है। यह सर्व चित्त और जीवन का आधार है। आलय-विज्ञान और धर्म अन्योन्य हेतु-प्रत्यय है और सहभू हैं।

विपाक-विज्ञान का सविभंग विवेचन समाप्त हुआ। अब हम मननाख्य द्वितीय परिणाम का विचार करेंगे।

मनस्—

यह द्वितीय परिणाम है। वसुबंधु त्रिंशिका मे कहते है.—"आलय-विज्ञान का आश्रय लेकर और उसको आलम्बन बनाकर मनस् का प्रवर्तन होता है। यह मन्यनात्मक है।" यह मनोविज्ञान से भिन्न है। यह मनोविज्ञान का आश्रय है। पुसँ कहते हैं कि प्राचीन बौद्ध धर्म मे ६ विज्ञान माने गए थे . चक्षुर्विज्ञानादि पंच विज्ञान-काय और मनोविज्ञान जो इंद्रियार्थ और अतीतादि धर्म का ग्रहण करता है। यह विज्ञान निरंतर व्युच्छिन्न होते हैं। विज्ञानवाद मे एक सातवॉ विज्ञान मनस् और एक आठवॉ आलय अधिक हैं। मनस् मनोविज्ञान से भिन्न है। मनस् अंतरिंद्रिय, अंत.करण है, क्योकि यह केवल आलय को ही आलवन बताता है। यह मनस् आलय के समान सतान मे उत्पन्न होता है। निद्रादि अचित्तिकावस्था मे इसका अवस्थान होता है। विज्ञानवाद कहता है कि यह सूक्ष्म है। यह मनस् आर्य मे अनास्रव तथा अन्य सत्वो मे सदा क्लिष्ट होता है। मनस् को प्राय. 'क्लिष्ट मनस्' कहते है। इसीके कारण पृथग्जन आर्य नही होता यद्यपि उसका मनोविज्ञान आर्य का क्यो न हो।

युआन च्वांग कहते है कि मनस् का आश्रय आलय विज्ञान है। सब चित्त-चैत्तो के तीन आश्रय है। १ हेतु-प्रत्यय आश्रय—यह प्रत्यय वीज है जिसे पूर्व धर्म छोडते है। २ . अधिपति-प्रत्यय आश्रय (इसे सहभू-आश्रय भी कहते हैं)। ३. समनतर-प्रत्यय आश्रय—यह पूर्व निरुद्ध मनस् है। मनस् में ८ विज्ञान सगृहीत है। इसे ज्ञात प्रत्यय या इंद्रिय कहते है।

हीनयान के लिये यह हेतु—प्रत्ययता पर्याप्त है। प्रत्येक पूर्व धर्म अपर धर्म को उत्पन्न कर निरुद्ध होता है। इसके विपरीत युआन च्वाग का मत है कि ऐसी हेतु-प्रत्ययता धर्मो की गति का

निर्माण करने के लिये अपर्याप्त है। युआन च्वाग यहा धर्मपाल को उद्धृत करते है जो कहते है कि बीजाश्रय में पूर्व चरित्र नहीं है। यह सिद्ध नहीं है कि बीज के विनाश के पश्चात् अकुर की उत्पत्ति होती है। और यह ज्ञात है कि अचि और दीप अन्योन्य-हेतु और सहभू हेतु है। हेतु-फल का सहभाव है। इसलिये एक अधिपति-प्रत्यय आश्रय की आवश्यकता है। सब चित्त-चैत्त इस आश्रय के कारण होते है और इसके बिना इनका प्रवर्तन नहीं होता। इसे सहभू-आश्रय या सहभू-इद्रिय भी कहते है। इसलिये मनस का आश्रय केवल बीज नहीं है किंतु आलय-विज्ञान स्वय है।

आलय विज्ञान के लिये प्रश्न है कि क्या इसको सहभू-आश्रय की आवश्यकता नहीं है और क्या यह स्वय अवस्थान करता है? अथवा क्या यह कहना चाहिए कि यह अन्य सब का आश्रय है और पर्याय से अन्य सब इसके आश्रय है और यह आश्रय उन बीजो के रूप में है जिन्हें यह दूसरे उसमें सगृहीत करते है? युआन च्वाग उत्तर में कहते है कि आलय विज्ञान, जो सब का मूलाश्रय है, स्वय अपने आश्रित मनस और तदाश्रित चित्त चैत्त (प्रवृत्ति विज्ञान) का आश्रय लेता है। दूसरे शब्दो में जहा एक ओर आलय-विज्ञान निरतर विज्ञप्तियो का प्रवर्तन करता है वहाँ यह सदा विज्ञानो के उत्क्षेप (बीज) से जो उसमें सगृहीत होते है, पुन निर्मित होता है। यह कहना आवश्यक है, क्योंकि इसके बिना युआन च्वाग का आलय विज्ञान केवल ब्रह्मन्-आत्मन् होगा।

समनतर प्रत्यय-आश्रय के अभाव में चित्त-चैत्त उत्पन्न नही होते। चैत्त प्रत्यय है, शात (=क्रम) आश्रय नहीं है। किंतु चित्त आश्रय है। अत चित्त दोनो है।

मनस् के आश्रय के सबध में हम यहा विविध मतो का उल्लेख करेंगे।

नद के अनुसार मनस् का आश्रय सभूत अष्टम-विज्ञान नही है, किंतु अष्टम विज्ञान के बीज है। यह मनस के ही बीज है जो अष्टम में पाए जाते है, क्योंकि मनस् अव्युच्छिन्न है। इसलिये हम यह नही कह सकते कि इसकी उत्पत्ति एक सभूत विज्ञान के सहभू-आश्रय से होती है।

धर्मपाल के अनुसार मनस् का आश्रय सभूत अष्टम विज्ञान और अष्टम के बीज दोनो है। यद्यपि यह अव्युच्छिन्न है तथापि यह विकारी है और इसीलिये इसे प्रवृत्ति विज्ञान कहते है। अत हमको कहना चाहिए कि सभूत अष्टम इसका सहभू-आश्रय है।

हेतु प्रत्यय-आश्रय—

नद और जिनपुत्र के अनुसार फलोत्पाद के लिये बीज का अवश्य नाश होता है। किंतु धर्मपाल कहते है कि यह सिद्ध नही है कि बीज के विनाश के पश्चात् अकुर की उत्पत्ति होती है और हम जानते है कि अचि और दीप अन्योन्य हेतु और सहभू हेतु है। वह कहते है कि बीज और सभूय धर्म अन्योन्योत्पाद करते है और सहभू है। इसीलिये योगशास्त्र (५, १०) में हेतु प्रत्यय का लक्षण इस प्रकार दिया है—अनित्य धर्म (बीज और सभूय धर्म) अन्योन्यहेतु है और पूर्व बीज अपर बीज का हेतु है।

इसी प्रकार महायान सग्रह में कहा है कि 'आलय-विज्ञान और (सभूय) क्लिष्ट धर्म एक दूसरे के हेतु प्रत्यय है, यथा नडकलाप होते है और एक साथ अवस्थान करते है। इसी ग्रथ में (३८५, ३) अन्यत्र कहा है कि बीज और फल सहभू है।

अतः बीजाश्रय में पूर्व-चरिम नहीं है । अष्टम-विज्ञान और उसके चैत्तों का आश्रय उनके बीज है।

सहभू-आश्रय या अधिपति-आश्रय

नंद का मत--५ विज्ञान (चक्षुर्विज्ञानादि) का एकमात्र सहभू-आश्रय मनोविज्ञान है, क्योंकि जब पंच-विज्ञान काय का समुदाचार होता है तब मनोविज्ञान भी अवश्य होता है। जिन्हें इंद्रिय कहते है, वह पंच-विज्ञानों के सहभू-आश्रय नहीं है, क्योंकि पंचेंद्रिय बीजमात्र है, जैसा कि विंशतिका कारिका (९) में कहा है। इस कारिका का यह अभिप्राय है कि द्वादशायतन की व्यवस्था के लिये और आत्मा मे प्रतिपन्न तीर्थिकों का खंडन करने के लिये बुद्ध पाँच विज्ञान के बीजों को इंद्रिय संज्ञा देते हैं।

सप्तम और अष्टम विज्ञान का कोई सहभू-आश्रय नहीं है क्योंकि इनका बडा सामर्थ्य है और इस कारण यह संतान में उत्पन्न होते है।

मनोविज्ञान की उत्पत्ति उसके सहभू-आश्रय मनस् से है।

स्थिरमति का मत--पाँच विज्ञानों के सदा दो सहभू-आश्रय होते हैं: पाँच रूपींद्रिय और मनोविज्ञान। मनोविज्ञान का सदा एक सहभू-आश्रय होता है और यह मनस् है। जब यह पाँच विज्ञानों का सहभू होता है तब इसका रूपींद्रिय भी आश्रय होता है। मनस् का एक ही सहभू-आश्रय है और यह अष्टम विज्ञान है। अष्टम विज्ञान विकारी नहीं है। यह स्वतः धृत होता है। अतः इसका सहभू-आश्रय नहीं है।

स्थिरमति नंद के इस मत को नहीं मानते कि रूपींद्रिय पाँच विज्ञानों के बीजमात्र है। वह कहते हैं कि यदि यह बीज है तो यह हेतु-प्रत्यय होंगे, अधिपति-प्रत्यय नहीं। पाँच विज्ञान के बीज कुशल-अकुशल होंगे। अतः पाँच इंद्रिय एकांतेन अव्याकृत न होंगी, जैसा शास्त्र कहते हैं। पाँच विज्ञान के बीज 'उपात्त' नहीं है। यदि पचेंद्रिय बीज है तो वह उपात्त न होगी। यदि पाँच इंद्रिय पाँच विज्ञानों के बीज है तो मनस् को मनोविज्ञान का बीज मानना पड़ेगा। पुनः योगशास्त्र मे चक्षु-र्विज्ञानादि के तीन आश्रय बताये है। यदि चक्षु चक्षुर्विज्ञान का बीज है तो इसके केवल दो आश्रय होगे।

धर्मपाल इन आक्षेपों को दूर करते है। वह कहते है कि इंद्रिय बीज है। किंतु यह वह बीज नहीं है जो हेतु-प्रत्यय है, जो प्रत्यक्ष पाँच विज्ञानों को जन्म देते है, किन्तु यह कर्मबीज है जो अधि पति-प्रत्यय है; जो पंचविज्ञान काय को अभिनिवृत्त करते हैं। किंतु स्थिरमति इस निरूपण से संतुष्ट नहीं हैं। वह इसका उत्तर देते है।

शुभचन्द्र का मत--शुभचन्द्र प्रायः स्थिरमति से सहमत है। किंतु वह कहते है कि अष्टम विज्ञान का एक सहभू आश्रय होना चाहिए। वह कहते है कि अष्टम विज्ञान भी अन्य विज्ञानों के सदृश एक विज्ञान है। अतः दूसरों की तरह इसका भी एक सहभू-आश्रय होना चाहिए। सप्तम और अष्टम विज्ञान की सदा सहप्रवृत्ति होती है। इसके मानने में क्या आपत्ति है कि यह एक दूसरे का आश्रय है?

...का मत है कि अष्टम विज्ञान (सभूय-विज्ञान) का सहभू आश्रय मनस् है। जब ...धातु में इसकी उत्पत्ति होती है तो चक्षु आदि रूपीन्द्रिय इसके द्वितीय आश्रय होते ...। ...आश्रय सभूय अष्टम या विपाक-विज्ञान है। जिस क्षण में वह इसमें वासित होता है तब उसका आश्रय वह विज्ञान भी होता है जो वासित करता है।

धर्मपाल का मत—पाँच विज्ञानों के चार सहभू आश्रय हैं पञ्चेन्द्रिय, मनोविज्ञान, सप्तम, अष्टम विज्ञान। इन्द्रिय पंच विज्ञान के समविषय आश्रय हैं, क्योंकि यह उन्हीं विषयों का ग्रहण करती हैं। मनोविज्ञान ...। मनोविज्ञान सविकल्प है किंतु अविकल्प विज्ञानों का आश्रय है। मनस् संक्लेश व्यवदान आश्रय है क्योंकि इनपर इनका संक्लेश अथवा व्यवदान आश्रित है। अष्टम विज्ञान मूलाश्रय है। मनोविज्ञान के दो सहभू-आश्रय हैं—सप्तम और अष्टम विज्ञान। जब पंच विज्ञान इसके आश्रय होते हैं तब यह अधिक पटु होता है, किंतु मनोविज्ञान के अस्तित्व के लिये पंच विज्ञान आवश्यक नहीं हैं। ...इसके आश्रय नहीं माने जाते। मनस् का केवल एक सहभू-आश्रय है। यह अष्टम विज्ञान है। यथा लंकावतार (१०,२६९) में कहा है—आलय का आश्रय लेकर मन का प्रवर्तन होता है। ...प्रवृत्ति विज्ञानों का प्रवर्तन चित्त (आलय) और मनस् का आश्रय लेकर होता है।

अष्टम विज्ञान का सहभू-आश्रय सप्तम विज्ञान है। योगशास्त्र में (६३,११) कहा है कि सदा आलय और मनस् एक साथ प्रवर्तित होते हैं। अन्यत्र कहा है कि आलय सदा क्लिष्ट पर आश्रित होता है। 'क्लिष्ट' से 'मनस्' इष्ट है।

यह सत्य है कि शास्त्र में उपदिष्ट है कि तीन अवस्थाओं में (अर्हत् में, निरोध-समापत्ति-काल में, लोकोत्तर-मार्ग में) मनस् का अभाव होता है। किंतु इसका यह अर्थ है कि इन तीन अवस्थाओं में क्लिष्ट मनस् का अभाव होता है, सप्तम विज्ञान का नहीं। इसी प्रकार चार अवस्थाओं में (श्रावक, प्रत्येकबुद्ध, अवैवर्तिक बोधिसत्व, तथागत) आलय की व्यावृत्ति होती है, किंतु अष्टम विज्ञान की नहीं होती।

जब अष्टम विज्ञान की उत्पत्ति काम-रूप धातु में होती है तब ५ रूपीन्द्रिय भी आश्रय रूप में गृहीत होती हैं। किंतु अष्टम विज्ञान के लिये आश्रय का यह प्रकार आवश्यक नहीं है।

आलय विज्ञान के बीज (बीज विज्ञान) विषय का ग्रहण नहीं करते। अतः बीज आश्रय नहीं हैं।

सम्प्रयुक्त-धर्म (चैत्त) का वह विज्ञान आश्रय है जिससे वह सम्प्रयुक्त है। इस विज्ञान के आश्रय भी चैत्त के आश्रय हैं।

समनंतर प्रत्यय-आश्रय और ज्ञात आश्रय

नंद का मत—पंच विज्ञान का उत्तरोत्तर क्षण संतान नहीं होता क्योंकि इनका आवाहन मनोविज्ञान से होता है। अतः मनोविज्ञान उनका एकमात्र ज्ञात-आश्रय है। ज्ञात-आश्रय मार्ग का उद्घाटन करता है और पथ-प्रदर्शक होता है। (पंच-विज्ञान के समनंतर मनोविज्ञान होता है।

चक्षुर्विज्ञान के क्षण के उत्तर चक्षुर्विज्ञान या श्रोत्र-विज्ञान का क्षण नही होता, किंतु मनोविज्ञान का क्षण होता है।)

मनोविज्ञान का संतान होता है। पुनः पंच-विज्ञान इसका आवाहन कर सकते है। अतः ६ प्रवृत्ति-विज्ञान इसके क्रांत-आश्रय हैं।

सप्तम और अष्टम विज्ञान का अपना अपना सतान होता है। अन्य विज्ञान इनका आवाहन नही करते। अतः सप्तम और अष्टम क्रप से इनके क्रात-आश्रय है।

स्थिरमति का मत—नद का मत यथार्थ है यदि हम अवशित्व की अवस्था मे, विषय से विज्ञान का सहसा सनिपात होने की अवस्था मे, एक हीन विषय से संनिपात की अवस्था मे पच-विज्ञान का विचार करे। कितु वशित्व की अवस्था का निष्यद विज्ञान का, उद्भूत-वृत्ति के विषयका हमको विचार करना है।

बुद्ध तथा अतिम तीन भूमियो के बोधिसत्व विषय वशित्व से समन्वागत होते है। इनकी इंद्रियो की क्रिया स्वग्सेन होती है। यह पर्येषणा से वियुक्त होता है। एक इद्रिय की क्रिया दूसरी इद्रिय से सपन्न हो सकती है। क्या आप कहेगे कि इन अवस्थाओ मे पच-विज्ञान का सन्तान नही होता।
विषय के सनिपात से पच-विज्ञान की उत्पत्ति होती है। कितु निष्यद विज्ञान का आवाहन व्यवसाय मनस्कार के बल से, क्लिष्ट अथवा अनास्रव मनस्कार के बल से होता है। इन पॉच का (मनोविज्ञान के साथ) विषय मे समवधान होता है। आप यह कैसे नहीं स्वीकार करते कि एक विज्ञान (पंच-विज्ञान) सतान है?
उद्भूत-वृत्ति के विषय में समुखीभाव से काय और चित्त ध्वस्त हो जाते हैं। उस समय पच-विज्ञान काय अवश्यमेव सतान मे उत्पन्न होते है।

उष्ण नरक मे (अग्नि के उद्भूत-वृत्तित्व से) तथा क्रीड़ा प्रदूषिक देवो मे ऐसा होता है। अत. पच-विज्ञान का क्रात-आश्रय छ. विज्ञानो मे से कोई भी एक विज्ञान हो सकता है। वस्तुत. या तो वह अपना ही सतान बनाते हैं या अन्य प्रकार के विज्ञान से उनका आवाहन होता है।

मनोविज्ञान—जब पच-विज्ञान की उत्पत्ति होती है तब मनोविज्ञान का एकक्षण अवश्य वर्तमान होता है। यह क्षण मनोविज्ञान के उत्तर क्षण को आकृष्ट करता है और उसका उत्पाद करता है। इस द्वितीयक्षण के यह पॉच क्रात-आश्रय नही है। अत पूर्ववर्ती मनोविज्ञान इसका क्रात-आश्रय है। अचित्तकावस्था आदि मे मनोविज्ञान व्युच्छिन्न होता है। जब पश्चात् इसकी पुन उत्पत्ति होती है तो सप्तम और अष्टम-विज्ञान इसके क्रात-आश्रय होते है।

नंद का विचार है कि अचित्तकावस्था के पश्चात् मनोविज्ञान का क्रात-आश्रय सभाग अतीत क्षण (=इस अवस्था से पूर्व का मनोविज्ञान) होता है। इस बात को नंद उन पाच विज्ञानो के लिये क्यो नही स्वीकार करते जिनकी पुनरुत्पत्ति उपच्छेद के पश्चात् होती है? यदि पंच-विज्ञान के लिये यह वाद युक्त नही है तो मनोविज्ञान के लिये भी नही है।

सप्तम और अष्टम विज्ञान—जब प्रथम बार समता-ज्ञान से संप्रयुक्त मनस् की उत्पत्ति होती है

३. **स्थिरमति का मत**—चित्रभानु का मत भी अयुक्त है। मनस् स्वयं आलय-विज्ञान और उसके बीजों को आलंबन बनाता है। यह आलय को आत्मन् और बीजो को आत्मीय अवधारित करता है। बीज भूतसद्द्रव्य नहीं है किंतु प्रवृत्ति-विज्ञान के सामर्थ्यमात्र है।

धर्मपाल का मत—स्थिरमति का व्याख्यान अयुक्त है। एक ओर रूप-बीजादि विज्ञान-स्कंध नहीं है। बीज भूतसत् है। यदि यह सावृत असत् हो तो यह हेतु-प्रत्यय न हों। दूसरी ओर मनस् सदा सहज सत्कायदृष्टि से सहगत होता है। यह एकजातीय निरतर संतान मे स्वरसेन प्रवर्तित होता है। क्या मनस् का आत्मा और आत्मीय को अलग अलग अवधारित करना संभव है? हम नहीं देखते कि कैसे एक चित्त के शाश्वत-उच्छेद आदि दो आलंबन ओर दो ग्राह हो सकते हैं। ओर मनस् के, जो सदा से एकरस प्रवर्तित होता हैं, दो उत्तरोत्तर ग्राह नही हो सकते। धर्मपाल का निश्चय है कि मनस् का आलंबन केवल दर्शनभाग है, न कि अन्य भाग, क्योंकि यह भाग सदा एक जातीय निरतर संतान होता है ओर नित्य तथा एक प्रतीत होता है और क्योंकि यह सब धर्मो का (चैत्तो को वर्जित कर) निरंतर आश्रय है। इसी भाग को मनस् अध्यात्म आत्मा अवधारित करता है। किंतु शास्त्र-वचन है कि मनस् में आत्मीयग्राह होता है। यह एक कठिनाई है। हमारा कहना है कि यह भाष्या-क्षेप है।

धर्मपाल के मत का यह परिणाम है कि विज्ञानवाद, जो मूल मे अद्वयवाद था, ग्राह्यवाद की ओर झुकता है। आलय-विज्ञान मे एक दर्शनभाग को मुख्यतः विशिष्ट करना और यह कहना कि केवल यही आकार, यही भाग, मनस् का आलंबन है इस कहने के बराबर है कि आलय-विज्ञान अव्यक्त ब्रह्मन् के समान नही, किंतु आत्मन् के समान है।

जब तक मनस् अपरावृत्त है तबतक मनस् का आलय-विज्ञान ही एकमात्र आलबन होता है। जब आश्रय परावृत्ति होती है तब अष्टम विज्ञान के अतिरिक्त भूततथता और अन्य धर्म भी इसके आलंबन होते हैं।

मनस् के संप्रयोग—

कितने चैत्तों से मनस् संप्रयुक्त होता है? मनस् सदा चार मल क्लेशो से संप्रयुक्त होता है। यह चार मूल क्लेश इस प्रकार है—१. आत्ममोह—यह अविद्या का दूसरा नाम है। यह आत्मा के विषय मे मोह और अनात्म मे विप्रतिपत्ति उत्पन्न करता है। २ आत्मदृष्टि—यह आत्मग्राह है जिससे पुद्गल अनात्म धर्मो को आत्मवत् ग्रहण करता है। ३ आत्ममान—यह गर्व है जो कल्पित आत्मा का आश्रय लेकर चित्त की उन्नति करता है। ४ आत्मस्नेह—यह आत्मप्रेम है जो आत्मा मे अभिष्वंग उत्पन्न करता है।

इन चार क्लेशों के अतिरिक्त अन्य चैत्तों से क्या मनस् का संप्रयोग नही होता?

एक मत के अनुसार मनस् का संप्रयोग केवल ९ चैत्तों से होता है। चार मूल क्लेश और स्पर्शादि पाँच सर्वत्रग।

कारिका मे उक्त है कि आलय-विज्ञान सर्वत्रग से सहगत है। यह दिखाने के लिये कि मनस्

के समान आश्रय के सर्वत्रग के सदृश अनिवृताव्याकृत नहीं है, शाक्यिा कहती है कि यह उनके समान है। चार क्लेश और ५ सर्वत्रग मनस् से सदा सम्प्रयुक्त होते हैं। मनस् ५ विनियत, ११ कुशल उपक्लेश और ८ अनियत से सम्प्रयुक्त नहीं होता।

एक दूसरे मत के अनुसार शाक्यिा का यह अर्थ है कि मनस् से सहगत चार क्लेश, अन्य (यथा उपक्लेश) और स्पर्शादि पांच होते हैं। एक तीसरे मत के अनुसार यह १० उपक्लेशों से सम्प्रयुक्त होता है। धर्मपाल के अनुसार सर्वक्लिष्ट चित्त ८ उपक्लेशों से सम्प्रयुक्त होता है। अतः मनस् स्पर्शादि ५ सर्वत्रग, ४ मूल क्लेश, ८ उपक्लेश और एक प्रज्ञा से युक्त होता है।

किन वेदनाओं से क्लिष्ट मनस् सम्प्रयुक्त होता है? एक मत के अनुसार यह केवल सौमनस्य से सम्प्रयुक्त होता है, क्योंकि यह आलय को आत्मवत् अवधारित करता है और उसके लिये सौमनस्य और प्रेम का उत्पाद करता है। एक दूसरे मत के अनुसार मनस् चार वेदनाओं से यथायोग सम्प्रयुक्त होता है। दुर्गति में दौमनस्य से, मनुष्यगति कामाप्त देवगति में, प्रथम द्वितीय ध्यानभूमि के देवों के सौमनस्य से, तृतीय ध्यान भूमि के देवों में सुखवेदना से, इससे ऊर्ध्व उपेक्षा वेदना से, मनस् सम्प्रयुक्त होता है। एक तीसरा मत है इसके अनुसार मनस् सदा से स्वरसेन एक जातीय प्रवर्तित होता है। यह अविकारी है। अतः यह उन वेदनाओं से सम्प्रयुक्त नहीं है जो विकारशील हैं। अतः यह केवल उपेक्षा वेदना से सम्प्रयुक्त है। यदि इस विषय में आलय से भेद निर्दिष्ट करना होता तो शाक्यिा में ऐसा उक्त होता।

मनस् के चैत्त निवृताव्याकृत हैं। मनस् से सम्प्रयुक्त चार क्लेश क्लिष्ट धर्म हैं। यह मार्ग में अन्तराय हैं। अतः यह निवृत हैं। यह न कुशल है, न अकुशल। अतः यह अव्याकृत है। मनस् से सम्प्रयुक्त क्लेशों का आश्रय सूक्ष्म है, उनका प्रवर्तन स्वरसेन होता है। अतः यह अव्याकृत है।

मनस् के चैत्त की कौन-सी भूमि है?

जब अष्टम विज्ञान की उत्पत्ति कामधातु में होती है तो मनस् में सम्प्रयुक्त चैत्त (यथा आत्मदृष्टि) कामाप्त होते हैं और इसी प्रकार यावत् भवाग्र समझना चाहिए। यह स्वरसेन प्रवर्तित होते हैं और सदा स्वभूमि के आलय विज्ञान को आलम्बन बनाते हैं। यह अन्य भूमि के धर्मों को कभी आलम्बन नहीं बनाते। आलय-विज्ञान में प्रत्येक भूमि के बीज हैं किंतु जब यह किसी भूमि के धर्मों का विपाक होता है तो कहा जाता है कि यह भूमि विशेष में उत्पन्न हुआ है। मनस् आलय में प्रतिबद्ध होता है। अतः इसे आलय-विज्ञानमय कहते हैं। अथवा मनस् उस भूमि के क्लेशों से बद्ध होता है जहां आलय की उत्पत्ति होती है। आश्रय-परावृत्ति होनेपर मनस् भूमियों से वियुक्त होता है।

यदि यह क्लिष्ट मनस् कुशल-क्लिष्ट-अव्याकृत अवस्थाओं में अविशेष रूप से प्रवर्तित होता है तो उसकी निवृत्ति नहीं होती। यदि मनस् की निवृत्ति नहीं होती तो मोक्ष कहां से होगा? मोक्ष का अभाव नहीं है, क्योंकि अर्हत् के क्लिष्ट मनस् नहीं होता। उसने अशेष क्लेश का प्रहाण किया है।

मनस् से सम्प्रयुक्त क्लेश सहज होते हैं। अतः दर्शन-मार्ग से उनका (बीज रूप में) प्रहाण या उपच्छेद नहीं होता क्योंकि इनका स्वरसेन उत्पाद होता है। क्लिष्ट होने के कारण यह अहेय भी नहीं है।

इन क्लेशों के बीज जो सूक्ष्म है तभी प्रहीण होते है जब भावाग्रिक क्लेश-बीज सकृत् प्रहीण होते है। तब योगी अर्हत् होता है और क्लिष्ट मनस् का प्रहाण होता है। अर्हत् में वह बोधिसत्व भी संगृहीत है जो दो यानों के अशैक्ष होने के पश्चात् बोधिसत्व के गोत्र में प्रवेश करते है।

निरोध-समापत्ति की अवस्था मे भी क्लिष्ट मनस् निरुद्ध होता है। यह अवस्था शांत और निर्वाण सदृश होती है। अतः क्लिष्ट मनस् उस समय निरुद्ध होता है, किंतु मनस् के बीजों का विच्छेदक नही होता। जब योगी समापत्ति से व्युत्थित होता है तब मनस् का पुनः प्रवर्तन होता है।

लोकोत्तर-मार्ग मे भी क्लिष्ट मनस् नही होता। लौकिक मार्ग से क्लिष्ट मनस् का प्रवर्तन होता है। किंतु लोकोत्तर-मार्ग मे नैरात्म्य दर्शन होता है जो आत्मग्राह का प्रतिपक्षी है। उस अवस्था में क्लिष्ट मनस् का प्रवर्तन नही हो सकता। अतः क्लिष्ट मनस् निरुद्ध होता है। उससे व्युत्थित होनेपर क्लिष्ट मनस् का पुनः उत्पाद होता है।

अक्लिष्ट मनस्

स्थिरमति के अनुसार मनस् अथवा सप्तम-विज्ञान सदा क्लिष्ट होता है। जब क्लेशावरण का अभाव होता है तब मनस् नही होता। वह अपने समर्थन में इन वचनों को उद्धृत करते है:—
१. मनस् सदा चार क्लेशों से संप्रयुक्त होता है (विख्यायन, १), २. मनस् विज्ञान-संक्लेश का आश्रय है (संग्रह, १), ३. मनस् का तीन अवस्थाओं मे अभाव होता है।

किंतु धर्मपाल कहते है कि जब मनस् क्लिष्ट नही रहता तब वह अपने स्वभाव में (सप्तम विज्ञान) अवस्थान करता है। वह कहते है कि स्थिरमति का मत आगम और युक्ति के विरुद्ध है।

१. सूत्र वचन है कि एक लोकोत्तर मनस् है।

२. अक्लिष्ट और क्लिष्ट मनोविज्ञान का एक सहभू और विशेष आश्रय होना चाहिए।

३. योग-शास्त्र की शिक्षा है कि आलय-विज्ञान का सदा एक विज्ञान के साथ प्रवर्तन होता है। यह विज्ञान मनस् है। यदि निरोध-समापत्ति मे मनस् या सप्तम-विज्ञान निरुद्ध होता है (स्थिरमति) तो योग-शास्त्र का यह वचन अयथार्थ होगा, क्योंकि उस अवस्था में आलय-विज्ञान होगा और उसके साथ दूसरा विज्ञान (मनस्) न होगा।

४. योग-शास्त्र में कहा है कि क्लिष्ट मनस् अर्हत की अवस्था में नही होता। किंतु इससे यह परिणाम न निकालिये कि इस अवस्था में सप्तम विज्ञान का अभाव होता है। शास्त्र यह भी कहता है कि अर्हत् की अवस्था में आलय-विज्ञान का त्याग होता है किंतु आप मानते है कि अर्हत् में अष्टम-विज्ञान होता है।

५. अलंकार और संग्रह मे उक्त है कि सप्तम विज्ञान की परावृत्ति से समता-ज्ञान की प्राप्ति होती है। अन्य ज्ञानों के समान इस ज्ञान का भी एक तत्संप्रयुक्त अनास्रव विज्ञान आश्रय होना चाहिए। आश्रय के बिना आश्रित चैत्त नही होता। अतः अनास्रव सप्तम विज्ञान के अभाव में समता-ज्ञान का अभाव होगा। वस्तुतः यह नही माना जा सकता कि यह ज्ञान प्रथम ६ विज्ञानों पर आश्रित है क्योंकि यह आदर्श ज्ञान की तरह निरंतर रहता है।

६ यदि क्लेश की अवस्था में सप्तम विज्ञान का अभाव है तो अष्टम विज्ञान का कोई सहभू आश्रय नहीं होगा। किंतु विज्ञान होने के कारण ऐसा आश्रय होना चाहिए।

७ यह माना है कि जिस सत्त्व ने पुद्गल-नैरात्म्य का साक्षात्कार नहीं किया है उसमें आत्मग्राह सदा रहता है। किंतु जबतक धर्म-नैरात्म्य का साक्षात्कार नहीं होता तबतक धर्मग्राह भी रहता है। यदि सप्तम विज्ञान निरुद्ध होता है तो इस धर्मग्राह का कौन-सा विज्ञान आश्रय होगा? क्या अष्टम विज्ञान होगा? यह असंभव है क्योंकि अष्टम विज्ञान प्रज्ञा से रहित है। हमारा निश्चय है कि यानद्वय के आर्यों में मनस् का सदा प्रवर्तन होता है क्योंकि इन्होंने धर्म-नैरात्म्य का साक्षात्कार नहीं किया है।

८ योगशास्त्र (५१, नञ्ह) एक सप्तम विज्ञान के अस्तित्व की आवश्यकता को व्यवस्थित करता है जो कि षष्ठ का आश्रय है। यदि लोकोत्तर-मार्ग के उत्पाद के समय या निरोध की अवस्था में सप्तम विज्ञान का अभाव है तो योगशास्त्र की युक्ति में द्विविध दोष होगा।

अतः पूर्वोक्त तीन अवस्थाओं में एक क्लिष्ट मनस् रहता है। जिन वचनों में यह कहा गया है कि वहाँ मनस् का अभाव है वह क्लिष्ट मनस् का ही विचार करते हैं, यथा आलय-विज्ञान का चार अवस्थाओं में अभाव होता है किंतु अष्टम विज्ञान का वहाँ अभाव नहीं होता।

मनस् या सप्तम विज्ञान के तीन विशेष हैं। यह पुद्गल-दृष्टि से या धर्म-दृष्टि से या समता ज्ञान से संप्रयुक्त होता है।

जब पुद्गल दृष्टि होती है तब धर्म-दृष्टि होती है क्योंकि आत्मग्राह धर्मग्राह पर आश्रित है।

यानद्वय के आर्य आत्मग्राह का विच्छेद करते हैं किंतु यह धर्मनैरात्म्य का साक्षात्कार नहीं करते। तथागत का मनस् सदा समता ज्ञान से संप्रयुक्त होता है। बोधिसत्त्व का मनस् भी समता-ज्ञान से संप्रयुक्त होता है, जब वह दर्शन-मार्ग का अभ्यास करते हैं या जब वह भावना-मार्ग में धर्म-शून्यता-ज्ञान या उसके फल का अभ्यास करते हैं।

मनस् की संज्ञा

मनस् मन्यनात्मक है। व्याख्याकार (१०, ६००) में कहा है—मनसामन्यते पुन, ४६१। सर्वास्तिवादिन कहते हैं कि अतीत मनोविज्ञान की संज्ञा मनस् है। षष्ठ आश्रय की प्रसिद्धि के लिये ऐसा है। उनके अनुसार जब वह प्रवृत्त होता है तब उसे मनोविज्ञान कहते हैं। किंतु यह कैसे माना जा सकता है कि अतीत और क्रियाहीन होनेपर इसे मनस् की संज्ञा दी जा सकती है?

अतः ६ विज्ञानों से अन्य एक सप्तम विज्ञान है जिसकी सदा मन्यना क्रिया होती है और जिसे 'मनस्' कहते हैं।

मनस् के दो कार्य हैं। यह मन्यना करता है और आश्रय का काम देता है।

षड्-विज्ञान

अब हम विज्ञान के तृतीय परिणाम का वर्णन करेंगे। यह षड्विध है। यह विषय की उपलब्धि

हैं। विषय ६ प्रकार के हैं—रूप, शब्द, गंध, रस, स्प्रष्टव्य, धर्म। इनकी उपलब्धि विज्ञान कहलाती है। यह ६ हैं—चक्षुर्विज्ञानादि। यह षड्विज्ञान (विज्ञानकाय) मनस्‌पर आश्रित है। यह उनका समनतर प्रत्यय है। किंतु केवल षष्ठ विज्ञान को ही मनोविज्ञान कहते हैं क्योंकि मनस् इसका विशेष आश्रय है। इसी प्रकार अन्य विज्ञानों को उनके विशेष आश्रय के अनुसार चक्षुर्विज्ञानादि कहते हैं।

यह विज्ञान कुशल, अकुशल, अव्याकृत होते हैं। अलोभ-अद्वेष-अमोह से संप्रयुक्त कुशल विज्ञान हैं। लोभ-द्वेष-मोह से संप्रयुक्त अकुशल हैं। जो न कुशल है, न अकुशल वह अव्याकृत हैं। इन्हें 'अद्वया', 'अनुभया' भी कहते हैं।

षड्-विज्ञान का चैतिसकों से संप्रयोग होता है। षड्-विज्ञान सर्वत्रग, विनियत, कुशल चैत्तों से क्लेश और उपक्लेश से, अनियतों से, तीन वेदनाओं से संप्रयुक्त होते हैं।

हम विज्ञानवाद की पद्धति के अनुसार इनका विचार सर्वास्तिवाद के चित्त-चैत्त के प्रकरण में कर चुके हैं।

एक प्रश्न भूततथता का है। यह दिखाता है कि विज्ञानवाद माध्यमिक से कितनी दूर चला गया है। इसका समानार्थक दूसरा शब्द धर्मता (धर्मों का स्वभाव) है। किंतु क्योंकि वस्तुत धर्मों का स्वभाव शून्य (वस्तु शून्य) है इसलिये तथता का समानवाची दूसरा शब्द शून्यता है। यह असस्कृत और नित्यस्थ है। नागार्जुन ने इसका व्याख्यान किया है।

किंतु स्थिरमति इसके कहने में संकोच नहीं करते कि यह खपुष्प के तुल्य प्रज्ञप्तिसत् है। युआन-च्वांग इसका विरोध करते हैं। वह कहते हैं कि इस विकल्प में कोई भी परमार्थ परमार्थ सत्य न होगा। तब किसके विपक्ष में कहेंगे कि सवृति सत्य है? तब किसी का निर्वाण कैसे होगा?

निभृत-भाव से विज्ञानवाद परमार्थ सत्य हो गया।

विज्ञप्तिमात्रता

मूल, मनस् और षड्-विज्ञान इन तीन विज्ञान परिणामों की परीक्षा कर युआन च्वांग विज्ञप्ति-मात्रता का निरूपण करते हैं। हम पूर्व कह चुके हैं कि आतमन् (पुद्गल) और धर्म विज्ञान परिणाम के प्रज्ञप्ति मात्र हैं। यह परिणाम दर्शनभाग और निमित्तभाग के आकार में होता है। हमारी प्रतिज्ञा है कि चित्त एक है किंतु यह ग्राह्य-ग्राहक के रूप में आभासित होता है अथवा दर्शन और निमित्त के रूप में आभासित होता है। दूसरे शब्दों में "विज्ञान का परिणाम मन्यना करनेवाला और जिसकी मन्यना होती है, जो विचारता है और जो विचारा जाता है, है। इससे यह अनुगत होता है कि आत्मा और धर्म (तत्) नहीं हैं। अत. जो कुछ है वह विज्ञप्ति-मात्रता है।" युआन च्वांग वसुबंधु त्रिंशिका में कहते हैं।

विज्ञान परिणामोऽय विकल्पो यद् विकल्प्यते।
तेन तन्नास्ति तेनेदं सर्वविज्ञप्तिमात्रकम्॥ (कारिका १५)

किंतु स्थिरमति (पृ० ५३५—३६) इस कारिका का भिन्न अर्थ करते हैं। "विज्ञान का परिणाम विकल्प है। इस विकल्प से जो विकल्पित होता है वह नहीं है। अतः यह सब विज्ञप्ति-मात्र है।" स्थिरमति इस कारिका के भाष्य में कहते हैं कि त्रिविध विज्ञान-परिणाम विकल्प है त्रैधातुक चित्त चैत्त (अनास्रव चित्त चैत्त के विपक्ष में) जो अध्यारोपित का आकार ग्रहण करते हैं 'विकल्प' कहलाते हैं। यथा (मध्यान्तविभाग, १, १०) कहा है—अभूतपरिकल्पस्तु चित्त चैतास्त्रि-धातुकाः। यह विकल्प त्रिविध है —समप्रयोग आलय विज्ञान, क्लिष्टमनस्, प्रवृत्ति विज्ञान। इस त्रिविध विकल्प से जो विकल्पित होता है (यद् विकल्प्यते) वह नहीं है। भाजनलोक, आत्मा, स्कंध-धातु-आयतन, रूप शब्दादिक विकल्प से विकल्पित होते हैं। यह वस्तु नहीं है। अतः यह विज्ञान परिणाम विकल्प कहलाता है क्योंकि इसका आलंबन असत् है। हम कैसे जानते हैं कि इसका आलंबन असत् है? जो जिसका कारण है वह उसके समग्र और अविरुद्ध होने पर उत्पन्न होता है अन्यथा नहीं। किंतु माया, गंधर्वनगर, स्वप्न, तिमिरादि में विज्ञान बिना आलंबन के ही उत्पन्न होता है। यदि विज्ञान का उत्पाद आलंबन प्रतिबद्ध होता तो अर्थाभाव में मायादि में विज्ञान न उत्पन्न होता। इसलिये पूर्व निरुद्ध तज्जातीय विज्ञान से विज्ञान उत्पन्न होता है, बाह्य अर्थ से नहीं। बाह्यार्थ के न होने पर भी यह होता है। पुनः एक ही अर्थ में परस्परविरुद्ध प्रतिपत्ति भी देखी गई है। और एक का परस्पर विरुद्ध अनेकात्मकत्व युक्त नहीं है। अतः यह मानना चाहिए कि विकल्प का आलंबन असत् है। यह समारोपान्त का परिहार है। अब हम अपवादान्त का परिहार करते हैं। कारिका कहती है—'तेनेदं सर्वं विज्ञप्तिमात्रकम्।' अर्थात् क्योंकि विषय के अभाव में परिणामात्मक विकल्प से विकल्पित (विकल्प्यते) नहीं है इसलिये सब विज्ञप्ति मात्र है। 'सर्व' से आशय त्रैधातुक और असं-स्कृत से है (पृ० ३६)। विज्ञप्ति से अन्य कर्ता या करण नहीं है।

स्थिरमति का यह अर्थ इस आधार पर है कि विकल्प के गोचर का अस्तित्व नहीं है। विकल्प का विषय असत् है। इस प्रकार विज्ञान की लीला रज्जु मायावत् है।

हम देखते हैं कि विज्ञानवाद का यह विवेचन अब भी नागार्जुन की शून्यता के लगभग अनुकूल है। इसके विपरीत धर्मपाल का विज्ञानवाद स्वतंत्र होने लगता है। अब वाक्य यह हो जाता है कि विज्ञान या विज्ञप्ति में सब कुछ है। धर्मपाल कहते हैं कि दर्शनभाग और निमित्तभाग के आभास में विज्ञान का परिणाम होता है। विज्ञान से तात्पर्य तीन विज्ञानों के अतिरिक्त (आलय क्लिष्ट मनस्, षड्विज्ञान) उनके चैत्त से भी है। पहले भाग को 'विकल्प' कहते हैं और दूसरे भाग को 'यद् विकल्प्यते'। यह दोनों भाग परतंत्र हैं। अतः विज्ञान में परिणत इन दो भागों के बाहर आत्मन् और धर्म नहीं है। वस्तुतः ग्राहक-ग्राह्य, विकल्प विकल्पित के बाहर कुछ नहीं है। इन दो भागों के बाहर कुछ नहीं है जो भूतद्रव्य हो। अतः सब धर्म-संस्कृत-असंस्कृत, रूपादि वस्तु सत् और प्रज्ञप्ति सत्—विज्ञान के बाहर नहीं है। सामासिक रूप में 'विज्ञप्ति मात्रता' का अर्थ यह है कि हम उस सब का प्रतिषेध करते हैं जो विज्ञान के बाहर है (परिकल्पित—आत्मन् और धर्म) किंतु हम चैत्त, भागद्वय, रूपतथता का प्रतिषेध नहीं करते जहाँतक वह विज्ञान के बाहर नहीं है।

नंद का मत ग्राह्यवाद की ओर झुकता है। नंद के लिये केवल दो भाग हैं। दर्शनभाग निमित्त भाग में परिणत होता है। यह निमित्त भाग परतंत्र है और बहिःस्थित

विषय के रूप में अवभासित होता है। नंद संवित्तिभाग नही मानते। उनके लिये परिकल्प (विकल्प) और परिकल्पित अर्थात् ग्राहक ओर ग्राह्य निमित्तभाग के संबंध मे दो मिथ्याग्राह हैं। वस्तुत. जब कोई दर्शनभाग को आत्मवत्-धर्मवत् अवधारित करता है तब यह भी निमित्तभाग के संबंध में एक ग्राह ही है। यह ग्राह विना आलबन के नही है।

क्योंकि विकल्प निमित्तभाग का ग्रहण बहिःस्थित आत्मधर्म के आकार में करता है इसलिये एवं ग्रहीत, एवं विकल्पित आत्मधर्म का स्वभाव नहीं है।

अत. सव विज्ञप्ति मात्र है। अभूतपरिकल्प का अस्तित्व सव मानते है।

पुन. मात्र शब्द से विज्ञान से अव्यतिरिक्त धर्मो का प्रतिषेध नही होता। अतः तथता, चैत्तादि वस्तुसत् है।

युआन च्वाँग का इस कारिका का अर्थ ऊपर दिया गया है। वह नागार्जुन के शून्यतावाद के समीपवर्ती एक पुराने वाद का उपयोग स्वतंत्र विज्ञानवाद के लिये करते है। यामागुँची का भी यही मत है।

युआन च्वॉग अपने वाद की पुष्टि में आगम से वचन उद्धृत करते है और युक्तियॉ देते है। यहॉ हम आगम के कुछ वाक्य देते है। दशभूमक सूत्र में उक्त है :—चित्तमात्रमिदं यदिदं त्रैधातुकम्। पुनः सन्धिनिर्मोचन सूत्र में भगवत् कहते है :—विज्ञान का आलंबन विज्ञान-प्रतिभास मात्र है। इस सूत्र में मैत्रेय भगवत् से पूछते है कि समाधिगोचर बिंब चित्त से भिन्न या अभिन्न है। भगवत् प्रश्न का विसर्जन करते है कि यह भिन्न नहीं है क्योकि यह बिंब विज्ञानमात्र है। भगवत् आगे कहते है कि विज्ञान का आलंबन विज्ञान का प्रतिभासमात्र है। मैत्रेय पूछते है कि यदि समाधिगोचर बिंब चित्त से भिन्न नही है तो चित्त कैसे उसी चित्त का ग्रहण करने के लिये लौटेगा। भगवत् उत्तर देते है कि कोई धर्म अन्य धर्म का ग्रहण नही करता किंतु जब विज्ञान उत्पन्न होता है तब यह उस धर्म के आकार का उत्पन्न होता है और लोग कहते है कि यह उस धर्म को ग्रहण करता है।

लंकावतार मे है कि धर्म चित्त-व्यतिरिक्त नही है। घनव्यूह मे है—चित्त, मनस्, विज्ञान (षड्विज्ञान) का आलंबन भिन्न-स्वभाव नही है। इसीलिये मै कहता हूँ कि सव (सस्कृत ओर असंस्कृत) विज्ञानमात्र है, विज्ञान व्यतिरिक्त वस्तु नही है।

आगम और युक्ति सिद्ध करते है कि आत्मा और धर्म असत् है। तथता या धर्मो का परिनिष्पन्न स्वभाव (शून्यता) और विज्ञान (परतंत्र स्वभाव) असत् नही है। आत्म-धर्म सत्व से बाह्य हैं। शून्यता और विज्ञान असत्व से बाह्य है। यह मध्यमा प्रतिपत् है। इसीलिये मैत्रेय मध्यांत विभाग में कहते है :—अभूत परिकल्प है। इसमें परमार्थतः द्वय (ग्राह्य-ग्राहक) नही है। इस अभूत-परिकल्प में शून्यता है। यह अभूत-परिकल्प शून्यता मे है। अत. मै कहता हूँ कि धर्म न शून्य है, न अशून्य। सत्व है, वस्तुत. असत्व, सत्व है। यह मध्यमा-प्रतिपत् है।

पूसे किसी टीका से देते है—सास्रव चित्त या त्रैधातुक चित्त (अनास्रव ज्ञान का प्रतिपक्ष)

हम ज्ञान चित्त को परचित्त की अपेक्षा अधिक अच्छा नहीं जानते। और क्या? क्योंकि दोनों ज्ञान अज्ञान से आच्छादित होने के कारण स्वविषय की अनिर्वचनीयता को नहीं जान सकते, जैसा बुद्ध उसे जान सकते हैं। इसका कारण यह है कि मनुष्यों में इस विषय की वितथ-प्रतिभासिता होती है क्योंकि उनमें अभी ग्राह्य-ग्राहक भाव का उपच्छेद नहीं हुआ है।

पुनः युआन च्वांग इस स्थान पर अकस्मात् इसका प्रयत्न करते हैं जिसमें उनका विज्ञानवाद शुद्ध आत्मवाद में पतित न हो। वह कहते हैं कि विज्ञप्तिमात्रतावाद की यह शिक्षा नहीं है कि केवल एक विज्ञान है, केवल मेरा विज्ञान है। यदि केवल मेरा विज्ञान है तो १० दिशाओं के विविध पृथग्जन—आर्य, कुशल-अकुशल, हेतु-फल सब तिरोहित हो जाते हैं। कौन बुद्ध उपदेश देता है और किसको बुद्ध उपदेश देते हैं? किस धर्म का वह उपदेश करते हैं और किस फल के अधिगम के लिये?

किंतु विज्ञानवाद की यह शिक्षा कभी नहीं रही है। विज्ञप्ति से प्रत्येक सत्व के आठ विज्ञान समझना चाहिए। यह विज्ञान स्वभाव है। इनके अतिरिक्त विज्ञप्ति से विज्ञान-सम्प्रयुक्त ६ प्रकार के चैत्त, दो भाग—दर्शन और निमित्त—जो विज्ञान और चैत्त के परिणाम हैं, विप्रयुक्त जो विज्ञान, चैत्त और रूप के आकार विशेष हैं और तथता जो शून्यता को प्रकट करती है और जो पूर्व चार प्रकार का यथार्थ स्वभाव है, समझना चाहिए। इसी अर्थ में सब धर्म विज्ञान से भिन्न नहीं हैं। इसलिये यह कहा जाता है कि सब धर्म विज्ञप्ति हैं और मात्र शब्द इसलिये अधिक है जिसमें विज्ञान से भिन्न रूपादि द्रव्यसत् के अस्तित्व का प्रतिषेध किया जाय।

जो विज्ञप्तिमात्रता की शिक्षा को यथार्थ जानता है वह विपर्यास से रहित हो पुण्यसंभार और ज्ञानसंभार के लिये यत्नशील होता है। धर्मशून्यता में उसका आशु प्रतिवेध होता है और वह महाबोधि का साक्षात्कार कर संसार से अर्दित जीवों का परित्राण करता है। किंतु सर्वथा अपवादक जो शून्यता की विपर्यास संज्ञा रखता है (भावविवेक) आगम और युक्ति का व्यतिक्रम करता है और इन लाभों का प्रतिलाभ नहीं कर सकता। यह अपवादक माध्यमिक हैं जो सर्वथा शून्यता का ग्रहण करते हैं और अद्वय विज्ञानवाद की ओर जो शून्यवाद का झुकाव है उसका विरोध करते हैं।

एक मुख्य प्रश्न यह है कि किस प्रकार परमार्थ विज्ञानवाद का सामंजस्य बाह्यलोक के व्यावहारिक अस्तित्व से हो सकता है। माना कि विज्ञान के बाहर कुछ नहीं है। तब बाह्य प्रत्यय के अभाव में हम विकल्प की विचित्रता का निरूपण कैसे करते हैं?

युआन च्वांग वसुबंधु का उत्तर उद्धृत करते हैं (त्रिंशिका, कारिका १८)—'सर्व बीज विज्ञान का अन्योन्यवश उस उस प्रकार से परिणाम होता है। इस विज्ञान से वह वह विकल्प उत्पन्न होते हैं। अर्थात् बिना किसी बाह्य प्रत्यय के आलय-बीजों के विविध परिणाम होने के कारण और [illegible] अष्ट विज्ञानों की अन्योन्य सहायता से अनेक प्रकार के विकल्प उत्पन्न होते हैं।

सर्व बीज विज्ञान से विविध शक्ति और बीज अभिप्रेत हैं जो अपने फल अर्थात् सब संस्कृत धर्मों का उत्पाद करते हैं। यह फल मूल विज्ञान में विद्यमान है। इन शक्तियों या बीजों को 'सर्व बीज' कहते हैं—क्योंकि वह चार प्रकार के फल का उत्पादन करते हैं (निष्यंद, विपाक, पुरुषकार,

अविपर्ति-फल)। केवल विसंयोग-फल वर्जित है। यह वीजों से उत्पन्न नहीं होता। यह असंस्कृत है। यह फल वीजफल नहीं है। मार्ग की भावना से इस फल की प्राप्ति होती है। वीज ज्ञान का उत्पाद करते हैं; ज्ञान सयोजन का उपच्छेद करते हैं और इसीसे विसयोग का सम्मुखीभाव होता है। किंतु वीज से सर्व विकल्प का अनतर उत्पाद होता है।

हम वीजों को 'विज्ञान' से प्रज्ञप्त कर सकते हैं क्योंकि उनका स्वभाव विज्ञान में है। यह मूलविज्ञान से व्यतिरिक्त नहीं है। कारिका 'वीज' और विज्ञान' दोनों शब्दों का एक साथ प्रयोग इस कारण करती है कि कुछ वीज विज्ञान नहीं हे (यथा, सांख्यों का प्रधान) और कुछ विज्ञान वीज नहीं हे (प्रवृत्ति विज्ञान)।

अष्टम विज्ञान के वीज (जो विकल्पों के हेतु-प्रत्यय हैं) अन्य तीन प्रत्ययों की सहायता से उस उस परिणाम (अन्यथा भाव) को प्राप्त होते है अर्थात् जन्मावस्था से पाककाल को प्राप्त होते हैं। यह तीन प्रत्यय प्रवृत्ति-विज्ञान है। सव धर्म एक दूसरे के निमित्त होते हैं।

इस प्रकार आलय-विज्ञान से अनेक प्रकार के विकल्प उत्पन्न होते हैं।

आगे चलकर युआन च्वाग विज्ञानवाद की पुष्टि आलवन प्रत्ययवाद से करते है। इसका लक्षण इस प्रकार है:—वह सद्धर्म जिसपर चित्त-चैत्त आश्रित है और जो उन चित्त-चैत्त से ज्ञात है जो तत्सदृग उत्पन्न होते हैं।

वस्तुतः सर्व विज्ञान का इस प्रकार का आलंवन होता है, क्योंकि किसी चित्त का उत्पाद विना आश्रय के नहीं हो सकता, विना उस अर्थ की उपलब्धि के नहीं हो सकता जो उसके अभ्यतर हैं।

इसीसे मिलता-जुलता एक दूसरा प्रश्न यह है कि यद्यपि आभ्यंतर विज्ञान है तथापि बाह्य प्रत्ययों के अभाव में भावों की अव्युच्छिन्न-परंपरा का क्या विवेचन है? युआन च्वाग उत्तर में वसुवंधु की कारिका १९ उद्धृत करते हैं:—

कर्मणोवासना ग्राहद्वय वासनायासह ॥
क्षीणे पूर्वविपाके अन्यद् विपाकं जनयन्ति तत् ॥

"पूर्व विपाक के क्षीण होनेपर कर्म की वासना ग्राहद्वय की वासना के साथ अन्य विपाक को उत्पन्न करती है।"

अर्थात् पूर्वजन्मोपचित कर्म के विपाक के क्षीण होनेपर कर्मवासना (कर्मवीज) और आत्म-ग्राह-धर्मग्राह की वासना (वीज) उपभुक्त विपाक से अन्य विपाक का उत्पाद करती है। यह विपाक आलय-विज्ञान है। (स्थिरमति का भाष्य, पृ० ३७)।

युआन च्वाँग की व्याख्या इस प्रकार है:—निश्चय ही सर्व कर्म चेतना कर्म है। ओर कर्म उत्पन्न होने के अनंतर ही विनष्ट होता है। अत. हम नहीं मान सकते कि यह स्वतः फलोत्पादन का सामर्थ्य रखता है। किंतु यह मूल विज्ञान में फलोत्पादक बीज या शक्ति का आधान करता है। इन शक्तियों की वासना सज्ञा है। वस्तुतः यह शक्तियाँ कर्मजनित वासना से उत्पन्न होती हैं।

इन शक्तियों का एक अनुस्यूत सतान इसके परिपाक वाले पर्यन्त रहता है। तब अनिरु शक्ति फल की अभिव्यक्ति करती है।

नाथ ताय युआन च्वांग यह दिखाते हैं कि किस प्रकार बीजों की नामता का ग्राह्य ग्राहक आर ग्राह्य इन दो दिशाओं में होता है। मिथ्या आत्मग्राह इन वासनाओं और विपाक के बीजों के लिए सब से अधिक उत्तरदायी है। इससे जो बीज उत्पन्न होते हैं उनके कारण सत्वों में बंधन पाप का (मिथ्या) विनिश्चय होता है। चित्त की इस सहज विरूपता के कारण ससार-चक्र अनन्तकाल तक प्रवर्तित रहता है। इसके लिए बाह्य प्रत्यय की कल्पना करने का कोई कारण नहीं है। अथवा आध्यात्मिक हेतु प्रत्यय जन्म मरण-प्रबन्ध (या धर्म प्रबन्ध) का पर्याप्त निवचन है। यह बाह्य प्रत्यय पर आश्रित नहीं है। अतः यह विज्ञप्तिमात्र है। इस प्रकार धर्मों की अनादिकालिक प्रवृत्ति से विज्ञप्तिमात्रता का सामजस्य स्थापित कर युआन च्वांग त्रिस्वभाव के वाद से इसका सामंजस्य दिखाते हैं। बौद्धागम में स्थान स्थान पर स्वभावत्रय की देशना है।

चीनी ग्रन्थों में विज्ञानवाद के विषय का एक नाम 'धर्मलक्षण समय' है। तीन स्वभाव, तीन लक्षण कहलाते हैं (व्युत्पत्ति, पृ० ५८७)। योगाचारभूमि में 'धर्मलक्षण' शब्द मिलता है वहां तीन स्वभाव से विमुक्त वस्तु को 'धर्मलक्षण संगृहीत' कहा है। (दूसरे शब्दों में यह वस्तु 'तथता धर्मता है)।

वसुबन्धु ने त्रिस्वभाव निर्देश नामक एक ग्रन्थ लिखा है। जो तिब्बती तथा नेपाल में मूल संस्कृत ग्रन्थ मिला था। इसका प्रकाशन विश्वभारती से हुआ है। हम इस ग्रन्थ का सक्षेप अन्यत्र दे रहे हैं। यहां हम धर्मपाल आदि आचार्यों का मत दे रहे हैं।

स्वभाव तीन हैं—परिकल्पित, परतन्त्र, परिनिष्पन्न।

१ परिकल्पित स्वभाव

स्थिरमति के अनुसार जिस जिस विकल्प से हम जिस जिस वस्तु की परिकल्पना करते हैं वह वह वस्तु परिकल्पित स्वभाव है। विकल्प्य वस्तु अनंत है। यह आध्यात्मिक और बाह्य है यहां तक कि बुद्धधर्म भी विकल्प्य वस्तु हैं। जो वस्तु विकल्प का विषय है उसकी सत्ता का अभाव है अतः वह विद्यमान नहीं है। अतः वह परिकल्पित स्वभाव है। नंद के अनुसार अनन्त अभूत परिकल्प या अभूत विकल्प हैं जो परिकल्पना करते हैं। उस उस विकल्प से विविध विकल्प्य वस्तु परिकल्पित होते हैं। अर्थात् स्कंध आयतन धातु आदि आत्म धर्म के रूप में मिथ्या गृहीत होते हैं। इन्हें परिकल्पित स्वभाव कहते हैं, यह स्वभाव परमार्थतः नहीं है।

धर्मपाल के अनुसार 'विकल्प' वह विज्ञान है जो परिकल्पना करता है। यह षष्ठ और सप्तम विज्ञान है जो आत्मन् और धर्म में अभिनिविष्ट है। स्थिरमति के अनुसार यह आठों सास्रव विज्ञान और उनके चैत्त है। स्थिरमति कहते हैं कि सब सास्रव विज्ञान परिकल्पना करते हैं क्योंकि उनका अभूत परिकल्प स्वभाव है। इसके विरुद्ध धर्मपाल कहते हैं कि यह अयथार्थ है कि सब सास्रव विज्ञान परिकल्पना करते हैं। यह सत्य है कि त्रैधातुक सब विज्ञान 'अभूत परिकल्प' कहलाते हैं। इनको यह संज्ञा इसलिये है क्योंकि सास्रव विज्ञान तत्त्व का साक्षात्कार नहीं करता। सास्रव चित्त ग्राह्य ग्राहक के रूप में अवभासित होता है, इससे यह परिणाम सदा नहीं निकलता कि कुशल अथवा

अथवा अव्याकृत चित्त मे ग्राह होता है और यह आत्मधर्म की परिकल्पना में समर्थ है। वस्तुतः इस पक्ष मे बोधिसत्व तथा यान द्वय के आर्यो को पृष्ठलब्ध ज्ञान (यह एक अनास्रव ज्ञान है) मे ग्राह होगा क्योंकि यह ज्ञान ग्राह्य-ग्राहक के रूप मे अवभासित होता है। तथागत के उत्तर ज्ञान मे भी ग्राह होगा क्योकि बुद्धभूमि-सूत्र मे कहा है कि बुद्धज्ञान (आदर्श ज्ञान) काय, भूमि आदि विविध प्रति-बिंबों को अवभासित करता है।

इसमे संदेह नही कि यह कहा गया है कि आलय विज्ञान का आलंबन परिकल्प के बीज है। किंतु यह नही कहा गया है कि यह विज्ञान केवल इनका ग्रहण करता है।

सिद्धांत यह है कि केवल दो विज्ञान--षष्ठ और सप्तम--परिकल्पना करते है। कारिका में जो 'येन येन विकल्पेन' उक्त है उसका कारण यह है कि विकल्प विविध है। यह कौन वस्तु है जिनपर विकल्प का कारित्र होता है? संग्रह के अनुसार यह वस्तु परतत्र है। यह निमित्तभाग है क्योंकि यह भाग विकल्पक का आलंबन प्रत्यय है। किंतु प्रश्न है कि क्या परिनिष्पन्न भी इस चित्त का विषय नही है? हमारा उत्तर है कि तत्त्व अथवा परिनिष्पन्न मिथ्याग्राह का आल-वन विषय नही है। हाँ, हम यह कह सकते है कि तत्त्व विकल्प्य वस्तु है किंतु तत्त्व पर विकल्प का कारित्र प्रत्यक्ष नही होता।

परिकल्पित स्वभाव विकल्प का, मिथ्याग्राह का, विषय है किंतु यह आलंबन-प्रत्यय नही है। इसका कारण यह है कि यह 'वस्तु सद्धर्म' नही है।

परिकल्पित स्वभाव क्या है? इसमे और परतत्र मे क्या भेद है?

१. स्थिरमति के अनुसार अनादिकालिक अभूत वासना वश सास्रव चित्त-चैत्त द्वयाकार से उत्पन्न होता है। ग्राहक-ग्राह्य रूप से उत्पन्न होता है। यह दर्शनभाग और निमित्तभाग है। मध्यांत का कहना है कि यह दो 'लक्षण' परिकल्पित है। यह कूर्मरोम के समान असद्धर्म है। किंतु इनका आश्रय अर्थात् स्वसंवित्तिभाग प्रत्यय जनित है। यह स्वभाव असद् धर्म नही है। इसे परतंत्र कहते है क्योंकि यह अभूत-परिकल्प्य-प्रत्यय-जनित है।

यह कैसे प्रतीति हो कि यह दो भाग असद् धर्म है? आगम की शिक्षा है कि अभूत परिकल्प्य परतंत्र है और दो ग्राह परिकल्पित है।

२ धर्मपाल के अनुसार वासनाबल से चित्त-चैत्त दो भागो मे परिणत होते है। यह परिणत-भाग हेतु--प्रत्ययवश उत्पन्न होते है और स्वसंवित्तिभाग के सदृश परतत्र है, किंतु विकल्प सद्धर्म, अभाव, तादात्म्य, भेद, भाव-अभाव, भेदाभेद, न भाव न अभाव, न अभेद न भेद इन मिथ्या संज्ञाओं का ग्रहण करता है। इन विविध आकारों मे दो भाग परिकल्पित कहलाते है।

वस्तुत. आगम कहता है कि प्रमाण मात्र, द्वयमात्र (दो भाग) और इन दो भागो की विविधता परतंत्र है। आगम यह भी कहता है कि तथता को छोड़कर शेष चार धर्म परतंत्र मे संगृहीत है।

यदि निमित्तभाग परतंत्र नही है तो वह दो भाग जो बुद्ध के अनास्रव पृष्ठलब्ध-ज्ञान है परि-

नहित होगे। यदि आप यह मानते हैं कि यह दो भाग परिकल्पित हैं तो उत्तर अनास्रव ज्ञान की उत्पत्ति बिना एक निमित्तभाग का आश्रय बनाये होती है क्योंकि यदि एक निमित्तभाग दूसरा गृहीत भाग ता यह आद्य-भाग न पर्याप्त न होता।

यदि दो भाग परिकल्पित हैं तो यह आलम्बन प्रत्यय नहीं है क्योंकि परिकल्पित असद् धर्म है। दो भाग वासित नहीं कर सकते, बीजों का उत्पाद नहीं कर सकते। अतः उत्तर बीजों के दो भाग न होंगे।

या निमित्त भाग में संगृहीत है। अतः यह असद्धर्म है। अतः बीज कैसे हेतु-प्रत्यय होंगे?

यदि दो भाग, जो चित्त के अभ्यन्तर हैं और बीजों से उत्पन्न होते हैं, परतन्त्र नहीं हैं तो निस स्वभाव को आप परतन्त्र मानते हैं अर्थात् संवित्तिभाग जो इन दो भागों का आश्रय है परतन्त्र न होगा, क्योंकि कोई कारण नहीं है कि यह परतन्त्र हो जब दो भाग परतन्त्र नहीं हैं।

अतः जो प्रत्ययजनित है वह परतन्त्र है।

२–परतन्त्र स्वभाव

'परतन्त्र प्रत्यय से उद्भूत विकल्प है। यह आगम 'प्रतीत्य समुत्पन्न' से मिलती-जुलती है। जो हेतु प्रत्यय से उत्पन्न होता है वह परतन्त्र है। स्वभाव से यह लक्षण केवल क्लिष्ट परतन्त्र का है। वास्तव में अनास्रव परतन्त्र को 'विकल्प' नहीं कहते। एक दूसरा मत यह है कि सब चित्त चैत्त, चाहे सास्रव हों या अनास्रव, विकल्प कहे गए हैं।

३–परिनिष्पन्न स्वभाव

परिनिष्पन्न स्वभाव कल्पित की परतन्त्र से सदा रहितता है। यह अविकार स्वभाव है। यह ग्राह्य-ग्राहक इन दो विकल्पों से विनिर्मुक्त होता है। इस स्वभाव की सदा ग्राह्य ग्राहक भाव से अत्यन्त रहितता होती है। यह कल्पित स्वभाव की अत्यन्त शून्यता है। अतएव यह परतन्त्र से न अन्य है, और न अनन्य, यथा अनित्यता अनित्य धर्मों से न अन्य है और न अनन्य।

पुनः युआन च्वांग कहते हैं कि परिनिष्पन्न धर्मों का वस्तुसत्, अविपरीत, निष्ठागत और परिपूर्ण स्वभाव है। यह तथता है अर्थात् सत्व-असत्व से पृथक् शून्यता की अवस्था में वस्तुओं के स्वभाव से मिश्रित है। अतः परिनिष्पन्न (=तथता) परतन्त्र से न अन्य है न अनन्य। यदि यह इससे भिन्न होता तो तथता धर्मधातु (परतन्त्र) का वस्तुस्वभाव न होती। यदि यह इससे अभिन्न होता तो तथता न नित्य होती और न पूर्ण विशुद्ध। पुनः यह कैसे माना जाय कि परिनिष्पन्न स्वभाव और परतन्त्र स्वभाव का न नानात्व है और न एकत्व? इसी प्रकार अनित्य, शून्य, अनात्म धर्म तथा अनित्यता, शून्यता, नैरात्म्य न अन्य हैं न अनन्य। यदि अनित्यता संस्कारों से अन्य होती तो संस्कार अनित्य न होते, यदि अनन्य होते, तो अनित्यता उनका सामान्य लक्षण न होती। वस्तुतः धर्मता या तथता का धर्मों से ऐसा संबंध है क्योंकि परमार्थ और संवृति अन्योन्याश्रित हैं।

जबतक परिनिष्पन्न का प्रतिवेध, साक्षात्कार नहीं होता तबतक यथाभूत परतन्त्र भाव को हम नहीं जान सकते। अन्य ज्ञान से परतन्त्र का ग्रहण नहीं होता।

इन विचारो के अनुसार युआन च्वाँग चित्त का इतिहास बताते हैं। निस्संदेह सदा से चित्त-चैत्त अपने विविध आकारों में (भागो मे) अपने को स्वतः जानते हैं अर्थात् परतंत्र जो अपने को जानता है सदा से स्वविज्ञान का विषय है। किंतु चित्त-चैत्त सदा पुद्गल-धर्मग्राह से सहगत होते हैं, अतः वह प्रत्यय-जनित चित्तचैत्तो के मिथ्या स्वभाव को यथार्थ में नहीं जानते। माया-मरीचि-स्व विषय-प्रतिबिंब-प्रतिभास-प्रतिश्रुत्का-उदकचंद्र--निर्मितवत् उनका अस्तित्व नहीं है और एक प्रकार से है भी। घनव्यूह मे कहा है—"जबतक कोई तथता का दर्शन नहीं करता वह नहीं जानता कि धर्म और संस्कार मायादिवत् वस्तुसत् नहीं है यद्यपि वह है।"

अतः यह सिद्ध होता है कि स्वभावत्रय (लक्षणत्रय) का चित्त-चैत्त से व्यतिरेक नहीं है चित्त-चैत्त और उनके परिणाम (दर्शन और निमित्तभाग) का प्रत्ययों से उद्भव होता है और इसलिये मायाप्रतिबिंबवत् वह नहीं है और एक प्रकार से मानो वह है। इस प्रकार वह मूढ पुरुषो की प्रवंचना करते हैं। यह सब परतन्त्र कहलाता है।

मूढ परतंत्रो को मिथ्या ही आत्म-धर्म अवधारित करते हैं। खपुष्प के समान इस 'स्वभाव' का परमार्थतः अस्तित्व नहीं है। यह परिकल्पित है। किंतु वस्तुतः यह आत्म-धर्म जिन्हे एक मिथ्या संज्ञा परतंत्र पर 'आरोपित' करती है शून्य हैं। चित्त के परमार्थ स्वभाव को (विज्ञान और दो भाग) जो आत्म-धर्म की शून्यता से प्रकाशित होता है परिनिष्पन्न की संज्ञा दी जाती है। हम कहेंगे कि धर्मो का सद्-स्वभाव उनका विशुद्ध लक्षण या विज्ञान शक्ति है जो प्रत्येक प्रकार के साक्षात्कार से शून्य है। इस स्वभाव का विपरीत भाव सर्वगत धर्म (फेनोमनिज्म) है और धर्मो का स्थूल और मिथ्या आकार आत्म-धर्म का प्रतिभास है। यह भी ध्यान मे रखना चाहिए कि इस सब की समष्टि विशुद्ध विज्ञानायतन रहती है।

इसके अनंतर युआन च्वॉग इस त्रिस्वभाववाद का प्रयोग आकाशादि असंस्कृत धर्म के संबंध मे करते हैं। वह कहते हैं कि विज्ञान आकाशादि प्रभास के आकार मे परिणत होता है, क्योंकि आकाश चित्त-निमित्त है, इसलिये यह परतंत्र मे संगृहीत होता है। किंतु मूढ इस निमित्त को द्रव्यसत् कल्पित करते हैं। इस कल्पना मे आकाश परिकल्पित है। अततः द्रव्य आकाश को तथता का एक अपर नाम अवधारित करने से आकाश परिनिष्पन्न है। इसी प्रकार युआन च्वॉग सिद्ध करते हैं कि अन्य असंस्कृत तथा रूप-वेदना-संज्ञा-संस्कार विज्ञान यह पाँच संस्कृत धर्म-दृष्टि के अनुसार परिकल्पित, परतंत्र और तथता मे संगृहीत हो सकते है।

एक अंतिम प्रश्न है कि वस्तु द्रव्यसत् है या असत्। परिकल्पित स्वभाव केवल प्रज्ञप्तिसत् है क्योकि यह मिथ्या रुचि से व्यवस्थित होता है। परतत्र प्रज्ञप्ति और वस्तुसत् दोनों है। पिण्ड, समुदाय, (संचय, सामग्री) यथा घटादि, प्रज्ञप्ति है। चित्त-चैत्त-रूप प्रत्यय जनित हैं। अतः वह वस्तुसत् हैं। परिनिष्पन्न केवल द्रव्यसत् है क्योकि यह प्रत्ययाधीन नहीं है।

किंतु यह तीन स्वभाव भिन्न नहीं है क्योंकि परिनिष्पन्न परतंत्र का द्रव्यसत् स्वभाव है और परिकल्पित का परतत्र से व्यतिरेक नहीं है। किंतु यद्यपि यह एक दृष्टि से भिन्न नहीं है तथापि दूसरी दृष्टि से यह अभिन्न नहीं है क्योंकि मिथ्याग्रह, प्रत्ययोद्भव और द्रव्यसत्-स्वभाव भिन्न हैं।

यह विचार शंकर के वेदातमत के अत्यंत समीप है। युआन च्वांग इस खतरे को समझते हैं। माध्यमिको के प्रतिवाद करने पर वह इस प्रश्न का विचार करते है कि यदि तीन स्वभाव हे तो

भगवान् का यह दिखाया गया है कि सब धर्म निःस्वभाव हैं। दूसरे शब्दों में यदि धर्म के तीन आकार हैं तो शासन का यह उपदेश क्या है कि यह शून्य और निःस्वभाव हैं। यह प्रश्न बड़े महत्व का है। यह देखना है कि युआन च्वांग कैसे नागार्जुन की शून्यता का त्याग कर वस्तुओं की विज्ञानसत्ता का व्यवस्थापन करते हैं।

उनका उत्तर यह है कि इन तीन स्वभावों में से प्रत्येक अपने आकार में निःस्वभाव है। त्रिविध स्वभाव की त्रिविध निःस्वभावता है। इस अभिसन्धि से भगवान् ने सब धर्मों की निःस्वभावता का देशना की है।

परिकल्पित निःस्वभाव है क्योंकि इसका यही लक्षण है (लक्षणेन)। परतन्त्र की निःस्वभावता इसलिये है क्योंकि उसका स्वयंभाव नहीं है। परिनिष्पन्न की निःस्वभावता इसलिये है क्योंकि यह परिकल्पित आत्म धर्म से शून्य है। परिनिष्पन्न धर्मपरमार्थ है। यह भूततथता है। यह विज्ञप्तिमात्रता है।

यह तीन निःस्वभावता क्रमशः लक्षणनिःस्वभावता, उत्पत्तिनिःस्वभावता, परमार्थनिःस्वभावता हैं।

साधना की गम्भीरता से मनुष्य विज्ञानोदधि के तट पर उठता है। यदि बुद्ध ने कहा है कि सब धर्म निःस्वभाव हैं तो इसका यह अर्थ नहीं है कि उनमें स्वभाव का परमार्थतः अभाव है। यह बुद्ध-वचन नीतार्थ नहीं है। परतन्त्र और परिनिष्पन्न असत् नहीं हैं। किन्तु मूढ़पुरुष विपर्यासवश उनमें आत्म-धर्म का अध्यारोप करते हैं। वह विपरीत भाव से उनका द्रव्यसत् आत्म धर्म के रूप में ग्रहण करते हैं। यह परिकल्पित स्वभाव है। इस ग्राह की व्यावृत्ति के लिये भगवान् सामान्यतः कहते हैं कि जो सत् है (द्वितीय-तृतीय स्वभाव) और जो असत् है (प्रथम स्वभाव) दोनों निःस्वभाव हैं। यदि परिकल्पित लक्षणतः निःस्वभाव है तो परतन्त्र ऐसा नहीं है। परतन्त्र उत्पत्ति निःस्वभाव है। इसका अर्थ यह है कि मायावत् यह हेतु-प्रत्यय-वश उत्पन्न होता है और यह परतन्त्र है। यह स्वयम्भाव नहीं है जैसा विपर्यासवश ग्राह होता है। अतः हम एक प्रकार से कह सकते हैं कि यह निःस्वभाव है, किन्तु वस्तुतः यह सस्वभाव है।

परिनिष्पन्न का विशेष रूप से विचार करना है। इसे भी हम उपचार से इस अर्थ में निःस्वभाव कह सकते हैं कि इसका स्वभाव परिकल्पित आत्मधर्म से परमार्थतः शून्य है। वस्तुतः स्वभाव का इसमें अभाव नहीं है। यथा यद्यपि महाकाश सब रूपों को आवृत करता है और उनका प्रतिबिम्ब करता है तथापि रूपों की निःस्वभावता को प्रकट करता है, उसी प्रकार परमार्थ शून्यता से, आत्म-धर्म की निःस्वभावता से, प्रकट होता है और निःस्वभाव कहा जा सकता है। किन्तु यह वचन परमार्थ नहीं है। इन धर्मों की शून्यता का वचन नीतार्थ नहीं है। विज्ञप्तिमात्रता परमार्थ है।

उत्कट विद्वान–सफल मंत्री

राजेंद्रप्रसाद

डा० संपूर्णानद जी भारत के उन सपूतों में हैं जिन्होने उसकी सेवा केवल राजनीतिक क्षेत्र मे ही नही की है पर उसके साहित्यिक उत्थान मे भी कम काम नही किया है। आप गाधी जी के असहयोग आदोलन में जोरो से शरीक हुए पर आपने ऐसा करते समय अपनी पुस्तको को अलमारियो में बंद नही कर दिया और असहयोग आदोलन में सक्रिय भाग लेते हुए कई ग्रंथ देश को और विशेषकर हिंदी-ससार को भेंट किए। इनमें कई तो अपने विषय के हिंदी में प्राय. प्रथम ही ग्रंथ थे और सभी एक जगह रखते हैं. जो प्रामाणिक ग्रंथों को ही मिल सकती है। जब-जब जरूरत पड़ी आपने जेल यात्रा की और समय आने पर मंत्रीपद को योग्यतापूर्वक सुशोभित कर रहे हैं। आप उन लोगों में हैं जिन्होने भारतवर्ष में एक नए युग के निर्माण मे भाग लिया है, स्वराज्य प्राप्ति में सहायक हुए हैं और स्वतत्र भारत की नैया चतुरतापूर्वक खेकर भँवरो से सुरक्षित रखने के प्रयत्न मे व्यस्त है। आप जैसे उत्कट विद्वान है वैसे ही सफल मत्री और शासक भी हैं। भारत को ऐसे सपूतो की जरूरत है और ईश्वर उनको बहुत दिनो तक उसकी सेवा करने का अवसर दे, यही मेरी प्रार्थना है।

दर्शन-ज्ञान के संग्रही

भगवान् दास

मुझे निश्चयता नहीं, क्योंकि वार्द्धक्य के कारण स्मृतिशक्ति मंद हो गई है, पर प्रायः १९२०–२१ के आसपास श्री सम्पूर्णानंद जी से जान पहिचान आरंभ हुई। जब तत्कालीन ब्रिटिश गवर्नमेंट ने सत्याग्रहियों की धर-पकड़ आरंभ की, तब आपने जेल के बाहर रहकर (स्यात् मेरे ही परामर्श से जो मैंने काशी के सेंट्रल जेल के भीतर से 'तिकड़म्' द्वारा इनसे कहला भेजा था) सत्याग्रहियों का व्यूहन समूहन बहुत कुशलता से किया और स्थानीय अधिकारियों को चक्कर में डाले रहे। स्थानीय हरिश्चंद्र स्कूल में (जो अब कालेज हो गया है) आप अध्यापक रहे, बीकानेर आदि रियासतों में भी काम किया फिर काशी विद्यापीठ में अध्यापक रहे, स्यात् अब भी वहाँ के अवकाश-प्राप्त अध्यापकों की सूची में आपका नाम पड़ा है, और उस संस्था की निरीक्षक सभा और प्रबंध कारिणी समिति के प्रमुख सदस्य हैं। यद्यपि विद्यार्थी अवस्था में आपने सायंस अर्थात् पाश्चात्य नवीन विज्ञान का विषय पढ़ा, पर इधर बीस बरसों में, विशेषकर कारावास में जब-जब आपका दीर्घकालीन निवास हुआ, उन दिनों में, संस्कृत भाषा के और दर्शनादि ग्रंथों के ज्ञान का बहुत अच्छा संग्रह किया। एक बार इन्होंने मुझसे कहा कि पातंजल योगसूत्रों को डेढ़ सौ बार कारावास में पढ़ गया। बंदीगृह के बाहर, सब प्रकार की सुविधाओं में रहकर, और पुस्तकों का व्यसनी होकर भी, मैं इतनी बार उन सूत्रों की उद्धरणी नहीं कर सका हूँ, यद्यपि सूत्र और व्यासभाष्य का शब्दानुक्रमणिका कोष बनाया और छपाया जिस के लिये अवश्य ही बहुत बार उनके पन्नों को उलट-पुलट करना पड़ा। सम्पूर्णानंद जी ने बहुत से ग्रंथ, छोटे भी, मोटे भी, बहुत विषय के, ऐतिहासिक, वेद संबंधी, गणेश देवता विषयक, समाज शास्त्र विषयक, दार्शनिक, आदि लिखे हैं, जिनके लिये आपको 'मंगलाप्रसाद पारितोषिक' मिला है। पर, जब से आप संयुक्त प्रांत में शिक्षामंत्री हुए हैं तब से मुझे जो आशा इनसे थी वह अब तक पूरी नहीं हुई है, अर्थात् शिक्षा के प्रकार में नितांत आवश्यक सुधार की। इस विषय पर मैं कई बार अंग्रेजी हिंदी दैनिकों में लिख चुका हूँ, और यदि मैं भूलता नहीं हूँ तो इनको भी निजी पत्र लिखा है। उद्देश्य मेरा यह है कि प्रत्येक विद्यार्थी के सहजात स्वभाव, स्वधर्म के अनुकूल (जिसका निर्णय निश्चय विशेषज्ञों द्वारा किया जाना चाहिए) जीविका के उपार्जन की उपयोगी शिक्षा देना चाहिए। अब ब्रिटेन, अमेरिका, विशेषकर रशिया और जापान में, इस ओर ध्यान दिया जाता है। ब्रिटेन में प्रत्येक विद्यापीठ तथा बड़ी पाठशाला में 'कैरियर-मास्टर' नियुक्त हैं, जो 'साइकालाजी' अध्यात्म विद्या, मनो-विज्ञान के विशेषज्ञ हैं और जिनका कार्य यही है कि प्रत्येक विद्यार्थी की चित्त-वृत्तियों की विविध प्रकार से परीक्षा करके निर्णय कर दें कि इसको इस प्रकार के व्यवसाय के लिये प्राकृतिक अभिरुचि और योग्यता, और उसीके लिये सुसज्ज करनेवाली शिक्षा इसको दी जाय। जिस दिन काशी विद्यापीठ का उद्घाटन, माघ संवत् १९७७ में महात्मा गांधीजी ने किया, उस दिन भी मैंने अपने भाषण में एकत्र महान जनसमूह का ध्यान इस ओर दिलाया था और प्रसिद्ध दोहा पढ़ा था—"कर बहत्तर पुरुष की, तामें दो सर्दार, एक जीव की जीविका, एक जीव उद्धार"—अब भी आशा करता हूँ कि सम्पूर्णानंद जी इस ओर ध्यान देंगे।

नवीन से नवीन–प्राचीन से प्राचीन

नरेंद्रदेव

श्री सपूर्णानद जी से मेरा प्रथम परिचय काशी मे हुआ जब मैं विद्यापीठ मे अध्यापन का कार्य करता था। यह सन् १९२१ की बात है। उस समय सपूर्णानंद जी ज्ञानमडल के प्रकाशन विभाग मे काम करते थे। इसके पूर्व वह डेली कालेज इंदौर मे थे और मैं फैजाबाद मे वकालत करता था। असहयोग आदोलन के कारण हम लोगो ने अपना अपना काम छोड़ दिया था। श्री जवाहर लाल नेहरू के कहने पर मैंने अपनी सेवाएँ काशी विद्यापीठ को अर्पित की। सपूर्णानद जी काशी के ही रहनेवाले हैं और स्वर्गीय श्री शिवप्रसाद जी गुप्त के कहने पर वह ज्ञानमंडल मे समिलित हो गए। गुप्त जी हिंदी के अनन्य भक्त थे और उन्होने हिंदी मे पुस्तके प्रकाशित करने की एक विस्तृत योजना तैयार की थी। इसीमे सहयोग देने के लिये उन्होने सपूर्णानद जी को आमत्रित किया। संपूर्णानद को पठन-पाठन का बहुत पहले से शौक था। उस समय भी उनकी दो-एक पुस्तके प्रकाशित हो चुकी थी। हम लोगो की प्रेरणा मुख्यतः राजनीतिक थी किंतु विद्या-व्यसनी होने के कारण हम दोनो की इच्छा यह थी कि राजनीतिक कार्य करते हुए कोई ऐसा काम भी करे जिससे पढ़ना-लिखना छूट न जाय। यो तो मुझे अपना कार्य-क्षेत्र फैजाबाद को ही चुनना चाहिए था पर वहाँ इस प्रकार की कोई सुविधा न थी। इस कारण जब जवाहरलालजी ने काशी विद्यापीठ जाने को कहा और मेरे मित्र श्री शिवप्रसाद जी ने निमत्रण भेजा तो मुझे अपना निर्णय करने मे अधिक समय नही लगा। मेरा आकर्षण राजनीति और पढने-लिखने की ओर विद्यार्थी-काल से ही रहा है। सपूर्णानद जी अध्यापक और लेखक दोनो थे। उन्होने प्रकाशन के काम मे सहयोग देना तुरत स्वीकार कर लिया। ज्ञानमडल के काम के साथ साथ वह राजनीति के काम मे भी काफी समय देते थे। वह स्थानीय कॉंग्रेस कमेटी के पदाधिकारी और एक प्रभावशील व्यक्ति थे। काशी के लिये मैं नया था। मेरा बहुत थोड़े लोगो से परिचय था। विद्यापीठ मे रहनेवाले सभी अध्यापको से बहुत जल्द घनिष्ठता हो गई क्योकि मैं भी उनके साथ रहता था किंतु वह सब मेरी ही तरह काशी के न थे। कॉंग्रेस के कार्य मे हम सब योग देते थे किंतु कमेटियो मे नही रहते थे। विद्यापीठ के हित मे भी हमने यही उचित समझा कि कमेटियो से अलग रहे। कमेटियो मे रहने से इसका भय था कि हम लोग भी कही किसी दलबदी मे न पड़ जायँ और यदि ऐसा होता तो उससे विद्यापीठ को क्षति पहुँचती। विद्यापीठ को सब की सहायता अपेक्षित थी। स्थानीय कॉंग्रेस कमेटी से सबध

न रखने के कारण मेरा सपूर्णानद जी से परिचय बहुत सामान्य था। मिलने-जुलने के अवसर बहुत कम मिलते थे। किंतु जब वह विद्यापीठ के अध्यापक हो गए तब परिचय धीरे धीरे बढने लगा। किंतु तिसपर भी घनिष्ठता न हो पाई। विद्यापीठ के काम के घटो में हम लोग अपने अपने काम में लगे रहते थे। अध्यापन के अतिरिक्त विद्यापीठ के जीवन में भाग लेने का उनको कम अवसर मिलता था। कदाचित् यही कारण रहा हो। किंतु मेरा ऐसा विचार है कि इससे भी कुछ गभीर कारण है जिससे हम लोगो में बहुत दिनो तक ज्यादा परिचय न हो पाया। मै स्वभाव से सकोची हूँ। जिनके साथ रहना होता है उनसे बहुत जल्द घनिष्ठता हो जाती है अथवा जो मुझसे परिचय बढाना चाहते है उनसे भी अच्छा परिचय बहुत जल्द हो जाता है। यह मित्रता अनायास या सयोगवश हो जाती है किंतु इसके लिये मै प्रयत्नशील नही होता। इसमें कोई अहमन्यता का भाव नही है, यह स्वभाव का सकोच मात्र है।

मेरा ऐसा अनुमान है कि सपूर्णानद जी का भी बहुत कुछ यही हाल है। उनकी मित्र-मडली छोटी है किंतु उसके साथ उनकी घनिष्ठता बहुत है। उस मडली के बाहर वह अधिकतर शिष्टाचार ही बरतते है। कदाचित वह मेरी अपेक्षा अधिक सकोची है। खैर! जो कारण रहा हो हम लोगो का यह सकोच बहुत दिनो तक बना रहा। जब सन् १९३८ में सोशलिस्ट पार्टी की स्थापना हुई और उसके बाद कुछ दिनो के लिये केंद्रीय कार्यालय बनारस आया तब हम लोगो में घनिष्ठता बढी।

श्री सपूर्णानद जी विद्याव्यसनी है। कई शास्त्र के विद्वान है। लिखते भी तेज है। बोलते भी तेज है। कमेटियो में बैठे हुए भी कभी कभी लेख लिख डालते है। मेरे लिये तो यह काम सर्वथा असभव है। फिर उनकी कई रचनाएँ प्रकाशित हो चुकी है और आज भी यह काम बद नही हुआ है। मत्रियो में सब से अधिक विभाग उन्ही के सुपुर्द है पर उनका काम कभी पिछडता नही और साथ साथ वह अपना पढना लिखना भी जारी रखते है। हिंदी भाषा पर उनका अच्छा अधिकार है। चिद्विलास इसका उत्कृष्ट प्रमाण है। आर्यों के आदिम निवास-स्थानपर उनका जो ग्रथ निकला है वह उनके चिंतन और विद्वत्ता का परिचायक है। हमारी पीढी के जो लोग राजनीतिक क्षेत्र में है उनमें वह सब से अधिक विद्वान् है। इतिहास, दर्शन, राजशास्त्र, विज्ञान, ज्योतिष समाजशास्त्र और साहित्य का अच्छा अध्ययन है। लोगो को यह जानकर आश्चर्य होगा कि उनकी चित्र-कला में भी अभिरुचि है। चित्रो का सग्रह करने का बडा शौक है। वह पत्रकार भी रह चुके है। ज्ञान मडल से कुछ दिनो तक अग्रेजी का एक पत्र निकलता था। उसका सपूर्णानद जी सपादन करते थे। कुछ दिनो तक काशी से समाजवादी दल की ओर से हिंदी का एक साप्ताहिक सन् १९३५ में निकला था। उसका भी सपादन वही करते थे।

उनके विचारो के सबध में निश्चित रूप से कुछ कहना कठिन है। वह आधुनिक भी है, प्राचीन भी है। एक दिक् देखे तो मालूम होगा कि वह नवीन से नवीन है। दूसरी ओर उनके आचार विचारपर प्राचीनता की गहरी छाप है। यह छाप कभी इतनी गहरी होती है कि उसका आधुनिक विचार-धारा से तीव्र विरोध पाया जाता है। यह ठीक है कि अतीत के गर्भ से वर्तमान का जन्म होता है। पुन अतीत और वर्तमान का नैरतर्य है। यह हम नही कह सकते कि यहाँ अतीत का अत होता है, यहाँ से वर्तमान का आरभ होता है। इसलिये असामजस्य का होना स्वा

भाविक है विशेषकर उन लोगों के लिये जिनकी आरंभिक शिक्षा-दीक्षा पुराने युग मे हुई हो। किंतु सपूर्णानंद जी मे प्राचीन अनुष्ठान और पद्धति के प्रति आकर्षण वहुत ज्यादा है। जव किसी व्यक्ति के विचार वदलने लगते है तो पहला प्रहार पुरानी रीति और पद्धति पर होता है। किंतु सपूर्णानद जी यथासंभव पुरानी पद्धति की रक्षा करते हुए नए विचार स्वीकार करते है। कदाचित् इसका यह कारण है कि वह वाल्यावस्था से ही ऐसी परिस्थितियो मे रहे है जिनमे रस्म-रिवाज और अनुष्ठानो का प्राधान्य रहा है। जिस कुल में किसी संप्रदाय विशेष की पद्धति प्रचलित है उसके सदस्यो पर इस प्रकार का प्रभाव विशेष रूप से पड़ता है। संपूर्णानंद जी से जव किसी विषय पर वातचीत कीजिए तो वह प्राय. आधुनिक दीख पड़ते है किंतु जव उनकी पूजा-पद्धति और अनुष्ठानों के प्रति अगाध प्रेम की ओर ध्यान दीजिए तो कुछ विचित्र-सा मालूम पड़ता है।

विचारो मे मतभेद होते हुए भी उनका सामाजिक संवध अपने पुराने साथियो के साथ आज भी वैसा ही है। यह उनके वडप्पन का सूचक है। आज भी जव कभी जयप्रकाश जी आदि समाजवादी नेता लखनऊ आते है तो वह उनको अपने घरपर भोजन के लिये निमंत्रित अवश्य करते हैं। उन्होने सार्वजनिक रूप से यह स्वीकार भी किया है कि समाजवादियो की सी मित्र-मडली उन्हे कभी नही मिली। मेरे ऊपर उनकी विशेष कृपा रहती है। शिक्षा-संवंधी कई कमेटियो का अध्यक्ष वनाकर उन्होने मुझे प्रचलित शिक्षा-पद्धतियो मे सुधार का प्रस्ताव करने का अवसर दिया है।

वह आदर्शवादी है। उनमे नैतिकता, दृढता और स्वाभिमान है। उनमे कार्य करने की अद्भुत क्षमता है। शरीर-संपत्ति भी अच्छी है। उनको गठिए का रोग अवश्य लग गया है जो उन्हे कभी-कभी परेशान करता है। मैने कभी पढ़ा था कि वड़े आदमियो को यह रोग होता है। वडे आदमी से आशय धनी व्यक्ति से नही है। वास्तव मे समाज मे उनका ऊँचा दर्जा है। किंतु आजकल की राजनीति के वह योग्य नहीं है। मै तो इसे गुण ही समझता हूँ। उन्होने अपने लिये कभी किसी से वोट नही माँगा। वह भाषण और लेख द्वारा विचारो का प्रसार कर सकते है किंतु किसी दल विशेष का संगठन नही कर सकते। यह कला उन्होने नही सीखी। शायद सीख भी नही सकते। उनके पीछे चलनेवाले वहुत थोड़े ही लोग होगे। अपनी योग्यता के कारण ही वह सचिव-पद को सुशोभित करते है। यदि वह सचिव न भी रहे तव भी अपनी विद्वत्ता के कारण उनका आदर होगा। उनको यह विश्वास है कि चाहे राजनीति मे रहे या न रहे साहित्य की तो सेवा वह कर ही सकेगे। जिसने केवल सरस्वती की उपासना की है उसको धन और शक्ति की अपेक्षा मान अधिक चाहिए। किंतु जो समाज का स्वरूप वदलना चाहता है उसको राज्य-शक्ति अवश्य चाहिए। संपूर्णानद जी राजनीतिक और साहित्यिक दोनो है। इसलिये उनको दो प्रकार की एषणाएँ है। राजशक्ति की एषणा का संतर्पण वह सरस्वती के प्रताप से ही कर सकते है अन्यथा उसके लिये वहुत कम अवसर है। दूसरी एषणा का संतर्पण उनके लिये वहुत सुलभ है।

उन्होने अपने जीवन के ६० वर्ष पूरे कर लिये है। इस शुभ अवसरपर उनके सभी मित्र उनको वधाई देते है और यह शुभ कामना करते है कि वह चिरायु हो और सदा समाज-सेवा मे रत रहे।

कठोर आवरण मे कोमल हृदय

कैलासनाथ काटजू

श्री सम्पूर्णानन्द जी की एकसठवीं वर्षगाँठ के इस शुभ अवसर पर उनका प्रेमपूर्ण अभिनन्दन करना मैं अपना गौरवपूर्ण अधिकार समझता हूँ। उनसे मेरा निकट परिचय सन् १९३७ में हुआ। उससे पूर्व कांग्रेस का अपेक्षाकृत एक साधारण कार्यकर्ता होने के कारण मैंने उन्हें भय और आदर के साथ दूर से ही देखा था। हम सभी लोग उन्हें स्वतन्त्रता-संग्राम का एक वीर सेनानी मानते थे। परन्तु ऐसा प्रतीत होता था कि वह अपने अत्यन्त निकट के परिचितों के अतिरिक्त अन्य किसी से भी कोई घनिष्ठ परिचय करना नहीं चाहते थे। यही नहीं, उनसे न वचन थे। और फिर, उनका और मेरा रास्ता अलग-अलग रह चुका था। अध्यापक होने के कारण वे अपने विद्यार्थियों के लिये नियम निर्धारित करने तथा अपने विषय को इस रूप में प्रतिपादित करने के अभ्यस्त थे जिसमें तर्क के लिये स्थान नहीं था। युक्तप्रान्त के एक कांग्रेसी नेता के रूप में सभी लोग उनका आदर तथा उनके आदेश का पालन करते थे। उधर मैं कचहरियों में काम करने का अभ्यासी ठहरा, जहाँ कोई भी बात स्वयंसिद्ध नहीं मानी जाती, जहाँ प्रत्येक बात की छानबीन बड़ी बारीकी से की जाती है और जहाँ अंग्रेजी की इस कहावत की सत्यता प्रायः प्रमाणित होती है कि 'सभी चमकदार वस्तुएँ सोना नहीं होतीं' जिसके कारण केवल चमकदार और नकली माल के व्यापारियों को निराश ही होना पड़ता है। कचहरियाँ और कुछ नहीं तो कम से कम विनय की शिक्षा देती हैं और कुतर्क और विरोध दोनों को सहन करने का अभ्यास कराती हैं। कहते हैं कि वकील को तर्क और वादविवाद में रस आता है। जो कुछ हो, परन्तु इतना अवश्य है कि वह एक अच्छा श्रोता होता है, या उसे ऐसा होना चाहिए, अपनी त्रुटियों के सुधार से उसकी कोई क्षति नहीं होती, न उसका आत्मसम्मान ही कम होता है।

युक्तप्रान्त के प्रथम कांग्रेसी मन्त्रिमण्डल में हम और सम्पूर्णानन्द जी एक साथ पड़ गए थे। और तभी मुझे विदित हुआ कि वे कठोर बाह्य आवरण के भीतर अपना कितना कोमल और शुद्ध हृदय यत्नपूर्वक सावधानी से छिपाए रहते थे। उनकी बौद्धिक प्रतिभा, मानसिक दृढ़ता तथा तार्किक शक्ति का परिचय भी मुझे उसी समय मिला। जैसा मैंने अन्यत्र कहा है, युक्तप्रान्त का १९३७-३९ का छोटा सा मन्त्रिमण्डल सचमुच एक भाइयों के दल की तरह काम करता था (उसमें एक बहिन भी थीं) और हम लोगों में जैसी आत्मीयता, गहरा स्नेह तथा सार्वजनिक हित के लिये एक होकर काम करने की भावना थी वैसा मैंने आजतक अन्यत्र कहीं नहीं देखा। उस दल में सम्पूर्णानन्द जी का स्थान सब में प्रमुख था। हम लोगों ने प्रान्त की शिक्षा का सम्पूर्ण भार उनके ऊपर छोड़ दिया था और हम सब को पूरा पूरा विश्वास था कि वे इस उत्तरदायित्व का भली-भाँति निर्वाह करेंगे और अपने कार्यों के भारतव्यापी प्रकाश द्वारा युक्तप्रान्त की सरकार तथा जनता के गौरव

और कीर्ति बढाएंगे। आरभ से ही ऐसा विदित होता था कि प्रात की शिक्षा के भावी रूप का पूरा-पूरा चित्र उनके मन में था, और यद्यपि उस समय से आजतक बीच में सात वर्षो का व्यवधान पड़ा तथापि अटल निश्चय और पूरे बल के साथ अपनी योजनाओं को कार्यान्वित करने में तत्पर रहे है। मै स्वय कोई शिक्षाशास्त्री नही हूँ, परंतु विशेषज्ञ न होनेपर भी इतना समझ सकता हूँ कि उन्होंने कैसे अद्भुत कार्य किए है ओर दृढ़तापूर्वक कैसा भव्य निर्माण कर रहे है।

मेरा और उनका परिचय यही समाप्त नही होता। जीवन मे मेरा प्रथम वास्तविक अवकाश नवंबर १९४० का व्यक्तिगत सत्याग्रह आंदोलन आरभ होने के थोड़े ही समय बाद फतहगढ़ जेल में आरंभ हुआ। किसी कारणवश तत्कालीन सरकार ने युक्तप्रात के मत्रियों को पृथक् रखने का निश्चय किया और कुछ ही दिनो के भीतर हम लोगो में से तीन--संपूर्णानंद जी, हाफिज मुहम्मद इब्राहीम और मं---उस प्राचीन तथा पुराने ढंग के बने हुए जेल के एक छोटे से बैरक में डाल दिए गए। अब हमारा दल पूरा होने में केवल हमारे प्रिय मित्र रफी अहमद किदवई की कमी थी जिनकी हम कई सप्ताह तक प्रतीक्षा करते रहे; परंतु वे नहीं आए और उनके स्थानपर बहुत समय के बाद एटा अदालत के मेरे एक प्रिय मित्र बाबूराम वर्मा आए। यह मेरा दुर्भाग्य था कि मं केवल तीन मास से कुछ ही अधिक फतहगढ में रहने पाया; बहुत बीमार हो जाने के कारण मं इलाहाबाद भेज दिया गया। किंतु जब कभी मं इन तीन महीनो की सुधि करता हू तब ऐसा अनुभव होता है कि यह मेरे जीवन का सब से अधिक सार्थक और महत्वपूर्ण समय था। उसके पहले मं ससार को केवल कचहरी की खिडकियो से ही देखा करता था, और मेरा अधिकाश ज्ञानसग्रह कानून के ग्रंथो मे से ही हुआ था। कानून की पुस्तकों में आध्यात्मिक विषय की चर्चा नही रहती। परतु फतहगढ मे, संपूर्णानंद जी के प्रेम तथा प्रेरणापूर्ण मार्गप्रदर्शन से मेरे लिये अध्यात्म-लोक का भी द्वार खुल गया। मैंने कुछ हिंदी साहित्य का अध्ययन किया, अनेक धार्मिक ग्रंथ पढे और संपूर्णानंद जी के साथ मेरे जो वादविवाद हुए उनका मेरे हृदयपर स्थायी प्रभाव पड़ा। उस समय मैंने निकट से उनकी विद्वत्ता, जीवन के प्रति उनका दार्शनिक दृष्टिकोण और सब से बढ़कर उनके जीवन की पवित्रता देखी। जैसा मै कह चुका हू, मै तो वहाँ से चला आया परंतु गुरु की छाप अमिट हो गई। उन्होंने निश्चित रूप से मेरी दृष्टि दूसरी दिशा में फेर दी। उसके बाद फिर हमलोग अलग हो गए। सन् '४२ के आंदोलन में उनके साथ रहने की बहुत इच्छा थी, परतु वह संभव नही हुआ। वे बनारस जेल में थे और मै प्रयाग के निकट नैनी जेल में था। सन् '४६ में जब युक्तप्रांत का नया मत्रिमडल बना तब फिर हमारा निकट का साथ हुआ। पर न जाने क्यो, इसबार कुछ अभाव सा अनुभव होता था। वह पुराना आकर्षण लुप्त हो गया था, और यद्यपि इसमें कुछ भी सदेह नही कि हमलोग खूब मिलजुल कर सुचारु रूप से कार्य कर रहे थे, पर न जाने कौन-सी वस्तु खो सी गई थी। मेरा स्वास्थ्य भी अच्छा नही था और मै कई प्रकार की योजनाएँ बनाने में संलग्न था, जो संपूर्णानंद जी के मन में उतनी नही जमती थी। मै तीन मास के लिये अमेरिका गया और दो वर्ष से कुछ अधिक समय से युक्तप्रांत से बिलकुल बाहर हा रहा हूँ। पर उनके साथ जुड़ी हुई मेरी मित्रता शेष जीवन भर बनी रहेगी। हममें से जो लोग उनकी वास्तविक योग्यता, उनके विशुद्ध चरित्र और सर्वोपरि उनके हृदय को स्वाभाविक कोमलता को जानते है वे सदा उन्हें अपने हृदय में रखेंगे और मुझे तो फतहगढ के वे तीन महीने कभी न भूलेंगे। उस समय उन्होने मेरे लिये जो कुछ किया उससे मै उनसे कभी उऋण नही हो सकता केवल इस जीवन में नहीं, बल्कि जन्मातरमें भी।

श्री संपूर्णानंद जी—कुछ संस्मरण

श्रीप्रकाश

श्री संपूर्णानंद जी से मेरी पहली मुलाकात सन् १९२० में हुई थी। श्री शिवप्रसाद गुप्त जी का परिचय पत्र लेकर वे मुझ से मिलने आए थे। उस समय वे बीकानेर रियासत में अध्यापक थे। महात्मा गांधी जी के आयोजन की ध्वनि उनके पास पहुँच चुकी थी। देश के राजनीतिक गगन में नए सूर्य का उदय हो रहा था। सब के हृदयों में नई आशाएँ कल्लोल कर रही थीं। कोई आश्चर्य नहीं कि संपूर्णानंद जी का भी विचार हुआ कि अब घर चला जाय। इस नए प्रवाह में अपने को भी बहा दिया जाय, आगमित और आकाशित घटनाओं में कुछ भाग लिया जाय। पर साहसी से साहसी गृहस्थ को भी जिसे नानाप्रकार की कौटुंबिक और सामाजिक चिंताएँ अनिवार्य रूप से घेरे रहती है, कुछ खड़े होने का स्थान तो खोजना ही पड़ता है। संपूर्णानंद जी अवश्य ही उन पुरुष विशेषों में है जो सांसारिक आवश्यकताओं पर अधिक ध्यान नहीं देते और जब कुछ निश्चय कर लेते है, तब उसके अनुसार बिना आगा-पीछा देखे काम कर ही डालते है। आगे की संभावनाओं से भयभीत नहीं होते। तथापि उस समय वे श्री शिवप्रसाद जी से मिले थे। काशी में ज्ञानमंडल नाम की संस्था शिवप्रसाद जी ने स्थापित की थी। संपूर्णानंद जी ने बीकानेर से चले आने का निश्चय तो कर ही लिया था, पर साथ ही उनका यह विचार था कि यदि ज्ञानमंडल के काम में काशी के सार्वजनिक जीवन में भाग लेते हुए, सहयोग दे सकें तो देना चाहिए। इस संस्था का संघटन शिवप्रसाद जी ने मुझे सिपुर्द कर रखा था। इसी कारण उन्होंने संपूर्णानंद जी से मुझसे मिल लेने को कहा।

जेल में बहुत दिन पीछे संपूर्णानंद जी ने मुझसे कहा था कि खाने का तो मुझे अवश्य शौक है, पर कपड़े का नहीं। जेल में वे स्वयं कई प्रकार का खाना बनाया करते थे और बड़े प्रेम से भोजन करते थे। पर सभी मित्रों ने देखा भी होगा कि वे अपने वस्त्रों के संबंध में बड़े ही लापरवाह रहते है। कुछ ही पहन कर निकल पड़ते है। गर्मियों में तो घर पर वे प्रायः नंगे बदन ही रहते है। इस संबंध में वे काशी की सामाजिक परंपरा के ही अनुयायी है। पर जब पहली बार वे मुझसे मिलने आए, तब वे पैजामा, शेरवानी सब कुछ पहने हुए थे। ऐसे वस्त्र में मैंने उसी समय उन्हें देखा। फिर कभी इस रूप में उन्हें देखने का अवसर मुझे नहीं मिला। संभव है बीकानेर में राज दरबारों के नियमानुसार वस्त्रों पर आग्रह किया जाता रहा हो। पर मैंने यह अवश्य पाया कि

यदि 'वर्दी' पहनने की आवश्यकता होती है, तो उन्हें कोई आपत्ति भी नही होती। जब १९३६ की लखनऊ की कांग्रेस में वे स्वयंसेवकों के नायक थे तब उस पद की भीषण वर्दी वे पहनते ही थे और ठेहुनी तक के लम्बे बूट पहने हुए वे वहाँ अपने कर्तव्यों का पालन करते थे। पर साधारणत उनके कपड़े ढीले-ढाले किसी प्रकार से शरीर पर पडे हुए ही देख पड़ते हैं। उनके केशों की समता नही रहती। कभी कटे हुए, कभी लम्बे देख पडते हैं। मस्तक पर वे टीका अवश्य लगाते हैं। जब बाल छोटा भी कटाते है, तो शिखा सुरक्षित रहती है। कभी-कभी वे दाढी भी रख लेते है, पर साधारणत. उनकी दाढ़ी मुड़ी ही रहती है। पर मित्रों को इसका कभी निश्चय नही रहता कि वे किस रूप में, किस प्रकार के वस्त्र में किस समय देख पडेंगे। इस प्रकार की अस्तव्यस्तता उन्हें विशेष रूप से व्यक्तित्व प्रदान करती है और आकर्षक सहयोगी का रूप देती है।

श्री सपूर्णानद जी का आरभ मे ही ज्ञानमडल मे संबध रहा। उनकी विद्वता उस समय ही विख्यात हो चुकी थी। वे शिक्षक का काम वृंदावन में, इदोर में, और बीकानेर में कर चुके थे और सभी स्थानों पर विद्यार्थियो और संस्थाओ दोनो पर ही अपनी छाप छोड आए थे। वे कई पुस्तके लिख चुके थे। पर जिस समय की चर्चा मै कर रहा हूँ, उनका ध्यान राजनीति में ही विशेष प्रकार से था और उसीमें वे पड भी गए। वातावरण वडा अशात था। कितने ही कार्यकर्ता वडे असमजस में थे। एक तरफ से महात्मा जी की पुकार थी जिसके सुननेवालो को अपना सर्वस्व दे देने को सदा प्रस्तुत रहना होता, दूसरी तरफ घरवालो की माँग थी जिसकी भी चिंता साधारण जन को करनी ही पड़ती है। मुझे स्मरण है कि एक बार इन्ही सब बातों की चर्चा पिता जी हम सब से कर रहे थे। वे स्वयं उन लोगों में है जो यह नही पसंद करते कि बिना विचारे, बिना आगे पीछे देखे, बिना अपने और अपने आश्रित जनों के लिये समुचित प्रबध किए कोई कुछ कर बैठे। उनका कहना है कि अंततोगत्त्वा प्रत्येक व्यक्ति का भार समाज पर ही पडता है। यदि कोई बहादुरी दिखाने, तीसमार खाँ बनने निकल पड़ता है, तो किसी को तो उसकी फिकर करनी ही पड़ती है। इस प्रकार से अनायास भार किसी के लिये भी किसी दूसरे के ऊपर डालना उचित नही है इस कारण अपनी-अपनी जिमेदारी सब को स्वयं ही उठानी चाहिए। पर सपूर्णानद जी के जीवन के ये तर्क नही है। मुझे स्मरण है कि जब अपने योगक्षेम के सबंध मे पिताजी ने प्रबंध करने की आवश्यकता पर सब का ध्यान आकृष्ट किया, तो सपूर्णानंद जी ने यही कहा कि मैंने इस बातपर कभी विचार ही नही किया। न वे करने को तैयार थे। सभवत सपूर्णानद जी को यह विश्वास है कि ईश्वर सब को सम्हालता है। वह अवश्य ही सदा सब का सहायक होगा। मै यह नहीं जानता कि उनकी वास्तविक आन्तरिक भावना क्या है, पर मै संपूर्णानद जी की प्रशसा अवश्य करूँगा कि उन्होंने इतने साहस से सार्वजनिक जीवन मे प्रवेश किया और इसकी चिता न की कि आगे क्या होगा। आज उनके जीवन की सासारिक दृष्टिसे तथाकथित सफलता देखकर कोई कुछ भी क्यो न कहे, पर जब मै यह विचार करता हू कि किस स्थिति में वे सार्वजनिक जीवन में आए आर्थिक दृष्टि से उस समय उनकी कितनी अनिश्चित दशा थी तो यह कहना ही पड़ेगा कि उन्होंने बड़ा ही सत्साहस किया।

मै यह तो नही ही कह सकता कि सपूर्णानंद जी से मेरा अधिक निकट का सपर्क रहा है। मेरा ऐसा ख्याल होता है कि तीस वर्षो के करीब का साथ होते हुए भी उनसे मेरा उतना निकट

या समय नहीं स्थापित हो सका, परस्पर का वह सौहार्द्र नहीं पैदा हो सका, जैसा कि और साथियों और सहयोगियों से हुआ है। मेरा ऐसा ही विचार होता है कि सार्वजनिक जीवन के अपने साथ के साधनाओं में संभवत हम दोनों एक दूसरे को किसी कारण अच्छी तरह से पहचान न सके, इनसे उतनी व्यक्तिगत समीपता नहीं हो सकी जो कि प्रायः साथ काम करनेवालों में हो जाती है। ऐसा प्रतीत होता है कि हममें परस्पर का कुछ संकोच रहा है। मैं नहीं कह सकता कि उनके अन्य साथियों का भी यही अनुभव है, पर मेरा अवश्य है। इनके प्रति मेरा आदर और सत्कार का भाव कुछ दूर से ही रहा। तथापि इसके कारण परस्पर की मित्रता और हर कार्य में संपूर्ण सहयोगितामें कदापि अंतर नहीं पड़ने पाया जिसके लिये मैं उनके प्रति अनुगृहीत हूँ। साथ ही मेरे लिये यह कह देना अनुचित न होगा कि जहाँतक मैं समझ सका श्री संपूर्णानंद जी के हार्दिक मित्र संभवतः बहुत थोड़े हैं। संभव है उनकी प्रकांड विद्वत्ता, उनकी सामाजिक व्यक्तिवादिता से लोग घबराते हों। संभव यह भी है कि पुरातन आर्य संस्कृति को ही ये मानते और निबाहते हैं जिसमें बराबरी का भाव नहीं माना गया है। प्रत्येक व्यक्ति से सब दूसरे चाहे छोटे होते हैं चाहे बड़े। सहोदर भाई भी छोटे-बड़े ही होते हैं। एक वर्षमात्र की अवस्था के ही अंतर में 'आप' और 'तुम' का संबंध रहता है। रामायण के पात्रों के पारस्परिक व्यवहार में यह भाव भली प्रकार से प्रदर्शित हुआ है। चारो भाइयों में अवस्था की दृष्टि से बहुत ही कम अंतर रहा होगा, पर ग्रंथोंमें उनकी छोटाई-बड़ाई का भीषण निरूपण है। आधुनिक समय में बराबरी पर बड़ा जोर है—मैं अपने को इसीका प्रतीक मानता हूँ—और मित्रता इसी भावपर अवलंबित समझी जाती है। पुराने समय में ऐसी बात नहीं थी। पुराना 'सखा' शब्द भी बराबरी का द्योतक नहीं है। मेरा ऐसा विचार है कि संपूर्णानंद जी इसी परंपरा, इसी परिपाटी के अनुयायी हैं। संभव है इसी कारण उन्हें वह हार्दिक व्यक्तिगत मित्रता न मिली हो जो साधारण जन समाज की अपनी यात्रा के लिये आवश्यक मानते हैं और जिसकी खोज में वे सदा रहते भी हैं। संभव यह भी है कि मैं गलती कर रहा हूँ।

जो कुछ हो जहाँतक मैं जानता हूँ संपूर्णानंद जी के अधिकतर मित्रगण उनका आदर, सम्मान और सत्कार ही करते हैं। उन्हें बड़ा ही मानते हैं। जो उनके निकटतम व्यक्तिगत मित्र हैं, उनका भी यही भाव है। जिस स्थिति में संपूर्णानंद जी ने काम किया है उसमें किन्हीं दूसरों को अपने से बड़ा मानने का उन्हें अवसर भी नहीं मिला या ऐसा अवसर उन्होंने अपने को दिया ही नहीं। श्री संपूर्णानंद जी में आकर्षणशक्ति भी पर्याप्त मात्रा में है जो उनकी नेतृत्व-क्षमता की सूचक है। कितने ही लोग आपके पास आना और रहना पसंद करते हैं। अपनी बौद्धिक शंकाओं का समाधान इनसे 'प्रणिपात' 'परिप्रश्न' और 'सेवा' की पुरानी निर्धारित विधि के अनुसार करते हैं और ये भी वात्सल्य से अपने विस्तृत ज्ञान का अंश प्रसन्नतापूर्वक उन्हें प्रदान करते हैं। वास्तव में श्री संपूर्णानंद की विद्या का भंडार बहुत ही बड़ा है। मुझे तो आश्चर्य होता है कि इन्होंने इतना ज्ञान-विज्ञान, इतने विविध शास्त्रों का संचय कब किया। साधारण दृष्टि से यदि देखा जाय तो इनके पास नैसर्गिक साधन बहुत कम थे। मुझसे वे कहते थे, जब मैंने इनके ज्योतिष के ज्ञानपर आश्चर्य प्रकट किया, कि 'मेरी तो प्रयोगशाला मेरे जाड़ेवाले दोतल्ले मकान की छत ही रही।' शायद ही कोई विषय हो जिसपर ये अधिकार के साथ न बोल-लिख सकते हों। अध्यापन का इनका प्रकार भी बड़ा मोहक है और जिस सरल प्रकार से ये गूढ विषयों को भी सामने रख सकते हैं उससे विद्यार्थियों और विद्याप्रेमियों को बात समझने में बड़ी सुविधा होती है।

आप कितनी ही भाषाएँ जानते है और सब का ही शुद्ध प्रयोग करते है—यह बहुत बड़ी कला है। संस्कृत, अंगरेजी, फारसी, हिंदी, उर्दू सभी आप अच्छी तरह जानते हैं। सब के व्याकरण और कोष से आप परिचित हैं। सब के ही साहित्य का आपने मनन किया है। आप वेदों को भी सरलता से पढ समझ लेते है यद्यपि उसकी भाषा परिचित संस्कृत से बिलकुल ही पृथक है। दर्शन, इतिहास, विज्ञान, सब का ही आपने अध्ययन किया है और आप की धारणाशक्ति भी ऐसी विलक्षण है कि आपको सब पढ़ी बाते याद है। आपको इस बात का दु.ख रहा कि गाधीयुग मे हमारे विद्यार्थियों और कार्यकर्ताओं ने पुस्तक पढना ही छोड़ दिया जिससे उनके ज्ञान मे वृद्धि न हो सकी और मनन करने, बात समझने की उनकी शक्ति ही जाती रही।

ऐसा होते हुए भी बहुत से लोगों को सपूर्णानद जी के ज्ञानभंडार से लाभ हुआ। आपकी पुस्तके, आपके भाषण और आपके वार्तालाप से बहुत लोगो ने बहुत कुछ सीखा है। जेल मे आप सब को ही नानाप्रकार के साहित्य पढने को उत्साहित करते रहे। स्वय भी भाषण देकर लोगों की ज्ञानवृद्धि मे सहायक थे। कितनों को ही रात्रि के समय ताराओं के नाम बतलाकर ज्योतिष पढ़ने मे प्रवृत्त किया। नवयुवकगण आपसे अवश्य आकर्षित होते है और जेल में मुझे यह देखने का अवसर मिला कि इनके पास बराबर ही कुछ लोग बैठे रहते थे और इनकी शारीरिक सेवा भी करते थे जिसकी कि बढती हुई अवस्था मे सब को ही आवश्यकता होती है। विद्या का आपको आग्रह भी है। सभव है मित्रगण उनमे वह विनय और नम्रता न पावे जिसकी प्राय सब से ही अपेक्षा की जाती है। इसके अभाव से सभव है कुछ गलतफहमी भी हो और बहुत से लोग बिना विचारे यह समझ ले कि इनमे मद है, गर्व है। ऐसे विद्वान को अभिमान होना स्वाभाविक भी है। मुझे स्मरण है कि एकबार पिताजी से किसी प्रसंग मे इन्होने कहा था—'मेरा तो यही विचार रहा कि हिंदी में लेखक केवल एक है और उनका नाम है संपूर्णानंद'। पिताजी की विद्वत्ता प्रसिद्ध है। जब उनसे इन्होंने ऐसा कहा तो कुछ समझकर ही कहा होगा। यह १९२२ की गया काग्रेस के समय की बात है। मेरा उनका परिचय थोड़े ही दिन पहले हुआ था। तबतक मैंने उनकी कोई पुस्तक नही पढ़ी थी। पीछे कई पढी। अवश्य ही मुझे उनकी विवेचना शक्ति, उनकी वर्णनशक्ति और उनके ज्ञान के विस्तार पर आश्चर्य हुआ। यदि अपने सबंध मे इतनी छोटी ही अवस्था मे उनका ऐसा विचार हुआ तो कोई आश्चर्य नही।

विद्वानों और अध्यापकों का साधारण अनुभव यही होता है कि वे ऐसे ही लोगों से अधिकतर संपर्क में आते है जो उनसे कम जानते है, जिन्हें कुछ जानने की आवश्यकता होती है। इस कारण उनके व्यवहार का एक विशेष प्रकार हो जाता है जो अनिवार्य भी है। जो लोग ऐसे विद्वानों से अपने को कम नही समझते उनको इनसे व्यवहार करने मे कष्ट भी होता है। कभी-कभी बुरा भी लगता है। ऐसे भाव के उत्पादन के अपवाद श्री सपूर्णानद जी नही कहे जा सकते। इंगलैंड में कानून के मेरे एक शिक्षक ने मुझसे कहा (जब मैंने उनकी विद्वत्ता की प्रशसा की थी)—'हम शिक्षकों को सामाजिक जीवन मे बुरा बनना पड़ता है। वहाँ भी हम भूल जाते है कि हम शिक्षक नही है जो कम जाननेवाले विद्यार्थियों की बात काट-काट यह कह सकते है कि ऐसा नही ऐसा है। वहाँ तो बराबर का ही व्यवहार करना चाहिए, पर हम ऐसा करना भूल जाते है जिससे गलतफहमी हो जाती है, परस्पर की ग्लानि भी फैलती है।' मेरी समझ में यह बात श्री सपूर्णानंद के संबंध में भी कही

जा सकती ह। इसमें उनका कोई विशेष दोष नहीं है और मित्रों को इसके लिये तरह देना ही चाहिए। विशेष शायद ही किसीने कभी श्री सपूर्णानदजी को यह कहते सुना हो कि 'मुझसे गलती हुई' 'मुझे इसका दुख है' जैसा कि हम साधारण सामाजिक व्यक्ति सदा ही कहते रहते हैं और जिसे परस्पर के समुचित व्यवहार के लिए उचित भी समझा जाता है। मित्रों का यही अनुभव हुआ होगा कि वे जो एकबार कह देते हैं, उसे ही वे ठीक समझते हैं। उसे वापस लेने या बदलने की उन्हें कोई आवश्यकता अनुभव नहीं होती यद्यपि यह नहीं कहा जा सकता कि वे सदा ठीक बात या उचित प्रकार से ही बात कहते हैं। मैंने स्वय कई बार उन्हें अविवेक के साथ अनुचित रूप से बातें करते सुना है पर ध्यान दिलाने पर भी वापस लेते उन्हें नहीं जाना है। दोषी होते हुए भी मेरी समझ में वे क्षम्य हैं। मित्रों ने यह भी देखा होगा कि यदि उनकी बात नहीं मानी जाती तो वे चुप हो जाते हैं, उन के चेहरेपर दुख और मान की सयुक्त भाव देख पड़ते हैं। वे बहस करना पसद नहीं करते। सब विषयों और सभवत सब मनुष्यों के सबध में उनके निश्चित विचार हैं। उसमें परिवर्तन नहीं होता। वे उसे व्यक्त करने में सकोच भी नहीं करते। यद्यपि मैं जानता हू कि अविवेकी विरोधियो ने—और ससार में सब के विरोधी भी होते ही हैं—इनपर ईर्ष्या और कृतघ्नता तक का शाप लगाया है। अपने व्यक्तिगत पदका भी छोटी अवस्था से आपको बड़ा मान रहा है। हम सबका ही यह अभ्यास होता है कि जिसे हम जानते हैं, उसके सामने आते ही-अभिवादन या परिचय के रूप में हाथ उठा देते हैं। इसकी नहीं प्रतीक्षा करते कि वह पहले उठावे तब हम उसका अभिवादन स्वीकार करें। ऐसी बात सम्पूर्णानन्द जी में नहीं है। इसका वे ध्यान रखते हैं कि किसे पहले अभिवादन करना चाहिये, वैसाही वह करें। बहुत से लोगों को तो ऐसा भी विचार हो सकता है जो ठीक नहीं है—कि वे स्वय किसी के भी सामने पहले हाथ उठाना पसद नहीं करते। पर जिनको वे वास्तव में बड़ा मानते हैं—ऐसे बहुत ही थोड़े लोग हैं—उनका वे पर्याप्त आदर सम्मान करते हैं। व्यावहारिक दृष्टि से उनके कई सामाजिक आचरणो में उनका भाव दूषित समझा जा सकता है पर सद्धान्तिक दृष्टि से और विषयस्थितियो में निर्णायक बुद्धि की दृष्टि से यह गुण भी हो सकता है। स्मरण रहे कि राजनीतिक क्षेत्र में जहाँ बहस ही बहस रहती है, आपने सफलता पूर्वक ३० वर्ष व्यतीत किए हैं। ऐसी दशा में आपके आतरिक भावो की, आपके दृष्टिकोण की आपकी सूक्ष्मदर्शिता, विचारधारा और कार्यप्रणाली की प्रशसा ही करनी होगी। मैंने यह सब लिखना आवश्यक समझा जिससे वस्तुस्थिति को न जानते हुए जो उनके साथ अन्याय करते हैं वे ऐसा न करें।

श्री सपूर्णानद को निकट से मैंने कई क्षेत्रों में उनके साथ काम किया है और उन्हें काम करते हुए देखा है। ज्ञानमडल और विद्यापीठ में बौद्धिक काम इन्होंने किया है। काग्रेस समितियों में राजनीतिक और म्युनिसिपैल्टी में सामाजिक काम भी इन्होंने किया है। व्यवस्थापक-सभा के ये प्रमुख सदस्यों में रहे हैं और राजमत्री की हैसियत से शिक्षा, श्रम, और अर्थ-विभागों को इन्होंने सम्हाला है। यदि किसी कार्य में ये लग जाते हैं तो अत्यधिक परिश्रम कर सकते हैं। 'टुडे' नाम के अगरेजी दनिक का इन्होंने जब सपादन किया था तो रात दिन इन्होंने छापाखाना में रहकर काम किया था। जब श्री जवाहरलाल के निमत्रण पर इन्होंने पडित मोतीलाल नेहरू के साथ सेना सबधी मामला के अन्वेषण की योजना समिति में काम किया तब भी इनको बड़ा श्रम करना पड़ा। पर जब किसी काम में इनका मन नहीं लगता तो इन्हें विवश कर काम कराना कठिन है। अपने योग्य काम का इनका

निर्धारित स्तर है। वह बहुत ऊँचा भी है। वह प्राप्त होने पर इनकी विलक्षण कार्यशक्ति देख पड़ती है। वह ऐसे लोगों में नहीं हैं जो जो ही काम मिले उसमे 'लद्दू बैल' की तरह लग जॉय। ज्ञानमंडल के लेख के और विद्यापीठ के अध्यापकमात्र के काम मे इनका मन नही लगता था, प्रातीय काग्रेस समिति के मंत्री मात्र का काम भी उन्हें पसंद न था। तृतीय श्रेणी के जेल में उन्हें मानसिक ग्लानि होती थी। जब राजनीतिक कार्य में शिथिलता आती थी, तो वे बीमार पड जाते थे। उस समय की उनकी दशा से ही प्रतीत होता था कि उन्हे कितनी मार्मिक वेदना है। म्युनिसिपैलिटी की सदस्यता, व्यवस्थापक सभा की सदस्यता उन्हे पसंद रही। वहाँ उन्होंने उत्तम काम भी किए। मत्री पद पर तो उन्होंने पर्याप्त ख्याति प्राप्त की है। सत्कार के साथ सुननेवालों के बीच इनकी शास्त्रचर्चा मुझे सब से अधिक आकर्षित करती है। सभवत उन्हे भी यह स्थिति सब से अधिक प्रिय है। नानाप्रकार के शास्त्रो का इन्होने समन्वय कर रखा है। समाजवाद, साम्यवाद, आदि ऐसे शास्त्र माने जाते है जो आदमी को नास्तिक कर देते है। पर ये सर्वथा आस्तिक पुरुष हैं। इनकी दिनचर्या पुरातनवादी आर्य की ही तरह है। साधारण पुरानी परंपरा के उपासक गृहस्थ की ही तरह ये रहते है। प्रति चौबीस घंटे को ये दो दिन और दो रात में विभक्त करते हैं। बहुत जल्दी प्रात काल उठकर भीषण शीतकाल मे भी प्रात कृत्य स्नानादि से उसी समय निवृत्त होते है। संध्यावदन नियमित रूप से करते हैं। चंदनादि का प्रयोग भी रखते हैं। दोपहर को भोजनोपरात निद्रा भी लेते है। सायकाल फिर प्रात-काल के सब कृत्य करते हैं। रात को यदि देरकर सोते है तो भी प्रात.काल जल्दी ही अपने समय से उठ जाते है। इस प्रकार पुरातन और नूतन प्रकारों का इनमे समन्वय हुआ। आधुनिक सब शास्त्रो को जानते हुए भी अपने जीवन का प्रकार पुराने ढग का ही बनाए हुए है। यह भी उनकी प्रशंसा की ही बात है।

धार्मिक बातो में सपूर्णानद जी को आग्रह भी पर्याप्त रूप से है। साधारण तौर से हम हिंदुओं को धार्मिक मामलों में बहस करने में कोई सकोच नही होता। ईश्वर के अस्तित्व पर ही बिना भय विचार विनिमय किया गया है। गगाजी के तट पर काशी मे कृष्ण और राम के उपासकगण प्रतिदिन अपने-अपने आराध्य पुरुषों की प्रशंसा और दूसरे का दोषनिरूपण करते ही रहते है। मेरा भी ऐसा ही विचार था कि हम अपने देव-देवियों की समालोचना, उनकी उत्पत्ति की कथा आदि, बिना किसी को दुख पहुँचाए कर सकते हैं। अपने एक देव विशेष के सबध मे मैंने कुछ ऐसी ही वैज्ञानिक बात कही। हम उस समय जेल मे थे। वास्तव में मेरी अभिलाषा यही थी कि विभिन्न विचारो के विनिमय से कुछ बात समझ मे आवे। पर श्री संपूर्णानद को यह पसद नही। उन्होंने मुझसे कहा कि इस प्रकार से बात करने से हृदय को चोट लग सकती है। बात वहाँ समाप्त हो गई। मैंने स्वय संपूर्णानंद जी से बहस करने का बहुत कम प्रयत्न किया है। जब-जब किया मुझे सफलता नही मिली। जब किसी का मत किसी विषय पर निश्चित हो जाता है, उसमे वह त्रुटि नही देखता, उसे व्यक्तकर उसका विरोध पसद नही करता या ऐसा समझता है कि इसके सबंध मे कोई दूसरा विचार हो ही नही सकता और उसीकी ही बात मान लेनी चाहिए, तो बहस का चलना संभव ही नही है। उससे लाभ भी नही। बहुत से व्यक्तियों के सबध में जो उनके विचार है, वे मेरे नहीं है। सभव है अपने विचारो को व्यक्त करने का जो उनका प्रकार है वह दूसरो को अच्छा न लगे, पर इसमें संदेह नही कि उनका मत निश्चित है। यह भी एक बड़ा गुण है क्योंकि उनके संबंध में किसी को कोई धोखा नही हो सकता। सब को ठीक मालूम हो जाता है कि अमुक विषय पर उनका यही विचार है, चाहे किसी को अच्छा लगे या न लगे।

सम्पूर्णानन्द जी ऐसे विद्वान, विद्याप्रेमी, विद्याव्यसनी हो यदि कोई ब्राह्मण समझे तो कोई आश्चर्य नहीं। नाम से सन्यासी का भी आभास होता है। पर इस संबंध में भी उनका आग्रह हो न। यदि कोई उन्हें ब्राह्मण समझता है तो वे फौरन यही कहते हैं—"मै कायस्थ हूँ।" पर इसका यह अर्थ नहीं है कि उन्हें किसी प्रकार का जातिगत पक्षपात है या किसी भी प्रकार उन्हें जातीयता विचार करना है। मुझसे कहा गया है कि कितने ही उनके सजातीय बंधुओं को यह शिकायत है कि जब आदर पर होते हुए भी वे इनकी कुछ सहायता नहीं करते। लोगों के सग्रह में उन्होंने सदा गुणों का ही विचार रखा और योग्य पुरुषों को ही अपने कार्यपर लगाया। कौटुंबिक जीवन में ये बड़े ही धैर्य और साहस का परिचय देते रहे हैं। कौटुंबिक सुख उन्हें नहीं के बराबर रहा है। तीन विवाह इनके हुए और तीनों ही स्त्रियों का बहुत जल्दी-जल्दी देहावसान हुआ। इनकी कितनी ही सन्तानियों का भी इसी प्रकार असामयिक नाश हुआ है। पर इनका हृदय सदा बड़ा दृढ़ रहा। जब भयंकर पुत्रशोक भी इन्हें हुआ और मैं तत्काल इनके यहाँ सामाजिक कर्तव्य को पूरा करने और साथ ही हार्दिक समवेदना प्रकट करने गया तो इनको ऐसी स्थिति में पाया जैसे कोई विशेष बात नहीं हुई है। शारीरिक पीड़ा में भी मैने इन्हें देखा है। उस समय भी वे बड़े ही धैर्य और साहस से सब कष्ट सहन करते हैं। इन्हें विचलित करना कठिन है। जिन दिनों ज्ञानमंडल में मैं काम कर रहा था, तो इनके घर तलाशी आई। घर पर जब पुलिस वालों को कुछ न मिला तो वे ज्ञानमंडल में बिना वारंट के ही घुस गए और इनके टेबुल की उन्होंने तलाशी ली। मेरे पास जब फोन से सूचना मिली तो मै फौरन दौड़ा आया। प्रातःकाल का समय था। इन्हें अपने मकान पर निश्चिन्त रूप से हजामत बनवाते पाया। अपने राजनीतिक जीवन में तलाशी के रूप में हमें पीछे तो पर्याप्त परिचय मिला पर वे इसके प्रारंभिक दिन थे। मेरे कुछ कहने पर उन्होंने उसकी अवहेलना कर दी जैसे कुछ हुआ ही नहीं। तलाशी करनेवाले पुलिस के सहायक सुपरिंटेंडेंट सैयद काजिम रजा थे जो अब पाकिस्तान में कराची में इन्स्पेक्टर जेनरल आफ पुलीस हैं। बिना वारंट इनके ज्ञानमंडल में जाने के कारण मुझे बड़ा क्षोभ हुआ। मैने जवाब तलब किया। उन्होंने क्षमा चाही। कहा कि कोतवाल को मै मना कर रहा था पर वे यह कहकर ज्ञानमंडल में भी घुस गए कि कोई चिंता नहीं। उनका ख्याल था कि कोई कुछ पूछेगा नहीं, न पूछ सकेगा ही। उस समय पुलीस के सामने कोई कुछ कर ही क्या सकता था। ये कोतवाल मुहम्मद फारुख थे जो बड़े ही सुप्रसिद्ध हो गए हैं पर महावीरचक्र से विभूषित जिनके पुत्र स्व॰ ब्रिगेडियर उस्मान ने कश्मीर के युद्ध में अपने प्राणों की आहुति देकर हम सब का ही मस्तक ऊँचा किया है।

आज हम श्री सम्पूर्णानन्द की साठवीं वर्ष गाँठ मना रहे हैं। आज हमारा हृदय आनंद अनुभव कर रहा है। हम उन्हें बधाई देते हैं और साथ ही अपने को भी बधाई देते हैं कि वे हमारे बीच में हैं। हमारी यह शुभकामना है कि सम्पूर्णानन्द जी के ऐसे त्यागी, विद्वान्, ओजस्वी देशभक्त हमारे बीच में बहुत दिनों तक रहकर देश और समाज की सेवा स्वस्थ शरीर और प्रसन्न हृदय से करते रहें। सम्पूर्णानन्द जी का कुटुंब काशी के पुराने और सम्मानित कुटुंबों में है। उनके पूर्वपुरुष में सदानंद राजा चेतसिंह के मंत्री और बाबा कीनाराम के मित्र थे। आज भी उसी समय की घटना विशेष के कारण इस कुटुंब के सब बालकों के नाम के अंत में 'आनंद' का प्रयोग किया जाता है। आपके पिता श्री विजयानंद स्थानीय कचहरी के कर्मचारी थे और उनकी सत्यता और ईमानदारी की बड़ी ही प्रशंसा रही जिससे उनका उचित रूप से समाज में आदर और सम्मान था। श्री सम्पूर्णानन्द जी अपने

कुल, अपने नगर, अपने देश,अपने समाज सब की ही कीर्ति अपने सत्कार्यों मे बढ़ा रहे हैं। हम सब ही उनकी जीवनी से शिक्षा ले सकते हैं । उनकी विद्वत्ता, उनकी सहिष्णुता, उनका धैर्य, उनकी तत्परता, उनकी कार्यनिष्ठा सभी हमें कुछ सिखा सकती है। यदि उनमें दोष है तो वे सभी में पाए जाते हैं। जो उनमें गुण हैं वे उनकी विशेषता है। हमें गुणग्राही ही होना चाहिए। यदि कोई दोष किसी में न हो तो वह मनुष्य कैसा । आज हम उनकी साठवी वर्ष गाँठ के शुभ उत्सव मे सानंद संमिलित होते हुए उनकी दीर्घायु की कामना करते हैं और उन्हें अपने बीच पाकर संतोष और प्रसन्नता का अनुभव करते हैं।

कुशल और सफल शिक्षामंत्री

अमर नाथ झा
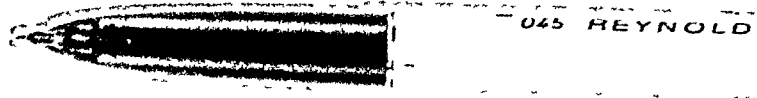
माननीय श्री संपूर्णानंद जी केवल कुशल और सफल शिक्षामंत्री ही नहीं हैं। उन्होंने राष्ट्र-भाषा हिंदी की, हिंदी साहित्य समेलन के सभापति रहकर और नागरी प्रचारणी सभा के अध्यक्ष रहकर, जो सेवाएँ की है उन्हें हम भूल नहीं सकते। परंतु इन सब से अधिक चिरस्मरणीय उनके वे महत्वपूर्ण ग्रंथ होंगे जिनमे उनकी विद्वत्ता और गांभीर्य का परिचय मिलता है। इस प्रांत के नेताओं में उनका विशिष्ट स्थान है। बहुत दिनो तक वे देश की सेवा करते रहें और स्वस्थ रहें, यह हमारी शुभ कामना है।

प्रांत उनका सदैव ऋणी रहेगा

गोविंद वल्लभ पंत

श्री सम्पूर्णानंद से मेरा इतना घनिष्ट संबंध है कि उनके बारे में कुछ लिखने में संकोच होता है। हम वर्षों से साथ-साथ काम कर रहे हैं। करीब २५ वर्ष हो गए जब मेरा उनसे परिचय हुआ। जितना समय बीतता गया उनके प्रति मेरा आदर व स्नेह उत्तरोत्तर बढ़ता ही गया।

सम्पूर्णानंद जी की प्रखर बुद्धि ईश्वरीय देन है। नैसर्गिक बुद्धि बहुतों में देखी जाती है, किंतु बहुत कम लोग उसका पूरा सदुपयोग कर पाते हैं। सम्पूर्णानंद जी ने अपनी प्रकृति प्रदत्त प्रतिभा का पूरा विकास किया है। सम्पूर्णानंद जी इस प्रांत के नहीं किंतु सारे देश के गिने चुने व्यक्तियों में हैं जिन्होंने राजनीतिक क्षेत्र में कार्य करते हुए सरस्वती की यथेष्ट उपासना की है। वे वास्तव में विद्या व्यसनी हैं, उनकी विद्वत्ता प्रगाढ़ है और उनकी प्रतिभा सर्वतोमुखी है। उनकी लेखनी में ओज व जीवन और उनके विचारों में मौलिकता, विश्लेषण शक्ति तथा गांभीर्य है। इतिहास, राजनीति, पाश्चात्य-प्राच्य दर्शन और विज्ञान कोई ऐसा विषय नहीं है जिसमें उन्होंने उच्च कोटि का ग्रंथ न लिखा हो। उनकी कृतियों का हिंदी-साहित्य में ऊँचा स्थान है। इस प्रकार के गंभीर विषयों में उन्होंने हिंदी का स्तर बहुत ऊँचा कर दिया है।

सम्पूर्णानंद जी केवल उच्च कोटि के विद्वान् व लेखक ही नहीं हैं, उनकी व्यावहारिक कर्मठता विद्वत्ता से कम नहीं है। तीस वर्ष तक स्वतंत्रता की लड़ाई में, और अब राष्ट्र निर्माण के काम में उनका जो हिस्सा है उसके लिये यह प्रांत उनका सदैव ऋणी रहेगा। वे आदर्श व सफल शिक्षामंत्री हैं। उनके कार्यकाल में जिस प्रकार शिक्षा की उन्नति व प्रसार हुआ है उसके बारे में कुछ कहने की आवश्यकता नहीं है। आज से दस वर्ष पहिले इस प्रांत की साक्षरता नगण्य ही नहीं वरन् लज्जाजनक थी, और आज हम जिस तेजी से आगे बढ़ रहे हैं, हमें उसे देखते हुए पूरी आशा है कि शीघ्र ही हम उन्नत प्रांतों के समकक्ष हो जावेंगे।

सम्पूर्णानंद जी की विद्वत्ता और कार्यकुशलता सर्वमान्य है। मैं तो इनसे अधिक, उनके उन गुणों की कद्र करता हूँ, जिनकी आज देश व समाज को अधिक आवश्यकता है और जिनका दिन पर दिन ह्रास होता जा रहा है।

उनका सांस्कृतिक स्तर, उनका शुद्ध व स्वच्छ जीवन, सत्यनिष्ठा, स्वाभिमान हमारे सार्वजनिक जीवन के आदर्श हैं। हमारे प्रांत के लिये यह बड़े गौरव की बात है कि ऐसे सुयोग्य, कर्मठ विद्वान् हमारे शिक्षामंत्री हैं और हमें उनका नेतृत्व प्राप्त है। ईश्वर उन्हें चिरायु व सुखी करें।

श्रीयुत संपूर्णानंद जी

लाल बहादुर शास्त्री

श्री संपूर्णानद जी हमारे प्रात की विभूति है। ज्ञानके पुजारी और विद्या के व्रती है । हमारे प्रात तथा देश में उन थोड़े से सार्वजनिक नेताओ मे उनकी गणना है जो महान पडित, विचारक तथा लेखक है। देश के सार्वजनिक जीवन में इतने बहुश्रुत और सुपठित व्यक्ति थोड़े ही है। दर्शन, विज्ञान, इतिहास, राजनीति, अर्थशास्त्र, भूगोल, भूगर्भ विद्या, ज्यौतिष, गणित, किनमे उनकी पैठ नही है ? चार-चार, पॉच-पॉच सौ पृष्ठो की पुस्तक वह सहज ही पढ जाते है। वुद्धि कुशाग्र तथा स्मृति अनुपम होने के कारण वह उन्हे अपना भी बना लेते है। हिंदी ससार के लेखको मे उनका अत्यत उच्च स्थान है। कई बड़े-बड़े पुरस्कारो को उन्होने बिना प्रयास, अनायास ही पा लिया है। उनकी पुस्तके जानकारी से भरी हुई तथा विचारो मे उद्रेक उत्पन्न करनेवाली है। अपने विचार तथा कार्य दोनों मे वह बली है। निर्णय जल्दी करते है और उससे अप्रिय बने तो अप्रियता से घबराते भी कम ह। लोगो मे वह कुछ दूर रहना चाहते हैं, कम बोलना, और कम मिलना। इसी कारण समझने में उन्हें प्राय. लोग भूल भी करते हैं। श्री सपूर्णानद जी से हमारे प्रात का मान है। वह स्वस्थ रहे और दीर्घायु हों, यह हमारे प्रातवासियों की हार्दिक अभिलापा है।

भरतीय संस्कृति के भक्त

गोविंद मालवीय

मै संपादक गण का कृतज्ञ हूं कि उन्होंने मुझे इस ग्रंथ मे अपनी श्रद्धांजलि भेजने को निमत्रण दिया है। श्रीमान् संपूर्णानंद जी आज उत्तरप्रदेश के शिक्षण के भार को अपने सुदृढ और सुयोग्य कंधों पर संभाले हुए ही नही है—उससे अधिक महत्व की बात यह है कि आज के विकल्प के युग में भी वह भारतीय सस्कृति और परपरा के भक्त और उदाहरण दोनों बने हुए है यह सौभाग्य है कि उनके ऐसा विचारशील और देशभक्त विद्वान् आज शिक्षामंत्री के स्थानपर हमें मिला हुआ है। उनके हाथों मे इस प्रात की शिक्षा का भविष्य सुरक्षित है। भगवान् उन्हे चिरायु करें जिससे वे समाज की सच्ची उन्नति करने की अपनी लगन को पूरा कर सके।

श्री संपूर्णानंद जी

बलदेव मिश्र

श्री संपूर्णानंद जी को मैं अच्छी तरह से तब से जानता हूँ जब से वे काशी विद्यापीठ में आए। इसके पूर्व उनके लेख 'मर्यादा,' 'स्वार्थ' इत्यादि पत्रों में पढ़ता था परंतु वे लेख दार्शनिक विषय पर ही थे। दार्शनिक विषय पर लेख तथा संपूर्णानंद नाम पढ़कर मन में यही समझता था कि लेखक कोई संन्यासी है। मनुष्य की धारणा में कुछ न कुछ तथ्य रहता ही है। श्री संपूर्णानंद जी संन्यासी नहीं हैं फिर भी संन्यासियों के बहुत कुछ गुण उनमें हैं। वे वेदांती हैं, योगाभ्यासी हैं, संसारी होने पर भी संसार से अलिप्त से हैं। मिष्टभाषी रहने पर भी स्पष्टवक्ता हैं। तथ्य विषय को कहने में वे संकोच नहीं करते।

दार्शनिक और गणितज्ञ

यूरोपीयन विद्वानों में कुछ लोगों में दोनों उपाधियाँ साथ देखने में आती हैं, प्लेटो, आर्किमिडिज, न्यूटन, लेबनिज, इत्यादि विद्वान् दोनों उपाधियों से भूषित थे क्योंकि गणित और दर्शन दोनों विषयों को जानते थे। भारतीय दृष्टांत ऐसे नहीं हैं। भारतीय दार्शनिक गणित नहीं जानते थे। और गणितज्ञ दर्शन शास्त्र को नहीं पढ़ते थे। श्री संपूर्णानंद जी ऐसे विशिष्ट पुरुष हैं जिनमें दोनों ज्ञान मिश्रित हैं। विद्यार्थी जीवन में आपने गणित शास्त्र को पढ़ा क्योंकि आप बी० एस० सी० हैं, अतः बी० ए० कक्षा तक आपका गणित का अभ्यास है। अपने प्रेम से आपने आकाश का अवलोकन कर तारों और ग्रहों को देखकर ज्योतिष सिद्धांत संबंधी ज्ञान को प्राप्त कर "ज्योतिर्विनोद" नामक पुस्तक का प्रणयन किया है। दर्शन शास्त्र का अध्ययन उन्होंने विद्याप्रेम से किया है, पाश्चात्य दर्शनों का तो उन्होंने स्वयं अध्ययन किया है, ऐसा प्रतीत होता है क्योंकि विज्ञान विषय के छात्र होने पर भी आपकी अंगरेजी विद्या बड़ी दृढ़ है परंतु संस्कृत दर्शन पढ़ने के लिये आपने संस्कृत विद्वानों की संगति की, ऐसा अनुमान करने का कारण है। यद्यपि संस्कृत साहित्य में प्रगाढ़ रुचि का और एक विशेष कारण हुआ, ऐसी कल्पना करने का लेखक का अनुमान है। संभवतः १९११ या १९१२ ई० की बात है कि श्री संपूर्णानंद जी को पं० श्री सभापति उपाध्याय तथा पं० श्री रामाज्ञा पांडेय की संगति हुई। ये दोनों सज्जन विश्वविदित महामहोपाध्याय पं० शिवकुमार मिश्र के शिष्य

थे। श्री संपूर्णानंद जी इन लोगों को अंगरेजी सिखलाते थे और स्वयं इन लोगों से संस्कृत पढ़ते थे। एकदिन उत्सुकता वश आप इन सज्जनों के साथ महोमहोपाध्याय शिवकुमार मिश्र जी के यहाँ गए। महामहोपाध्याय जी ने उन लोगों से इनका परिचय पूछा। यह विदित होनेपर कि आप जात्या कायस्थ हैं और सस्कृत-शास्त्र का अध्ययन कर रहे हैं, आपने अपने शिष्यों से पूछा कि क्या वे उन्हें वेद भी पढ़ावेंगे। शिष्यो ने यथोचित उत्तर दिया। लेखक का अनुमान है कि यद्यपि दर्शनशास्त्र के अध्ययन के लिये श्री संपूर्णानंद जी ने सस्कृत-साहित्य के अध्ययन का आरभ किया हो तथापि वेद-विषय में उनके अभिनिवेश का कारण महामहोपाध्याय जी का यह आक्षेप हुआ होगा। श्री संपूर्णानद जी की 'गणेश' पुस्तक के पढ़ने से तथा उनके व्याख्यानों मे यत्रतत्र वैदिक शाखाओं के उद्धरण से यह स्पष्ट है कि उन्होंने वेदशास्त्र का गहरा अध्ययन किया है। गणितशास्त्र का कार्य आपको अध्ययन समय तक ही रहा ऐसा प्रतीत होता है, क्योंकि उन्होने हरिश्चंद्र हाई स्कूल मे सहाध्यापक तथा बीकानेर हाई स्कूल में प्रधानाध्यापक का जो कार्य किया वहाँ भी आपके अध्यापन का विषय प्राय. अंगरेजी था। किंतु प्रारंभ मे ही आपने जो गणितशास्त्र को पढा उसका प्रेम आपकी धमनियों मे समा गया है और आप इस विद्या की उन्नति में बड़े सचेष्ट हैं। यद्यपि आप वर्त्तमान समय मे दार्शनिक ही प्रख्यात है, फिर भी गणित विद्या की ओर आपका प्रेम दृढ़मूल है। गणित विद्या के जानने से आपकी बुद्धि इतनी ठोस है कि आप सर्व-कार्य-क्षम हैं।

श्री संपूर्णानंद जी की प्रतिभा

श्री संपूर्णानद जी बहुत शीघ्रता से बोलते हैं, सभवत: उनसे अपरिचित व्यक्ति उनकी सब बातो को प्रथमावृत्ति में समझता भी नही होगा। मैं समझता था कि ऐसा उनका अभ्यास ही है। लेखक का अनुमान है कि उनकी प्रतिभा इतने विषयों को एकदा उनके सामने उपस्थित करती है कि उनके प्रतिपादन में उन्हें त्वरा की आवश्यकता होती है। उनके प्रतिपादन में त्वरा रहने पर भी उनके स्वर में एक ऐसी विलक्षणता है कि वह श्रोता को उनकी युक्तियों मे विश्वास उत्पन्न कराती है।

बाबू सपूर्णानंद जी की सर्वतोमुखी प्रतिभा के स्फुरण का अवसर उनके मन्त्रित्वकाल में आया है। जब आप अध्यापक रूप मे थे, उस समय मे भी आपकी विद्या-बुद्धि का स्फुरण देखने में आता था क्योकि आपने विख्यात मासिक पत्रों का तथा 'टुडे' नामक दैनिक अगरेजी पत्र का संपादन किया था। ये सब कार्य एक अध्यापक के लिये गौरव की बात है, परंतु जब से अपने मंत्रित्व का भार लिया है, विशेषकर के शिक्षामंत्री का, तब से भिन्न-भिन्न अवसरो पर भिन्न-भिन्न विषयो पर आपके व्याख्यानों को पढ़कर आश्चर्य होता है कि आपकी प्रतिभा किस प्रकार बहुमुखी है।

विद्यापीठ का संबंध

यद्यपि आप दर्शनशास्त्र के अध्यापक होकर आए फिर भी तत्सामयिक वातावरण ने आपको विशिष्ट राजनीतिक पुरुष बना दिया। काशी विद्यापीठ के निर्माण का यश तो अनेक महापुरुषो को है, किंतु वर्त्तमान समय मे काशी विद्यापीठ की यश-पताका आकाश मे फहराने का काम श्री संपूर्णानंद जी ही कर रहे हैं और यह उचित भी है क्योकि बाबू सपूर्णानद जी अपने अलौकिक गुणो से महान् है तथापि उनके महत्वसंपादन में विद्यापीठ ने भी उनकी सहायता की है।

स्वभाव-स्वातंत्र्य

बाबू सम्पूर्णानंद जी स्वभाव के स्वतंत्र हैं। जब जिस विषय को उनकी विवेक बुद्धि और सम-मता, उसको स्वीकार करने में आनाकानी नहीं करते। उन्होंने 'ब्राह्मण सावधान' में लिखा कि "तंत्रीस कोटि देवता जान है, कोई गिनावे तथा कर्मकांड देशभाषा में होना चाहिए, संस्कृत में कर्मकांड का रखना पंडितों का मायाजाल है"। परन्तु जब उन्हें मालूम हुआ कि तंत्रीस कोटि तंत्रीस करोड़ नहीं किंतु तंत्रीस प्रकार है तो इस विषय को स्वीकार कर लिया और कर्मकांड संस्कृत में ही रहना उपयुक्त है इस बात को भी पीछे उन्होंने स्वीकार किया।

चिद्विलास

चिद्विलास पुस्तक पाश्चात्य तथा भारतीय दार्शनिक विषयों के सम्मिश्रण से लिखी गई है। भाषा सरल है किंतु विषय ही ऐसा है कि जबतक मन को सब ओर से खींचकर एक ओर न लगाया जाय तबतक समझना कठिन है। इस पुस्तक से आपने बड़ा यश अर्जन किया है। बड़े-बड़े संस्कृत के दार्शनिकों ने इस पुस्तक की मुक्तकंठ से प्रशंसा की है। मेरी दृष्टि में इस पुस्तक की भूमिका में कुछ ऐसी बातें लिखी गई हैं जिससे जगद्गुरु स्वामी शंकराचार्य योगिवर भर्तृहरि तथा परम उदासी मंडन मिश्राचार्य के लिखित श्रीहर्ष के ऊपर आक्षेप आते हैं जो समुचित नहीं है। श्री सम्पूर्णानंद जी की ओर अनेक पुस्तकें हैं, लोगों में जिनकी बड़ी प्रशंसा है।

शिक्षामंत्रित्व

जब से आपने शिक्षामंत्री का काम संभाला है, देश में शिक्षा-प्रसार के लिये अनेक उपायों का उद्भावन किया है, जिनका अनुसरण अन्य प्रांतों के लोग भी कर रहे हैं। संस्कृत शिक्षा प्रसार के संबंध में भी आप अभूतपूर्व उपायों का प्रसार कर रहे हैं। लगातार तीन वर्ष से काशी संस्कृत कालेज में कनवोकेशन हो रहा है, रिसर्च इन्स्टिट्यूट की स्थापना कर संस्कृत के विद्वान शोधकार्य कर रहे हैं, वह संस्कृत यूनिवर्सिटी के स्वरूप को ग्रहण करने जा रहा है, जिससे विद्वत्समाजोपजीवी वर्ग में उथल-पुथल मचा हो रहा है। संस्कृत कालेज का ऐतिहासिक भवन अब केवल संस्कृत ही के लिये ही व्यवहृत होने जा रहा है, ये सब विषय ऐसे हैं जो स्वप्न में भी किसी ने कभी न अनुभव किया होगा। संस्कृत के पढ़े लिखे विद्वान्, जिनका उपयोग केवल संस्कृत शास्त्र के अध्यापन मात्र में होता था, अब उनके लिये अन्य कर्मक्षेत्र भी खुल रहे हैं, इसप्रकार संस्कृत शास्त्र का आदर होने लगा है। सब से बढ़कर अच्छी बात यह है कि शिक्षामंत्री शिक्षा के प्रसार तथा शिक्षा को उन्नत अवस्था में परिणत करने के लिये सब प्रकार के सद्विचारों को ग्रहण करने के लिये सन्नद्ध रहते हैं। आप जिस प्रकार स्वाध्यायी हैं उस प्रकार के अध्ययन का अवसर अब आपको अपेक्षाकृत अल्प मिलता है फिर भी विद्याव्यसनी होने के कारण तत्तच्छास्त्र के तत्त्व को प्रकाशित करने के गवेषण में निरंतर प्रयत्नशील हैं इस प्रकार की खोज की ओर लोगों का ध्यान अभीतक नहीं गया है।

एक घटना

वेंकटेश नारायण तिवारी

मान्य श्री सपूर्णानद जी को अभिनंदन ग्रथ की भट कर, काशी-नागरी-प्रचारिणी-सभा अपने एक वहुत पुराने ऋण से मुक्त हो रही है—एक ऐसे ऋण से जिसका, सभवत., उसे न तो वोध है और, यदि उसे वोध हो तो, न वह अपने ऊपर उनका ऋण ही मानने को तैयार होगी। परंतु मैं इस वात का साक्षी हूँ। जो घटना १२ वर्ष पहले हुई थी उसका यहाँ पर उल्लेख कर मैं अपने कथन की सचाई का प्रमाण उपस्थित करता हूँ।

× × × × ×

घटना क्या थी? और क्या मैं उस घटना का कोई तत्कालीन प्रमाण हो सकता हूँ? इन दोनो ही प्रश्नो का सीधा उत्तर मेरे पास है । जव सन् १९३८ मे शिक्षामत्री का पद ग्रहण करने के उपरात मान्य श्री संपूर्णानद जी लखनऊ से पहली वार अपने नगर गए थे उस समय काशी-नागरी-प्रचारिणी-सभा ने उन्हे एक मानपत्र भेट किया था। उस मानपत्र को स्वीकार करते हुए मान्य श्री शिक्षामत्री ने एक भापण दिया। उस भापण मे उन्होंने हिंदी के पक्ष मे कुछ कहा। उनके भाषण का सार अखवारो मे प्रकाशित हुआ। सार का प्रकाशित होना था कि उर्दू पत्रो के सपादक और लेखक और समाचार-पत्रो के क्षेत्र के वाहर जो गण्यमान्य सज्जन उर्दू के समर्थक थे वे सव श्री सपूर्णानद जी पर टूट पडे। प्रात का शिक्षामत्री और वह हिंदी का समर्थन करे! इस घोर अपराध के लिए दोषी को जो भी दड दिया जाय वह थोडा होगा। शिक्षामंत्री की इतनी जुर्रत! उसे तुरत ही सवक सिखाना चाहिए ताकि हिंदी की तरफदारी मे कही वह आगे चलकर उर्दू का अनिष्ट न कर डाले! इस अक्षम्य अपराध के लिए मान्य श्री संपूर्णानद जी की निंदा के पुल उर्दू-अखवार नवीस वाँधने लगे। कई महीनो तक यही तूफान-ए-वदतमीजी उर्दू अखवारो मे जारी रही। दु.ख की वात है उस समय हिंदी जगत ने मान्य श्री सपूर्णानद के ऊपर इन अनुचित आक्षेपो के प्रति तटस्थ रहना ही उचित समझा और मान्य श्री शिक्षामंत्री अपने आत्मगौरव के कारण इस विषय मे प्राय. मौन ही रहे । जहाँतक कॉंग्रेसजन का संवंध था, वे हिंदुस्तानी और दो लिपियो के पुजारी थे। फिर भला वे कैसे अपने इस निरपराध अभिमन्यु की कौरवो द्वारा हत्या को रोकने मे कोई दिलचस्पी ले सकते थे। जिन दिनो का मै जिक्र कर रहा हूँ, उन दिनो मुझे कार्यवश युक्त-

प्रांत में प्रकाशित होनेवाले सब अखबारों में प्रकाशित लेखों के देखने का काम सौंपा गया था। इसलिए मुझे प्रतिदिन और प्रति सप्ताह इन आक्रमणों की बढ़ती हुई तीव्रता और भयंकरता का बोध होता जाता था। मान्य श्री शिक्षामंत्री के प्रति इस अन्याय को सहन करना मेरे लिए जब असंभव हो गया तब मैंने हिंदी के प्रश्नपर एक लेख-माला लिखनी आरंभ की। इस माला के प्रथम लेख का शीर्षक था "हिंदी बनाम उर्दू।"

× × × ×

मैंने ऊपर यह कहा है कि उपर्युक्त घटना का लेखबद्ध तत्कालीन विवरण मौजूद है। उस समय के मेरे एक लेख का शीर्षक था "हिंदी और उर्दू की समस्या।" इसी लेख में मैंने इस घटना का उल्लेख किया है। प्रासंगिक होने के कारण लेख के उस अंश का यहाँपर उद्धृत करना अनुचित न होगा। उद्धरण नीचे पढ़िए —

'संयुक्तप्रांत की असेंबली के सदस्यों में मेरे अनेक मित्र हैं। उनमें हिंदू और मुसलमान, दोनों ही शामिल हैं। इनमें से एक मुसलमान मित्र से इसी विषय पर मेरी बातें हुईं। मैंने उनसे पूछा "आजकल उर्दू के अखबार-नवीसों ने हिंदी-उर्दू के मसले को लेकर क्या शोरगुल मचा रखा है।"

उन्होंने जवाब दिया, "इस सूबे के माननीय शिक्षामंत्री महोदय ने काशी-नागरी प्रचारिणी-सभा में जो तकरीर की उसीकी वजह से यह तूफान बरपा हो गया है।"

मैंने पूछा, "जनाब, वजीर साहब ने अपनी तकरीर में क्या फरमाया था?"

जवाब मिला "अपनी उस तकरीर में वजीर साहब ने हिंदी की हिमायत की थी।"

मैंने कहा, "तो इसमें उनका क्या कुसूर है, उनकी क्या खता है, जिसकी वजह से उर्दू अखबार-नवीस, उनसे इस कदर खफा हो गए।"

मेरे दोस्त ने फरमाया, "देखो जी, इस सूबे की जबान उर्दू है। हम जो जबान बोलते हैं, वह उर्दू है। हमारे देहाती भाई भी उर्दू ही बोलते हैं। आपकी इस मामले में क्या राय है? क्या तुम समझते हो कि इस सूबे की जबान उर्दू नहीं है?"

मैंने बड़ी विनम्रतापूर्वक जवाब दिया "आप जब फरमाते हैं कि इस सूबे की जबान उर्दू है, तब मैं इससे किस तरह इनकार कर सकता हूँ। ऐसी दशा में मेरे लिए यह कहना कि इस सूबे की जबान उर्दू नहीं है, अनुचित होगा।"

मेरे दोस्त बहुत खुश हुए, मेरी तारीफ भी की, बोले,—'वाह वाह, तुम बड़े साफ गो आदमी हो। अब तुम्हीं देखो, जब इस सूबे की जबान उर्दू है, तो वजीर साहब को इस तरह गलत बयानी करने की क्या जरूरत थी, खासकर, जब उनकी गलत-बयानी की वजह से मुसलमानों को सदमा पहुँचता है?"

मैं खामोश रहा, लेकिन मेरे दोस्त ने इसरार किया कि मैं कुछ कहूँ। मेरा खामोश रहना अच्छा होता, लेकिन खामोश रहने की उन्होंने मुझे इजाजत न दी। खैर मैंने बहुत अदब से जो अर्ज किया, उसका खुलासा नीचे देता हूँ।

मैंने कहा—"जनाब, हम दोनों ने अपनी-अपनी पैदाइश के वक्त पहले दर्जे की हिमाकत दिखाई।"

मेरे दोस्त चौंक पड़े। बोले, "हम लोगों ने क्या हिमाकत की?"

मैंने कहा, "अल्लाह मियाँ के यहाँ से जब हम दोनों रवाना हुए, उस समय हम लोगो ने बवकूफी मे एक ही नम्बरी सूबे को अपनी पैदाइश के लिये चुना, जिसके रहनेवाले इतने खब्ती और बेवकूफ है, कि दुनिया मे उनकी कही मिसाल न मिलेगी।'

मेरे दोस्त ने चौंक कर पूछा—"आप ऐसा क्यो कहते है ?"

मैंने अर्ज किया, "हुजूर, दुनिया के पर्दे मे ऐसा और कौन दूसरा मुल्क या सूबा मिलेगा, जहाँ के लोग इतने नवरी बेवकूफ हों कि ऐसी जवान में लिखी हुई किताबो को ज्यादा खरीदें, जिसे वे खुद नही समझते, या जिस जवान को वे समझते है, उस जवान मे लिखी हुई किताबों की कुछ भी कद्र न करे। यद्यपि, आपकी राय मे इस सूबे की जवान उर्दू है, तो भी यहाँ के लोग ९० प्रतिशत हिंदी की किताबे यानी वे ९० प्रतिशत उस जवान की किताबे खरीद रहे है, जिसे, आपकी राय मे, वे समझ नही सकते, और जिस जवान को वे बोलते और समझते हैं, उस जवान की महज १० फी सदी किताबे खरीदते हैं। ऐसे पागल क्या और कही देखने को मिलेंगे? जर्मन जर्मनी और फ्रांसवाले फ्रेंच किताबे ज्यादा खरीदते हैं। लेकिन हमारे सूबे के लोग बोलते है उर्दू, मगर पढ़ते हैं हिंदी किताबे। इस हिमाकत की भी कुछ इंतहा है। सचमुच हमारे सूबे के लोग बड़े खब्ती है।"

मेरे दोस्त इस बात को सुनकर खामोश हो गए। थोडी देर तक वे सिर खुजलाते रहे। बाद मे मेरे कमरे से वे चले गए।

× × ×

आजकल राशन की अंधेर है। रोटी, दालतक पर राशन का बोलबाला है। सरकार की देखादेखी इस अभिनंदन ग्रंथ के उदारचेता संपादको ने भी मुझपर शब्दो के राशन की कैद लगा दी है। मुझे आदेश मिला है कि लेख मे एक निर्धारित संख्या से अधिक शब्द न हो। उस सीमाको मैं बहुत पहले ही लाँघ चुका। अतएव अपने दुस्साहस से भयभीत होकर मै इस लेख को एक स्नेहांजलि से समाप्त कर दूगा। मान्य श्री संपूर्णानद प्रांत के इने-गिने विद्वानो मे हैं और है बहुभाषा-भाषी। हिंदी की जो उन्होने सेवाएँ की है उनका मोल आंकना सहज नही है। उन्होने हिंदी के समर्थन मे अपयश और अपकीर्ति की कभी परवाह नही की। निर्भीक होकर उन्होने हिंदी की हिमायत उन दिनों की जब हमारे प्रांत के चतुर खिलाड़ी वाह-वाही लूटने मे व्यस्त थे और मुखालिफो के प्रियजन कहलाने की तमन्ना मे इधर-उधर की बहकी-बहकी बाते करने मे अपनी राजनीतिक पटुता का प्रदर्शन करने मे संलग्न थे। मान्य श्री मत्री जी ने अपनी लिखी हुई किताबो के रूप मे हम सब को जो देन दी है उसका उपकार हमे नतमस्तक होकर मानना चाहिए। उनकी गद्यशैली आजकल के लेखकों की शैली की तुलना मे अपना विशिष्ट स्थान रखती है। मै उनके गद्य की विशेष रूप से प्रशंसा करता आया हूँ। नैसर्गिक प्रवाह और अपरिचित तथा गूढ विषयो की व्याख्या, प्रतिपादन और विश्लेषण की अपूर्व क्षमता उस शैली के विशिष्ट गुण है। राजनीतिक क्षेत्र मे उन्होने जो काम किया है उससे हममें से कोई अपरिचित नही है और न अपरिचित है उनकी उन शिक्षा सबंधी योजनाओं से जिनके द्वारा स्वतंत्र भारत के भावी नागरिक मानसिक और नैतिक क्षेत्रो मे समृद्ध बनकर देश और जगत के कल्याण मे आगे चलकर लगेंगे। मान्य श्री संपूर्णानंद जी को मै प्रान्त की एक विशिष्ट विभूति मानता हूँ और मेरी यह कामना है कि वे चिरजीवी हों क्योंकि अभी जो कुछ उन्होने हमे दिया है वह उसकी तुलना में नगण्य है जिसकी भविष्य मे उनसे हमे पाने की आशा है।

देने का काम प्रारंभ कर दिया। अभीष्ट परिवर्तन की रूपरेखा और मुख्य विचारों के साथ उन्होंने कार्यारंभ किया। परन्तु उनके विचार और कार्यक्रम इतने स्पष्ट और अटल नहीं थे कि व्यावहारिक अनुभव के आधार पर उनमें वे परिवर्तन न कर सकें। अपनी नीति की रूपरेखा बतला कर उसके साधारण ब्योरे की पूर्ति तथा उसे व्यावहारिक रूप देने का काम वे अपने विशेषज्ञ सहायकों पर छोड़ देते हैं। इस बात को खूब अच्छी तरह जानते हुए कि सचिव का वास्तविक कार्य नीति निर्धारण है, वे अपने अधीनस्थ सरकारी कर्मचारियों के उचित अधिकार-क्षेत्र में कम से कम हस्तक्षेप करते हैं। वे समझते हैं कि कहां उनके कार्य-क्षेत्र की सीमा समाप्त होती है और दूसरों की प्रारंभ होती है। यही उनकी सफलता का रहस्य है। श्री सपूर्णानंद जी शासन-कार्य और राजनीतिक सबध के बीच की खाई को उसी प्रकार देखने का प्रयत्न करते हैं जिस प्रकार लोकतत्र प्रणाली की सरकारों के सचिवों को करना चाहिए। अपने शासनकार्य के निर्णयों में राजनीतिक कारणों और दलगत संबंध को बाधक न होने देने का साहस और आवश्यक दृढ़ता उनमें है। वे यह नहीं भूलते कि शासनकार्य कानून का तरह है, जो "व्यक्ति" की इज्जत नहीं करता। अपने जीवन के विविध कार्यक्षेत्रों के प्रत्येक भाग में उन्होंने सत्यनिष्ठा और सिद्धांत की जो दृढ़ता प्रकट की है उसका पालन वे अपने शासनकार्य में भी करते हैं। व्यक्तियों के लिये सिद्धांतों का विस्मरण और बलिदान नहीं किया जाता। मैं नहीं कह सकता कि उनमें शासन संबंधी कार्यों के विचार करने में निर्लिप्त और निरपेक्ष भाव ईमानदारी का पालन करने की आतरिक प्रवृत्ति ने उत्पन्न किया है या वैज्ञानिक समाजवाद ने। उनकी निष्पक्षता और न्याय बुद्धि "सिफारिश" नाम से पुकारे जानेवाले दबाव का, जो कभी खुलकर और कभी गुप्त रूप से पड़ता है, विरोध करने में उन्हें बहुत सहायता देती है। यह दबाव हमारे शासनकार्य की एक मुख्य समस्या हो गई है। समुपस्थित प्रश्नों पर वे ऐसी सरल दृष्टि से विचार करते हैं, जो राजनीतिज्ञों में तो कम ही दिखाई देती है, ऐसे शासकों में भी अचरज की ही बात है, जो स्पष्टवादिता का दावा करते हैं। उनका काम सरल होता है, जल्दी होता है और दूसरों की शिथिलता उनके लिये असह्य होती है। मानसिक अस्थिरता, जो किसी शासक का सब से बड़ा अभिशाप है, उनसे बहुत दूर है। उपस्थित प्रश्न पर वे विचार करते हैं, उसका मान निर्धारण करते हैं शीघ्र तथा स्पष्ट निर्णय करते हैं और उसपर दृढ़ रहते हैं। शिक्षा-सचिव के उनके वर्तमान पद के कार्य से उनकी प्रधान कार्यक्षमता और सुधार के हेतु अदम्य उत्साह की भावना पर्याप्त मात्रा में प्रकट हुई है। व्यापक सुधार के लिये उनका उत्साह हमारी शिक्षा-सबधी इमारत के कोने कोने में व्याप्त है। उनके सक्रिय, उत्सुक और ज्ञान पिपासु मस्तिष्क की छाप उनके शासन-संबंधी कार्यों पर पूरी तरह पड़ी है। स्वभावत जीर्ण शीर्ण पद्धति और जजर प्रणाली के विरुद्ध होने के कारण वे यह पसद करते हैं कि अन्य लोग "रुटीन" नाम से पुकारी जानेवाली लकीर के फकीर की नीति का न पालन करें। वे यह चाहते हैं कि कर्मचारी अपने कार्य में स्वत-प्रेरणा और क्रियात्मक बुद्धि का परिचय दें। ऐसे आलोचकों की कमी नहीं है जो यह कहते हैं कि सपूर्णानंद की गति बहुत तीव्र है और वर्तमान प्रणाली को बदल डालने की अपनी इच्छा में वे व्यावहारिक सीमा को भूल जाते हैं और यह कि परिवर्तन ही प्रगति नहीं है। यह सच है कि परिवर्तन से प्रगति अवश्यभावी नहीं है, और इससे भी अधिक सच यह है कि यदि परिवर्तन प्रगति नहीं है तो स्थिरता में तो कोई गति नहीं है। परिवर्तन में कम से कम प्रगति की सभावना तो होती है, स्थिरता से तो केवल अधिकाधिक अवनति ही हो सकती है। परिवर्तन की गति की तीव्रता के बारे में चाहे कोई कुछ भी समझे, शिक्षा-जगत् का स्थिर समुद्र अतस्थल तक हिल गया है।

शिक्षा-विभाग के शासक के लिये शासक से बढ़कर अनुसंधानकर्ता होना आवश्यक है, जो बात अन्य क्षेत्रों के शासकों के लिये नही है। जहाँ तक शिक्षा का संबध है, अच्छा है कि हम अनवरत अनुसंधान करते जायँ, नया क्षेत्र ढूंढ़ निकाले और नए मार्ग प्रशस्त करते जायें। यह स्थिति उससे तो अच्छी ही है कि व्यावहारिक कठिनाइयाँ हमे भयभीत करती रहे, कोई नया अनुसंधान करने न दे और हम लकीर के फकीर बने रहे। सच्चे शिक्षा-शास्त्री को शिक्षा संबधी शासनकार्य करने का बहुत ही कम मौका मिलता है। शिक्षा-संबधी शासनकर्ता अक्सर शिक्षा शास्त्री न होते हुए भी शिक्षा-संबंधी शासन कार्य करते है। श्री संपूर्णानंद जी प्रधानतः शिक्षा-शास्त्री है, जिन्हे उनके राजनीतिक महत्व ने शिक्षा-शासक होने का अवसर प्रस्तुत किया है। उनका सब से बडा कर्तव्य यह है कि शिक्षा का अधिकाधिक प्रसार इस प्रकार करे कि भारत की परिवर्तित परिस्थति मे शिक्षा का अपेक्षित आधार दुर्बल न होने पावे और इस वेगपूर्ण प्रसार के फलस्वरूप शिक्षा का स्तर तथा उसकी व्यावहारिक उपयोगिता किसी प्रकार कम न हो। व्यापक सुधार जारी करनेवाले तथा अपने विभाग का कायाकल्प करने का काम उठानेवाले सचिव के कार्यो के फलाफल की परख किसी एक परिवर्तन या सुधार कार्य से करना उचित नही है। पूरे काम को देखकर ही कोई सही नतीजा निकाला जा सकता है। सुधारो के पूर्ण प्रभाव का पता लग जाने के बाद संपूर्ण शिक्षा पद्धति का चित्र सामने लाने का प्रयत्न हमे करना चाहिए। गत तीन वर्षो से जिस शिक्षा-नीति का पालन किया जारहा है और इस संबध की समस्याएं जिस प्रकार सुलझाई गई है, उसपर निष्पक्ष और अंतिम निर्णय करने के लिये कुछ समय की आवश्यकता है। इस बीच हमे यह देखना है कि कोई निर्णय देने के लिये हमारे पास क्या सामग्री प्रस्तुत है। कुछ परिणाम तो स्फटिक सदृश्य स्पष्ट है और उन्हे सहानभूति और मैत्री भाव न रखनेवाले आलोचक भी अस्वीकार नही कर सकते।

सन् १९४५–४६ मे शिक्षा विभाग का जो बजट ३ करोड़ १८ लाख रुपए का था, वह १९४९–५०, में ६ करोड़ ९० लाख रुपये का हो गया है। सरकारी नियंत्रण मे प्रतिवर्ष ४४०० प्राथमिक स्कूलो की स्थापना की सरकारी योजना से प्राथमिक शिक्षा प्रसार के कार्य को अत्यधिक उत्तेजन मिला है। इस योजना के अनुसार ११,१५० स्कूल अबतक खुल चुके है। परिगणित जातियों की शिक्षा-संबधी सुविधाओं मे स्पष्ट बृद्धि हुई है और उनकी शिक्षा पर सरकार सन् १९४५–४६ मे जहाँ ६ लाख रुपया खर्च करती थी, वहाँ १९४९–५० मे १२ लाख रुपया खर्च कर रही है। म्युनिसिपल क्षेत्रो के बालको को अनिवार्य प्रारंभिकशिक्षा देने के काम की गति बहुत तीव्र रही है। जहाँ १९४६ मे केवल ३६ म्युनिसिपल क्षेत्रो मे अनिवार्य प्रारंभिक शिक्षा लागू की गयी थी, वहाँ अब सब म्युनिसिपैल्टियो में यह योजना कार्यान्वित हो गई है। वयस्क शिक्षा के कार्यक्रम के द्वारा निरक्षरता और अज्ञान को दूर करने की आवश्यकता भी भुलाई नही गई है। इस विषय के विशेषज्ञो तथा इस समस्या मे दिलचस्पी रखनेवाले अन्य सज्जनो की एक कमेटी पूरे प्रश्न पर विचार करने के लिये नियुक्त की गई थी और सरकार कमेटी की रिपोर्ट के अनुसार कार्य करनेवाली है तथा वह वयस्क शिक्षा पर बड़ी अतिरिक्त धनराशि व्यय करेगी। जहाँतक माध्यमिक शिक्षा का संबध है, स्कूलों और कालेजो की संख्या में बहुत वृद्धि हुई है और स्कूल जानेवाले बालको की भिन्न-भिन्न अभिरुचि के अनुकूल नए प्रकार के स्कूल खोले गए है। ट्रेनिग प्राप्त शिक्षकों को पर्याप्त संख्या मे तैयार करने की समस्या व्यावहारिक और विधायक रीति से हल की जा रही है। इस कमी को पूरा करने के लिये बहुत कुछ किया जा चुका है और आशा की जाती है कि शीघ्र ही ट्रेनिंग

प्राप्त शिक्षा की वर्तमान संख्या में बहुत वृद्धि हो जायगी। अध्यापकों के वेतन में, जिसे बहुसंख्यक जनता की आय से अपर्याप्त समझा जाता था, वृद्धि करने की जटिल समस्या सहानुभूति और विवेक से हल की गई है। यद्यपि कभी कभी संगठित अध्यापकों के बड़े समूह को सरकार का विरोध करना पड़ा और उसे हड़ताल की धमकी तथा या हड़ताल तक करनी पड़ी, तथापि मेरी समझ में यह सरकार की सहानुभूति और सद्भावना के अभाव का द्योतक नहीं, परन्तु पूरी तरह से कार्यान्वित न हो सकनेवाली सदिच्छा का ही द्योतक है। कारण, बहुत सी ऐसी कठिनाइयाँ होती हैं जो जादू की छड़ी घुमाकर दूर नहीं की जा सकतीं। प्रान्त के विश्वविद्यालय, जो अर्थाभाव से पीड़ित थे, पहले की अपेक्षा बहुत अधिक आर्थिक सहायता पा रहे हैं। मैं जानता हूँ कि कई हल्कों में यह समझा जाता है कि विश्वविद्यालयों को शिक्षा के लिये सरकार जो धन दे रही है, वह अब भी बहुत अपर्याप्त है और राष्ट्रीय सरकार विश्वविद्यालयों की विस्तार की जरूरी माँग पूरी करने के लिये अर्थाभाव का बहाना नहीं कर सकती। सरकार ने एक प्रतिनिधित्वपूर्ण यूनिवर्सिटीज ग्राण्ट्स (अनुदान) कमेटी सरकार से इसकी सिफारिश करने के लिये नियुक्त की है कि विश्वविद्यालयों को कितनी आर्थिक सहायता मिलनी चाहिए। इस कमेटी के साथ ही एक साइंटिफिक रिसर्च कमेटी (वैज्ञानिक अनुसंधान समिति) भी बनाई गई है जिसका उद्देश्य उस अनुदान के संबंध में सिफारिश करना है जो न केवल विश्वविद्यालयों में वैज्ञानिक अनुसंधान और विज्ञान की उन्नति का उपक्रम करने के लिये हो, बल्कि उद्योग व्यवसाय में विज्ञान के प्रयोग को प्रोत्साहन देने के संबंध में भी हो। अजायबघरों की उन्नति की ओर भी, जो आज देश में सांस्कृतिक चेतना उत्पन्न करने का बहुत बड़ा तथा महत्वपूर्ण काम करते हैं, सरकार ने काफी दिलचस्पी दिखलाई है। अजायबघरों से जनता को शिक्षित करने तथा उसका सांस्कृतिक स्तर उन्नत करने का काम लेने का एक सुव्यवस्थित कार्यक्रम बनाया गया है। प्राच्य विद्या की शिक्षा की (जिससे मेरा अभिप्राय अरबी, फारसी और संस्कृत की शिक्षा से है) योजना बनाने की समस्या की उपेक्षा नहीं की गई है। इस समस्या पर व्यापक रूप से विचार कर सरकार के सम्मुख ठोस प्रस्ताव उपस्थित करने के लिये अलग अलग कमेटियाँ बनाई गई हैं और काम कर रही हैं। शिक्षा प्रसार की बढ़ी हुई आवश्यकताओं तथा बढ़ते हुए काम को पूरा करने के लिए जिलों में इन्स्पेक्टरों की संख्या बढ़ाई गई है जिससे ऐसे समय जब सचाई से कहा नहीं जा सकता कि तीव्र परिवर्तनों के कारण हमारी शिक्षा संस्थाओं के अव्यवस्थित होने की आशंका हो सकती है। शिक्षा विभाग का प्रवेश द्वार विस्तृत कर दिया गया है और आज यह विभाग सुयोग्य और महत्वाकांक्षी युवकों को जीविका का आकर्षक साधन प्रदान करता है। तीन वर्ष के अल्पकाल में इतनी कार्यसिद्धि कुछ कम नहीं है और इसपर श्री सम्पूर्णानन्द जी के व्यक्तित्व की, उनकी असाधारण कार्यक्षमता की, उनकी व्यावहारिक प्रेरणा शक्ति की और सर्वोपरि उनके इस विश्वास की कि राष्ट्र की उन्नति का एकमात्र वास्तविक और स्थायी आधार शिक्षा ही है, अमिट छाप पड़ी है।

श्री संपूर्णानंद

भगवती शरण सिंह

आत्म-विज्ञापन से दूर रहनेवाले 'विद्वानो मे भी विद्वान' का जीवन चरित लिखना जितना ही पुण्य-श्लोक है उतना ही कठिन भी। मेरे लिये जिसके वह 'पूर्वेषामपि गुरु' हो यह कार्य कुछ असभव-सा ही था। पर नागरी-प्रचारिणी-सभा का, विशेषकर उसके प्रधानमत्री का आग्रह भी दुर्निवार, सुमेरु सा अचल। दो असंभावनाओं के बीच किसी चीज का मभव होना यह पक्तियाँ है। मैंने 'यह पक्तियाँ' इसलिये लिखी कि इनकी समष्टि को उनका जीवन-चरित कहना मेरे लिए असभव है फिर भी इसमें उनके जीवन की कुछ घटनाएँ आपको मिलेगी। जो उनको नही जानते होगे उनके लिये इसमे भले ही कुछ वाते मिल जाय पर उनको वहुत से लोग जानते है। जो लोग उन्हे जानते है, जिन्होने दृगकोतक अपनी दृष्टि से उन्हे देखा और समझा है, उन्हे मेरी समझ स्यात् न रुचे। इसके अतिरिक्त भी मेरी एक कठिनाई है। जब कभी मैंने या मेरे जैसे लोगो ने उन्हे समझने, उन्हे पढने की चेष्टा की तब एक अग्रेजी लेखक के शब्दों मे 'दि हार्ड ओपेक् स्टफ् आवआवर नैरोअर सेल्वज मेल्ट्स इन टू ऐन एलिमेट फारमोर फ्लोइग, फार लेस् लिमिटेड। लाइक वाटर, लाइक एयर वी विकम्; ऐंड इन प्लेस आफ लूजिग (इट्स) हिज आइडेटिटी, दि "आई" इन अस स्लिप्स आउट आफ इट्स ओन ब्रीफ ट्रासिटरीनेस इनटू दि एन्डयेइरिग काटिन्युइटी आव एडलेस जेनरेशनस् आव लाइवस्। इन प्लेस आफ वीइग ए रौक वाउडपूल आफ द ओशन्स फ्लड, वी विकम् ए लिविग वेव आफ हिज वास्ट टाइड, राइजिग एंड फालिग विथ (इट) हिम एड रिअलाइजिंग आवर आइडेटिटी विथ (इट) हिम्। यद्यपि यह शब्द एक महान पुस्तक की विशेषता मे कहे गए है और इसीलिये मैंने इसमे आए हुए 'इट' शब्दो के आगे 'हिम' या 'हिज' कर दिया है, पर यह हमारे जैसे लोगो के लिये उनके विषय मे यथार्थ है। फिर भी मै उनके जीवन के कुछ तथ्य अपने को उनसे अलग करके लिखने का प्रयत्न करूगा।

श्री सपूर्णानद जी, जिन्हे कुछ लोग वावू जी, कुछ प्रोफेसर साहव, कुछ मास्टर साहव, तथा एक दो इने गिने व्यक्ति 'वावूनंदन' भी कहा करते है, वख्शी सदानद जी के वंशज है। 'वख्शी सदानंद जी के पूर्वज पजाव से क्यो आजमगढ़ के कोटा ग्राम मे आवसे यह हमे भी ज्ञात नही। उनके काशी आने का कारण तो यह वताया जाता है कि तत्कालीन काशी नरेश महाराज चेतसिह

के अमात्य दीवानराम जी के निधन के फलस्वरूप उनके स्थान की पूर्ति के लिये जब उन्ही के कुटुबी जना की खोज हुई तब श्री सदानद जी उस पद को सुशोभित करने के लिये बुलाए गए। इनके परिवार के नामो के अतिम भाग म 'आनद' की परपरा है। यह परपरा इन्ही स्वर्गीय सदानद जी स प्रारभ हुई। कहा जाता है कि उनके नाम का अतिम भाग 'आनद' काशी के प्रसिद्ध बाबा किनाराम जी का आशीर्वाद इस वश-परपरा म चिरतन स्थान पाने का आदेश प्राप्तकर चुका है और जब तक यह आनद परपरा रहेगी यह लोग सुखकल्याण में सुखी रहेंगे। सदानद जी के दो पुत्र हुए महानद और परमानद। ज्येष्ठपुत्र महानद जी की मृत्यु थोडी ही उम्र में हो गई। परमानद जी के पुत्र नित्यानद जौनपुर में कानवाल थे। वहा के लोग अब भी इनका नाम आदर स लेते है। श्री सपूर्णानद जी के पिता स्वर्गीय विजयानद जी इन्ही के पुत्र थे। विजयानद जी के तीन पुत्र उत्पन्न हुए श्री सपूर्णानद, श्री अन्नपूर्णानद और श्री परिपूर्णानद। यह इनकी वश-परपरा की थोडी सी नामावली है और इनके विषय में यहाँ अधिक कहना प्रासगिक न होगा। यह तो उनके वृहत् जीवन-ग्रथ का विषय है। यहा तो श्री सपूर्णानद जी के विविध रूपो की चर्चा ही उद्दिष्ट है। किंतु क्या वह भी इस छोटे से लेख में सभव होगी?

श्री सपूर्णानद जी का जन्म पौष शुक्ल ११, बुधवार, सवत् १८४६ म हुआ था अर्थात् पहली जनवरी सन् १८९० ई० में। इस वर्षगत पहली जनवरी को इनके जीवन के साठ वर्ष पूरे हो गए। कुछ लोगो को जब इस अवसरपर उन्हें अभिनदन ग्रथ के भेंट किए जाने का समाचार मिला तो उनकी कर्मठता स्फूर्ति और उत्साह को देखते हुए, उन्हें सहसा विश्वास भी न हुआ कि वह साठ वर्ष पूरा कर चुके। उनके बाल्यकाल की घटनाएँ इस लेख के लिये केवल इतनी ही है कि वह साहित्य पढने में बीता। खेल-कूद के विषय में यह विशेष रुचि न रखते थे पर कपड़े की गेंद स एकाध बार म्युनिस्पल लालटेन के शीशे टूट ही गए। लेकिन साहित्य इन्होने पढ़ा, हिंदी फारसी, और अग्रेजी। बगला की पुस्तके भी इन्होने पढी पर केवल प्रसगवश। चौदह पद्रह वर्ष की अवस्था में ही यह कितना साहित्य पढ गए थे इसके समवयस्क मित्र आज भी साश्चर्य वर्णन करते है। बाल्य-काल म जिन पुस्तको का प्रभाव इनके सुदृढ जीवनपर पडा उनमें से कुछ तो आज के युवको को अपरिचित मालूम पडेगी। १० वर्ष स लेकर १४ वर्षतक के बीच में पढी हुई पुस्तको में आर० सी० दत्त की 'राजपूत जीवन सध्या' और 'महाराष्ट्र जीवन प्रभात' बकिम बाबू की दुर्गेशनदिनी, राधाकृष्ण दास के उपन्यास और टाड के राजस्थान के इतिहास ने इनकी विचारधारा को निश्चय ही प्रभावित किया था। अग्रेजी उपन्यासो में स्काटो के अग्रेजो स लडने की बात इन्हें खूब अच्छी लगती। यद्यपि उन दिनो न तो भारतीय स्वातन्त्र्य सग्राम का प्रादुर्भाव ही हुआ था और न अग्रेजो के विरुद्ध विद्वेष या घृणा का अनुभव हो। किंतु सस्कार की बात थी। नेपोलियन की जीवनी ने भी इन्हें खूब प्रभावित किया था। सन् १९०५ के बगभग आदोलन की कुछ घटनाओ का इनके ऊपर बहुत प्रभाव पडा। १४-१५ वर्ष का किशोर हृदय क्रोधावेश में घटो अपने कमरे में रखी हुई तलवार की आजमाइश करता।

आपकी शिक्षा बचपन में घरपर ही हुई। छठी कक्षा में पहले-पहल आप का नाम ठठेरी बाजार के हरिश्चद्र स्कूल में (उन दिनो यह स्कूल वही था) लिखा गया। आठवीं कक्षातक वहाँ पढने के बाद आप क्वीस कालेज म चले आए और वही से स्कूल लीविंग सर्टिफिकेट परीक्षा पास

की। उन दिनों यह नियम था कि कोई विद्यार्थी १६ वर्ष से कम अवस्था मे यह परीक्षा नहीं दे सकता था। अतएव आपको इस परीक्षा के लिये दो वर्ष रुकना पड़ा। इन दो वर्षों में आपने काशी की कार्माइकल लाइब्रेरी की उन विषयों की जिनमें इन्हे रुचि थी सारी पुस्तकें पढ डाली। डा० हफीज सय्यद उन दिनो १०वी कक्षा मे थे। वह बताते है कि उन दिनो यह स्यात् आठवी कक्षा मे थे। फिर भी इनके लिखे अंग्रेजी के निबंध प्रोफेसर नारमैन उन लोगो को लाकर दिखाते और उसी कोटि का निबंध लिखने को प्रोत्साहित करते। श्री सपूर्णानंद जी की दार्शनिक रुचि को श्री नारमैन और श्री रैडल ने बहुत प्रोत्साहित किया। उन दिनो इंगलैंड के रैशनलिस्ट प्रेस असोशिएशन से रैशनलिस्ट के जाने वाले लेखकों की कृतियाँ प्रकाशित होती थी। इन लेखकों का दृष्टिकोण 'नास्तिकी-ज्म' रहा करता था। इनकी महंगी किताबों को यह असोशिएशन सस्ते दामो मे प्रकाशित करता। श्री सपूर्णानंद जी ने इन दो वर्षो में इन्हे खूब पढा और फल यह हुआ कि इन्हे इन लेखको का 'साइंटिफिक एथीइज्म' पसद आने लगा। मै इस बात को अभी यही छोडता हू। इन्होने बी० एस० सी० की डिग्री ली और इलाहाबाद यूनिवर्सिटी से एल० टी० की उपाधि। उन दिनो यह एल० टी० उपाधि प्रयाग विश्वविद्यालय देता था। इन्होने एल० टी० की उपाधि सरकारी नौकरी करने के लिये नहीं वरन् शिक्षा की वृत्ति को पवित्र और तप. पूत मानकर ली थी। जब शिक्षक की वृत्ति को छोड़कर यह राजनीति मे कूदे तो इनके अध्यापक मैकेंजी अक्सर कहा करते 'हियर इज ए गुड मैन गान रौंग'। सरकारी नौकरी न करने की प्रतिज्ञा तो इन्होने १९०७ मे ही जब लाला लाजपत-राय का देश निकाला हुआ था कर ली थी।

राजनीति में

सन् १९१३ मे महात्मा गाधी ने अफ्रिका सत्याग्रह आदोलन प्रारंभ किया। श्री सपूर्णा-नंद जी अभीतक गृहस्थ और सैनिक जीवन के दोल मे पडे थे। पर 'कबिरा खड़ा बजार में, लिये लकाठी हाथ, जो घर फूँके आपना सो चलै हमारे साथ' और यह गाधी जी के साथ चल पडे पूरी तौरपर। इनके अगृहस्थ जीवन की कथा तथा तज्जन्य जो क्लेश इनके कुटुबी जनो को हुआ उनकी चर्चा भी मै यहां नहीं करना चाहता। महात्मा गाधी के नेतृत्व मे जिस पराक्रम से इन्होने स्वातत्र्य संग्राम मे अपना कर्तव्य पालन किया उसकी कहानी भी इनके साथी सैनिकों ने अन्यत्र कही है। १९२१ से १९४८ तक २६ वर्षों का पूरा जीवन उसीसे तो भरा पडा है। मै केवल दो छोटी-सी घटनाओं का उल्लेख करूंगा। यह घटनाएँ छोटी होते हुई भी इनके चरित्रपर प्रकाश डालती है। सन् १९३२ में डा० अंसारी और श्री तसद्दुक अहमद शेरवानी जेल से लौटे तो इन लोगों का स्वास्थ्य अत्यंत खराब हो गया था। यह लोग विलायत चले गए। आचार्य नरेंद्रदेव और श्री सपूर्णानंद जी भी उनके बाद छूटे। श्री संपूर्णानंद जी का भी स्वास्थ्य बेहद चौपट हो चला था। इधर जनता में यह भावना पैदा होने लगी थी कि अब यह लोग स्वास्थ्य का बहाना कर सग्राम से विमुख होंगे। इसकी भनक मिलते ही बनारस शहर छोडने की आज्ञा भंग कर आचार्य जी और संपूर्णानंद जी तुरंत जेल वापस चले गए। दूसरी घटना १९३७ ई० की है। सन् १९३७ मे कांग्रेस ने प्रांतों का शासन संभाला था। यह प० प्यारेलाल जी के बाद शिक्षा मंत्री हुए और प्रात में साक्षरता आंदोलन बडे जोरो से प्रारंभ कर दिया। १९३९ मे पुनः जेल में। अंग्रेजी सरकार ने कांग्रेस शासन के बाद भी 'लिटरेसी वीक' मनाना स्यात् हानिकर न समझा। यह 'लिटरेसी वीक' सन्

है वह संप्रति प्रत्यक्ष नहीं है। उन्हें जो कुछ करना है उसे अभी उन्होंने पूरा नहीं किया है। यद्यपि लेखक के रूप में इनकी ख्याति भारतीय सीमा के बाहर जा चुकी है फिर भी अभी उन्हें जो कुछ करना है वह उस क्षेत्र में नहीं, दूसरे क्षेत्र में। उस दूसरे क्षेत्र की देन ही उनकी असली देन होगी। उनका सम्मान हम केवल इसलिये नहीं कर रहे हैं कि वह विद्वान् हैं, इसलिये नहीं कि वह राजनीति में ऊँचा स्थान रखते हैं, इसलिये भी नहीं कि एकसाथ ही वह शासन के कई विभागों का अत्यंत कुशलता और दृढ़ता के साथ संचालन कर सकते हैं। संभव है हमारे इस कृत्य में उनके इन गुणों की ओर भी हमारी दृष्टि हो। पर जिस कारण हमें उनका अधिकाधिक सम्मान करना चाहिए वह उनकी दार्शनिक विचारधारा की विशेषता है। उनकी 'समाजवाद' पुस्तक में उन्हीं का रचा एक श्लोक है:

जगद्भर्त्ताऽपि यो भिक्षुः भूतवासाऽनिकेतनः
विश्वगोप्ताऽपिदिग्वासा, तस्मै कस्मै नमो नमः॥

जो जगत् का भरण करता है पर आप भिखारी है, जो सब प्राणियों को निवास देता है पर आप बेघर का है, जो विश्व का कर्ता है पर आप नंगा रहता है, उसको बारंबार प्रणाम करनेवाली मूर्ति ही बाबू जी की सच्ची झलक है। जो बाल्यकाल में ही अपने कक्ष से बाहर 'बोझा ढोनेवाले स्त्री-पुरुषों के स्वास्थ्य में अस्वाभाविक परिवर्तन को देखकर प्रभावित हुआ और जिसकी चिंताधारा उसे इस ओर ले गई वह क्यों न समाजवादी पार्टी से पार्थिव रूप से अलग होनेपर भी अपने समाजवादी मित्रों का आदरणीय बना रहे? पर उनकी विचारधारा तो कहीं नहीं रुकती वह उन्हें आगे ले जाती है और वह

'इयं विसृष्टिर्यत आबभूव यदिवादधे यदि वा न। यो अस्याध्यक्षः परमं व्योमन् सो अंग वेद यदि वनवेद की कठिनाइयों पर विजय पाने और सत्य का निश्चयात्मक ज्ञान प्राप्त करने के हेतु साधनारत है।

जीवन मुक्त श्री संपूर्णानंद जी का जीवन-चरित्र लिखने जैसा कठिन कार्य करने का मनोरथ लेकर ही इन पंक्तियों का लेखक यहाँ इस लेख को समाप्त करता है और परमात्मा से प्रार्थना करता है कि वह उन्हें दीर्घकाल तक अज्ञान के नाश और सत्य की प्रतिष्ठा के हेतु हमारे बीच रखे।

श्री सपूर्णानद

विश्वनाथ शर्मा

श्री सपूर्णानद जी का जन्म काशी के एक प्रतिष्ठित कायस्थ कुल में १ जनवरी सन् १८९० को हुआ था। आपके पूर्वज बख्शी सदानद काशी राज्य के दीवान थे। आपके पिता श्री विजयानद जी, माता तथा मातामह सभी धर्मनिष्ठ और साधु प्रकृति के थे। इन तीनो व्यक्तियो का आपपर बडा प्रभाव है। बचपन से ही आपकी कुशाग्र बुद्धि का परिचय मिलता रहा है। चौदह वर्ष की आयु में ही आप हाईस्कूल की कक्षा में पहुँच गये थे किंतु उस समय के इस नियम के कारण कि परीक्षार्थी सोलह वर्ष की आयु के पहिले हाईस्कूल की परीक्षा में सम्मिलित नहीं हो सकता, इन्हें रुक जाना पडा। इस अनिवार्य अवकाश का उपयोग आपने खेल-कूद में न करके स्थानीय कारमाइकल लाइब्रेरी में स्वाध्याय के लिये किया और लब्धप्रतिष्ठ अगरेजी लेखकों की रचनाएँ पढ डालीं।

उनका यह विद्या-व्यसन आज भी जारी है। यात्रा में, रेल में, मोटर में पढते रहते है। सन् तो इन्हे अपने घर जालिपादेवी से विद्यापीठ पैदल जाते समय रास्ते में पुस्तकें पढते हुए पाया है। जब कि पीछे थोडी ही दूरपर शिष्यमडली एक दूसरे का मजाक उडाते हुए अपने समय का 'सदुपयोग' करती हुई चलती थी। मनचाही पुस्तकें न पहुच पानेपर आपने जेल के पुस्तकालय से एकदम मामूली किस्म कहानी की किताब पढ डाली थी। यही कारण है कि आप गूढ से-गूढ और साधारण-से साधारण विषयपर समान रीति से और अधिकारी रूप से बोलते और लिखते है। आप बडी तेजी से पेज का पेज पढ जाते है, उसे व्यवस्थित रीति से स्मरण रखते है। इसका यह अर्थ नहीं है कि सदा अध्ययन ही करते रहते है या गभीर बने रहते हैं। जब घनिष्ठ मित्रो और विशेष कर बच्चो के बीच होते हैं,उस समय कहानी किस्से, चुटकुले कहते और सुनते हैं। औरो का मजाक उडाते है और दूसरो के अपने प्रति किए हुए मजाक का आनद भी लेते है।

स्थानीय क्वीन्स कालेज से बी० एससी० की परीक्षा उत्तीर्ण करने के बाद इलाहाबाद से एल० टी० की उपाधि प्राप्त की। उस समय के अध्यापक तथा बाद को युक्तप्रात के शिक्षा सचालक श्री मैकेंजी के बहुत आग्रहपर भी आपने सरकारी नौकरी करना स्वीकार नहीं किया और स्थानीय हरिश्चद्र स्कूल में (अब हरिश्चद्र डिग्री कालेज) शिक्षक हो गए। यहा से प्रसिद्ध देशभक्त राजा

महेंद्रप्रताप द्वारा स्थापित वृंदावन के प्रेम विद्यालय मे चले गए। वहाँ से आप डेली कालेज इन्दौर गए। इंदौर से आप प्रधानाध्यापक होकर बीकानेर गए।

प्रथम महायुद्ध और उसके बाद जलयान-वाला-बाग की घटनाओं तथा ब्रिटिश गवर्नमेंट की वादा खिलाफी के कारण देश मे स्वाधीनता की लहरे उमड रही थी। महात्मा गाधी के नेतृत्व मे सन् १९२० मे असहयोग आदोलन आरभ हो गया। आपने इस यज्ञ मे अपनी आहुति देने का निश्चय कर लिया और बीकानेर राज्य की सेवा छोडकर देशसेवा के क्षेत्र मे आ गए। हृदय की पुकारपर अपने जन्मस्थान काशी को सेवा का क्षेत्र बनाया। बहुत शीघ्र ही आपने प्रमुख स्थान प्राप्त कर लिया।

असहयोग आंदोलन की गति तीव्र होती गई। प्रिंस आफ वेल्स के बहिष्कार के कारण सारे देश मे गिरफ्तारियाँ आरंभ हो गई। स्वाधीनता के युद्ध मे काशी का स्थान सदा ऊँचा रहा है। आपके नेतृत्व मे स्वयसेवको के जत्थे सार्वजनिक रीति से सत्याग्रह करने के लिये निकलने लगे। तत्कालीन ब्रिटिश सरकार के विरोध की इस वनाग्नि का दृश्य चिरस्मरणीय रहेगा। देशभक्ति के भावों से भरे हुए भारत की स्वतत्रता के लिये उत्सुक वीर सैनिक स्वयसेवको की सूची मे बिना नाम लिखाए ही मालाएँ पहिनकर निकल पडते थे और गिरफ्तार हो जाते थे। शासक गिरफ्तारियाँ करते-करते लाचार और परेशान हो गए थे। जेलो मे, हवालातों मे, जगह नही रह गई थी। इस योजना को आरंभ करने का श्रेय आपको है। अहमदाबाद कॉंग्रेस के पहिले ही आप गिरफ्तार कर लिए गए और एक साल का कठिन कारावास का दड मिला। आप पहिले बनारस और वही से लखनऊ जेल भेजे गए।

चौरी-चौरा काड के बाद महात्मा गाधी ने सत्याग्रह आंदोलन स्थगित कर दिया। उसीके बाद उनकी गिरफ्तारी हुई और ६ वर्ष का कारावास मिला। सारे देश मे एक प्रकार की निष्क्रियता आ गई। कौंसिल-प्रवेश के प्रश्न पर नेताओ मे मतभेद हो गया और स्वराज्य पार्टी की स्थापना हुई। आप उसमे समिलित हो गए। हिंदुओ मे राष्ट्रीय भावना लाने के विचार से गया कॉंग्रेस के साथ ही साथ हिंदूसभा का भी अधिवेशन किया गया था। आप भी हिंदूसभा मे संमिलित हुए किंतु आगे चलकर राष्ट्रीय विचार के अधिकाश हिंदुओ ने यह सोचकर कि कॉंग्रेस का समानान्तर सघटन व्यर्थ है उसे छोड़ दिया। आरभ से ही आल इडिया कॉंग्रेस कमेटी, प्रातीय कॉंग्रेस-कमेटी, जिला तथा शहर कॉंग्रेस कमेटी के सदस्य है। कई वर्षोतक संयुक्तप्रातीय कॉंग्रेस कमेटी के प्रधान मंत्री, बनारस जिला तथा शहर कॉंग्रेस कमेटियो के अध्यक्ष रहे है।

बीकानेर छोड़कर आने के बाद प्रसिद्ध देशभक्त स्वर्गीय शिवप्रसाद गुप्त के आमत्रणपर आपने स्थानीय ज्ञानमंडल द्वारा प्रकाशित 'मर्यादा' मासिक पत्रिका का संपादन भार ग्रहण किया। अतर्राष्ट्रीय विधान नामक ग्रथ हिंदीभाषा में लिखा जिसका विद्वानो ने बड़ा आदर किया। कहा जाता है कि इसप्रकार एक पुस्तक में अतर्राष्ट्रीय विधान के सबंध की इतनी ज्ञातव्य बातो का समावेश बहुत कम लेखक कर पाए है। आपने हिंदी दैनिक 'आज' तथा उसीकी ओर से निकलनेवाले अग्रेजी दैनिक 'टुडे' का बड़ी योग्यतापूर्वक संपादन किया था। देश की विभिन्न समस्याओंपर आप सदा

ही हिंदी तथा अग्रजी के पत्रो में लिखा करते है। काशी मे कॉंग्रेस समाजवादी दल की ओर से निकलनेवाले हिंदी साप्ताहिक 'जागरण' का भी आपने सपादन किया था।

आर्थिक कारणो से 'मर्यादा' का प्रकाशन स्थगित हो जानेपर आपने काशी विद्यापीठ मे दर्शन अध्यापक का पदग्रहण किया। दर्शन के साथ-साथ आप अतर्राष्ट्रिय विधान का भी अध्यापन करते थे। आपके शिष्यो में श्रीराजाराम शास्त्री, श्री लालबहादुर शास्त्री, श्री कमलापति शास्त्री, श्री हरिहरनाथ शास्त्री, श्री बालकृष्ण केसकर आदि देश में महत्वपूर्ण पदोंपर है और उनका प्रमुख स्थान है। आप दर्शन, राजशास्त्र, साहित्य, इतिहास, ज्योतिष आदि गूढ-से-गूढ विषयो के मर्मज्ञ है और बडी ही सरलता से समझाते है। बडी लगन से शकाओ का समाधान करते है। अपने साथियों को सदा अध्ययन की ओर प्रवृत्त करते रहते हैं। आकाश-दर्शन और तारो की गति विधि के अध्ययन में आपको विशेष रुचि है। आप इस बात से सदा दुखी रहते है कि आजकल के सार्वजनिक कार्यकर्ताओ में अध्ययन की रुचि नही है व अपने को जन्मसिद्ध नेता मान लेते है और अन्य दशो की भाति अपने स्र क्षेत्र के साथ काम सीखना आवश्यक नही समझते। आजकल आप काशी विद्यापीठ की निरीक्षक सभा के अध्यक्ष और उसकी पोषक श्री हरप्रसाद शिक्षा निधि के सचालक है।

कांग्रेस के यह निर्णय करनेपर कि कांग्रेस कार्यकर्ताओ को स्थानीय शासन मे भी योग देना चाहिए, बनारस में भी कांग्रेसजन ने म्युनिसिपल निर्वाचन में भाग लिया। डाक्टर भगवान् दास जी की अध्यक्षता में बोर्ड बना। आप स्थानीय म्युनिसिपल बोर्ड के सदस्य चुने गए और शिक्षा, चुंगी तथा स्वास्थ्य समितियों के अध्यक्ष रहे। उस समय आपने बडी कुशलता से इन विभागो का सचालन किया और पुराने अधिकारियो के स्थानपर नए योग्य कर्मचारियो की नियुक्ति करके काया पलट कर दी। काशी नगरी को सुदर और स्वस्थ बनाने की आपको सदा चिंता रहती है। बनारस मे 'इम्प्रूवमेंट ट्रस्ट' बनाने के लिये आप सन् १९३७ से ही उद्योग कर रहे थे। अब 'इम्प्रूवमेंट ट्रस्ट' स्थापित कराने मे सफल हुए है।

सन् १९२६ के चुनाव के समय कांग्रेस कार्य-कर्ताओ में राष्ट्रवादिता और हिंदू हित के नामपर मतभेद हो गया और बढता ही गया। हिंदू मुस्लिम वैमनस्य के कारण सारे देश का वायु मडल विषाक्त हो गया था। हिंदू-हित के नामपर बहुत सी प्रतिक्रियावादी शक्तियाँ कांग्रेस का विरोध करने के लिए आगे बढ आई थी। देश में कई स्थानोंपर कांग्रेस उम्मेदवारो की हार हुई किन्तु बनारस शहर मे कांग्रेस की शानदार जीत हुई और आप युक्तप्रान्तीय कौंसिल के सदस्य चुन लिए गए। अपनी कार्य-कुशलता और स्पष्टवादिता से आपने अपना प्रमुख स्थान बना लिया था। और वर्षो तक आप कौंसिल के कांग्रेस दल के मत्री थे। सन् १९२८ में इडिपेंडेंस आफ इडिया लीग की स्थापना होनेके बाद उसमे भी सम्मिलित हुए। सन १९३० की १ जनवरी को कांग्रेस के लाहौर के अधिवेशन में पूर्ण स्वाधीनता का ध्येय निश्चित हो जाने पर तथा सत्याग्रह आरभ होनेपर कांग्रेस के आदेशानुसार आपने युक्तप्रान्तीय कौंसिल से त्याग-पत्र दे दिया।

सन १०२६ के चुनाव मे राष्ट्रवादिता और हिंदूहित के नाम पर कांग्रेस के कार्यकर्ताओ में जो मतभेद हो गया था वह बढता ही गया। इसके फलस्वरूप प्रान्त में कांग्रेस का कार्य विशृंखल होने लगा। कार्य की सुविधा के लिये प्रान्तीय कांग्रेस कमेटी का कार्यालय प्रयाग से बनारस हस्ता-

तरित किया गया। आपने प्रधान मंत्री का कार्यभार सँभाला। यह समय भारत के लिये परीक्षा की घड़ी थी। आंदोलन शिथिल हो गया था और चारो ओर निराशा छा गई थी। भावी सुधारों के प्रश्न पर विचार करने के लिये ब्रिटिश गवर्नमेंट ने सर जान साइमन की अध्यक्षता मे शाही कमीशन नियुक्त किया। इसमें एक भी भारतीय सदस्य नही रखा गया। इससे सारे देश में, सब दलो ने उसका घोर विरोध किया। साइमन कमीशन पहिले-पहिल बनारस आया। यहाँ काले झडो और विरोधी जुलूसो से जैसा बहिष्कार हुआ वैसा देश मे कही नही हुआ। आपने उसमे प्रमुख भाग लिया था।

आप सैनिक शिक्षा तथा अनुशासन के बड़े पक्षपाती है। कॉग्रेस कार्यकर्ताओ मे सयम तथा अनुशासन लाने के लिये आपने काशी मे चेतसिंह शिक्षण-शिविर का आयोजन किया था जिसमे प्रातभर के चुने हुए स्वयंसेवको को छः सप्ताह तक शारीरिक और मानसिक शिक्षा दी गई थी। इसके बाद भी प्रात का स्वयं-सेवक विभाग आपके निरीक्षण मे रहा और सन् १९३६ की लखनऊ कॉग्रेस मे आप स्वयंसेवको के सेनापति थे। मत्रिपद ग्रहण करने के बाद आपने छात्रो को सैनिक शिक्षा दिलाने का आयोजन किया। आज विद्यालयो के छात्र जब सैनिको की भाँति अनुशासन मे चलते है तो मालूम होता है कि ये छात्र आगे चलकर भारत की सब प्रकार की कठिनाइयो से रक्षा करने मे समर्थ होगे।

भारत सरकार ने सेना के भारतीयकरण पर विचार करने के लिये श्री स्कीन की अध्यक्षता मे एक समिति नियुक्त की थी। स्वर्गीय पडित मोतीलाल नेहरू उसके सदस्य थे। कॉग्रेस कार्य-कर्ताओ मे संपूर्णानदजी ही इस विषय के विशेषज्ञ है, इस कारण पडित जी ने अपनी सहायता के लिये आपको विद्यापीठ से विशेष आमत्रण पर बुलाया था।

सन् १९३० मे सत्याग्रह आदोलन आरभ होनेपर काशी उसमे सदा की भाँति आगे रहा। आप सत्याग्रह-सग्राम के प्रथम संचालक नियुक्त किए गए और नमक-बनाने के अपराध मे आपको डेढ़ वर्ष के कठोर कारावास का दड मिला। सारे देश मे सत्याग्रह बडे उत्साह और शान से होता रहा। इसके फलस्वरूप मार्च १९३१ मे गाँधी-इर्विंग समझौता हुआ और आप विजयी सेनानी की भाँति कारागार से वापस आए और पुन कॉग्रेस को शक्तिशाली बनाने मे लग गए। १९३१ मे समझौते को पूरा कराने की चेष्टा होती रही। दूसरी गोलमेज परिषद् मे संमिलित होने के लिये महात्मा गाँधी लंदन गए किंतु देश की राजनीतिक स्थिति दिनपर दिन विषम होती गई, यहाँतक कि लदन की कान्फ्रेंस से लौटते ही महात्मा गाँधी गिरफ्तार करके यरवदा जेल मे नजरबद कर दिए गए।

६ जनवरी १९३२ को दूसरा सत्याग्रह आदोलन आरभ हो गया। शहर मे दफा १४४ लगी थी। उसे तोड़कर जुलूस निकला और टाउनहाल मे सार्वजनिक सभा हुई। उसमे भाषण करने के अभियोग आप, श्री शिवप्रसाद गुप्त, श्री बैजनाथ सिंह, श्री कृष्णचद्र शर्मा और श्री तारापद भट्टाचार्य गिरफ्तार किए गए, और ६ महीने की सख्त सजा हुई। जुलाई मे जेल से लौटने पर आप पुन. गिरफ्तार किए गए और एक साल की सजा हुई। इसबार आप रायबरेली तथा झाँसी की जेलो मे रहे।

सत्याग्रह आदोलन स्थगित होने पर आचार्य नरेंद्र देव आदि के साथ आपने कॉग्रेस सोशलिस्ट पार्टी की स्थापना मे भाग लिया। आप उसके बंबई में होनेवाले दूसरे वार्षिक अधिवेशन के सभापति

थे। आप सदा से ही समाजवादी विचारधारा के पोषक रहे हैं। तत्कालीन ब्रिटिश गवर्नमेंट तो आपको हमेशा रूस का पक्षपाती समझती रही। जब सन् १९३० में आपने अंग्रेजी में 'ह्वेन वी आर इन पावर' नामक पुस्तिका प्रकाशित की। उस समय पूंजीपतियों और जमींदारों में खलबली मच गई थी। आज भी आपकी विचारधारा वही है। आपका 'समाजवाद' ग्रंथ बड़ी ही उच्च कोटि का है। इस समय उसका पांचवां संस्करण प्रकाशित हुआ है। अपने विषय का हिंदी में सर्वोत्तम ग्रंथ होने के कारण हिंदी साहित्य सम्मेलन द्वारा इसपर श्रीमंगलाप्रसाद तथा श्री मुरारका पारितोषिक मिल चुका है। आप पूना में होनेवाले हिंदी-साहित्य सम्मेलन के सभापति चुने गए थे किंतु जेल में होने के कारण सभापतित्व न कर सके।

सन् १९३५ के नए गवर्नमेंट आफ इंडिया ऐक्ट के बनने के बाद कांग्रेस ने केंद्रीय और प्रांतीय धारा सभाओं के चुनाव में भाग लेने का निश्चय किया। १९३६–३७ के चुनाव में देश में एक अपूर्व जागृति आ गई। प्रांतीय धारासभाओं में कांग्रेस का प्रबल बहुमत हो गया। इसके फलस्वरूप कांग्रेस ने प्रांतों में पद ग्रहण का निश्चय किया और युक्तप्रांत में पंडित गोविंद वल्लभ पंत के प्रधान-मंत्रित्व में मंत्रिमंडल बना। आपको शिक्षा का महत्वपूर्ण विभाग सौंपा गया। कार्यभार ग्रहण करते ही आपने शिक्षा में क्रांतिकारी परिवर्तन आरंभ कर दिए। सारे प्रांत में साक्षरता-प्रसार का आंदोलन चलाया। बेसिक स्कूलों की स्थापना की। शिक्षा-व्यवस्था में आमूल परिवर्तन करने के लिए आचार्य नरेंद्रदेव की अध्यक्षता में समिति नियुक्त की। जिसने देश के प्रमुख शिक्षा शास्त्रियों के सहयोग से विश्वविद्यालय, माध्यमिक तथा प्रारंभिक शिक्षा के पाठ्यक्रम रीतिनीति, आचार मर्यादा की समस्याओं पर विचार किया और अपनी महत्वपूर्ण रिपोर्ट दी। इसके अनुसार कार्यारंभ होने के पहिले ही सन् १९३९ में तत्कालीन सरकार और कांग्रेस में मतभेद हो गया और कांग्रेस ने प्रांतों से पद-त्याग कर दिया।

इस समय दूसरा महायुद्ध चल रहा था। कांग्रेस और सरकार का पार्थक्य बढ़ता गया और सन् १९४० में महात्मा गांधी के नेतृत्व में व्यक्तिगत सत्याग्रह आंदोलन प्रारंभ हो गया। काशी में आपने इस आंदोलन का श्रीगणेश किया और डेढ़ वर्ष का कारावास मिला। व्यक्तिगत सत्याग्रह आंदोलन के चलते हुए ही गवर्नमेंट ने फिर समझौते की बात शुरू की। उसमें सफलता न मिलनेपर महात्मा गांधी ने 'भारत छोड़ो' आंदोलन आरंभ किया। बंबई में अखिल भारतीय कांग्रेस कमेटी के निर्णय करते ही, दूसरे दिन ९ अगस्त १९४२ को प्रातःकाल महात्मा गांधी गिरफ्तार कर लिए गए। बनारस में उसी दिन आप भी अपने अन्य साथियों सहित गिरफ्तार करके बनारस जिला जेल में रखे गए।

भारत के कोने-कोने में आंदोलन जोर पकड़ता गया। आसेतु हिमालय ब्रिटिश शासन का पंजा ढीला होने लगा। ऐसा आभास होने लगा कि ब्रिटिश शासन समाप्त हो गया। सरकारी कचहरियों, थानों पर झंडे फहराए जाने लगे। आंदोलन इतना तीव्र होने पर इसकी विशेषता यही थी कि किसी की व्यक्तिगत संपत्ति का कोई नुकसान नहीं हुआ। जो कुछ तोड़फोड़ हुई वह सरकारी संपत्ति की हुई। इस बार चिट्ठी, मुलाकात, किताबों अखबारों का आना बंद हो जाने के कारण आपको विशेष कष्ट उठाना पड़ा। यहांतक कि वेद, दर्शन तथा साहित्य की पुस्तकें भी जेल में

नही पहुँच पाती थी। पुस्तकों का अभाव श्रीसंपूर्णानद जैसे विद्या-व्यसनी के लिये वड़ा ही कष्टकारी था। आप प्रायः ८ महीने के वाद वनारस के जिला जेल से वरेली सेंट्रल जेल भेजे गए।

भारत छोड़ो आंदोलन की तीव्रता घटती गई। घोर अत्याचारो के फलस्वरूप सारे देश मे निराशापूर्ण वातावरण हो गया। इसी निराशापूर्ण स्थितिमें आप नजरवदी से छोड़ दिए गए। जेल से आते ही आप तथा माननीय श्री पुरुषोत्तम दास जी टडन ने कॉंग्रेस के कार्यकर्ताओं को एकत्र करके कॉंग्रेस असेंवली की स्थापना की, और यह साहस पैदा किया कि कॉंग्रेस कार्यकर्ता मिलजुल सकें। विखरी शक्तियो का फिर से संघटन आरंभ हो गया और कॉंग्रेस फिर से दिनपर दिन शक्ति प्राप्त करती गई। सन् १९४६ मे हुए चुनावो मे कॉंग्रेस का प्रवल वहुमत निर्वाचित हुआ और प्रातो में फिर से पद-ग्रहण करने का निश्चय हुआ। युक्तप्रात में फिर माननीय पडित गोविंद वल्लभ पत के प्रधान मंत्रित्व मे मत्रिमंडल का सघटन हुआ और आपको शिक्षा, सूचना तथा श्रम-विभाग सौपे गए। आगे चलकर आपको अर्थ-विभाग का भी कार्य सभालना पडा। इस समय भी आप शिक्षा, अर्थ तथा श्रममत्री है।

सन् १९३७–१९३९ के कार्यकाल मे शिक्षा प्रसार तथा शिक्षा प्रचार की जो योजनाएँ आपने वनाई थी, उनके पूर्णरूप से सफल होने के पहिले ही कॉंग्रेस ने पदत्याग कर दिया इसके फलस्वरूप आपने शिक्षा मे जो नए सुधार आरभ किए थे वे रुक गए। फिर कार्य हाथ मे लेनेपर आपने दूने उत्साह के साथ उसको आरंभ किया। सन् १९४५–४६ मे जहॉं शिक्षापर ३ करोड १८ लाख रुपया व्यय होता था, १९५०–५१ के आय-व्ययक मे ७ करोड से अधिक रुपए की व्यवस्था की गई है। प्रतिवर्ष ४४०० नए स्कूल खोलने की व्यवस्था की गई है। इस योजना के अनुसार अवतक ११,१५० स्कूल खोले जा चुके है। अव सब म्युनिसिपल वोर्डो मे अनिवार्य प्रारंभिक शिक्षा की योजना कार्यान्वित हो रही है। माध्यमिक शिक्षा के लिये स्कूल और कालेजो की संख्या १९३६ की ६ गुनी हो गयी है। वालिकाओ की शिक्षा मे भी आशातीत सुधार हुए है। इलाहावाद मे मनोवैज्ञानिक शिक्षण केंद्र खोला गया है। फैजावाद मे समाजसेवा की शिक्षा के लिये विद्यालय खोला गया है जिसमे १० महीनेतक शिक्षा प्राप्त करना सरकारी नौकरियॉं पाने के लिये अनिवार्य है। स्कूलो मे सैनिक शिक्षा की व्यवस्था की गई है। वह दिन दूर नही है जव हमारी इन शिक्षा-संस्थाओ से सुयोग्य विद्वानो के साथ-साथ सुयोग्य सैनिक भी मिलेंगे।

सस्कृत की शिक्षा मे आमूल परिवर्तन करने के लिये आपने डाक्टर भगवान् दास जी की अध्यक्षता मे संस्कृत के विद्वानो की एक समिति नियुक्त की थी। उसकी रिपोर्ट के अनुसार शिक्षा-क्रम मे परिवर्तन करने के लिये आपने युक्तप्रांत की सस्कृत की शिक्षा-संस्थाओ के संचालको का एक संमेलन वुलाया था। जिसके परामर्श के अनुसार सस्कृत शिक्षा की योजना मे परिवर्तन किया जा रहा है। काशी मे सस्कृत विश्वविद्यालय वनाने की सब व्यवस्था पूरी हो गई है। आशा है शीघ्र ही विश्वविद्यालय का कार्य आरंभ हो जायगा। अवतक संस्कृत के अध्यापक तथा छात्र जो अपने को शासन तथा समाज से उपेक्षित समझते थे, अव वे भी अपने को औरो के समान समझने लगेंगे।

प्राथमिक पाठशालाओं के शिक्षको की जो दयनीय आर्थिक स्थिति है, उनको आज जो पुरस्कार मिलता है उसमे वह इस भीषण महगी मे अपना तथा अपने परिवार का पोषण नही कर

सकता। इसी कारण अनेकबार हडताल हुई। आपने उनका वेतन क्रम २५) स ६०) तक कर दिया है तथा इसका आश्वासन दिया है कि प्राथमिक शिक्षकों के वेतन क्रमपर भी शीघ्र ही विचार किया जायगा। आशा है कि आपके शिक्षा-तथा अर्थ सचिवत्व काल में इन गरीब शिक्षकों की स्थिति भी सुधर जायगी।

श्री सपूर्णानद जी साहित्यिक है। राजनीति मे व्यस्त रहने के कारण अनेकबार अपने ग्रथों पर ही उन्हें जीविका के लिये निर्भर रहना पडा है। इसप्रकार साहित्यिक की कठिनाइयों से ये भलीभाति परिचित है। अतएव शिक्षामत्री के पद से वे साहित्यिकों को प्रेरणा देने एव उनकी प्रतिभा के विकास के लिये ५० हजार रुपये वार्षिक सहायता देते है। साहित्यिकों को इसप्रकार राज्याश्रय स्वतत्र भारत के प्रातों में अनूठी बात है।

ऐसी ही एक नई योजना सग्रहालयों को पुनरुज्जीवित करने की है। समाजशास्त्र के अध्यापक के नाते इतिहास की शिक्षा में सजीवता की दृष्टि से इन सग्रहालयों के महत्त्व को ये भलीभाँति जानते है, अतएव उनका लक्ष्य है कि जहातक सभव हो प्रत्येक नगर में सग्रहालय स्थापित किए जाय जिससे छात्र वहाँ जाकर तत्कालीन ऐतिहासिक परिस्थिति का वास्तविक अवलोकन कर सकें।

श्रम विभाग की ओर भी आपने पर्याप्त ध्यान दिया है। वर्तमान शासन के लिये पूंजीपतियों और श्रमजीवियों की समस्या सुलझाने का काम सदा ही सामने रहा है। शासन-भार ग्रहण करते ही आने होनेवाली हडताल का बडी कठोरता से दमन किया इससे आपकी लोकप्रियता में धक्का लगा किंतु उत्पादन कार्य में सफलता मिली। आप समझौता बोर्ड वर्क्स कमेटी तथा श्रमिक अदालतों की स्थापना करके श्रमजीवियों की समस्या का समाधान करने की चेष्टा कर रहे है। आजकल मिल मालिकों को भी आपने दृढतापूर्वक श्रमजीवियों की समस्या की ओर ध्यान देने के लिये विवश किया है। उनके लिए श्रमिक अफसरों की नियुक्ति अनिवार्य कर दी है। सुयोग्य श्रमिक अफसर मिल सके इसके लिये ट्रेड यूनियन के कार्यकर्ताओं, वर्तमान श्रमिक अफसरों तथा सुयोग्य स्नातकों को इसप्रकार की शिक्षा देने की व्यवस्था आपने काशी विद्यापीठ में की है। जहाँ शिक्षा प्राप्त करके वे नए और उपयोगी दृष्टिकोण से श्रमजीवियों की सहायता कर सकेंगे। आप अमेरिका में होनेवाले अतर्राष्ट्रीय श्रम सम्मेलन में भारत के प्रतिनिधि मडल के नेता की भाँति सम्मिलित हुए थे।

आप सवत् २००३ से २००५ तक नागरी प्रचारिणी सभा के अध्यक्ष रहे। इस कार्यकाल मे आपने उसके कार्यों को विशेष गति दी और आज भी उसकी सब प्रकार से सहायता करते रहते है। प्रसाद-परिषद् के आप स्थापक सदस्य है और १९४० से १९४४ तक आप उसके अध्यक्ष रहे है। यह कहने में अत्युक्ति न होगी कि उसके अधिकाश कार्य आप की प्रेरणा तथा प्रोत्साहन के फल है।

आपका कार्यक्षेत्र तो वस्तुत पठन-पाठन, ग्रथ लेखन का है किंतु जबतक भारत पराधीनता के बधन में था, आपने स्वाधीनता सग्राम मे योग देना अपना कर्तव्य समझा है। किंतु आपकी अद्भुत प्रतिभा के कारण आपकी साहित्य सेवा पर उससे कोई व्याघात नही पहुँचा। आपका राजनीति में समय लगाने से सतोष नही होता। आपकी लिखी पुस्तकों का देश तथा विदेशों में बडा आदर है। आपके समाजवाद तथा 'गणेश' के अन्य प्रातीय भाषाओं में अनुवाद हो रहे है। चिद्विलास का सस्कृत अनुवाद छप रहा है। लोगों को आश्चर्य होता है कि राजनीतिक कार्यों में इतना व्यस्त होते हुए, विभिन्न

कष्ट झेलते हुए भी आप अध्ययन और ग्रंथ लेखन के लिये इतना समय कैसे निकाल पाते हैं। निकट से देखने से जान पड़ता है कि इसका कारण आपका पवित्र चरित्र और तपोमय जीवन है। एक ओर यदि माघ के सबेरे ४ बजे, रात के रखे हुए ठंडे पानी से स्नान करके खुले मैदान में बैठकर आपको पूजन करते हुए देखकर आश्चर्य होता है तो दूसरी ओर छोटे से कमरे में भीषण गर्मी में पुस्तकों के बीच बैठे हुए ग्रंथों की रचना करते हुए देख कम विस्मय नहीं होता है।

मानवीय श्री संपूर्णानंद जी द्वारा लिखित पुस्तकों की सूची :

क्रम सं०	नाम पुस्तक	प्रकाशक	सन्
१.	धर्मवीर गांधी	ग्रंथ प्रकाशक समिति, काशी,	१९१४
२	महाराज छत्रसाल	ग्रंथ प्रकाशक समिति, काशी	१९१६
३	भौतिक विज्ञान	नागरी प्रचारिणी सभा, काशी	१९१६
४.	ज्योतिर्विनोद	नागरी प्रचारिणी सभा, काशी	१९१६
५.	भारतीय सृष्टि क्रम विचार	नागरी प्रचारिणी सभा, काशी	१९१७
६.	भारत के देशी राष्ट्र	प्रकाश पुस्तकालय, कानपुर	१९१८
७	चेतसिंह और काशी का विद्रोह	प्रताप कार्यालय, कानपुर	१९१९
८	सम्राट हर्षवर्धन	गाँधी हिंदी पुस्तक भंडार, बंबई,	१९२०
९	महादजी सिंधिया	हिंदी ग्रंथ रत्नाकर कार्यालय, बंबई,	१९२०
१०	चीन की राज्यक्रांति	प्रकाश पुस्तकालय, कानपुर	१९२०
११.	मिश्र की स्वाधीनता	सुलभ ग्रंथ प्रचारक मंडल, कलकत्ता	१९२३
१२.	सम्राट अशोक	प्रकाश पुस्तकालय, कानपुर	१९२४
१३	अंतर्राष्ट्रीय विधान	ज्ञानमंडल लि० काशी (दो संस्करण)	१९२४
१४.	समाजवाद	श्री काशी विद्यापीठ, काशी, पाँच सं०	१९३६
१५.	साम्यवाद का बिगुल	काशी पुस्तक भंडार, काशी	१९३६
१६	व्यक्ति और राज	हिंदी पुस्तक एजेंसी, काशी	१९४०
१७	आर्यों का आदिदेश	लीडर प्रेस, इलाहाबाद	१९४१
१८	दर्शन और जीवन	लीडर प्रेस, इलाहाबाद	१९४१
१९	ब्राह्मण सावधान	ज्ञानमंडल लि०, बनारस,	१९४४
२०.	चिद्विलास	ज्ञानमंडल लि०, बनारस,	१९४४
२१.	गणेश	श्री काशी विद्यापीठ, काशी	१९४५
२२	भाषा की शक्ति	ज्ञानमंडल लि०, बनारस,	१९४५
२३	पुरुष सूक्त	शारदा प्रकाशन-मंदिर, बनारस	१९४७

अंग्रेजी की पुस्तकें :—

२४	व्हेन वी आर इन पावर, (अंग्रेजी में)	स्वयं	१९३१
२५	कास्मोगोनी इन इंडियन थाट (अंग्रेजी में)	काशी विद्यापीठ, बनारस,	१९४९
२६	इनडिविजुअ एंड स्टेट	किताबिस्तान, इलाहाबाद,	१९४४

हिंदी साहित्य सम्मेलन द्वारा "मंगलाप्रसाद पारितोषिक" तथा "मुरारका पारितोषिक" प्राप्त

श्री संपूर्णानंद (पीछे बायीं ओर खड़े)
१९१८

श्री संपूर्णानंद (सपरिवार)
१९२८

श्री संपूर्णानंद
१९३०

श्री संपूर्णानंद (१९३८)

जेल से छूटनेपर श्री संपूर्णानंद (कानपुर मे)
१९४१
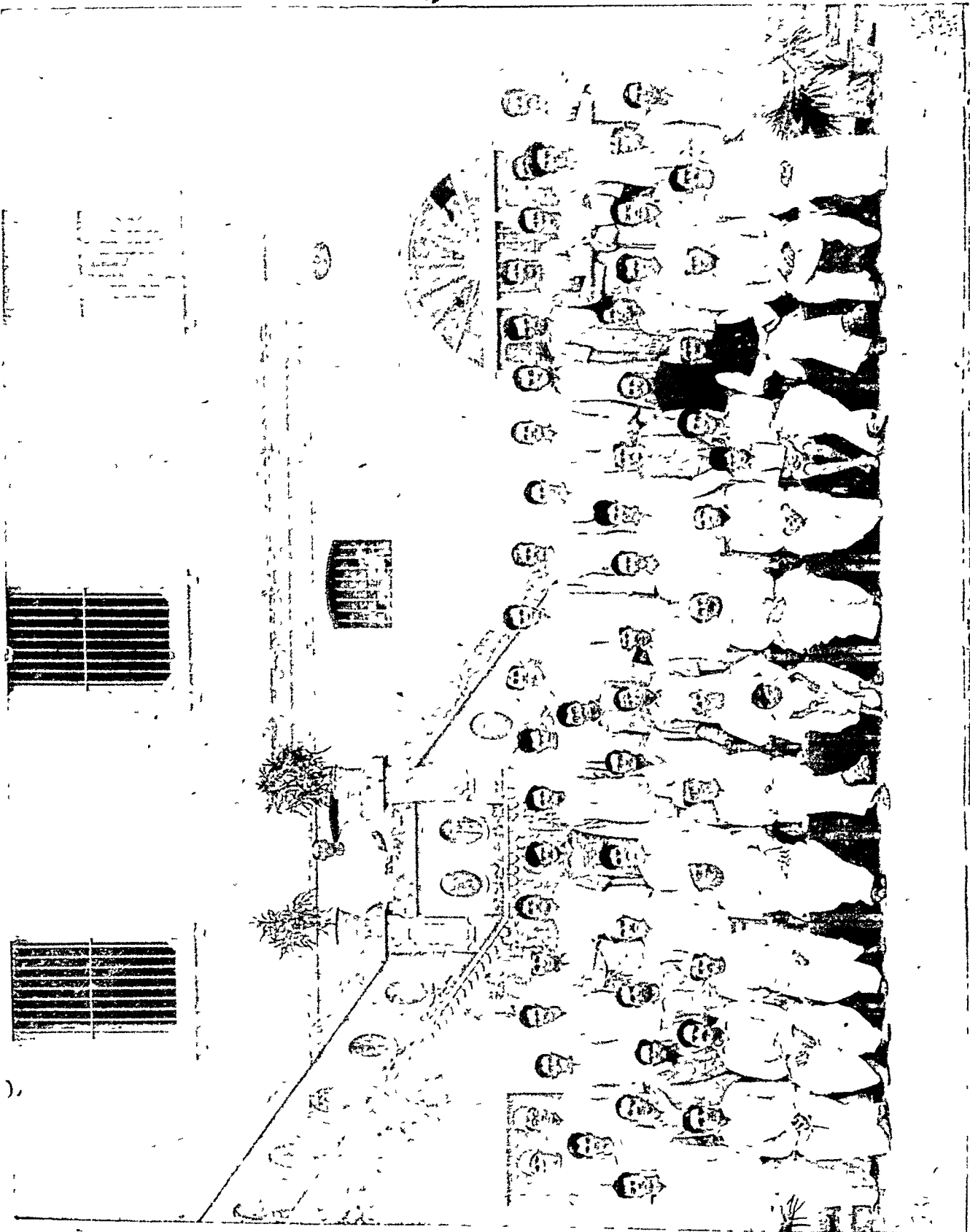
काशी विद्यापीठ परिवार के साथ (१९४५)

श्रीसपूर्णानंद सांन फ्रांसिसको (अमेरिका) मे अन्तर्राष्ट्रीय श्रम-संमेलन मे जलपान के अवसर पर (१९४८)
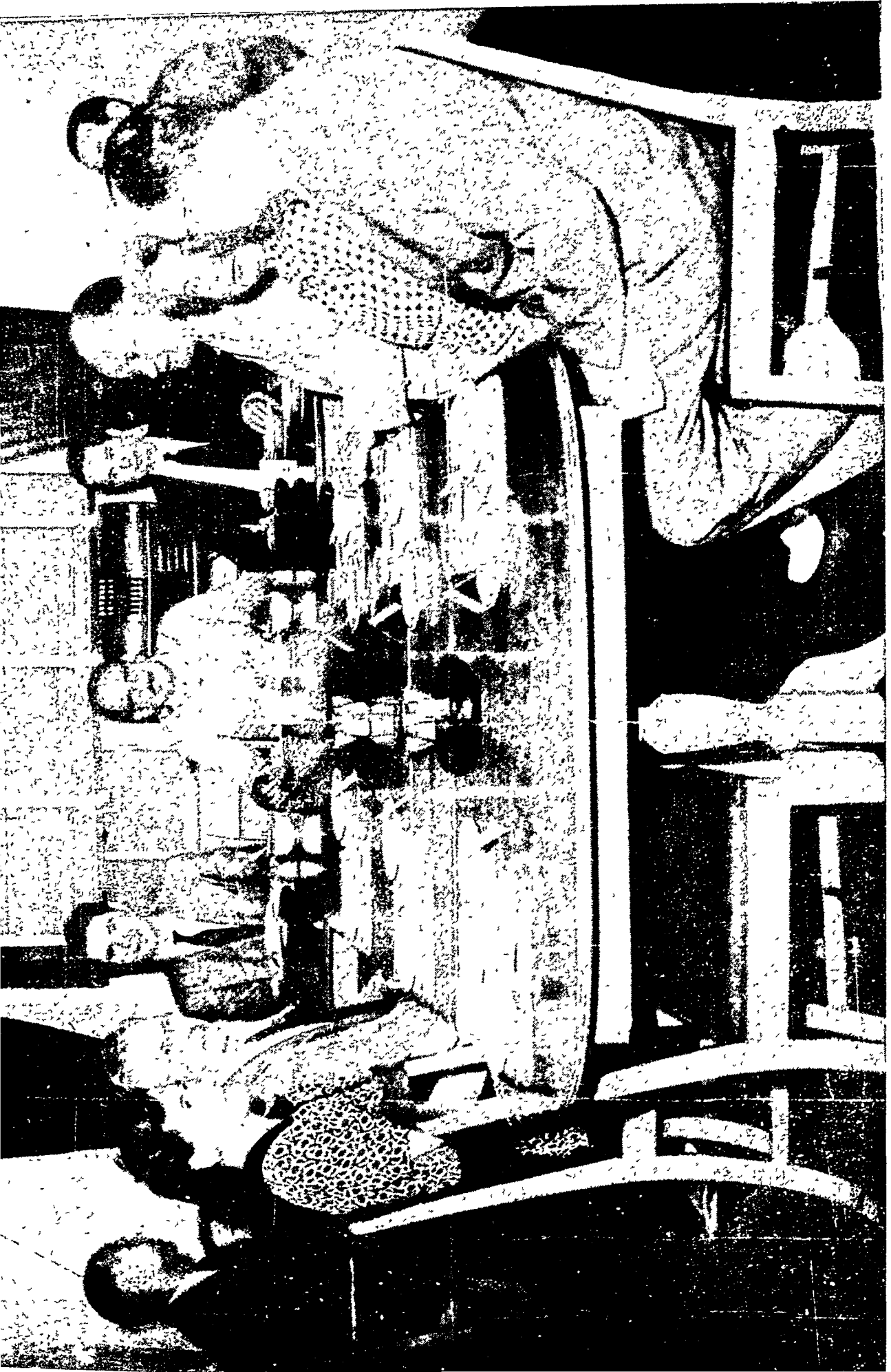
श्री संपूर्णानद सान फ्रासिसको (अमेरिका) मे अन्तर्राष्ट्रीय श्रमसम्मेलन के अवसरपर आयोजित भोज मे अतिथियो के साथ (१९४८)

डाक्टर संपूर्णानंद
१९४९